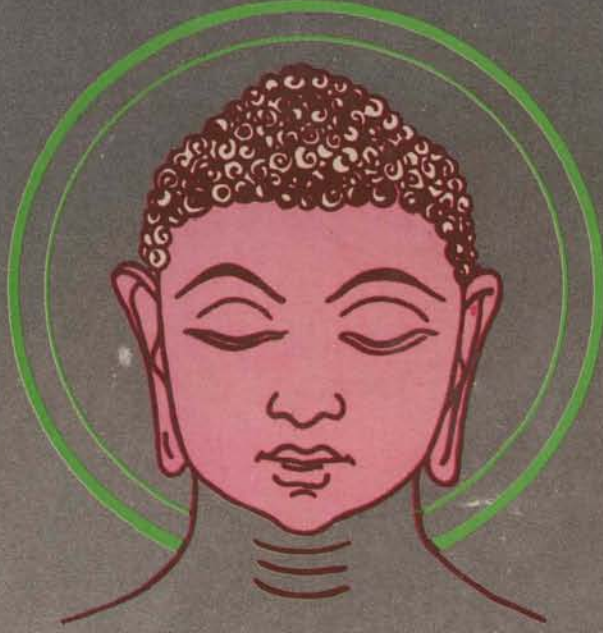


# आचारांगभाष्यम्



विशुद्धं विशदात्मानं, परमात्मानमात्मना।  
सन्निधिं सहजं नीत्वा, तनोम्याचारमद्भुतम्॥

वाचना प्रमुख  
गणाधिपति तुलसी

भाष्यकार  
आचार्य महाप्रज्ञ

महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, वह विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक धर्म है। उसका आरम्भ-बिन्दु है आत्मा का संज्ञान और चरम-बिन्दु है आत्मोपलब्धि या आत्म-साक्षात्कार।

पर्यावरण की दृष्टि से प्रस्तुत आगम का अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। समता और आत्म-तुला--ये दोनों पर्यावरण के प्रदूषण से बचाव करने के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस--जीवों के ये छह निकाय हैं। महावीर ने कहा--इनके अस्तित्व को अस्वीकार करने का अर्थ होगा अपने अस्तित्व का अस्वीकार। इनके अस्तित्व को मिटाकर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व को बचा नहीं सकता। इनके अस्तित्व के प्रति प्रमत्त रहकर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक नहीं रह सकता।

हिंसा का मुख्य साधन है--परिग्रह। आधुनिक अर्थशास्त्रीय अवधरणा ने हिंसा को प्रोत्साहन दिया है। अर्थशास्त्रीय अभिमत है--अर्थ के प्रति राग उत्पन्न करो। महावीर कहते हैं--पदार्थ के प्रति विराग उत्पन्न करो।

महावीर ने असंग्रह का जो सिद्धान्त दिया वह जनसंख्या के आधार पर नहीं दिया। उन्होंने मानवीय मनोवृत्ति और संग्रह के परिणामों को ध्यान में रखकर असंग्रह अथवा इच्छा-संयम का सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

महावीर ने कहा--यही महान् भय है कि मनुष्य पदार्थ की परिक्रमा कर रहा है। उसके साथ ममत्व 'यह मेरा है।'--इस मनोवृत्ति को गाढ कर रहा है। यही दुःख का मूल है।'

'हिंसा परिणाम है। उसका मूल हेतु है--परिग्रह। परिग्रह की समस्या को सुलझाओ, हिंसा की समस्या स्वतः सुलझ जाएगी।'

हिंसा के पत्र-पुष्प पर ही प्रहार मत करो, उसकी जड़ पर भी प्रहार करो। जितना मेरापन कम, उतनी हिंसा कम। जितना मेरापन अधिक, उतनी हिंसा अधिक। यह सूत्र अहिंसा का महाभाष्य है।

प्रस्तुत आगम में केवल अहिंसा का ही नहीं, परिग्रह और अपरिग्रह के विषय में सिद्धान्त स्थापित किए गए हैं और मूलस्पर्शी दृष्टि को विकसित करने का निर्देशन दिया गया है।

# आचारांगभाष्यम्

{ मूलपाठ, संस्कृत भाष्य, हिन्दी अनुवाद, तुलनात्मक टिप्पण, सूत्र-भाष्यानुसारी }  
{ विषय विवरण, वर्गीकृत विषय-सूची तथा विविध परिशिष्टों से समलंकृत }

भाष्यकार  
आचार्य महाप्रज्ञ

अनुवादक  
मुनि दुलहराज

प्रकाशक  
जैन विश्वभारती संस्थान  
(मान्य विश्वविद्यालय)  
लाडनूँ (राजस्थान)

प्रकाशक :

जैन विश्वभारती संस्थान

(मान्य विश्वविद्यालय)

लाडनूँ, राजस्थान

प्रथम संस्करण : दिसम्बर, १९६४

पृष्ठ संख्या : ६००

मूल्य : 500 ०

मुद्रक :

मित्र परिषद् कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित

जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूँ (राजस्थान)

# ACHARANGABHASHYAM

{ TEXT, SANSKRIT COMMENTARY, HINDI TRANSLATION, COMPARATIVE NOTES, TOPICS }  
{ IN TEXT AND COMMENTARY, CLASSIFIED LIST OF TOPICS AND VARIOUS APPENDIXES }

*Commentator :*

ACHARYA MAHAPRAJNA

*Translator :*

MUNI DULAHARAJ

*Publishers*

**JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE**  
**(Deemed University)**

LADNUN

**Publishers :**  
**Jain Vishva Bharati Institute**  
(Deemed University)  
Ladnun

**First Edition : December, 1994**

*By Munificence :*  
Published by the kind munificence of Govt. of India,  
National Archives of India, Janpath, New Delhi-110001.

**Page : 600**

Price 500 0

**Printers :**  
**Jain Vishva Bharati Press**  
Ladnun (Raj.)

## अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का जो अपने हाथों से उप्त और सिंचित द्रुम-निकुंज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है। उस कलाकार का जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन आगमों का शोधपूर्ण संपादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगे। संकल्प फलवान् बना। मुझे केन्द्र मानकर मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया और कार्य को निष्ठा तक पहुंचाने में पूर्ण श्रम किया।

कुछ वर्ष पूर्व मेरे मन में कल्पना उठी कि आचारांग सूत्र पर संस्कृत में भाष्य लिखा जाए। मेरे उत्तराधिकारी आचार्य महाप्रज्ञ ने इस कल्पना को साकार कर, भाष्य की विच्छिन्न परम्परा का संधान कर, मेरे तोष में वृद्धि की।

अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूँ, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं। संक्षेप में वह संविभाग इस प्रकार है :—

**आचारांग के साध्यकार : आचार्य महाप्रज्ञ**

**सहयोगी : महाश्रमण मुनि मुदितकुमार**

**मुनि दुलहराज**

**मुनि महेन्द्रकुमार**

**परिशिष्ट सहयोगी : मुनि राजेन्द्रकुमार**

**मुनि धर्मेशकुमार**

**साध्वी विमलप्रज्ञा**

**साध्वी सिद्धप्रज्ञा**

**साध्वी अमृतयशा**

**साध्वी दर्शनविभा**

**समणी उज्ज्वलप्रज्ञा**

**संस्कृत छाया सहयोगी : मुनि श्रीचन्द्र 'कमल'**

**मुनि राजेन्द्रकुमार**

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूँ और कामना करता हूँ कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

**गणाधिपति तुलसी**





## प्रस्तुति

जैन धर्म वर्तमान युग में प्रासंगिक है ? यह प्रश्न अनेक बार पूछा जाता है। इसका उत्तर बहुत सीधा है। यदि समता, अहिंसा और अपरिग्रह प्रासंगिक हैं तो जैन धर्म भी प्रासंगिक है। यदि उनकी प्रासंगिकता नहीं है तो जैन धर्म को प्रासंगिकता की वेदी पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

महावीर ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया, वह विशुद्ध रूप में आध्यात्मिक धर्म है। उसका प्रारम्भ-बिन्दु है आत्मा का संज्ञान और उसका चरम-बिन्दु है आत्मोपलब्धि या आत्मा का साक्षात्कार।

चेतन (आत्मा अथवा जीव) और अचेतन—दोनों के अस्तित्व की स्वीकृति ने जैनदर्शन का अनेकांतवादी दृष्टिकोण अपनाए का अवसर दिया। आत्मा का ज्ञान तब तक परिपूर्ण नहीं होता, जब तक अचेतन को नहीं जान लिया जाता और अचेतन का ज्ञान आत्मा को जाने बिना परिपूर्ण नहीं हो सकता। इसलिए आत्मा (चेतन) और अनात्मा (अचेतन)—दोनों की समग्रता का ज्ञान आवश्यक है।

प्रस्तुत आगम के प्रथम अध्ययन में आत्मा की कर्मकृत विभिन्न अवस्थाओं को समझने का दृष्टिकोण दिया है। पर्यावरण की दृष्टि से उसका अध्ययन बहुत महत्वपूर्ण है। समता और आत्मतुला—ये दोनों पर्यावरण के प्रदूषण से बचाव करने के महत्वपूर्ण साधन हैं। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—जीवों के ये छह निकाय हैं। महावीर ने कहा—इनके अस्तित्व को अस्वीकार करने का अर्थ होगा अपने अस्तित्व का अस्वीकार। इनके अस्तित्व को मिटाकर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व को बचा नहीं सकता। इनके अस्तित्व के प्रति प्रमत्त रहकर कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक नहीं रह सकता।

हिंसा स्वयं प्रमाद है अथवा प्रमाद की निष्पत्ति है। अहिंसा अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक होना है। साथ-साथ दूसरे जीवों के अस्तित्व के प्रति जागरूक होना भी है। यह जागरूकता आत्मतुला के सिद्धांत से विकसित होती है। इसीलिए महावीर ने कहा—आत्मतुला का अन्वेषण करो—एयं तुलनन्नेसि।<sup>1</sup>

अहिंसा का सिद्धांत हिंसा के साधन को समझे बिना समग्रता से नहीं समझा जा सकता। इसीलिए प्रस्तुत आगम में परिग्रह और अपरिग्रह का विशद विवरण उपलब्ध है।

हिंसा का मुख्य साधन है—परिग्रह। आधुनिक अर्थशास्त्रीय अवधारणा ने हिंसा को प्रोत्साहन दिया है। अर्थशास्त्रीय अभिमत है—अर्थ के प्रति राग उत्पन्न करो। महावीर कहते हैं—पदार्थ के प्रति विराग उत्पन्न करो। समाज के विकास का आधार है—रागात्मक प्रवृत्ति। इस सत्यांश को पूर्ण सत्य मान लेने के कारण ही हिंसा और अत्यांतक को फैलने का अवसर मिला है। समाज का आधार विरागात्मक प्रवृत्ति भी है, इस सत्यांश को समाज के साथ जोड़ने पर एक नया दृष्टिकोण विकसित होता है। केवल रागात्मक प्रवृत्ति समाज को स्पर्धा और हिंसा की ओर ले जाती है। केवल विरागात्मक प्रवृत्ति से समाज की आवश्यकताएं पूर्ण नहीं होतीं, इसलिए रागात्मक और विरागात्मक—दोनों के सन्तुलन से ही समाज की व्यवस्था को नया रूप दिया जा सकता है और हिंसा की बाढ़ को रोका जा सकता है।

वैज्ञानिक युग ने विकास की नई अवधारणाएं दीं। पुराने चिंतन को नकारने की मनोवृत्ति विकसित हुई। परिस्थिति चक्र ने भी विकास की अवधारणा को बदलने में सहयोग दिया है। आजका विश्व इच्छा-नियन्त्रण, संग्रह-नियन्त्रण के सिद्धांत को अपना कर विशाल आबादी को रोटी, कपड़ा और मकान नहीं दे सकता। इसलिए संयम, सीमाकरण का सिद्धांत पुराना हो चुका है। नई समस्या को सुलझाने के लिए आवश्यक हो गया है नया चिंतन और नया सिद्धांत। उसी के आधार पर बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं और आर्थिक विकास की बड़ी-बड़ी योजनाएं पन्नों पर उतर रही हैं।

महावीर ने असंग्रह का सिद्धांत दिया। वह जनसंख्या के आधार पर नहीं दिया। उन्होंने मानवीय मनोवृत्ति और संग्रह के परिणामों को ध्यान में रखकर असंग्रह अथवा इच्छा-संयम का सिद्धांत प्रतिपादित किया था। बढ़ती हुई जनसंख्या की प्राथमिक आवश्यकताओं को पूरा करने का जो प्रश्न है, उससे महावीर का कोई विरोध नहीं है। उनका विरोध बढ़ती हुई आकांक्षा की मनोवृत्ति से है। वर्तमान समाज में उस मनोवृत्ति के वे परिणाम दिखाई दे रहे हैं, जिनकी घोषणा प्रस्तुत आगम कर रहा है—

‘सुख का अर्थो संग्रह में प्रवृत्त होता है। जो सुख का अर्थो होता है, वह बार-बार सुख को कामना करता है। इस प्रकार वह अपने द्वारा कृत कामना की व्यथा से मूढ होकर विपर्यस को प्राप्त होता है। सुख का अर्थो होकर दुःख को प्राप्त होता है।’

भूख से कोई न मरे, इस व्यवस्था में वर्तमान युग सफल हुआ है, किन्तु मुट्टी भर लोगों का संग्रह असंख्य लोगों को गरीबी का जीवन जीने के लिए विवश कर रहा है। दूसरी समस्या यह है - अति सम्पन्न लोग मानसिक तनाव, भय और आतंक का जीवन जी रहे हैं। ऐसा मार्ग खोजने में अभी सफलता नहीं मिली है, जिससे सबकी प्राथमिक आवश्यकताएं भी पूरी हों और अतिसंग्रह से उत्पन्न होने वाली समस्याएं भी माननीय चेतना को क्रूर न बनाएं। व्यक्तिगत स्वामित्व को सीमित किए बिना वह मार्ग कभी भी खोजा नहीं जा सकेगा। पदार्थ सीमित है। उपभोक्ता की आवश्यकता असीम है, लालसा उससे भी अधिक है। इनके समीकरण का कोई भी गणित हमारे पास नहीं है। इसीलिए सचाई को ध्यान में रखकर महावीर ने कहा—यही महाभय है कि मनुष्य केवल पदार्थ की परिक्रमा कर रहा है। वह मानसिक स्वास्थ्य और उपभोक्तावादी मनोवृत्ति में सामंजस्य स्थापित करता है। हिंसा की समस्या का मूल है पदार्थ के साथ-साथ ‘यह मेरा है’—इस मनोवृत्ति का जुड़ाव। पदार्थ किसी का नहीं है, यह सचाई है। इस सचाई को झुठलाने के प्रयत्न में से हिंसा उपजती है।

महावीर ने कहा—‘हिंसा के पत्र-पुष्प पर ही प्रहार मत करो, उसकी जड़ पर भी प्रहार करो।’ जितना मेरापन कम, उतनी हिंसा कम। जितना मेरापन अधिक उतनी हिंसा अधिक। यह सूत्र अहिंसा का महाभाष्य है। अनेक विद्वान् आचारांग के संदेश को अहिंसा का संदेश मानते हैं। इस मान्यता का कारण इसका पहला प्रवचन है। उसमें निःशस्त्रीकरण का विस्तृत निरूपण है। अग्रिम प्रवचनों में परिग्रह और अपरिग्रह के बारे में सिद्धांत स्थापित किए गए हैं। उन्हें हमने गौण रूप में स्वीकारा है। हमारी प्रथम दृष्टि पत्र-पुष्प और फल तक ही जाती है, मूल तक नहीं जाती। मूलस्पर्शी दृष्टि के बिना समस्या का स्थायी समाधान नहीं हो सकता। हम अहिंसा का विकास कर हिंसा की समस्या को सुलझाना चाहते हैं। यह अग्रस्पर्शी दृष्टि का दर्शन है। मूलस्पर्शी दृष्टि का दर्शन इससे भिन्न है। उसका सूत्र है—परिग्रह की समस्या को सुलझाओ, हिंसा की समस्या सुलझो। प्रवृत्ति की उपस्थिति में परिणाम को नहीं भिद्यया जा सकता। हिंसा परिणाम है। उसका हेतु है परिग्रह। इस सचाई के प्रति सचेत करने के लिए ही महावीर ने बार-बार कहा—‘पुरुष! तू सत्य को जान। परम सत्य है—आत्मा चैतन्यमय है और पदार्थ अचेतन है। आत्मा का सर्वस्व चैतन्य है, जड़ता नहीं।’ आचारांग की इस स्थापना ने आचारशास्त्र को एक नया कोण दिया और शांति की दिशा में चिन्तन को आगे बढ़ाया कि पश्यक बनो, हर घटना को देखो और पदार्थ-उपभोग का दुष्प्रकोण बदलो। जैसे सत्य को न खोजने वाला पदार्थ का उपभोग करता है, वैसे ही पदार्थ का उपभोग मत करो, किन्तु उपभोग की प्रणाली को बदलो। तात्पर्य की भाषा में जीवनशैली को बदलो। इस सचाई के साक्षात्कार को आत्मा या परमात्मा के साक्षात्कार से कम मूल्य नहीं दिया जा सकता।

आभम सम्पादन का काम विक्रम संवत् २०११ में प्रारम्भ हुआ। दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि के टिप्पण हिन्दी में लिखे गए। गुरुदेव ने एक बार कहा—आचारांग का भाष्य संस्कृत में लिखा जाए। इस प्रेरणा ने नई दिशा की ओर प्रस्थान करा दिया। भाष्य संस्कृत में तैयार हो गया। उसके निर्माण में गुरुदेव की प्रेरणा और उनका वरदहस्त निरन्तर साथ रहा। इस भाष्य की लिपि करने में महाश्रमण मुनि मुदितकुमार और मुनि महेन्द्रकुमार संलग्न रहे। कुछ वर्षों तक यह कार्य अवरुद्ध-सा रहा। मुनि दुलहराजजी ने इस कार्य को अपने हाथ में लिया। अनेक प्रश्न और सुझाव सामने रखे। उनके आधार पर भाष्य का आकार बड़ा और प्रकार में भी वृद्धि हुई। संस्कृत छाया, प्रूफ आदि के संशोधन में मुनि राजेन्द्रजी का भी काफी योग्य रहा। आचारांगभाष्य में महत्त्वपूर्ण बारह परिशिष्ट संलग्न हैं। इनके निर्माण में अनेक साधु-साध्वियों का श्रम रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद डा० नथमल टांटिया, डायरेक्टर अनेकांत शोधपीठ, जैन विश्व भारती, लाडनू द्वारा हो रहा है। इस कार्य में संलग्न हैं मुनि दुलहराजजी तथा मुनि धर्मेशकुमारजी। यह शीघ्र ही प्रकाश में आने वाला है।

इस प्रकार अनेक अंगुलियों का स्पर्श पाकर प्रस्तुत ग्रंथ प्रकाशन की स्थिति में आया। उन सबके प्रति मंगल भावना। पूज्य गुरुदेव के प्रति कृतज्ञतापूर्ण भावांजलि।

अध्यात्म-साधना केन्द्र  
छतरपुर रोड, मेहरोली  
नई दिल्ली, २२ अक्टूबर ९४

आचार्य महाप्रज्ञ

## PREFACE

People often ask about the relevance of Jainism in modern times. The answer is very simple. If the principles of equality, non-violence and non-possessiveness are relevant today, why not Jainism which so eminently stood for them. If the former were denied any relevance, the latter would have no chance to occupy the altar of relevance.

The religion preached by Mahāvīra was purely spiritual, with self-knowledge as the starting point and self-realisation as the final end.

As an upholder of dualism of self and not-self, Jainism propounded non-absolutism. Knowledge of the self is not complete without the knowledge of the not-self, nor is the latter achieved without the former. The knowledge of both in their completeness is therefore a vital necessity.

The first chapter of Āchārāṅga facilitates the understanding of different states of soul, induced by karma, which are very important from the standpoint of environmentalism. The principle of equality and comparison of the weal and woe of others with those of oneself are powerful remedies for the pollution of environment. The denial of the existence of the six classes of beings, the five immobile (earth-bodied, etc.) and the mobile (two-sensed, etc.) ones, will be tantamount to the denial of the existence of the self, said Mahāvīra. One cannot safeguard one's own existence by obliterating the existence of others. One cannot be aware of one's own existence by denying the existence of others.

Violence itself is a sort of non-awareness, or the result of the latter. Non-violence consists in the awareness of one's own existence along with the existence of others. This awareness is developed by comparing the weal and woe of others with those of oneself. This is why Mahāvīra preached the principle of comparison of self with others.

The principle of non-violence cannot be adequately comprehended without knowing the ways and means to violence. This is the reason for an elaborate description of possessiveness and non-possessiveness in the scripture under study.

The principal cause of violence is possessiveness. Modern economics encourages violence by prescribing attachment to wealth. Mahāvīra on the contrary preached non-attachment to property. Attachment-dominated enterprises are opined as the foundation of social development. Acceptance of this partial opinion as a complete truth has resulted in the spread of violence and terrorism. Detachment-dominated activities also can provide base for social welfare. Requisitioned for social welfare, this latter base gives rise to a new angle of vision. Whereas the exclusively attachment-dominated attitude promotes competition and violence, the exclusively detachment-dominated attitude falls short of fulfilling the social needs. The society therefore can be efficiently governed by what is the mean between the two extreme attitudes for fostering balanced harmony and peace, and avoiding the devastation caused by violence.

The scientific age gave a new concept of development. The psyche of rejecting the old pattern of ideas grew up. The cycle of events also assisted the emergence of new concepts of development. The world of today cannot provide food, clothes and shelter to a rapidly growing population through the ideology that puts break on the free will of the people and their faculty of possessiveness. So the old ideology is now an antiquated museum of ideas. Fresh problems needed fresh thinking and emergence of new principles for their solution. Big industries and economic programmes are flourishing on the foundations of new ideology.

Mahāvīra gave the philosophy of non-acquisition which was not based on the needs of a growing population. He propounded the philosophy of non-acquisition and restraining one's will keeping in view

the human psyche and the results of accumulation of wealth. Mahāvīra was not opposed to meeting the primary needs of the rapidly growing population, but his opposition was to the ideology of unrestrained ambitions. The scripture under study proclaims the effects of ambitious mentality of modern society.

The seeker of happiness indulges in acquisition of wealth. In search of happiness he repeats indulgence. Deluded by suffering produced by himself, he gets bewildered on attaining suffering in place of happiness. He seeks pleasure but gets sufferings.

Modern society has largely succeeded in eliminating death by starvation, but accumulation of wealth by a handful of people has compelled a large majority to live in poverty. Excessively rich people also have their own problem in that they have to pass their time in perpetual mental tension, fear and terror. Humanity has not yet succeeded in finding a way of life that could satisfy the primary needs of all and simultaneously mitigate the inhuman cruelty, a by-product of excessive acquisition of wealth. It will perhaps never be feasible to find out the way without delimiting personal ownership. Availability of goods is limited. Consumers' demands are unlimited and their desires are vaster still. We have no arithmetic that can induce balance. This is why Mahāvīra, keeping the truth in view, proclaimed that what is most dreadful is that man has focused his attention exclusively on acquisition of goods. Modern man equates his mental health with consumerism. The root cause of the problem of violence is of tying up the sense of mineness with things. The truth however is that things do not belong to anybody. The attempt at denying this truth breeds violence.

Declared Mahāvīra: do not rest satisfied with striking only at foliage and flowers of violence but also strike hard at the very root of it. Violence varies proportionately with the sense of mineness. The deeper the sense of mineness, the intenser the outburst of violence. This sutra is a super-commentary on the concept of violence. The message of the Āchārāṅga is generally identified by the majority of scholars as the message of non-violence. This view has originated from the subject-matter of the first chapter which details abandonment of the weapons of violence. The subsequent chapters, however, deal with the doctrine of possessiveness and non-possessiveness, which have been relegated to a secondary position by those scholars. Our initial attention goes exclusively to the foliage, flowers and fruits ignoring the root. An issue cannot be finally decided without going to the very root of it. We wish to solve the problem of violence by concentrating on the pursuit of non-violence. But this is only an approach that focuses exclusively on outside surface. The approach that focuses on the root is quite different, which is embodied in the dictum : solve the problem of possessiveness, the problem of violence will then automatically find its own solution. The effect cannot be got rid of so long as the cause is in function. Violence is an effect, possessiveness is its cause. It was only in order to bring home this truth that Mahāvīra again and again declared "Know the truth. The supreme truth is : the souls are conscious entities, things are not conscious. The essence of soul is consciousness, not materiality." This philosophy of the Āchārāṅga gave a new turn to the science of ethics and advanced thought in the direction of peace, announcing "Be a seer. Look at every event and bring about a change in your attitude to sensual objects. Do not enjoy objects like the person who does not seek truth. But bring about a radical change in your attitude to sensual objects." In other words, bring about a complete change in your life-style. The value of the realisation of this truth is in no way inferior to the realisation of the self.

The programme of editing the scripture started in 1954 of the Christian era. Annotations were prepared in Hindi of the Daśavaikālika, Uttarādhyāyana etc. His Holiness Shree Gurudeva once suggested, inter alia, the composition of a critical commentary on the Āchārāṅga in Sanskrit. His suggestion gave me a new direction. The Sanskrit commentary was prepared. The benign inspiration of Shree Gurudeva was my constant companion in this project. Mahashraman Muni Mudit Kumara and Muni Mahendra Kumara kept engaged in preparing the manuscript of the commentary. The work practically remained suspended for several years. Muni Dulaharaj took over the initiative. Many queries and suggestions came up. Consequently there was increase in the volume and change in the methodology

of the work. Muni Rajendraji contributed a lot to the Sanskrit version of the text and its proof-reading. Many monks and nuns contributed in preparing twelve valuable appendices for the volume.

An English translation of the voluminous Sanskrit Commentary has been prepared by Dr. Nathmai Tatia, Director, Anekant Sodhpith, Jain Vishva Bharati, Ladnun, in collaboration with Muni Dulaharajji and Dharmesh Muni which is expected to be published shortly.

Many hands collaborated to bring this publication to the present shape. To all of them I offer my blessings and good wishes. To His Holiness Shree Gurudeva I offer my grateful obeisance and seek his blessings all the time.

**Acharya Mahaprajna**



## भूमिका

### १. आगमों का वर्गीकरण

जैन साहित्य का प्राचीनतम भाग आगम है। समवायांग में आगम के दो रूप प्राप्त होते हैं—(१) द्वादशांग गणिपिटक<sup>१</sup> और (२) चतुर्दश पूर्व<sup>२</sup>। नन्दी में श्रुत-ज्ञान (आगम) के दो विभाग मिलते हैं—(१) अङ्ग-प्रविष्ट और (२) अङ्ग-बाह्य।<sup>३</sup> आगम-साहित्य में साधु-साधिवर्गों के अध्ययन-विषयक जितने उल्लेख प्राप्त होते हैं, वे सब अङ्गों और पूर्वों से सम्बन्धित हैं, जैसे—

(१) सामायिक आदि ग्यारह अङ्गों को पढ़ने वाले—

सामाह्यमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ (अंतगडदसाओ, १।२१)। यह उल्लेख भगवान् अरिष्टनेमि के शिष्य गौतम के विषय में प्राप्त है।

सामाह्यमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ (अंतगडदसाओ, ५।३१)। यह उल्लेख भगवान् अरिष्टनेमि की शिष्या पद्मावती के विषय में प्राप्त है।

सामाह्यमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ (अंतगडदसाओ, ८।६)। यह उल्लेख भगवान् महावीर की शिष्या काली के विषय में प्राप्त है।

सामाह्यमाइयाइं एक्कारस अंगाइं अहिज्जइ (अंतगडदसाओ, ६।९५)। यह उल्लेख भगवान् महावीर के शिष्य अतिमुक्त-कुमार के विषय में प्राप्त है।

(२) बारह अङ्गों को पढ़ने वाले—

बारसंगी (अंतगडदसाओ, ४।५)। यह उल्लेख भगवान् अरिष्टनेमि के शिष्य जालीकुमार के विषय में प्राप्त है।

(३) चौदह पूर्वों को पढ़ने वाले—

चौदस पुग्वाइं अहिज्जइ (अंतगडदसाओ, ३।११६)। यह उल्लेख भगवान् अरिष्टनेमि के शिष्य सुमुखकुमार के विषय में प्राप्त है।

सामाह्यमाइयाइं चौदस पुग्वाइं अहिज्जइ (अंतगडदसाओ, ३।१३)। यह उल्लेख भगवान् अरिष्टनेमि के शिष्य अणीयस-कुमार के विषय में प्राप्त है।

भगवान् पार्श्व के साढ़े तीन सौ चतुर्दशपूर्वी मुनि थे।<sup>४</sup>

भगवान् महावीर के तीन सौ चतुर्दशपूर्वी मुनि थे।<sup>५</sup>

समवायांग और अनुयोगद्वार में अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य का विभाग नहीं है। सर्व प्रथम यह विभाग नन्दी में मिलता है। अङ्ग-बाह्य की रचना अर्वाचीन स्थविरों ने की है। नन्दी की रचना से पूर्व अनेक अङ्ग-बाह्य ग्रन्थ रचे जा चुके थे और वे चतुर्दशपूर्वी या दशपूर्वी स्थविरों द्वारा रचे गए थे। इसलिए उन्हें आगम की कोटि में रखा गया। उसके फलस्वरूप आगम के दो विभाग किए गए—(१) अङ्ग-प्रविष्ट और (२) अङ्ग-बाह्य। यह विभाग अनुयोगद्वार (वीर निर्वाण छठी शताब्दी) तक नहीं हुआ था। यह सबसे पहले नन्दी (वीर-निर्वाण दसवीं शताब्दी) में हुआ है।

नन्दी की रचना तक आगम के तीन वर्गीकरण हो जाते हैं—(१) पूर्व, (२) अङ्ग-प्रविष्ट और (३) अङ्ग-बाह्य। आज 'अङ्ग-प्रविष्ट' और 'अङ्ग-बाह्य' उपलब्ध होते हैं, किन्तु पूर्व उपलब्ध नहीं हैं। उनकी अनुपलब्धि ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्शनीय है।

### २. पूर्व

जैन परम्परा के अनुसार श्रुत-ज्ञान (शब्द-ज्ञान) का अक्षयकोष 'पूर्व' है। इसके अर्थ और रचना के विषय में सब एकमत

१. समवाओ, प्रकीर्णक समवाय, सू० ८८।

२. वही, १४।२।

३. नन्दी, सू० ४३।

४. समवाओ, प्रकीर्णक समवाय, सू० १४।

५. वही, सू० १२।

नहीं हैं। प्राचीन आचार्यों के मतानुसार 'पूर्व' द्वादशांगी से पहले रचे गए थे, इसलिए इनका नाम 'पूर्व' रखा गया।<sup>१</sup> आधुनिक विद्वानों का अभिमत यह है कि 'पूर्व' भगवान् पार्श्व की परम्परा की श्रुत-राशि है। यह भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती है, इसलिए इसे 'पूर्व' कहा गया है।<sup>२</sup> दोनों अभिमतों में से किसी को भी मान्य किया जाए, किन्तु इस फलित में कोई अन्तर नहीं आता कि पूर्वों की रचना द्वादशांगी से पहले हुई थी या द्वादशांगी पूर्वों की उत्तरकालीन रचना है।

वर्तमान में जो द्वादशांगी का रूप प्राप्त है, उसमें 'पूर्व' समाए हुए हैं। बारहवां अङ्ग दृष्टिवाद है। उसका एक विभाग है पूर्वगत। चौदह पूर्व इसी 'पूर्वगत' के अन्तर्गत किए गए हैं। भगवान् महावीर ने प्रारम्भ में पूर्वगत का अर्थ 'प्रतिपादित' किया था और गौतम आदि गणधरों ने भी प्रारम्भ में पूर्वगत-श्रुत की रचना की थी। इस अभिमत से यह फलित होता है कि चौदह पूर्व और बारहवां अङ्ग—ये दोनों भिन्न नहीं हैं। पूर्वगत-श्रुत बहुत गहन था। सर्व साधारण के लिए वह सुलभ नहीं था। अङ्गों की रचना अल्पमेधा व्यक्तियों के लिए की गई। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने बताया है कि 'दृष्टिवाद' में समस्त शब्द-ज्ञान का अवतार हो जाता है। फिर भी ग्यारह अङ्गों की रचना अल्पमेधा पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए की गई।<sup>३</sup> ग्यारह अङ्गों को वे ही साधु पढ़ते थे, जिनकी प्रतिभा प्रखर नहीं होती थी। प्रतिभा सम्पन्न मुनि पूर्वों का अध्ययन करते थे। आगम-विच्छेद के क्रम से भी यही फलित होता है कि ग्यारह अङ्ग दृष्टिवाद या पूर्वों से सरल या भिन्न-क्रम में रहे हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के बासठ वर्ष बाद केवली नहीं रहे। उसके बाद सौ वर्ष तक श्रुत-केवली (चतुर्दश-पूर्वी) रहे। उसके पश्चात् एक सौ तिरासी वर्ष तक दशपूर्वी रहे। इनके पश्चात् दो सौ बीस वर्ष तक ग्यारह अङ्ग धर रहे।<sup>४</sup>

उक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि जब तक आचार आदि अङ्गों की रचना नहीं हुई थी, तब तक महावीर की श्रुत-राशि 'चौदह पूर्व' या 'दृष्टिवाद' के नाम से अभिहित होती थी और जब आचार आदि ग्यारह अङ्गों की रचना हो गई, तब दृष्टिवाद को बारहवें अङ्ग के रूप में स्थापित किया गया।

यद्यपि बारह अङ्गों को पढ़ने वाले और चौदह पूर्वों को पढ़ने वाले—ये भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं,<sup>५</sup> फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि चौदह पूर्वों के अध्येता बारह अङ्गों के अध्येता नहीं थे और बारह अङ्गों के अध्येता चतुर्दश-पूर्वी नहीं थे। गौतम स्वामी को 'द्वादशांगवित्' कहा गया है।<sup>६</sup> वे चतुर्दश-पूर्वी और अङ्गधर दोनों थे। यह कहने का प्रकार-भेद रहा है कि श्रुत-केवली को कहीं 'द्वादशांगवित्' और कहीं 'चतुर्दश-पूर्वी' कहा गया।

ग्यारह अङ्ग पूर्वों से उद्धृत या संकलित हैं। इसलिए जो चतुर्दश-पूर्वी होता है, वह स्वाभाविक रूप से ही द्वादशांगवित् होता है। बारहवें अङ्ग में चौदह पूर्व समाविष्ट हैं। इसलिए जो द्वादशांगवित् होता है, वह स्वभावतः ही चतुर्दश-पूर्वी होता है। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि आगम के प्राचीन वर्गीकरण दो ही हैं—(१) चौदह पूर्व और (२) ग्यारह अङ्ग। द्वादशांगी का स्वतंत्र स्थान नहीं है। यह पूर्वों और अङ्गों का संयुक्त नाम है।

कुछ आधुनिक विद्वानों ने पूर्वों को भगवान् पार्श्व-कालीन और अङ्गों को भगवान् महावीर-कालीन माना है, पर यह अभिमत संगत नहीं है। पूर्वों और अङ्गों की परम्परा भगवान् अरिष्टनेमि और भगवान् पार्श्व के युग में भी रही है। अङ्ग अल्पमेधा व्यक्तियों के लिए रचे गए, यह पहले बताया जा चुका है। भगवान् पार्श्व के युग में सब मुनियों का प्रतिभा-स्तर समान था, यह कैसे माना जा सकता है? प्रतिभा का तारतम्य अपने-अपने युग में सदा रहा है। मनोवैज्ञानिक और व्यावहारिक-दृष्टि से विचार करने पर भी हम इसी बिन्दु पर पहुंचते हैं कि अङ्गों की अपेक्षा भगवान् पार्श्व के शासन में भी रही है। इसलिए इस अभिमत की पुष्टि में कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं है कि भगवान् पार्श्व के युग में केवल पूर्व ही थे, अङ्ग नहीं। सामान्य-ज्ञान से यही तथ्य निष्पन्न होता है कि भगवान् महावीर के शासन में पूर्वों और अङ्गों का युग की भाव, भाषा, शैली और अपेक्षा के अनुसार नवीनीकरण हुआ। 'पूर्व' पार्श्व की परम्परा से लिए गए और 'अङ्ग' महावीर की परम्परा में रचे गए, इस अभिमत के समर्थन में संभवतः कल्पना ही प्रधान रही है।

### ३. अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य

भगवान् महावीर के अस्तित्व-काल में गौतम आदि गणधरों ने पूर्वों और अङ्गों की रचना की, यह सर्व-विश्रुत है। क्या

१. समवायांग वृत्ति, पत्र १०१ : प्रथमं पूर्वं तस्य सर्वप्रवचनात् पूर्वं क्रियमाणत्वात्।
२. नन्दी, मलयगिरिवृत्ति, पत्र २४० : अन्ये तु व्याचक्षते—पूर्वं पूर्वगतसूत्रार्थमर्हन् भाषते, गणधरा अपि पूर्वं पूर्वगतसूत्रं विरचयन्ति, पश्चादाचारादिकम्।

३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ५५४ : जइवि थ भूतावाए, सब्वस्स वओगयस्स ओयारो : निज्जहणा तहावि हु, दुम्मेहे पप इत्थो य ॥
४. जयधवला, प्रस्तावना पृ० ४९।
५. देखिए भूमिका का प्रारंभिक अंश।
६. उत्तरजज्ञयणाणि, २३।७।



अन्य मुनियों ने आगम-ग्रन्थों की रचना नहीं की—यह प्रश्न सहज ही उठता है। भगवान् महावीर के चौदह हजार शिष्य थे।<sup>१</sup> उनमें सात सौ केवली थे, चार सौ वादी थे। उन्होंने ग्रन्थों की रचना नहीं की, ऐसा सम्भव नहीं लगता। नन्दी में बताया गया है कि भगवान् महावीर के शिष्यों ने चौदह हजार प्रकीर्णक बनाए थे।<sup>२</sup> ये पूर्वी और अङ्गों से अतिरिक्त थे। उस समय अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य ऐसा वर्गीकरण हुआ, यह प्रमाणित करने के लिए कोई साक्ष्य प्राप्त नहीं है। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् अर्वाचीन आचार्यों ने ग्रन्थ रचे, तब संभव है उन्हें आगम की कोटि में रखने या न रखने की चर्चा चली और उनके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का प्रश्न भी उठा। चर्चा के बाद चतुर्दश-पूर्वी और दस-पूर्वी स्थविरों द्वारा रचित ग्रन्थों को आगम की कोटि में रखने का निर्णय हुआ किन्तु उन्हें स्वतः प्रमाण नहीं माना गया। उनका प्रामाण्य परतः था। वे द्वादशांगी से अविच्छेद हैं, इस कसौटी से कसकर उन्हें आगम की संज्ञा दी गई। उनका परतः प्रामाण्य था, इसीलिए उन्हें अङ्ग-प्रविष्ट की कोटि से भिन्न रखने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इस स्थिति के संदर्भ में आगम की अङ्ग-बाह्य कोटि का उद्भव हुआ।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य के भेद-निरूपण में तीन हेतु प्रस्तुत किए हैं—

१. जो गणधर-कृत होता है,
२. जो गणधर द्वारा प्रश्न किए जाने पर तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित होता है,
३. जो ध्रुव—शाश्वत सत्त्यों से सम्बन्धित होता है, सुदीर्घकालीन होता है—  
वही श्रुत अङ्ग-प्रविष्ट होता है।<sup>३</sup>

इसके विपरीत (१) जो स्थविर-कृत होता है, (२) जो प्रश्न पूछे बिना तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित होता है, (३) जो चल होता है—तात्कालिक या सामयिक होता है—उस श्रुत का नाम अङ्ग-बाह्य है।

अङ्ग-प्रविष्ट और अङ्ग-बाह्य में भेद करने का मुख्य हेतु वक्ता का भेद है।<sup>४</sup> जिस आगम के वक्ता भगवान् महावीर हैं और जिसके संकलयिता गणधर हैं, वह श्रुत-पुरुष के मूल अङ्गों के रूप में स्वीकृत होता है, इसलिए उसे अङ्ग-प्रविष्ट कहा गया है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार वक्ता तीन प्रकार के होते हैं—(१) तीर्थङ्कर, (२) श्रुत-केवली (चतुर्दश-पूर्वी) और (३) आरातीय।<sup>५</sup> आरातीय आचार्यों के द्वारा रचित आगम ही अङ्ग-बाह्य माने गए हैं। आचार्य अकलंक के शब्दों में आरातीय आचार्य-कृत आगम अङ्ग-प्रतिपादित अर्थ से प्रतिबिम्बित होते हैं इसीलिए वे अङ्ग-बाह्य कहलाते हैं।<sup>६</sup> अङ्ग-बाह्य आगम श्रुत-पुरुष के प्रत्यंग या उपांग स्थानीय हैं।

#### ४. अङ्ग

द्वादशांगी में संगर्भित बारह आगमों को अङ्ग कहा गया है। अङ्ग शब्द संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं के साहित्य में प्राप्त होता है। वैदिक साहित्य में वेदाध्ययन के सहायक-ग्रन्थों को अङ्ग कहा गया है। उनकी संख्या छह है—

१. शिक्षा—शब्दों के उच्चारण-विधान का प्रतिपादक ग्रन्थ।
२. कल्प—वेद-विहित कर्मों का क्रमपूर्वक व्यवस्थित प्रतिपादन करने वाला शास्त्र।
३. व्याकरण—पद-स्वरूप और पदार्थ-निश्चय का निमित्त-शास्त्र।
४. निरुक्त—पदों की व्युत्पत्ति का निरूपण करने वाला शास्त्र।
५. छन्द—मंत्रोच्चारण के लिए स्वर-विज्ञान का प्रतिपादक शास्त्र।
६. ज्योतिष—यज्ञ-याग आदि कार्यों के लिए समय-शुद्धि का प्रतिपादक शास्त्र।

वैदिक साहित्य में वेद-पुरुष की कल्पना की गई है। उसके अनुसार शिक्षा वेद की नासिका है, कल्प हाथ, व्याकरण मुख, निरुक्त श्रोत्र, छन्द पैर और ज्योतिष नेत्र हैं। इसीलिए ये वेद-शरीर के अङ्ग कहलाते हैं।<sup>७</sup>

पालि-साहित्य में भी 'अङ्ग' शब्द का उपयोग किया गया है। एक स्थान में बुद्ध-वचनों को नवांग और दूसरे स्थान में द्वादशांग कहा गया है।

१. समवाओ १४।४।

२. नन्दी, सू० ७८ : चौदसपइन्नगसहस्साणि भगवओ वट्टमाणस्स।

३. विशेषावश्यकभाण्य, गाथा ५५२ :  
गणहर-थेरकयं वा, आएसा मुक्क-वागरणओ वा।  
ध्रुव-चल विसेसओ वा, अंगाणगेसु नाणत्तं।।

४. तत्त्वार्थभाण्य, १।२० : वक्तृविशेषाद् देविष्यम्।

५. सर्वार्थसिद्धि, १।२० : त्रयो वक्तरः—सर्वज्ञस्तीर्थकरः,  
इतरो वा श्रुतकेवलो आरातीयश्चेति।

६. तत्त्वार्थराजवातिक, १।२० : आरातीयाचार्यकृताङ्गार्थ-  
प्रत्यासन्नरूपमङ्गबाह्यम्।

७. पाणिनीय शिक्षा, ४१, १२।

## नवांग

१. सुत्त—भगवान् बुद्ध के गद्यमय उपदेश ।
२. गेय्य—गद्य-पद्य मिश्रित अंश ।
३. वेद्याकरण—व्याख्यापरक ग्रन्थ ।
४. गाथा—पद्य में रचित ग्रन्थ ।
५. उदान—बुद्ध के मुख से निकले हुए भावमय प्रीति-उद्गार ।
६. इतिवृत्तक—छोटे-छोटे व्याख्यान जिनका प्रारम्भ 'बुद्ध ने ऐसे कहा' से होता है ।
७. जातक—बुद्ध की पूर्व-जन्म-सम्बन्धी कथाएं ।
८. अब्भुतधम्म—अद्भुत वस्तुओं या योगज-विभूतियों का निरूपण करने वाले ग्रन्थ ।
९. वेदल्ल—वे उपदेश जो प्रश्नोत्तर की शैली में लिखे गए हैं ।

## द्वादशांग

(१) सूत्र, (२) गेय, (३) व्याकरण, (४) गाथा, (५) उदान, (६) अवदान, (७) इतिवृत्तक, (८) निदान, (९) वैपुल्य, (१०) जातक, (११) उपदेश-धर्म और (१२) अद्भुत-धर्म ।

जैनागम बारह अंगों में विभक्त हैं—(१) आचार, (२) सूत्रकृत, (३) स्थान, (४) समवाय, (५) भगवती, (६) ज्ञाता-धर्मकथा, (७) उपासकदशा, (८) अन्तकृद्दशा, (९) अनुत्तरोपपत्तिक, (१०) प्रश्नव्याकरण, (११) विपाक और (१२) दृष्टिवाद ।

'अङ्ग' शब्द का प्रयोग भारतीय दर्शन की तीनों प्रमुख धाराओं में हुआ है । वैदिक और बौद्ध साहित्य में मुख्य ग्रन्थ वेद और पिटक हैं । उनके साथ 'अङ्ग' शब्द का कोई योग नहीं है । जैन साहित्य में मुख्य ग्रन्थों का वर्गीकरण गणिपिटक है । उसके साथ 'अङ्ग' शब्द का योग हुआ है । गणिपिटक के बारह अङ्ग हैं—'दुबालसंगे गणिपिटके ।'

जैन-परम्परा में श्रुत-पुरुष की कल्पना भी प्राप्त होती है । आचार आदि बारह आगम श्रुत-पुरुष के अङ्गस्थानीय हैं । संभवतः इसीलिए उन्हें बारह अङ्ग कहा गया । इस प्रकार द्वादशांग गणिपिटक और श्रुत-पुरुष दोनों का विशेषण बनता है ।

## ५. प्रथम अङ्ग

द्वादशांगी में आचारांग का पहला स्थान है । इस विषय में दो विचारधाराएं प्राप्त होती हैं । एक धारा के अनुसार आचारांग पहला अङ्ग स्थापनाक्रम की दृष्टि से है, रचना-क्रम की दृष्टि से वह बारहवां अङ्ग है । दूसरी धारा के अनुसार रचना-क्रम और स्थापना-क्रम—दोनों दृष्टियों से आचारांग पहला अङ्ग है । आचार्य मलयगिरि<sup>१</sup> तथा अभयदेवसूरि<sup>२</sup> दोनों ने ही उक्त दोनों विचारधाराओं का उल्लेख किया है । ये धाराएं उनसे पहले ही प्रचलित थीं । अङ्ग पूर्वों से निर्यूद्ध हैं, इस अभिमत के आलोक में देखा जाए तो यही धारा संगत लगती है कि आचारांग स्थापना-क्रम की दृष्टि से पहला अङ्ग है, किन्तु रचना-क्रम की दृष्टि से नहीं । निर्युक्तिकार ने 'आचार' को प्रथम अङ्ग माना है । उनके अनुसार तीर्थङ्कर सर्व प्रथम 'आचार' का और फिर क्रमशः शेष अङ्गों का प्रतिपादन करते हैं ।<sup>३</sup> गणधर भी उसी क्रम से अङ्गों की रचना करते हैं ।<sup>४</sup> निर्युक्तिकार ने आचारांग की प्रथमता का कारण भी प्रस्तुत किया है । उन्होंने लिखा है—आचारांग में मोक्ष के उपाय (चरण-करण या आचार) का प्रतिपादन किया गया है

१. सद्धर्मपुंडरीक सूत्र, पृ० ३४ ।

२. बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ 'अभिसमयालंकार' की टीका, पृ० ३५ :

सूत्रं गेयं व्याकरणं, गाथोबानावदानकम् ।

इतिवृत्तकं निदानं, वैपुल्यं च सजातकम् ।

उपदेशाद्भुतौ धर्मो, द्वादशांगमिदं वचः ॥

३. समवायो, प्रकीर्णक समवाय, सूत्र ८८ ।

४. मूलाराधना, ४।५९९ विजयोदया : श्रुतं पुरुषः मुखचरणा-  
द्यङ्गस्थानीयत्वावंगशब्देनोच्यते ।

५. समवायो, प्रकीर्णक समवाय, सूत्र ८९ : से णं अंगद्वयाए  
पढमे अंगे ।

६. (क) नंदी, मलयगिरि वृत्ति, पत्र २११ : स्थापनामधिकृत्य  
प्रथममङ्गम् ।

(ख) वही, मलयगिरि वृत्ति, पत्र २४० : गणधराः पुनः  
सूत्ररचनां विदधतः आचारादिक्रमेण विदधति  
स्थापयन्ति वा ।

७. (क) समवायांग वृत्ति, पत्र १०१ : प्रथममङ्गं स्थापना-  
मधिकृत्य, रचनापेक्षया तु द्वादशमङ्गम् ।

(ख) वही, पत्र १२१ : गणधराः पुनः श्रुतरचनां विदधाना  
आचारादिक्रमेण रचयन्ति स्थापयन्ति च ।

८. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ८ :  
सध्वेसि आघारो, तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए ।

सेसाइं अंगाइं, एक्कारस आपुपुब्बीए ।

९. वही, गाथा ८ वृत्ति : गणधरा अभ्यनयंवानुपुब्ब्यां सूत्रतया  
ग्रन्थन्ति ।

और यही प्रवचन का सार है। इसलिए द्वादशांगी में आचारांग का प्रथम स्थान है।<sup>१</sup>

इससे प्रतीत होता है कि निर्युक्तिकार इस धारा के समर्थक रहे हैं कि रचना की दृष्टि से आचारांग का प्रथम स्थान है। किन्तु ग्यारह अङ्गों को पूर्वा से निर्यूढ माना जाए, उस स्थिति में निर्युक्ति-सम्मत धारा की संगति नहीं बैठती। संभव है, निर्युक्तिकार ने अङ्गों के निर्यूहण की प्रक्रिया का यह क्रम मान्य किया हो कि सर्व प्रथम आचारांग का निर्यूहण और स्थापन होता है तथा तत्पश्चात् सूत्रकृत आदि अङ्गों का। इस सम्भावना को स्वीकार कर लेने पर दोनों धाराओं की बाह्य दूरी रहने पर भी आंतरिक दूरी समाप्त हो जाती है।

#### ६. श्रुतस्कन्ध

समवायांग में आचारांग के दो श्रुतस्कन्ध बतलाए गए हैं।<sup>२</sup> इससे यह प्रमाणित होता है कि समवायांग में प्राप्त द्वादशांगी का विवरण भी आचार-चूला की रचना का उत्तरवर्ती है। प्रारम्भ में आचारांग के दो स्कन्ध नहीं थे। आचार्य भद्रबाहु ने आचार-चूला की रचना की, उसके पश्चात् दो स्कन्धों की व्यवस्था की गई। मूलभूत प्रथम अंग का नाम आचारांग अथवा 'ब्रह्मचर्याध्ययन' है। समवायांग में इसके अध्ययनों को 'नव ब्रह्मचर्य' कहा गया है।<sup>३</sup> आचारांग निर्युक्ति में इसे 'नव ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक' कहा गया है।<sup>४</sup> द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दो नाम हैं—आयारंग (आचारांग) और आयार-चूला (आचार-चूला)।

निर्युक्तिकार ने आचारांग के दस पर्यायवाची नाम बतलाए हैं—

१. आयार—यह आचरणीय का प्रतिपादक है, इसलिए आचार है।
२. आचाल—यह निविड बंधन को आचालित करता है, इसलिए आचाल है।
३. आगाल—यह चेतना को सम घरातल में अवस्थित करता है, इसलिए आगाल है।
४. आगर—यह आत्मिक-शुद्धि के रत्नों का उत्पादक है, इसलिए आगर है।
५. आसास—यह संव्रत चेतना को आश्वासन देने में क्षम है, इसलिए आश्वास है।
६. आयरिस—इसमें 'इति-कर्त्तव्यता' देखी जा सकती है, इसलिए यह आदर्श है।
७. अंग—यह अन्तस्तल में स्थित अहिंसा आदि को व्यक्त करता है, इसलिए अङ्ग है।
८. आईण्ण—इसमें आचीर्ण-धर्म का भी प्रतिपादन है, इसलिए यह आचीर्ण है।
९. आज्ञा—इससे ज्ञान आदि आचारों की प्रसूति होती है, इसलिए आज्ञाति है।
१०. आमोक्ख—यह बंधन-मुक्ति का साधन है, इसलिए आमोक्ख है।

#### ७. मुख्य-विभाग

आचारांग के नौ अध्ययन हैं। समवायांग<sup>५</sup> और आचारांग निर्युक्ति<sup>६</sup> में इन अध्ययनों के जो नाम प्राप्त होते हैं, उनमें थोड़ा भेद है—

समवायांग	आचारांग निर्युक्ति
सत्यपरिण्णा	सत्यपरिण्णा
लोगविजय	लोगविजय
सीओसणिज्ज	सीओसणिज्ज
सम्मत्त	सम्मत्त
आवन्ती	लोगसार
धुत	धुत
विमोहायण	महापरिण्णा
उवहाणसुय	विमोक्ख
महपरिण्णा	उवहाणसुय

#### १. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ९ :

आयारो अंगार्णं, पढमं अंगं बुवालसण्हंमि ।

इत्थ य मोक्खो वाओ, एस य सारो पवयणत्स ॥

#### २. समवाओ, प्रकीर्णक समवाप, सूत्र ८९ : दो सुयक्खंघा ।

३. वही, ९३ : णव बंमचेरा पणत्ता ।

४. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ११ : णव बंमचेरमइओ ।

#### ५. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ७ :

आयारो आचालो, आगालो आगरो य आसासो ।

आयरिसो अंगति य, आईण्णाऽऽजाइ आमोक्खा ॥

#### ६. समवाओ, ९३ ।

७. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ३१-३२ ।

इनमें नाम-भेद और क्रम-भेद दोनों हैं। पांचवें अध्ययन का मूल नाम 'लोकसार' ही है। आवंती नाम आदि-पद के कारण हुआ है। अनुयोगद्वार में यह उदाहरण रूप में उल्लिखित है।<sup>१</sup> निर्युक्तिकार ने भी आवंती को आदान-पद नाम और लोकसार को गौण नाम माना है।<sup>२</sup>

## ८. अवान्तर-विभाग

समवायांग में आचारांग के ८५ उद्देशन-काल बतलाए गए हैं।<sup>३</sup> यह दोनों श्रुतस्कंधों की संयुक्त संख्या है। एक अध्ययन का उद्देशन-काल एक होता है, वैसे ही एक उद्देशक का भी उद्देशन-काल एक ही होता है। उद्देशक अध्ययन का अवान्तर-विभाग होता है। आचार के उद्देशकों की संख्या इस प्रकार है—

अध्ययन	उद्देशक	अध्ययन	उद्देशक
१	७	६	५
२	६	७	७
३	४	८	८
४	४	९	४
५	६		

## ९. पद-परिमाण और वर्तमान आकार

आचारांग निर्युक्ति के अनुसार आचारांग की पद-संख्या अट्ठारह हजार है। समवायांग तथा नन्दी में आचारांग के दो श्रुत-स्कंध बतला कर फिर अट्ठारह हजार पदों की संख्या बतलाई गई है। किन्तु यह पद-संख्या नव ब्रह्मचर्य अध्ययनों की है। निर्युक्तिकार ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है।<sup>४</sup>

अभयदेव सूरि ने समवायांग के संश्लिष्ट पाठ का विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है—'दो श्रुतस्कन्ध हैं, यह आचार-चूला सहित आचार का प्रतिपादन है। उसके अट्ठारह हजार पद हैं। यह पद-परिमाण केवल नव ब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचार का है।<sup>५</sup> सम्प्रति उपलब्ध आचारांग में अट्ठारह हजार पद प्राप्त नहीं हैं। परम्परा से ऐसा माना जाता है कि रचना-काल में आचारांग का पद-परिमाण इतना था, किन्तु काल-क्रम से उसके ग्रन्थ-भाग का विच्छेद हो गया, इसलिए वर्तमान में पद-परिमाण भी कम हो गया है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन और कंसाचार्य—ये पांच आचार्य एकादशांगधर और चौदह पूर्वों के एक देश के धारक हुए हैं। समुद्र, यशोभद्र, यशोब्राह्म और लोहार्य—ये चार आचार्य आचारांग के धारक तथा शेष अंगों और पूर्वों के एक देश के धारक हुए हैं।<sup>६</sup> इनके पश्चात् अर्थात् वीर-निर्वाण ६२३ के पश्चात् आचारांगधर का विच्छेद हो गया। फलतः आचारांग का विच्छेद हो गया। आचारांग का विच्छेद मान लेने पर भी इस तथ्य की स्वीकृति की गई है कि उत्तरवर्ती आचार्य सभी अंगों और पूर्वों के एक देश (अवशिष्ट-भाग) के धारक हुए हैं।<sup>७</sup>

श्वेताम्बर परम्परा में भी विष्णु मुनि के देहावसान के साथ आचारांग का विच्छेद माना गया है।<sup>८</sup> तित्थोगाली में भी आगम-विच्छेद की चर्चा प्राप्त है।<sup>९</sup> उसके अनुसार आचारांग का विच्छेद वीर-निर्वाण १३०० (ई० ७७३) में बताया गया है। इन परम्पराओं से इतना ही सारांश प्राप्त किया जा सकता है कि आचारांग निर्माण-काल में जितना था, उतना आज नहीं है तथा वह सर्वथा विच्छिन्न भी नहीं है। उसका कुछ विच्छेद आचारांगधर आचार्यों के अभाव में हुआ है तथा कुछ विच्छेद विस्मृतिवश व प्रतियोगों के प्रामाणिक संस्करणों के नष्ट होने से भी हुआ है। इतना सुनिश्चित है कि शीलांकसूरि (वि० ८वीं शती) को आचारांग का जो अंश प्राप्त था, उसका विच्छेद नहीं हुआ है। अतः तित्थोगाली का विवरण प्रामाणिक नहीं लगता।

१. अनुयोगद्वार, सू० १३० : (वृत्ति पत्र १३०) : से कि ते आयाणपणं ? (धम्मो मंगलं, चूलिया) आवंती...।

तत्र आवंतीत्याचारस्य पंचमाध्ययनं, तत्र ह्यादावेव—  
'आवन्ती केयावन्ती'त्यालापको विद्यत इत्यादानपदेनैतन्नाम।

२. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २३८ : आयाणपणावन्ति,  
गोष्णनामेण लोगसाहत्ति।

३. समवाओ, प्रकीर्णक समवाय, सू० ८९।

४. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ११ :

णवबंभचेरमइओ, अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।

५. समवायांग वृत्ति, पत्र १०१ : यद् द्वौ श्रुतस्कन्धावित्यादि  
तदाचारस्य प्रमाणं भणितं, यत् पुनरष्टादश पदसहस्राणि  
तन्नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मकस्य प्रथमश्रुतस्कन्धस्य प्रमाणम्।

६. धवला (षट्खण्डागम) भाग ४, पृ० ६६।

७. बही, भाग १, पृ० ६७ : तदो सव्वेत्तिमंगं पुब्बाण मेग-  
देसो आइरिय-परंपराए आगच्छमाणो धरसेणाइरियं संपत्तो।

८. अभिधान राजेन्द्र, भाग २, पृ० ३४६।

९. व्यवहारभाष्य ३।७०४ :

तित्थोगाली एत्थं वत्तव्वा होइ आणुपुटवीए।

जे तस्स उ अंगस्स, वुच्छेदो जाहि विणिदिट्ठो ॥

आचारांग का 'महापरिज्ञा' अध्ययन विच्छिन्न हो चुका है—यह श्वेताम्बर आचार्यों का अभिमत है। उस अध्ययन का विच्छेद वज्रस्वामी (वि० पहली शताब्दी) के पश्चात् तथा श्रीलांकसूरि (वि० आठवीं शताब्दी) से पूर्व हुआ है। वज्रस्वामी ने महापरिज्ञा अध्ययन से गगनगामिनी-विद्या उद्धृत की थी।<sup>१</sup> इससे स्पष्ट है कि उनके समय में वह अध्ययन प्राप्त था। श्रीलांकसूरि ने उसके विच्छेद होने का उल्लेख किया है।<sup>२</sup> निर्युक्तिकार ने महापरिज्ञा अध्ययन के विषय का उल्लेख किया है<sup>३</sup> तथा उसकी निर्युक्ति भी की है।<sup>४</sup> इससे लगता है कि चर्चित अध्ययन उनके सामने था। चूर्णिकार के सामने भी महापरिज्ञा अध्ययन रहा है। उन्होंने वृत्तिकार श्रीलांकसूरि की तरह इसके विच्छेद होने का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने चर्चित अध्ययन के असमनुज्ञात होने का उल्लेख किया है।<sup>५</sup>

यह अध्ययन असमनुज्ञात क्यों और कब हुआ, इसकी चूर्णिकार ने कोई चर्चा नहीं की है। एक अनुश्रुति यह है कि 'महापरिज्ञा' अध्ययन में अनेक मंत्र और विद्याओं का वर्णन था। काल-लब्धि के संदर्भ में उसे पढ़ाने का परिणाम अच्छा नहीं लगा। इसलिए तात्कालिक आचार्यों ने उसे असमनुज्ञात ठहरा दिया—उसका पढ़ना-पढ़ाना निषिद्ध कर दिया। किन्तु निर्युक्तिकार के संदर्भ में हम इस विषय पर विचार करते हैं तो उक्त अनुश्रुति का उससे समर्थन नहीं होता। निर्युक्तिकार के अनुसार आचार-चूला के सात अध्ययन (सप्तैकिक) महापरिज्ञा के सात उद्देशकों से निर्युद्ध किए गए हैं।<sup>६</sup> इस उल्लेख के आधार पर सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि जो विषय महापरिज्ञा से उद्धृत सात अध्ययनों (सप्तैकिकों) में है, वही विषय महापरिज्ञा अध्ययन में रहा है। ऐसी संभावना भी की जा सकती है कि महापरिज्ञा से उद्धृत सात अध्ययनों के प्रचलन के बाद उसकी आवश्यकता न रही हो, फलतः वह असमनुज्ञात हो गया हो और क्रमशः विच्छिन्न हो गया हो। अभी तक हमें अनुश्रुति और अनुमान के अतिरिक्त प्रस्तुत अध्ययन के विच्छेद का पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है।

## १०. विषय-वस्तु

समवायांग और नन्दी में आचारांग का विवरण प्रस्तुत किया गया है। उसके अनुसार प्रस्तुत सूत्र आचार, गोचर, विनय, वैनयिक (विनय-फल), स्थान (उत्थितासन, निषण्णासन और शयितासन), गमन, चक्रमण, भोजन आदि की मात्रा, स्वाध्याय आदि में योग-नियुंजन, भाषा, समिति, गुप्ति, शय्या, उपधि, भक्त-पान, उद्गम-उत्थान, एषणा आदि की विशुद्धि, शुद्धाशुद्ध-ग्रहण का विवेक, व्रत, नियम, तप, उपधान आदि का प्रतिपादक है।<sup>७</sup>

आचार्य उमास्वाति ने आचारांग के प्रत्येक अध्ययन का विषय संक्षेप में प्रतिपादित किया है। वह क्रमशः इस प्रकार है<sup>८</sup>—

- |                                 |                                 |
|---------------------------------|---------------------------------|
| १. षड्जीवकाय यतना               | ६. कर्मों को क्षीण करने का उपाय |
| २. लौकिक संतान का गौरव-त्याग    | ७. वैयावृत्य का उद्योग          |
| ३. शीत-ऊष्ण आदि परीषहों पर विजय | ८. तपस्या की विधि               |
| ४. अप्रकम्पनीय-सम्भक्त्व        | ९. स्त्री-संग-त्याग             |
| ५. संसार से उद्वेग              |                                 |

निर्युक्तिकार ने नव ब्रह्मचर्य अध्ययनों के विषय इस प्रकार बतलाए हैं—

- |                 |                          |
|-----------------|--------------------------|
| १. सत्यपरिष्णा— | जीव संयम।                |
| २. लोमविजय—     | बंध और मुक्ति का प्रबोध। |
| ३. सीओसणिज्ज—   | सुख-दुःख-तितिक्षा।       |

१. (क) आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६७९, मलयगिरि वृत्ति, पत्र ३९० :

जेणुद्धरिया विज्जा, आगासगमा महापरिन्नाओ ।  
वंदामि अज्जवडरं, अपच्छिमो जो सुयधरणं ॥

(ख) प्रभावक चरित, वज्रप्रबन्ध, श्लोक १४८ :

महापरिज्ञाध्ययनाद्, आचारांगान्तरस्थितात् ।  
श्री वज्रणेोद्धृता विद्या, तदा गगनगामिनी ॥

२. आचारांग वृत्ति, पत्र २३५ : अधुना सप्तमाध्ययनस्य  
महापरिज्ञाख्यस्यावसरः, तच्च व्यवच्छिन्नमितिक्रुवाऽति-  
लंघ्याष्टमस्य सम्बन्धो वाच्यः ।

३. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ३४ ।

४. वही, गाथा २५२-२५८ । देखें—आचारांग वृत्ति,  
द्वितीय श्रुतस्कन्ध का अंतिम पत्र ।

५. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४४ : महापरिष्णा ण पडिज्जइ  
असमणुष्णाया ।

६. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २९० :  
सत्तिक्कगाणि सत्तवि निज्जूडाइं महापरिन्नाओ ।

७. (क) समवाओ, प्रकीर्णक समवाय, सू० ८९ ।

(ख) नंदी, सू० ८० ।

८. प्रशमरति प्रकरण, ११४-११७ ।

४. सम्मत्त—	सम्यक्-दृष्टिकोण ।
५. लोगसार—	असार का परित्याग और लोक में सारभूत रत्नत्रयी की आराधना ।
६. धुय—	अनासक्ति ।
७. महापरिणामा—	मोह से उत्पन्न परीषहों और उपसर्गों का सम्यक् सहन ।
८. विमोक्ष—	निर्याण (अंतर्क्रिया) की सम्यक्-साधना ।
९. उवहाणसुय—	भगवान् महावीर द्वारा आचरित आचार का प्रतिपादन । <sup>१</sup>

आचार्य अकलङ्क के अनुसार आचारांग का समग्र विषय चर्या-विधान<sup>२</sup> तथा अपराजित सूरि के अनुसार रत्नत्रयी के आचरण का प्रतिपादन है ।<sup>३</sup>

जैन परम्परा में 'आचार' शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत होता है । आचारांग की व्याख्या के प्रसंग में आचार के पांच प्रकार बतलाए गए हैं—<sup>४</sup>(१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चरित्राचार, (४) तपाचार और (५) वीर्याचार । प्रस्तुत आगम में इन पांचों आचारों का निरूपण है ।

### दार्शनिक-तथ्य

तत्त्व-दर्शन की दृष्टि से आचारांग एक महत्त्वपूर्ण आगम है । आचार्य सिद्धसेन ने जैन दर्शन के मूलभूत छह सत्य गिनाए हैं—<sup>५</sup>

(१) आत्मा है ।	(४) भोक्ता है ।
(२) वह अविनाशी है ।	(५) निर्वाण है ।
(३) कर्त्ता है ।	(६) निर्वाण के उपाय है ।

इनका आचारांग में पूर्ण विस्तार मिलता है । 'आत्मा है'—यह पहला सत्य है । आचारांग का प्रारम्भ इसी सत्य की व्याख्या से हुआ है ।<sup>६</sup> इसी व्याख्या के साथ आत्मा के अविनाशित्व का उल्लेख हुआ है ।<sup>७</sup> 'पुरुष तू ही तेरा मित्र है'<sup>८</sup> 'यह शल्य तू ने ही किया है'<sup>९</sup>—ये वाक्य आत्मा के कर्तृत्व के उद्बोधक हैं ।<sup>१०</sup> इसमें 'अनुसंवेदन' का प्रयोग हुआ है ।<sup>११</sup> यह क्रिया की प्रतिक्रिया (भोक्तृत्व) का सूचक है । आचारांग में निर्वाण को 'अनन्य-परम' कहा गया है । वहां सब उपाधियां समाप्त हो जाती हैं, इसलिए उससे अन्य कोई परम नहीं है । निर्वाण के उपायभूत सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-चारित्र्य का स्थान-स्थान पर प्रतिपादन हुआ है । इन दृष्टियों से आचारांग को जैन दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ कहा जा सकता है ।

### श्रद्धा और स्वतंत्र-दृष्टि

आचारांग श्रद्धा का समुद्र है । 'सङ्घी आणाए मेहावी'<sup>१२</sup>, 'आणाए मामगं धम्म'<sup>१३</sup> आदि वाक्यों में अपने आराध्य के प्रति आत्मार्पण की भावना प्रस्फुटित होती है । आचारांग में श्रद्धा के स्वतंत्र-दृष्टिकोण का स्थान असुरक्षित नहीं है । सत्य की उपलब्धि के तीन साधन बतलाए गए हैं—सहसम्मति, परव्याकरण और श्रुतानुश्रुत ।<sup>१४</sup>

इन तीन साधनों में पहला साधन है—स्वस्मृति—अपनी बुद्धि के द्वारा सत्य का अवबोध करना । 'मइमं पास'<sup>१५</sup>—इस शब्द

### १. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ३३-३४ :

जिअसंजमो अ लोगो जह बज्झइ जह थ तं पजहिण्वं ।  
सुहदुखतितिकखाविद्य सम्मत्तं लोगसारो य ॥  
निस्संगया थ छट्ठे मोहसमुत्था परीसहुवसग्गा ।  
निज्जाणं अट्टमए नवमे य जिणेण एवंति ॥

२. तत्त्वार्थराजवातिक, १।२० : आचारे चर्याविधानं  
शुद्धचष्टकपंचसमित्तित्रिगुप्तिकल्पं कथ्यते ।

३. भूलाराधना, आश्वास २, श्लोक १३०, विजयोदया :  
रत्नत्रयाचरणनिरूपणपरतया प्रथममंगमाचारं शब्दे-  
नोच्यते ।

४. समवायो, प्रकीर्णक समवाय, सूत्र ८९ : से समासओ  
पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—णाणायारे वंसणायारे चरित्तायारे  
तवायारे वीरियायारे ।

### ५. सम्मति प्रकरण, ३।५५ :

अत्थि अविणास-धम्मो, करेइ वेएइ अत्थि निव्वानं ।  
अत्थि य मोक्खोवाओ, छ सम्मत्तस्स ठाणाइं ॥

६. आयारो, १।२

७. वही, १।४ ।

८. वही, ३।६२ : पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं ।

९. वही, २।८७ : तुमं चेव तं सल्लमाहट्टु ।

१०. वही, ५।१०३।

११. वही, ३।५७ ।

१२. वही, ३।८० ।

१३. वही, ६।४८ ।

१४. वही, १।३ : सह-सम्मइयाए, पर-वागरणेणं, अण्णेसि वा  
अंतिए सोच्चा ।

१५. वही, ३।१२ ।

का प्रयोग भी दृष्टि की स्वतंत्रता को अवकाश देता है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ किया है 'न केवलं अहमेव कथयामि त्वमेव पश्य'—केवल मैं ही नहीं कहता हूँ, तू स्वयं भी देख। इस प्रकार आचारांग में श्रद्धा और स्वतंत्र-दृष्टि का सुन्दर संगम हुआ है। केवल श्रद्धा और केवल स्वतंत्र-दृष्टि—ये दोनों अतियाँ हैं। इनसे अच्छे परिणाम की उपलब्धि नहीं हो सकती। श्रद्धा और स्वतंत्र-दृष्टि का समन्वय ही सत्य-संधान का समुचित मार्ग है।

### कषोपल

आचारांग सबसे प्राचीन सूत्र है, इसलिए यह उत्तरवर्ती सूत्रों के लिए 'कषोपल' के समान है। इसमें वर्णित आचार मूलभूत है। वह भगवान् महावीर के मौलिक आचार के सर्वाधिक निकट है। उत्तरवर्ती सूत्रों में वर्णित आचार उसका परिवर्धन या विकास है। आचारांग-चूला में भी आचार का परिवर्धन या विकास हुआ है। जो तथ्य मूल आचारांग में नहीं हैं, वे आचार-चूला में प्राप्त होते हैं, तब सहज ही प्रश्न खड़ा होता है कि उनका आधार क्या है? दो शताब्दी से पूर्ववर्ती साहित्य में जो तथ्य नहीं हैं, वे दो शताब्दी बाद लिखे गए साहित्य में कहाँ से आए? इसका समाधान देने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं हैं, फिर भी इस विषय में इतना कहा जा सकता है कि सामयिक परिस्थितियों को ध्यान में रख कर वर्तमान आचार्यों ने उत्सर्ग और अपवाद के सिद्धान्त की स्थापना और उसके आधार पर विधि-विधानों का निर्माण किया था। आचार-चूला उसी शृङ्खला की प्रथम कड़ी है। जैन-आचार की समीक्षा करते समय इस तथ्य की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि आचारांग में वर्णित आचार मौलिक हैं और महावीर-कालीन हैं तथा जो आचार आचारांग में वर्णित नहीं हैं, वह उत्तरवर्ती हैं तथा उसकी प्रारम्भ-तिथि अन्वेषणीय है।

### समसामयिक विचार

आचारांग में वैदिक, औपनिषदिक और बौद्ध विचारधाराओं के संदर्भ में अनेक तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है। वैदिक-साधना को हम अरण्य-साधना कह सकते हैं। वैदिक-धारणा के अनुसार धर्म की साधना के लिए मनुष्य को अरण्य में रहना आवश्यक है। वैदिक ऋषि तत्त्वचिन्ता के लिए भी अरण्य में रहते थे। आरण्यक-साहित्य उसी अरण्यवास की निष्पत्ति है। भगवान् महावीर ने अरण्यवास की अनिवार्यता मान्य नहीं की। उन्होंने कहा—'साधना गाँव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है।'<sup>१</sup>

'धर्म का उपदेश जैसे बड़े लोगों को दिया जा सकता है, वैसे ही छोटे लोगों को दिया जा सकता है।'<sup>२</sup> उच्च-वर्ग को ही धर्म सुनने का अधिकार है, शूद्र को धर्म सुनने का अधिकार नहीं है, इस सिद्धान्त के प्रतिवाद में ही भगवान् महावीर ने उक्त विचार का प्रतिपादन किया था।

'न कोई व्यक्ति हीन है और न कोई व्यक्ति उच्च है'<sup>३</sup>—इस विचार का प्रतिपादन जातिवाद के विरुद्ध किया गया था।

इस प्रकार उपनिषद्, गीता और बौद्ध-साहित्य के संदर्भ में आचारांग का तुलनात्मक अध्ययन करने पर विचारधारा के अनेक मौलिक स्रोत हमें प्राप्त हो सकते हैं।

### ११. रचनाकार और रचना-काल

परम्परा से यह जाना जाता है कि आचारांग की रचना गणधर सुधर्मा स्वामी ने की और तीर्थ-प्रवर्तन के समय में ही की। ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी ऐसा प्रतीत होता है कि आचारांग उपलब्ध आगमों में सबसे प्राचीन है। इसकी रचना-शैली अन्य आगमों से भिन्न है। डॉ० हर्सेन जेकोबी ने इसकी तुलना ब्राह्मण सूत्रों की शैली से की है। उनके अनुसार ब्राह्मण सूत्रों के वाक्य परस्पर सम्बन्धित हैं, किन्तु आचारांग के वाक्य परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं। उन्होंने लिखा है—'आचारांग के वाक्य उस समय के प्रसिद्ध धार्मिक-ग्रन्थों से उद्धृत किए गए हैं, ऐसा लगता है। मेरा यह अनुमान गद्य के मध्य आने वाले पद्यों या पदों के संदर्भ में पूर्ण सत्य है। क्योंकि उन पद्यों या पदों की सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन तथा दशवैकालिक के पदों से तुलना होती है।'<sup>४</sup>

१. आचार्य, ८११४ : गामे च अदुवा रण्णे, ... धम्ममायाणह—

पवेदित्तं माहणेण मईमया।

२. वही, २१७४ :

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।

जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥

३. वही, २१४९ : णो हीणे, णो अइरिस्से।

4. The Sacred Books of the East, Vol. XXII, Introduction, Page 48 : They do not read like a logical discussion, but like a Sermon made up by quotations from some then well-known sacred books. In fact the fragments of verses and whole verses which are liberally inter-

डॉ० जेकोबी का अभिमत निराधार नहीं है। द्वादशांगी पूर्वों से निर्युद्ध है तथा दशवैकालिक का निर्युद्ध भी पूर्वों से किया गया है। इसलिए बहुत सम्भव है कि इन सबके समान पदों का निर्युद्ध-स्थल एक हो।

आचारांग में वाक्य परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं, इस अभिमत में आंशिक सच्चाई भी है और वह इसलिए है कि वर्तमान में आचारांग का खण्डित रूप प्राप्त है। अखण्ड रूप में जो सम्बन्ध-शृंखला प्राप्त हो सकती है, वह खण्डित रूप में नहीं हो सकती।

इसका तीसरा कारण व्याख्या-पद्धति का भेद भी है। आगम-साहित्य के व्याख्यान की दो पद्धतियाँ हैं—छिन्नच्छेदनयिक और अच्छिन्नच्छेदनयिक।

प्रथम पद्धति के अनुसार प्रत्येक वाक्य तथा श्लोक अपने आपमें परिपूर्ण होता है। पूर्व या अग्रिम वाक्य तथा श्लोक से उसकी सम्बन्ध-योजना नहीं की जाती। द्वितीय पद्धति के अनुसार प्रत्येक वाक्य तथा श्लोक की पूर्व या अग्रिम वाक्य तथा श्लोक के साथ सम्बन्ध-योजना की जाती है।

आचारांग की व्याख्या छिन्नच्छेदनयिक पद्धति से करने पर वाक्यों की विसम्बद्धता प्रतीत होती है। यदि अच्छिन्नच्छेदनयिक पद्धति से उसकी व्याख्या की जाए तो उसमें सर्वत्र विसम्बद्धता प्रतीत नहीं होगी।

## १२. आचारांग का महत्त्व

आचारांग आचार का प्रतिपादक सूत्र है, इसलिए यह सब अंगों का सार माना गया है। निर्युक्तिकार ने निर्युक्ति गाथा १६ में स्वयं जिज्ञासा की—‘अंगाणं किं सारो?’ अंगों का सार क्या है? इसके उत्तर की भाषा में उन्होंने लिखा है—‘आयारो।’ अर्थात् अंगों का सार आचार है।

आचारांग में मोक्ष का उपाय बताया गया है, इसलिए यह समूचे प्रवचन का सार है।<sup>१</sup>

आचारांग के अध्ययन से श्रमण-धर्म ज्ञात होता है, इसलिए आचारधर पहला गणिस्थान (आचार्य होने का प्रथम कारण) कहलाता है।<sup>२</sup>

आचारांग मुनि-जीवन का आधारभूत आगम है, इसलिए इसका अध्ययन सर्वप्रथम किया जाता था। नी ब्रह्मचर्य अध्ययनों का वाचन किए बिना उत्तम या ऊपर के आगमों का वाचन करने पर चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का विधान किया गया है।<sup>३</sup>

आचारांग पढ़ने के बाद ही धर्मानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग पढ़े जाते थे।<sup>४</sup> नव दीक्षित मुनि की उपस्थापना आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन द्वारा की जाती थी। वह पिण्डकल्पी (भिक्षा लाने योग्य) भी आचारांग के अध्ययन से होता था।<sup>५</sup> आचारांग का अध्ययन किए बिना सूत्रकृत आदि अंगों का अध्ययन विहित नहीं था।<sup>६</sup> उक्त उद्धरणों से आचारांग का महत्त्व-स्थापन होता है।

## १३. रचना-शैली

सूत्रकृतांग चूर्ण में सूत्र-रचना की चार शैलियों का निर्देश मिलता है—(१) गद्य, (२) पद्य, (३) कथ्य और (४) गेय।<sup>७</sup>

spersed in the prose texts go far to prove the correctness of my conjecture; for many of these ‘disjecta membra’ are very similar to verses or Padas of verses occurring in the Sutrakritanga, Uttaradhyayana and Dasavai-kalika Sutras.

१. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ९।

२. वही, गाथा १० :

आयारम्मि अहीए, जं नाओ होइ समणधम्मो उ।

तम्हा आयारधरो, भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं ॥

३. निशीथ, १९।१ : जे भिक्खु णव बंभचेराइ अवाएत्ता उत्तम सुयं वाएइ, वाएंतं वा सातिज्जति।

४. निशीथ चूर्ण (निशीथ सूत्र, चतुर्थ विभाग), पृ० २५३ : अहवा—बंभचेरादी आयारं अवाएत्ता धम्माणुओ इसि-

भासियादि वाएति, अहवा—सूरपणत्तियाइ गणियाणुओगं वाएति, अहवा—दिट्ठिवातं दवियाणुओगं वाएति, अहवा—जदा चरणाणुओगो वातित्तो तदा धम्माणुओगं अवाएत्ता गणियाणुओगं वाएति, एवं उक्कमो चारणियाए सव्वो वि भासियट्ठो।

५. व्यवहारभाष्य, ३।१७४-१७५।

६. निशीथ चूर्ण (निशीथ सूत्र, चतुर्थ विभाग), पृ० २५२ : अंगं जहा आयारो तं अवाएत्ता सुयगडंगं वाएति।

७. सूत्रकृतांग चूर्ण, पृ० ७ : तं चउड्विधं, तंजहा—गद्यं पद्यं कथ्यं गेयं। गद्यं—चूर्णप्रथः ब्रह्मचर्यादि, पद्यं गाथासोल्लसगादि, कथनीयं कथ्यं जहा उत्तरज्जयणाणि इसिभासिताणि णयाणि थ, गेयं णाम सरसंचारेण जहा काविलिज्जे ‘अधुवे असासयंमि संसारंमि दुक्खपउराए।’



- (१) गद्य—चूर्ण ग्रन्थ, जैसे—ब्रह्मचर्य अध्ययन ।  
 (२) पद्य—जैसे—गाथाषोडशक (सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध का १६ वां अध्ययन) ।  
 (३) कथ्य—कथनीय, जैसे—उत्तराध्ययन ऋषिभाषित, ज्ञाता ।  
 (४) गेय—स्वरयुक्त, जैसे—कापिलीय (उत्तराध्ययन का ८ वां अध्ययन) ।

दशवैकालिक निर्युक्ति में ग्रथित और प्रकीर्णक—इन दो शैलियों की चर्चा मिलती है।<sup>१</sup> ग्रथित शैली का अर्थ है 'रचनाशैली' और प्रकीर्णक का अर्थ है 'कथाशैली'।<sup>२</sup> ग्रथित शैली के चार प्रकार बतलाए गए हैं—(१) गद्य, (२) पद्य, (३) गेय और (४) चोर्ण।<sup>३</sup>

दशवैकालिक निर्युक्ति में जो प्रकीर्णक है, वही सूत्रकृतांग चूर्ण में कथ्य है। सूत्रकृतांग चूर्ण में ब्रह्मचर्याध्ययन (प्रथम आचारांग) को गद्य की कोटि में रखा है और उसे चूर्ण ग्रंथ माना है। किन्तु दशवैकालिक चूर्ण में ब्रह्मचर्याध्ययन को चोर्ण पद माना है।<sup>४</sup> हरिभद्र का यही अभिमत है।<sup>५</sup> आचारांग की रचना गद्य-शैली की नहीं है, इसलिए दशवैकालिक चूर्ण का अभिमत संगत लगता है।

निर्युक्तिकार ने चोर्ण-पद की व्याख्या इस प्रकार की है—'जो अर्थ-बहुल, महार्थ, हेतु, निपात और उपसर्ग से गंभीर, बहुपाद, अव्यवच्छिन्न (विराम रहित), गम और नय से विशुद्ध होता है, वह चोर्णपद है।'<sup>६</sup> चोर्ण की परिभाषा में आया हुआ 'बहुपाद' शब्द यहाँ बहुत महत्वपूर्ण है। जिस रचना में कोई पाद नहीं होता वह गद्य और जिसमें गद्य भाग के साथ-साथ बहुपाद (चरण) होते हैं, वह चोर्ण है। संक्षेप में गद्य को 'अपाद' और चोर्ण को 'बहुपाद' कहा जा सकता है। आचारांग में सैंकड़ों पाद हैं, इसलिए वह चोर्णशैली की रचना है।

यह आश्चर्य की बात है कि समवायांग<sup>७</sup> तथा नन्दी<sup>८</sup> में आचारांग के संख्येय वेष्टकों और संख्येय श्लोकों का उल्लेख है तथा चूर्ण और वृत्ति साहित्य में इसे चोर्णपद की कोटि में रखा गया है, फिर भी इसके प्रकीर्ण पादों की ओर जैन विद्वानों ने ध्यान नहीं दिया। आचारांग में गद्य भाग के साथ-साथ विपुल मात्रा में पद्य भाग हैं—इस रहस्य के उद्घाटन का श्रेय डॉ० शुक्तिग को है। उन्होंने स्व-संपादित आचारांग में पद्य भाग का पृथक् अंकन किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में पद्यांशों तथा पद्यों का पृथक् परिशिष्ट दिया गया है।<sup>९</sup>

आचारांग के ८ वें अध्ययन के ७ वें उद्देशक तक की रचना चोर्णशैली में है और ८ वां उद्देशक तथा ९ वां अध्ययन पद्यात्मक है। आचारचूला के १५ अध्ययन मुख्यतया गद्यात्मक हैं, कहीं-कहीं पद्य या संग्रह-गाथाएं प्राप्त हैं। १६ वां अध्ययन पद्यात्मक है।

## १४. व्याख्या-ग्रन्थ

आचारांग के उपलब्ध व्याख्या ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन निर्युक्ति है। इसके कर्ता द्वितीय भद्रबाहु (वि० पांचवीं-छठी शताब्दी) हैं।

दूसरा स्थान चूर्ण का है। निर्युक्ति पद्यमय है और चूर्ण गद्यमय। परम्परा से इसके कर्ता जिनदास महत्तर माने जाते हैं। किन्तु ऐतिहासिक शोध के आधार पर इसकी पुष्टि नहीं हुई है। अंग शब्द का निक्षेप करते हुए चूर्णकार ने द्रव्य-अंग की व्याख्या के लिए चउरंगिज्ज (उत्तराध्ययन का तृतीय अध्ययन) की भांति—ऐसा उल्लेख किया है।<sup>१०</sup> इस वाक्यांश से उत्तराध्ययन और आचारांग की चूर्ण के एक कर्ता होने की कल्पना की जा सकती है। यदि आचारांग और उत्तराध्ययन के चूर्णकार एक हों तो उनका परिचय

### १. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १६९ :

नोमाउगपि डुविहं, गहियं च पडन्नयं च बोद्धव्वं ।  
 गहियं चउप्पयारं, पडन्नगं होइ णेगविहं ॥

२. दशवैकालिक हारिभद्रोय वृत्ति, पत्र ८७ : ग्रथितं रचितं  
 बद्धमित्यनर्थान्तरम्, अतोऽन्यत्प्रकीर्णकं—प्रकीर्णककयो-  
 पयोगिज्ञानपदमित्यर्थः ।

### ३. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १७० :

गज्जं पज्जं गेयं, चूर्णं च चउत्विहं तु गहियपयं ।  
 तिसमुट्ठाणं सब्बं, इइ वेत्ति सत्तक्खणा कइणो ॥

४. दशवैकालिक चूर्ण, पृ० ७८ : इदाणि चूर्णपदं भण्णइ,

जहा बंभचेराणि ।

५. दशवैकालिक हारिभद्रोय टीका, पत्र ८८ : चोर्णं पदं ब्रह्म-  
 चर्याध्ययनपदवत् ।

६. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १७४ :  
 अत्थबहुलं महत्थं, हेउनिवाओवसगगंभीरं ।  
 बहुपायमवोच्छिन्नं, गमणयसुद्धं च चूर्णपयं ॥

७. समवाओ, प्रकीर्णक समवाय, सूत्र ८९ ।

८. नदी, सूत्र ८० : संखेज्जा वेढा, संखेज्जा सिलोगा ।

९. देखें—परिशिष्ट २, पृष्ठ ४५७-४६७ ।

१०. आचारांग चूर्ण, पृ० ४ : दव्वंगं जहा चउरंगिज्जे ।

उत्तराध्ययन चूर्ण के अनुसार 'गोपालिक महत्तर शिष्य' के रूप में मिलता है।'

आचारांग का तीसरा व्याख्या-ग्रन्थ 'टीका' है। चूर्ण और वृत्ति—ये दोनों निर्युक्ति के आधार पर चलते हैं। निर्युक्ति का शब्द-शरीर संक्षिप्त है, किन्तु दिशा-सूचन और ऐतिहासिक दृष्टि से वह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। चूर्ण का शब्द-शरीर टीका की अपेक्षा संक्षिप्त है, किन्तु अर्थाभिर्व्यक्ति और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत मूल्यवान् है। टीका का शब्द-शरीर उपलब्ध व्याख्या-ग्रंथों से सबसे बड़ा है। इसके कर्ता शीलाङ्कसूरि हैं। उन्होंने अपना दूसरा नाम 'तत्त्वादित्य' बतलाया है।' आचारांग की पुष्पिका के अनुसार उन्होंने आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध) की टीका गुप्त सम्बत् ७७२, भाद्र शुक्ला पंचमी के दिन 'गम्भूता' (उत्तर गुजरात में पाटण का पार्श्ववती 'गांभू' नामक गांव) में पूर्ण की थी।'

शीलाङ्कसूरि का अस्तित्व-काल ई० ८वीं शती माना जाता है।'

दीपिका—रचयिता—अंचल गच्छ के मेरुतुंगसूरि के शिष्य माणिक्यशेखरसूरि।

दीपिका—रचयिता—खरतर गच्छ के जिनसमुद्रसूरि के पट्टधर जिनहंससूरि।

अवचूरि—रचयिता—हर्षकल्लोल के शिष्य लक्ष्मीकल्लोल। रचना वि० सं० १६०६ (?)।

बालावबोध—रचयिता—पार्श्वचन्द्रसूरि।

पद्यानुवाद और वार्तिक—इन दोनों के कर्ता श्रीमज्जयाचार्य (विक्रम की २० वीं शती) हैं। पद्यानुवाद—आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की राजस्थानी में पद्यात्मक व्याख्या है। वार्तिक आचार-खूला पर लिखा गया है। उसके चर्चास्पद विषयों के स्पष्टीकरण के लिए प्रस्तुत वार्तिक बहुत महत्त्वपूर्ण है।

ऊपर की पंक्तियों में हमने व्याख्या-ग्रंथों की चर्चा की है। प्रस्तुत शीर्षक में अनुपलब्ध व्याख्या-ग्रंथों पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है। आर्य गन्धहस्ती ने आचारांग के प्रथम अध्ययन 'शस्त्र-परिज्ञा' की टीका में उसी का संक्षिप्त सार संकलित किया है। आचारांग टीका में उन्होंने लिखा है—

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम् ।

तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् ॥३॥ (आचारांग वृत्ति, पत्र १)

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिगहनमितीव किल वृतं पूज्यैः ।

श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विष्णोमि ततोऽहमवशिष्टम् ॥२॥ (आचारांग वृत्ति, पत्र ७४)

हिमवंत थेरावली के अनुसार आर्य गन्धहस्ती ने बारह अङ्गों पर विवरण लिखा था। आचारांग सूत्र का विवरण विक्रम संवत् के दो सौ वर्ष बाद लिखा गया।' ऊपर उद्धृत आचारांग वृत्ति के श्लोकों से इस अभिमत की पुष्टि नहीं होती कि आर्य गन्धहस्ती ने समग्र आचारांग पर विवरण लिखा था।

### आचारांग भाष्य

आचारांग के व्याख्या ग्रन्थों में इसका अपना विशिष्ट स्थान है। अनेक वर्षों से मेरे मन में एक कल्पना थी कि आगम पर भाष्य लिखा जाए। मेरी भावना आचार्य महाप्रज्ञ तक पहुंची और इन्होंने सरल संस्कृत भाषा में आचारांग भाष्य का प्रणयन कर दिया। इन्होंने चूर्ण और वृत्ति से हटकर अनेक शब्दों, पदों और सूत्रों का सर्वथा नया अर्थ किया है। वह अर्थ स्व-कल्पित नहीं, किन्तु सूत्रगत गहराई में पँठने की सूक्ष्म मेधा से प्राप्त है। यह आचारशास्त्र का शलाकाग्रन्थ आचार की यथार्थता का बोध देगा और आगम-परम्परा में अपना वैशिष्ट्य स्थापित करेगा।

—गणाधिपति तुलसी

१. उत्तराध्ययन चूर्ण, पृ० २-३।

२. आचारांग वृत्ति, पत्र २८८ : ब्रह्मचर्याख्यश्रुतस्कन्धस्य निरवृत्तिकूलोत्तरीश्रीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना बाहरि-साधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्ता।

३. वही, पत्र २८८ :

द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु गतेषु गुप्तानाम् ।

संवत्सरेषु मासि च, भाद्रपदे शुक्लपञ्चम्याम् ॥

शीलाचार्येणकृता, गम्भूतायां स्थितेन टीकेषा ।

सम्यगुपयुज्य शोध्यं, मात्सर्यविनाकृतैरार्यैः ॥

४. जीतकल्पसूत्र, प्रस्तावना, पृ० ११-१५ : पुष्पिकागत रचना-संवत् भिन्न-भिन्न आदर्शों में भिन्न-भिन्न प्रकार का मिलता है। देखिए—'जैन आगम साहित्य मां गुजरात', पृ० १७६।

५. प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० १९८।

## अनुक्रम

• सूत्र-भाष्यानुसारी विषय विवरणं	
• उपोद्घात	१
१. सत्त्वपरिष्णा (शस्त्रपरिज्ञा)	१७
२. लोमविजओ (लोकविचय)	८३
३. सीओसणिज्जं (शीतोष्णीय)	१५७
४. सम्मत्तं (सम्यक्त्व)	२०१
५. लोगसारो (लोकसार)	२३३
६. धुयं (धृत)	२९५
८. विमोक्खो (विमोक्ष)	३५३
९. उवहाणसुयं (उपधानश्रुत)	४०५
• परिशिष्ट	
१. सूत्रानुक्रम	४४९
२. (क) अध्ययनगत पद्यांश तथा पद्य	४५७
(ख) ८।८ तथा ९ वें अध्ययन का पदानुक्रम	४६२
३. विशेष शब्दार्थ	४६८
४. परिभाषापद	४७६
५. टिप्पणों में उल्लिखित विशेष त्रिवरण	४७७
६. देशीशब्द	४८०
७. धातु और धातुपद	४८१
८. तुलना	४९०
९. आचारांग चूर्णि में उद्धृत श्लोक	४९८
१०. आचारांग वृत्ति में उद्धृत श्लोक	५०३
११. सूक्त और सुभाषित	५२४
१२. संघानपद	५३०
• प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची	५३१
• वर्गीकृत विषय-सूची	५३५

### आचारांगभाष्य का ग्रन्थाग्र

अनुष्टुप् श्लोक परिमाण—४०२५



## मूल सूत्र तथा ऋष्यगत विषय-विवरण

### पहला अध्ययन

#### सूत्र

#### १-४. आत्मा का अस्तित्व

- ० पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का निषेध
- ० पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का संज्ञान
- ० आत्मा औपपातिक-पुनर्जन्मधर्मा है या नहीं ?
- ० पूर्वजन्म-पुनर्जन्म के संज्ञान के तीन हेतु
- ० पूर्वजन्म की स्मृति के निमित्त ---
  - ० मोहनीय का उपशम
  - ० अध्यवसायशुद्धि
  - ० ईहापोहमार्गणगवेषणा
  - ० तदावरणीयकर्म का क्षयोपशम
- ० जाति-स्मृति की इयत्ता
- ० जाति-स्मृति सबको क्यों नहीं ?
- ० संज्ञा—ज्ञानसंज्ञा अनुभवसंज्ञा
- ० 'सोऽहं' आत्मा का लक्षण
- ० दिग्-अवबोध

#### ५. चार बाद—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद, क्रियावाद

#### ६. आस्रव

- ० क्रिया से कर्मबन्ध, कर्मबन्ध से भव-संचरण
- ० क्रिया के नौ प्रकार
- ० क्रिया का अपर नाम आस्रव

#### ७. संवर

- ० कर्म समारम्भ की परिज्ञा
- ० परिज्ञा का बोध

#### ८. परिज्ञातकर्मा

- ० पूर्वजन्म की स्मृति से परिज्ञातकर्मा की दिशा में प्रस्थान
- ० क्या कर्म-त्याग संभव है ?
- ० करणीय-अकरणीय का विवेक
- ० संयमपूर्वक किया गया कर्म अकर्म कहलाता है

#### ९-१०. प्रवृत्ति के स्रोत

- ० सात मौलिक मनोवृत्तियां  
जिजीविषा, प्रशंसा, मानन, पूजन, जन्म-मरण, मोचन, दुःख का प्रतिघात ।

#### ११-१२. संवर की साधना

- ० सभी कर्म-समारम्भ परिज्ञातव्य

#### ० कर्म का अर्थ प्रवृत्ति

- ० परिज्ञातकर्मा—गीता और महावीर के अनुसार
- ० मुनि और पण्डित की एकवाच्यता

#### १३-१४. अज्ञान

- ० हिंसा में कौन प्रवृत्त होता है ?
- ० चार प्रकार के पुरुष हिंसा में प्रवृत्त होते हैं ।

#### १५-२७. पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा

१५. पृथ्वीकायिक हिंसा के दो कारण—मरणभय तथा विषयाकुलता

१६. पृथ्वी जीवों का अस्तित्व (स्वतंत्र; प्रत्येकशरीरी जीव

- ० पृथ्वी की सजीवता : महावीर का नया पक्ष
- ० प्रस्तुत अध्ययन में मनुष्य की विवक्षा न कर पहले पृथ्वी आदि प्राणियों की विवक्षा क्यों ?

१७-१८. गृहत्यागी भी पृथ्वीजीवों की हिंसा से विरत नहीं, यह महान् आश्चर्य ।

१९. पृथ्वी-जीवों की हिंसा करने वाला अन्यान्य जीवों का भी हिंसक

- ० शस्त्र की परिभाषा तथा भेद
- ० द्रव्यशस्त्र के तीन प्रकार

२३. हिंसा से अहित और अबोध ।

२४. हिंसा और उसके परिणाम को जानने वाला ही संयम के प्रति उत्थित ।

- ० आदानीय का अर्थ संयम

२५. हिंसा ग्रन्थि है, मोह है, मृत्यु है, नरक है ।

२६. सुख-सुविधा में भूच्छित व्यक्ति हिंसा में प्रवृत्त

२७. पृथ्वी-जीवों की हिंसा करने वाला अन्य जीवों का भी हिंसक ।

#### २८-३०. पृथ्वीकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध

२८. इनके जीवत्व में अतीन्द्रिय ज्ञान ही प्रमाण

- ० जीवत्व संसिद्धि में पूर्वाचार्यों की युक्तियां
- ० जीवत्व संसिद्धि में भूर्वैज्ञानिकों का मत
- ० पृथ्वी के जीव में चैतन्य ही नहीं, उसमें ---  
श्वासोच्छ्वास, करण, वेदना, शरीर की अव-गाहना, दृश्यता, भोगित्व, आश्रव आदि, जरा और शोक, उन्माद, संज्ञा, ज्ञान, आहाराधिता, पर्यव, इन्द्रियज्ञान से अज्ञेयता, कषाय, लेश्या—  
इन सोलह तथ्यों का अस्तित्व है ।

- ० आभामंडल का अस्तित्व
- ० पृथ्वीजीव न सुनते हैं, न देखते हैं, न सूंघते हैं, न चलते हैं, फिर उनमें वेदना-बोध कैसे ?
- ० वेदना-बोध का पहला दृष्टांत
- २९-३०. वेदना-बोध के प्रतिपादक दो दृष्टांत
- ३१-३४. हिंसा-विवेक
- ३२. पृथ्वी-जीवों की हिंसा से विरति का मुख्य कारण
- ३३. प्रवृत्ति के तीन विकल्प—करना, कराना और अनुमोदन करना
- ३४. कौन मुनि परिज्ञातकर्मा ?
- ३५-३७. लक्ष्य के प्रति समर्पण
- ३५. अनगार कौन ?
  - ० सूक्ष्म जीवों की अहिंसा का आचरण कौन करता है ?
- ३६. जिस श्रद्धा से अभिनिष्क्रमण करे, उसी को बनाए रखे ।
  - ० विस्रोतसिका का परिहार ।
- ३७. जो महापथ—अहिंसा के प्रति समर्पित है, वे ही चीर हैं ।
- ३८-५३. जलकायिक जीवों का अस्तित्व और अभयदान
- ३८. प्रत्यक्षज्ञानियों के प्रतिपादन से जलकायिक जीवों के अस्तित्व के स्वीकरण का कथन
  - ० उन जीवों को भय उत्पन्न न करने का निर्देश
- ३९. अष्कायिक जीवों के अस्तित्व का अस्वीकार स्वयं के अस्तित्व का अस्वीकार
  - ० शिष्य का प्रश्न—अष्कायिक जीवों का अस्तित्व कैसे ?
  - ० निर्युक्तिकार का समुक्ति समाधान
  - ० जल-जीवत्व संसिद्धि में वैज्ञानिक अभिमत
  - ० जल-जीवत्व की संसिद्धि में १६ तत्त्व ।
- ४०-५०. जलकायिक जीवों की हिंसा
- ५१-५३. जलकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध
- ५४-६५. हिंसा-विवेक
- ५४-५५. पानी की सजीवता को कोई दर्शन नहीं भानता ।
  - ‘पानी में जीव’ यह मान्यता है
  - ० अर्हत् शासन में पानी सचेतन है ।
  - ० वैज्ञानिकों का मत ‘पानी में जीव’ पर आधारित
- ५६-५७. जलकायिक जीवों के शस्त्र
  - ० निर्युक्ति द्वारा निर्दिष्ट शस्त्र
  - ० चूणि द्वारा निर्दिष्ट शस्त्र
  - ० महातप प्रपात का गर्म पानी सचेतन । ठंडा होने पर अचेतन ।
- ५८. जल का प्रयोग अदत्तादान कैसे ?
- ५९. अन्य दार्शनिकों की जलारम्भ विषयक विभिन्न मर्यादाएं ।
- ६०-६१. अन्यतीर्थिकों की जलहिंसा की प्रवृत्ति और स्व-शास्त्रों की सम्मति
  - ० निकरण शब्द के पर्याय
- ६२-६५. हिंसा-विवेक
- ६६-६८. अग्निकायिक जीवों का अस्तित्व
- ६६. अग्नि-जीवों के प्रत्यय के लिए निर्युक्ति की युक्तियां
  - ० दृत्ति तथा वैज्ञानिक मन्तव्य
  - ० कर्मशास्त्रीय तथ्य
- ६७. ० दीर्घलोक क्या ? कैसे ?
  - ० दीर्घलोक का शस्त्र-अशस्त्र
- ६८. अग्निकायिक जीवों के द्रष्टा का स्वरूप
- ६९-८४. अग्निकायिक जीवों की हिंसा
- ६९. हिंसा के दो कारण
- ७०. हिंसा न करने का संकल्प
  - ० मेधावी कौन ?
- ७१-७२. अनगार भी अग्नि-जीवों की हिंसा
- ७३. अग्निकायिक जीवों के शस्त्र
- ८२-८४. अग्निकायिक जीवों की हिंसा तथा उनका जीवत्व और वेदना-बोध
- ८५-८९. हिंसा-विवेक
- ८५. पृथ्वी के आश्रय में रहने वाले त्रस-स्थावर जीव ।
- ८६-८९. अग्नि कर्म-समारंभ से मुक्त-अमुक्त ।
  - षड्जीवनिकाय में तेजस्काय के पश्चात् वायुकाय का क्रम है । प्रस्तुत अध्ययन में तेजस्काय के बाद वनस्पतिकाय का वर्णन है । क्यों ? इसका समाधान
- ९०-९२. अनगार
  - ० अहिंसा-व्रती का संकल्प
- ९१. हिंसा-विरति और सभी जीवों को अभय
- ९२. भिक्षु जो गृह-निर्माण करते हैं, वे अनगार नहीं
- ९३-९८. गृहत्यागी के वेष में गृहवासी
- ९३. गुण और आवर्त
- ९४. गुण कहां होते हैं ?
- ९५. इन्द्रिय-विषय-जनित आसक्ति
  - ० इन्द्रियों में चक्षु और श्रोत्र की प्रधानता
  - ० समाज की संघटना में आंख और कान की मुख्यता ।
- ९६. इन्द्रिय विषय का लोक मूर्च्छात्मक
- ९७. अनाज्ञा में कौन ?
- ९८. गृहत्यागी भी गृहवासी
- ९९-१००. वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा

१०१. वनस्पतिकाय के शस्त्र  
 ११०-११२. वनस्पतिकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध  
 ११३. वनस्पति के जीवों की मनुष्य से तुलना  
 ◦ चूर्ण तथा वृत्ति के विशेष तथ्य  
 ११४-११७. हिंसा-विवेक  
 ११८-१२०. संसार  
 ११८. त्रस जीवों के प्रकार  
 ११९. त्रसकाय ही संसार  
 १२०. मंद और अज्ञानी को भी त्रस-संसार ज्ञात  
 १२१-१२२. सभी जीव सुखाकांक्षी ।  
 ◦ 'सात' पद के एकार्थक  
 ◦ हिंसा-विरति के दो साधक तथ्य -- सात इष्ट, असात अनिष्ट ।  
 ◦ प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की व्याख्या  
 १२३-१३६. त्रसकायिक जीवों की हिंसा  
 १२३. त्रसकाय के लक्षण  
 ◦ जो त्रस्त होते हैं, वे त्रस ।  
 १३७-१३९. त्रसकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध  
 १४०-१४४. हिंसा-विवेक  
 ◦ प्राणिवध का प्रयोजन । चूर्ण और वृत्ति में उल्लिखित प्राणिवध की परंपराएं ।  
 ◦ प्रतिशोध, प्रतिकार और आणंका से किया जाने वाला प्राणिवध ।  
 १४५-१४९. आत्म-तुला  
 १४५. क्या वायुकाय की हिंसा का निवारण शक्य है ?  
 १४६. हिंसा-विरति के आलम्बन-सूत्र  
 १४७. अध्यात्म-पद के विभिन्न अर्थ ।  
 ◦ प्रिय और अप्रिय का संवेदन है अध्यात्म ।  
 ◦ हिंसा-विरति का आलम्बन-सूत्र  
 १४८. आत्म-तुला का अवबोध हिंसा-विरति का आलम्बन-सूत्र  
 १४९. वायुकाय की हिंसा के प्रसंगों के निवारण का निर्देश  
 १५०-१६०. वायुकायिक जीवों की हिंसा  
 १५२. वायुकाय के शस्त्र  
 ◦ अचित्तवायु के पांच प्रकार  
 ◦ विभिन्न ग्रन्थों में वायुकाय के शस्त्र तथा सचित्त-अचित्त वायु का कथन ।  
 १६१-१६३. वायुकायिक जीव का जीवत्व और वेदना-बोध  
 १६४-१६८. हिंसा-विवेक  
 १६९-१७५. मुनि को संबोध  
 १६९. वायुकाय की हिंसा कौन करते हैं ?

१७४. पाप-कर्म कौन नहीं करता ?

१७५. पाप-कर्म का अन्वेषण

१७६-१७७. हिंसा-विवेक

### दूसरा अध्यायन

#### १-३. आसक्ति

१. गुण और मूलस्थान, विषय और लोभ की परस्परता

२-३. विषयार्थी का परिताप और उसकी मनोदशा तथा प्रवृत्ति

#### ४-२६. अशरण भावना और अप्रमाद

४. अल्प आयुष्य का विचय-सूत्र

◦ मरण के विषय में विज्ञान और आगम का अभिमत

५. अवस्था के तीन प्रकार । मध्यम अवस्था में इन्द्रिय-हानि ।

६. इन्द्रियों की मूढता कब ?

७-८. अशरणानुप्रेक्षा सम्बन्धी विचय-सूत्र

९. अहोविहार के लिए प्रस्थान

११-१३. अप्रमाद का आलम्बन

१३-१४. गुण और मूलस्थान में प्रवृत्त पुरुष हिंसा-रत

१५. अर्थार्जन का मानसिक हेतु अथवा मनोवैज्ञानिक अहं-संबद्ध अभिप्रेरणा

१६-१७. अशरण-अनुप्रेक्षा के आलम्बन-सूत्र

१८. सन्निधि-सन्निचय क्यों ?

१९. रोगों की उत्पत्ति उपभोग में बाधक

२०-२१. अशरण-सूत्र

२२. सुख-दुःख अपना-अपना

२३. अहोविहार के लिए प्रथम तथा द्वितीय वय उपयुक्त

२४. क्षण को जानो । क्षण क्या ?

२५-२६. इन्द्रिय-प्रज्ञान के पूर्ण रहते अहोविहार के लिए प्रस्थान करने का निर्देश

#### २७-३५. अरति की निवृत्ति

२७. मेघावी अरति का निवर्तक

२८. अरति-निवारण का फल

२९. पुनः गृही कौन बनता है ?

३०. पुनः गृही बनने के दो कारण

३१. परिग्रह और काम की एकसूत्रता

३२. कामभोग में रक्त कौन ?

३३. मोह और विषयासक्ति का पोर्वापर्य

३४. न गाहंस्थ्य और न संयम

३५. विमुक्त कौन ?

## ३६-३९. अनगार

- ३६. अलोभ से लोभ को पराभूत करना
  - अलोभ और लोभ—दोनों चित्तधर्म
  - अकर्मा प्रवृत्ति-चक्र से मुक्त

३८-३९. अनगार बह होता है

## ४०-४५. दंड-प्रयोग

- ४०. धृति रहित पुरुष का मनस्ताप
- ४१. अनेक प्रकार के बल
- ४२-४४. दंड-प्रयोग के विभिन्न प्रयोजन
- ४५. बल-प्राप्ति के चार हेतु

## ४६-४८. हिंसा-विवेक

- दंड-समारम्भ न करने का निर्देश
- आर्य-मार्ग और कुशल को निर्देश

## ४९-५६. समत्व

- ४९. सम्मान की वांछा भी परिग्रह
  - उसकी विमुक्ति का विचय-सूत्र
  - उच्चगोत्र और नीचगोत्र की समीक्षा
- ५०. गोत्रवाद की निरर्थकता
- ५१. समता का अनुभव
- ५२. नीचगोत्र का अनुभव दुःख क्यों ?
- ५३. कर्म-विपाक का निदर्शन—कोई अंधा, कोई बहुरा
- ५५. प्रमाद से नानारूप योनियों की प्राप्ति
- ५६. कर्म-विपाक के अज्ञान से भव-ध्रमण

## ५७-७४. परिग्रह और उसके दोष

- ५७-५८. ममत्व-ग्रन्थि की सुदृढ़ता
- ५९. परिग्रही व्यक्ति में न तप, न दम और न नियम
- ६०. परिग्रही सुखार्थी होकर भी दुःखी
- ६१. ध्रुवचारी अपरिग्रह के मार्ग पर
- ६२. अप्रमत्तता का आलम्बन-सूत्र-मृत्यु के प्रति सजगता
- ६३-६४. सब प्राणी जीना चाहते हैं
- ६५. परिग्रह के लिए हिंसा और निग्रह
  - धन की बहुलता के तीन साधन
- ६६-६७. धन के प्रति मूर्च्छा
- ६८. धन की तीन अवस्थाएं । तीसरी अवस्था—विनाश की अपरिहार्यता
- ६९. अर्जन दुःख का हेतु
- ७१. कूरकर्मा परिग्रही मनुष्य की पारगमन में असमर्थता
- ७२. अनात्मविद् परिग्रह का परिहार करने में असमर्थ
  - आदानोय शब्द की मीमांसा
- ७३. द्रष्टा व्यपदेश से अतीत
- ७४. अद्रष्टा व्यपदेश के घेरे में

## ७५-१०३. भोग और भोगी के दोष

- ७५. भोग से रोग
- ७६. रोग के कारण तिरस्कार
- ७७. त्राण और शरण का अर्थ
- ७८. सुख-दुःख अपना-अपना
- ७९. कामभोग का परिणाम
- ८०-८५. अर्थार्जन और अर्थ-विनाश की मीमांसा
- ८६. आशा और छंद का त्याग
- ८७. शल्य का सृजन और उद्धरण
- ८८. जिससे होता है उससे नहीं भी होता
- ८९. मोहावृत मनुष्य का अज्ञान
- ९०. स्त्रियों से प्रव्यथित कौन ?
- ९१. स्त्रियां आयतन कैसे ?
- ९२. अनायतन में आयतन का अभिनिवेश
- ९३. मूढ व्यक्ति धर्म का अज्ञाता
- ९४. महामोह—कामभोग में प्रमत्त मत बनो
- ९५. कुशल प्रमत्त न हो
- ९६-९७. अप्रमाद की साधना के चार आलम्बन-सूत्र
- ९८-९९. विषयाभिलाषा की भयंकरता
- १००. काममुक्त हिंसा से विरत
- १०१-१०३. अदान में समता का निर्देश
- १०४-१२०. आहार की अनासक्ति
- १०४. पचन-पाचन किसलिए ?
- १०५. संग्रह करना है मूल मनोवृत्ति
- १०६. सन्निधि-सचय है संधि
- १०७-१०८. सन्निधि तथा संनिचित आहार है आमगंध
- १०९. अनगार क्रय-विक्रय में व्यापृत न हो
- ११०. आहार की अन्वेषणा और अपरिग्रह की संरक्षण के लिए भिक्षु के ज्ञातव्य ग्यारह गुण
  - चूर्ण की 'अप्रतिज्ञ' शब्द की अर्थ-परम्परा
- १११. ग्रहण में राग-द्वेष का वर्जन
- ११२. अनगार किन वस्तुओं की याचना करे ?
- ११३. आहार की मात्रा का परिज्ञान
- ११४-११५. आहार के लाभ और अलाभ में समभाव
  - मद और शोक का स्वरूप
  - चूर्णकार के अनुसार शोक-निवृत्ति का आलम्बन
- ११६-११७. आहार का संग्रह और ममत्व न करने का निर्देश
- ११८. अध्यात्म तत्त्वदर्शी पदार्थों का परिभोग अन्यथा करे
  - अध्यात्म-साधक-गृहस्थ के लिए निर्देश
- ११९-१२०. पदार्थ सम्बन्धी अपरिग्रह मार्ग का स्वरूप
  - पश्यक की परिभाषा और उसका स्वरूप



१२१-१३९. काम की अनासक्ति : काम-मुक्ति

१२१. कामनाओं की अनतिक्रमणता  
 ◦ परिग्रह का मूल : काम  
 १२२-१२३. कामनाओं के दुरतिक्रमण के दो हेतु  
 १२४. कामकामी पुरुष की मनःस्थिति का चित्रण  
 १२५. अपायविचय ध्यान की प्रक्रिया  
 ◦ कामातिक्रमण का पहला उपाय—विपश्यना  
 ◦ विपश्यना का स्वरूप  
 १२६. काम-मुक्ति का दूसरा उपाय—अनुपरिवर्तनानुप्रेक्षा  
 १२७. काम-मुक्ति का तीसरा उपाय—संधि-दर्शन  
 ◦ संधि शब्द के विभिन्न अर्थ  
 १२८. पराक्रम से काम-मुक्ति  
 १२९. काम-मुक्ति का चौथा उपाय—निर्वेद  
 १३०. अशुचित्तानुप्रेक्षा  
 ◦ पुरुष के नौ और स्त्री के बारह स्रोत  
 १३१. काम-विपाक के दर्शन से काम-मुक्ति  
 १३२. परिज्ञापूर्वक काम का परिहार  
 ◦ काम-मुक्ति का विचार-विचयात्मक आलम्बन  
 १३३. कामासक्ति की ओर मानसिक दौड़  
 १३४. पुरुष कामकामी होता है।  
 ◦ प्रवृत्ति और वृत्ति  
 १३५. कामार्त्त पुरुष वैरवृद्धि का कर्त्ता  
 १३६. काम का आसेवन तृप्ति बढ़ाता है या अतृप्ति ?  
 १३७. अमर की भांति आचरण किसका ?  
 १३८-१३९. आर्त्त कौन ? क्रन्दन क्यों ?

१४०-१५०. काम-चिकित्सा

- १४०-१४४. काम-चिकित्सा में वनस्पति आदि जीवों का हनन  
 १४५-१४६. हिंसानुबंधी काम-चिकित्सा कराने वाला बाल  
 १४७. अनगार के लिए हिंसानुबंधी चिकित्सा का निषेध  
 १४८. सावद्य चिकित्सा और संयम  
 १४९. पापकर्म का परिहार  
 १५०. एक जीविकाय की हिंसा अर्थात् छहों जीव-निकायों की हिंसा  
 ◦ एक का अतिरात—सब का अतिपात

१५१-१५९. परिग्रह का परित्याग

१५१. पुरुष हिंसा क्यों करता है ? समाधान  
 १५२. प्रमाद से मति-चक्र  
 १५३. हिंसा और परिग्रह में प्राणी व्यथित  
 १५४. हिंसा और परिग्रह का अनिकरण है परिज्ञा  
 १५५. परिज्ञा से कर्मोपशान्ति  
 १५६. परिग्रह का त्याग कौन कर सकता है ?  
 ◦ चक्रवर्ती भरत का उदाहरण

◦ बुद्धिगत परिग्रह और पदार्थगत परिग्रह

१५७. दृष्टपथ कौन ?  
 १५९. लोक और लोकसंज्ञा  
 १६०-१६५. अनासक्त का व्यवहार : कर्म-शरीर का प्रकंपन  
 १६०-१६२. कर्म-शरीर के प्रकंपन के ध्यानात्मक उपाय।  
 १६०. वीर अरति और रति को सहन नहीं करता।  
 ◦ मन की विशिष्ट अवस्थाएं अरति और रति  
 • अप्रमाद की साधना का रहस्य  
 १६१. साधक शब्द और स्पर्श को सहन करे।  
 • श्मशान प्रतिमा  
 • अपायविचय का उपाय  
 १६२. प्रमोद का अपकर्षण  
 १६३. मौन की प्राप्ति और कर्म-शरीर का प्रकंपन  
 १६४. कर्म-शरीर के धुनन का उपाय : आहार-संयम  
 १६६-१७०. संयम की सम्पन्नता और विपन्नता  
 १६६. संयम से विपन्न कौन ?  
 १६७. चरित्रहीन यथार्थ का निरूपण नहीं करता  
 १६८. चरित्रवान् यथार्थ के निरूपण में समर्थ  
 १६९. लोकसंयोग का अतिक्रमण  
 १७०. नायक कौन ?  
 १७१-१७३. बंध-मोक्ष  
 १७१. दुःख की परिज्ञा  
 • परिज्ञा के चार चरण  
 १७२. कर्म की परिज्ञा  
 १७३. कर्म-परिज्ञा का उपाय  
 ◦ अनन्यदर्शी और अनन्याराम  
 १७४-१८६. धर्मकथा  
 १७४. धर्मकथा में विपन्न और अविपन्न का भेद नहीं  
 ◦ अपरिग्रह का सिद्धांत धनी और अधनी—सबके लिए हितावह  
 १७५. धर्मकथा में अन्य सिद्धांत का अनादर वर्ज्य  
 १७६. विचार का आग्रह भी परिग्रह  
 ◦ धर्मकथा कौन ? कैसे ?  
 ◦ धर्मकथा करने में विवेक की अनिवार्यता  
 ◦ चार प्रकार के विवेक का पालन  
 १७७. धर्मकथा करते समय दर्शन और पुरुष का विवेक  
 १७८. धर्मकथा करने में श्रेष्ठ कौन ?  
 १७९. सर्वपरिज्ञाचारिता का निर्देश  
 १८०. हिंसा-कर्म से अलिप्त कौन ?  
 ◦ अहिंसा का हृदय  
 ◦ निर्लपतावाद का कथन  
 १८१. अहिंसा का मर्मज्ञ कौन ?  
 ◦ अनुद्घातन का चूर्णगत अर्थ

१८२. सर्वपरिज्ञाचारी न बद्ध होता है और न मुक्त  
 ◦ प्रस्तुत सूत्र के चूर्णित और वृत्तिगत अर्थ  
 १८३. बन्ध और मुक्ति के विधि-निषेध का ज्ञान  
 १८४. परिग्रह और हिंसा का कार्यकारणभाव  
 १८५. परिग्रह के अपाय और अपरिग्रह के गुण को देखने वाले के कोई उपाधि नहीं  
 १८६. बाल कौन ?  
 ◦ इन्द्रिय-विषयों का आसेवन वास्तव में दुःख

### तीसरा अध्याय

#### १-२५. सुप्त और जागृत

१. सुप्त और जागृत के दो-दो प्रकार  
 ◦ अमुनि सोता है, मुनि जागता है  
 ◦ ज्ञानयोग की फलश्रुति
२. दुःख की भीमांसा और उसका परिणाम
३. हिंसा-विरति का आलम्बन सूत्र  
 ◦ अहिंसा और अपरिग्रह के संदर्भ में समता की व्याख्या
४. आत्मवान्, ज्ञानवान् आदि की व्यापक सन्दर्भ में व्याख्या  
 ◦ भेदविज्ञान का वाचक सूत्र
५. मुनि, धर्मविद् और ऋजु कौन ?
६. संग है आवर्त और स्रोत  
 ◦ स्रोत शब्द के अनेक अर्थ
७. निर्ग्रन्थ कौन ?
८. वीर कौन ?
९. सुप्त अमित्र, जागृत मित्र
१०. सुप्त : धर्म का अज्ञाता
- ११-१२. भावसुप्त पुरुष के अपाय  
 १३. दुःख का उत्पादक है आरम्भ  
 १४. पुनर्जन्म के दो कारण—माया और प्रमाद  
 १५. मृत्यु से मुक्त होता है ऋजु
- १६-१७. क्षेत्रज्ञ की परिभाषा और स्वरूप  
 ◦ संयम और असंयम—दोनों का ज्ञान अन्योन्याश्रित
१८. कर्ममुक्त का व्यपदेश नहीं होता
१९. कर्म से उपाधि
२०. कर्म-निरीक्षण का निर्देश
२१. हिंसा का मूल
२२. कर्म-प्रतिलेखन
२३. वीतराग की पहचान

- २४-२५. लोकसंज्ञा का परित्याग और जागरण की दिशा में प्रस्थान

#### २६-४९. परम-बोध

२६. जन्म-मरण को देखने का निर्देश  
 ◦ पौर्वापर्य की स्मृति का लोप क्यों ?
२७. कर्म-बन्ध और कर्म-विपाक का अन्वेषण
२८. त्रिविध परम का ज्ञाता होता है ।  
 ◦ परम की व्याख्या  
 ◦ त्रिविध कौन ?
२९. पाश का विमोचन
३०. हिंसाजीवी सर्वत्र भयभीत
३१. संशय का मूल कारण और उसका परिणाम
३२. आमोद-प्रमोद के लिए प्राणीवध  
 ◦ वैर-परम्परा की अभिवृद्धि
३३. हिंसा में आतंक देखना पाप-निवृत्ति का आलम्बन
३४. अग्र और मूल का विवेक  
 ◦ राग-द्वेष मूल और कर्म अग्र
- ३५-३७. आत्मदर्शी कौन ? आत्मदर्शन का परिणाम
३८. ज्ञानी पुरुष की जीवनचर्या के सात सूत्र
३९. पापकर्म का क्षय दीर्घकाल-सापेक्ष
४०. 'सत्य' पद के १२ अर्थ  
 ◦ प्रकरणगत सत्य शब्द के दो अर्थ  
 ◦ कर्म-क्षय के लिए धृति की अपेक्षा
४१. पापकर्म के क्षय का उपाय
- ४२-४३. पुरुष की अनेकचित्तता  
 ४२. प्रमत्त और लोभी का चित्त  
 ◦ चलनी को पानी से भरना  
 ◦ लाभ और लोभ  
 ◦ लाभ से इच्छा की अपूर्ति
४३. अनेक चित्त वाले व्यक्ति के धनोपार्जन के प्रकार
- ४४-५०. संयमाचरण  
 ४४. संयम-साधना में संलग्न व्यक्ति का कर्तव्य  
 ४५. अनन्य—आत्मा में रमण करने के दो हेतु  
 ४६-४७. आत्मरमण के दो लक्षण—अहिंसा और ब्रह्मचर्य  
 ४८. पाप का अनादर कौन करता है ?  
 ४९. लघुभूतकामी की व्याख्या और प्रवृत्ति  
 ५०. निमज्जन और उन्मज्जन
- ५१-७०. अध्यात्म  
 ५१-५३. हिंसा-विरति के दो हेतु  
 ५४. पाप-कर्म न करने के दो हेतु  
 ५५. चित्त की प्रसन्नता का हेतु समता का आचरण  
 ◦ समता है निर्विचारता

५६. अनन्यपरम के प्रति अप्रमत्त रहने का निर्देश  
 ◦ जीवन-यात्रा के लिए परिमित भोजन का विवेक
५७. रूप अर्थात् पदार्थ के प्रति विरक्ति  
 ◦ वैराग्य का निर्वचन
५८. विराग का आलम्बन—आगति और गति का ज्ञान
- ५९-६०. अतीत और अनागत की सम्बन्ध-योजना के विभिन्न मत
६१. अरति और रति के रेचन का उपाय
६२. मित्र कहां—भीतर या बाहर ?
६३. जो उच्चालयिक वह दूरालयिक
६४. दुःख-मुक्ति का उपाय—आत्म-निग्रह
६५. आत्म-निग्रह का साधन
६६. मृत्यु का अन्त कैसे ?
६७. श्रेय का साक्षात्दर्शी कौन ?
६८. प्रमाद का हेतु
६९. रागभङ्गा और द्वेषभङ्गा का उत्पादक
७०. लोक के दृष्ट-प्रपंच से मुक्त कौन ?
- ७१-८७. कषाय-विरति
७१. लोक के दृष्ट-प्रपंच से मुक्त होने की प्रक्रिया
७२. पश्यक का दर्शन : कषाय विरेचन  
 ◦ उपरतशस्त्र की परिभाषा
७३. आदान का निषेध : कर्म का भेदन
७४. एक को जानना है सबको जानना  
 ◦ एक वस्तु का स्वभाव समस्त वस्तुओं का स्वभाव  
 ◦ जो सबको नहीं जानता, वह एक 'आकार' अक्षर को भी नहीं जानता  
 ◦ मलधारि हेमचन्द्रसूरी का अभिमत
७५. प्रमत्त को भय, अप्रमत्त को भय नहीं
७६. एक कषाय का नाश, सभी कषायों का नाश  
 ◦ कषाय-वमन के दो प्रकार
७७. कषाय का क्षपण-वमन
७८. लोक-संयोग का त्याग और महायान पर प्रस्थान  
 ◦ संयम-पर्याय और तेजोनेश्या का सम्बन्ध  
 ◦ संयम-पर्याय के साथ तेजोनेश्या का संवर्धन
७९. क्षपणक्रिया का स्वरूप
८०. क्षपकश्रेणी में आरूढ होने के इच्छुक अनगार की दो अर्हताएं
८१. अप्रमत्तता से अभय  
 ◦ अकषायी को दुःख नहीं
८२. शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण, अशस्त्र एकरूप
८३. दुःख के मूल कारणों का निर्देश  
 ◦ एक कारण से दूसरे कारण की संयुक्ति

८४. दुःख के कारणों का क्रमशः नाश
८५. पश्यक का दर्शन
८६. आदान के संवरण से कर्म-भेदन ।
८७. द्रष्टा के उपाधि नहीं

### चौथा अध्यायन

#### १-११. सम्यग्वाच : अहिंसा-सूत्र

१. अर्हेत् द्वारा प्रतिपादित अहिंसा-सूत्र  
 ◦ प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का निर्वचन  
 ◦ अहिंसा-सूत्र के पांच आदेश
२. अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत  
 ◦ धर्म का मूल स्रोत आत्मज्ञता, बुद्धि नहीं  
 ◦ आत्मवित् सर्वविद्
३. धर्म के प्रतिपादन का उद्देश्य सार्वभौम और उसके दस विकल्प
४. 'सर्वे पाणा ण हंतव्वा'—सम्यग्दर्शन का वाचक  
 ◦ रोचक-सम्यग्दर्शन और कारक-सम्यग्दर्शन
५. अहिंसा व्रत को आजीवन पालन करने का निर्देश और उसका कारण
- ६-७. अहिंसा व्रत की अनुपालना में दो बाधाएं  
 ◦ दृष्ट शब्द का विशेष अर्थ
८. अहिंसा या अछयात्म का आधारभूत तत्त्व
९. अहिंसा-सूत्र की त्रैकालिकता और वैज्ञानिकता
१०. गतिचक्र का हेतु—हिंसा में लीनता
११. प्रमत्त व्यक्ति धर्म से बाहर  
 ◦ प्रमाद और हिंसा तथा अप्रमाद और अहिंसा की अनुस्यूति

#### १२-२६. सम्यग्ज्ञान : अहिंसा सिद्धांत की परीक्षा

१२. जो आस्रव हैं वे परिस्रव हैं, जो परिस्रव हैं वे आस्रव हैं  
 ◦ चार विकल्प  
 ◦ कर्म-बंध और कर्म-निर्जरण के रहस्य  
 ◦ कर्मवाद के रहस्यों की अवगति की फलश्रुति
१३. धर्म-बोध किनको ?
१४. अहिंसा को स्वीकार करने वाले कौन-कौन ?  
 ◦ आर्त्त के प्रकार
१५. भाव-परिवर्तन की यथार्थता
१६. संबोधि के दो आलम्बन-सूत्र
१७. अधोलोक के कष्टों के संवेदन का हेतु
१८. संवेदन की तरतमता और उसका हेतु
१९. हिंसा-फल का प्रतिपादन सर्वसम्मत या नहीं ?
२०. हिंसा का समर्थन करने वाले दार्शनिकों का मत

२१. हिंसा का प्रवर्तक वचन अनार्यवचन  
 ◦ आर्य-अनार्य का अर्थ-बोध
- २२-२४. आर्यों द्वारा प्रतिपादित तथ्य
- २५-२६. दार्शनिकों से प्रश्न—क्या आपको दुःख प्रिय है या अप्रिय ?  
 ◦ अहिंसा परायण मुनि का उत्तर
- २७-३९. सम्यग् तथ्य
२७. अहिंसा से विमुख जगत् की उपेक्षा  
 ◦ उपेक्षा का अर्थ-बोध
२८. धर्म का ज्ञाता मृतार्च  
 ◦ देहासक्ति से विमुक्तता और ऋणुता धर्मविद् होने की कसौटी
२९. दुःख का मूल हिंसा
- ३०-३१. दुःख-मुक्ति का उपाय-परिज्ञा
३२. कर्मक्षय का उपाय—अन्यत्वानुप्रेक्षा, एकत्वानुप्रेक्षा  
 ◦ कषाय-आत्मा के अपकर्षण का क्रम
३३. कर्म-शरीर के नाश के लिए अग्नि का दृष्टांत
३४. क्रोध के अपनयन का उपाय
३५. क्रोध से दुःख की सृष्टि
- ३६-३७. क्रोध से उत्पन्न कष्ट और रोग
३८. अनिदान—बन्धनमुक्त कौन ?
३९. त्रिविध पुरुष प्रतिसंज्वलन न करे
- ४०-५३. सम्यग्-चारित्र्य
४०. संयम-जीवन की तीन भूमिकाएं  
 ◦ आपीडन, प्रपीडन और निष्पीडन की व्याख्या
४१. उपशांत के कर्मक्षय का कालमान
४२. महावीर के मार्ग की दुरनुचरता
४३. कामासक्ति के प्रतिकार का उपाय
४४. समुच्छ्रय और ब्रह्मचर्य का अर्थ-बोध
४५. जितेन्द्रियता की साधना के बाधक तत्त्व
४६. आदि, अन्त और मध्य की मीमांसा
- ४७-४८. आरम्भ से उपरत कौन ?
४९. विषयाशंसा से प्रेरित मनुष्य की दशा
५०. निष्कर्मदर्शी बमने का उपाय  
 ◦ आचार्य अमृतचन्द्र का कथन
५१. कर्म की अवन्ध्यता  
 ◦ कर्म का अर्थ और धारणा
५२. सम्यक्त्व का फल
५३. द्रष्टा निरुपाधिक होता है

### पांचवां अध्यायन

#### १-१८. काम

१. अर्थहिंसा और अनर्थहिंसा

२. हिंसा के तीन प्रयोजन  
 ◦ काम की दुस्त्यजता  
 ◦ चार पुरुषार्थ
३. मदनकाम प्रधान पुरुष सुख से दूर  
 ◦ 'मार' शब्द के विभिन्न अर्थ
४. कामी पुरुष की मनोदशा
५. कामासक्त व्यक्ति जीवन की अनित्यता से अज्ञान
- ६-८. मोहासक्ति से भवचक्र
९. संशय को जानना संसार को जानना है
१०. इन्द्रियजयी मीथुन से विरत
११. मंदमति की दोहरी सूखंता
१२. भोग धर्म से बाह्य है
१३. शरीर की आसक्ति से विषयासक्ति
१४. आसक्तिचक्र में फंसे मनुष्य के दुःख की परम्परा
१५. तीन प्रकार के मनुष्य—अल्पेच्छ, महेच्छ तथा इच्छारहित
१६. विषयाकांक्षा से अशरण को शरण मानना
१७. एकलविहार के अयोग्य की चर्या
१८. जन्म-मरण के आवर्त में चक्कर
- १९-३०. अप्रमाद का मार्ग
१९. अनारंजीवी कौन ?
२०. अनारंभजीवी को होता है 'संघि' का साक्षात्कार  
 ◦ 'संघि' पद का अर्थ-बोध  
 ◦ प्राचीन ग्रन्थों के सन्दर्भ में 'संघि' पद की मीमांसा  
 ◦ अतीन्द्रियज्ञान की रश्मियों का निर्गमन 'संघि' से  
 ◦ 'करण' पद का अर्थ  
 ◦ सुश्रुतसंहिता में २१० संघियां और १०७ मर्म-स्थल  
 ◦ मर्म-स्थल की परिभाषा
२१. ध्यान-सूत्र
- २२-२३. अप्रमाद का मार्ग  
 ◦ उत्थित होकर प्रमाद न करने का कारण  
 ◦ जलकुंभी का उदाहरण  
 ◦ प्रमाद और अप्रमाद दशा में उदीरणा और संक्रमण क्या ? कैसे ?
२४. सुख-दुःख अपना-अपना
२५. नाना अध्यवसाय, नाना सुख-दुःख
२६. अनारंभजीवी और सूक्ष्म जीवलोक
२७. सम्यक्-पर्याय कौन ?
२८. तपस्वी और संयमी रोग से आक्रांत क्यों ?  
 ◦ संयम और रोग की भिन्न हेतुकता

२९. रोग और आतंक से उत्पन्न कष्ट को सहन करने का आलम्बन-सूत्र  
 ◦ शरीर की विपरिणामधर्मिता का चिंतन
३०. सहज विरत के लिए साधना के मार्ग का कोई निर्देश नहीं।  
 ◦ शरीर की संधि को देखना देहातीत होता है
- ३१-३८. परिग्रह
३१. मूर्च्छा है परिग्रह
३२. परिग्रह महान् भय का हेतु  
 ◦ लोकवृत्त को देखने का निर्देश
३३. पदार्थ अज्ञानी के लिए आसक्तिकारक
३४. परिग्रह-संयम का निर्देश
३५. ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की अनुस्यूति  
 ◦ ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ
३६. आत्मा ही बन्ध और प्रमोक्ष की कर्ता
३७. अपरिग्रहजनित परीषहों को जीवनपर्यन्त सहने का निर्देश  
 ◦ प्रमत्त की सिद्धि नहीं
३८. मोन अर्थात् अपरिग्रह के ज्ञान का अनुपालन
- ३९-६१. अपरिग्रह और काम-निर्वेद
३९. अपरिग्रह और अमूर्च्छा का तादात्म्य
४०. समता-धर्म के अनुपालन का निर्देश  
 ◦ समता का स्वरूप  
 ◦ सामायिक के तीन प्रकार
४१. त्रिपदी की समन्वित आराधना के विषय में भगवान् का कथन और शक्ति के गोपन का निषेध
४२. शक्ति का नान्दात्व : मनुष्यों का नान्दात्व
४३. भिक्षु और गृहस्थ के तीन-तीन लक्षण
४४. परिणामों की विचित्रता और शील के अनुपालन का उपदेश  
 ◦ 'यत्तमान' पद का अर्थ-बोध  
 ◦ 'शील' शब्द के अनेक अर्थ  
 ◦ लोकसार अर्थात् अपरिग्रह की फलश्रुति—अकाम और अभङ्ग।
४५. 'शक्ति का गोपन मत करो'—के विषय में शिष्य का प्रश्न और भगवान् का 'सारपद' की प्राप्ति का निर्देश
- ४६-४७. आत्मयुद्ध के सन्दर्भ में परिज्ञा और विवेक का प्रतिपादन
- ४८-४९. धर्म-च्युत का जन्म-मरण
५०. संविद्धपथ-मुनि का चिंतन
५१. अहिंसा और संयम का मूल
५२. मुख अपना-अपना
५३. यश की कामना का निषेध
५४. साधक एकात्ममुख हो  
 ◦ विदिशा क्या ?
५५. वसुमान् के लिए पाप अकरणीय  
 ◦ सर्वसमन्वागतप्रजा का निर्देश
५६. पापकर्म के अन्वेषण का निषेध
५७. सम्यक्त्व और संयम का अविनाभाव
५८. संयम की साधना के लिए कौन योग्य ? कौन अयोग्य ?
५९. ज्ञान और कर्म-शरीर का प्रकंपन
६०. समत्वदर्शी का आहार
६१. तीर्ण, मुक्त और विरत कौन ?
- ६२-६८. अव्यक्त का एकाकी विहार
६२. अव्यक्त मुनि के एकलविहार में होने वाले अपाय  
 ◦ व्यक्त और अव्यक्त कौन ?
६३. एकाकी साधना का उपद्रव
६४. अव्यक्त अहंकार और मोह से मुक्त
६५. अव्यक्त परीषह और उपसर्गों को सहना नहीं जानता
६६. अव्यक्त अवस्था में एकाकी विहार के संकल्प का निषेध
६७. महावीर का दर्शन
६८. साधक की इस दर्शन में तल्लीनता
- ६९-७०. ईर्यापथ
६९. ईर्यापथ की विधि
७०. ईर्यापथ का कर्त्तव्य
- ७१-७४. कर्म का बन्ध और विवेक
७१. गुणसमित व्यक्ति के कर्मबन्ध होता है या नहीं ?  
 ◦ कर्मबन्ध की विचित्रता
७२. ऐहिकभवानुबन्धी कर्मबन्ध
- ७३-७४. आकुटीकृत कर्म का विलय
- ७५-८८. ब्रह्मचर्य
७५. इन्द्रियजय की साधना के छह उपाय
- ७६-७७. स्त्रीजन और मोह
- ७८-८४. सनिमित्त और अनिमित्त कामोदय के प्रकार और उसकी चिकित्सा के उपाय
- ८५-८६. काममुक्ति के आलम्बन-सूत्र  
 ◦ इन्द्रियसुख और दण्ड की व्याप्ति  
 ◦ काम कलहकर और आसंगकर
८७. ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्देश
८८. काम-विरति की उपादेयता

## ८९-९२. आचार्य

- ० आचार्य की सरोवर से तुलना, साधना और गुणों का वर्णन

## ९३-९५. श्रद्धा

- ९३. शंकाशील को आत्म-समाधि नहीं
- ९४. दो प्रकार के शिष्य और उनकी मनोवृत्ति
- ९५. सत्य और निःशंक है वीतराग का वचन

## ९६-९८. माध्यस्थ्य

- ९६. सम्यग् असम्यग् का द्विवेकनिश्चयनय और व्यवहार-नय के परिप्रेक्ष्य में
- ९७. सत्य की उपलब्धि मध्यस्थभाव से
- ९८. संधि का आचरण कैसे ?

## ९९-१०३. अहिंसा

- ९९. गुहकुल-निवास के लाभ
- १००. 'हिंसा निर्दोष है'—यह बाल-कथन है
- १०१-१०३. अहिंसा का स्वरूप-कथन ।  
आत्मा का अद्वैत । कृत-कर्म का अनुसंवेदन

## १०४-१०६. आत्मा

- १०४. ज्ञाता और ज्ञान—दोनों आत्मा  
० ज्ञान आत्मा में ही । चूणिकार का वाच्य ।
- १०५. आत्मा और ज्ञान का अभेद  
० आत्मा ध्रुव, ज्ञान के परिणाम उत्पन्न-व्यय-युक्त
- १०६. आत्मवादी सम्यग्दर्शयि—सत्य का पारगामी

## १०७-११५. पथ-दर्शन

- १०७. आज्ञा में अनुद्यमी और अनाज्ञा में उद्यमी
- १०८. कुमार्य का निषेध
- १०९-११०. महावीर का दर्शन और साधक का कर्तव्य
- १११. परीषहों और उपसर्गों से अपराजित ही निरालम्बी होने में समर्थ
- ११२. मोक्षलक्षी बहिल्लेश्य न हो
- ११३. प्रवाद से प्रवाद को जानने का निर्देश
- ११४. प्रवाद की परीक्षा के तीन साधन
- ११५. अर्हत् के निर्देश का पालन

## ११६-१२२. सत्य का अनुशीलन

- ११६. अर्हत् सिद्धांत के निरीक्षण के तीन साधन
- ११७. आत्म-रमण की परिज्ञा और आगम के अनुसार पराक्रम करने का निर्देश
- ११८. स्रोत के प्रकार
- ११९. आवर्त्त से विरमण
- १२०. स्रोत का साक्षात्कार
- १२१. इन्द्रिय-विषय राग और द्वेष के हेतु कब ?  
० स्रोत जन्म-मरण के कारण

## १२२. जन्म-मरण के वृत्तमार्ग का अतिक्रमण

## १२३-१४०. परम आत्मा

- ० कर्मोपाधि निरपेक्ष आत्मा के स्वरूप का दिग्दर्शन और व्याख्या ।

## छठा अध्याय

## १-४. ज्ञान का आख्यात

- १-२. आख्याता का स्वरूप
- ३. मुक्ति-मार्ग को सुनने वालों की चार अर्हताएं
- ४. मुक्ति-मार्ग को सुनकर पराक्रम करने वाले
- ५-७. अनात्मप्रज्ञ का अवसाद  
५. अनात्मप्रज्ञ का मनस्ताप  
६. कूर्म का दृष्टांत  
० साधुत्व की प्राप्ति की दुर्लभता  
७. अनात्मज्ञ गृहवास से मुक्त नहीं होते

## ८-२३. अचिकित्सा धृत

- ८. विभिन्न रोगों से ग्रस्त व्यक्तियों का निर्देश  
० सोलह रोगों का कथन
- ९. अंध कौन ?
- १०-११. अनात्मप्रज्ञ व्यक्तियों का बार-बार कष्टों का अनुभव  
१२. विभिन्न प्रकार के प्राणी  
१३. चिकित्सा के लिए प्राणी-वध  
१४. प्राणीवध महाभय का कारण  
१५. दुःख से भय  
१६. कामना-आसक्ति से जन्म-मरण और रोग की वेदना  
१७. कामासक्त-शरीर की निर्बलता और व्यथा  
१८. आर्त्त अत्यन्त दुःखी और धृष्ट  
१९-२०. प्राणी-परितापकारक चिकित्सा की विधियां रोग के उन्मूलन में असमर्थ  
० जीवाहिंसाकारक चिकित्सा से कर्मोपशमन नहीं, कर्मों का उपचय  
२१. हिंसक चिकित्सा का निषेध  
२२. हिंसामूलक चिकित्सा महाभय की उत्पादक  
२३. हिंसामूलक चिकित्सा का निषेध
- २४-२९. स्वजन-परित्याग धृत  
२४. धृतवाद का प्रतिज्ञा-सूत्र  
२५. जन्मकाल की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन  
२६-२८. अभिनिष्क्रमण के समय होने वाली अवस्थाओं का वर्णन  
२९. आत्मानुसंधान का ज्ञान
- ३०-३९. काम्य-परित्याग धृत  
३०. वसु—वीतरागसंयम और अनुवसु—सरागसंयम की

चर्चा तथा कुशील मुनि की संयम-पालना में असमर्थता

३१. अर्हत् शासन को छोड़ गृहस्थ या अन्यलिगी  
 ३२. परीषह-सहन का क्रमशः अभ्यास और उसकी प्रक्रिया  
 ३३. काम-मूर्च्छा से संयम-च्युत होने वाले को मृत्यु का अपाय-दर्शन  
 ३४. काम का स्वरूप और उसको तैरने का उपाय  
 ३५. अप्रमाद-सूत्र  
 ० प्राणिधान के चार विकल्प  
 ३६. वस्त्र आदि के प्रति अनासक्त मुनि की दृढता  
 ३७. महामुनि कौन ?  
 ३८-३९. संय-परित्याग के लिए एकत्वानुप्रेक्षा का विधान  
 ० एकत्वानुप्रेक्षा : कर्म-प्रकंपन की प्रक्रिया  
 ४०-५१. अचेल धृत  
 ४०. अचेलचर्या का स्वरूप  
 ४१. अचेल मुनि की परीषह-तितिक्षा  
 ४२-४३. अचेल मुनि की शब्द-स्पर्शात्मक परीषह-तितिक्षा और उसका आलम्बन-सूत्र  
 ४४. एकजातीय और अन्यजातीय परीषह-सहन का निर्देश  
 ४५. अचेल मुनि और लज्जा परीषह  
 ० पांच प्रकार के पुरुष  
 ४६. विस्त्रोतसिका के परिहार का निर्देश  
 ४७. धर्मक्षेत्र में वस्तुतः नग्न कौन ?  
 ० नग्न साधना का प्रयोजन  
 ४८. मुनि-जीवन की साधना यावज्जीवन  
 ४९. उत्तरवाद है अचेलधर्म की साधना  
 ५०-५१. उत्तरवाद की अनुपालना करने वाला कौन ?  
 ५२-५८. एकलचर्या  
 ५२. गणचर्या और एकचर्या के योग्य कौन ?  
 ५३. गच्छनिर्गत और गच्छान्तर्गत मुनि की एषणा-विधि  
 ५४. एकचर्या वाला मुनि अप्रतिबद्धविहारी  
 ५५-५८. इमज्ञान प्रतिमा और परीषह  
 ० 'सुन्धि' और 'दुन्धि' की मीमांसा  
 ५९-६६. उपकरण-परित्याग धृत  
 ५९. विधूतकल्प की व्याख्या  
 ६०. अचेल अवस्था के गुण  
 ६१-६२. अचेल मुनि के परीषह  
 ६३. ० अचेल मुनि को लाघव की उपलब्धि  
 ० उपकरणलाघव और भावलाघव की परस्परता  
 ६४. अचेल मुनि के तप

६५. ० अचेल मुनि सचेल को हीन न समझे  
 ० अचेलत्व के लाभ

६६. अचेलत्व अशक्य अनुष्ठान नहीं  
 ६७-६९. शरीर-लाघव धृत  
 ६७. प्रज्ञानवान् मुनि के शरीर-लाघव  
 ६८. श्रेणी को विश्रेणी  
 ६९. तीर्ण, मुक्त और विरत  
 ७०-७३. संयम धृत  
 ७०-७१. अरति पर विजय पाने का उपाय  
 ७२. संयमरति असंदीनद्वीपतुल्य  
 ७३. संयम धृत की साधना का फलित  
 ७४-७५. विनय धृत  
 ० विनयवान् शिष्य ही एकाकिप्रतिमा और अचेलत्व के योग्य  
 ० विहगपोत का दृष्टान्त  
 ७६-९८. गौरव-परित्याग धृत  
 ७६-७७. दिन और रात में दी जाने वाली वाचना के विषय में चूर्णगत प्राचीन परंपरा का उल्लेख तथा ज्ञान-मद के परिहार का निर्देश  
 ७८. अहं तथा रस-गौरव और सात-गौरव से आने वाली उद्दता  
 ७९. प्रव्रजित मुनि की औदयिक भाव में होने वाली मनःस्थिति  
 ० शास्ता के प्रति पुरुष वचन बोलने के चार हेतु  
 ८०. शीलवान् को अशील कहने का अहं  
 ८१. दोहरी मूर्खता  
 ८२. सन्मार्ग से च्युत मुनि द्वारा 'दूसरों में शंका उत्पन्न करना  
 ८३. गौरवत्रयी से संयम-विमुखता  
 ८४. भुनित्व से पुनः गृहस्थ  
 ८५. निष्क्रमण दुर्निक्रमण  
 ८६. संयमच्युत मुनि साधारण लोगों से भी निदनीय  
 ८७. अहं का हेतु—अल्पज्ञता या बहुज्ञता ? या दोनों ?  
 ८८-९०. गौरवत्रयी वाले मुनि का व्यवहार  
 ९१. गौरवत्रयी से पराभूत शिष्य को आचार्य का अनुशासन  
 ९२. गौरवत्रयी से आस्रव में निमज्जन  
 ९३. वीरवृत्ति से प्रव्रज्या लेने वाले का चिन्तन  
 ९४. सिंहवृत्ति से अभिनिक्रमण और शृगालवृत्ति से आचरण का निमित्त गौरवत्रयी  
 ९५. व्रतों के लूषक कौन ?

१६. व्रत-च्युत मुनियों की अवहेलना  
 १७. मुनियों की प्रशंसा के चार हेतु  
 ० गौरवत्रिक के कारण अप्रशंसा के चार हेतु  
 १८. प्रव्रज्या में विहरण करने की अर्हता के चार बिन्दु

### १९. तितिक्षा धृत

- ० तितिक्षा परम धर्म  
 ० अनुलोम और प्रतिलोम उपसर्गों को सहना

### १००-१०५. धर्मोपदेश धृत

१००. धर्मोपदेशक की अर्हता  
 १०१. धर्मोपदेश अहिंसा के विकास के लिए  
 १०२. किन व्यक्तियों को किस प्रकार का धर्मोपदेश  
 ० धर्म का स्वरूप-कथन  
 १०३. धर्मोपदेश में विवेक  
 १०४. 'विवेकपूर्वक धर्म-कथन' की विस्तार से व्याख्या  
 १०५. धर्मोपदेश किसी की आशातना न करे

### १०६-११३. कषाय-परित्याग धृत

१०६. धर्मकथा-मर्मज्ञ का परिव्रजन कैसे ?  
 १०७. शांति की प्राप्ति के दो साधन  
 १०८. संग को देखो  
 १०९. इच्छाकाम और मदनकाम की वृद्धि के निमित्त  
 ११०. स्वजन आदि का बधन अशांति का हेतु  
 १११. कषायों का अनुबंध आरंभ से  
 ० क्रोध आदि का कर्ता और विकर्ता कौन ?  
 ११२. त्रोटक कौन ?  
 ० मृत्यु के क्षण में शांतचित्त रहने का निर्देश  
 ११३. पारगामी और फलकावतण्टी मुनि के लक्षण  
 ० न जीने की आशंसा और न मरने की आशंसा

### आठवाँ अध्याय

#### १-२. असमनुज का विमोक्ष

१. असमनुज तथा समनुज की पारस्परिकता  
 २. असमनुज भिक्षु का निमंत्रण  
 ० दर्शन की विशुद्धि के लिए असमनुज के साथ आदान-प्रदान का निषेध

#### ३-८. असम्यग् आचार

- ३-४. असमनुज के साथ आदान-प्रदान के निषेध का कारण  
 ५. विविध एकांगी वादों का निरूपण  
 ६. 'मेरे धर्म में सिद्धि' का निरूपण  
 ७. एकांगीवाद अहेतुक  
 ८. एकांगीवादियों का धर्म न सुआख्यात और न मुनिरूपित

#### ९-१६. विवेक

९. तत्त्वचर्चा के प्रसंग में हेतुवाद का निर्देश  
 १०. आत्मसामर्थ्य को तोल कर वाद करने का परामर्श  
 ० 'गुप्ति' पद की व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्या  
 ११-१३. सभी वादियों में हिंसा सम्मत  
 ० हिंसाजनक वाद का परिहार और स्वधर्म में प्रतिष्ठापन  
 १४. धर्म याव में या अरण्य में—इस प्रश्न का समाधान  
 १५. प्रव्रज्या-ग्रहण के लिए तीनों यामों की प्रासंगिकता  
 १६. अनिदान कौन ?

#### १७-२०. अहिंसा

- १७-१८. कर्म-समारंभ के विषय में भगवान् का निर्देश  
 ० अहिंसा के लिए समर्पित व्यक्ति ही कर्म-समारंभ से दूर  
 १९. भिक्षु होकर भी हिंसा में रत  
 २०. अभय साधक ही दंड-समारंभ से विरत

#### २१-२९. अनाचरणीय का विमोक्ष

- २१-२४. अनाचरणीय का सेवन न करने का निर्देश  
 २५. कृत आहार आदि स्वीकार न करने पर कर्मकरों द्वारा प्रदत्त कष्ट  
 २६-२७. कष्ट की स्थिति में मुनि का कर्तव्य  
 २८. असमनुज मुनि के साथ आदर के व्यवहार का निर्देश  
 २९. समनुज मुनि के साथ कैसा व्यवहार ?

#### ३०-३१. प्रव्रज्या

मध्यम वय में प्रव्रज्या-ग्रहण का विशेष निर्देश

#### ३२-३४. अपरिग्रह

३२. अपरिग्रह के मर्मवेत्ता  
 ३३. अहिंसा और अपरिग्रह ही व्याप्ति  
 ३४. अपरिग्रह की आराधना का हेतु

#### ३५-४०. मुनि के आहार का प्रयोजन

३५. संयम-शरीर को धारण करने के लिए आहार  
 ३६. आहार के बिना इन्द्रियशक्ति की क्षीणता  
 ० आहार-प्रायोग्य पुद्गलों का आकर्षण  
 ३७. दया का पालन करने के लिए आहार  
 ३८. सन्निधान शस्त्र का ज्ञाता और दया  
 ३९-४०. नियमित जीवन जीने वाले भिक्षु की विशेषताएं

#### ४१-४२. अग्नि-सेवन का प्रतिषेध

शीतस्पर्श से बचने के लिए मुनि अग्निकाय का कदापि सेवन न करे



४३-५६. उपकरण-विमोक्ष

४३. वस्त्रों की अपेक्षा से चार प्रकार के मुनि  
 ४४. यथा-एषणीय वस्त्रों की याचना का निर्देश  
 ४५. यथा-परिगृहीत वस्त्रों के विषय में निर्देश  
 ४६. नो धोएज्जा नो रएज्जा.....

४७. वस्त्रों को न छिपाना  
 ४८. अवमचेल कौन ?

४९. वस्त्रधारी भिक्षु की सामग्री  
 ५०. वस्त्र-विषयक प्राचीन परंपरा  
 ५१. सान्त्रोत्तर की प्राचीन परंपरा  
 ० वृत्ति की व्याख्या  
 ५२. एक शाटक कब ? कैसे ?  
 ५३. अचेल का तात्पर्य

- ५४-५५. वस्त्र-लाघव और उससे होने वाला तप  
 ५६. वस्त्र विषयक समता का निर्देश

५७-६१. शरीर-विमोक्ष

५७. स्त्री-परीषह से स्पृष्ट मुनि का कर्तव्य  
 ५८. स्त्री-परीषह सहने में अशक्त मुनि को विहित  
 मार्ग से प्राण-त्याग करने का निर्देश  
 ० फांसी से प्राण-त्याग की प्राचीन परंपरा  
 ५९. असहनीय स्थिति में फांसी लगा कर मरना  
 अप्रतिषिद्ध  
 ६०. कारणिक मृत्यु भी अन्तक्रिया में साधक  
 ६१. कालमोह के अपनयन के लिए स्वीकृत मृत्यु  
 सुखकर.....

६२-७४. उपकरण-विमोक्ष

६२. दो वस्त्र, एक पात्र की परंपरा  
 ६३-६४. यथा-एषणीय तथा यथा-परिगृहीत वस्त्र की  
 याचना  
 ६५. न धोए, न रंजे  
 ६६. वस्त्र न छिपाए  
 ६७. अवमचेल कौन ?  
 ६८. वस्त्रधारी भिक्षु की सामग्री  
 ६९. वस्त्र-विसर्जन कब ? कैसे ?  
 ७०. एक शाटक  
 ७१. अचेल का तात्पर्य

- ७२-७३. वस्त्र-लाघव तथा उससे होने वाला तप  
 ७४. वस्त्र-विषयक समता का निर्देश

७५. स्नान द्वारा भक्त-परिहार

- ० भिक्षु असमर्थ होने पर भी गृहस्थ द्वारा लाया  
 भोजन न ले

७६-८४. सेवा का कल्प

७६. परस्पर सेवा करने की प्राचीन परंपरा

७७. सेवा के निमित्त भिक्षु के प्रतिज्ञा-विकल्प

७८. वस्त्र का क्रमिक विसर्जन और अभिग्रह

७९. अभिग्रहधारी मुनि के तप का निर्देश

८०. समता की साधना का निर्देश

८१. वस्त्र-विषयक सामाचारी के पालन का निर्देश  
 तथा उसकी फलश्रुति

८२-८४. वह मृत्यु अन्तक्रियाकारक और कल्याणकारी

८५-९६. उपकरण-विमोक्ष

८५. एक वस्त्र, एक पात्र

८६-८७. यथा-एषणीय और यथा-परिगृहीत की याचना

८८. न धोना, न रंगना

८९. वस्त्र को न छिपाए

९०. अवमचेलिक कौन ?

९१. वस्त्रधारी भिक्षु की सामग्री

९२. वस्त्र-विसर्जन कब ? कैसे ?

९३. वस्त्र-रहित होने का निर्देश

९४-९५. वस्त्र-रहित का लाघव और तप

९६. समता का पालन

९७-१००. एकत्व भावना

९७. 'मैं अकेला हूँ', 'मेरा कोई नहीं'—एकत्व का  
 चिन्तन

९८. एकत्व के चिन्तन से लाघव की उपलब्धि

९९-१००. एकत्वानुप्रेक्षा की तपोमय गरिमा और उसके  
 यथार्थ पालन का निर्देश

१०१-१०४. अनास्वाद-लाघव

१०१. अनास्वाद वृत्ति का निरूपण

१०२. स्वाद-विसर्जन

१०३-१०४. अनास्वादवृत्ति से स्वाद-अवमोदर्य तप तथा  
 समत्व लाभ

१०५. संलेखना

संलेखना के चार अंग और उनका विशद निरूपण

१०६-११०. इंगिनीमरण अनशन

१०६. इंगिनीमरण का वाचक इत्वरिक

० इत्वरिक शब्द का विमर्श। इंगिनीमरण की  
 प्रक्रिया

१०७. इंगिनीमरण अनशन स्वीकार करने वाले भिक्षु की  
 विशिष्ट अवस्थाएं

१०८. इंगिनीमरण काल-मृत्यु का उपक्रम

१०९. अन्तःक्रिया का बोधक

११०. प्राण-विमोह की साधना

१११-११५. उपकरण-विमोक्ष

१११. अचेल व्यक्ति का चिन्तन और कटिबंध धारण  
 करने की उत्सुकता

११२. सर्वथा अचेल रहने में समर्थ व्यक्ति के लिए कटिबंध का निषेध  
 ११३-११४. अचेल का लाघव और तप  
 ११५. अचेलत्व का पालन और समता  
 ११६-१२४. वैयावृत्य का कल्प  
 ११६. भोजन के आदान-प्रदान की प्रतिज्ञा  
 ११७-१२३. आहार के आदान-प्रदान के विविध विकल्प तथा उपकार और निर्जरा की दृष्टि से सेवा करने का प्रतिपादन  
 १२४. आहार का संवर्तन और समाधि-मरण के लिए उत्थान  
 १२५-१३०. प्रायोपगमन अनशन  
 १२५. प्रायोपगमन अनशन की विधि  
 १२६. प्रायोपगमन अनशन का अधिकारी  
 १२७-१३०. इस मरण से मरने वाले की साधना का फलित  
**इंगिनीमरण अनशन**

- याथा १. समाधिमरण कब ? उसकी अर्हता के तीन बिन्दु  
 २. बाह्य और आंतरिक बंधन के हेतुओं की अवगति  
 ◦ जीवित रहने से अधिक लाभ या शरीर विमोक्ष से ?  
 ◦ किस समाधिमरण के योग्य है मेरा सामर्थ्य— इसकी समीक्षा  
 ◦ पर्यालोचनपूर्वक प्रवृत्ति की अल्पता  
 ३. कषाय का कृशीकरण और आहार का अल्पीकरण  
 ४. जीवन और मरण में अनासक्त  
 ५. मध्यस्थ और निर्जराप्रेक्षी बनकर समाधि का पालन  
 ◦ आंतरिक और बाह्य व्युत्सर्ग  
 ६. संलेखनाकालीन आकस्मिक बाधा के समय भिक्षु का कर्त्तव्य

#### भक्त-प्रत्याख्यान

७. स्थानशुद्धि का निर्देश । अनशन के स्थान में स्वयं या प्रातिचारक भिक्षुओं के साथ  
 ◦ स्थंडिल-प्रतिलेखना की प्राचीन परंपरा  
 ८. भूख, प्यास तथा अन्य परीषहों को सहने की शक्ति के विकास का निर्देश  
 ९-१०. प्राणियों के विघात को सहने का आलंबन-सूत्र  
 ११. द्रव्यग्रन्थ और भावग्रन्थ  
 ◦ भक्तप्रत्याख्यान अनशन की अपेक्षा इंगिनीमरण अनशन प्रशस्ततर, कष्टतर आदि

१२. इंगिनीमरण अनशन में चतुर्विध आहार का परि-त्याग तथा आत्मवर्ज प्रतिचार का निषेध  
 १३-१८. इंगिनीमरण अनशन में मुनि की चर्या तथा निषद्या विषयक चूर्ण की परंपरा और परीषह सहन का निर्देश

#### प्रायोपगमन

१९. प्रायोपगमन अनशन की श्रेष्ठता, स्थान से विचलन का प्रतिषेध तथा साधक की स्थिति का चित्रण  
 २०. इंगिनीमरण अनशन की अपेक्षा यह अनशन प्रधान और उत्तम  
 ◦ जिस आसन में अनशन स्वीकार उसी में निश्चल रहने का निर्देश  
 २१. प्रायोपगमन अनशन को स्वीकार करने वाले की चर्या तथा इस अनशन की मुद्राओं का निर्देश और अनशन का पार पाने के लिए आलंबन-सूत्र का प्रतिपादन  
 २२-२३. अनशन स्वीकर्त्ता को स्थिर रहने का निर्देश  
 ◦ अनशन में होने वाले उपद्रवों से सावधानता  
 ◦ इच्छालोभ का निराकरण  
 २४. दिव्य भोग के निमन्त्रण को ठुकरा देने का निर्देश तथा दिव्य माया के प्रति न भ्रुकने का आग्रह  
 २५. अनशनपूर्वक जीवन की समाप्ति कल्याणकारक

#### नौवां अध्याय (पहला उद्देशक)

##### १-२३. भगवान् की चर्या

१. प्रव्रज्या के पश्चात् तत्काल विहार  
 ◦ हेमन्त ऋतु में मृगशिर कृष्णा दसमी के दिन दीक्षा  
 २. दीक्षा के समय एक शाटक  
 ◦ भगवान् की धर्मानुगामिता  
 ◦ ग्रीष्म में एक शाटक या अचेल की परंपरा का उल्लेख  
 ३. भगवान् का शरीर अद्भुत गंधयुक्त । द्रव्यकृत परिमल की विशेषता । परिमल के लिए भ्रमरों का उत्पात । अभिनिष्क्रमण के चार मास तक ।  
 ४. तेरह मास पश्चात् भगवान् अचेल बने  
 ५. भगवान् की अनिमेषदृष्टि ध्यान की सूचना  
 ◦ तियंग्भक्ति ध्यान की प्रक्रिया ।  
 ६. एकान्त में ध्यानलीन और वहाँ स्थियों का उपद्रव

७. संकुल स्थानों में भी एकाग्रता से ध्यान । पूछने पर भी मौन । ध्यान से विचलन नहीं ।
८. न वरदान न शाप । तटस्थभाव ।
९. कौतुकपूर्ण प्रवृत्तियों का परिहार
१०. माध्यस्थ्यभाव का अनुशीलन
  - अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों में स्मृति का अनियोजन ।
११. भगवान् की गृहवासी साधना का आकलन
- १२-१३. छहों जीवनिकायों की हिंसा से उपरति का कारण
१४. जीव सर्वयोनिक
१५. पाप-कर्म के प्रत्याख्यान का कारण
१६. क्रियावाद और अक्रियावाद की समीक्षा कर ऋषभ द्वारा प्रतिपादित कर्मक्षय की क्रिया का स्वीकार
१७. प्राणवध तथा सर्वकर्मावहा स्त्रियों का परिहार
१८. भगवान् की आहारचर्या । आधाकृत का सर्वथा परिहार
१९. भगवान् की उपकरणचर्या । परवस्त्र तथा परपात्र का वर्जन । अवमान संखडि का परिहार
२०. अशन-पान के मात्राज्ञ । रसपरित्याग तप का आसेवन । कायक्लेश तप का आचरण
२१. गमन में अहिंसा के प्रति जागरूकता ।
  - अल्पभाषिता ।
२२. भगवान् की शिशिर ऋतु में गमन-चर्या ।
२३. संकल्पमुक्त होकर विधि का आचरण ।

### दूसरा उद्देशक

१. भगवान् द्वारा सेवित शयन और आसन
- २-४. भगवान् के विभिन्न आवास-स्थल । उत्कृष्ट तेरह वर्ष का साधना-काल
५. निद्रासुख के प्रति अप्रतिज्ञ
६. निद्रा पर विजय का उपक्रम
७. आवास-स्थलों में उत्पन्न उपसर्ग और भगवान् की ध्यानलीनता
८. कुचर तथा ग्रामरक्षकों द्वारा कृत उपसर्ग
  - काम-संबंधी उपसर्ग
- ९-१०. इहलौकिक और पारलौकिक उपसर्गों को सहन करने का आलंबन-सूत्र तथा रति और अरति को पराभूत करने का उपाय
- ११-१२. पृच्छा करने पर मौन । मौन से आक्रोश
  - भगवान् प्रतिकार के संकल्प से रहित
  - स्थान का त्याग करने पर भी ध्यान का त्याग नहीं

- शून्य या एकांत स्थान में भी उपसर्ग
- १३-१५. शिशिर ऋतु में अत्यंत शीत को सहना तथा हिमवात में अप्रकंपित रहना
    - शिशिर ऋतु में अन्य भिक्षुओं की चर्या और उनके शीत-प्रतिकार के साधन । भगवान् का प्रगाढ सर्दी में भी रात को मंडप से बाहर गमन-आगमन । शीत सहने का प्रकार
  १६. संकल्पमुक्त होकर विधि का प्रतिपालन

### तीसरा उद्देशक

१. निषद्या में तृणस्पर्श का परीषह
- २-८. लाठ देश की वज्रभूमि और मुम्हभूमि में भगवान् का विहार । वहां की भौगोलिक और क्षेत्रीय स्थिति तथा वहां के लोगों का रहन-सहन, शील-सदाचार, सभ्यता-संस्कृति का संक्षिप्त वर्णन । भगवान् के उपसर्ग ।
- ९-१०. प्रहारों की बौद्धार और लोगों की प्रसन्नता
  ११. भगवान् के शरीर से मांस काटना, शरीर पर धूकना आदि कष्ट तथा भगवान् का काय-व्युत्सर्ग का सफल प्रयोग
  १२. ध्यानस्थित भगवान् को ऊपर से नीचे गिराना, आसन से स्खलित करना । व्युत्सृष्टकाय भगवान् का समभाव ।
  १३. संवर का कवच और कष्टों का अधिसहन
  १४. संकल्पमुक्त होकर विधि का आचरण

### चौथा उद्देशक

१. रोग से अस्पृष्ट होने पर भी अवमोदयं तप । चिकात्सा न कराने का संकल्प । अचिकित्सा कायव्युत्सर्ग का प्रयोग । पंचकर्म चिकित्सा का परिहार ।
२. संशोधन, वमन, विरेचन आदि का सर्वथा परिहार
३. शरीर चिकित्सा का निषेध, मोहचिकित्सा के उपायों की अनुपालना ।
  - मोहचिकित्सा के दो अंग—अबहुवादित्व और कायक्लेश ।
- ४-६. मोहचिकित्सा का तीसरा अंग—आतप सहन और रूक्ष भोजन से जीवन-यापन
  - आठ मास तक ओदन, कुल्माष और मंथु का भोजन ।
  - जागरण का प्रयोग ।
  - पर्युषित अन्न का ग्रहण ।
७. तप-समाधि में संलग्नता

- ८. नवकोटि परिशुद्ध भिक्षा से जीवन-यापन
- ९. आहार संबंधी तीन एषणाएं और उनमें भगवान् की चर्या
- १०-१२. आजीविका-विच्छेद के प्रति सजग
- १३. भोजन के प्रति अनीत्सुक्य

- १४. भगवान् की ध्यानमुद्रा और ध्यान
- १५. भगवान् के ध्यान का उद्देश्य
- १६. भगवान् का आयतयोग । तपस्या में माया नहीं
- १७. संकल्पमुक्त होकर विधि की अनुपालना

## उपोद्घातः

अथातः आचारांगविमर्शः ।

१. अस्ति आत्मा ।<sup>१</sup>
२. अस्ति पुद्गलः ।<sup>२</sup>
३. अस्ति तयोरेनादिः संयोगः ।<sup>३</sup>
४. पुद्गलसंयुक्तः आत्मा औपपातिकः ।<sup>४</sup>
५. अस्ति तस्यानुसंचरणम् ।<sup>५</sup>
६. अस्ति अनुसंचरणस्य हेतुः ।<sup>६</sup>
७. अस्ति अनेकरूपा योनिः ।<sup>७</sup>
८. अस्ति दुःखम् ।<sup>८</sup>
९. अस्ति दुःखस्य हेतुः ।<sup>९</sup>
१०. अस्ति दुःखस्य निरोधः ।<sup>१०</sup>
११. अस्ति निरोधस्य मार्गः ।<sup>११</sup>
१२. अस्ति आत्मनो नानात्वम् ।

सन्ति अनन्ता आत्मानः । ते सर्वेऽपि सन्ति पृथक्सत्त्वाः, सर्वेषां स्वतन्त्रमस्तित्वमिति यावत् । ते न सन्ति कश्चिद् एकस्य ईश्वरस्यांशभूताः, न च कस्यचिद् ब्रह्मणः प्रपञ्चभूताः । 'जाणित्तु दुःखं पत्तेयं साय'— वारं वारं अस्य उद्घोषोऽस्ति आत्मनः स्वातन्त्र्यस्य उद्घोषणा ।<sup>१२</sup>

'तुमसि नाम सञ्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि'<sup>१३</sup>— इत्यस्मिन् सूत्रे आत्मन एकत्वमिष्टमस्ति । तथा 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ'<sup>१४</sup> अस्मिन्नपि एकमेव तत्त्वं अभिप्रेतमस्ति । अस्ति सर्वं तस्यैव प्रपञ्चः । तत् कथमात्मनो नानात्वं वास्तविकम् ? कथञ्चैकत्वस्य नानात्वस्य च विरोधः परिहार्यः ।

वयं नयेन विरोधपरिहारं कुर्मः । अत्र द्वौ नयौ प्रयोक्तव्यौ—संग्रहो व्यवहारश्च । अस्ति पदार्थेषु सामान्यो धर्मः । तमपेक्ष्य संग्रहनयः प्रवर्तते । अस्ति पदार्थेषु विशिष्टो धर्मः । तमपेक्ष्य व्यवहारनयः प्रवर्तते ।

प्रारंभ हो रहा है आचारांग का विमर्श ।

१. आत्मा है ।
२. पुद्गल है ।
३. उन दोनों का संयोग अनादि है ।
४. पुद्गल-संयुक्त आत्मा औपपातिक (पुनर्जन्मधर्मा) है ।
५. वह अनुसंचरण करती है ।
६. अनुसंचरण का हेतु है ।
७. योनि के अनेक रूप हैं ।
८. दुःख है ।
९. दुःख का हेतु है ।
१०. दुःख का निरोध है ।
११. निरोध का मार्ग है ।
१२. आत्मा का नानात्व है ।

आत्माएं अनन्त हैं । उन सबका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है । तात्पर्य की भाषा में सबका अस्तित्व स्वतंत्र है । वे किसी एक ईश्वर की अंशभूत नहीं हैं और किसी ब्रह्म की प्रपंचभूत नहीं हैं । 'सुख और दुःख व्यक्ति का अपना अपना होता है'—बार-बार यह घोष आत्मा की स्वतंत्रता की उद्घोषणा करता है ।

'जिसे तू हननयोग्य मानता है, वह तू ही है'—इस सूत्र में आत्मा का एकत्व इष्ट है और 'जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वह एक को जानता है'—इस सूत्र में भी एक ही तत्त्व अभिप्रेत है । यह सारा विस्तार उसी का है, तब आत्मा का नानात्व कैसे वास्तविक हो सकता है ? एकता और नानात्व का विरोध कैसे मिटाया जा सकता है ?

हम नय-पद्धति के द्वारा विरोध का परिहार कर सकते हैं । इस प्रसंग में संग्रह और व्यवहार—इन दो नयों का प्रयोग करना चाहिए । पदार्थों में सामान्य धर्म हैं । उनकी अपेक्षा से संग्रहनय की प्रवृत्ति होती है । पदार्थों में विशेष धर्म हैं । उनकी अपेक्षा से व्यवहारनय की प्रवृत्ति होती है ।

१. आयारो, १।४ ।

२. वही, ३।४ ।

३. वही, ३।८३ ।

४. वही, १।४ ।

५. वही, १।४ ।

६. वही १।८; २।१५५ ।

७. वही, १।८ ।

८. वही, १।८ ।

९. वही, १।८ ।

१०. वही, ४।५१ ।

११. वही, २।१७१-१७३ ।

१२. वही, २।२२, ७८; ५।२४, ५२ ।

१३. वही, ५।१०१ ।

१४. वही, ३।७४ ।

प्रत्येकं पदार्थः सामान्यविशेषात्मको विद्यते । सामान्यधर्माणामपेक्षया तस्यैकत्वमभिप्रेतम् । अयं संग्रहनयस्य विषयः । विशिष्टधर्मान् अपेक्ष्य तस्य नानात्वमपीष्टम् । अयं व्यवहारनयस्य विषयः । एकत्वे नानात्वे च नास्ति सर्वाथा विरोधः । अत्र विरोधोऽविरोधश्च द्वावपि सापेक्षौ । निरपेक्षमस्ति पदार्थस्य अस्तित्वम् । तत्र नास्ति एकत्वं वा नानात्वं वा । एकत्वं नानात्वं च संख्यामाश्रितो धर्मः । अयं सापेक्ष एव भवति । यत्र अभेदवृत्तिरभेदोपचारो वा भवति, तत्र एकत्वधर्मः प्रधानीभवति, नानात्वधर्मश्च उपसर्जनीभवति । यत्र भेदवृत्तिः, तत्र नानात्वधर्मः प्रधानीभवति एकत्वधर्मश्च उपसर्जनीभवति । अनयोः प्रधानगौणभावयोः विवक्षातो भेदमापन्नस्यापि पदार्थस्य क्वचित् कदाचिद् एकत्वं प्रतिपादितं भवति । तस्य अभेदमापन्नस्यापि क्वचित् कदाचिद् नानात्वं प्रतिपादितं भवति । इत्येकत्वनानात्वयोः नास्ति अपरिहार्यो विरोधः किन्तु सापेक्षोऽयम् ।

आत्मा संसारदशायां प्राण-भूत-जीव-सत्त्वपदैरभिधेयोस्ति । समभिरुद्धनयेन एतेषु भिद्यमानेष्वपि द्रव्यास्ति कनयदृष्ट्या नास्ति कोपि भेदः । अत एवोक्तम्—‘णो हीणे, णो अइरित्ते ।’<sup>१</sup>

आत्मनोऽस्तित्वमस्ति स्वतन्त्रम्, अत एवास्ति तस्य कर्तृत्वम् । स न ईश्वरप्रेरितः प्रवर्तते निवर्तते च । किन्तु स्वसंकल्पेनैव प्रवर्तते निवर्तते च । अत एव निर्दिष्टं भगवता—‘पुरिसा ! परमचक्षू ! विपर-वकमा ।’<sup>२</sup>

पराक्रमस्य सार्थकता तदानीमेव यदा बन्धमोक्षयोः शक्तिः स्वसन्निहिता भवेत् । अस्य प्रश्नस्य समाधानं कृतं सूत्रकारेण, यथा—‘बन्ध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव ।’<sup>३</sup> यदि आत्मातिरिक्तः कश्चित् पदार्थो बद्धो मुक्तो वा भवति, यथा सांख्यदर्शने प्रकृतिः, तदा नात्मनः कर्तृत्वं स्यात् । आचारांगस्य हृदयमिदं—संसारी आत्मा नास्त्यसंगः, अत एव स निरन्तरं कर्मभिर्बध्यते । स कर्मभिः बध्यते अत एव तस्य कर्मशरीरं भवति सहवर्ति । स कर्मशरीरेण संयुक्तः सन् नवानि नवानि स्थूलशरीराणि अथवा औदारिकादिशरीराणि निर्माति । स एव समत्वानुभूत्या कर्मशरीरस्य वियोजनं कृत्वा मुक्तो भवति । यदुक्तं—‘ण संगे’<sup>४</sup>, ‘ण काऊ’<sup>५</sup>, ‘ण रुहे’<sup>६</sup>—इति सर्वं

प्रत्येक पदार्थं सामान्य-विशेषात्मक है । सामान्य धर्मों की अपेक्षा से उसकी एकता अभिप्रेत है । यह संग्रहनय का विषय है । विशेष धर्मों की अपेक्षा से उसका नानात्व भी इष्ट है । यह व्यवहारनय का विषय है । एकत्व और नानात्व में सर्वथा विरोध नहीं है । यहाँ विरोध और अविरोध—दोनों सापेक्ष हैं । निरपेक्ष है पदार्थ का अस्तित्व । उसमें एकत्व या नानात्व कुछ भी नहीं होता । एकत्व और नानात्व संख्या पर आश्रित धर्म है । यह सापेक्ष ही होता है । जहाँ अभेदवृत्ति या अभेदोपचार होता है वहाँ एकत्व धर्म प्रधान हो जाता है और नानात्व धर्म गौण । जहाँ भेदवृत्ति होती है वहाँ नानात्व धर्म प्रधान हो जाता है और एकत्व धर्म गौण । इन प्रधान और गौण भावों की विवक्षा से भेद को प्राप्त पदार्थ का भी कहीं-कभी एकत्व प्रतिपादित होता है और अभेद को प्राप्त पदार्थ का भी कहीं-कभी नानात्व प्रतिपादित होता है । इस प्रकार एकत्व और नानात्व में अपरिहार्य विरोध नहीं है, किन्तु यह सापेक्ष विरोध है ।

संसारी आत्मा प्राण-भूत-जीव और सत्त्व—इन पदों से अभिहित होती है । समभिरुद्ध नय की दृष्टि से इनमें भिन्नता होने पर भी द्रव्याधिक नय की दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है, इसीलिए कहा गया है—‘न कोई आत्मा हीन है और न कोई आत्मा अतिरिक्त ।’

आत्मा का अस्तित्व स्वतंत्र है, इसीलिए उसका अपना कर्तृत्व है । वह ईश्वर से प्रेरित होकर प्रवृत्त और निवृत्त नहीं होती, किन्तु अपने संकल्प से ही प्रवृत्त और निवृत्त होती है । इसीलिए भगवान् ने कहा—‘परम चक्षुष्मान् पुरुष ! तू पराक्रम कर !’

पराक्रम की सार्थकता तभी होती है जब बन्ध और मोक्ष की शक्ति अपने में निहित हो । सूत्रकार ने इस प्रश्न का समाधान किया है—बन्ध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा में ही है । यदि आत्मा के अतिरिक्त कोई पदार्थ बद्ध या मुक्त होता है, जैसे सांख्य दर्शन में प्रकृति, तब आत्मा का कर्तृत्व नहीं रहता । आचारांग का हृदय यह है—संसारी आत्मा असंग नहीं है, इसीलिए वह कर्मों से निरन्तर बद्ध होती है । वह कर्मों से बद्ध होती है, इसीलिए कर्म-शरीर उसका सहवर्ती होता है । वह कर्म-शरीर के साथ संयुक्त होकर नए-नए स्थूल शरीर अथवा औदारिक आदि शरीरों का निर्माण करती है । वही आत्मा समत्व की अनुभूति से कर्म-शरीर का वियोजन कर मुक्त हो जाती है । जैसे कहा है—‘वह लेपयुक्त नहीं है, वह शरीरधारी नहीं है, वह जन्म-धर्मा नहीं है’—यह सब

१. आचारो, २।४९ ।

२. वही, ५।३४ ।

३. वही, ५।३६ ।

४. वही, ५।३४ ।

५. वही, ५।१३२ ।

६. वही, ५।१३३ ।

## उपोद्घातः

मुक्तात्मानमधिकृत्य प्रतिपादितमस्ति । संसारी आत्मा शरीरवानपि भवति, जन्मधर्मापि भवति, संगवानपि भवति च ।

आत्मा चेतनः, पुद्गलश्च अचेतनः । आत्मा अमूर्तः, पुद्गलश्च मूर्तः रूपरसगन्धस्पर्शयुक्तत्वात् । पुद्गलस्य-अस्तित्वं नास्ति व्यावहारिकम् । यथा आत्मनोऽस्तित्वं पारमार्थिकं तथा पुद्गलस्यापि । अनयोर्विषयविषयि-संबन्धो ज्ञातृज्ञेयसंबन्धो वा अस्ति पर्यायात्मकः न तु द्रव्यात्मकः । वयं पुद्गलं जानीमः तदापि तदस्ति, न जानीमः तदापि तदस्ति । अस्तित्वमस्ति स्वभावसापेक्षं, न तु ज्ञानसापेक्षम् ।

कथं स्यात् चेतनाचेतनयोः विरुद्धधर्मणोऽस्तित्वम् ? अत्र वयं ब्रूमः—पदार्थाः न सन्ति सर्वथा परस्परं विरुद्धाः, न च सन्ति सर्वथा अविरुद्धाः । तेषां विरोधोऽ-विरोधश्च सापेक्ष एव । अस्तित्वं सर्वेषां पदार्थानां समानो धर्मः । तदपेक्षया नास्ति चेतनाचेतनयोः कश्चिद् विरोधः । चैतन्यं आत्मनि एवेति विशिष्टो गुणः । रूप-रसगन्धस्पर्शाः पुद्गले एवेति सन्ति विशिष्टाः गुणाः । यथा विशिष्टधर्मपेक्षया विरोध उद्भावयितुं शक्यः तथा सामान्यगुणापेक्षया अविरोधोऽपि उद्भावनीयो भवति । एवं भेदाभेदस्वभावे वस्तुनि नाध्यास<sup>१</sup>-कल्पना भवति करणीया ।

जीवशरीरयोः जीवपुद्गलयोर्वा कश्चिद् अभेदः स्वीकरणीय एव । अभेदस्यास्य अध्यासेन सार्धं भेदो वर्तते एव । अध्यासस्वीकरणे पुद्गलस्य अस्तित्वं सर्वथैव अस्वीकरणीयं स्यात् । अध्यासस्य स्थाने यदा व्यवहारः स्वीक्रियते तदा निश्चयव्यवहारयोर्भेदस्य प्रतिपादनं अपेक्षितं स्यात् । निश्चयनयेन नास्ति जीवशरीरयोर-भेदः । व्यवहारनयेन तु अस्त्येव सः । अत्र पुनर्भेदाभेद-योरनयोः स्वरूपं स्पष्टमवगन्तव्यम् । अस्मिन् प्रसंगे सांख्यदर्शने प्रतिपादितः प्रकृतिपुरुषयोः संबन्धः विचारणीयः । वेदान्तदर्शने वा प्रतिपादितं ब्रह्मणः सत्यत्वं जगत् सर्वथा मिथ्यात्वं चापि विवेचनीयम् । नास्ति निश्चयव्यवहारयोः सर्वथा भेदः । उभावपि सापेक्षौ । निश्चयनयेन जीवशरीरयोः ऐकान्तिकः अभेदो न स्वीकरणीयः । एवमैकान्तिको भेदोऽपि व्यवहारनयेन नैव अभ्युपगन्तव्यः । इयमनेकान्तपद्धतिरेव अध्यास-व्यवहारयोर्भेदनिरूपणे आश्रयणीया ।

मुक्त आत्मा को लक्षित कर प्रतिपादित किया गया है । संसारी आत्मा शरीरवान् भी है, जन्म-धर्मा भी है और लेपयुक्त भी है ।

आत्मा चेतन है और पुद्गल अचेतन । आत्मा अमूर्त है और पुद्गल रूप-रस-गन्ध और स्पर्श से युक्त होने के कारण मूर्त । पुद्गल का अस्तित्व व्यावहारिक नहीं है । जैसे आत्मा का अस्तित्व पारमार्थिक है वैसे ही पुद्गल का अस्तित्व भी पारमार्थिक है । इन दोनों (आत्मा और पुद्गल) में विषय-विषयी या ज्ञातृ-ज्ञेय संबंध द्रव्यात्मक नहीं, पर्यायात्मक है । हम पुद्गल को जानते हैं तब भी उसका अस्तित्व है और नहीं जानते हैं तब भी उसका अस्तित्व है । अस्तित्व स्वभाव-सापेक्ष है, ज्ञान-सापेक्ष नहीं ।

चेतन और अचेतन—दोनों विरोधी धर्म वाले हैं । इस अवस्था में उन दोनों का अस्तित्व कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न पर हमारा वक्तव्य यह है—पदार्थ परस्पर न तो सर्वथा विरोधी हैं और न सर्वथा अविरोधी । उनका विरोध और अविरोध सापेक्ष ही है । 'अस्तित्व' यह सब पदार्थों का समान धर्म है । इसकी अपेक्षा से चेतन और अचेतन में कोई विरोध नहीं है । 'चैतन्य' आत्मा में ही होता है, यह उसका विशिष्ट गुण है । रूप, रस, गंध और स्पर्श पुद्गल में ही होते हैं, इसलिए ये उसके विशिष्ट गुण हैं । जैसे विशेष धर्म की अपेक्षा से विरोध का उद्भावन किया जा सकता है, वैसे ही सामान्य गुण की अपेक्षा से अविरोध का भी उद्भावन किया जा सकता है । इस प्रकार भेदाभेद स्वभाव वाली वस्तु में अध्यास (भ्रान्त प्रतीति) की कल्पना नहीं करनी चाहिए ।

जीव और शरीर अथवा जीव और पुद्गल में कश्चिद् अभेद स्वीकार करना ही होगा । यह अभेद अध्यास से भिन्न है । अध्यास को स्वीकृत करने पर हमें पुद्गल का अस्तित्व सर्वथा अस्वीकार करना होगा । 'अध्यास' के स्थान पर यदि हम 'व्यवहार' को स्वीकार करें तो 'निश्चय' और 'व्यवहार' का भेद-प्रतिपादन अपेक्षित होता है । निश्चयनय के अनुसार जीव और शरीर में अभेद नहीं है । व्यवहारनय के अनुसार जीव और शरीर में अभेद है ही । हमें भेद और अभेद का स्वरूप भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए । इस प्रसंग में सांख्य दर्शन में प्रतिपादित प्रकृति और पुरुष का सम्बन्ध मननीय है । वेदान्त दर्शन में प्रतिपादित ब्रह्म की सत्यता और जगत् की सर्वथा अयथार्थता भी विवेचनीय है । निश्चय और व्यवहार में सर्वथा भेद नहीं है । दोनों सापेक्ष हैं । निश्चयनय की दृष्टि से जीव और शरीर में ऐकान्तिक अभेद स्वीकार नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार व्यवहारनय की दृष्टि से जीव और शरीर में ऐकान्तिक भेद भी स्वीकार नहीं किया जा सकता । अध्यास और व्यवहार के भेद-निरूपण में इस अनेकान्त पद्धति का ही आश्रय लेना अपेक्षित है ।

१. अध्यासो नाम अतस्मिन्स्त्वद्बुद्धिः, अयथार्थानुभवः ।

केवलमात्मनः सत्तायामचेतनस्य प्रत्यक्षदृष्टा हेतु-  
सिद्धा वा सत्ता कथं निवारयितुं शक्या? नैते पौद्ग-  
लिकाः पदार्थाः मनःप्रत्ययसंभवाः । यदि सर्वेपि पौद्ग-  
लिकाः पदार्थाः मानसप्रत्ययजन्मानो भवेयुः तदा  
आत्माऽपि न मानसप्रत्ययसंभव इति कः कथं वक्तुं  
शक्नुयात्? विषयस्य अनस्तित्वे विषयिणो अस्तित्वं  
कथं समर्थनीयम्? 'एते पदार्थाः' इति ज्ञानं नास्ति सत्यं  
तदा अहमस्मीति ज्ञानमस्ति सत्यं, अत्र किं साक्ष्यम्?  
अचेतनतत्त्वं चेतनतत्त्वस्य सृष्टिरिति स्वीकारे चेतनतत्त्वं  
अचेतनतत्त्वस्य सृष्टिरिति स्वीकारं निरसितुं कोऽस्ति  
तर्कः? तस्मात् चेतनाचेतनयोः द्वयोरप्यस्ति स्वतन्त्रं  
अस्तित्वम् । नैतज्जगत् केवलं चेतनतत्त्वमयं अचेतन-  
तत्त्वमयं वा । न चेतनाद् अचेतनोत्पत्तिः, न च  
अचेतनात् चेतनोत्पत्तिश्च । यदुक्तं स्थानांगे—'ण एवं  
भूतं वा भवं वा भविस्मति वा जं जीवा अजीवा  
भविस्सति, अजीवा वा जीवा भविस्सति—एवंपेमा  
लोगट्टिती पण्णत्ता ।'<sup>१</sup>

अस्ति पुद्गलस्य स्वतंत्रमस्तित्वम् । अस्ति च तस्य  
आत्मना सह योगः, अत एवात्मा संगवान् भवति ।  
यदि पुद्गलस्य स्वतंत्रमस्तित्वं न स्यात् तर्हि संगस्य  
कल्पनापि दुर्लभा भवति । मर्कटः स्वकृते सन्ताने बद्धो  
भवति, तस्य हेतुरस्ति अज्ञानम् । किन्तु सर्वज्ञः आत्मा  
सर्वथा असंगः सन् संगवान् भवतीति नास्ति हेतुगम्यम् ।  
यद्येष प्रश्नः, तदा कथं बद्ध आत्मेति सम्मतमाचारांगे?<sup>२</sup>  
अत्रास्ति वक्तव्यम्—जैतानां नास्ति कश्चिद् आत्मा  
आदितो मुक्तोऽसंगो वा । असंगः संगवान् भवतीति  
नास्ति सम्मतं, किन्तु संगवानेव विशिष्टप्रयोगेण संग-  
मुक्तो भवति । यदि संगोऽनादिकालीनस्तदा कथं तस्य  
वियोगः? इति सत्यम् । आत्मपुद्गलयोः संबन्धः  
प्रवाहपतितो अनादिकालीनः । तेन प्रवाहस्य निरोधे  
तस्यापि निरोधो भवति ।

बन्धहेतोरज्ञानं अपरिज्ञा । तस्य ज्ञानं च परिज्ञा ।  
बन्धस्य निरोधार्थं प्रयत्नः परिज्ञा । तदर्थं अप्रयत्नो  
अपरिज्ञा च । परिज्ञया बन्धस्य स्वरूपावधारणं, तस्य  
प्रवाहनिरोधश्च जायते । तदर्थं आचारांगस्य प्रवृत्तिः ।

अत्र बद्धमुक्तयोः द्विविधयोरपि आत्मनो निरूपणं  
विद्यते । यो जन्म-मरणचक्रमत्येति स मुक्तो भवति—  
'अच्चेइ जाइमरणस्स वट्टमग्गं वक्खाय-रए ।'<sup>३</sup> 'सब्बे  
सरा नियट्टिनि' अतः 'से ण सट्ठे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे,

यदि एकमात्र आत्मा का अस्तित्व स्वीकार किया जाए तो  
अचेतन का अस्तित्व, जो प्रत्यक्ष-दृष्ट और हेतु-सिद्ध है, का  
निवारण कैसे किया जा सकता है? ये पौद्गलिक पदार्थ मानसिक-  
प्रत्यय से उत्पन्न नहीं हैं । यदि सभी पौद्गलिक पदार्थ मानसिक-  
प्रत्यय से उत्पन्न हों तो आत्मा भी मानसिक-प्रत्यय से उत्पन्न नहीं  
है, यह कौन-कैसे कह सकता है? विषय के अनस्तित्व में विषयी  
के अस्तित्व का समर्थन कैसे किया जा सकता है? 'ये पदार्थ हैं'—  
यह ज्ञान यदि यथार्थ नहीं है तो 'मैं हूँ' इस ज्ञान की सत्यता का  
साक्ष्य क्या है? अचेतन तत्त्व चेतन तत्त्व की सृष्टि है, इस बात को  
स्वीकार करें तो चेतन तत्त्व अचेतन तत्त्व की सृष्टि है, इस स्वीकृति  
को निरस्त करने के लिए कौन सा तर्क है? इसलिए चेतन और  
अचेतन—दोनों का अस्तित्व स्वतंत्र है । यह जगत न केवल चेतन  
तत्त्वमय है और न केवल अचेतन तत्त्वमय । न चेतन से अचेतन  
उत्पन्न हुआ है और न अचेतन से चेतन । जैसा कि स्थानांग में  
कहा गया है—न ऐसा कभी हुआ है, न ऐसा हो रहा है और न  
ऐसा कभी होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो  
जाए । यह एक लोकस्थिति है ।

पुद्गल का अस्तित्व स्वतंत्र है । आत्मा के साथ उसका योग  
है, इसीलिए आत्मा संगयुक्त—लेपयुक्त होती है । यदि पुद्गल का  
स्वतंत्र अस्तित्व न हो तो संग की कल्पना भी दुर्लभ हो जाती है ।  
मकड़ी अपने द्वारा निर्मित जाल में फंस जाती है, उसका हेतु है  
अज्ञान । किन्तु आत्मा सर्वज्ञ है, सर्वथा असंग या निर्लेप है, फिर वह  
संगवान् या लेपयुक्त होती है, यह हेतुगम्य नहीं है । यदि यह प्रश्न  
है तो फिर 'आत्मा बद्ध है'—यह आचारांग में कैसे सम्मत हुआ ?  
इस विषय में हमारा वक्तव्य यह है—जैन दर्शन के अनुसार कोई  
भी आत्मा प्रारंभ से मुक्त या असंग नहीं है । असंग संगवान् होता  
है, यह सम्मत नहीं है । किन्तु संगवान् ही विशेष प्रयोग के द्वारा  
संगमुक्त होता है । यदि संग अनादिकालीन है तो उसका वियोग  
कैसे संभव है? यह सत्य है । आत्मा और पुद्गल का संबंध प्रवाह  
की दृष्टि से अनादिकालीन है । इसलिए प्रवाह का निरोध होने पर  
उसका भी निरोध हो जाता है ।

बंध के हेतु का अज्ञान अपरिज्ञा है और उसका ज्ञान परिज्ञा  
है । बंध के निरोध के लिए प्रयत्न करना परिज्ञा है और उसके  
लिए प्रयत्न न करना अपरिज्ञा है । परिज्ञा के द्वारा बंध के स्वरूप  
का अवधारण और उसके प्रवाह का निरोध होता है । उसके लिए  
ही आचारांग की प्रवृत्ति है ।

आचारांग में बद्ध और मुक्त—दोनों प्रकार की आत्माओं का  
निरूपण है । जो आत्मा जन्म-मरण के चक्र का अतिक्रमण करती  
है वह मुक्त हो जाती है । 'सब स्वर लौट आते हैं'—इस सूत्र से  
प्रारंभ कर 'वह न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न

१. अंगमुत्तारिण १, ठाणं, १०११ ।

२. आचारो, ३११९; ५१७२ ।

३. वही, ५११२२ ।



## उपोद्घातः

ण फासे'<sup>१</sup>—इतिपर्यन्तं मुक्तात्मनां निरूपणमस्ति । स्व-प्रमादेन अनेकरूपाणां योनीनां सन्धानं, विरूपरूपाणां स्पर्शानां प्रतिसंवेदनं, जन्ममरणधोरनुपरिवर्तनं च अस्ति बद्धानां आत्मनां निरूपणम्, यथा—'सहपमाणं अणेग-रूवाओ जोणीओ संधाति, विरूवरूवे फासे पडि-संवेदेइ ।'<sup>२</sup> 'से अबुज्झमाणे हतोवहते जाइमरणं अणुपरि-यट्टमाणे ।'<sup>३</sup>

संसारिणो जीवाः सन्ति कर्मभिर्वद्धा अत एव ते कर्माणि कुर्वन्ति, तेषां फलमनुभवन्ति च ।<sup>४</sup>

आत्मनः कर्मणश्च अनादिकालीनो योगोऽस्ति जन्म-मरणयोश्चक्रम् । एतदस्ति निश्चयनयेन अनात्मिकम् । यदनात्मिकं तद् अथात्मचक्षुषा पश्यतोऽस्ति दुःखम् । प्रस्तुतागमे दुःखं हेयं<sup>५</sup> सुखमुपादेयमिति निरूपितमस्ति । आचारशास्त्रस्य प्रधानोऽयं विषयः । ज्ञेयस्य निरूपण-मत्रास्ति प्रासंगिकम् । दुःखस्य चक्रमिदं<sup>६</sup>—

जे कोहदंसी से माणदंसी ।  
जे माणदंसी से मायदंसी ।  
जे मायदंसी से लोभदंसी ।  
जे लोभदंसी से पेज्जदंसी ।  
जे पेज्जदंसी से दोसदंसी ।  
जे दोसदंसी से मोहदंसी ।  
जे मोहदंसी से गब्भदंसी ।  
जे गब्भदंसी से जम्मदंसी ।  
जे जम्मदंसी से मारदंसी ।  
जे मारदंसी से निरयदंसी ।  
जे निरयदंसी से तिरियदंसी ।  
जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी ।

अस्य हेयत्वम्<sup>७</sup>—'से मेहावी अभिनिवट्टेज्जा कोहं च, माणं च, मायं च, लोहं च, पेज्जं च, दोसं च, मोहं च, गब्भं च, जम्मं च, मारं च, नरगं च, तिरियं च, दुक्खं च ।

कषायमूलं दुःखम् । उन्मूलिते कषायबीजे दुःखं स्वत एव उन्मूलितं भवति । अतः क्रोधादिमोहपर्यवसानस्य उन्मूलनार्थं यत्नो विधेयः । तन्नूकृते कषाये समता प्रादु-र्भवति । सा समतैव आचारांगस्य हृदयम् । अन्यानि सर्वाणि आचारतत्त्वानि तामाश्रित्यैव सन्ति सप्राणानि ।

स्पर्श है'—यहां तक मुक्त आत्माओं का निरूपण है । 'अपने प्रमाद के द्वारा अनेक रूपों वाली योनियों में जन्म लेना, विभिन्न स्पर्शों (कण्टों) का प्रतिसंवेदन करना और जन्म-मरण का अनुपरिवर्तन करना'—यह बद्ध आत्माओं का निरूपण है ।

संसारी जीव कर्मों से बंधे हुए होते हैं, इसीलिए वे कर्म करते हैं और उनके फल का अनुभव करते हैं ।

आत्मा और कर्म का अनादिकालीन योग जन्म-मरण का चक्र है । यह निश्चयनय की दृष्टि से अनात्मिक है, आत्मा का स्वभाव नहीं है । जो-जो अनात्मिक होता है वह अध्यात्म चक्षु से देखने वाले के लिए दुःख होता है । प्रस्तुत आगम में दुःख हेय और सुख उपादेय है—यह निरूपित है । यह आचारशास्त्र का प्रधान विषय है । इसमें ज्ञेय का निरूपण प्रासंगिक है । दुःख का चक्र इस प्रकार है—

जो क्रोधदर्शी है, वह मानदर्शी है ।  
जो मानदर्शी है, वह मायादर्शी है ।  
जो मायादर्शी है, वह लोभदर्शी है ।  
जो लोभदर्शी है, वह प्रेयदर्शी है ।  
जो प्रेयदर्शी है, वह द्वेषदर्शी है ।  
जो द्वेषदर्शी है, वह मोहदर्शी है ।  
जो मोहदर्शी है, वह गर्भदर्शी है ।  
जो गर्भदर्शी है, वह जन्मदर्शी है ।  
जो जन्मदर्शी है, वह मृत्युदर्शी है ।  
जो मृत्युदर्शी है, वह नरकदर्शी है ।  
जो नरकदर्शी है, वह तिर्यञ्चदर्शी है ।  
जो तिर्यञ्चदर्शी है, वह दुःखदर्शी है ।

इसकी हेयता का प्रतिपादन इस प्रकार है—'मेघावी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरक, तिर्यञ्च और दुःख को छिन्न करे ।'<sup>८</sup>

दुःख का मूल कषाय है । कषाय के बीज का उन्मूलन होने पर दुःख स्वयं उन्मूलित हो जाता है । इसलिए क्रोध से प्रारंभ कर मोह तक के उन्मूलन के लिए प्रयत्न करना चाहिए । कषाय के कृश होने पर समता प्रादुर्भूत होती है । वह समता ही आचारांग का हृदय है । दूसरे सारे आचार के तत्त्व इसी का आश्रय लेकर प्राणवान् बनते हैं ।

१. आधारी, ५१२३-१४० ।

२. वही, २।५५ ।

३. वही, २।५६ ।

४. वही, ५।१०३ ।

५. वही, ३।२ ।

६. वही, ३।८३ ।

७. वही, ३।८४ ।

## समताया द्वैविध्यम्

समता द्विविधा—स्वनिश्चिता परनिश्चिता च । राग-द्वेषयोरुपशमनेन अनुकूलप्रतिकूलपरिस्थितयोः संतुलितानु-भूतिः स्वनिश्चिता समता । सर्वे प्राणिनः सन्ति सुखैषिणः दुःखविरोधिनश्च, नातः कोऽपि हन्तव्य इति परनिश्चिता समता । स्वनिश्चितसमतायाः सिद्धयै भगवता कषायोप-शान्तेरुपदेशः कृतः । परनिश्चितसमतायाः सिद्धयै प्राणातिपातादेः विरमणं निर्दिष्टम् । संविज्ञाते अस्मिन् समताद्वैविध्ये पूर्णमाचारांगं संविज्ञातं भवति ।

## कर्म-परिज्ञा

हिंसाया मूलमस्ति कर्म । अतः पूर्वं कर्मैवास्ति विवेचनीयम् । कर्मणो द्वयर्थता विद्यते—(१) कर्म—प्रवृत्तिः, (२) कर्म—प्रवृत्तिजनितः कर्मप्रायोग्यपुद्गलानां संश्लेषः ।

‘अकरणिज्जं पापं कम्म’<sup>१</sup>—इत्यनेन स्पष्टं भवति प्रवृत्त्यात्मकं कर्म द्विविधम्—पुण्यं पापं च । पुण्यं कर्म निरवद्या प्रवृत्तिः । तदस्ति आचरणीयम् । पापं कर्म सावद्या प्रवृत्तिः, तदस्ति अनाचरणीयम् । किमस्ति पुण्यं कर्म, किमस्ति च पापं कर्म ? अस्मिन् विषये भगवता परिज्ञा प्रवेदिता—‘तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ।’<sup>२</sup> सम्यक्त्वं, विवेकः, परिज्ञा चेति समानार्थकाः । विवेकपूर्वकं प्रवृत्तिनिवृत्तिश्च परिज्ञापदस्यार्थः । जीवाऽ-जीवभेदज्ञानपूर्वकं प्रवृत्तिनिवृत्तिर्वा ‘परिज्ञा’ इत्यर्थः । सर्वाः प्रवृत्तयो निवृत्तयश्च परिज्ञया नियम्यन्ते । सत्प्रवृत्ति असन्निवृत्ति च अधिकृत्य परिज्ञोपदिश्यते पदे पदे आचारोपनिषदि । समारम्भे हिंसायां वा प्रवर्त-मानस्य नास्त्येव समारम्भपरिज्ञा । समारम्भे हिंसायां वा अप्रवर्तमानस्य समारम्भपरिज्ञा परिपाकं गता । मनसा वाचा कर्मणा वा हिंसायां प्रवर्तमानस्य न परिज्ञोदयः । त्रिविधा हिंसायां अप्रवर्तमानस्य च पूर्णपरिज्ञोदय इति तात्पर्यम् ।

अपरिज्ञा सदऽसदऽविवेकरूपा अविद्या । अपरिज्ञात-कर्मा जन्ममरणचक्रमनुपरिवर्तयति ।<sup>३</sup> परिज्ञातकर्मा तस्य विच्छेदं करोति ।<sup>४</sup> परिज्ञया प्रवर्तमानो न हिंसाया लिप्यते—‘से सव्वतो सव्वपरिण्णचारी’<sup>५</sup>, ‘ण लिप्पई छणपण्ण वीरे ।’<sup>६</sup> इति सुस्पष्टं भवति—यत्र परिज्ञया प्रवर्तते तत् कर्मास्ति पुण्यं, यत्र च अपरिज्ञया प्रवर्तते

## समता के दो प्रकार

समता दो प्रकार की है—स्वनिश्चित और परनिश्चित । राग और द्वेष के उपशमन के द्वारा अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में सन्तुलित अनुभूति करना स्वनिश्चित समता है । सब प्राणी सुख के इच्छुक और दुःख के विरोधी हैं, इसलिए कोई भी बध के योग्य नहीं है, यह आत्मदुला परनिश्चित समता है । स्वनिश्चित समता की सिद्धि के लिए भगवान् ने कषाय के उपशमन का उपदेश दिया । परनिश्चित समता की सिद्धि के लिए प्राणातिपात आदि से विरमण का निर्देश किया । समता के इन दोनों प्रकारों को भलीभांति जान लेने पर पूर्ण आचारांग भलीभांति ज्ञात हो जाता है ।

## कर्म-परिज्ञा

हिंसा का मूल है—कर्म । इसलिए पहले उसी का विवेचन किया जा रहा है । कर्म के दो अर्थ हैं—(१) प्रवृत्ति । (२) प्रवृत्ति जनित कर्म प्रायोग्य पुद्गलों का संश्लेषण ।

‘पाप कर्म अकरणीय है’—इससे स्पष्ट होता है कि प्रवृत्त्यात्मक कर्म दो प्रकार का होता है—पुण्य और पाप । पुण्य कर्म का अर्थ है निरवद्य प्रवृत्ति । वह आचरण के योग्य है । पाप कर्म का अर्थ है सावद्य प्रवृत्ति । वह अनाचरणीय है । पुण्य कर्म क्या है और पाप कर्म क्या है ? इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा का निरूपण किया है । सम्यक्त्वं, विवेक और परिज्ञा—ये एकार्थक हैं । ‘परिज्ञा’ पद का अर्थ है विवेकपूर्वक प्रवृत्ति और निवृत्ति । जीव और अजीव (चेतन और जड़) के भेदज्ञान पूर्वक प्रवृत्ति या निवृत्ति परिज्ञा है । सभी प्रवृत्तियां और निवृत्तियां परिज्ञा के द्वारा नियंत्रित होती हैं । आचार के उपनिषद् में सत् की प्रवृत्ति और असत् से निवृत्ति को अधिकृत कर स्थान-स्थान पर परिज्ञा का उपदेश दिया गया है । समारम्भ या हिंसा में प्रवृत्त व्यक्ति के समारम्भ-परिज्ञा नहीं होती । समारम्भ या हिंसा में प्रवृत्ति न करने वाले व्यक्ति के समारम्भ-परिज्ञा परिपक्व होती है । मन, वचन या शरीर से हिंसा में प्रवृत्त व्यक्ति के परिज्ञा का उदय नहीं होता । त्रिविध हिंसा में प्रवृत्ति न करने वाले के पूर्ण परिज्ञा का उदय होता है, यह इसका तात्पर्य है ।

अपरिज्ञा सत्-असत् के विवेक से शून्य अविद्या है । कर्म की परिज्ञा नहीं करने वाला व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र का अनुपरिवर्तन करता है । परिज्ञातकर्मा उसका विच्छेद करता है । परिज्ञा से प्रवृत्ति करने वाला हिंसा से लिप्त नहीं होता । ‘वह सब ओर से समग्र परिज्ञा (विवेक) के द्वारा चलता है ।’ ‘वीर पुरुष हिंसा-स्थान से लिप्त नहीं होता ।’ इससे स्पष्ट होता है कि जहाँ व्यक्ति

१. आचारो, १।१७४ ।

२. वही, १।९ ।

३. वही, १।८ ।

४. वही, १।१२ ।

५. वही, २।१७९ ।

६. वही, २।१८० ।

## उपोद्घातः

तत् कर्मास्ति पापम् ।

पुद्गलसंश्लेषात्मकं कर्मापीह सम्मतमस्ति । 'कर्मणा उपाधिः जायते' अत्र कर्मपदस्य प्रयोगः पौद्गलिक-कर्मणा संबध्नाति—'कम्भुणा उवाही जायइ ।'<sup>१</sup>

अस्य प्रतिपक्षे 'अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ'<sup>२</sup> इति-निर्दिष्टमस्ति । अनेन जीवेन अपरिज्ञया प्रमादेन वा बहूनि पापकर्माणि प्रकृतानि—'बहुं च खलु पावकम्मं पगडं ।'<sup>३</sup> हिंसादिभिः पापकर्मभिः कर्मणां बंधो भवतीति परिज्ञया तेभ्यो निर्वातितव्यम्—'इति कम्मं परिणाय सव्वसो से ण हिंसति । संजमति णो पगव्वमति ।'<sup>४</sup> उपरतो मेधावी सर्वाणि पापकर्माणि क्षपयति—'एत्थोवरए मेहावी सव्वं पावकम्मं भोसेति ।'<sup>५</sup>

## सुखदुःखयोर्विवेकः

सर्वेषां प्राणिनां जीवितं सुखं च प्रियमस्ति, वधः दुःखं च अप्रियमस्तीति<sup>६</sup> स्वाभाविकी मनोवृत्तिः निरूपिता । सुखदुःखयोः मनोवैज्ञानिकः पक्षश्चायम् । असावपि समस्ति अहिंसाया व्यावहारिक आधारः । अत एव वारं वारं उक्तम्—'भूएहि जाण पडिलेह सात'<sup>७</sup>, 'दुक्खं च जाण अदुवागमेस्स'<sup>८</sup>, 'दुक्खं लोयस्स जाणित्ता'<sup>९</sup>, 'णिज्झाइत्ता पडिलेहिन्ता पत्तेयं परिणिव्वाण'<sup>१०</sup>, 'सव्वेसि पाणाणं सव्वेसि भूयाणं सव्वेसि जीवाणं सव्वेसि सत्ताणं अस्सायं अपरिणिव्वाणं महव्वभयं दुक्खं ति वेमि ।'<sup>११</sup>

अनयोराध्यात्मिकः पक्षः—प्राणिनां सुखं प्रियमस्ति, अतस्तस्य वियोगो न कार्यः । दुःखं च अप्रियमस्ति, नातस्तस्य संयोगः कार्यः । इष्टवियोगे अनिष्टसंयोगे च आर्त्तध्यानं भवति । ते प्राणिनो न आर्त्तध्याने निमज्जनीयाः ।

अध्यात्मदृष्ट्या निश्चयनयदृष्ट्या वा किमस्ति दुःखमिति स्वाभाविकी जिज्ञासा । एनां लक्ष्यीकृत्य भगवता प्रोक्तम्—कर्मबन्धोऽस्ति दुःखम् । तत एव जीवो दुःखानामावर्त्तमनुपरिवर्त्तयति—'असमियदुक्खे दुक्खी

परिज्ञा से प्रवृत्ति करता है वह कर्म पुण्य है और जहां अपरिज्ञा से प्रवृत्ति करता है वह कर्म पाप है ।

पुद्गलों का संश्लेषणात्मक कर्म भी आचारांग में सम्मत है । कर्म से उपाधि होती है । यहां 'कर्म' पद का प्रयोग पौद्गलिक कर्म से सम्बन्ध रखता है ।

इसके प्रतिपक्ष में 'कर्ममुक्त आत्मा के लिए कोई व्यवहार नहीं होता—नाम और गोत्र का व्यपदेश नहीं होता'—ऐसा निर्देश किया गया है । इस जीव ने अपरिज्ञा या प्रमाद के द्वारा बहुत पाप कर्म किए हैं । हिंसा आदि पाप कर्मों से कर्मों का बन्ध होता है, यह जानकर परिज्ञा के द्वारा उनसे निवृत्त होना चाहिए । इस प्रकार कर्म को पूर्णरूप से जानकर वह किसी की हिंसा नहीं करता । वह इन्द्रियों का संयम करता है, उनका उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता । असंयम से उपरत मेधावी पुरुष सब पाप कर्मों का क्षय कर देता है ।

## सुख-दुःख का विवेक

सब प्राणियों को जीवन और सुख प्रिय है, वध और दुःख अप्रिय है । यह स्वाभाविक मनोवृत्ति का निरूपण है । सुख-दुःख का यह मनोवैज्ञानिक पक्ष है । यह भी अहिंसा का व्यावहारिक आधार है । इसीलिए बार-बार कहा गया—'तू जीवों के कर्म-बन्ध और कर्म-विपाक को जान और कर्म-क्षय को देख ।' 'वर्तमान अथवा भविष्य में होने वाले दुःखों को जान ।'

'पुरुष लोक के दुःख को जानकर उसके हेतुभूत कषाय का परित्याग करे ।'

'तुम प्रत्येक प्राणी की शान्ति को जानो और देखो ।'

'सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए अशान्ति अप्रिय, महाभयंकर और दुःख है ।'

इन (सुख और दुःख) का आध्यात्मिक पक्ष इस प्रकार है—प्राणियों को सुख प्रिय है इसलिए उसका वियोग नहीं करना चाहिए और दुःख अप्रिय है इसलिए उसका संयोग नहीं करना चाहिए । इष्ट का वियोग और अनिष्ट का संयोग होने पर आर्त्तध्यान होता है । उन प्राणियों को आर्त्तध्यान में निमग्न नहीं करना चाहिए ।

आध्यात्मिक या नैश्चयिक दृष्टि से दुःख क्या है, यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा है । इसे लक्षित कर भगवान् ने कहा—कर्म-बन्ध दुःख है । उसी के कारण जीव दुःखों के आवर्त्त का अनुपरि-

१. आयारो, ३।१९ ।

२. वही, ३।१८ ।

३. वही, ३।३९ ।

४. वही, ५।५१ ।

५. वही, ३।४१ ।

६. वही, २।६३, ६४ ।

७. वही, २।५२ ।

८. वही, ४।३५ ।

९. वही, ३।७७ ।

१०. वही, १।१२१ ।

११. वही, १।१२२ ।

दुःखाणामेव आवट्टं अणुपरियट्टइ ।<sup>१</sup> अत एवोक्तम्—  
दुःखस्य अग्रं मूलं च जानीहि—अग्रं च मूलं च विगिंच  
धीरे ।<sup>२</sup>

कषायमूलानि दुःखानि इत्युक्तमेव । सूत्रकारेण  
आरम्भोऽपि दुःखोत्पत्तिहेतुरुक्तः—‘आरंभजं दुःखमिणंति  
णच्चा ।<sup>३</sup> दुःखस्य कुसलाः परिज्जामुदाहरन्ति—‘ते  
सव्वे पावाइया दुःखस्स कुसला परिण्णमुदाहरन्ति ।<sup>४</sup>  
दुःखक्षयाय आवश्यकमस्ति कर्मशरीरस्य प्रकम्पनम्—  
धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं ।<sup>५</sup> ‘मुणी  
माणं समादाय धुणे कम्म-सरीरगं ।<sup>६</sup>

तस्य इमे उपायाः—

प्रथमः—अप्रमादः—‘एवं से अप्पमाएणं, विवेगं किट्टति  
वेयवी ।<sup>७</sup> ‘धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए ।<sup>८</sup>

द्वितीयः—आत्मसंप्रेक्षा—‘एगमप्पाणं संपेहाए ।<sup>९</sup>

तृतीयः—एकत्वानुप्रेक्षा—‘एगो अहमंसि, न मे अत्थि  
कोइ, न याहमवि कस्सइ, एवं से एगागिणमेव  
अप्पाणं समभिजाणिज्जा ।<sup>१०</sup> ‘ण महं अत्थित्ति  
इति एगोहमंसि ।<sup>११</sup>

चतुर्थः—अशरणानुप्रेक्षा—‘नालं ते तव ताणाए वा,  
सरणाए वा । तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा,  
सरणाए वा ।<sup>१२</sup>

पञ्चमः—अनित्यानुप्रेक्षा—‘आहारोवचया देहा,  
परिस्सह-पभंगुरा ।<sup>१३</sup> ‘से पुब्बं पेयं पच्छा पेयं  
भेउर-धम्मं, विद्धंसण-धम्मं, अधुवं, अणितियं,  
असासयं, चयावचइयं, विपरिणाम-धम्मं पासह  
एयं रूवं ।<sup>१४</sup>

षष्ठः—शरीरसंप्रेक्षा—‘जे इमस्स विग्गहस्स अयं  
खणेत्ति मन्नेसी ।<sup>१५</sup>

सप्तमः—लोकविपश्यना—‘आयतचक्खु लोगविपस्सी,  
लोगस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ,

वर्तन करता है । इसीलिए कहा है—दुःख के अग्र और मूल का  
विवेक करो ।

‘दुःखों का मूल है कषाय’—यह पहले कहा जा चुका है ।  
सूत्रकार ने आरंभ—हिंसा को भी दुःख की उत्पत्ति का हेतु बतलाया  
है; जैसे—‘दुःख हिंसा से उत्पन्न है ।’ ‘कुशल पुरुष दुःख की परिजा  
का प्रतिपादन करते हैं ।’ दुःखक्षय के लिए कर्म शरीर का प्रकंपन  
आवश्यक है ।

कर्म-शरीर को क्षीण करने के ये उपाय हैं—

पहला उपाय है—अप्रमाद—‘प्रमाद से किए हुए कर्म-बंध का विलय  
अप्रमाद से होता है—सूत्रकार ने ऐसा कहा है ।  
‘धीर पुरुष मुहुत्तमात्र भी प्रमाद न करे ।’

दूसरा उपाय है—आत्म-संप्रेक्षा—‘एक आत्मा की ही संप्रेक्षा  
करे ।’

तीसरा उपाय है—एकत्व-अनुप्रेक्षा—‘मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं,  
मैं भी किसी का नहीं हूँ । इस प्रकार वह भिक्षु  
अपनी आत्मा को एकाकी ही अनुभव करे ।  
‘मेरा कोई नहीं है, इसलिए मैं अकेला हूँ ।’

चौथा उपाय है—अशरण-अनुप्रेक्षा—‘हे पुरुष ! वे स्वजन तुम्हें  
त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं । तुम भी  
उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो ।’

पांचवां उपाय है—अनित्य-अनुप्रेक्षा—‘शरीर आहार से उपचित  
होते हैं और वे कष्ट से भग्न हो जाते हैं ।  
‘तुम इस शरीर को देखो । यह पहले या पीछे एक  
दिन अवश्य ही छूट जाएगा । विनाश और विध्वंस  
इसका स्वभाव है । यह अधुव, अनित्य और  
अशाश्वत है । इसका उपचय और अपचय होता  
है । इसकी विविध अवस्थाएं होती हैं ।’

छठा उपाय है—शरीर-संप्रेक्षा—‘इस औदारिक शरीर का यह  
वर्तमान क्षण है, इस प्रकार जो अन्वेषण करता है,  
वह सदा अप्रमत्त होता है ।’

सातवां उपाय है—लोक-विपश्यना—‘संयतचक्खु व्यक्ति लोकदर्शी  
होता है । वह लोक के अधो भाग को जानता है,

१. आहारो, २।७४ ।

२. वही, ३।३४ ।

३. वही, ४।२९ ।

४. वही, ४।३० ।

५. वही, ४।३२ ।

६. वही, २।१६३ ।

७. वही ५।७४ ।

८. वही, २।११ ।

९. वही, ४।३२ ।

१०. वही, ८।९७ ।

११. वही, ६।३८ ।

१२. वही, २।८ ।

१३. वही, ८।३५ ।

१४. वही, ५।२९ ।

१५. वही, ५।२९ ।

तिरियं भागं जाणइ ।<sup>१</sup>

अष्टमः—पश्यकशक्तेविकासः—‘अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा ।<sup>२</sup> ‘से हु एणे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे ।<sup>३</sup>

नवमः—प्रतिपक्षभावना—‘लोभं अलोभेण दुगंछ-माणे ।<sup>४</sup>

दशमः—अकर्मसाधना—‘एस अकम्मे जाणति-पासति ।<sup>५</sup>

एकादशः—अशौचानुप्रेक्षा—‘जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो ।<sup>६</sup> ‘अंतो अंतो पूतिदेहंतराणि पासति पुढोवि सबंताइ ।<sup>७</sup>

द्वादशः—अनन्यदर्शनम्—‘जे अण्णदंसी, से अण्णारामे, जे अण्णारामे, से अण्णदंसी ।<sup>८</sup>

त्रयोदशः—आतंकदर्शनम्—‘आयंकदंसी ण करेति पावं ।<sup>९</sup>

चतुर्दशः—निष्कर्मदर्शनम्—‘पलिच्छिदिया णं णिकक-म्मदंसी ।<sup>१०</sup>

पञ्चदशः—परमदर्शनम्—‘तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा ।<sup>११</sup> ‘लौयंसी परमदंसी ।<sup>१२</sup>

षोडशः—आत्मसमाधिः—‘जहा जुण्णाइं कट्ठाइं हव्व-वाहो पमत्थति, एवं अत्तसमाहिण्णं अण्णिहे ।<sup>१३</sup>

सप्तदशः—निरुद्धायुष्कसंप्रेक्षा—‘इमं णिरुद्धायुं संपेहाए ।<sup>१४</sup>

अष्टादशः—प्रकम्पनदर्शनम्—‘लौयं च पास विप्फंद-माणं ।<sup>१५</sup>

ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है ।’

आठवां उपाय है—द्रष्टाशक्ति का विकास—‘अध्यात्म तत्त्वदर्शी पुरुष वस्तुओं का परिभोग अन्यथा करे—जैसे अध्यात्म के तत्त्व को नहीं जानने वाला करता है, वैसे न करे । ‘केवल वही अपने पथ पर आरुढ़ रहता है जो लोक को भिन्न दृष्टि से देखता है—लोक-प्रवाह की दृष्टि से नहीं देखता ।’

नौवां उपाय है—प्रतिपक्षभावना का विकास—‘अलोभ से लोभ को पराजित कर देना ।’

दसवां उपाय है—अकर्म साधना—‘वह अकर्म होकर जानता-देखता है ।’

ग्यारहवां उपाय है—अशौच-अनुप्रेक्षा—‘यह शरीर जैसा भीतर है, वैसा बाहर है और जैसा बाहर है वैसा भीतर है ।’ ‘इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर पहुंच कर शरीर-धातुओं को देखता है और भरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है ।’

बारहवां उपाय है—अनन्यदर्शन—‘जो अनन्य को देखता है, वह अनन्य में रमण करता है और जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है ।’

तेरहवां उपाय है—आतंकदर्शन—‘हिंसा में आतंक देखनेवाला पुरुष परम को जानकर पाप नहीं करता ।’

चौदहवां उपाय है—निष्कर्मदर्शन—‘संयम और तप के द्वारा राग-द्वेष को छिन्न कर पुरुष निष्कामदर्शी—आत्मदर्शी हो जाता है ।’

पंद्रहवां उपाय है—परमदर्शन—‘तीन विद्याओं का ज्ञाता परम को जानता है ।’

‘लोक में परम को देखना...।’

सोलहवां उपाय है—आत्म-समाधि—‘जैसे अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला देती है, वैसे ही समाहित आत्मा वाला तथा अनासक्त पुरुष कर्म-शरीर को प्रकंपित, क्रुश और जीर्ण कर देता है ।’

सतरहवां उपाय है—निरुद्ध-आयुष्क-संप्रेक्षा—‘यह आयु सीमित है, इसकी संप्रेक्षा कर ।’

अठारहवां उपाय है—प्रकंपन-दर्शन—‘तू देख, यह लोक चारों ओर प्रकंपित हो रहा है ।’

१. आयारो, २।१२५ ।

२. वही, २।११८ ।

३. वही, ५।५० ।

४. वही, २।३६ ।

५. वही, २।३७ ।

६. वही, २।१२९ ।

७. वही, २।१३० ।

८. वही, २।१७३ ।

९. वही, ३।३३ ।

१०. वही, ३।३५ ।

११. वही, ३।३३ ।

१२. वही, ३।३८ ।

१३. वही, ४।३३ ।

१४. वही, ४।३४ ।

१५. वही, ४।३७ ।

एकोनविंशः—परिज्ञा—‘जं आउट्टिकयं कम्मं, तं परिण्णाए विवेगमेति ।’<sup>१</sup>

विंशः—आत्मनिग्रहः इन्द्रियजयो वा—‘अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ ।’<sup>२</sup>

एकविंशः—समत्वदर्शनम्—‘समत्तदंसी ण करेति पावं ।’<sup>३</sup>

‘सर्वे आत्मानः सन्ति समाः’—इतिसिद्धान्तं केन्द्रीकृत्य आचारस्य अनेके विधिनिषेधाः प्रवर्तन्ते, यथा अहिंसा—‘समयं लोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए ।’<sup>४</sup>

आचारांगे पंचमहाव्रतानां क्रमबद्धा व्यवस्था न लभ्यते, तथापि अहिंसाया इव सत्यस्य, अचौर्यस्य, ब्रह्मचर्यस्य, अपरिग्रहस्य च महत्त्वपूर्णं स्थानमस्ति—

सत्यम्—‘सच्चसि धिति कुव्वह ।’<sup>५</sup> ‘पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि ।’<sup>६</sup> सच्चस्स आणाए उवट्टिए से मेहावी मारं तरति ।’<sup>७</sup>

अचौर्यम्—‘अदुवा अदिण्णादाणं ।’<sup>८</sup> ‘अदुवा अदिन्नमाइयति ।’<sup>९</sup>

ब्रह्मचर्यम्—‘जे गुणे से मूलट्टाणे, जे मूलट्टाणे से गुणे ।’<sup>१०</sup> ‘णालं पास ।’<sup>११</sup> ‘अलं ते एएहि ।’<sup>१२</sup> ‘एयं पास मुणी ! महब्भयं ।’<sup>१३</sup>

अपरिग्रहः—‘जे ममाइय-मतिं जहाति, से जहाति ममाइयं ।’<sup>१४</sup> ‘से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं ।’<sup>१५</sup>

समतायाः भूमिका बाह्यविषयपरित्यागसम्बद्धा एव नास्ति, किन्तु सा संबध्नाति अन्तश्चेतनाम् । तस्याः सिद्धयै नैके निर्देशा उपलभ्यन्ते—

१. आहारविषये समत्वप्रयोगः—‘पंतं लूहं सेवति

उ-नीसवां उपाय है—परिज्ञा—‘अविधिपूर्वकं प्रवृत्ति करते हुए जो कर्म-बंध होता है, उसका विलय परिज्ञा के द्वारा होता है ।’

बीसवां उपाय है—आत्म-निग्रह अथवा इन्द्रिय-जय—‘आत्मा का ही निग्रह करो ।’

इकीसवां उपाय है—समत्वदर्शन—‘समत्वदर्शी पुरुष पाप नहीं करता ।’

‘सभी आत्माएं समान हैं’—इस सिद्धांत को केन्द्र में रखकर आचारशास्त्र के अनेक विधि-निषेध प्रवृत्त होते हैं जैसे— अहिंसा के विषय में—‘सब आत्माएं समान हैं, यह जानकर पुरुष समूचे जीव-लोक की हिंसा से उपरत हो जाए ।’

आचारांग में महाव्रतों की क्रमबद्ध व्यवस्था उपलब्ध नहीं है। फिर भी अहिंसा की भांति सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैसे—

सत्य के विषय में—

‘पुरुष ! तू सत्य में धृति कर ।’

‘पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर ।’

‘जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है, वह मेधावी मृत्यु अथवा कामनाओं को तर जाता है ।’

अचौर्य के विषय में—

‘पर प्राणी का प्राण-वियोजन करना अदत्तादान है ।’

‘अथवा वे अदत्त का ग्रहण करते हैं ।’

ब्रह्मचर्य के विषय में—

‘जो विषय है, वह आधार है। जो आधार है वह विषय है ।’

‘तू देख, ये भोग तृप्ति देने में समर्थ नहीं हैं ।’

‘फिर भोगों से तुम्हारा क्या प्रयोजन ?’

‘ज्ञानिन् ! तू देख, कामभोग महाभयंकर हैं ।’

अपरिग्रह के विषय में—

‘जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है ।’

‘जिसके पास परिग्रह नहीं है, उसी ने पय को देखा है ।’

समता की भूमिका बाह्य विषयों के परित्याग से ही संबद्ध नहीं है, किन्तु उसका संबंध अन्तश्चेतना से है। समता की सिद्धि के लिए अनेक उपाय प्राप्त होते हैं—

१. आहार के विषय में समता का प्रयोग—‘समत्वदर्शी वीर पुरुष

१. आत्यारो, ५।७३ ।

२. वही, ३।६४ ।

३. वही, ३।२८ ।

४. वही, ३।३ ।

५. वही, ३।४० ।

६. वही, ३।६५ ।

७. वही, ३।६६ ।

८. वही, १।५८ ।

९. वही, ८।४ ।

१०. वही, २।१ ।

११. वही, २।९७ ।

१२. वही, २।९८ ।

१३. वही, २।९९; इष्टव्याजि ५।७५-८८ सूत्राणि ।

१४. वही, २।१५६ ।

१५. वही, २।१५७ ।

- वीरा समत्तदंसिणो ।<sup>१</sup>  
 २. लाभालाभयोः समत्वम्—‘लाभो त्ति न मज्जे-ज्जा ।’<sup>२</sup> ‘अलाभो त्ति ण सोयए ।’<sup>३</sup>  
 ३. प्रियाप्रिययोः समत्वम्—‘सुब्धि अदुवा दुब्धि ।’<sup>४</sup>  
 ‘का अरई ? के आणंदे ? एत्थं पि अग्गहे चरे ।  
 सव्वं हासं परिच्चज्ज, आलीणगुत्तो परिव्वए ।’<sup>५</sup>

जीवनस्य नानाव्यवहारपक्षेषु समत्वमाचरन् पुरुषः  
 अध्यात्म-प्रसादं प्राप्नोति—समयं तत्सुवेहाए, अप्पाणं  
 विप्पसायए ।<sup>६</sup>

समत्वं वस्तुतः समाधिः निर्विचारावस्था वा ।  
 तस्यामवस्थायामेव अन्तरात्मा प्रसीदति ।<sup>७</sup>

प्रस्तुतागमे पदार्थस्यार्थे ‘रूप’ शब्दस्य प्रयोगो  
 दृश्यते—‘विरागं रुवेहि गच्छेज्जा, महया खुड्डुएहि  
 वा ।’<sup>८</sup> अस्मिन्नर्थे ‘दृष्ट’ शब्दस्य प्रयोगोऽपि विद्यते—  
 ‘दिट्ठेहि णिव्वेयं गच्छेज्जा ।’<sup>९</sup>

वैराग्यनिर्वेदावपि समतायाः सहचरावेव । समता  
 सम्यक्त्वं वा आध्यात्मिको धर्मः—‘समियाए धम्मे,  
 आरिएहि पवेदिते ।’<sup>१०</sup> एवं धर्ममादृत्य जीवा दुःखाद्  
 जन्ममरणचक्राद् वा मोक्षं लभन्ते । समताधर्मोऽयं  
 संवरनिर्जराभ्यां विभक्तोऽस्ति । संवरेण दुःखहेतूनां  
 निरोधो भवति । निर्जरया च दुःखं क्षीणं भवति । अनया  
 प्रणाल्या दुःखमोक्षः प्रजायते—‘आयाणं णिसिद्धा  
 सगडब्धि ।’<sup>११</sup>

भगवता महावीरेण आवरणानि अभिभूय पश्यकत्वं  
 लब्धम् । सति पश्यकत्वे यद् दृष्टं तदुपदर्शितम् । अत  
 एव एतद् दर्शनं पश्यकस्य दर्शनं विद्यते—‘एयं पासगस्स  
 दंसणं उवरयसत्थस्स पलियंतकरस्स ।’<sup>१२</sup>

प्रान्त और रूक्ष आहार आदि का सेवन करते हैं ।’

२. लाभ-अलाभ में समता—‘आहार का लाभ होने पर मद न  
 करे ।’

‘आहार का लाभ न होने पर शोक न करे ।’

३. प्रिय-अप्रिय में समता—‘मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्दों को समभाव  
 से सहन करे ।’

‘साधक के लिए क्या अरति और क्या आनन्द ? वह अरति और  
 आनन्द के विकल्प को ग्रहण न करे । वह हास्य आदि सभी  
 प्रमादों को त्याग, इन्द्रिय-विजय कर तथा मन-वचन-काया का  
 संवरण कर परिब्रजन करे ।’

जीवन के अनेक व्यावहारिक पक्षों में समता का आचरण  
 करता हुआ व्यक्ति अध्यात्म-प्रसाद—चित्त की प्रसन्नता को प्राप्त  
 होता है ।—‘पुरुष जीवन में समता का आचरण कर अपने चित्त  
 को प्रसन्न करता है ।’

समता का वास्तविक अर्थ है—समाधि, निर्विचार अवस्था ।  
 उसी अवस्था में अन्तरात्मा में प्रसन्नता फूटती है ।

प्रस्तुत आगम में पदार्थ के अर्थ में ‘रूप’ शब्द का प्रयोग  
 मिलता है ।—‘पुरुष छोटे या बड़े—सभी प्रकार के रूपों—पदार्थों  
 के प्रति वैराग्य धारण करे ।’

पदार्थ के अर्थ में ‘दृष्ट’ शब्द का भी प्रयोग प्राप्त है—‘पुरुष  
 दृष्ट—पदार्थों या विषयों के प्रति विरक्त रहे ।’

वैराग्य और निर्वेद—ये दोनों भी समता के सहचारी हैं ।  
 समता का अर्थ है सम्यक्त्व अथवा आध्यात्मिक धर्म । ‘तीर्थंकरों  
 ने समता में धर्म कहा है ।’ इस समता धर्म को स्वीकार कर जीव  
 दुःख और जन्म-मरण के चक्र से छूट जाते हैं । यह समता धर्म दो  
 भागों में विभक्त है—संवर और निर्जरा । संवर धर्म से दुःख के  
 हेतुओं का निरोध होता है और निर्जरा धर्म से दुःख का क्षय होता  
 है । इसी प्रणाली से दुःख का मोक्ष होता है—‘जो कर्म के  
 उपादान—राग-द्वेष को रोकता है, वही अपने किए हुए कर्मों का  
 भेदन कर पाता है ।’

भगवान् महावीर आवरण—घात्यकर्मों का क्षय कर द्रष्टा-  
 भाव को प्राप्त हुए । द्रष्टा होने के पश्चात् जो कुछ उन्होंने देखा—  
 अनुभव किया उसका उन्होंने उपदेश दिया । इसीलिए यह जैन  
 दर्शन द्रष्टा का दर्शन है—यह अहिंसक और निरावरण द्रष्टा का  
 दर्शन है ।

१. आपारो, २।१६४; द्रष्टव्यं—८।१०१ सूत्रम् ।

२. वही, २।११४ ।

३. वही, २।११५ ।

४. वही, ६।४५ ।

५. वही, ३।६१ ।

६. वही, ३।५५ ।

७. तुलना—पातञ्जलयोगदर्शन १।४७ ।

८. आपारो, ३।५७ ।

९. वही, ४।६ ।

१०. वही, ८।३१ ।

११. वही, ३।८६ ।

१२. वही, ३।८५ ।

आचारांगं प्राधान्येन आचारप्रतिपादकं शास्त्र-  
मस्ति । तेन अस्मिन् द्रव्यमीमांसा नास्ति प्रधाना ।  
तथापि आचारस्य आधारभूता तत्त्वद्वयी—जीवः  
पुद्गलश्च यथास्थानमस्ति निर्दिष्टा । जीवशब्दस्य  
प्रयोगः अनेकवारं दृश्यते ।<sup>१</sup> जैनद्रव्यमीमांसायां अजीव-  
द्रव्यं पञ्चधा विभक्तमस्ति—धर्मास्तिकायः, अधर्मास्ति-  
कायः, आकाशास्तिकायः, पुद्गलास्तिकायः, कालश्च ।  
प्रस्तुतविषये केवलं पुद्गलास्तिकायस्यैव संबन्धः ।

आचारांगे 'पुद्गल' पदं नास्ति क्वचित् प्रयुक्तम् ।  
किन्तु तस्य गुणात्मकं निरूपणमुपलभ्यते—'जसिस्मे सद्दा  
य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया  
भवंति, से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं ।'<sup>२</sup> 'से ण  
सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे ।'<sup>३</sup>

जीवपुद्गलयोः मूर्त्ताऽमूर्त्तविभागोऽपि प्रदर्शितोऽस्ति  
—'अरूवी सत्ता ।'<sup>४</sup> दिट्ठेहि णिव्वेयं गच्छेज्जा ।'<sup>५</sup>

वैदिकसाहित्येऽपि मूर्त्ताऽमूर्त्तविभागो लभ्यते ।<sup>६</sup>  
सांख्यदर्शने आत्मा अमूर्त्तः प्रकृतिश्च मूर्त्तः । आकाशश्च  
प्रकृतिविकार एव, ततः स मूर्त्त एव । बौद्धदर्शने तत्त्वानि  
अव्याकृतानि । तेन नास्ति तत्र मूर्त्ताऽमूर्त्तयोर्विभागः ।

प्रस्तुतागमे दर्शनस्य मूलबीजानामन्वेषणा कर्तुं  
शक्या, किन्तु अस्याधारेण तस्य रूपरेखा निर्धारयितुं न  
शक्या इत्यस्माकं अभिमतम् ।

आचारांग मुख्यतः आचार का प्रतिपादक शास्त्र है । इसलिए  
इसमें द्रव्य मीमांसा प्रधान नहीं है । फिर भी आचारशास्त्र  
के आधारभूत दो तत्वों—जीव और पुद्गल—का यथास्थान  
निर्देश प्राप्त होता है । प्रस्तुत आगम में 'जीव' शब्द का प्रयोग  
अनेक बार हुआ है । जैन द्रव्य-मीमांसा में अजीव द्रव्य के पांच  
प्रकार निर्दिष्ट हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय  
पुद्गलास्तिकाय और काल । प्रस्तुत विषय में केवल पुद्गलास्तिकाय  
का ही संबंध है ।

आचारांग में 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग कहीं प्राप्त नहीं है,  
किन्तु उसके गुणात्मकरूप का वर्णन प्राप्त होता है, जैसे—'जो पुरुष  
इन शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्शों को भलीभांति जान लेता है,  
उन्में राग-द्वेष नहीं करता, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्,  
धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है ।' 'आत्मा न शब्द है, न रूप है, न  
गन्ध है, न रस है और न स्पर्श है ।'

प्रस्तुत सूत्र में जीव और पुद्गल के मूर्त्त और अमूर्त्त—ये दो  
विभाग भी प्रदर्शित हैं—'जीव अमूर्त्त है ।' 'जो दृष्ट—अजीव है,  
उनमें विरक्त रहे ।'

वैदिक साहित्य में भी मूर्त्त और अमूर्त्त का विभाग प्राप्त  
होता है । सांख्य दर्शन में आत्मा को अमूर्त्त और प्रकृति को मूर्त्त  
माना है । 'आकाश' प्रकृति का ही विकार है, अतः वह मूर्त्त ही है ।  
बौद्ध दर्शन में सभी तत्त्व अव्याकृत हैं । इसलिए मूर्त्त और अमूर्त्त  
का विभाग वहाँ नहीं है ।

प्रस्तुत आगम में दर्शन के मूल बीजों को खोजा जा सकता  
है, किन्तु इसके आधार पर उसकी रूपरेखा निर्धारित नहीं की जा  
सकती है, यह हमारा अभिमत है ।

१. आयासो, १।५४, ५५, १२२; ४।१, २०, २२, २३, २६;

६।१०३, १०४, १०५; ८।१७, २१, २२, २३, २४ ।

२. वही, ३।४ ।

३. वही, ५।१४० ।

४. वही, ५।१३८ ।

५. वही, ४।६ ।

६. (क) बृहदारण्यक २।३।१—'द्वे वा व ब्रह्मणो रूपे,  
मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च ।'

(ख) शतपथब्राह्मण १।४।३।१—'द्वे एव ब्रह्मणो रूपे,  
मूर्त्तञ्चैवामूर्त्तञ्च ।'

(ग) विष्णुपुराण १।२२।५३—'द्वे रूपे ब्रह्मणो रूपे,  
मूर्त्तञ्चामूर्त्तमेव च ॥'



**पढमं अज्झयणं  
सत्थपरिण्णा**

**पहला अध्द्ययन  
शस्त्रपरिज्जा**

**[उद्देशक ७ सूत्र १७७]**



## आमुखम्

प्रस्तुताध्ययनस्य नामास्ति 'शस्त्रपरिज्ञा' ।<sup>१</sup> अस्य प्रतिपाद्यो विषयो 'जीवसंयमः' ।<sup>२</sup> स च अहिंसा । उक्तं च दशवैकालिकसूत्रे—'अहिंसा निउणं दिट्ठा, सव्वभूएसु संजमो ।'<sup>३</sup>

निर्युक्तिकृता अस्य चत्वारोऽर्थाधिकाराः प्रतिपादिताः<sup>४</sup>—

१. जीवः ।
२. षड्जीवकायप्ररूपणा ।
३. बन्धः ।
४. विरतिः ।

एते अर्थाधिकाराः जैनदर्शनस्य आचारशास्त्रीयं दृष्टिकोणमुपस्थापयन्ति । आचारः—परिज्ञा विरतिः संयमो वा । स च सप्तदशविधः । तत्र नवविधः संयमः षड्जीवनिकायमाश्रित एव ।<sup>५</sup> स च जीवास्तित्वावबोधे सति भवति । तेन संयमस्याधारभूताश्चत्वारो वादा उपनताः—आत्मवादः, लोकवादः, कर्मवादः, क्रियावादश्च ।<sup>६</sup> जीवस्यास्तित्वं तत्र प्रतिपक्षभूतस्याजीवस्य अस्तित्वं विना न हि सिद्धयति ।

तेन आत्मवादवल्लोकवादोऽपि संयमस्याधारभूतोऽस्ति ।<sup>७</sup> सप्तदशविधे संयमे दशमः संयमः अजीवकायसंयम एव । कर्मवादो बन्धं समाश्रितः । बन्धस्य हेतुः क्रियावादः ।<sup>८</sup>

आचारांगं ब्रह्मचर्यस्य प्रतिपादकमस्ति ।<sup>९</sup> ब्रह्मचर्यम्—आत्मविद्या तदाश्रितमाचरणं वा । एतस्मिन् अध्यात्मशास्त्रे विरतिरेव आचाररूपेण स्वीकृतास्ति ।

कर्मसमारम्भपरिज्ञा विरतिः ।<sup>१०</sup> विरतिमूलकस्य आचारस्य इयमेव निष्पत्तिः—मुनिना कर्मसमारम्भपरिज्ञा कर्तव्या ।

१. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ३१ ।
२. वही, गाथा ३३ ।
३. दसवेआलियं, ६।८ ।
४. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ३५ :

जीवो छक्कायपरुवणा य तेसि बहे य बंधोत्ति ।  
विरईए अहिंकारो, सत्थपरिण्णाए णायश्वो ॥

५. अंगसुत्ताणि १, समवाओ १७।२ :

सत्तरसविहे संजमे पण्णत्ते, तं जहा—पुठवीकायसंजमे  
आउकायसंजमे तेउकायसंजमे वाउकायसंजमे वणत्सइ-  
कायसंजमे वेइदियसंजमे तेइदियसंजमे चउरिदियसंजमे

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है 'शस्त्रपरिज्ञा ।' इसका प्रतिपाद्य विषय है जीव-संयम और वह है अहिंसा । दशवैकालिक सूत्र में कहा है—'महावीर ने सूक्ष्म रूप से देखा है, सब जीवों के प्रति संयम रखना अहिंसा है ।'

निर्युक्तिकार ने इसके चार अर्थाधिकारों का प्रतिपादन किया है—

१. जीव ।
२. षड्जीवकाय-प्ररूपणा ।
३. बन्ध ।
४. विरति ।

ये अर्थाधिकार जैन दर्शन के आचारशास्त्रीय दृष्टिकोण को प्रस्थापित करते हैं । आचार का अर्थ है—परिज्ञा, विरति अथवा संयम । संयम सतरह प्रकार का है । उसमें नौ प्रकार का संयम षड्जीवनिकाय से संबंधित है । वह संयम जीव का अस्तित्व-बोध होने पर होता है । इस विमर्श से संयम के आधारभूत चार वादों का प्रतिपादन हुआ—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद । जीव का प्रतिपक्षी है अजीव । जीव का अस्तित्व अजीव के अस्तित्व के बिना सिद्ध नहीं होता ।

इसलिए आत्मवाद की भांति लोकवाद भी संयम का आधारभूत तत्त्व है । सतरह प्रकार के संयम में दसवां प्रकार है—अजीवकाय संयम । कर्मवाद का आधार है बंध । बन्ध का हेतु है—क्रियावाद ।

आचारांग सूत्र ब्रह्मचर्य का प्रतिपादक है । ब्रह्मचर्य का अर्थ है—आत्मविद्या या आत्मविद्याश्रित आचरण । इस अध्यात्मशास्त्र में विरति को ही आचाररूप में स्वीकृत किया गया है ।

कर्मसमारम्भ की परिज्ञा—विवेक करना विरति है । विरति-मूलक आचार की यही निष्पत्ति है—मुनि को कर्मसमारम्भ की परिज्ञा करनी चाहिए ।

- पंचिदियसंजमे अजीवकायसंजमे पेहासंजमे उपेहासंजमे  
अवहट्टसंजमे पमज्जणासंजमे मणसंजमे वइसंजमे कायसंजमे ।
६. आयारो, १।५ ।
७. द्रष्टव्यं—आयारो १।५ का टिप्पण ।
८. आयारो, १।६ ।
९. अंगसुत्ताणि १, समवाओ, १।३ : नव बंधचेरा पण्णत्ता, तं  
जहा—संगहणी गहा—  
सत्थपरिण्णा सोगविजओ, सोओसणिज्जं सम्मत्तं ।  
आवन्ती धुत्तं बिमोहायणं, उवहाणसुयं महपरिण्णा ॥
१०. आयारो, १।७ ।

उपनिषत्सु जीवास्तित्वविषये चर्चितमस्ति, किन्तु प्रस्तुताध्ययने निरूपितः षड्जीवनिकायसिद्धांतः सर्वथा मौलिकः । त्रसकायजीवानामन्यत्रापि प्रतिपादनं लभ्यते, क्वचित् क्वचित् वनस्पतिकायजीवानामपि, किन्तु शेष-जीवनिकायानां प्रतिपादनं सर्वथा मौलिकमस्ति । सूत्रकृतांगादिषु<sup>१</sup> तत उत्तरवर्तिषु आगमेष्वपि<sup>२</sup> एषैव षड्जीवनिकायव्यवस्था समादृतास्ति ।

स्थावरजीवकायानां वेदानानिरूपणमपि सर्वथा मौलिकमस्ति । मनुष्यशरीरेण सह वनस्पतिशरीरस्य तुलनापि ध्यानमाकर्षति विदुषाम् । शस्त्रसिद्धांतोऽपि गवेषणाया महत्तां सूचयति । निर्युक्तिकृता यथा शस्त्रस्य विस्तरः कृतः जीवत्वसिद्धयै च हेतुवादस्य पद्धति-रालंबिता, तत्रापि सहज ध्यानमाकृष्टं भवति । एव-मेतदध्ययनं अनेकाभिर्दृष्टिभिरत्यन्तं महत्त्वपूर्णमस्ति ।

उपनिषदों में जीव के अस्तित्व के विषय में चर्चा हुई है, किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में निरूपित षड्जीवनिकाय का सिद्धांत सर्वथा मौलिक है । त्रसजीवों का प्रतिपादन अन्यत्र भी प्राप्त होता है और कहीं-कहीं वनस्पतिकाय जीवों की चर्चा भी मिलती है, किन्तु शेष जीवनिकायों का प्रतिपादन सर्वथा मौलिक है । सूत्रकृतांग आदि तथा उसके उत्तरवर्ती आगमों में भी षड्जीवनिकाय की यही व्यवस्था स्वीकृत हुई है ।

स्थावर जीव-निकायों का वेदाना-निरूपण भी सर्वथा मौलिक है । मनुष्य-शरीर के साथ वनस्पति-शरीर की तुलना भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करती है । इन जीवनिकायों के शस्त्र का सिद्धांत भी गवेषणा की महत्ता सूचित करता है । निर्युक्तिकार ने जिस प्रकार शस्त्र का विस्तार से प्रतिपादन किया है और जीवत्व-सिद्धि के लिए हेतुवाद की पद्धति का आलम्बन लिया है, उस ओर भी ध्यान सहज आकृष्ट होता है । इस प्रकार यह अध्ययन अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

## पढमं अज्जयणं : सत्थपरिण्णा

### पहला अधययन : शस्त्रपरिज्ञा

#### पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

१. सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमवखायं—इहमेगेसि नो सण्णा भवइ, तं जहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उट्ठाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहे वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि ।

सं०—श्रुतं मया आयुष्मन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्—इह एकेषां नो संज्ञा भवति, तद् यथा—पौरस्त्याया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, दक्षिणस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, पाश्चात्याया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, उत्तरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, ऊर्ध्वाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अधो वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि ।

आयुष्मन् ! मीने सुना है । भगवान् ने यह कहा—इस जगत् में कुछ मनुष्यों को यह संज्ञा नहीं होती, जैसे—मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, अथवा मैं दक्षिण दिशा से आया हूँ, अथवा मैं पश्चिम दिशा से आया हूँ, अथवा मैं उत्तर दिशा से आया हूँ, अथवा मैं ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ, अथवा मैं अधो दिशा से आया हूँ, अथवा मैं किसी अन्य दिशा से आया हूँ, अथवा मैं अनुदिशा से आया हूँ ।

२. एवमेगेसि णो णातं भवति—अत्थि मे आया ओववाइए, गत्थि मे आया ओववाइए, के अहं आसी ? के वा इओ च्चओ इह पेच्चा भविस्सामि ?

सं०—एवं एकेषां नो ज्ञातं भवति—अस्ति मे आत्मा औपपातिकः, नास्ति मे आत्मा औपपातिकः, कोऽहं आसम् ? को वा इतश्च्युतः इह प्रेत्य भविष्यामि ?

इसी प्रकार कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात नहीं होता—मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है, अथवा मेरी आत्मा पुनर्जन्म नहीं लेने वाली है, मैं (पिछले जन्म में) कौन था ? मैं यहां से च्युत होकर अगले जन्म में क्या होऊंगा ?

३. सेज्जं पुण जाणेज्जा—सहसम्मुइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसि वा अंतिए सोच्चा, तं जहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दक्खिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उट्ठाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहे वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अण्णयरीओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि ।

सं०—स यत् पुनः जानीयात्—स्वस्मृत्या, परव्याकरणेन, अन्येषां वा अन्तिके श्रुत्वा, तद् यथा—पौरस्त्याया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, दक्षिणस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, पाश्चात्याया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, उत्तरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, ऊर्ध्वाया वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अधो वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अन्यतरस्या वा दिशाया आगतोऽहमस्मि, अनुदिशाया वा आगतोऽहमस्मि ।

कोई मनुष्य १. स्व-स्मृति से, २. पर—आप्त के निरूपण से अथवा ३. अन्य (आप्त के अतिरिक्त) विशिष्ट ज्ञानी के पास सुनकर यह जान लेता है, जैसे—मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, अथवा मैं दक्षिण दिशा से आया हूँ, अथवा मैं पश्चिम दिशा से आया हूँ, अथवा मैं उत्तर दिशा से आया हूँ, अथवा मैं ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ, अथवा मैं अधो दिशा से आया हूँ, अथवा मैं किसी अन्य दिशा से आया हूँ, अथवा मैं अनुदिशा से आया हूँ ।

४. एवमेगेसि जं णातं भवइ—अत्थि मे आया ओववाइए । जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सोहं ।

सं०—एवमेकेषां यज्जातं भवति—अस्ति मे आत्मा औपपातिकः । यः अस्या दिशाया अनुदिशाया वा अनुसंचरति, सर्वस्या दिशायाः सर्वस्या अनुदिशाया यः आगतः अनुसंचरति सोऽहम् ।

इसी प्रकार कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात होता है—मेरी आत्मा पुनर्जन्मधर्मा है । जो इन दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण करती है, जो सब दिशाओं और सब अनुदिशाओं से आकर अनुसंचरण करती है, वह मैं हूँ ।

### भाष्यकर्तुः मंगलाचरणम्

विशुद्धं विशदात्मनं, परमात्मानमात्मना ।  
सन्निधिं सहजं नीत्वा, तनोम्याचारमद्भुतम् ॥

भाष्यम् १-४—सुधर्मा गणधरः जम्बूस्वामिनं एवमाह—  
आयुष्मन् ! मया साक्षाद् भगवतः सकाशात् श्रुतम् ।  
यदहं ब्रवीमि तन्न स्वमनीषिकाप्रकल्पितं किन्तु तत् तेन  
भगवता महावीरेण स्वयमेवमाख्यातम्—

अस्ति जन्म । अस्ति मृत्युः । नात्र कस्यचित् कश्चित्  
संदेहः । प्रत्यक्षमिदं घटते सर्वेषाम् । यो जातः स पूर्वमपि  
मृतोऽस्ति । यो मृतः स मरणोत्तरं जन्म प्राप्स्यति । इदं  
नास्ति प्रत्यक्षम् । तेनात्र परोक्षे विषये सन्देहस्यावकाशः ।  
अमुं संदेहं समाश्रित्य केचित् प्रत्यक्षवादिनः जन्म मृत्युं  
च अभूतपूर्वमेव मन्वते—नातः पूर्वं जन्म जातम्, जन्मनः  
अभावे मृत्योरपि का कथा ।

केचित् तत्त्वदर्शिनः जन्म मृत्युञ्च साक्षात्कर्तुमभ्या-  
समकृषत । सतताभ्यासेन ते साक्षात्कारभूमिकामारूढा  
अभवन् । तैर्लब्धमिदम्—जन्मनो मृत्योश्च प्रवाहश्चिरन्त-  
नोऽस्ति । तस्यानुभूत्यनन्तरं तैरुद्धोषणा कृता—अस्ति  
पूर्वजन्मनः पुनर्जन्मनश्च केषाञ्चित् संज्ञानम् । केषा-  
ञ्चिदिदं संज्ञानं नास्ति ।

उक्तञ्च वृत्तौ—तत्राऽसंज्ञानां नैषोऽवबोधोऽस्ति ।  
संज्ञानामपि केषाञ्चिद् भवति, केषाञ्चिन्नेति, यथा—  
अहममुष्या दिशः समागतो इहेति ।' सूत्रकारः अस्माद्  
बिन्दोरेव स्वप्रवचनं प्रारभते—

‘पौरस्त्यायाः दिशः आगतोऽहमस्मि,  
दाक्षिणात्यायाः दिशः आगतोऽहमस्मि,  
पाश्चात्यायाः दिशः आगतोऽहमस्मि,  
औदीच्यायाः दिशः आगतोऽहमस्मि,  
ऊर्ध्वतो दिशः आगतोऽहमस्मि,  
अधो वा दिशः आगतोऽहमस्मि,  
अन्यतरस्याः दिशः आगतोऽहमस्मि,  
अनुदिशो वा आगतोऽहमस्मि ।’

१. आचारांग वृत्ति, पत्र १४ ।

### भाष्यकर्ता का मंगलाचरण

मैं विशुद्ध और विशद आत्म-स्वरूप परमात्मा का अपने आत्मभाव  
से सहज सान्निध्य प्राप्त कर विरल आचारांग के भाष्य की रचना  
कर रहा हूँ ।

गणधर सुधर्मा ने जम्बूस्वामी से कहा—‘आयुष्मन् ! मैंने  
भगवान् से साक्षात् सुना है । मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह मेरी  
बुद्धि से प्रकल्पित नहीं है किन्तु भगवान् महावीर ने स्वयं ही  
उसका प्रतिपादन किया है—

जन्म होता है और मृत्यु होती है । इसमें किसी को कोई  
संदेह नहीं है । यह सबके सामने घटित होने वाली घटना है । जो  
जन्मा है वह पहले मरा भी है । जो मरा है वह मरण के बाद  
जन्म लेगा, यह प्रत्यक्ष नहीं है । इसलिए इस परोक्ष विषय में  
संदेह का अवकाश है । इस संदेह के आधार पर कुछ प्रत्यक्षवादी  
जन्म और मृत्यु को अभूतपूर्व ही मानते हैं । वे कहते हैं—इस जन्म  
से पूर्व कोई जन्म नहीं हुआ और जन्म के अभाव में मृत्यु का  
प्रश्न ही नहीं उठता ।

कुछ तत्त्वदर्शी पुरुषों ने जन्म और मृत्यु से साक्षात्कार करने  
का अभ्यास किया । निरन्तर अभ्यास से वे साक्षात्कार की भूमिका  
तक पहुँचे । उन्होंने यह पाया कि जन्म और मृत्यु का प्रवाह  
चिरन्तन है । उसकी अनुभूति के बाद उन्होंने यह उद्धोषणा की  
कि कुछ मनुष्यों को पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का संज्ञान होता है ।  
कुछ को इनका संज्ञान नहीं होता ।

आचार्य शीलान्क ने वृत्ति में कहा है—अमनस्क प्राणियों को  
यह अवबोध नहीं होता । समनस्क प्राणियों में भी सबको यह अवबोध  
नहीं होता—कुछ को होता है, कुछ को नहीं होता कि मैं यहाँ अमुक  
दिशा से आया हूँ । सूत्रकार इसी बिन्दु से अपना प्रवचन प्रारंभ  
करते हैं—

‘मैं पूर्व दिशा से आया हूँ,  
अथवा मैं दक्षिण दिशा से आया हूँ,  
अथवा मैं पश्चिम दिशा से आया हूँ,  
अथवा मैं उत्तर दिशा से आया हूँ,  
अथवा मैं ऊर्ध्व दिशा से आया हूँ,  
अथवा मैं अधो दिशा से आया हूँ,  
अथवा मैं किसी अन्य दिशा से आया हूँ,  
अथवा मैं अनुदिशा (विदिशा) से आया हूँ ।’

एष पूर्वजन्म-पुनर्जन्म-प्रश्नः न केवलमात्मवादिनः कृते किन्तु प्रत्येकं मतिमतः कृते सर्वाधिको महत्त्व-पूर्णोऽस्ति । अस्योपेक्षां कृत्वा वयं जीवनमृत्युविषयकं सत्यमपलपामः । अमुं प्रश्नं विना दर्शनस्य जन्मापि कृतो भवेत् ? किमात्मा शरीरात् पृथक्कर्तुं शक्यः ? यदि नास्ति शक्यः, तदा पूर्वजन्म-पुनर्जन्मकथा न वास्तविकी । यदि स शरीरात् पृथक्कर्तुं शक्यस्तदानीमेव तस्य शरीरेण सह अभेदो नास्तीति प्रत्येतुं शक्यम् ।

अस्ति मे आत्मा औपपातिकः ? नास्ति मे आत्मा औपपातिकः ?<sup>१</sup> पूर्वजन्मनि कोऽहमासम् ? इतश्च्युत्वा परलोके कोऽहं भविष्यामि ? इति संज्ञापि सर्वेषां न हि भवति । 'कोऽहमासम्' इति पूर्वजन्मसंज्ञाया विचय-सूत्रम् । 'परलोके कोऽहं भविष्यामि' इति भाविजन्म-संज्ञाया विचयसूत्रम् ।

किमेषा संज्ञा शक्यास्ति ? इतिज्ञासायां भगवता महावीरेण प्रतिपादितम्—पूर्वजन्मनः पुनर्जन्मनश्च संज्ञानं कर्तुं शक्यमस्ति । एतच्छक्यताप्रतिपादने त्रयो हेतवः सन्ति निर्दिष्टाः—

१. स्वस्मृतिः ।<sup>२</sup>
२. परव्याकरणम् ।
३. अन्येषामन्तिके श्रवणम् ।

स्वस्मृतिः

एष प्रथमो हेतुः । केचिच्छिवः बाल्यावस्थायामेव पूर्वजन्मनः सहजां स्मृतिं प्राप्ता भवन्ति । इदानीन्तनैः परामनोवैज्ञानिकैः पूर्वजन्मनः सहजस्मृतेरनेकासां घटनानां संग्रहः कृतो लभ्यते । जैनसाहित्येऽपि एतत्सम्बन्धिनीऽनेके उल्लेखा उपलभ्यन्ते ।

सुश्रुतसंहितायां निर्दिष्टमस्ति—पूर्वजन्मनि शास्त्राभ्यासेन भावितान्तःकरणाः जनाः पूर्वजातिस्मरा

१. विगम्बरसाहित्ये 'उपपाद' इति प्रयोगो वृश्यते । (जै. ति. को. भाग १, पृष्ठ ४५५) जन्मप्रसंगे उपपादस्य अर्थं प्रति सामीप्यमस्ति ।

२. (क) सहसम्मुड्याए—अत्र 'सह' पदं स्ववाचकमस्ति,

यथा शकन्तुतो 'सहसंबुद्धानां' इति स्वसंबुद्धानाम् ।

(ख) निर्युक्तिकृता सहसन्मतिरिति पाठो ध्याख्यातः । तस्या अर्थोऽस्ति ज्ञानम् । तद् अवधिमनःपर्यवकेवलानि जाति-स्मरणञ्चेति चतुर्विधं निर्दिष्टं, यथा—

इत्ययं सह संमदअति जं एअं तत्थ जाणणा होई ।

ओहीमणपज्जवनाणकेवले जाइसरणे य ॥

(आचारांग निर्युक्ति, गाथा ६५)

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का यह प्रश्न न केवल आत्मवादी के लिए अपितु प्रत्येक बुद्धिवादी के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । इसकी उपेक्षा कर हम जीवन-मृत्यु सम्बन्धी सत्य से आँख मूंद लेते हैं । इस प्रश्न के बिना दर्शन का जन्म भी कहाँ से हो ? क्या आत्मा को शरीर से पृथक् किया जा सकता है ? यदि यह शक्य नहीं है तो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का कथन वास्तविक नहीं है । यदि उसको शरीर से पृथक् किया जा सकता है तभी उसका शरीर के साथ अभेद सम्बन्ध नहीं है, यह प्रतीति की जा सकती है ।

मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है । मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली नहीं है । मैं पूर्वजन्म में कौन था ? यहाँ से च्युत होकर परलोक में मैं क्या होऊँगा—यह संज्ञान भी सब मनुष्यों को नहीं होता । 'मैं कौन था'—यह पूर्वजन्म के संज्ञान का विचयसूत्र है—चिन्तन, मनन और विश्लेषण करने वाला सूत्र है । 'परलोक में मैं क्या होऊँगा ?' यह भावी-जन्म के संज्ञान का विचयसूत्र है ।

क्या यह संज्ञान किया जा सकता है ? इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया कि पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का संज्ञान किया जा सकता है । इस शक्यता के प्रतिपादन में तीन हेतुओं का निर्देश किया गया है—

१. स्वस्मृति ।
२. परव्याकरण ।
३. दूसरों के पास सुनना ।

स्वस्मृति

स्वस्मृति यह प्रथम हेतु है । कुछ बच्चों को बाल्यावस्था में ही पूर्वजन्म की सहज स्मृति प्राप्त होती है । आधुनिक परामनो-वैज्ञानिकों ने पूर्वजन्म की सहज स्मृति से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का संग्रह किया है । जैन साहित्य में भी इससे सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं ।

सुश्रुत संहिता में यह निर्दिष्ट है कि पूर्वजन्म में जो व्यक्ति शास्त्रों के अभ्यास से अपना अन्तःकरण भावित कर लेते हैं, उन्हें

चूर्णिकृता एतच्चतुर्विधमपि ज्ञानं आत्मप्रत्यक्षत्वेन निर्दिष्टम्—'एसा चउव्विहा वि सहसंमुड्या आतपच्चकखा भवति ।'

अत्र प्रसंगं विचारयामस्तदा स्वस्मृतिरयथा जातिस्मृतिरेव अधिकं उपयुक्तास्ति । चूर्णिकृतापि संज्ञाशब्देन आभिनि-बोधिकज्ञानं प्रतिपादितम्—सण्णागहणेण आभिनिबोहिय-नाणं सूचितं भवति । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १२)

अवधिज्ञानस्य प्राप्तिकृता पुनरपि प्रतिष्ठिता भवेत्, किन्तु मनःपर्यायकेवले तु नात्र प्रकृते भवतः ।

भवन्ति ।<sup>१</sup>

परव्याकरणम्

एष द्वितीयो हेतुः । परेण केनचिदाप्तेन सह व्याकरणं—प्रश्नोत्तरपूर्वकं मननं कृत्वा कश्चित् तत् संज्ञानं लभते । प्राचीनव्याख्यायां 'पर' शब्द उत्कृष्टतावाचकोऽस्ति । धर्मक्षेत्रे तीर्थकरा उत्कृष्टाः वर्तन्ते । अत एव परव्याकरणस्य हृदयमस्ति तीर्थकरव्याकरणम् । निर्युक्त्यामसावर्थः समर्थितोऽस्ति—'परवद्वाकरणं पुण जिणवाकरणं जिणा परं नत्थि ।'<sup>२</sup>

अस्मिन् विषये मेघकुमारस्य जातिस्मरणज्ञानोल्लेखः संगतोऽस्ति । गौतमस्वामिन उदाहरणमपि चूणौ वृत्तौ च उद्धृष्टमस्ति । गौतमस्वामिना भगवान् वद्धमानस्वामी पृष्ठो—'भगवन् ! किमिति मे केवलज्ञानं नोत्पद्यते ? भगवता व्याकृतम्—भो गौतम ! भवतो ममोपरि अतीव स्नेहोऽस्ति, तद्वशात् ।' तेनोक्तम्—'भगवन् ! एवमेवम् । किन्निमित्तः पुनरसौ मम भगवदुपरि स्नेहः ?'

ततो भगवता तस्य बहुषु भवान्तरेषु पूर्वसम्बन्धः समावेदितः—'चिरसंसिद्धोसि मे गोयमा ! चिरपरिचिओसि मे गोयमेत्येवमादि ।<sup>३</sup> तच्च तीर्थकृद्व्याकरणमाकर्ण्य गौतमस्वामिनो विशिष्टदिशागमनादिविज्ञानमभूत् ।<sup>४</sup>

अन्येषामन्तिके श्रवणम्

एष तृतीयो हेतुः । न व्याकरणं कृतं, किन्तु केनचिद् अतिशयज्ञानिना स्वत एव निरूपितं श्रुत्वा कश्चित् तत् संज्ञानं लभते । प्राचीनव्याख्यायां अन्यपदेन तीर्थकरव्यतिरिक्ताः सर्वेऽपि विशिष्टज्ञानिनो गृहीताः । अत्रास्ति निर्युक्तिप्रवचनम्—अणोसि सोचचंतिय जिणेहिं सव्वो परो अणो ।<sup>५</sup> चूणिकृता निर्युक्तेरर्थं विवृण्वता नामोल्लेखपूर्वकं व्याख्यातमस्ति—तित्थगरवइरित्तो जो अणो केवली वा, ओहिणाणी वा, मणपज्जवनाणी वा, चोद्दसपुव्वी वा, दसपुव्वी वा, णवपुव्वी वा, एवं जाव आयारधरो वा, सामाइयधरो वा, सावओ वा, अण्णतरो वा सम्मदिट्ठी ।<sup>६</sup>

केषाञ्चिद् जन्मजाता पूर्वजन्मस्मृतिः न हि भवति, किन्तु किञ्चिन्निसित्तमासाद्य तेषां पूर्वजन्मस्मृतिर्जायते ।

पूर्वजन्म की स्मृति होती है ।

परव्याकरण

यह दूसरा हेतु है । किसी आप्त के साथ व्याकरण—प्रश्नोत्तर पूर्वक मनन कर कोई उस ज्ञान को प्राप्त करता है । प्राचीन व्याख्या के अनुसार 'पर' शब्द उत्कृष्टता का वाचक है । धर्म के क्षेत्र में तीर्थकर उत्कृष्ट होते हैं । इसलिए 'परव्याकरण' का हार्द है—तीर्थकर द्वारा व्याख्यात । निर्युक्ति में इस अर्थ का समर्थन मिलता है—'परवचन-व्याकरण ही जित-व्याकरण है, क्योंकि जित से उत्कृष्ट कोई नहीं है ।'

इस विषय में मेघकुमार के जातिस्मृति ज्ञान का उल्लेख करना संगत है । चूणि और वृत्ति में गौतम स्वामी के उदाहरण का भी उल्लेख किया गया है । गौतम ने भगवान् वद्धमान महावीर से पूछा—भगवन् ! मुझे केवलज्ञान क्यों नहीं हो रहा है ? भगवान् ने कहा—गौतम ! इसका कारण है मेरे प्रति तुम्हारा अत्यधिक अनुराग । गौतम ने कहा—भगवन् ! ऐसा ही है, ऐसा ही है । भगवान् के प्रति मेरा यह स्नेह किस कारण से है ?

भगवान् ने तब उसके साथ अनेक जन्मों का पूर्व-सम्बन्ध बतलाते हुए कहा—'गौतम ! तुम्हारा मेरे साथ लम्बे समय तक संसर्ग रहा है । तुम मेरे चिर-परिचित हो ?' आदि । तीर्थकर की उस वाणी को सुनकर गौतम स्वामी को विशिष्ट दिशागमन—मैं किस दिशा से, कहां से आया हूँ—आदि का ज्ञान प्राप्त हुआ ।

दूसरों के पास सुनना

यह तीसरा हेतु है । बिना पूछे किसी अतिशयज्ञानी के द्वारा स्वतः ही निरूपित तथ्य को सुनकर कोई पूर्वजन्म का संज्ञान प्राप्त कर लेता है । प्राचीन व्याख्या के अनुसार 'अन्य' पद से तीर्थकर के अतिरिक्त सभी विशिष्ट ज्ञानियों का ग्रहण किया गया है । इस विषय में निर्युक्ति की व्याख्या इस प्रकार है—'अन्य के पास सुनकर—तीर्थकरों से अतिरिक्त सभी अन्य हैं ।' चूणिकार निर्युक्ति के अर्थ का विस्तार करते हुए नामोल्लेख पूर्वक बताते हैं कि तीर्थकर से अतिरिक्त जो अन्य केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी, नवपूर्वी, आठपूर्वी आदि से लेकर आचारधर, सामायिकधर, श्रावक या कोई सम्बद्घृष्टि—ये सभी व्यक्ति 'अन्य' के अन्तर्गत आते हैं ।

कुछ मनु यों को पूर्वजन्म की स्मृति जन्मजात नहीं होती, लेकिन किसी निमित्त के मिलने पर उनको पूर्वजन्म की स्मृति हो

१. मुश्रुतसंहिता, शारीरस्थान २।५७ :

भावितः पूर्ववेहेषु, सततं शास्त्रबुद्धयः ।

भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः, पूर्वजातिस्मराः नराः ॥

२. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ६६ ।

३. अंगमुत्ताणि २, भगवई, १४।७७ ।

४. आचारांग वृत्ति, पत्र २० ।

५. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ६६ ।

६. आचारांग चूणि, पृष्ठ १३ ।



तस्या इमानि कारणानि निर्दिष्टानि सन्ति—

१. मोहनीयस्य उपशमः ।
२. अध्यवसानशुद्धिः (लेश्याविशुद्धिः) ।
३. ईहापोहमार्गगणवेषणाकरणम् ।

१. उवसंतमोहणिज्जं—‘नमिपव्वज्जायां’ मोहनीयस्यो-  
पशम उट्टुद्धितोऽस्ति—

‘उवसंतमोहणिज्जो, सरई पोरणिण्यं जाई ।’

२. अज्जवसानसुद्धी—मृगापुत्रेण साधुं दृष्ट्वा जाति-  
स्मृतिर्लब्धा । तत्र मोहनीयस्योपशमस्य अध्यवसानशुद्धेश्च  
युगपदुल्लेखोऽस्ति—

अह तत्थ अइच्छंतं, पासई समणसंजयं ।  
तवनियमसंजमधरं, सोलड्डं गुणआगरं ॥

तं वेहई मियापुत्ते, दिट्ठीए अणिमिसाए उ ।

काहं मन्नेरिसं रुवं, विट्ठुपुवं मए पुरा ॥

साहुस्स वरिसणे तस्स, अज्जवसानमि सोहणे ।

मोहंगयस्स संतस्स, जाईतरणं समुप्पन्नं ॥

एवं हरिकेशबलेनापि विमर्शं कुर्वता जातिस्मृतिः  
लब्धा ।<sup>१</sup>

‘चित्रसंभूति’ अध्ययनस्य पृष्ठभूमावपि जातिस्मृतेः  
उल्लेखोऽस्ति ।<sup>२</sup>

भृगुपुरोहितस्य द्वावपि पुत्रौ मुनि दृष्ट्वा जाति-  
स्मृतिं लब्धवन्तौ दृष्टवन्तौ च पूर्वचरितौ तपःसंयमौ ।<sup>३</sup>

जातिस्मृत्या धर्मं प्रति सहजं श्रद्धासंवेगयोः संवर्धनं  
भवति इत्यनुभवपूर्वकं भगवता महावीरेण अनेकान्  
जनान् पूर्वजातिः स्मारिता । मेघकुमारो मुनिप्रव्रज्यां  
विहातुं प्रवृत्तः, तदानीं भगवता तस्य पूर्ववर्तितृतीय-  
जन्मनः स्मृतिः कारिता । ‘मेघकुमारस्यापि शुभैः  
परिणामैः प्रशस्तैरध्यवसानैः विशुद्धचमानाभिल्लेश्याभिः  
तदावरणीयानां कर्मणां क्षयोपशमेन ईहापोहमार्गगणवेषणां

जाती है । उसके ये कारण निर्दिष्ट हैं—

१. मोहनीय कर्म का उपशम
२. अध्यवसानशुद्धि (लेश्या-विशुद्धि) ।
३. ईहापोहमार्गगणवेषणाकरण ।

१. उपशान्तमोहनीय—‘नमिपव्वज्जा’ में मोहनीय के उपशम  
का उल्लेख किया गया है—

‘उसका मोह उपशान्त था जिससे उसे पूर्वजन्म की स्मृति  
हुई ।’

२. अध्यवसानशुद्धि—मृगापुत्र ने साधु को देखकर जाति-  
स्मृति प्राप्त की । वहाँ मोहनीय के उपशम और अध्यवसान-शुद्धि  
का एक साथ उल्लेख है ।

‘उसने वहाँ जाते हुए एक संयत श्रमण को देखा, जो तप,  
नियम और संयम को धारण करने वाला, शील से समृद्ध और गुणों  
का आकर था ।’

मृगापुत्र ने उसे अनिमेषदृष्टि से देखा और मन ही मन  
सोचा—‘मैं मानता हूँ कि ऐसा रूप मैंने पहले कहीं देखा है ।’

साधु के दर्शन और अध्यवसाय पवित्र होने पर ‘मैंने ऐसा  
कहीं देखा है’—इस विषय में वह सम्मोहित हो गया, चित्तवृत्ति  
सवनरूप में एकाग्र हो गई और विकल्प शान्त हो गए । इस अवस्था  
में उसे पूर्वजन्म की स्मृति ही आई ।’

इस प्रकार हरिकेशबल ने भी विमर्श करते हुए जातिस्मृति  
प्राप्त की ।

‘चित्रसंभूति’ अध्ययन की पृष्ठभूमि में भी जातिस्मृति का  
उल्लेख है । भृगुपुरोहित के दोनों पुत्र मुनि को देखकर जाति-  
स्मृति को उपलब्ध हुए और उन्होंने पूर्व आचरित तप, संयम को  
देखा ।

जातिस्मृति से धर्म के प्रति श्रद्धा और संवेग में सहज वृद्धि  
होती है । इस अनुभव के आधार पर भगवान् महावीर ने अनेक  
व्यक्तियों को पूर्वजन्म का स्मरण कराया । मेघकुमार मुनि-प्रव्रज्या  
को छोड़ने के लिए तैयार हो गया तब भगवान् ने उसे तीसरे पूर्वजन्म  
की स्मृति कराई । मेघकुमार को भी ईहा-अपोह-मार्गगण-वेषणा करते  
हुए शुभ परिणामों, प्रशस्त अध्यवसायों, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं  
तथा तदावरणीय (जातिस्मृति के आवारक) कर्मों का क्षयोपशम होने

१. उत्तरज्जयणाणि, ९:१ ।

२. वही, १९:५-७ ।

३. सुखबोधा, पत्र १७४ : एवं भावेमाणो तवखणसंजायजाइ-  
संभरणो सुमरियविमाणवासो....’

४. उत्तरज्जयणाणि, अध्ययन १३ ।

५. वही, १४:५ : सरित्तु पोरणिण्यं तत्थ जाई,  
तहा सुचिण्णं तवसंजमं च ।

६. अंगसुत्ताणि ३, नायाधम्मकहाओ, १:१५६ : एथं खलु  
मेहा ! तुमं इओ तच्चे अईए भवग्गहणे ....’

कुर्वतः संज्ञिपूर्वं जातिस्मरणं समुत्पन्नं ।<sup>१</sup> सुदर्शनश्रेष्ठि-  
नोऽपि अनेनैव क्रमेण जातिस्मरणं समुत्पन्नम् ।<sup>२</sup>

३. इहापोहमग्गणगवेषणं—अस्मिन् विषये 'ईहापोह-  
मार्गणगवेषणा' इमानि चत्वारि पदानि जातिस्मृतेः  
प्रक्रियामुद्भावयन्ति । यथा मेघकुमारेण मेरुप्रभहस्तिनो  
नामाऽऽकर्णितम् । तत्र तस्येहा प्रवृत्ता । तं हस्तिनं ज्ञातुं  
चित्ते किञ्चिदान्दोलनं प्रवृत्तम् । ततोऽनन्तरमपोहो  
जातः—'किमासमहं हस्ती?' इमां तर्कणां कुर्वाणः स  
मार्गणायां प्रविष्टः । आत्मनोऽतीतमन्वेष्टुं स्वानुभूता-  
तीतसीमायां प्रवेशं कृतवान् । अतीतं ध्यायता ध्यायता  
तेन गवेषणा प्रारब्धा । यथा गौः आहारान्वेषणायां  
प्रवृत्ता पूर्वोपलब्धमाहारस्थानं प्राप्नोति तथा गवेषणां  
कुर्वाणेन मेघकुमारेण एकाग्रध्यवसायेन हस्तिजन्मनः  
स्मृतिरुपलब्धा ।

तदावरणिज्जकम्मखओवसमेण—जातिस्मरणं द्विविधं  
भवति—सनिमित्तकं अनिमित्तकञ्च । केषाञ्चित् तदा-  
वरणीयकर्मणां क्षयोपशमेन जायते, तद् अनिमित्तकम् ।  
केषाञ्चिद् बाह्यं निमित्तमुपलभमानानामेतत् प्रादुर्भवति,  
तत् सनिमित्तकम् ।

इदं जातिस्मरणं मतिज्ञानस्यैव एकः प्रकारोऽस्ति ।  
अनेन उत्कर्षतः पूर्ववर्तीनि नवसंज्ञिजन्मानि ज्ञातुं  
शक्यानि ।<sup>३</sup>

आचारांगवृत्त्यनुसारेण संख्येयान् भवान् जातिस्मरो  
ज्ञातुमर्हति ।<sup>४</sup>

सन्नीपुब्बे—यानि पूर्वजन्मानि ज्ञायन्ते तानि  
समनस्कजन्मानि एव । पूर्वजन्मसु यानि यानि अमनस्क-  
जन्मानि लब्धानि तानि ज्ञातुं न शक्यानि । अस्य सूचना  
'सन्नीपुब्बे' इति विशेषणेन कृतास्ति ।

सर्वेषां पूर्वजन्मस्मृतिर्नोपलभ्यते । अस्मिन् विषये  
तंदुलवेयालियप्रकीर्णके<sup>५</sup> एतत्कारणं निर्दिष्टमस्ति—

जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो ।  
तेण दुक्खेण संसूढो, जाइं सरइ नऽपणो ॥

१. अंगसुत्ताणि ३: नायाधम्मकहाओ,, १।१९० : तए णं तस्स  
मेहस्स अणगारस्स समणस्स भगवओ महाबीरस्स अंतिए  
एवमट्ठं सोच्चा निसम्म सुभेहिं परिणामेहिं पत्तथेहिं अज्ज-  
वसाणेहिं लेसाहिं विसुज्झमाणीहिं तयावरणिज्जाणं कम्मणं  
खओवसमेणं ईहापूहमग्गणगवेषणं करेमाणस्स सण्णपुब्बे  
जाईसरणे समुपण्णे, एयमट्ठं सम्मं अभिसमेइ ।

२. अंगसुत्ताणि २, भगवई, ११।११५-१७१ ।

से संज्ञिपूर्वं (समनस्क जन्मों को जाननेवाला) जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न  
हुआ । सुदर्शन सेठ को भी इसी क्रम से जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ ।

३. ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा :—इस प्रसंग में ईहा, अपोह,  
मार्गणा और गवेषणा—ये चार पद 'जातिस्मृति' की प्रक्रिया  
को प्रकट करते हैं ।

जैसे ही मेघकुमार ने मेरुप्रभ हाथी का नाम सुना, वहाँ  
उसकी ईहा (पूर्व स्मृति के लिए प्रारंभिक मानसिक चेष्टा) प्रवृत्त  
हुई । उस हाथी को जानने के लिए चित्त में कुछ आन्दोलन शुरू हुआ ।  
उसके बाद अपोह हुआ—'क्या मैं हाथी था ?' यह तर्कणा (मीमांसा)  
करते हुए वह मार्गणा में प्रविष्ट हुआ । अपने अतीत का अन्वेषण करने  
के लिए वह अपने द्वारा अनुभूत अतीत की सीमा में प्रवेश कर गया ।  
अतीत का चिन्तन करते-करते उसने गवेषणा प्रारम्भ की । जैसे  
आहार की अन्वेषणा में प्रवृत्त गाय पूर्वप्राप्त आहार के स्थान को  
प्राप्त कर लेती है वैसे ही गवेषणा करते हुए मेघकुमार को एकाग्र  
अध्यवसाय से हाथी के रूप में अपने जन्म की स्मृति उपलब्ध हो गई ।

तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम के द्वारा—जाति-स्मरण ज्ञान  
दो प्रकार का होता है—सनिमित्तक और अनिमित्तक । कुछ मनुष्यों  
को तदावरणीय (जातिस्मृति को आवृत करने वाले) कर्मों का  
क्षयोपशम होने से जाति-स्मरण ज्ञान होता है, वह अनिमित्तक है ।  
कुछ मनुष्यों को बाह्य निमित्त उपलब्ध होने पर वह प्राप्त होता है, वह  
सनिमित्तक है ।

यह जाति-स्मरण मतिज्ञान का ही एक प्रकार है । इससे  
उत्कृष्टतः पूर्ववर्ती नौ समनस्क जन्म जाने जा सकते हैं ।

आचारांग वृत्ति के अनुसार जातिस्मृति ज्ञान से संख्येय जन्म  
जाने जा सकते हैं ।

संज्ञीपूर्वं—जिन पूर्वजन्मों का ज्ञान किया जाता है वे समनस्क  
जन्म ही होते हैं । पूर्वजन्मों में जो अमनस्क जन्म होते हैं, उनको नहीं  
जाना जा सकता । इसकी सूचना 'संज्ञीपूर्वं' इस विशेषण से मिलती है ।

सबको पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती । इस विषय में तंदुलवेयालिय  
प्रकीर्णक में यह कारण निर्दिष्ट है—'जन्म और मृत्यु के समय जो  
दुःख होता है उस दुःख से सम्मूढ होने के कारण व्यक्ति को पूर्वजन्म  
की स्मृति नहीं रहती ।'

३. सेनप्रश्न, उल्लास ३, प्रश्न ३४१ :

पुध्वभवा सो पिच्छई इक्क दो तिन्नि जाव नवगं वर ।

उर्वरिं तस्स अबिसओ सहावओ जाइसरणस्स ।

४. आचारांग वृत्ति, पत्र १९ : जातिस्मरणस्तु नियमतः  
संख्येयानिति ।

५. तंदुलवेयालियं, ३९ ।

मूर्च्छायां स्मृतेर्लोपो भवति, अतः पूर्वजन्मस्मृतिः न जायते, तथा विशिष्टनिमित्तं विना विद्यमानानामपि पूर्वजन्मसंस्काराणां साक्षात्कारो न जायते । एतदपि स्मृतेरभवने कारणम् ।

सण्णा—संज्ञानम्—संज्ञा । सा च द्विविधा—अनुभव-संज्ञा ज्ञानसंज्ञा च । मतिः श्रुतं अवधिः मनःपर्यवः केवलञ्च—एतज्ज्ञानपञ्चकं ज्ञानसंज्ञा । अत एव चूर्णिकृता 'मई सण्णा णाणं एगत्था'<sup>१</sup> तथा 'सण्णत्ति वा बुद्धित्ति वा नाणंति वा विण्णाणं ति वा एगट्ठा'<sup>२</sup> । ज्ञानवाचकानां शब्दानामेकार्थकत्वमत्र प्रदर्शितम् । अनुभवसंज्ञा संवेदनात्मिका भवति । निर्युक्तिकृता स्पष्टं निर्दिष्टम्—'अणुभवणा कम्मसंजुत्ता'<sup>३</sup>—अनुभवनसंज्ञा स्वकृतकर्मोदयादिसमुत्था भवति । सा नात्र अधिकृताऽस्ति । अत्रास्ति ज्ञानसंज्ञाया एव अधिकारः ।

सोऽहम्—यस्य पूर्वजन्मनः स्मृतिर्भवति स स्वस्य त्रैकालिकमस्तित्वं प्रति प्रगाढामास्थां लभते ।

'सोऽहं' इतिपदेन तस्याभिव्यक्तिः कृताऽस्ति । यस्या-स्तित्वं वर्तमानसीमामतिक्रम्य अतीतं व्याप्नोति तस्य अस्तित्वं त्रैकालिकमिति स्वभावत एव उपपद्यते । लब्ध-जातिस्मृतिर्मनुष्यः अतीतगतं स्वास्तित्वं स्मरति, तस्य सूत्रे साक्षादुल्लेखः कृतोऽस्ति—

'जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ जो आगओ अणुसंचरइ सोहं ।'

चूर्णिकारेण इदं पदमाश्रित्य आत्मलक्षणमीमांसाऽपि कृतास्ति । जिज्ञासितं केनचिद्—अस्ति आत्मा, किन्तु तस्य लक्षणं नास्ति निर्दिष्टम् । आचार्येण उत्तरितम्—इह निरहंकारे शरीरे यस्यायं अहंकारो, यथा—'अहं करोमि', 'मया कृतं', 'अहं करिष्यामि'—एषः अहंकारोऽस्ति आत्मनो लक्षणम् ।<sup>३</sup>

दिग् आकाशविशेष एव । सा च नामस्थापनाद्रव्य-भावतापक्षेत्रप्रज्ञापकभेदात् सप्तधा ।<sup>४</sup> भावदिशा अष्टादश । प्रज्ञापकदिशा अपि तावत्य एव । अत्र

मूर्च्छा में स्मृति लुप्त हो जाती है, इसलिए पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती तथा विशिष्ट निमित्त के बिना पूर्वजन्म के विद्यमान संस्कारों का भी साक्षात्कार नहीं होता । यह भी स्मृति के न होने का कारण है ।

संज्ञा :—संज्ञा का अर्थ है—जानना । वह दो प्रकार की होती है—अनुभवसंज्ञा और ज्ञानसंज्ञा । मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये पांचों ज्ञान ज्ञानसंज्ञा कहलाते हैं, इसलिए चूर्णिकार ने कहा है—'मति, संज्ञा और ज्ञान एकार्थक हैं ।' 'संज्ञा, बुद्धि, ज्ञान, और विज्ञान एकार्थक हैं ।' यहां ज्ञानवाचक शब्दों की एकार्थकता दिखलाई गई है । अनुभवसंज्ञा संवेदनात्मक होती है । निर्युक्तिकार ने स्पष्ट निर्देश किया है—'अनुभव कर्मसंयुक्त होता है ।' अनुभवसंज्ञा स्वकृत-कर्मों के उदय आदि से उत्पन्न होती है । यहां यह प्रासंगिक नहीं है । यहां ज्ञानसंज्ञा का ही प्रकरण है ।

वह मैं—जैसे 'वह मैं' इस रूप में जन्म की स्मृति होती है उसके मन में अपने त्रैकालिक अस्तित्व के प्रति प्रगाढ़ आस्था पैदा हो जाती है ।

'सोहं'—इस पद से उसकी अभिव्यक्ति की गई है । जिसका अस्तित्व वर्तमान की सीमा का अतिक्रमण कर अतीत तक व्याप्त हो जाता है, उसका अस्तित्व त्रैकालिक होता है, यह स्वाभाविक स्वीकृति है । जातिस्मृति ज्ञान से संपन्न मनुष्य अपने अतीतकालीन अस्तित्व का स्मरण कर लेता है, उसका सूत्र में साक्षात् उल्लेख किया गया है—

'जो इन दिशाओं और अनुदिशाओं (विदिशाओं) में अनुसंचरण करता है, जो सब दिशाओं और अनुदिशाओं से आकर अनुसंचरण करता है, वह मैं हूँ ।'

चूर्णिकार ने इस पद का आश्रय लेकर आत्मा के लक्षणों की मीमांसा की है । किसी ने जिज्ञासा की—आत्मा है, किन्तु उसका लक्षण निर्दिष्ट नहीं है । आचार्य ने उत्तर दिया—इस निरहंकार शरीर में जिसका यह अहंकार है, जैसे—मैं करता हूँ, मैंने किया है, मैं करूंगा—यह अहंकार आत्मा का लक्षण है ।

आकाश विशेष को ही दिशा कहा जाता है । वह नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, ताप, क्षेत्र और प्रज्ञापक के भेद से सात प्रकार की है । भाव दिशाएं अठारह हैं । प्रज्ञापक दिशाएं भी उतनी ही हैं ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९ ।

२. वही, पृष्ठ १२ ।

३. वही, पृष्ठ १४ : जइ वा कोई भणेज्जा भणितं भट्टारएण—अप्पा अत्थि, न तस्स लक्खणं उवविट्ठं, भण्णइ—भणितं सोऽहमिति, इह निरहंकारे शरीरे जस्स इमोऽहंकारो, तं जहा—अहं करेमि मया कयं अहं

करिस्सामि, एयं तस्स लक्खणं जो अहंकारो, भणितं अप्पलक्खणं ।

४. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ४० :

नामं ठवणा दधिए खित्ते तावे य पण्णवगभावे ।  
एसा दिसानिक्खेवो सत्तविहो होइ णायव्वो ।

प्रज्ञापकदिशाः सन्ति विवक्षिता इति निर्युक्तिकारः ।<sup>१</sup> किन्तु क्षेत्रदिशि चापि जीवा विद्यन्ते । तत्र चतसृषु दिक्षु सन्ति जीवाः, जीवदेशाः, जीवप्रदेशाश्च । ऊर्ध्वाधःदिग्द्वये विदिक्षु च नो सन्ति जीवाः, केवलं जीवदेशाः जीवप्रदेशाश्च इति भगवती ।<sup>२</sup> अनुदिशाः—विदिशाः । 'अन्यतरस्या' इतिपदेन क्षेत्रादिदिशः सूचिताः सन्ति ।<sup>३</sup>

#### ५. से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई ।

सं०—स आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी, क्रियावादी ।

जो अनुसंचरण को जान लेता है वही आत्मवादी, लोकवादी, कर्मवादी और क्रियावादी है ।

भाष्यम् ५—आगमयुगेऽपि अनेके वादाः प्रचलिता आसन् । प्रस्तुतागमस्य अष्टमाध्ययने तेषां उल्लेखोऽस्ति ।<sup>४</sup> केचिदात्मवादिन आसन्, केचन चानात्मवादिनः । तर्केण स्वाभिप्रेतं पक्षं ते स्थापयाञ्चक्रुः । भगवता महावीरेण अनुभवः साक्षात्कारो वा मुख्यत्वेन प्रतिष्ठापितः । इतिविदितमासीत् तस्य यत् तर्केण स्थापितः पक्षः प्रतितर्केण उत्थापितोऽपि भवति, किन्तु साक्षात्कृतं तत्त्वं तर्कशतेनापि न खण्डितं भवति । अतो भगवता साक्षात्कारस्य मार्गः प्रधानीकृतः । यस्य पूर्वजन्मनः स्मृतिर्जायते स वस्तुवृत्त्या निःशङ्कं आत्मवादी भवति । आत्मनः त्रैकालिकेऽस्तित्वे लोकवादस्य, कर्मवादस्य, क्रियावादस्य च स्वीकारः स्वाभाविको भवति ।

जातिस्मृतेर्मुख्यं फलं असतो निवृत्तिः सति च प्रवृत्तिः तथा श्रद्धायाः प्रगाढता । 'दुगुणाणीय सद्बुसंवेगे'<sup>५</sup> इतिपाठे एतदेव तथ्यं प्रतिपादितमस्ति ।

आयावाई—आत्मवादस्य निरूपणं पञ्चमाध्ययने कृतमस्ति ।<sup>६</sup>

निर्युक्तिकार के अनुसार यहाँ प्रज्ञापक दिशाएं विवक्षित हैं । किन्तु क्षेत्र दिशा में भी जीव होते हैं । चार दिशाओं में जीव, जीव-देश और जीव-प्रदेश होते हैं । ऊँची और नीची—इन दो दिशाओं में तथा विदिशाओं में जीव नहीं होते, केवल जीव-देश और जीव-प्रदेश होते हैं—यह भगवती सूत्र का कथन है । अनुदिशा का अर्थ है—विदिशा । 'अन्यतरस्या' इस पद से क्षेत्रादि दिशाएं सूचित होती हैं ।

आगम युग में भी अनेक वाद प्रचलित थे । प्रस्तुत आगम के आठवें अध्यायन में उनका उल्लेख है । कुछ आत्मवादी थे और कुछ अनात्मवादी । दोनों ने अपने-अपने अभिप्रेत पक्ष को तर्क के बल पर स्थापित किया था । भगवान् महावीर ने अनुभव अथवा साक्षात्कार को प्रधानता दी । वे जानते थे कि तर्क के द्वारा स्थापित पक्ष प्रतितर्क से उत्थापित भी होता है, किन्तु साक्षात्कार क्रिया हुआ तत्त्व सैकड़ों तर्कों से भी खंडित नहीं होता । इसलिए भगवान् ने साक्षात्कार के मार्ग को मुख्यता दी । जिसको पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है, वह वस्तुवृत्त्या आत्मवादी होता है । उसको आत्मा के अस्तित्व में शंका नहीं रहती । आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की स्वीकृति होने पर लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद का स्वीकार होना स्वाभाविक है ।

जाति-स्मृति का मुख्यफल असत् से निवृत्ति और सत् में प्रवृत्ति तथा श्रद्धा की प्रगाढता है । 'दुगुणाणीय सद्बुसंवेगे' पाठ में यही तथ्य प्रतिपादित किया गया है ।

आत्मवादी—आत्मवाद का निरूपण पाँचवें अध्यायन में किया गया है ।

#### १. (क) आचारांग निर्युक्ति, गथा ६०-६२ :

मणुया तिरिया काया तहऽम्माबीया चउक्कमा चउरो ।  
वेवा नेरइया वा अट्टारस होंति भावदिसा ।।  
पण्णवगदिसऽट्टारस भावदिसाओऽवि तत्तिया चेव ।  
इक्किक्कं विधेज्जा हवंति अट्टारसऽट्टारा ।।  
पण्णवगदिसाए पुण अहिगारो एत्थ होइ णायव्वो ।  
जीवाण पुग्गलाण य एयासु गयागई अत्थि ।।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १४ : इह दिग्ग्रहणात् प्रज्ञापक-दिशश्चतस्रः पूर्वादिगा ऊर्ध्वाधोदिशौ च परिगृह्यन्ते, भावदिशस्त्वष्टादशापि, अनुदिग्ग्रहणात् प्रज्ञापक-विदिशो द्वादशेति ।

#### २. (क) अंगसुत्ताणि २, भगवई, १०।५,६ ।

(ख) वृत्तावपि क्षेत्रदिक्षु जीवानामस्तित्वस्य उल्लेखो लभ्यते—क्षेत्रदिशि तु चतसृष्वेव महादिक्षु सम्भवो, न

विदिगादिषु, तासामेकप्रदेशिकत्वाच्चतुष्प्रदेशिकत्वा-  
च्चेति । (आचारांग वृत्ति, पत्र १४)

३. आचारांग वृत्ति, पत्र १४ : अर्थं च दिक्संयोगकलापः  
'अण्णयरोओ दिसाओ आगओ अहमंसी' त्यनेन परिगृहीतः ।

४. द्रष्टव्यम्—आयारो, ८।५ ।

५. अंगसुत्ताणि २, भगवई, ११।१७२ : तए णं से सुवंसणे सेट्ठी  
समणेणं भगवया महावीरेणं संभारियपुव्वमवे दुगुणाणीय  
सद्बुसंवेगे..... ।

६. आयारो, ५।१०४-१०६ : जे आया से विण्णाया, जे  
विण्णाया से आया । जेण विजाणति से आया ।

तं पडुच्च पडिसंखाय ।

एस आयावादी समियाए-परियाए वियाहिते ।

५।१२३-१४० सूत्राण्यपि द्रष्टव्यानि ।

**लोगवादी**—प्रस्तुतागमे लोकशब्दस्य अनेकवारं अनेकार्थेषु प्रयोगो जातः । शरीर<sup>१</sup>-विषय<sup>२</sup>-कषाय<sup>३</sup>-जीव<sup>४</sup>-जगत्<sup>५</sup>-जनसमूहादीनामर्थे<sup>६</sup> स प्रयुक्तोऽस्ति, तेन यथाप्रसंगमेव अस्यार्थः संपादनीयो भवति । प्रस्तुतप्रकरणे लोकशब्दस्य 'पौद्गलिकं जगत्' इत्यर्थः प्रासंगिकः प्रतीयते । आत्मा अमूर्तोऽस्ति, तेन नास्माभिः स लोक्यते । अजीवद्रव्येषु केवलं पुद्गल एव मूर्तिमान् अस्ति, तेन लोकशब्देन अत्र स एव अपेक्षितोऽस्ति । भगवत्यामपि<sup>७</sup> लोकशब्दस्य निर्वचनं अनयापेक्षया एव कृतमस्ति । पञ्चास्तिकायमयो लोकः, जीवाजीवमयो लोकः, इत्यादयः परिभाषा आगमेषु उपलभ्यन्ते, किन्तु अत्र ता नापेक्षिताः सन्तीति प्रतीयते ।

चूर्णिकारेण लोकशब्दस्य योऽर्थः कृतः सोऽपि सङ्गतः प्रतीयते—लोगवादी गाम जह चैव अहं अस्थि एवं अन्नेऽपि देहिणो सन्ति, लोग अब्भंतरे एव जीवा, जीवाजीवा लोग समुदो इति भणितो लोगवादी ।<sup>८</sup>

**कम्मावादी**—जातिस्मृत्या आत्मनः पुद्गलस्य च सम्बन्धबोधोऽपि जायते । आत्मनः पुनर्जन्मग्रहणं, दिशासु अनुदिशासु वा अनुसंचरणं पुद्गलयोगादेव जायते । अस्ति जीवानां सूक्ष्मतरं शरीरम् । तस्मिन् स्वयमात्मना स्वकीयेन अध्यवसायेन आकृष्टाः शुभा अशुभा वा पुद्गलाः सञ्चिताः सन्ति । ते पुद्गलाः स्वकर्मणा (स्वप्रवृत्त्या) आकृष्टाः सन्ति, अतस्ते कर्म इति नाम्ना संज्ञायन्ते । तेषामाधारभूतं शरीरमपि 'कर्म' नाम्ना संज्ञातमस्ति ।

मुख्यत्वेन कर्म इति प्रवृत्तिः । कर्मणाकृष्टाः पुद्गला अपि कर्मशब्देन उपचरिताः । कर्मवादपदेन त एवात्र विवक्षिताः सन्ति । कर्मवादे कृतप्रतिक्रियासिद्धान्तः सम्मतोऽस्ति । 'अणुसंवेयणमप्पाणेण'<sup>९</sup> इति सूत्रेण एतद् बोद्धुं शक्यम् ।

**किरियावादी**—आत्मनः कर्मणश्च सम्बन्धः क्रियात एव भवति । यावदात्मनि रागद्वेषजनितानि प्रकम्पनानि विद्यन्ते, तावत् स कर्मपरमाणुभिः सम्बन्धं करोति, अतः कर्मवादः क्रियावादमुपजीवति । प्रस्तुतागमे क्रियावादस्य विस्तृतं विवरणं दृश्यते । लब्धजातिस्मृतिर्जीवः पूर्वजन्मघटनाक्रमेण स्पष्टमिदं व्यवस्यति—अस्ति आत्मा, अस्ति

**लोकवादी**—प्रस्तुत आगम में 'लोक' शब्द का प्रयोग अनेक वार अनेक अर्थों में हुआ है । शरीर, विषय, कषाय, जीव, जगत् और जनसमूह आदि अर्थों में यह प्रयुक्त हुआ है । इसलिए प्रसंग के अनुसार ही इसका अर्थ करना होता है । प्रस्तुत प्रकरण में 'लोक' शब्द का अर्थ 'पौद्गलिक जगत्' प्रासंगिक लगता है । आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह हमें दिखाई नहीं देती । अजीव द्रव्यों में एक पुद्गल द्रव्य ही मूर्त है इसलिए 'लोक' शब्द से यहां उसकी ही अपेक्षा है । भगवती में भी 'लोक' शब्द का निर्वचन इसी अपेक्षा से किया गया है । 'लोक पंचास्तिकायमय है', 'लोक जीव-अजीवमय है', आदि लोकविषयक परिभाषाएं आगमों में मिलती हैं, किन्तु यहां वे अपेक्षित नहीं हैं, ऐसा प्रतीत होता है ।

चूर्णिकार ने 'लोक' शब्द का जो अर्थ किया है वह भी संगत प्रतीत होता है । 'लोकवादी'—जैसे मैं हूँ, इसी तरह अन्य प्राणी भी हैं । लोक के भीतर ही जीवों का अस्तित्व है, जीव-अजीव लोक समुदय हैं, इस प्रकार माननेवाला लोकवादी कहा गया है ।

**कर्मवादी**—जातिस्मृति से आत्मा और पुद्गल का संबंध-बोध भी होता है । आत्मा का पुनः जन्म-ग्रहण तथा दिशाओं और अनु-दिशाओं में अनुसंचरण पुद्गल के योग से ही होता है । जीवों का शरीर सूक्ष्मतर है । उसमें स्वयं आत्मा के द्वारा अपने अध्यवसाय से आकृष्ट शुभ-अशुभ पुद्गल संचित रहते हैं । वे पुद्गल आत्मा की अपनी प्रवृत्ति (कर्म) के द्वारा आकृष्ट होते हैं, इसलिए वे 'कर्म' नाम से अभिहित होते हैं । उनका आधारभूत शरीर भी 'कर्मण शरीर'—इस नाम से जाना जाता है ।

मुख्यतः कर्म का अर्थ 'प्रवृत्ति' है । कर्म से आकृष्ट पुद्गल भी कर्म शब्द से उपचरित होते हैं । 'कर्मवाद' पद से यहां उन्हीं की विवक्षा की गई है । कर्मवाद में कृत की प्रतिक्रिया का सिद्धान्त सम्मत है । 'अपना किया हुआ कर्म अपने को ही भुगतना होता है'—इस सूत्र से यह जाना जा सकता है ।

**क्रियावादी**—आत्मा और कर्म का सम्बन्ध क्रिया के द्वारा ही होता है । जब तक आत्मा में रागद्वेषजनित प्रकम्पन विद्यमान हैं, तब तक उसका कर्म परमाणुओं के साथ सम्बन्ध होता रहता है, इसलिए कर्मवाद क्रियावाद का उपजीवी है । प्रस्तुत आगम में क्रियावाद का विस्तृत विवरण दृष्टिगोचर होता है । जाति-स्मृति ज्ञान से सम्पन्न जीव पूर्वजन्म के घटनाक्रम से यह स्पष्ट जान लेता है—आत्मा है,

१. आयारो, २।१२५ ।

२. वही, २।१५९ ।

३. आयारो, 'लोगविजओ' बीअं अज्जायणं; तथा

आचारांग निर्युक्ति, गाथा १७५ ।

४. वही, ३।३ ।

५. वही, ३।५ ।

६. वही, २।१९० ।

७. अंगमुत्ताणि २, भगवई, ५।२५५ : अजीवेहि लोककइ पलोक्कइ, जो लोककइ से लोए ?

८. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १४ ।

९. आयारो, ५।१०३ ।

पुद्गलः, अस्ति तयोरनुबन्धः, अस्ति तयोश्चानुबन्धहेतुः । पुद्गल है, उन दोनों का अनुबन्ध है और उनके अनुबन्ध का हेतु भी है ।

६. अकरिस्सं चहं, कारवेसुं चहं, करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि ।

सं०—अकार्षं चाहं, अचीकरं चाहं, कुर्वंतश्चापि समनुजो भविष्यामि ।

मैंने क्रिया की थी, करवाई थी और करने वाले का अनुमोदन किया था । मैं क्रिया करता हूँ, करवाता हूँ और करने वाले का अनुमोदन करता हूँ । मैं क्रिया करूँगा, करवाऊँगा और करने वाले का अनुमोदन करूँगा ।

भाष्यम् ६—अस्ति क्रिया, तेनास्ति कर्मबन्धः, अस्ति कर्मबन्धः, तेनास्ति दिशासु अनुदिशासु वा अनुसंचरणम्—अस्या अनुभूतेः प्रगाढतायां लब्धजातिस्मरो जीवो यच्चिन्तयति तस्य निर्देशः प्रस्तुतसूत्रे कृतोऽस्ति ।

कृतकारितानुमतिभेदात् क्रिया त्रिधा भवति । कालत्रयभेदात् सा नवधा जायते । प्रस्तुतसूत्रे संक्षिप्त-शैल्या नवानामपि क्रियाणां समाहारोऽस्ति । प्रथम-द्वितीययोः तथा नवमविकल्पस्य साक्षान्निर्देशोऽस्ति । शेषविकल्पाः इत्थं भावनीयाः—

३. करओ यावि समणुण्णे अहविस्सं चहं,
४. करेमि चहं,
५. कारवेमि चहं,
६. करओ यावि समणुण्णे भवामि चहं,
७. करिस्सामि चहं,
८. कारविस्सामि चहं ।

क्रिया कर्मपुद्गलानाम्भवति, तेन अस्या अपरं नाम आत्मवो विद्यते । स एव वस्तुतः दिशासु अनुदिशासु वा अनुसंचरणस्य हेतुरस्ति । जातिस्मृत्या अनुसंचरणहेतु-बोधोऽपि जायते ।

७. एयावंति सव्वावंति<sup>१</sup> लोगंसि कम्म-समारम्भा परिजाणियव्वा भवंति ।

सं०—एतावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भाः परिज्ञातव्याः भवन्ति ।

लोक में होने वाले ये सब कर्म-समारम्भ परिज्ञातव्य होते हैं—जानने और त्यागने योग्य होते हैं ।

भाष्यम् ७—सांख्यदर्शने पुरुषशब्दस्य वाच्योऽस्ति आत्मा । प्रस्तुतागमेषु अनेकेषु स्थानेषु पुरुषशब्दस्य आत्मनोऽर्थे प्रयोगः कृतोऽस्ति । लब्धजातिस्मरस्य पुरुषस्य चिन्तनक्रमोऽपि परिवर्तितो भवति । स श्रद्धासिक्तं संवेगं समासाद्य संकल्पते—मया एताः क्रिया अथवा एते कर्म-समारम्भाः परिज्ञातव्याः । परिज्ञा—ज्ञानं ज्ञानपूर्विका विरतिर्वा<sup>२</sup> अत एव सा द्विविधा भवति—ज्ञपरिज्ञा

‘क्रिया है इसलिए कर्मबन्ध है । कर्मबन्ध है इसलिए दिशाओं या अनुदिशाओं में अनुसंचरण होता है’—इस अनुभूति की प्रगाढता में जातिस्मृति ज्ञान से सम्पन्न जीव जो चिन्तन करता है उसका निर्देश प्रस्तुत सूत्र में किया गया है ।

कृत, कारित और अनुमति के भेद से क्रिया तीन प्रकार की होती है । कालत्रय के भेद से उसके नौ विकल्प बन जाते हैं । प्रस्तुत सूत्र में संक्षिप्त शैली से नौ क्रियाओं का समाहार किया गया है । प्रथम, द्वितीय तथा नौवें विकल्प का स्पष्ट निर्देश हुआ है । शेष विकल्प इस प्रकार जान लेने चाहिए—

३. मैंने करने वाले का अनुमोदन किया था ।
४. मैं क्रिया करता हूँ ।
५. मैं क्रिया करवाता हूँ ।
६. मैं करने वाले का अनुमोदन करता हूँ ।
७. मैं क्रिया करूँगा ।
८. मैं क्रिया कराऊँगा ।

क्रिया कर्मपुद्गलों का आश्रवण करती है, इसलिए इसका दूसरा नाम आश्रव है । वही वास्तव में दिशाओं एवं अनुदिशाओं में अनुसंचरण का हेतु है । जातिस्मृति ज्ञान से अनुसंचरण का हेतु भी ज्ञात हो जाता है ।

१. एयावंति और सव्वावंति—ये दोनों भागधदेशी भाषा के शब्द हैं । ‘एयावंति’ का अर्थ है—इतने और ‘सव्वावंति’ का अर्थ है—सब ।—एयावंती सव्वावंतीति एतौ द्वौ शब्दौ भागधदेशीभाषाप्रसिद्ध्या एतावन्तः सर्वोऽपीत्येतत्पर्यायौ (आचारांग वृत्ति, पत्र २५) ।

२. बौद्धसाहित्ये परिज्ञा एवं परिभाषिता अस्ति—

‘अनाश्रववियोगान्तेः, भवाप्रविकलीकृतेः ।

हेतुद्वयसमुद्घातात्, परिज्ञा धात्वतिक्रमात् ॥’

(अभिधम्मकोश ५।६८)

प्रत्याख्यानपरिज्ञा च । अस्याः फलितं भवति—पूर्व कर्मसमारम्भा ज्ञेयास्ततश्च ते प्रत्याख्यातव्याः ।

पहले कर्मसमारम्भों को जानना चाहिए फिर उनका प्रत्याख्यान करना चाहिए ।

८. अपरिण्णाय-कम्मे खलु अयं पुरिसे, जो इमाओ दिसाओ वा अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अणुदिसाओ सहेति, अणेगरूवाओ जोणीओ संधेइ, विरूवरूवे फासे य पडिसंवेदेइ ।

सं०—अपरिज्ञातकर्मा खलु अयं पुरुषः य इमा दिशा वा अनुदिशा वा अनुसंचरति सर्वा दिशाः सर्वा अनुदिशाः सहेति । अनेकरूपा योनीः संधते । विरूपरूपान् स्पर्शाश्च प्रतिसंवेदयति ।

यह पुरुष, जो क्रिया को नहीं जानता और नहीं त्यागता, वही इन दिशाओं या अनुदिशाओं में अनुसंचरण करता है, अपने कृत-कर्मों के साथ सब दिशाओं और सब अनुदिशाओं में जाता है, अनेक प्रकार की योनियों का संधान करता है और नाना प्रकार के स्पर्शों (आघातों) का प्रतिसंवेदन करता है, अनुभव करता है ।

भाष्यम् ८—लब्धजातिस्मरः पुरुषः पूर्ववर्तिजन्म-घटनाभिः इतिनिश्चयं गच्छति—दिशासु अनुदिशासु वा अनुसंचरणं, तासु कर्मणा सह अयनम्—अनुगमनम्, अनेकरूपामु योनिषु जन्माऽनुसंधानं, नानाप्रकाराणां स्पर्शानामिति कष्टानां प्रतिसंवेदनञ्च कर्मणः अपरि-ज्ञानेनैव जायते । एतत्सर्वं ज्ञात्वा स परिज्ञातकर्मा भवितुं प्रयतते ।

जातिस्मृति-सम्पन्न पुरुष पूर्ववर्ती जन्म की घटनाओं के आधार पर इस निश्चय पर पहुंच जाता है—दिशाओं या अनुदिशाओं में अनुसंचरण करना, उनमें कर्म के साथ अनुगमन करना, अनेक प्रकार की योनियों में जन्म का अनुसंधान (पुनः पुनः ग्रहण) तथा विविध प्रकार के स्पर्शों (कष्टों) का प्रतिसंवेदन (अनुभव) कर्म का परिज्ञान न करने के कारण ही होता है । यह सब जानकर वह परिज्ञातकर्मा बनने के लिए प्रयत्नशील होता है ।

अत्रास्ति महान् प्रश्नः—किं कर्मणः परित्यागः कर्तुं शक्यः ? शरीरधारणं जीवनयात्रानिर्वहणं च कर्मायत्त-मस्ति । अकर्मा कथं जीवितुमर्हति ? अत्र कर्मणः प्रत्या-ख्यानस्य तात्पर्यमस्ति—असंयममयस्य कर्मणः प्रत्याख्या-नम् । 'गो गिहेज्ज वीरियं'<sup>१</sup> इति स्वयं भगवता महावीरेण स्वानुभवपूर्वकं प्रतिपादितमस्ति । अत्र वीर्यं कर्मणानु-बद्धमस्ति । 'संजमति गो पणभति'<sup>२</sup>—अस्मिन् सूत्रेऽपि संयममयस्य कर्मणो निर्देशोऽस्ति । 'बण्णाएत्ती णारभे कंचणं सव्वसोए'<sup>३</sup>—अत्रापि यशसः कृते कर्मसमारम्भस्य निषेधोऽस्ति, न सर्वथा कर्मणो निषेधः । 'अकरणिज्जं पावकम्म'<sup>४</sup>—इति सूत्रे स्पष्टं निर्देशोऽस्ति—पापं कर्म अकरणीयमस्ति, न तु सर्वथा कर्मणोऽकरणीयत्वं निर्दिष्टम् ।

इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है—क्या कर्म (प्रवृत्ति) का परित्याग किया जा सकता है ? शरीर-धारण और जीवन-यात्रा का निर्वहन कर्म के अधीन है । कर्ममुक्त व्यक्ति जीवन कैसे जी सकता है ? यहाँ कर्म के प्रत्याख्यान से तात्पर्य है—असंयममय कर्म (प्रवृत्ति) का प्रत्याख्यान । 'वीर्यं (आत्मशक्ति) का गोपन मत करो'—यह स्वयं भगवान् महावीर ने अपने अनुभव के आधार पर प्रतिपादित किया है । यहाँ वीर्यं कर्म से अनुबद्ध है । 'साधक इन्द्रियों का संयम करता है, उनका उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता ।' इस सूत्र में संयममय कर्म का निर्देश है । 'मुनि यश का इच्छुक होकर किसी भी क्षेत्र में कुछ भी न करे' । यहाँ भी यश के लिए कर्म-समारम्भ का निषेध है, सर्वथा कर्म का निषेध नहीं है । 'पाप कर्म (हिंसा का आचरण, विषय का सेवन) अकरणीय है'—इस सूत्र में स्पष्ट निर्देश है कि पाप कर्म अकरणीय है । कर्म सर्वथा अकरणीय है, ऐसा निर्देश नहीं है ।

कर्मसमारम्भपरिज्ञाया निर्देशाः कर्मणो विशुद्धेः निर्देशाः सन्ति । पश्यकोऽपि पदार्थानां परिभोगं करोति । स कर्मणो नास्ति व्यतिरिक्तः । अत एव निर्दिष्टमस्ति—'अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा'<sup>५</sup>—'पश्यकः अन्यथा परि-भुञ्जीत'—यथा साधारणो जनः असंयतेन कर्मणा पदार्थान् परिभुङ्क्ते तथा संयमी न परिभुङ्क्ते, किन्तु स संयतेन कर्मणा तान् परिभुङ्क्ते । संयमपूर्वकं कृतं कर्म अकर्म इत्युच्यते । तेन दृष्टिकोणेनैव कर्मसमारम्भस्य

कर्म-समारम्भ की परिज्ञा के निर्देश कर्म की विशुद्धि के निर्देश हैं । तत्त्वदर्शी भी पदार्थों का परिभोग करता है । वह कर्म से परे नहीं होता । इसलिए निर्देश दिया गया है—'तत्त्वदर्शी पुरुष पदार्थ का परिभोग भिन्न प्रकार से करे'—जैसे साधारण मनुष्य असंयत प्रवृत्ति से पदार्थों का परिभोग करता है, संयमी व्यक्ति वैसे नहीं करता, किन्तु वह संयत प्रवृत्ति से उनका परिभोग करता है । संयमपूर्वक किया जाने वाला कर्म अकर्म कहलाता है । उस दृष्टिकोण से ही कर्म-समारम्भ की परिज्ञा का निर्देश किया गया है । इसका फलित यह है—मुनि को

१. आपारो, ५।४१ ।
२. वही, ५।५१ ।
३. वही, ५।५३ ।

४. वही, ५।५५ ।
५. वही, २।११८ ।

परिज्ञाया निर्देशः कृतोऽस्ति । अस्य फलितमिदं भवति— असंयममय कर्म (प्रवृत्ति) का परित्याग करना चाहिए ।  
मुनिना असंयममयं कर्म परिहर्तव्यम् ।

६. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ।

सं०—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता ।

इस विषय (कर्म-समारम्भ) में भगवान् ने परिज्ञा—विवेक का निरूपण किया है ।

१०. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं ।

सं०—अस्मै चैव जीविताय, परिवंदन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुम् ।

वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए, (मनुष्य कर्म-समारम्भ करता है) ।

भाष्यम् ९-१०—जन्मजातिस्मरेण पुरुषेण स्वानुभूत-घटनाभिः यज्ज्ञातं तस्य यथार्थतां समर्थयता भगवता परिज्ञा प्रवेदिता । परिज्ञा—विवेकः । अपरिज्ञातकर्मा खलु पुरुषो दिशासु वा अनुदिशासु वा अनुसंचरणं करोति, एतद् वास्तविकम् । परन्तु कर्मसमारम्भस्य अपरिज्ञा विद्यते, तस्य कारणानि अन्वेषणीयानि । तानि च इमानि—

१. जिजीविषा—प्राणिषु अनेका एषणा विद्यन्ते । तासु जीवनस्यैषणा प्रबलतमास्ति, अस्ति च प्रथमा । इदं सत्यमनुभूतिगमितेषु पदेषु प्रतिपादितमस्ति, यथा—‘सर्वे पाणा पियाउआ.....पियजीविणो जीविउकामा ।’ ‘सर्वेति जीवियं पियं ।’<sup>१</sup> जीवितुकामो मनुष्यः परिग्रहसञ्चयं करोति, क्रूराणि कर्माणि हिंसामपि च करोति । एवं जिजीविषा कर्मणः स्रोतोभावमापद्यते ।<sup>२</sup> अयं भवति दुःखावर्तः ।<sup>३</sup>

२. प्रशंसा—‘परिवंदण’ इतिपदस्य प्रशंसेति अर्थो विहितोऽस्ति वृत्तिकृता ।<sup>४</sup> किन्तु वस्तुवृत्त्या पाठपरिवर्तनपूर्वकमर्थपरिवर्तनं जातमस्ति । अत्र ‘जीवियस्स परिवंदण’ इतिपाठ उपयुक्तोऽस्ति । चूर्णो अस्य पाठस्य आधारभूमिरपि उपलब्धास्ति ।<sup>५</sup> आयुर्वेदोक्तबृंहणीया-

१. आयारो, २।६३ ।

२. वही, २।६४ ।

३. वही, २।६५-६९ तं परिगिज्ज दुपयं चउप्पयं अभिजुजियाणं सीसिचियाणं तिविहेणं जा वि से तत्थ मत्ता भवइ—अप्पा वा बहुगा वा ।

० से तत्थ गडिए चिद्वइ, भोयणाए ।

० तओ से एगया विपरीसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ ।

० तं पि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, णस्सति वा से, विणस्सति वा से, अगारवाहेण वा से उज्जइ ।

जातिस्मृति-सम्पन्न पुरुष अपनी अनुभूत घटनाओं के आधार पर जो जानता है, उसकी यथार्थता का समर्थन करते हुए भगवान् ने परिज्ञा का निरूपण किया है । परिज्ञा का अर्थ है—विवेक । अपरिज्ञात-कर्मा—कर्म-समारम्भ का ज्ञान और प्रत्याख्यान न करने वाला पुरुष दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण करता है, यह कथन वास्तविक है । किन्तु कर्म-समारम्भ की जो अपरिज्ञा विद्यमान है, उसके हेतु अन्वेषणीय हैं । वे ये हैं—

१. जिजीविषा—प्राणियों में अनेक प्रकार की एषणाएं होती हैं । उनमें जीने की इच्छा अत्यधिक प्रबल और प्रथम है । यह सत्य अनुभूतिगमित पदों में प्रतिपादित किया गया है, जैसे—‘सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है .....उन्हें जीवन प्रिय है । वे जीवित रहना चाहते हैं ।’ ‘सबको जीवन प्रिय है ।’ जीने का इच्छुक मनुष्य परिग्रह का संचय करता है, क्रूर कर्म और हिंसा भी करता है । इस प्रकार जिजीविषा कर्म का स्रोत है । यह दुःख का आवर्त है ।

२. प्रशंसा—वृत्तिकार ने ‘परिवंदण’ पद का अर्थ ‘प्रशंसा’ किया है । किन्तु वस्तुतः पाठ-परिवर्तन के कारण अर्थ का परिवर्तन हुआ है । यहाँ ‘जीवियस्स परिवंदण’ पाठ संगत है । चूर्ण में इस पाठ का आधार भी उपलब्ध है । आयुर्वेद के ग्रन्थों में प्रतिपादित ‘बृंहणीय आहार के साथ इसका संबंध है । इसका तात्पर्य है—जीवन

० इति से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्माइं बाले पकुब्बमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासुवेइ ।

४. वही, २।७४ : बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्ठं अनुपरियट्ठइ ।

५. आचारांग वृत्ति, पत्र २४ : परिवंदनं संस्तवः प्रशंसा ।

६. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १६ : परिवंदणं नाम छत्ती अवि-लिओ होहामि, वण्णो वा मे भविस्सइ, तेण णेहमाईणि करोति, मल्लजुद्धे वा संगामे वा संसारादि बलकरं भोत्तूणं णित्थरिस्सामि तेण सत्ते हणति ।



हारेण अस्य सम्बन्धोऽस्ति । अस्य तात्पर्यम्—जीवितस्य परिवृंहणार्थं प्राणिनो हिंसाकर्मसु प्रवर्तन्ते । लिपिदोषेण हकार-दकारयोर्विपर्ययो जातः, तेनार्थपरिवर्तनमपि जातम् । यदि समालोच्यमानं पाठं स्वीकृतम् तदा जिजीविषा स्वतन्त्रो हेतुर्न स्यात्, किन्तु जीवितस्य परिवृंहणमिति एक एव हेतुर्भवेत् । चूर्णिकृता 'जीवितस्य' तथा 'परिवृंहण' मितिहेतुद्वयं पार्थक्येन प्रतिपादित-मस्ति ।

३. माननम्—माननमितिपदस्य दिशाद्वयेऽर्थो गवेषणीयः । यः सम्मानं करोति तदर्थं हिंसाकर्मणि प्रवृत्तिः, यश्च सम्मानं न करोति तं प्रतीत्य पुरुषः हिंसाकर्मणि प्रवर्तते । यथा कश्चिदीश्वरः स्वकीयप्रजायाः सकाशे अभ्युत्थानादीनि न लभते, तदानीं तस्या बन्ध-वध-सर्वस्वहरणादीनि करोति ।

४. पूजनम्—यथा सम्मानार्थं हिंसाकर्मप्रवृत्तिरुद्दिष्टा तथा पूजार्थमपि हिंसाकर्मणि प्रवृत्तिर्जायते । अभ्युत्थानादिकरणं माननं तथा अर्चनातिलकादिकरणं पूजन-मित्यन्तर्भेदः ।

५. जाति-मरणे—जातिशब्दस्य अर्थद्वयं सम्भावित-मस्ति । सादृश्यलक्षणा जातिर्जन्म वा । अत्र जन्मैव प्रासङ्गिकं विद्यते । मरणम्—मृत्युः । जन्ममरणनिमित्तः कर्मसमारम्भः स्पष्टं दृश्यते लोके ।

६. मोचनम्—मोचनम्—मुक्तिः स्वतन्त्रता वा । बन्ध-मोक्षाय स्वतन्त्रतायै वा मनुष्यः नानाविधान् कर्मसमा-रम्भान् करोतीत्यनेकामु परम्परासु विदितमेव । 'जाई-मरण-भोयणाए' इतिपाठस्य संयुक्तोऽपि अर्थः कर्तुं शक्यः । केचिद् हिंसावादिनो जन्म-मरण-मुक्तयेऽपि हिंसाकर्मणि प्रवृत्ता दृश्यन्ते ।

अत्र चूर्णिसम्मतः पाठः 'भोयणाए' अधि-संगच्छते । भोजनार्थं मनुष्याः कृष्यादिकर्मषु प्रवर्तमाना भवन्ति । आहारान्वेषणं एका मौलिकी मनोवृत्तिरिति सम्मतमस्ति मनोवैज्ञानिकानामपि । 'फ्रायडमहोदयेन द्वे एव मनोवृत्ति सम्मते—जीवनं मृत्युश्च ।' उत्तर-

की परिपुष्टि के लिए प्राणी हिंसात्मक प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते हैं । लिपिदोष के कारण 'हकार' के स्थान पर 'दकार' हो गया, जिससे अर्थ-परिवर्तन भी घटित हुआ । यदि आलोच्यमान पाठ को स्वीकार किया जाए तो जिजीविषा स्वतन्त्र हेतु नहीं रहेगा, किन्तु 'जीवन का परिवृंहण'—यह एक ही हेतु होगा । चूर्णिकार ने जीवन के लिए तथा 'परिवृंहण'—इन दो हेतुओं का पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया है ।

३. मानन—'मानन' पद का अर्थ दो दृष्टियों से अन्वेषणीय है । जो सम्मान करता है वह व्यक्ति सम्मान-संपादित करने के लिए हिंसात्मक प्रवृत्ति करता है । जो सम्मान नहीं करता, उस व्यक्ति को लक्ष्य कर असम्मानित व्यक्ति हिंसात्मक प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है । जैसे—यदि प्रजा अपने राजा का अभ्युत्थान आदि के द्वारा सम्मान नहीं करती है तो राजा उस प्रजा का वध, बंधन, सर्वस्व-अपहरण आदि करता है । ये सारी हिंसात्मक प्रवृत्तियां हैं ।

४. पूजन—जैसे सम्मान के लिए हिंसात्मक प्रवृत्ति बतलाई गई है वैसे ही पूजा के निमित्त भी हिंसात्मक प्रवृत्ति होती है । मानन और पूजन—इन दोनों में अन्तर है । अभ्युत्थान आदि करना मानन तथा अर्चना करना, तिलक आदि करना पूजन है ।

५. जाति-मरण—'जाति' शब्द के दो अर्थ सम्भव हैं । जाति का एक अर्थ है—एक समुदाय, जो समानता के आधार पर बनता है । जाति का लक्षण है—सदृशता । जाति का दूसरा अर्थ है—जन्म । यहाँ जन्म ही प्रासङ्गिक है । मरण का अर्थ है—मृत्यु । संसार में जन्म-मरण के निमित्त होने वाला कर्म-समारम्भ स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है ।

६. मोचन—मोचन का अर्थ है—मुक्ति या स्वतन्त्रता । मनुष्य बन्धन से मुक्त होने के लिए अथवा स्वतन्त्रता के लिए नाना प्रकार के कर्म-समारम्भ करता है, यह अनेक परम्पराओं से ज्ञात होता है । 'जाईमरणभोयणाए'—इस पाठ का संयुक्त अर्थ भी किया जा सकता है—कुछ हिंसावादी जन्म-मरण से मुक्ति पाने के लिए भी हिंसा-कर्म में प्रवृत्त देखे जाते हैं ।

इस संदर्भ में चूर्णि द्वारा स्वीकृत पाठ 'भोयणाए' अधिक संगत है । मनुष्य भोजन के लिए कृषि आदि कर्मों में प्रवृत्त होते हैं । मनो-वैज्ञानिकों ने भी आहार की गवेषणा को एक मौलिक मनोवृत्ति माना है । फ्रायड ने दो ही मनोवृत्तियां स्वीकार की हैं—जीवन और मृत्यु । उत्तरवर्ती मनोवैज्ञानिकों ने मनोवृत्तियों का विस्तार किया है ।

1. McDougall, W : Introduction to Social Psychology, London, Methuen & co.

2 Freud—"The erotic instincts which are always trying to collect living substance in to ever larger unities and the death instincts which act against that tendency and try to bring living matter back

into an inorganic condition. The co-operation and opposition of these two forces produce the phenomena of life to which death puts an end."

(Great Books of the western world. Vol-54 Editor-in-Chief—Robert Maynard Hutching, PP- 851)

वर्तिभिः मनोवैज्ञानिकैर्मनोवृत्तीनां विस्तारः कृतः ।

प्रस्तुतसूत्रे सप्तमौलिकमनोवृत्तयो निर्दिष्टाः सन्ति । मास्लोमहोदयः आदरसम्मानस्याकांक्षामपि मौलिक-मनोवृत्तिरूपेण स्वीकरोति ।<sup>१</sup>

७. दुःखप्रतिघातहेतुम्—शारीरमानसदुःखनिरसनाय नानाविधस्य कर्मणः समारम्भो जायते । एतन् महत्प्रवृत्तिस्रोतोऽस्ति ।

प्रस्तुतसूत्रे हिंसायाः स्रोतोभूतानां प्रेरकतत्त्वानां गंभीरतमा सङ्कलना विद्यते ।

११. एयावन्ति सव्वावन्ति लोगंसि कम्म-समारंभा परिजाणियव्वा भवन्ति ।

सं०—एयावन्तः सर्वे लोके कर्मसमारम्भाः परिजातव्याः भवन्ति ।

लोक में होने वाले ये सब कर्म-समारम्भ परिजातव्य होते हैं—जानने और त्यागने योग्य होते हैं ।

भाष्यम् ११—पक्षरूपेणैतत्सूत्रं पूर्वं निर्दिष्टमस्ति (१।७)। इदानीं तदेव निगमनरूपेण निर्दिश्यते । अज्ञात-कर्मसमारम्भस्रोतसां न कर्मपरिज्ञा भवति, अत एव पूर्वं कर्मस्रोतांसि उल्लिखितानि । प्रस्तुतसूत्रे च तज्ज्ञानपूर्वकं कर्मसमारम्भपरिज्ञायाः निर्देशः, तेन नात्र पुनश्क्तिरा-शंकनीया ।

प्रस्तुत सूत्र में सात मौलिक मनोवृत्तियों का निर्देश किया गया है । मनोवैज्ञानिक मास्लो ने आदर-सम्मान की आकांक्षा को भी मौलिक मनोवृत्ति के रूप में स्वीकार करते हैं ।

७. दुःख-प्रतिकार के लिए—शारीरिक और मानसिक दुःखों के निवारण के लिए नाना प्रकार के कर्मों—प्रवृत्तियों का समारम्भ होता है । यह प्रवृत्ति का महान् स्रोत है ।

प्रस्तुत सूत्र में हिंसा के जनक प्रेरक-तत्त्वों की विशद संकलना है ।

सूत्र १/७ में इस सूत्र का पक्षरूप में निर्देश किया गया है । अब वही सूत्र नियमनरूप से निर्दिष्ट किया जा रहा है । कर्म-समारम्भ के स्रोतों को जाने बिना कर्म-परिज्ञा (कर्म-प्रत्याख्यान) नहीं होती, इसलिए पहले कर्म-समारम्भ के स्रोतों का उल्लेख किया गया है । प्रस्तुत सूत्र में कर्म-समारम्भ की ज्ञानपूर्वक परिज्ञा (प्रत्याख्यान) का निर्देश है, अतः यहां पुनश्क्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए ।

१२. जस्सेते लोगंसि कम्म-समारंभा परिणया भवन्ति, से ह्मु मुणी परिणयाय-कम्मे ।—त्ति वेमि ।

सं०—यस्येते लोके कर्मसमारंभाः परिज्ञाता भवन्ति स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा ।—इति ब्रवीमि ।

लोक में होने वाले ये कर्म-समारंभ जिसके परिज्ञात होते हैं, वही परिज्ञातकर्मा—कर्मत्यागी मुनि होता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १२—कर्मशब्दस्य अनेके अर्था भवन्ति । अत्र प्रस्तुतोऽर्थोऽस्ति क्रिया । यस्य कर्मसमारम्भाः प्रत्याख्याता भवन्ति, स परिज्ञातकर्मा मुनिर्भवति । गीतायां काम-संकल्पवर्जितानां समारम्भाणां प्रशस्तता प्रतिपादिता—

यस्य सर्वे समारंभाः, कामसंकल्पवर्जिताः ।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं, तप्साहुः पण्डितं बुधाः ॥<sup>२</sup>

भगवतो महावीरस्य एष नयोऽत्र वर्तते—यथा यथा कषायांशस्य अल्पता जायते, तथा तथा कर्मणः शोधनं निरोधश्च संभवति । यः समारंभः कामसंकल्पवर्जितो भवति, स कषायांशस्याल्पतयैव भवति इति द्वयोः प्रवचनयोर्नास्ति कश्चिद् भेदः ।

मुणो—मुनिरितिपदं ज्ञानार्थवाचकं विद्यते—मुणोइ

कर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ है—क्रिया । जिसके कर्म-समारम्भ प्रत्याख्यात होते हैं, वह परिज्ञात-कर्मा—कर्मत्यागी मुनि होता है । गीता में काम-संकल्प-वर्जित समारंभों की प्रशस्तता प्रतिपादित की गई है—

‘जिसके संपूर्ण कर्म-समारम्भ कामना और संकल्प से रहित होते हैं, तथा जिसके समस्त कर्म (प्रवृत्ति) ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गए हैं, उसको ज्ञानी लोग पंडित कहते हैं ।’

इस विषय में भगवान् महावीर की दृष्टि यह है—जैसे-जैसे कषाय का अंश अल्प होता है वैसे-वैसे कर्म का शोधन और निरोध होता चला जाता है । जो समारम्भ काम और संकल्प से रहित होता है वह कषायांश की अल्पता से ही होता है । इसलिए इन दोनों—आचारांग और गीता के प्रतिपादनों में कोई अन्तर नहीं है ।

मुनि—‘मुनि’ यह पद ज्ञान के अर्थ का वाचक है । जो त्रिकाला-

1. Maslow, A.H. 'Motivation and Personality'. N.Y. Harper.

२. गीता, ४।१९ ।

जगं तिकालावत्थं तेण मुणी ।<sup>१</sup> गीतायां एष पण्डित-  
शब्देनाभिहितोऽस्ति ।

**परिणायकम्मे—**ज्ञानी पुरुषः कर्मसमारम्भस्य परि-  
णामं ज्ञात्वैव ततो विरमति, अत एव स परिज्ञातकर्मा  
इत्युच्यते । चूणीं स्पष्टमिदम्—परिणायकम्मो णाम  
जाणिऊण विरतो ।<sup>२</sup>

**इति ब्रवीमि—**भगवान् महावीरः गणधरान् प्रति  
वक्ति अथवा सुधर्मा जम्बूस्वामिनं प्रति वक्ति—यद्  
अनुभूतं मया तत् सर्वेषां हिताय ब्रवीमि ।

वस्थित जगत् को जानता है वह मुनि है (मुण धातु का अर्थ जानना  
है) । गीता में इसे पण्डित शब्द से अभिहित किया गया है ।

**परिज्ञातकर्मा—**ज्ञानी पुरुष कर्म-समारम्भ के परिणाम को  
जान लेने के बाद ही उससे विरत होता है, इसलिए वह 'परिज्ञात-  
कर्मा' कहलाता है । चूणि में यह स्पष्ट निदिष्ट है कि परिज्ञातकर्मा वह  
है जो ज्ञानपूर्वक विरत होता है ।

**ऐसा मैं कहता हूँ—**इस वाक्यांश का तात्पर्य है—भगवान्  
महावीर अपने गणधरों को संबोधित कर कहते हैं अथवा सुधर्मास्वामी  
जम्बूस्वामी को संबोधित कर कहते हैं—मैंने जो साक्षात् अनुभव किया  
है, उसका मैं सभी प्राणियों के हित के लिए प्रतिपादन कर रहा हूँ ।

## बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

१३. अट्टे लोए परिजुण्णे, दुस्संबोहे अविजाणए ।

आर्तः लोकः परिजीर्णः दुःसंबोधः अविज्ञायकः ।

लोक—मनुष्य पीड़ित है, वह परिजीर्ण है । वह सत्य को सरलता से समझ नहीं पाता, अतः अज्ञानी बना रहता है ।

**भाष्यम् १३—**कीदृक् पुरुषो हिंसायां प्रवर्तते इति-  
जिज्ञासायां सत्यां भगवता प्रतिपादितम्—अस्मिन् जगति  
आर्तः परिजीर्णः दुःसंबोधः अविज्ञायकश्च पुरुषः हिंसायां  
प्रवर्तते ।

**आर्तः—**विषयकषायादिमनोदोषैः पीडितः ।  
सचित्तादिद्रव्यैरसंप्राप्तैः प्राप्तवियुक्तैर्वा य आर्तः स  
द्रव्यार्तः । क्रोधादिभिरभिभूतो भावार्तः ।<sup>३</sup>

**परिजीर्णः—**अभावग्रस्तः—पदार्थमभिलषमानोऽपि  
तल्लाभशून्यः ।

**दुस्संबोधः—**यः प्रयत्नशतेनापि बोद्धुं न शक्यते ।

**अविज्ञायकः—**तत्त्वानभिज्ञः ।

एषु कार्यकारणभावोऽपि दृश्यः—आर्तः परिजीर्णो  
भवति । परिजीर्णः मन्दविज्ञानत्वाद् दुस्संबोधो भवति ।

किस प्रकार का पुरुष हिंसा में प्रवृत्त होता है, इस जिज्ञासा के  
संदर्भ में भगवान् ने प्रतिपादन किया—इस संसार में आर्त, परिजीर्ण,  
दुःसंबोध और अविज्ञायक पुरुष हिंसा में प्रवृत्त होता है ।

आर्त का अर्थ है—विषय, कषाय आदि मानसिक दोषों से  
पीडित । उसके दो प्रकार हैं—द्रव्य आर्त और भाव आर्त । सचित्त  
आदि द्रव्यों के न मिलने से अथवा प्राप्त द्रव्यों का वियोग होने पर जो  
आर्त बनता है, वह द्रव्य आर्त है । क्रोध आदि से अभिभूत व्यक्ति भाव  
आर्त कहलाता है ।

परिजीर्ण का अर्थ है अभावग्रस्त अर्थात् पदार्थ को पाने की  
अभिलाषा रखता हुआ भी उससे वंचित रहने वाला ।

दुःसंबोध का अर्थ है—सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी बोध प्राप्त  
करने में असमर्थ मनुष्य ।

अविज्ञायक का अर्थ है—तत्त्व से अनभिज्ञ ।

इनमें कार्य-कारण भाव भी है—जो आर्त होता है, वह परि-  
जीर्ण होता है । परिजीर्ण मन्दज्ञान के कारण दुःसंबोध होता है ।

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ १७ ।

२. वही, पृष्ठ १७ ।

३. बृहत्कल्पभाष्य, गाथा १२५९, वृत्ति ।

दुस्संबोधस्तत्त्वज्ञानाभावे अविज्ञायको भवति ।<sup>१</sup>

दुःसंबोध तत्त्वज्ञान के अभाव में अविज्ञायक बना रहता है ।

### १४. अस्मिन् लोके पृथ्विहिए ।

सं०—अस्मिन् लोके प्रव्यथितः ।

अज्ञानी मनुष्य इस लोक में व्यथा का अनुभव कर रहा है ।

भाष्यम् १४—उक्तलक्षणपुरुषोऽस्मिन् लोके व्यथामनु-  
भवति । स यदभिलषति तद् हिंसामृते नाप्नोति, तेन स  
हिंसाकर्मणि प्रवर्तते ।

उपर्युक्त लक्षण संपन्न पुरुष इस लोक में व्यथा का अनुभव  
करता है । हिंसा के बिना उसको अभीप्सित प्राप्त नहीं होता । इसलिए  
वह हिंसात्मक प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है ।

### १५. तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परितापेति ।

सं०—तत्र तत्र पृथक् पश्य, आतुराः परितापयन्ति ।

तू देख, पृथक् पृथक् भावों से आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर पृथ्वीकायिक प्राणियों को परिताप दे रहे हैं ।

भाष्यम् १५—भगवान् शिष्यं आमन्त्र्य वक्ति—त्वं  
स्वयं पश्य । तेषु तेषु कार्येषु गृहादिनिमित्तं पृथक् पृथक्  
आर्त्तादिभावैरातुराः पुरुषा एव सन्ति हिंसायां  
प्रवर्तमानाः । मरणभयातुरा 'जीवो जीवस्य जीवन'  
मितिसिद्धान्तं सम्मुखीकृत्य पृथ्वीजीवान् परितापयन्ति,  
विषयाभिलाषातुराश्च विषयसेवनार्थम् ।

भगवान् शिष्य को संबोधित कर कहते हैं—तू स्वयं देख !  
आर्त्त, परिजीर्ण आदि भिन्न-भिन्न भावों से आतुर पुरुष ही गृह आदि  
के निमित्त अनेक कार्य करते हुए हिंसा में प्रवृत्त होते हैं । मृत्यु के भय  
से आतुर मनुष्य 'एक जीव का जीवन दूसरे जीव पर आश्रित है'—यह  
मानकर पृथ्वीकायिक जीवों को परिताप देते हैं और विषयों की  
अभिलाषा से आतुर मनुष्य विषय-सेवन के लिए पृथ्वीकायिक जीवों  
को परिताप देते हैं, उनका हनन करते हैं ।

### १६. संति पाणा पुढो सिया ।

सं०—संति प्राणाः पृथक् श्रिताः ।

पृथ्वीकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित हैं ।

भाष्यम् १६—तावत् हिंसाज्ञानं कर्तुं दुश्शकं यावज्जीव-  
बोधो न स्यात् । अहिंसाविषयेऽपि एष एव सिद्धान्तस्तेनादौ  
जीवनिर्णयः कर्तव्यः । भगवता महावीरेण षड्जीव-  
निकायाः प्रज्ञप्ताः—पृथिव्यपतेजोवायुवनस्पतयस्त्रसाश्च ।<sup>२</sup>  
प्रस्तुतोद्देशके पृथ्वीकायिकजीवानां हिंसापरिज्ञा  
निर्दिष्टास्ति । पृथिव्यामपि प्राणिनः सन्ति, एषास्ति  
प्रतिज्ञा । 'पृथ्वी सजीवा वर्तते' नाभिमतमासी-  
दिदमन्येषां तीर्थिकानाम् । एष नवीन एव पक्षः

जब तक जीव का बोध नहीं होता, तब तक हिंसा का ज्ञान  
करना शक्य नहीं है । यही सिद्धान्त अहिंसा के विषय में है । इसलिए  
सबसे पहले जीव के विषय में ज्ञान करना चाहिए । भगवान् महावीर  
ने छह जीव-निकायों—पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस—  
की प्ररूपणा की है । प्रस्तुत उद्देशक में पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा की  
परिज्ञा का निर्देश किया गया है । 'पृथ्वी में भी जीव है'—यह प्रतिज्ञा  
(पक्ष-स्थापना) है । 'पृथ्वी सजीव है' यह अन्यतीर्थिकों का अभिमत  
नहीं था । भगवान् महावीर ने इस नये पक्ष की स्थापना की ।

१. शीलांकवृत्तौ 'अस्मिन् लोके' इतिपाठस्य अर्थः—अस्मिन्  
पृथ्वीकायल्लोकेः—इति कृतोऽस्ति (आ. व. पत्र ३२) ।  
एतं सम्मुखीकृत्य यदि चिन्तयामस्तदा प्रथममुत्रवर्ति 'लोक'  
पदस्यापि 'पृथ्वीकायल्लोक' इत्यर्थः कर्तुं शक्यः । ततः द्वे  
अपि सूत्रे (१३, १४) एवं व्याख्यातव्ये भवतः—अयं पृथ्वी-  
कायल्लोकः कर्मणा आर्त्तः । औदयिकसाधेन परिजीर्णो  
भवति । वृत्तौ लिखितमस्ति—यावानात्तः स सर्वोऽपि  
परिवृत्तो नाम परिवेत्तवो निस्सारः (आ. व. पत्र ३२)  
नया आर्त्तत्वान् परिजीर्णत्वाच्चासी लोकः दुस्संबोधः

दुस्संबोधत्वाच्च अविज्ञायको भवति । अस्मिन् पृथ्वीकाय-  
ल्लोके प्रव्यथिते सर्वारम्भस्य तदाश्रयत्वात् आतुरास्तत्र तत्र  
इमं पृथ्वीकायल्लोकं परितापयन्ति ।

असौ व्याख्यानयोऽपि समीचीनः प्रतिभाति । यदीमं  
व्याख्यानयं स्वीकुर्मस्तदा 'संति पाणा पुढोसिया' (१११६)  
इत्यस्य द्वितीयोऽर्थः पृथक् श्रिताः प्राणिनः इति अधि-  
संगच्छते ।

२. वसवेआलियं, ४।३ ।

स्थापितोऽभूत् । 'पुढो सिया' इति पृथक् श्रिताः प्राणिनः सन्ति । पृथगिति भिन्नभिन्नशरीरेषु, श्रिताः—सम्बद्धाः, प्रत्येकशरीरिण इति यावत् ।<sup>१</sup> पुढोसिया-पृथ्वीश्रिताः प्राणिनः सन्ति इत्यर्थोऽपि वृत्तौ सम्मतोऽस्ति ।

प्रस्तुताध्ययने मनुष्यस्य विवक्षामकृत्वा पूर्वं पृथिव्यादिप्राणिनां विवक्षा किमर्थं इति जिज्ञासायामेतद् वाच्यमस्ति—आचाराङ्गस्य केन्द्रीयं तत्त्वमस्ति आत्मा । अस्य मुख्यं प्रस्थानमस्ति सर्वेषामात्मनां समता ।<sup>२</sup> यादृश आत्मा पृथ्वीकायिकजीवानां वर्तते तादृश एव आत्मा अस्ति मनुष्यस्य । आत्मनः स्वरूपे नास्ति कोऽपि भेदः, केवलमस्ति तेषु ज्ञानावरणादीनां तारतम्यकृतो भेदः ।

### १७. लज्जमाणा पुढो पास ।

सं०—लज्जमानान् पृथक् पश्य ।

तू देख, प्रत्येक संयमी साधक हिंसा से विरत हो संयम का जीवन जी रहा है ।

भाष्यम् १७—हिंसा असंयम इतिकृत्वा ये लज्जन्ते—हिंसातो विरमन्ति तान् त्वं प्रत्येकं पश्य । केचिद् गृह-त्यागं कृत्वा पृथ्वीकायिकजीवानां हिंसातो विरमन्ति, न तु सर्वे । एतदेवाग्निमसूत्रे सूचितमस्ति ।

### १८. अणगारा मोत्ति एणे पवयमाणा ।

सं०—अणगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः ।

और तू देख, कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं'—यह निरूपित करते हुए भी गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करते हैं ।

भाष्यम् १८—केचिद् 'वयं अणगाराः स्म' इति प्रवदन्तोऽपि पृथ्वीकायिकजीवानां हिंसातो विरता न भवन्ति । अत्र सूत्रकारेण आश्चर्यव्यञ्जना कृता—यदि गृहस्थाः पृथ्वीकायिकजीवानां हिंसातो न विरमन्ति न तदाश्चर्यकारणम्, किन्तु अणगारा अपि ततो न विरता एतन् महदाश्चर्यम् । तैस्तु संयममयकर्मणोपि यथाशक्यं गुप्तिः साधनीया ।

'पुढो सिया' अर्थात् पृथ्वीकायिक प्राणी पृथक्-पृथक् शरीरों में आश्रित हैं । यहां पृथक् का अर्थ है—भिन्न-भिन्न शरीरों में तथा श्रित का अर्थ है—संबद्ध । पृथ्वीकायिक प्राणी 'प्रत्येकशरीरी' होते हैं । अर्थात् प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् शरीर होता है । वृत्ति में 'पुढोसिया' का यह अर्थ भी सम्मत है—पृथ्वी के आश्रित प्राणी हैं ।

प्रस्तुत अध्ययन में मनुष्य की विवक्षा न कर पहले पृथ्वी आदि प्राणियों की विवक्षा क्यों की गई ? इस जिज्ञासा के उत्तर में यह कहा गया है—आचारांग का केन्द्रीय तत्त्व आत्मा है । इसका मुख्य प्रस्थान (प्रतिपाद्य) है सभी आत्माओं की समता । जैसी आत्मा पृथ्वीकायिक जीवों की है वैसी ही आत्मा मनुष्य की है । आत्मा के स्वरूप में कोई भी भेद नहीं है । भेद है केवल उनके ज्ञानावरण आदि कर्मों के तारतम्य का ।

हिंसा असंयम है, ऐसा मानकर जो लज्जित होते हैं अर्थात् हिंसा से विरत होते हैं उन एक-एक को तुम देखो । गृहत्याग करके कुछेक साधक ही पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा से विरत होते हैं, सब नहीं । अग्निम सूत्रों में यही सूचित किया गया है ।

कुछ संन्यासी 'हम गृहत्यागी हैं'—यह कहते हुए भी पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा से विरत नहीं होते । इस प्रसंग में सूत्रकार ने आश्चर्य की अभिव्यञ्जना की है—यदि गृहस्थ पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा से विरत नहीं होते हैं तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु यदि अणगार उससे विरत नहीं होते हैं तो महान् आश्चर्य है । उनको संयम-पूर्ण प्रवृत्ति की भी यथाशक्य गुप्ति करनी चाहिए ।

### १९. जमिणं विरुवरुवेहि सत्थेहि पुढवि-कम्म-समारंभेण पुढवि-सत्थं समारंभेमाणे अण्णे वणेगरुवे पाणे विहिंसति ।

१. अंगसुत्ताणि २, भगवई १९।५ : सिय भंते ! जाव चत्तारि पंच पुढविक्काइया, एण्यओ साधारणसरीरं बंधंति, बंधित्ता तओ पच्छा आहारंति वा परिणामेति वा सरीरं वा बंधंति ?

नो इण्ठे सम्भे । पुढविक्काइया पत्तेयाहारा पत्तेय-

परिणामा पत्तेयं सरीरं बंधंति, बंधित्ता तओ पच्छा आहारंति वा परिणामेति वा सरीरं वा बंधंति ।

२. इण्ठव्यानि समताप्रतिपादकानि सूत्राणि—आयारो, १।२८, ३०, ५१-५३, ८२-८४, ११०-११३, १३७-१३९, १६१-१६३ ।

सं०—यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथिवीकर्मसमारम्भेण पृथिवीशस्त्रं समारम्भमाणः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी सम्बन्धी क्रिया में व्युत्पन्न होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, वह केवल उन पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

भाष्यम् १९—स पृथिवीशस्त्रं समारम्भमाण अन्यानपि यो नानाविधैः शस्त्रैः पृथ्वीकायिकजीवानां समारम्भं करोति, तदाश्रितान् जीवान् हिनस्ति । भणितञ्च—

पुढविकायं विहिसंतो, हिंसई उ तयस्सिए ।  
तसे य विविहे पाणे, चबखुसे य अचबखुसे ॥<sup>१</sup>

शस्यते येन तत् शस्त्रम् । पृथ्वीसन्दर्भे हलकुद्दाल-  
खनित्रादयः ।

पृथ्वीकर्मसमारम्भः—पृथिव्यां कर्म—खननं विलेखनं  
वा, तस्य समारम्भः—व्यापारः प्रवृत्तिर्वा ।

पृथ्वीशस्त्रम्—पृथ्वी एव शस्त्रमिति पृथ्वीशस्त्रम्,  
तत् समारम्भमाणः—हिसन्निति । पृथिव्याः शस्त्रं पृथ्वी-  
शस्त्रम्, तत् समारम्भमाणः—प्रयुञ्जान इति ।

अत्र शस्त्रपदं विमर्शमर्हति । शस्त्रं द्विविधं\* भवति—  
द्रव्यशस्त्रं भावशस्त्रञ्च । मारकं वस्तु द्रव्यशस्त्रं,  
असंयमश्च भावशस्त्रम् ।<sup>३</sup> उक्तं च स्थानांगे<sup>४</sup>—

सत्यमग्नीं ब्रह्मं लोणं, सिग्नेहो खारमंबिलं ।

कुप्पउत्तो मणो वाया, काओ भावो य अबिरतो ॥

वक्ष्यमाणेषु द्रव्यशस्त्रेषु सर्वत्रापि भावशस्त्रमूहनी-  
यम् । द्रव्यशस्त्रं त्रिधा विभक्तम्—

१. स्वकायशस्त्रम्—यथा कृष्णमृत्तिका पीतमृत्ति-  
कायाः ।

२. परकायशस्त्रम्—यथा अग्निः ।

३. तदुभयशस्त्रम्—यथा मृत्तिकामिश्रितं जलम् ।

२०. तत्र खलु भगवत्या परिणया पवेइया ।

सं०—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता ।

इस विषय में भगवान् महावीर ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है ।

१. दसवेआखियं ६।२७ ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२ : पुढविसत्थंति पुढविमेव सत्थं  
अप्पणो परेसि च, हत्तादीणि वा पुढविसत्थाणि ।

जो नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वीकायिक जीवों का समारम्भ करता है वह पृथ्वी के जीवों की हिंसा करता हुआ पृथ्वी के आश्रित अन्य जीवों की भी हिंसा करता है । कहा है—

पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ मनुष्य उसके आश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्य) तथा अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियों की हिंसा करता है ।

जिससे हिंसा की जाती है वह शस्त्र है । पृथ्वी के सन्दर्भ में हल, कुदाली, फावड़ा आदि शस्त्र हैं ।

पृथ्वीकर्म अर्थात् पृथ्वी-विषयक क्रिया—खोदना अथवा कुरेदना । उसका समारम्भ अर्थात् खोदने का प्रयोग करना, प्रवृत्ति करना । पृथ्वीकर्मसमारम्भ का संयुक्त अर्थ है—पृथ्वी को खोदने आदि की प्रवृत्ति करना ।

पृथ्वीशस्त्र—इस शब्द का विग्रह दो प्रकार से होता है—  
(१) पृथ्वी ही शस्त्र है वह पृथ्वीशस्त्र है । उसका समारम्भ अर्थात् हिंसा । (२) पृथ्वी का शस्त्र पृथ्वीशस्त्र है । उसका समारम्भ अर्थात् प्रयोग ।

यहां 'शस्त्र' पद विमर्शनीय है । शस्त्र दो प्रकार का होता है—  
द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र । सभी मारक पदार्थ द्रव्यशस्त्र हैं और असंयम भावशस्त्र है । स्थानांग सूत्र में कहा है—

अग्नि, विष, लवण, स्नेह, क्षार तथा अम्स—ये द्रव्यशस्त्र हैं तथा दुष्प्रयुक्त मन, वचन और काया तथा अविरति—ये भावशस्त्र हैं ।

आगे कहे जाने वाले द्रव्यशस्त्रों के साथ सर्वत्र भावशस्त्र की भी तर्कणा कर लेनी चाहिए । द्रव्यशस्त्र के तीन प्रकार हैं :—

१. स्वकायशस्त्र :—जैसे—काली मिट्टी पीली मिट्टी का शस्त्र होता है ।

२. परकायशस्त्र :—जैसे—अग्नि (मिट्टी का शस्त्र होता है) ।

३. तदुभय :—जैसे—मिट्टी मिश्रित जल (दूसरी मिट्टी का शस्त्र होता है) ।

किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंचि ।

एयं तु दध्वसत्थं, भावे उ असंजमो सत्थं ॥

३. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ९६ ।

४. ठाणं, १०।९३ ।

२१. इमस्स चेव जीविद्यस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोचनाए, दुक्खपडिघायहेउं ।

सं०—अस्मै चैव जीविताय, परिवंदन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुम् ।

वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोक्ष के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए ।

भाष्यम् २०.२१—द्रष्टव्यम्—९,१० सूत्रद्वयम् ।

देखें—९,१० वां सूत्र ।

२२. से सयमेव पुढवि-सत्थं समारंभइ, अण्णेहिं वा पुढवि-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा पुढवि-सत्थं समारंभते समणुजाणइ ।

सं०—स स्वयमेव पृथिवीशस्त्रं समारंभते, अन्यैर्वा पृथिवीशस्त्रं समारंभयति, अन्यान् वा पृथिवीशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते ।

कोई साधक स्वयं पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वालों का अनुमोदन करता है ।

२३. तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।

सं०—तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधयै ।

वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है, वह हिंसा उसकी अबोधि के लिए होती है ।

भाष्यम् २२.२३—निर्ग्रन्थप्रवचनप्रतिपन्नोऽपि गृहस्थः पृथ्वीकायिकजीवानां हिंसातः सर्वथा विरतिं कर्तुं न शक्नोति, किन्तु यो मुनिः भूत्वापि कृतकारितानुमतिभिः पृथ्वीकायिकजीवान् समारंभते, तत्तस्य अहिताय भवति, तत्तस्य अबोधयै भवति—स चिरेणापि बोधिं ज्ञानदर्शन-चारित्रात्मिकां रत्नत्रयीं न लभते, महदहितमेतत् ।

निर्ग्रन्थ-प्रवचन को स्वीकार कर लेने पर भी गृहस्थ पृथ्वी-कायिक जीवों की हिंसा से सर्वथा विरत नहीं हो सकता । किन्तु जो व्यक्ति मुनि होकर भी कृत, कारित और अनुमति से पृथ्वीकायिक जीवों का समारंभ करता है, वह उसके अहित के लिए होता है । वह उसकी अबोधि के लिए होता है । वह चिरकाल तक भी बोधि—ज्ञान-दर्शन-चारित्रात्मक रत्नत्रयी—को प्राप्त नहीं होता, यह महान् अहित है ।

२४. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए ।

सं०—स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय ।

वह उस हिंसा के परिणाम को समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है ।

भाष्यम् २४—यो मुनिः पृथ्वीकायिकजीवानां समारंभं तत्परिणामं वा सम्यक् संबुध्यते, स आदानीयम्—संयमं प्रति सम्यग् उत्थितो भवति ।

जो मुनि पृथ्वीकायिक जीवों के समारंभ और उसके परिणाम को सम्यक् प्रकार से जान लेता है, वह आदानीय अर्थात् संयम के प्रति सम्यक् रूप से उत्थित—सावधान हो जाता है ।

आदानीयम्—मुनेः संयम एव आदानीयम्—ग्राह्यं भवति, तेन अनेकार्थकस्याप्यस्य पदस्यात्र 'संयम' एवार्थः संगच्छते ।

आदानीयः—मुनि के लिए संयम ही आदानीय—ग्राह्य है । आदानीय पद के अनेक अर्थ हैं, किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में उसका अर्थ 'संयम' ही संगत लगता है ।

२५. सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णातं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए ।

सं०—श्रुत्वा खलु भगवतः अनगाराणां वा अन्तिके इहेकेषां ज्ञातं भवति—एषा खलु ग्रन्थः, एषा खलु मोहः, एषा खलु मारः, एषा खलु नरकः ।

सुनवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है ।

भाष्यम् २५—हिंसायाः परिणाममजानतः अहिंसायां प्रवृत्तिर्न भवति । तेन संबोधेरुपायोऽपि सूत्रकारेण

हिंसा के परिणामों को नहीं जानने वाला व्यक्ति अहिंसा में प्रवृत्त नहीं हो सकता, इसलिए सूत्रकार ने संबोधि का उपाय भी

दर्शितः । साक्षात् भगवतोऽर्हतः समीपे अन्येषां मुनीनां वा अन्तिके श्रुत्वा इतिज्ञातं भवति—एषा संबोधिर्देति—एषा हिंसा प्राणिनश्चित्तं ग्रन्थति तेनास्ति ग्रन्थिः, एषा मूढता नयति तेनास्ति मोहः, एषा मृत्युं नयति तेन मारः, एषा विपुलां वेदनां नयति तेन नरकः ।

प्रदर्शित किया है । साक्षात् अर्हत् भगवान से या अन्य मुनियों से सुन लेने पर यह ज्ञात होता है—यह संबोधि जागृत होती है कि यह हिंसा प्राणी के चित्त को ग्रन्थित करती है, इसलिए ग्रन्थि है । यह मूढता को प्राप्त कराती है, इसलिए मोह है । यह मृत्यु की ओर ले जाती है, इसलिए मार है तथा यह विपुल वेदना को उपलब्ध कराती है, इसलिए नरक है ।

## २६. इच्छत्थं गडिण लोए ।

सं०—इत्यत्र ग्रन्थितो लोकः ।

फिर भी सुख-सुविधा में मूर्च्छित व्यक्ति पृथ्वीकायिक जीव-निकाय की हिंसा करता है ।

भाष्यम् २६—यदि हिंसा ग्रन्थिर्मोहो मारो नरकश्च विद्यते तदानीं को हिंस्यात् ? अस्य संशयस्य समाधानार्थं सूत्रकारो वक्ति—इत्यत्र सुखसुविधायां मूर्च्छितो लोको जीवान् हिनस्ति पृथ्वीकायिकान् तदाश्रितजीवांश्च, यथा—

यदि हिंसा ग्रन्थि, मोह, मार और नरक है तो हिंसा की प्रवृत्ति करेगा ही कौन ? इस संशय के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—सुख-सुविधा में मूर्च्छित प्राणी पृथ्वीकायिक और पृथ्वी के आश्रित जीवों की हिंसा करता है । जैसे—

## २७. जमिणं विरुवरुर्वोह सत्थोह पुढवि-कम्म-समारंभेण पुढवि-सत्थं समारंभमाणे अपणे वणेगरुवे पाणे विहिसइ ।

सं०—यदिदं विरुवरुर्वोह सत्थोह पुढवि-कम्म-समारंभेण पुढवि-सत्थं समारंभमाणे अपणे वणेगरुवे पाणे विहिसइ ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से पृथ्वी सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है तथा वह केवल उन पृथ्वीकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

भाष्यम् २७—द्रष्टव्यम्—१७ सूत्रम् ।

देखें—१७वां सूत्र ।

## २८. से बेमि—अप्येगे अंधमग्गे, अप्येगे अंधमच्छे ।

सं०—तद् ऋवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्धाद्, अप्येकः अन्धमाच्छिद्यात् ।

मैं कहता हूँ—पृथ्वीकायिक जीव जन्मना इन्द्रिय-विकल—अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाले होते हैं । शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल अंधे मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवों को होती है ।

भाष्यम् २८—स्यादारोकः—किं पृथिव्यां सन्ति जीवाः ? सूक्ष्मतत्त्वावबोधार्थं अतीन्द्रियज्ञानमेव प्रमाणं, तथापि पूर्वाचार्यैरत्र काश्चिद् युक्तयः सन्ति प्रदर्शिताः—समानजातीयलतोद्भेदादिकमर्शोमांसांकुरवत् चेतना-चिह्नमस्त्येव ।<sup>१</sup> कुन्दकुन्दाचार्येण 'पंचास्तिकाये' एकेन्द्रियाणां जीवत्वनिश्चयार्थं एष तर्कः प्रस्तुतः—येन प्रकारेण अंडान्तर्लीनानां गर्भस्थानां मूर्च्छितानां च जीवत्वं बुद्धिपूर्वकव्यापारादर्शनेऽपि निश्चीयते, तेन

शंका हो सकती है—क्या पृथ्वी में जीव हैं ? यद्यपि सूक्ष्म तत्त्व के अवबोध के लिए अतीन्द्रियज्ञान ही प्रमाण होता है, फिर भी पूर्वाचार्यों ने इस विषय में कुछ युक्तियां प्रदर्शित की हैं । वे कहते हैं—जैसे—मससे में मांसांकुर फूटते हैं वैसे ही पर्वत में समानजातीय शिला का उद्भेद होता है । यह चेतना का ही चिह्न है । आचार्य कुन्दकुन्द ने पंचास्तिकाय में एकेन्द्रिय प्राणियों का जीवत्व सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया है—जिस प्रकार अण्डे में अन्तर्लीन और गर्भ में स्थित जीवों तथा मूर्च्छित प्राणियों में बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति नहीं देखी जाती,

१. (क) आचारांग जूणि, पृष्ठ २३ : इति एत्थं पुढविकाए आहारोवगरणविभूतणहेऊ मुच्छिओ गडिओ गिडोत्ति वा एगट्ठं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र ३४ : इच्छत्थमित्यादि, इत्येवमर्थं आहारभूषणोपकरणार्थं तथा परिवन्धन-

माननपूजनार्थं दुःखप्रतिघातहेतुं च गृद्धो—मूर्च्छितो लोकः—प्राणिगणः ।

२. दशवंकालिक हारिभद्राया वृत्ति, पत्र १३९ : समान-जातीयांकुरोत्पस्युपलम्भात् देवदत्तमांसांकुरवत् ।



प्रकारेणैव एकेन्द्रियाणां अपि जीवत्वं संसाधनीयम् ।  
एकेन्द्रियाणां अंडमध्यादिर्वर्तिपञ्चेन्द्रियाणां च बुद्धि-  
पूर्वकव्यापारादर्शनस्य समानत्वाद् ।<sup>१</sup>

इदानींतना भूवैज्ञानिका अपि मन्वते—शिलाखण्ड-  
पर्वतादयोऽपि हीयन्ते वर्धन्ते च । तेषु क्लान्तिश्चया-  
पचयो मृत्युश्च—एतानि त्रीण्यपि चैतन्यलक्षणानि  
विद्यन्ते ।

अस्ति तेषु अव्यक्तचेतना, अतस्ते व्यक्तचैतन्यप्राणि-  
वन् न सन्ति सहजबोध्याः । भगवता महावीरेण  
पृथिव्यां न केवलं चैतन्यमेव प्रतिपादितं किन्तु तद्विषये  
अनेकानि तथ्यान्यपि प्रकृतानि—

(१) श्वासोच्छ्वासः—गौतमेन पृष्टं—‘भगवन् !  
पृथ्वीकायिकजीवानां उच्छ्वासनिःश्वासं वयं न पश्यामो  
न च तद्विषये जानीमो वा । किं ते उच्छ्वसन्ति  
निःश्वसन्ति वा ?

भगवता प्रोक्तं—गौतम ! ते निर्व्याघातेन षड्दिशा-  
तोऽपि उच्छ्वसन्ति निःश्वसन्ति, व्याघातं प्रतीत्य स्यात्  
त्रिदिशः स्याच्चतुर्दिशः स्यात् पञ्चदिशः ।<sup>२</sup>

(२) करणम्—गौतमेन पृष्टं—भगवन् ! एकेन्द्रिय-  
जीवानां कति करणानि भवन्ति ?

भगवता प्रोक्तं—तेषां द्विविधं करणं भवति—  
कायकरणं कर्मकरणञ्च ।<sup>३</sup>

क्रियन्ते प्रवृत्तयः संवेदनानि ज्ञानानि वा  
येन तत् करणम् । तच्च क्वचिच्छरीरं, क्वचित् कर्म,  
क्वचिदिन्द्रियाणि, क्वचिदतीन्द्रियज्ञानस्य निमित्तभूतानि  
चैतन्यकेन्द्राणि, क्वचिच्च संवेदनकेन्द्राणि ।

(३) वेदना—गौतमेन पृष्टं—भगवन् ! पृथ्वी-  
कायिकजीवाः किं करणतो वेदनां वेदयन्ति अथवा  
अकरणतः ?

फिर भी उनमें जीवत्व का निश्चय किया जाता है । उसी प्रकार से ही  
एक इन्द्रिय वाले जीवों का भी जीवत्व सिद्ध होता है । एक इन्द्रिय  
वाले प्राणियों तथा अण्डे आदि के मध्यवर्ती स्थित पंचेन्द्रिय प्राणियों में  
बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति दृष्टिगोचर नहीं होती । इस बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति का  
अदर्शन दोनों में समान है ।

आधुनिक भूवैज्ञानिक भी मानते हैं—शिलाखण्ड, पर्वत आदि  
में भी हानि और वृद्धि होती है । उनमें क्लान्ति, चयापचय और  
मृत्यु—चैतन्य के ये तीनों लक्षण पाए जाते हैं ।

उनमें चेतना अव्यक्त होती है, इसलिए उनको व्यक्त चेतना  
वाले प्राणी की तरह सहजतया जाना नहीं जा सकता । भगवान्  
महावीर ने पृथ्वी में केवल चेतना का ही प्रतिपादन नहीं किया है,  
किन्तु इस विषय में अनेक तथ्य भी प्रकट किये हैं—

(१) श्वासोच्छ्वास—गौतम ने पूछा—भगवन् ! पृथ्वीकायिक  
जीवों का उच्छ्वास-निःश्वास न हमें दीखता है और न हम उस विषय  
में जानते हैं । क्या वे उच्छ्वास-निःश्वास की क्रिया करते हैं ?

भगवान् ने कहा—गौतम ! वे व्याघात न होने पर छहों  
दिशाओं से उच्छ्वसन-निःश्वसन करते हैं तथा व्याघात होने पर तीन  
या चार या पांच दिशाओं से ।

(२) करण—गौतम ने पूछा—भगवन् ! एकेन्द्रिय जीवों के  
कितने करण होते हैं ?

भगवान् ने कहा—उनके दो प्रकार का करण होता है—  
कायकरण और कर्मकरण ।

जिससे प्रवृत्ति, संवेदन और ज्ञान संपादित होता है, वह करण  
है । कहीं करण का प्रयोग शरीर के अर्थ में, कहीं कर्म, कहीं इन्द्रियां  
कहीं अतीन्द्रिय ज्ञान के निमित्तभूत चैतन्य-केन्द्र और कहीं संवेदन-केन्द्र  
के अर्थ में होता है ।

(३) वेदना—गौतम ने पूछा—भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक  
जीव करण से वेदना का वेदन करते हैं या अकरण से ?

१. पंचास्तिकाय, गाथा ११३ :

अंडेषु पवडहंता गम्भत्था माणुसा य मुच्छगया ।

जारिसया तारिसया जीवा एगंदिया जेया ॥

२. अंगमुत्ताणि २, भगवई २।२, ५ : जे इमे भंते ! वेइंदिया  
तेइंदिया चउरिंदिया पंचिंदिया जीवा एएस्ति णं आणामं  
वा पाणामं वा उस्तासं वा निस्तासं वा जाणामो  
पासामो ।

जे इमे पुढवीकाइया जाव वणपफइकाइया—एगिंदिया  
जीवा एएस्ति णं आणामं वा पाणामं वा उस्तासं वा

निस्तासं वा न याणामो न पासामो । एएणं भंते ! जीवा  
आणमंति वा ? पाणमंति वा ? ऊससंति वा ? नीससंति  
वा ? .....हंत गोयमा ! एए वि णं जीवा आणमंति वा  
पाणमंति वा ऊससंति वा नीससंति वा । एएणं भंते !  
जीवा कइदिसं आणमंति वा ? पाणमंति वा ? ऊससंति  
वा ? नीससंति वा ? गोयमा ! निव्वाघाएणं छट्ठिसि,  
वाघायं पडुच्च सिय त्तिदिसि सिय चउदिसि सिय पंचदिसि ।

३. अंगमुत्ताणि २, भगवई ६।७ : एगिंदियाणं दुविहे—काय-  
करणे य कम्मकरणे य ।

भगवता प्रोक्तं—ते शुभाशुभेन करणेन वेदनां वेदयन्ति, नो अकरणतः ।<sup>१</sup>

गौतमः—भगवन् ! असंज्ञिनः प्राणिनः पृथ्वी-कायिकादय अन्धा मूढाः तमःप्रविष्टाः सन्तः अमनस्क-हेतुकां वेदनां वेदयन्ति । किमिदं सत्यम् ?

भगवान्—गौतम ! एतत् सत्यमस्ति ।<sup>२</sup>

(४) शरीरावगाहना—गौतमः—भगवन् ! पृथ्वी-कायिक जीवानां कियती महती शरीरावगाहना भवति ?

भगवान्—गौतम ! चातुरंतचक्रवर्तिन एका काचित् स्थिराग्रहस्ता औरस्यबलसमन्वागता तरुणी एकं पृथ्वी-कायखण्डं गृहीत्वा तीक्ष्णायां वज्रमय्यां श्लक्ष्णकरण्यां तीक्ष्णेन वज्रमयेन वर्तकेन (शिलापुत्रकेन) एकविंशति-वारं पिनष्टि । तदानीमपि केचित् संघट्टिता भवन्ति केचिच्च नो, केचित् परितापिता भवन्ति केचिच्च नो, केचिद्द्रुपद्रुता भवन्ति केचिच्च नो, केचित् स्पृष्टा भवन्ति केचिच्च नो । इयती सूक्ष्मशरीरावगाहना तेषां पृथ्वी-कायिकजीवानाम् ।<sup>३</sup>

(५) दृश्यता—पृथ्वीकायिकजीवाः सूक्ष्मशरीराव-गाहनावन्तः सन्ति, तेन नैकद्वधादिजीवानां शरीराणि दृष्टानि भवन्ति, किन्तु तेषामसंख्यजीवानां पिण्डीभूतानि शरीराणि वयं द्रष्टुं शक्नुमः ।<sup>४</sup>

(६) भोगित्वम्—गौतमः—पृथ्वीकायिकजीवा किं कामिनो भोगिनो वा ?

भगवान् ने कहा—वे शुभ-अशुभ करण से वेदना का वेदन करते हैं, अकरण से नहीं ।

गौतम—भगवन् ! पृथ्वीकायिक आदि असंज्ञी प्राणी अन्ध, मूढ और अन्धकार में निमग्न होने के कारण अमनस्कहेतुक वेदना का वेदन करते हैं । क्या यह सत्य है ?

भगवान्—गौतम ! यह सत्य है ।

(४) शरीरावगाहना—गौतम—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर की अवगाहना (परिवाण) कितनी बड़ी होती है ?

भगवान्—गौतम ! चातुरन्त चक्रवर्ती की स्थिर हस्ताग्र (हथेली तथा अंगुलियों) वाली तथा शारीरिक शक्ति से सम्पन्न कोई एक युवती तीक्ष्ण वज्रमयी चिकनी खरल में तीक्ष्ण वज्रमय वर्तक (बट्टे) से पृथ्वीकाय के एक टुकड़े को इक्कीस बार पीसती है । तब भी कुछ पृथ्वीकायिक जीव संघट्टित होते हैं और कुछ नहीं, कुछ परितापित होते हैं और कुछ नहीं, कुछ भयभीत होते हैं और कुछ नहीं, कुछ स्पृष्ट होते हैं और कुछ नहीं । इतनी सूक्ष्म अवगाहना होती है पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर की ।

(५) दृश्यता—पृथ्वीकायिक जीवों के शरीर की अवगाहना सूक्ष्म होती है, इसलिए एक-दो जीवों के शरीर देखते नहीं हैं । किन्तु उन असंख्य जीवों के पिण्डीभूत शरीरों को ही हम देख सकते हैं ।

(६) भोगित्व—गौतम ने पूछा—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कामी होते हैं या भोगी ?

१. अंगसुत्ताणि २, भगवई ६।१३ : पुढ्वीकाइयाणं एवमेव पुच्छा, नवरं—इच्छेएणं सुभासुभेणं करणेणं पुढ्विककाइया करणओ वेमायाए वेदणं वेदंति, नो अकरणओ ।

२. वही, भगवई ७।१५० : जे इमे भंते ! असण्णिणो पाणा, तं जहा—पुढ्विकाइया जाव वणस्सइकाइया, छट्ठा य एमतिया तसं—एए णं अंधा, मूढा, तमंपविट्ठा, तमपडल-मोहजाल-पडिच्छन्ना अकामनिकरणं वेदणं वेदंतीति वत्तं वं सिया ?

हंता गोयमा ! जे इमे असण्णिणो पाणा जाव वेदणं वेदंतीति वत्तं वं सिया ।

३. वही, भगवई १९।३४ : पुढ्विकाइयस्स णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?

गोयमा ! ते जहानामए रण्णो चाउरंतचक्रवट्टिस्स वण्णग-पेसिया तरुणी बलवं जुगवं जुवाणी अप्पायंका थिरग्गहत्था ददधाणि-पाय-पास-पिडुंतरोरपरिणता तलजमलजुयल-परिघनिमबाहू उरस्सबलसमण्णागया लंघण-पवण-जइण-धायाम-समत्था छेया दक्खा पत्तट्ठा कुसला मेहावी निउणा

निउणसिप्पोवगया तिक्खाए वइरामईए सण्हकरणीए तिक्खेणं वइरामएणं वट्टावरएणं एगं महं पुढ्विकाइयं जतुगोलासमाणं गहाय पडिसाहरिय-पडिसाहरिय पडिसंखि-विय-पडिसंखिविय जाव इणामेवत्ति कट्टु तिसत्तक्खुत्तो ओप्पीसेज्जा, तत्थ णं गोयमा ! अत्थेगतिया पुढ्विककाइया आलिद्धा अत्थेगतिया पुढ्विककाइया नो आलिद्धा, अत्थे-गतिया संघट्टिया अत्थेगतिया नो संघट्टिया, अत्थेगतिया परिवाविया अत्थेगतिया नो परिवाविया, अत्थेगतिया उट्टिया अत्थेगतिया नो उट्टिया, अत्थेगतिया पिट्ठा अत्थेगतिया नो पिट्ठा, पुढ्विककाइयस्स णं गोयमा ! एमहालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ।

४. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ८२, ८३ :

इक्कस दुण्ह तिण्ह व संखिज्जाण व न पासिउं सक्का ।  
वीसंति सरीराइं पुढ्विजीयाणं असंखाणं ॥  
एएहिं सरीरेहिं पच्चक्खं ते परुविया हंति ।  
सेसा आणागिज्जा चवखुफासं न जं इति ॥

भगवान्—नो कामिनः, किन्तु स्पर्शनेन्द्रियं प्रतीत्य केवलं भोगिनः ।<sup>१</sup>

(७) आश्रवादि—गौतमः—किमेतत् सत्यम्— कदाचित् पृथ्वीकायिकजीवा महाश्रवा महाक्रिया महावेदना महानिर्जरा भवन्ति, कदाचिच्च अल्पाश्रवा अल्पक्रिया अल्पवेदना अल्पनिर्जरा भवन्ति ?

भगवान्—गौतम ! अस्ति सत्यमिदम् ।<sup>२</sup>

(८) जरा, शोकः—गौतमः—पृथ्वीकायिकजीवानां किं जरा भवति शोकश्च ?

भगवान्—गौतम ! पृथ्वीकायिकजीवाः शारीरिकीं वेदनां वेदयन्ति, तेन तेषां जरा भवति । ते मानसिकीं वेदनां न वेदयन्ति, तेन तेषां शोको न भवति ।<sup>३</sup>

(९) उन्मादः—गौतमः—भगवन् ! उन्मादः कतिधा ?

भगवान्—गौतम ! द्विविध उन्मादः—यक्षावेशजनिः मोहोदयजनितश्च ।

गौतमः—भगवन् ! पृथ्वीकायिकजीवेषु उन्मादो भवति न वा ?

भगवान्—गौतम ! तेषु द्विविधोऽपि उन्मादो भवति ।<sup>४</sup> प्रेतादिभिरशुभपुद्गलप्रक्षेपजनितः—यक्षावेशजनिः, मोहकर्मविपाकजनितश्च मोहोदयजनितः ।

इदानीमपि प्रेताभिभूतानां हीरकाणां तथाविध

भगवान्—गौतम ! वे कामी नहीं होते, किन्तु स्पर्शनेन्द्रिय की अपेक्षा से केवल भोगी होते हैं ।

(७) आश्रव आदि—गौतम—भंते ! क्या यह सत्य है कि पृथ्वीकायिक जीव कभी महाआश्रव वाले, महाक्रिया वाले, महावेदना वाले और महानिर्जरा वाले होते हैं तथा कभी अल्पआश्रव वाले, अल्पक्रिया वाले, अल्पवेदना वाले और अल्पनिर्जरा वाले होते हैं ?

भगवान्—गौतम ! यह सत्य है ।

(८) जरा और शोक—गौतम—भंते ! क्या पृथ्वीकायिक जीवों के जरा और शोक होते हैं ?

भगवान्—गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव शारीरिक वेदना का वेदन करते हैं, इसलिए उनके जरा होती है । वे मानसिक वेदना का वेदन नहीं करते, इसलिए उनके शोक नहीं होता ।

(९) उन्माद—गौतम—भगवन् ! उन्माद कितने प्रकार का होता है ?

भगवान्—गौतम ! उन्माद दो प्रकार का होता है—यक्षावेशजनित और मोहोदयजनित ।

गौतम—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों में उन्माद होता है या नहीं ?

भगवान्—गौतम ! उनमें दोनों प्रकार का उन्माद होता है । प्रेत आदि के द्वारा अशुभ पुद्गलों के प्रक्षेपण से होने वाला उन्माद यक्षावेशजनित और मोहकर्म के विपाक से होने वाला उन्माद मोहोदय जनित कहलाता है ।

वर्तमान में भी देखा जाता है कि प्रेत से अभिभूत हीरों के

हंता सिया ।

३. वही, भगवई, १६।३०-३१—पुढविकाइयाणं भंते ! किं जरा ? सोगे ?

गोयमा ! पुढविकाइयाणं जरा, न सोगे ।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—पुढविकाइयाणं जरा नो सोगे ?

गोयमा ! पुढविकाइयाणं सारीरं वेदणं वेदंति, नो माणसं वेदणं वेदंति । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—पुढविकाइयाणं जरा, नो सोगे ।

४. अंगसुत्ताणि २, भगवई १४।१६-२० : कतिविहे णं भंते ! उन्मादे पण्णते ? गोयमा ! दुविहे उन्मादे पण्णते, तं जहा—जक्खाएसे य, मोहणिज्जस्स य कम्मस्स उदएणं ।

तत्थ णं जे से जक्खाएसे से णं सुहवेयणतराए चेव सुहविमोयणतराए चेव । तत्थ णं जे से मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं से णं दुहवेयणतराए चेव दुहविमोयणतराए चेव ।…………… से तेणट्ठेणं जाव……………पुढविकाइयाणं जाव मणुस्साणं…………… ।

१ अंगसुत्ताणि २, भगवई ७।१३८-१४२ : जीवा णं भंते ! किं कामी ? भोगी ?

गोयमा ! जीवा कामी वि, भोगी वि ।

से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ—जीवा कामी वि ? भोगी वि ?

गोयमा ! सोइदिय-चकिखदियाइं पडुच्च कामी, घाणदिय-जिभिदिय-फासिदियाइं पडुच्च भोगी । से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ—जीवा कामी वि, भोगी वि ।

पुढविकाइयाणं—पुच्छा ।

गोयमा ! पुढविकाइया नो कामी, भोगी ।

से केणट्ठेणं जाव भोगी ?

गोयमा ! फासिदिय पडुच्च । से तेणट्ठेणं जाव भोगी ।

२. वही, भगवई १९।५५-५६ सिय भंते ! पुढविकाइया महासवा महाकिरिया महावेयणा महानिज्जरा ?

हंता सिया ।

सिय भंते ! पुढविकाइया अप्पासवा अप्पकिरिया अप्पवेयणा अप्पनिज्जरा ?

उन्मादः परिदृश्यते ।<sup>१</sup> कानिचिद् भवनान्यपि यक्षावेश-  
ग्रस्तानि दृश्यन्ते ।<sup>२</sup>

(१०) संज्ञा—गौतमः—भगवन् ! कति संज्ञा वर्तन्ते ?  
भगवान्—गौतम ! दश संज्ञा वर्तन्ते—आहार-भय-  
मैथुन - परिग्रह - क्रोध - मान - माया-लोभ-लोक-ओष-  
संज्ञाः ।

गौतमः—पृथ्वीकायिकजीवानां कति संज्ञा  
भवन्ति ?

भगवान्—गौतम ! तेषां दशापि संज्ञा भवन्ति ।<sup>३</sup>

(११) ज्ञानम्—पृथ्वीकायिकजीवेषु मतिः श्रुतिमिति  
द्विविधोऽपि अव्यक्तो बोधो भवति ।<sup>४</sup> तेषु मनुष्यादीनां  
भाषामनोजनितप्रकम्पनानां ग्रहणशक्तिरपि विद्यते ।  
यद्यपि तेषामेकेन्द्रियादीनां परोपदेशश्रवणासम्भवस्तथापि  
तेषां तथाविधक्षयोपशमभावतः कश्चिदव्यक्तोऽक्षरलाभो  
भवति, यद्वशादक्षरानुषक्तं श्रुतज्ञानमुपजायते । इत्थं  
चैतदङ्गीकर्तव्यम् । तथाहि तेषामप्याहाराद्यभिलाष  
उपजायते । अभिलाषश्च प्रार्थना, सा च यदीदमहं  
प्राप्नोमि ततो भव्यं भवतीत्याद्यक्षरानुविद्धैव, ततस्ते-  
षामपि काचिदव्यक्ताक्षरलब्धिरवश्यं प्रतिपत्तव्या ।<sup>५</sup>

पृथ्वीकायिकजीवेषु केवलमव्यक्तमेव अतीवाल्पतरं  
मनो द्रष्टव्यम्, यद्वशाद् आहारादिसंज्ञा अव्यक्तरूपाः  
प्रादुर्भवन्ति ।<sup>६</sup>

मत्तमूर्च्छितविषभावितपुरुषज्ञानवद् एकेन्द्रियाणां  
सर्वजघन्यविज्ञानं भवति ।<sup>७</sup>

(१२) आहारः—गौतमः—भगवन् ! पृथ्वीकायिक-  
जीवाः कियता कालेन आहारार्थिनो भवन्ति ?

भगवान्—गौतम ! ते अनुसमयं अविरहितं आहारा-  
र्थिनो भवन्ति । आहारपुद्गलानां पुराणान् वर्णादिगुणान्  
विपरिणमय्य अन्यानपूर्वान् वर्णादिगुणानुत्पाद्य तान्  
सर्वात्मना आहरन्ति ।<sup>८</sup>

(१३) पर्यवः—गौतमः—भगवन् ! पृथ्वीकायिक-  
जीवेषु कति पर्यवा भवन्ति ?

धारण करने वाले व्यक्ति में वैसा उन्माद पैदा होता है । यक्षावेशग्रस्त  
कुछ भवन भी देखने को मिलते हैं ।

(१०) संज्ञा—गौतम ने पूछा—भगवन् ! संज्ञाएं कितनी हैं ?  
भगवान्—गौतम ! संज्ञाएं दस हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा,  
मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा,  
लोकसंज्ञा और ओषसंज्ञा ।

गौतम—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों में कितनी संज्ञाएं होती  
हैं ?

भगवान्—गौतम ! उनमें दसों संज्ञाएं होती हैं ।

(११) ज्ञान—पृथ्वीकायिक जीवों में मति और श्रुत—यह  
दोनों प्रकार का अव्यक्त बोध होता है । उनमें मनुष्य आदि की भाषा  
और मनोजनित प्रकम्पनों को पकड़ने की शक्ति भी होती है । यद्यपि  
उन एकेन्द्रिय आदि जीवों के लिए दूसरों का वचन सुनना असंभव है,  
फिर भी उनके अक्षर-लाभ के अनुरूप क्षयोपशम के कारण कोई  
अव्यक्त अक्षरलाभ होता है । इसके फलस्वरूप अक्षर सम्बन्धी श्रुतज्ञान  
उत्पन्न होता है । इस प्रकार उनमें श्रुतज्ञान को स्वीकार किया जा  
सकता है । इसके अतिरिक्त उनमें आहार आदि की अभिलाषा पैदा  
होती है । अभिलाषा का अर्थ है—मांग । जैसे—यदि यह मुझे मिल  
जाए तो अच्छा हो । यह मांग अक्षरात्मक ही होती है । इसलिए उनमें  
भी कुछ अव्यक्त अक्षरलब्धि अवश्य मानी जा सकती है ।

पृथ्वीकायिक जीवों में केवल अव्यक्त और अतीव अल्पतर मन  
होता है, जिससे आहार आदि संज्ञाएं अव्यक्त रूप में प्रादुर्भूत होती हैं ।

मत्त, मूर्च्छित तथा विष से प्रभावित पुरुष के ज्ञान की तरह  
एकेन्द्रिय जीवों में जघन्यतम ज्ञान होता है ।

(१२) आहार—गौतम—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों में  
कितने समय के अन्तराल से आहार की अभिलाषा उत्पन्न होती है ?

भगवान्—गौतम ! उनमें प्रतिक्षण, निरन्तर आहार की  
अभिलाषा होती है । वे आहार के पुद्गलों के पहले वाले वर्ण आदि  
गुणों का विपरिणमन कर, अन्य नए वर्ण आदि गुणों को उत्पन्न कर  
उन्हें सर्वात्मना आत्मसात् कर लेते हैं ।

(१३) पर्यव—गौतम—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों में कितने  
पर्यव होते हैं ?

१. संदेश (गुजराती पत्र), २४ जुलाई १९८३ पृ० ८ ।

२. नवभारत टाइम्स—वार्षिक अंक—पराविद्या के रहस्य  
१९७६, पृ० ४३ ।

३. अंगसुत्ताणि २, भगवई ७।१६१ : कति णं भंते ! सण्णाओ  
पणत्ताओ ?

गोयमा ! इस सण्णाओ पणत्ताओ, तं जहा—आहारसण्णा,  
भयसण्णा, मेट्टणसण्णा, परिग्रहसण्णा, कोहसण्णा, माण-  
सण्णा, मायासण्णा, लोभसण्णा, लोभसण्णा, ओहसण्णा ।

४. अंगसुत्ताणि २, भगवई ८।१०७ : पुढविक्काइया णं भंते !  
किं नाणी ? अण्णाणी ?

गोयमा ! नो नाणी, अण्णाणी । जे अण्णाणी ते नियमा  
दुअण्णाणी—मइअण्णाणी, सुयअण्णाणी य ।

५. नन्दी, मलयगिरि वृत्ति, पत्र १८८ ।

६. नन्दी, मलयगिरि वृत्ति, पत्र १८० ।

७. नन्दी चूर्णि पृष्ठ ४६ ।

८. पन्नवण्णा २८।२८-३२ ।

भगवान्—गौतम ! तेष्वनन्ता पर्यवा भवन्ति । ते परस्परमपि वर्णादिविषये ज्ञानदर्शनविषये च षट्स्थानपतिता भवन्ति ।\*

(१४) इन्द्रियज्ञानेन अज्ञेयत्वम्—यथा वृक्षे सूक्ष्मः स्नेह-मुणो विद्यते तेनैव तस्थाहारेण शरीरोपचयो जायते, किन्तु अव्यक्तत्वेन तन्नैव लक्ष्यते । तथैव पृथिव्यामप्यस्ति सूक्ष्मस्नेहः, किन्तु सूक्ष्मत्वेन स नैव दृश्यते ।<sup>१</sup>

(१५) कषायः—पृथ्वीकायिकजीवेषु क्रोधादयोऽपि भवन्ति, किन्तु ते भावाः सूक्ष्माः सन्ति, तेनेन्द्रियज्ञानि-नोऽनुपलक्ष्याः । यथा मनुष्याः क्रोधोदये सति आक्रो-शन्ति, त्रिवलीं भ्रुकुटिं वा कुर्वन्ति, तथा क्रोधोदये सति पृथ्वीकायिकजीवास्तं प्रदर्शयितुं न प्रत्यलाः ।<sup>२</sup>

(१६) लेश्या—पृथ्वीकायिकजीवेषु चतस्रो लेश्या भवन्ति—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या ।<sup>३</sup> अनेन ज्ञायते तेषु मनसो विकासो नास्ति, तथापि भावानामस्ति त्वं विद्यते । सत्सु भावेषु आभा-मण्डलस्यापि विद्यमानता ।

प्रश्नः समुत्थितः—‘भगवन् ! पृथ्वीकायिकजीवा न शृण्वन्ति, न पश्यन्ति, न जिघ्रन्ति, न गच्छन्ति । तेषां वेदना भवतीति वयं कथं प्रतीमः ?’

भगवता अस्मिन् विषये प्रस्तुतसूत्रे त्रयो दृष्टान्ताः प्रज्ञप्ताः ।

प्रथमो दृष्टान्तः—

१. यथा कश्चित् पुरुषः अन्धं—इन्द्रियविकलं पुरुषं आभिन्द्यादाच्छिन्द्याच्च । किं स वेदनां नानुभवति ? स इन्द्रियवैकल्याद् वेदनां व्यञ्जितुमशक्नुवन्नपि तामनु-भवति । तथैव वेदनाभिव्यञ्जनायामक्षमा अपि पृथ्वी-कायिकजीवास्तामनुभवन्त्येव । अस्मिन् सूत्रे चूर्णिकारेण ‘अग’ पदमपि व्याख्यातम्—स पुरुषो न केवलं इन्द्रिय-विकलः, अपि तु गतिविकलोऽपि, यथा मृगापुत्रः पाषाण-खण्डकल्पोऽपि वेदनामन्वभवत्<sup>४</sup> तथा पृथ्वीकायिकजीवा अपि ।<sup>५</sup>

भगवान्—गौतम ! उनमें अनन्त पर्यव होते हैं । वे परस्पर वर्ण आदि के विषय में और ज्ञान-दर्शन के विषय में षट्स्थानपतित होते हैं ।

(१५) इन्द्रियज्ञान से अज्ञेयता—वृक्ष में सूक्ष्म स्नेहगुण होता है । उसी के आहार से वृक्ष के शरीर का उपचय होता है, किन्तु अव्यक्त होने के कारण वह परिलक्षित नहीं होता । वैसे ही पृथ्वी में भी सूक्ष्मस्नेह होता है, किन्तु सूक्ष्मता के कारण वह दिखाई नहीं देता ।

(१५) कषाय—पृथ्वीकायिक जीवों में क्रोध आदि भाव भी होते हैं किन्तु वे सूक्ष्म होने के कारण इन्द्रिय-ज्ञानियों से उपलक्षित नहीं होते । जैसे—क्रोध का उदय होने पर मनुष्य आक्रोश करते हैं, त्रिवली करते हैं या भ्रुकुटि तानते हैं, उस प्रकार पृथ्वीकायिक जीव क्रोध का उदय होने पर उसे प्रदर्शित करने में समर्थ नहीं होते ।

(१६) लेश्या—पृथ्वीकायिक जीवों में चार लेश्याएं होती हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या और तेजोलेश्या । इससे ज्ञात होता है कि उनमें मन का विकास नहीं है, फिर भी उनमें भावों का अस्तित्व है । भावों का अस्तित्व होने के कारण उनमें आभामण्डल भी होता है ।

गौतम ने प्रश्न उपस्थित किया—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव न सुनते हैं, न देखते हैं, न सूँघते हैं और न गति करते हैं । हम कैसे विश्वास करें कि उनको वेदना होती है ?

इस विषय में भगवान् ने प्रस्तुत सूत्र में तीन दृष्टान्तों का निरूपण किया है ।

पहला दृष्टान्त—

१. जैसे कोई पुरुष अन्ध अर्थात् इन्द्रिय-विकल पुरुष का भेदन-छेदन करता है, क्या उसे वेदना का अनुभव नहीं होता ? वह इन्द्रिय-विकलता के कारण वेदना को व्यक्त करने में असमर्थ होते हुए भी उसका अनुभव करता ही है । उसी प्रकार वेदना को प्रकट करने में अक्षम होते हुए भी पृथ्वीकायिक जीव उसका अनुभव अवश्य करते हैं । इस सूत्र में चूर्णिकार ने ‘अग’ पद को भी व्याख्यात किया है—वह पुरुष न केवल इन्द्रिय-विकल होता है, अपितु गति-विकल भी होता है । जैसे मृगापुत्र पत्थर के टुकड़े के समान था, फिर भी वह वेदना का अनुभव करता था, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव वेदना का अनुभव करते हैं ।

१. षट्स्थानपतिता—

हीन

१. अनन्तभाग हीन
२. असंख्यातभाग हीन
३. संख्यातभाग हीन
४. संख्यातगुण हीन
५. असंख्यातगुण हीन
६. अनन्तगुण हीन

अधिक

१. अनन्तभाग अधिक
  २. असंख्यातभाग अधिक
  ३. संख्यातभाग अधिक
  ४. संख्यातगुण अधिक
  ५. असंख्यातगुण अधिक
  ६. अनन्तगुण अधिक
- (भगवई, २५।३५०)

२. पन्नवणा ५।५२-२३ ।

३. निशीथभाष्य, गाथा ४२६४ ।

४. निशीथभाष्य, गाथा ४२६५ :

कोहार्ई परिणामा तहा, एगिदियाण जंतुणं ।

पावल्लं तेषु कज्जेसु, कारेजं जे अपच्चत्ता ॥

५. अंगसुत्ताणि २, भगवई १९।६ ।

६. अंगसुत्ताणि ३, विवागसुयं—१।१।२६-४१ ।

७. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २३ ।

२६. अप्येगे पायमब्भे, अप्येगे पायमच्छे,  
 अप्येगे जंघमब्भे, अप्येगे जंघमच्छे,  
 अप्येगे ऊरुमब्भे, अप्येगे ऊरुमच्छे,  
 अप्येगे णाभिमब्भे, अप्येगे णाभिमच्छे,  
 अप्येगे पासमब्भे, अप्येगे पासमच्छे,  
 अप्येगे उरमब्भे, अप्येगे उरमच्छे,  
 अप्येगे थणमब्भे, अप्येगे थणमच्छे,  
 अप्येगे बाहुमब्भे, अप्येगे बाहुमच्छे,  
 अप्येगे अंगुलिमब्भे, अप्येगे अंगुलिमच्छे,  
 अप्येगे गीवमब्भे, अप्येगे गीवमच्छे,  
 अप्येगे होट्टमब्भे, अप्येगे होट्टमच्छे,  
 अप्येगे जिह्वमब्भे, अप्येगे जिह्वमच्छे,  
 अप्येगे गलमब्भे, अप्येगे गलमच्छे,  
 अप्येगे कण्णमब्भे, अप्येगे कण्णमच्छे,  
 अप्येगे अचिञ्चमब्भे, अप्येगे अचिञ्चमच्छे,  
 अप्येगे गिडालमब्भे, अप्येगे गिडालमच्छे,

अप्येगे गुप्फमब्भे, अप्येगे गुप्फमच्छे,  
 अप्येगे जानुमब्भे, अप्येगे जानुमच्छे,  
 अप्येगे कटिमब्भे, अप्येगे कटिमच्छे,  
 अप्येगे उयरमब्भे, अप्येगे उयरमच्छे,  
 अप्येगे पिट्टमब्भे, अप्येगे पिट्टमच्छे,  
 अप्येगे हिययमब्भे, अप्येगे हिययमच्छे,  
 अप्येगे खंधमब्भे, अप्येगे खंधमच्छे,  
 अप्येगे हत्थमब्भे, अप्येगे हत्थमच्छे,  
 अप्येगे णहमब्भे, अप्येगे णहमच्छे,  
 अप्येगे हणुयमब्भे, अप्येगे हणुयमच्छे,  
 अप्येगे दंतमब्भे, अप्येगे दंतमच्छे,  
 अप्येगे तालुमब्भे, अप्येगे तालुमच्छे,  
 अप्येगे गंडमब्भे, अप्येगे गंडमच्छे,  
 अप्येगे णासमब्भे, अप्येगे णासमच्छे,  
 अप्येगे भमुहमब्भे, अप्येगे भमुहमच्छे,  
 अप्येगे सोसमब्भे, अप्येगे सोसमच्छे ।

सं०—अप्येकः पादमाभिन्धाद्, अप्येकः पादमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः जङ्घामाभिन्धाद्, अप्येकः जङ्घामाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः ऊरुमाभिन्धाद्, अप्येकः ऊरुमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः नाभिमाभिन्धाद्, अप्येकः नाभिमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः पार्श्वमाभिन्धाद्, अप्येकः पार्श्वमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः उरमाभिन्धाद्, अप्येकः उरमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः स्तनमाभिन्धाद्, अप्येकः स्तनमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः बाहुमाभिन्धाद्, अप्येकः बाहुमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः अंगुलिमाभिन्धाद्, अप्येकः अंगुलिमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः ग्रीवामाभिन्धाद्, अप्येकः ग्रीवामाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः ओष्ठमाभिन्धाद्, अप्येकः ओष्ठमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः जिह्वामाभिन्धाद्, अप्येकः जिह्वामाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः गलमाभिन्धाद्, अप्येकः गलमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः कर्णमाभिन्धाद्, अप्येकः कर्णमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः अक्षिमाभिन्धाद्, अप्येकः अक्षिमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः ललाटमाभिन्धाद्, अप्येकः ललाटमाच्छिन्धात्,

अप्येकः गुल्फमाभिन्धाद्, अप्येकः गुल्फमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः जानुमाभिन्धाद्, अप्येकः जानुमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः कटिमाभिन्धाद्, अप्येकः कटिमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः उदरमाभिन्धाद्, अप्येकः उदरमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः पृष्ठमाभिन्धाद्, अप्येकः पृष्ठमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः हृदयमाभिन्धाद्, अप्येकः हृदयमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः स्कन्धमाभिन्धाद्, अप्येकः स्कन्धमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः हस्तमाभिन्धाद्, अप्येकः हस्तमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः नखमाभिन्धाद्, अप्येकः नखमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः हनुकामाभिन्धाद्, अप्येकः हनुकामाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः दन्तमाभिन्धाद्, अप्येकः दन्तमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः तालुमाभिन्धाद्, अप्येकः तालुमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः गण्डमाभिन्धाद्, अप्येकः गण्डमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः नासामाभिन्धाद्, अप्येकः नासामाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः भ्रुवमाभिन्धाद्, अप्येकः भ्रुवमाच्छिन्धात्,  
 अप्येकः शीर्षमाभिन्धाद्, अप्येकः शीर्षमाच्छिन्धात् ।

(इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के) पैर, टखने, जंघा, घुटने, पिंडली, कटि, नाभि, उदर, पार्श्व, पीठ, छाती, हृदय, स्तन, कंधे, भुजा, हाथ, अंगुली, नख, ग्रीवा, ठुड़ी, होठ, दांत, जीभ, तालु, गले, कपोल, कान, नाक, आंख, भौंह, ललाट और सिर का शस्त्र से भेदन-छेदन करने पर उसे ऐसी कष्टानुभूति होती है, जिसे प्रकट करने में वह अक्षम होता है। वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव को कष्टानुभूति होती है।

भाष्यम् २९—द्वितीयो दृष्टान्तः—

यथा कस्यचित् इन्द्रियसम्पन्नस्य परिस्पष्टचेतनावतः  
 पुरुषस्य पाद-गुल्फ-जंघा-जानु-ऊरु-कटि-नाभि-उदर-  
 पार्श्व-पृष्ठ-उरस्-हृदय-स्तन-स्कन्ध-बाहु-हस्त-अंगुलि-

दूसरा दृष्टान्त—

जैसे किसी इन्द्रिय-सम्पन्न व्यक्त चेतना वाले पुरुष के पैर,  
 टखने, जंघा, घुटने, पिंडली, कटि, नाभि, उदर, पार्श्व, पीठ, छाती, हृदय,  
 स्तन, कंधे, भुजा, हाथ, अंगुली, नख, ग्रीवा, ठुड़ी, होठ, दांत, जीभ,

नख-ग्रीवा-हनु-ओष्ठ-दन्त-जिह्वा-तालु-गल-गण्ड-कर्ण-  
नासा-अक्षि-भ्रू-ललाट-शीर्षाणि इति द्वात्रिंशत्सु  
अवयवेषु युगपद् भिद्यमानेषु छिद्यमानेषु तस्य यथा  
अव्यक्तो वेदनानुभवो जायते तथा पृथ्वीकायिकजीवा-  
नामपि अव्यक्तो वेदनानुभवो विद्यते ।

तालु, गले कपोल, कान, नाक, आंख, भौंह, ललाट और सिर—इन  
बत्तीस अवयवों का एक साथ भेदन-छेदन करने पर उसे जैसे वेदना का  
अव्यक्त अनुभव होता है वैसे ही पृथ्वीकायिक जीवों को भी वेदना का  
अव्यक्त अनुभव होता है ।

३०. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवए ।

सं०—अप्येकः संप्रसारयेद्, अप्येकः उद्द्रवेत् ।

मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही पृथ्वीकायिक जीव को होती है ।

भाष्यम् ३०—तृतीयो दृष्टान्तः—

यथा कश्चित् पुरुषः कञ्चित् पुरुषं मूर्च्छामापादयति  
प्राणवधं नयति च । स मूर्च्छितावस्थायां म्रियमाणा-  
वस्थायां च यथा अव्यक्तां वेदनामनुभवति, तथा  
स्त्यानधिनिद्रोदयादव्यक्तचेतनाः पृथ्वीकायिकजीवा  
अव्यक्तवेदनामनुभवन्ति ।

तीसरा दृष्टान्तः—

जैसे कोई पुरुष किसी व्यक्ति को मूर्च्छित करता है और किसी  
का प्राणवध करता है । वह मूर्च्छित पुरुष तथा वह मरने वाला व्यक्ति  
जैसे अव्यक्त वेदना का अनुभव करता है, वैसे ही स्त्यानधिनिद्रा के  
उदय से अव्यक्त चेतना वाले पृथ्वीकायिक जीव अव्यक्त वेदना का  
अनुभव करते हैं ।

संप्रसारणं—मूर्च्छा । यथा पारदस्य मारणक्रिया  
जायते । उक्तञ्च—

संप्रसारण का अर्थ है—मूर्च्छा । जैसे पारे की मारण क्रिया की  
जाती है । कहा है—

मूर्च्छां गतो मृतो वा निदर्शनं पारदोऽत्र रसः ।<sup>१</sup>

मूर्च्छा को प्राप्त या मृत पारद रस यहां निदर्शन बनता है ।

तथा चोक्तम्—

कहा भी है—

मूर्च्छितो हरति व्याधीन्, मृतो जीवयते परान् ।

मूर्च्छित पारा व्याधियों को दूर करता है । मृत पारा दूसरों  
को जिलाता है । यह रोग का अपकारी—शत्रु है और जो रोग में  
डूबे हुए हैं, उन्हें रोग से पार लगाने वाला है, इसलिए यह 'पारद'  
कहलाता है ।

रोगापकारी भग्नानां, पारदानाच्च पारदः ॥

उद्द्रवण का अर्थ है—मरण अवस्था को प्राप्त कराना ।

उद्द्रवणम्—मरणदशाप्रापणम् ।

भगवती में भी पृथ्वीकायिक जीवों की वेदना दृष्टान्त से स्पष्ट  
की गई है—

भगवत्यामपि पृथ्वीकायिकजीवानां वेदना  
निदर्शिताऽस्ति—

गौतमः—भगवन् ! पृथ्वीकायिकजीवा आक्रान्ताः  
सन्तः कीदृशीं वेदनां प्रत्यनुभवन्ति ?

गौतम—भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीवों को आक्रान्त करने पर  
उन्हें किस प्रकार की वेदना का अनुभव होता है ?

भगवान्—गौतम ! यथा कश्चिज्जराजर्जरितपुरुषः  
केनचिद् हृष्टपुष्टवपुषा तरुणपुरुषेण पाणियुगलेन मूर्च्छित  
अभिहतः सन् कीदृशीं वेदनां प्रत्यनुभवति ?

भगवान्—गौतम ! कोई हृष्ट-पुष्ट शरीर वाला तरुण पुरुष  
किसी जराजर्जरित पुरुष के सिर को दोनों हाथों से आहत करता है  
तब वह वृद्ध पुरुष कैसी वेदना का अनुभव करता है ?

गौतमः—भगवन् ! अनिष्टाम् ।

गौतम—भगवन् ! वह वृद्ध पुरुष अनिष्ट वेदना का अनुभव  
करता है ।

भगवान्—गौतम ! पृथ्वीकायिकजीवा आक्रान्ताः  
सन्तः ततोऽपि अनिष्टतरां वेदनां प्रत्यनुभवन्ति ।<sup>२</sup>

भगवान्—गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होने पर उस  
वृद्ध पुरुष से भी अधिक अनिष्टतर वेदना का अनुभव करते हैं ।

१. भाषिनीविलास, १।८२ ।

२. अंगसुत्ताणि २. भगवई १९।३५ : पुढविकाइए णं भंते !

अक्कंते समणे केरिसियं वेदणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ ?

गोयमा ! से जहानामए—केइ परिसे तरुणे बलवं जुगवं

जुवाणे अप्पातंके थिरगहत्थे बद्धपाणि-पाय-पास-पिट्ठंतरो-  
रुपरिणते तलजमलजुवल-परिघनिभवाह चम्मेट्टग-बुहण-  
मुट्ठिय-समाहत-निचितगतकाए उरस्सबलसमण्णागए  
लंघण-पवण-अइण-वायाम-समत्थे छेए दवळे पत्तठे कुसले

३१. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाता भवन्ति ।

सं० —अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरंभा अपरिज्ञाता भवन्ति ।

जो पृथ्वीकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ करता है, उसके ये आरंभ (तत्सम्बन्धी तथा तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्तियाँ) अप्रत्याख्यात होते हैं ।

३२. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाता भवन्ति ।

सं० —अत्र शस्त्रं असमारंभमाणस्य इत्येते आरंभाः परिज्ञाता भवन्ति ।

जो पृथ्वीकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता उसके ये आरंभ प्रत्याख्यात होते हैं ।

भाष्यम् ३१.३२—पृथ्वीकायिकजीवानां जीवत्वं वेदनाञ्च अविदित्वा यस्तेषां समारंभे प्रवर्तते, तस्य पृथ्वीकायिकविषयका एते सर्वेऽप्यारंभा अप्रत्याख्याता भवन्ति ।

पृथ्वीकायिकजीवानां जीवत्वं वेदनाञ्च विदित्वा यस्तान् न समारंभते, तस्यैते सर्वेऽप्यारंभाः प्रत्याख्याता भवन्ति ।

भगवतो महावीरस्य शासने दीक्षितो मुनिः पृथ्वीकायिकजीवानां हिंसातो विरमति, तस्य कारणं तेषां जीवानां सजीवताया वेदनायाश्च स्पष्टावबोध एव मन्तव्यः ।

जो व्यक्ति पृथ्वीकायिक जीवों के जीवत्व और वेदना को जाने बिना उनके समारंभ में प्रवृत्त होता है, उसके पृथ्वीकायिक सम्बन्धी ये सभी आरंभ अप्रत्याख्यात होते हैं ।

जो पृथ्वीकायिक जीवों के जीवत्व और वेदना को जानकर उनका समारंभ नहीं करता, उसके ये सभी आरंभ प्रत्याख्यात होते हैं ।

भगवान् महावीर के शासन में दीक्षित मुनि पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा से विरत होता है, क्योंकि उसमें उन जीवों की सजीवता और उनको होने वाली वेदना का स्पष्ट अवबोध है ।

३३. तं परिण्णाय मेधावी नैव सयं पुढवि-सत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहिं पुढवि-सत्थं समारंभावेज्जा, नेवण्णे पुढवि-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा ।

सं० —तं परिण्णाय मेधावी नैव स्वयं पृथ्वीशस्त्रं समारंभते, नैव अन्यैः पृथ्वीशस्त्रं समारंभयेत्, नैव अन्यान् पृथ्वीशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीत ।

यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं पृथ्वी-शस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए और उसका समारंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन न करे ।

भाष्यम् ३३—प्रवृत्तेः अनेके विकल्पा भवन्ति । तत्र जैनानां त्रयो विकल्पाः सम्मताः सन्ति—करणं कारापणं अनुमोदनं च । तेनात्र कृतकारितानुमतिभिः पृथ्वीकाय-वधात् विरमणं कार्यमिति निर्देशः ।

प्रवृत्ति के अनेक विकल्प होते हैं । जैन परम्परा में तीन विकल्प सम्मत हैं—करना, करवाना और अनुमोदन करना । इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में करना, करवाना तथा अनुमोदन करना—इन तीनों प्रकार से पृथ्वीकायिक जीवों के वध से विरत रहने का निर्देश है ।

३४. जस्सेते पुढवि-कम्म-समारंभा परिण्णाता भवन्ति, से हु मुणी परिण्णात-कम्मे ।—त्ति वेमि ।

सं० —यस्यैते पृथ्वीकर्मसमारंभाः परिज्ञाता भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा ।—इति ब्रवीमि ।

जिसके पृथ्वी सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही मुनि परिज्ञातकर्मा होता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

मेधावी निउणे निउणसिपोवगए एणं पुरिसं जुण्णं जरा-जज्जरियवेहं आउरं झूसियं पिवासियं दुस्बलं किल्लंतं जमलपाणिणा मुद्धानंसि अभिहणेज्जा, से णं गोयमा ! पुरिसे तेणं पुरिसेणं जमलपाणिणा मुद्धानंसि अभिहए समाणे केरिसियं वेदणं पच्चणुंभवमाणे विहरति ?

अणिदुठं समणाउसो !

तस्स णं गोयमा ! पुरिसस्स वेदणाहितो पुढविकाइए अक्कंते समाणे एत्तो अणिदुतरियं चैव अक्कंततरियं अप्पिय-तरियं असुहतरियं अमणुण्णतरियं अमणामतरियं चैव वेदणं पच्चणुंभवमाणे विहरइ ।



भाष्यम् ३४—'पठनं नाणं तथो दया'<sup>१</sup>—इतिसिद्धान्त-  
मनुसृत्य पूर्व पृथ्वीकर्मसमारम्भः ज्ञपरिज्ञया ज्ञातव्यः,  
ततश्च प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्यातव्यः । यस्य पृथ्वी-  
कर्मसमारम्भः परिज्ञातः प्रत्याख्यातश्च भवति स मुनिः  
परिज्ञातकर्मा उच्यते ।<sup>२</sup>

'पहले ज्ञान फिर दया'—इस सिद्धांत का अनुसरण वर सबसे  
पहले ज्ञ-परिज्ञा से पृथ्वीकर्मसमारम्भ को जानना चाहिए, फिर  
प्रत्याख्यानपरिज्ञा से पृथ्वीकर्मसमारम्भ का प्रत्याख्यान करना चाहिए ।  
जिसके पृथ्वीकर्मसमारम्भ परिज्ञात और प्रत्याख्यात होता है वही  
मुनि परिज्ञातकर्मा (कर्मत्यागी) कहलाता है ।

### तइओ उद्देसो : तीसरा उद्देशक

३५. से बेमि—से जहावि अणगारे उज्जुकडे, णियागपडिवरणे, अमायं कुवमाणे वियाहिए ।

सं०—तद् ब्रवीमि—स यथापि अनगारः ऋजुकृतः, नियागप्रतिपन्नः, अमायां कुर्वाणः व्याहृतः ।

में कहता हूँ—जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा का परिहार करने वाला अनगार होता है, वैसे ही अप्कायिक जीवों की  
हिंसा का परिहार करने वाला भी अनगार होता है । जो संयम करता है, जो मुक्ति के मार्ग पर चलता है, जो माया नहीं करता  
(शक्ति का संगोपन नहीं करता) वह अनगार होता है ।

भाष्यम् ३५—प्रस्तुताध्ययने गृहत्यागिनः अहिंसायाः  
सूक्ष्मविवेचनमस्ति, तेनात्रानगारस्य स्वरूपदर्शनं सहज-  
लब्धं जातम् । कश्चानगारो भवति ? सूत्रकारो वक्ति—  
अस्मिन् विषये अथाहं ब्रवीमि, यथा पृथ्वीकायिकजीव-  
हिंसां परिहरति तथा य अप्कायिकजीवहिंसामपि  
परिहरन् विहरति सोऽनगारः । एतद् 'अपि' पदेन  
सूचितमस्ति ।

प्रस्तुत अध्ययन में गृहत्यागी (अनगार) की अहिंसा का सूक्ष्म  
विवेचन हुआ है, इसलिए यहां अनगार का स्वरूप-दर्शन (लक्षण) सहज  
उपलब्ध हो जाता है । अनगार कौन होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में  
सूत्रकार कहते हैं—जिस प्रकार वह पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा का  
परिहार करता है, वैसे ही जो अप्कायिक जीवों की हिंसा का भी  
परिहार कर विहरण करता है, वह अनगार होता है । 'अपि' पद से  
इसकी सूचना मिलती है ।

ऋजुः—संयमः । यश्च संयमं करोति, नियागः—  
मोक्षमार्गः तं च प्रतिपद्यते, मायाशक्त्यं च न करोति  
सोऽनगारो व्याहृतः । अस्य हार्दमिदं—यस्य सर्वभूतसंयमे  
मोक्षे च आस्था विद्यते, यश्च स्वशक्तेः संगोपनं न  
करोति, स एव सूक्ष्मजीवानामहिंसामाचरितुं  
संकल्पते ।<sup>३</sup>

ऋजु का अर्थ है—संयम । नियाग का अर्थ है—मोक्षमार्ग ।  
जो संयम की साधना करता है, मोक्षमार्ग को स्वीकार करता है और  
मायाशक्त्य नहीं करता, उसे अनगार कहा गया है । इसका हार्द यह  
है—जिसका सब प्राणियों के प्रति संयम और मोक्ष में आस्था होती है  
और जो अपनी शक्ति का गोपन नहीं करता, वही सूक्ष्म जीवों की  
अहिंसा के आचरण का संकल्प करता है ।

३६. जाए सद्धाए णिक्खंतो, तमेव अणुपालिया । विजहित्तु विसोत्तियं ।

सं०—यया श्रद्धया निष्क्रान्तः तामेव अनुपालयेद् । विहाय विन्नोत्तिसिकाम् ।

वह जिस श्रद्धा से अभिनिष्क्रमण करे, उसी श्रद्धा को बनाए रखे । चित्त की चंचलता के खोत में न बहे ।

१. वसवेआलियं, ४।१० ।

२. साध्य की प्राप्ति के तीन सूत्र हैं—१. आचरण की ऋजुता,  
२. साध्य-निष्ठा ३. साध्य प्राप्ति के लिए उचित प्रयत्न ।  
सूत्रकारों ने इन्हीं तीन सूत्रों से अनगार की कसौटी की है ।  
ऋजुता धर्म का मूल आधार है । वह मनुष्य धार्मिक नहीं  
हो सकता । धर्म शुद्ध आत्मा में रहता है । वह शुद्ध है जो  
ऋजु है । वक्तवा उसे करनी होती है, जो सत्य को उलटना

चाहता है । जो सत्य को यथार्थ रूप में प्रकट करना चाहता  
है, वह शरीर, भाव और भाषा से ऋजु होगा । उसकी  
करनी और कथनी में संवादिता होगी । इसी आधार पर  
भगवान् ने सत्य के चार प्रकार प्रतिपादित किए हैं—  
१. शरीर की ऋजुता, २. भाव की ऋजुता, ३. भाषा  
की ऋजुता, ४. प्रवृत्ति में संवादिता ।

(स्यानांग ४।१०२) ।

भाष्यम् ३६—अपकायिकजीवानां हिंसापरित्यागो दुष्करोऽस्ति । इदं वस्तुसत्यं परिलक्ष्यीकृत्य सूत्रकार उपदिशति—यथा श्रद्धया निष्क्रान्तः तामेवानुपालयेत् ।

अस्य तात्पर्यमिदं—प्रब्रज्यासमये मुनिः वर्धमान-परिणामो भवति । स दीर्घकालपर्यन्तमपि तादृशीमेव परिणामधारां सुरक्षेत्, न तु हीयमानपरिणामो भवेत् । यदि उत्कृष्टा परिणामवृद्धिः स्यात् तद् वरं, किन्तु परिणामहानिस्तु नैव युक्तास्ति । यदि लाभो नास्ति, तावत् मूलस्य हानिस्तु नोचिता ।

विस्त्रोतसिका—चेतसश्चंचलता शंका च । अहिंसाया मार्गज्ञेकाः शङ्काः अनेके चार्त्त-रौद्रध्यान-प्रसंगा आयान्ति । ते च श्रद्धाहानेः प्रसंगाः । ते विहातव्या इति मार्गदर्शनम् ।

३७. पणया वीरा महावीरिणः ।

सं०—प्रणता वीरा महावीरिणः ।

वीर पुरुष महापथ के प्रति प्रणत (समर्पित) होते हैं ।

भाष्यम् ३७—अहिंसा महती वीरिणोऽस्ति । तां महावीरिणं प्रति ये केऽपि प्रणता न भवन्ति, किन्तु ये पराक्रमशालिनो वीराः सन्ति त एव तं महापथं प्रति प्रणताः—समर्पिता भवन्ति ।

अस्य तात्पर्यमिदं—अहिंसा न तु कातराणां मार्गः, किन्तु पण्या अयं पराक्रमशालिनाम् ।

३८. लोके च आजाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं ।

सं०—लोकं च आज्ञया अभिसमेत्य अकुतोभयम् ।

मुनि जलकायिक लोक को आज्ञा से जानकर उसे अकुतोभय बना दे ।

भाष्यम् ३८—येषामपकायिकजीवानां हिंसापरित्यागाय प्रवचनमस्ति, ते न सन्ति मनुष्याणां प्रत्यक्षं,

अपकायिक जीवों की हिंसा का परित्याग दुष्कर है । इस वस्तु-सत्य को परिलक्षित कर सूत्रकार कहते हैं—जिस श्रद्धा से अभिनिष्क्रमण करे, उसी श्रद्धा को बनाए रखे ।

इसका तात्पर्य यह है—प्रब्रज्या के समय मुनि के परिणाम वर्धमान होते हैं । वह लम्बे समय तक उसी परिणामधारा को सुरक्षित रखे, परिणामों में न्यूनता न लाए । यदि परिणामों में उत्कृष्ट वृद्धि हो तो और अच्छा है, किन्तु परिणामों में हानि तो उपयुक्त है ही नहीं । यदि लाभ न भी हो तो कोई बात नहीं, किन्तु मूल की हानि तो उचित नहीं होती ।

‘विस्त्रोतसिका’ का अर्थ है—चित्त की चंचलता और शंका । अहिंसा के मार्ग में अनेक शंकाएं और अनेक आर्त्त-रौद्र ध्यान के प्रसंग आते रहते हैं । वे श्रद्धा की हानि के प्रसंग हैं । वे छोड़ने योग्य हैं । यही मार्गदर्शन दिया गया है ।

अहिंसा एक महान् मार्ग है । हर कोई उस महान् मार्ग के प्रति समर्पित नहीं होता, किन्तु जो पराक्रमशाली वीर हैं, वे ही उस महान् पथ के प्रति प्रणत—समर्पित होते हैं ।

इसका तात्पर्य यह है—अहिंसा कायों का मार्ग नहीं है, किन्तु यह पराक्रमशालियों का मार्ग है ।

जिन अपकायिक जीवों की हिंसा के परित्याग के लिए उपदेश है, वे जीव मनुष्यों के प्रत्यक्ष नहीं हैं । अतः उन जीवों के जीवत्व की

समर्पित हो जाता है—पृष्ठरज्जु के माध्यम से प्राणधारा को मस्तिष्क की ओर प्रवाहित कर देता है । उसके हिंसा के संस्कार समाप्त हो जाते हैं ।

जो आचरण देश-काल से सीमित होता है, वह पथ है । समता देशकाल की सीमा से अतीत आचरण है । वह प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में आचरणीय है । इसलिए वह महापथ है ।

समता कोई सम्प्रदाय नहीं है । वह स्वयं धर्म है । शान्ति की आराधना करने वाले जितने पुरुष हुए हैं, वे सब इस पथ पर चले हैं, चलते हैं और चलेंगे । फिर भी यह संकीर्ण नहीं होता । इसलिए यह महापथ है ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५, २६ : सवतीति सोत्तिया, विसोत्तिया दब्बे णदो निक्कादिमु वा अणुलोमवाहिणो सोत्तिया, इतरी विसोत्तिया, भावतो अणुसोत्तं, नाणदंसण-चरित्तवविणयसमाहाणं अणुसोत्तं, तद्विबरीय कोहादि, अह अट्टरोद्दज्जाणिया भावविसोत्तिया, अहवा संका विसोत्तिया, किं आउक्काओ जीवो ण जीवोत्ति ?

२. अहिंसा मोक्ष का पथ है । यह सर्वत्र, सर्वदा और सबके लिए है । इसलिए यह महापथ है । जो इसके प्रति समर्पित हुए हैं और होंगे, उन सबको मोक्ष प्राप्त होगा ।

महापथ का अर्थ कुण्डलिनी—प्राणधारा भी है । पराक्रमी साधक ऊर्ध्वगमन के लिए इस प्राणधारा के प्रति

अतः तेषां जीवत्वप्रतिष्ठापनाय परोक्षबुद्धीनां सम्यगवबोधाय सूत्रकारो ब्रूते—सन्ति अप्कायिकजीवाः । प्रत्यक्षज्ञानिनस्तान् साक्षादवबुध्यन्ते । यदि भवन्तस्तान् नावबुध्यन्ते, तदा प्रत्यक्षज्ञानिनामाज्ञया ते अवबोद्धव्याः, अवबोधानन्तरञ्च तेषां जीवानां न कुतोऽपि भयमापादनीयम् ।

सिद्धि के लिए तथा परोक्षबुद्धि वाले मनुष्यों को उनका सम्यग अवबोध हो, इसलिए सूत्रकार कहते हैं—अपकायिक जीवों का अस्तित्व है । प्रत्यक्षज्ञानी उनको साक्षात् जानते हैं । यदि आप उन्हें नहीं जानते हैं तो उन प्रत्यक्षज्ञानियों की आज्ञा (वचन) से उनको जानें और जानने के पश्चात् उन जीवों को किसी भी प्रकार से भय उत्पन्न न करें ।

३९. से वेमि—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा । जे लोयं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ । जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोयं अब्भाइक्खइ ।

सं०—तद् ब्रवीमि—नैव स्वयं लोकं अभ्याख्यायात् । नैव आत्मानं अभ्याख्यायात् । यः लोकमभ्याख्याति स आत्मानमभ्याख्याति । यः आत्मानमभ्याख्याति स लोकमभ्याख्याति ।

मैं कहता हूँ—वह जलकायिक लोक के अस्तित्व को अस्वीकार न करे और न अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करे : जो जलकायिक लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है वह अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है । जो अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है वह जलकायिक लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है ।

भाष्यम् ३९—अपकायिकजीवाः सन्ति सूक्ष्माः, अतस्तत्प्रत्ययार्थं सूत्रकार आत्मतुलानिदर्शनपूर्वकं प्रवक्ति—नैव अप्कायिकजीवलोकस्य<sup>१</sup> अभ्याख्यानं कुर्यात्, न चात्मनोऽभ्याख्यानं कुर्यात् । किमर्थं न कुर्याद्, इत्याशंकायाः समाधानमिदं—अपकायिकलोकस्य अभ्याख्यानं आत्मनोऽभ्याख्यानमस्ति । तत्र कारणमिदं—अयमात्मा अप्कायिकजीवलोककेऽनन्तश उत्पन्नपूर्वोऽस्ति । तस्याऽपलाप आत्मनोऽपलापः स्वत एव सञ्जातः ।

अपकायिक जीव सूक्ष्म हैं, इसलिए उनकी प्रतीति के लिए सूत्रकार आत्मतुला का निदर्शन देकर कहते हैं—मनुष्य न अपकायिक जीवलोक को अस्वीकार करे और न अपने आपको अस्वीकार करे । क्यों न करे, इस आशंका का समाधान यह है—अपकायिक लोक को न स्वीकारना, अपने आपको न स्वीकारना है । उसका कारण है कि यह आत्मा अपकायिक जीवलोक में अनन्त बार उत्पन्न हो चुकी है । अपकायिक जीवों के अस्तित्व का अपलाप अपने अस्तित्व का अपलाप है—यह स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

शिष्येण पृष्टं—भगवन् ! अप्कायिकजीवा अत्यन्तं दुर्गह्याः । ते न शृण्वन्ति, न पश्यन्ति, न जिघ्रन्ति, न रसं वेदयन्ति, न च ते सुखदुःखमनुभवन्तो दृश्यन्ते, तेषां न प्राणस्पन्दनं, न चोच्छ्वासनिःश्वासौ दृश्येते, कथं पुनस्ते जीवाः ?

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! अपकायिक जीव अत्यन्त दुर्बोध हैं, वे न सुनते हैं, न देखते हैं, न सूंघते हैं, न रस का आस्वाद करते हैं और न वे सुख-दुःख का अनुभव करते हुए प्रतीत होते हैं । उनमें न प्राण का स्पन्दन दृष्टिगोचर होता है और न ही उच्छ्वास-निःश्वास की क्रिया दिखाई देती है । फिर उनमें जीवत्व कैसे हो सकता है ?

एतत्समाधानार्थं निर्युक्तिकारेण हेतुरपि प्रयोजितः—<sup>२</sup>

इसके समाधान के लिए निर्युक्तिकार ने हेतु का भी प्रयोग किया है—

जह हत्थिस्स सरीरं कललावत्थस्स अहुणोचवन्नस्स ।

होइ उवगंडगस्स य एसुवमा सव्वजीवाणं ॥

यथाऽधुनोत्पन्नस्य कललावस्थस्य<sup>३</sup> हस्तिन उदक-प्रधानाण्डकस्य च शरीरं द्रवं सचेतनं दृष्टम् । एव-मपकायिकजीवा अपि सचेतनाः सन्ति । प्रयोगश्चायम्—

जैसे तत्काल उत्पन्न जल अवस्था में स्थित हाथी का शरीर तथा जल प्रधान अंडे का शरीर द्रव होने पर भी सचेतन देखा जाता है वैसे ही अपकायिक जीव भी सचेतन होते हैं । हेतु का प्रयोग इस प्रकार है—

प्रतिज्ञा—सचेतना आपः ।

प्रतिज्ञा—जल सचेतन है ।

१. लोगं—'लोक्यते इति लोकः' इति व्युत्पत्तिमनुश्रित्य लोकशब्दस्य नानाप्रकरणेषु प्रयोगो दृश्यते । अत एव तस्यार्थः प्रकरणानुसारी कार्यः । अप्कायप्रकरणे अप्कायिक-जीवलोकः, तेजस्कायप्रकरणे तेजस्कायजीवलोक इत्यादि ।

२. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ११० ।

३. कलस—गर्भ का प्रारम्भिक रूप जब वह केवल कुछ कोषों का गोला मात्र रहता है ।

हेतुः—शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात् ।

व्याप्तिः—यद् यच्छस्त्रानुपहतं द्रवं, तत्सचेतनमेव ।

उदाहरणं — १. हस्तिशरीरोपादानभूतकललवद् ।

२. असंजातावयवस्य अनभिव्यक्तवञ्च्वादिप्रविभागस्य अण्डकस्य मध्यस्थितकललवच्च ।

वैज्ञानिकदृष्ट्यापि विमर्शनीयोऽयं प्रश्नः । प्राणवायुं (आक्सीजन) बिना जलस्य नोत्पत्तिरिष्यते वैज्ञानिकैः । इयं प्राणवायोरनिवार्यता किं जलस्य जीवत्वं न समर्थयति ?

श्वासोच्छ्वासादारभ्य लेश्यापर्यन्तं पृथ्वीकायिकवत् स्वयमत्रावतारणीयम् ।<sup>१</sup>

हेतु—क्योंकि वह द्रव है और शस्त्र से उपहत नहीं है ।

व्याप्ति—जो-जो द्रव शस्त्र से अनुपहत होता है, वह सचेतन होता है ।

उदाहरण—(१) हाथी के शरीर के उपादानभूत कलल की तरह । (२) अनुत्पन्न अवयव वाले और अव्यक्त चोच आदि विभाग वाले अंडे के मध्यस्थित कलल की तरह ।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह प्रश्न विमर्शनीय है । वैज्ञानिक लोग प्राणवायु (आक्सीजन) के बिना जल की उत्पत्ति नहीं मानते । यह प्राणवायु की अनिवार्यता क्या जल के जीवत्व का समर्थन नहीं करती ?

श्वासोच्छ्वास से लेश्या तक के विषयों का समवतार पृथ्वीकायिक की भांति अष्कायिक में कर लेना चाहिए ।

#### ४०. लज्जमाणा पुढो पास ।

सं०—लज्जमानान् पृथक् पश्य ।

तू देख, प्रत्येक संयमी साधक हिंसा से विरत हो संयम का जीवन जो रहा है ।

#### ४१. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।

सं०—अणगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः ।

और तू देख, कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं'—यह निरूपित करते हुए भी गृहवासी जंसा आचरण करते हैं—जलकायिक जीवों की हिंसा करते हैं ।

#### ४२. जमिणं विरुवरुर्वेहिं सत्थेहिं उदय-कम्म-समारंभेणं उदय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरुत्वे पाणे विहिंसति ।

सं०—यदिदं विरुपरूपैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेण, उदकशस्त्रं समारंभमाणः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिंसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से जल-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर जलकायिक जीवों की हिंसा करता है । वह केवल उन जलकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

#### ४३. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता ।

सं०—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता ।

इस विषय में भगवान् महावीर ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है ।

#### ४४. इमस्स चेव जीवियस्स, परिवन्दन-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं ।

सं०—अस्मै चैव जीविताय, परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुम् ।

वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए—

#### ४५. से सयमेव उदय-सत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा उदय-सत्थं समारंभावेति, अण्णे वा उदय-सत्थं समारंभंते समणु-जाणति ।

सं०—स स्वयमेव उदकशस्त्रं समारंभते, अन्यैर्वा उदकशस्त्रं समारंभयति, अन्यान् वा उदकशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते ।

वह स्वयं जलकायिक जीवों की हिंसा करता है, बूसरों से करवाता है तथा करने वाले बूसरों का अनुमोदन करता है ।

१. द्रष्टव्यम्—पृष्ठ ३७-४१ ।

अ० १. शस्त्रपरिज्ञा, उ० ३. सूत्र ४०-५३

४६. तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।

सं०—तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोध्यै ।

वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है । वह हिंसा उसकी अबोधि के लिए होती है ।

४७. से तं संबुञ्जमाणे, आयाणीयं समुट्टाए ।

सं०—स तत् संबुध्यमानः, आदानीयं समुत्थाय ।

वह उस हिंसा के परिणाम को समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है ।

४८. सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसि णायं भवति—एस खलु गथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए ।

सं०—श्रुत्वा खलु भगवतः अणगारणां वा अंतिके इहैकेषां ज्ञातं भवति—एषा खलु ग्रन्थः, एषा खलु मोहः, एषा खलु मारः, एषा खलु नरकः ।

भगवान् या गृहस्थाणी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (जलकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मार है, यह नरक है ।

४९. इच्चत्थं गडिए लोए ।

सं०—इत्यत्र प्रथितो लोकः ।

फिर भी सुख-सुविधा में मूर्च्छित मनुष्य जलकायिक जीव-निकाय की हिंसा करता है ।

५०. जमिणं विरुवरुवेहि सत्थेहि उदय-कम्म-समारंभेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरुवे पाणे विहिंसति ।

सं०—यदिदं विरुवरूपं शस्त्रैः उदककर्मसमारंभेण उदकशस्त्रं समारंभमाणः अन्धानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिंसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से जल-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर जलकायिक जीवों की हिंसा करता है । वह केवल उन जलकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

५१. से वेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे ।

सं०—तद् ब्रवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्धाद्, अप्येकः अन्धमाच्छिन्धात् ।

मैं कहता हूँ—जलकायिक जीव जन्मना इन्द्रियविकल—अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है । शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही जलकायिक जीव को होती है ।

५२. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे ।

सं०—अप्येकः पादमाभिन्धाद्, अप्येकः पादमाच्छिन्धात् ।

इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के पैर आदि (द्रष्टव्यं १।२८) का शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर उसे अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही जलकायिक जीव को होती है ।

५३. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवेत् ।

सं०—अप्येकः संपमारयेद्, अप्येकः उद्दवेत् ।

मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही जलकायिक जीव को होती है ।

भाष्यम् ४०-५३—एतानि सूत्राणि पूर्ववद् (१७-३०)  
द्रष्टव्यानि ।

पूर्ववत् देखें—सूत्र १७-३० ।

५४. से बेमि—संति पाणा उदय-निस्सिया जीवा अणेगा ।

सं०—तद् ब्रवीमि—सन्ति प्राणा उदकनिश्चिताः जीवा अनेके ।

में कहता हूँ—जल के आश्रय में अनेक प्राणधारी जीव हैं ।

५५. इहं च खलु भो ! अनगाराणं उदय-जीवा वियाहिया ।

सं०—इह च खलु भो ! अनगाराणां उदकजीवाः व्याहृताः ।

हे पुरुष ! इस अनगर-दर्शन (अर्हत्-दर्शन) में जल स्वयं जीवरूप में निरूपित है ।

भाष्यम् ५४, ५५—तस्मिन् समये न केनापि दार्शनिकेन जलं सजीवमिति स्वीकृतम् । 'जले जीवा भवन्ति' इति-मतमासीत् । एतत् स्पष्टीकर्तुं प्रवचनमिदम् । जिनप्रवचने जलं स्वयं सचेतनं प्रतिपादितम् । जलाश्रिता अनेके जीवा भवन्ति । न ते अप्कायिका जीवाः, किन्तु ते जले समुत्पन्नास्त्रसकायिकाः जीवाः सन्ति । आधुनिकैर्जले जीवानां गणना कृता । तेषां सन्ति जलाश्रिता एव, न तु जलकायिकाः ।<sup>१</sup>

उस समय कोई भी दार्शनिक 'जल सजीव है' ऐसा स्वीकार नहीं करता था । 'जल में जीव होते हैं' यह मत प्रचलित था । इसे स्पष्ट करने के लिए यह सारा प्रवचन है । जिन-प्रवचन में जल स्वयं सचेतन प्रतिपादित हुआ है । जल के आश्रित अनेक जीव होते हैं । वे अप्कायिक जीव नहीं हैं, किन्तु वे जल में उत्पन्न होने वाले त्रसकायिक जीव हैं । आधुनिक वैज्ञानिकों ने जल में जीवों की गणना की है । वे भी जलाश्रित जीव ही हैं, जलकायिक जीव नहीं हैं ।

५६. सत्थं चेत्य अणुवीइ पासा ।

सं०—शस्त्रं चात्र अनुवीचि पश्य ।

हे पुरुष ! इन जलकायिक जीवों के शस्त्र को विवेकपूर्वक देख ।

भाष्यम् ५६—'अप्कायिकजीवानां शस्त्राणि—निर्जीवकरणसाधनानि विवेकपूर्वकं त्वं पश्य' इति शिष्यमतिप्रबोधाय निर्देशः कृतः । तदा शिष्येण पृष्ठं—कानि तानि शस्त्राणि ? इति जिज्ञासायामुत्तरितम्—

'अप्कायिक जीवों के शस्त्र अर्थात् निर्जीव करने के साधनों को तू विवेक पूर्वक देख'—यह निर्देश शिष्यों की मति को प्रबुद्ध करने के लिए किया गया है । तत्र शिष्य ने प्रश्न पूछा—'वे शस्त्र कौनसे हैं ?' इस जिज्ञासा के उत्तर में बताया गया है—

५७. पुढो सत्थं पवेइयं ।

सं०—पृथक् शस्त्रं प्रवेदितम् ।

जलकायिक जीवों के शस्त्र अनेक हैं ।

भाष्यम् ५७—अप्कायिकजीवानां प्राणघाताय अनेकानि शस्त्राणि सन्ति प्रवेदितानि । निर्युक्तौ तेषां नामोल्लेखपूर्वकमस्ति निरूपणम्—

अप्कायिक जीवों को निष्प्राण करने वाले अनेक शस्त्र बतलाए गये हैं । निर्युक्ति में उनका नामोल्लेखपूर्वक निरूपण है—

'उस्सिचण-गालण-धोवणे य उवपरणमत्तभंडे य ।

बायरआउक्काए एयं तु समासओ सत्थं ।<sup>२</sup>

उत्सेचन, गालन, उपकरण-धमत्र-भण्ड का धावन, बादर अप्काय—यह संक्षेप में शस्त्रों का निरूपण है ।

१. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ २७ : संति विज्जंति पायसो उदए सम्बलोए पतीता पूतरगादि तसा विज्जंति तदस्सिता, ण उदगं जीवा जहा सक्काणं, अण्णोसि णवि उदगं जीवा, णवि अस्सिता जीवा जे पूतरगादि, ते खित्तसंभवा, ण आउक्कायसंभवा ।

(ख) जल-निश्चित जीवों और जलकायिक जीवों के सम्बन्ध-सूचक चार विकल्प होते हैं—

१. सजीव जल और जल-निश्चित जीवों का अस्तित्व ।

२. सजीव जल, किन्तु जल-निश्चित जीवों का अभाव ।

३. निर्जीव जल, किन्तु जल-निश्चित जीवों का अस्तित्व ।

४. निर्जीव जल और जल-निश्चित जीवों का अभाव ।

जल तीन प्रकार का होता है—सजीव, निर्जीव और मिश्र ।

(आचारांग चूणि, पृष्ठ २७)

२. आचारांग निर्युक्ति, गाथा ११३ ।

१. उत्सेचनम्—कूपादेः कोशादिनोत्क्षेपणम् ।<sup>१</sup>

२. गालनम्—घनमसृणवस्त्रेण ।<sup>२</sup>

३. धावनम्—वस्त्रपात्रादीनां प्रक्षालनम् ।

४. स्वकायशस्त्रम्—तद्या जलं तडागजलस्य ।

५. परकायशस्त्रम्—मृत्तिकास्नेहक्षाराग्निप्रभृतयः ।

६. तदुभयशस्त्रम्—जलमिश्रिता मृत्तिका जलस्य ।

चूर्णिकारेणान्यानि शस्त्राण्यपि निर्दिष्टानि—वर्ण-  
रसगंधस्पर्शाः शस्त्रम् । यथा—वर्णो उष्णोदगं अग्नि-  
पुष्पलाणुगतं इसित्ति कविलं भवति, गंधतो धूमगंधि य,  
जत्थ गंधो तत्थ रसोवि, विरसं वा रसएणं, फरिसओ  
उष्णं, किञ्चि उष्णभूयपि न अचेयणं जहा अगुव्वत्तो दंडो ।

सभावेण महातवोतीरोदगं सचेयणं, जया सीतलीभूतं  
तदा सभावपरिच्छाएण अचेयणं ।

लवणमहुरअंबउदगाणं अण्णोणं सत्थं । दुट्ठिभगंधं च  
पाएणं अचित्तं भवति ।<sup>३</sup>

भगवत्यां अस्मिन् प्रसवणे उष्णयोत्तिकजीवाना-  
मुत्पत्तेस्तलेखोस्ति ।<sup>४</sup> किन्तु तस्य जलस्य शीतावस्थायी  
अचित्तत्वस्य नास्ति उल्लेखः ।

५८. अदुवा अदिष्णादानं ।

सं०—अथवा अदत्तादानम् ।

अथवा वह अदत्तादान है ।

भाष्यम ५८—तस्मिन् समये परिव्राजका अदत्तजल-  
स्योपभोगं नाकार्षुः । ते जलाशयस्वामिनोऽनुमति  
गृहीत्वा तस्योपभोगं कर्तार आसन् । तेऽन्वभवन्, वयं  
नादत्तादानभागिनः<sup>५</sup> । अस्मिन् विषये जैनश्रमणास्तर्क  
प्रायच्छन्—किमप्याधिकजीवैरपि स्वप्राणापहारानुमतिः  
प्रदत्ता ? यदि न प्रदत्ता, तदानीं सचित्तस्य जलस्योप-  
भोगेन तेषां प्राणापहारः किं नादत्तादानम् ? एतं तर्क  
सूत्रकारः साक्षात् प्रवक्ति—सचित्तस्य जलस्योपभोगः  
अदत्तादानं विद्यते । मुनेः कृते तन्नोचितम् ।

५९. कप्पइ णे, कप्पइ णे पाउं, अदुवा विभूसाए ।

सं०—कल्पते नः, कल्पते नः पातुं, अथवा विभूषायै ।

१.२. अनयोविधिरस्ति गवेषणाया विषयः ।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २७, २८ ।

४. अंगमुत्ताणि २, भगवई २।११३ : तत्थ णं बहुवे उस्तिण-

१. उत्सेचन—कुए आदि से बाट्टी आदि के द्वारा पानी  
निकालना ।

२. गालन—सघन और स्निग्ध वस्त्र से जल छानना ।

३. धावन—वस्त्र, पात्र आदि का प्रक्षालन ।

४. स्वकायशस्त्र—नदी का पानी तालाब के पानी का शस्त्र ।

५. परकायशस्त्र—मिट्टी, तेल, क्षार और अग्नि आदि ।

६. तदुभयशस्त्र—जल मिश्रित मिट्टी जल का शस्त्र ।

चूर्णिकार ने अन्य शस्त्रों का भी निर्देश किया है—वर्ण, रस,  
गंध और स्पर्श शस्त्र हैं । जैसे—अग्नि-पुद्गलों के अनुप्रविष्ट होने से  
गरम पानी वर्ण से थोड़ा कपिल (पीला-मिश्रित लाल) हो जाता है ।  
गंध से वह धूमगन्ध वाला बन जाता है । जहां गंध होती है वहां रस  
भी होता है । रस से वह पानी विरस बन जाता है । स्पर्श से वह उष्ण  
होता है । जल थोड़ा गर्म होने पर भी अचेतन नहीं होता । जिसमें  
'अनुवृत्तदंड' (उकाला) न आया हो, जो पूरा उबला हुआ न हो वह  
सजीव ही होता है ।

'गंदातप' नामक प्रपात के तट का गरम पानी स्वभाव से ही  
सचेतन होता है । जब वह ठंडा होता है तब वह अपने स्वभाव को  
छोड़कर अचेतन बन जाता है ।

लोना, मीठा और अम्ल पानी परस्पर एक दूसरे के शस्त्र होते  
हैं । दुर्गन्ध युक्त पानी प्रायः अचित्त होता है ।

भगवती में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि इस प्रपात में उष्ण-  
योनिक जीवों की उत्पत्ति होती है । किन्तु उस जल के शीतल हो  
जाने पर वह अचित्त हो जाता है, ऐसा उल्लेख नहीं है ।

उस समय परिव्राजक अदत्त जल का उपभोग नहीं करते थे ।  
वे जलाशय के स्वामी से अनुमति लेकर उस का उपभोग करते थे । वे  
अनुभव करते थे 'हम अदत्तादान के भागी नहीं हैं' । इस विषय में जैन  
श्रमणों ने यह तर्कणा की कि क्या अप्कायिक जीवों ने भी अपने प्राणों  
के अपहरण की अनुमति दी है ? यदि नहीं तो सचित्त जल के उपभोग  
से होने वाला उनका प्राणापहरण क्या अदत्तादान नहीं है ? इस तर्क  
को सूत्रकार स्वयं बतलाते हैं—सचित्त जल का उपभोग अदत्तादान है ।  
मुनि के लिए वह उचित नहीं है ।

जोगिया जीवा य पोग्गला य उदगत्ताए वक्कमंति विउक्क-  
मंति चयंति उववज्जंति ।

५. अंगमुत्ताणि ३, ओवाइयं, सूत्र १११-११७ ।

आजीवक—हम अपने सिद्धांत के अनुसार पीने के लिए जल ले सकते हैं ।

बौद्ध—हम अपने सिद्धांत के अनुसार पीने और नहाने (विभूषा)—दोनों के लिए जल ले सकते हैं ।

भाष्यम् ५९—यद्यपि आजीवकादितीर्थिका अप्कायिक-जीवानामस्तित्वं न स्वीकृतवन्तः तथापि तेषां जलारम्भ-विषये विभिन्ना मर्यादा आसन् । प्रस्तुतसूत्रे तासामस्ति निरूपणम् । आजीवकानां शैवानाञ्चाभ्युपगमोऽयं—वयं केवलं पातुमेव जलं गृह्णीमः, नान्यप्रयोजनाय ।

बौद्धाः पातुमपि स्नातुमपि च तदाददुः । अत्र विभूषापदेन स्नानं हस्त-पाद-मुख-वस्त्रादिप्रक्षालनं च ग्रहीतव्यम् ।

यद्यपि आजीवक आदि तीर्थिक (दार्शनिक) अप्कायिक जीवों के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते थे, फिर भी उनकी जल को काम में लेने के विषय में विभिन्न मर्यादाएं थीं । प्रस्तुत सूत्र में उनकी कुछेक मर्यादाओं का निरूपण है । आजीवक और शैवों का यह मत है—हम केवल पीने के लिए जल लेते हैं, दूसरे प्रयोजन के लिए नहीं ।

बौद्ध भिक्षु पीने के लिए और स्नान करने के लिए भी पानी लेते थे । यहां 'विभूषा' का अर्थ है—स्नान करना, हाथ-पैर-मुंह और वस्त्र आदि का प्रक्षालन करना ।

### ६०. पुढो सत्थेहि विउट्टंति ।

सं०—पृथक् शस्त्रैः विकुट्टयन्ति ।

वे नाना प्रकार के शस्त्रों द्वारा जलकायिक जीवों की हिंसा करते हैं ।

भाष्यम् ६०—पूर्वोक्तास्तीर्थिका जलस्य जीवत्वं नाभ्युपगतवन्तः, तेन तेषां सच्चित्तजलस्योपभोगे नादत्ता-दानस्य सिद्धान्तः सम्मतः । न च ते सच्चित्तजलस्य हिंसातो विरताः । इमां स्थितिं लक्ष्यीकृत्य सूत्रकारः प्रवक्ति—ते तीर्थिका नानाप्रकारैः शस्त्रैः जलकायिक-जीवानां विकुट्टनं—प्राणवियोजनं कुर्वन्ति । अथवेदं व्याख्यातव्यमेव—ते तीर्थिकाः पृथक् पृथक् स्वकीय-शास्त्राणां सम्मतिं प्रदर्श्य जलकायिकजीवानां हिंसायां प्रवर्तन्ते ।

पूर्वोक्त दार्शनिकों ने जल के जीवत्व को स्वीकार नहीं किया, इसलिए उनके सच्चित्त जल के उपभोग में अदत्तादान का सिद्धांत सम्मत नहीं था । वे सच्चित्त जल की हिंसा से विरत नहीं थे । इस स्थिति को परिलक्षित कर सूत्रकार कहते हैं—वे तीर्थिक नाना प्रकार के शस्त्रों से जलकायिक जीवों का प्राण-वियोजन करते हैं । अथवा इसकी व्याख्या इस प्रकार भी की जा सकती है—वे तीर्थिक अपने भिन्न-भिन्न शास्त्रों की सम्मति प्रदर्शित कर जलकायिक जीवों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं ।

### ६१. एत्थवि तेसि णो निकरणाए ।

सं०—अत्रापि तेषां नो निकरणाय ।

सिद्धांत का प्रामाण्य देकर जलकायिक जीवों की हिंसा करने वाले साधु हिंसा से सर्वथा विरत नहीं हो पाते ।

भाष्यम् ६१—यद्यपि ते तीर्थिका जलस्य परिमिता-रम्भस्य स्वशास्त्रसम्मतां घोषणां कुर्वन्ति तथापि ते न जलकायिकजीवानां निकरणाय—हिंसां तिरस्कर्तुं ततो विरता भवितुं समर्थाः ।

अत्र 'निकरण' पदस्य तिरस्कारः, निर्गमनं, निस्तरणं, हेतुः, क्रियाया अभावः इत्यादीनि अभिधेयानि सन्ति ।<sup>१</sup>

यद्यपि वे तीर्थिक अपने शास्त्रों द्वारा सम्मत जल के परिमित आरम्भ—हिंसा की घोषणा करते हैं, फिर भी वे जलकायिक जीवों का निकरण—हिंसा का परिहार करने, उससे विरत होने में समर्थ नहीं होते ।

तिरस्कार, निर्गमन, निस्तरण, हेतु, क्रिया का अभाव आदि 'निकरण' शब्द के पर्यायवाची हैं ।

### ६२. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्छेते अरंभा अपरिण्णाया भवन्ति ।

सं०—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरंभा अपरिज्ञाता भवन्ति ।

जो जलकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ करता है, वह इन आरंभों—तत्सम्बन्धी व तदाभित जीव-हिंसा की प्रवृत्तियों से बच नहीं पाता ।

१. (क) अंगमुत्ताणि २, भगवई, ७।१५०-१५४, वृत्ति पत्र, ३१२ । (ख) तुलना, आचारो २।१५३ ।



६३. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्छेते आरंभा परिणयाया भवन्ति ।

सं०—अत्र शस्त्रं असमारभमाणस्य इत्येते आरंभाः परिज्ञाता भवन्ति ।

जो जलकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ नहीं करता, वह इन आरंभों से मुक्त हो जाता है ।

६४. तं परिणयाय मेधावी णेव सयं उदय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवन्नेहि उदय-सत्थं समारंभावेज्जा, उदय-सत्थं समारंभे-  
तेवि अण्णे ण समणुज्जाणेज्जा ।

सं०—तं परिणाय मेधावी नैव स्वयं उदकशस्त्रं समारंभेत, नैव अन्यैः उदकशस्त्रं समारंभयेत्, उदकशस्त्रं समारभमाणान् अभ्यान् न समनुजानीत ।

यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं जलशस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए तथा उसका समारम्भ करने वाले दूसरों का अनुमोदन न करे ।

६५. जस्सेते उदय-सत्थ-समारंभा परिणयाया भवन्ति, से हु मुणी परिणयात-कम्मे । —त्ति वेमि ।

सं०—यस्यैते उदकशस्त्रसमारंभाः परिज्ञाताः भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा । —इति ब्रवीमि ।

जिसके जलशस्त्र सम्बन्धी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही मुनि परिज्ञात-कर्मा (कर्म-त्यागी) होता है । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ६२-६५—एतानि सूत्राणि पूर्ववत् (३१-३४)

पूर्ववत् देखें—सूत्र ३१-३४ ।

द्रष्टव्यानि ।

### चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

६६. से वेमि—णेव सयं लोगं अब्भाइक्खेज्जा, णेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा । जे लोगं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं  
अब्भाइक्खइ । जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोगं अब्भाइक्खइ ।

तद् ब्रवीमि—नैव स्वयं लोकं अभ्याख्यायात्, नैव आत्मानं अभ्याख्यायात् । यः लोकं अभ्याख्याति, स आत्मानं अभ्याख्याति । यः  
आत्मानं अभ्याख्याति, स लोकं अभ्याख्याति ।

मैं कहता हूँ—वह स्वयं अग्निकायिक लोक के अस्तित्व को अस्वीकार न करे और न अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करे ।

जो अग्निकायिक लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है ।

जो अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अग्निकायिक लोक के अस्तित्व को अस्वीकार करता है ।

भाष्यम् ६६—अत्र लोकशब्देनाग्निकायलोको<sup>१</sup> ग्रह-  
णीयः । यद्यप्यग्निकायिकजीवाः सूक्ष्मत्वान्नैव दृष्टा  
भवन्ति, तथापि तत्प्रत्ययार्थं निर्युक्तिकारेण केचन हेतव  
उपन्यस्ताः—

जह् देहपरिणामो रत्ति खज्जोयगस्स सा उवमा ।

जरियस्स य जह् उम्हा, तओवमा तेउजीवाणं ॥<sup>२</sup>

यथा खद्योतस्य देहपरिणामो रात्रौ प्रकाशरूपेण  
द्योतते, एवमग्नावपि जीवप्रयोगविशेषाविर्भाविता  
प्रकाशशक्तिरनुमीयते । यथा ज्वरोष्मा जीवं नातिवर्तते  
तथा ऊष्मवत्त्वेनाग्निरपि जीव इत्यनुमीयते ।

यहां लोक शब्द से अग्निकाय लोक का ग्रहण करना चाहिए ।  
यद्यपि अग्निकायिक जीव सूक्ष्म होने के कारण दिखते नहीं हैं, फिर भी  
उनकी प्रतीति के लिए निर्युक्तिकार ने कुछ हेतु प्रस्तुत किए हैं—

जैसे खद्योत (जुगनू) के शरीर को तैजस परिणति रात्रि में  
प्रकाशमय होकर प्रदीप्त होती है, उसी प्रकार अग्नि में भी जीव के  
प्रयोग-विशेष से आविर्भूत प्रकाश-शक्ति का अनुमान किया जाता है ।  
जैसे ज्वर की ऊष्मा जीव में ही पायी जाती है, उसी प्रकार ऊष्मावान  
होने के कारण अग्नि भी जीव है, ऐसा अनुमान किया जाता है ।

वृत्तावपि<sup>१</sup>—सचेतनोऽग्निर्यथा योग्याहारेण वृद्धि-  
दर्शनात्, तदभावे च तदभावदर्शनात् ।

आधुनिका अपि मन्यन्ते—प्राणवायुमगृहीत्वा  
नाग्नेरुद्दीपनं जायते ।

आतापक-उद्योतकनामकर्मणोरुदयेनासी शेषजीव-  
कायेभ्यो विशिष्टो दृश्यते ।

शेषं पूर्ववद् (सूत्र ३९) द्रष्टव्यम् ।

६७. जे दोहलोग-सत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे । जे असत्थस्स खेयण्णे, से दोहलोग-सत्थस्स खेयण्णे ।

सं०—यः दीर्घलोकशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः, सोऽशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः । यः अशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः, स दीर्घलोकशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः ।

जो दीर्घलोक के शस्त्र को जानता है, वह संयम को जानता है । जो संयम को जानता है, वह दीर्घलोक के शस्त्र को जानता है ।

भाष्यम् ६७—दीर्घलोकः—वनस्पतिः । दीर्घशरीरत्वाद्  
द्रव्यपरिमाणेनानन्तत्वाद्, दीर्घकायस्थितिकत्वाच्च  
वनस्पतिः 'दीर्घलोक' इतिपदेनाभिहितः । चूर्णौ वृत्तौ  
चैषोऽर्थो लभ्यते, किन्तु दशवैकालिकसन्दर्भे<sup>२</sup> दीर्घलोक  
इति पृथिव्यादिप्राणिजगत् । अग्निस्तस्य शस्त्रं विद्यते ।  
अस्मिन् विषये यः क्षेत्रज्ञो—ज्ञानी विद्यते, स एव  
अशस्त्रस्य—संयमस्य विषयेऽस्ति ज्ञानी । स एवाग्निकाय-  
जीर्वाहिसातो विरमतीत्यस्य तात्पर्यम् । इदमेवमपि वक्तुं  
शक्यम्—योऽशस्त्रविषये ज्ञानी भवति, स एव दीर्घलोक-  
शस्त्रविषये ज्ञानी भवति ।<sup>३</sup>

वृत्ति में भी कहा गया है कि अग्नि सचेतन है, क्योंकि उसमें  
उचित आहार—इंधन से वृद्धि और इंधन के अभाव में हानि देखी  
जाती है ।

आधुनिक वैज्ञानिकों का भी यही मानना है कि प्राणवायु  
(ऑक्सीजन) के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती ।

नामकर्म की आतापक तथा उद्योतक प्रकृतियों के उदय में शेष  
जीवकायों की अपेक्षा इसमें विशेषतः दृष्टिगोचर होता है ।

शेष पूर्वसूत्र ३९ की भांति ।

दीर्घलोक का अर्थ है—वनस्पति जगत् । वनस्पति जगत् को  
'दीर्घलोक' कहने के तीन कारण हैं—(१) शरीर की दीर्घता (२) द्रव्य-  
परिमाण की अनन्तता तथा (३) कायस्थिति की दीर्घता (उसी काय में  
बार-बार जन्म-मरण करना) । यही अर्थ चूर्णि और वृत्ति में मिलता  
है, किन्तु दशवैकालिक सूत्र के संदर्भ में 'दीर्घलोक' का अर्थ है—पृथ्वी  
आदि प्राणी जगत् । अग्नि उसका शस्त्र है । इस विषय में जो क्षेत्रज्ञ  
अर्थात् ज्ञानी है, वही अशस्त्र—संयम के विषय में ज्ञानी है । इसका  
तात्पर्य यह है कि वही ज्ञानी व्यक्ति अग्निकाय की जीर्वाहिसा से विरत  
होता है । इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है—जो अशस्त्र के  
विषय में ज्ञानी होता है वही दीर्घलोक के शस्त्र के विषय में ज्ञानी  
होता है ।

६८. वीरेहि एयं अभिभूय दिट्ठं, संजतेहि सया जतेहि सया अप्पमत्तेहि ।

सं०—वीरः एतद् अभिभूय दृष्टं, संयतैः सदा यतैः सदा अप्रमत्तैः ।

उन मुनियों ने ज्ञान और दर्शन के आवरण का विलय कर इस अग्निकायिक जीवों के अस्तित्व को देखा है जो वीर हैं, जो  
संयमी हैं, जो सदा यत हैं और जो सदा अप्रमत्त हैं ।

भाष्यम् ६८—वीरैरभिभूय<sup>४</sup>—शुक्लध्यानेन ज्ञान-  
दर्शनयोरावरणमपाकृत्य अग्निकायिकजीवविषये प्रति-  
पाद्यमानमेतत् साक्षात्कृतम् । अत्र किमभिभूय इति स्पष्ट-

वीरों—तीर्थकरों ने शुक्लध्यान के द्वारा ज्ञान और दर्शन के  
आवरण को दूर कर अग्निकायिक जीवों के विषय में किए जाने वाले  
इस प्रतिपादन का साक्षात्कार किया है । सूत्र में यह स्पष्ट निर्देश नहीं

१. आचारांग वृत्ति, पत्र ४५ ।

२. दसवेऽस्तियं, ६।३४; भूयाणमेसमाघाओ ह्ववाहो न संसओ ।

३. प्रस्तुतसूत्रस्य रचना गतप्रत्यागतलक्षणा विद्यते ।

४. अभिभूय—सूत्रकृताङ्गे 'अभिभूय णाणो' इति पाठोऽपि  
प्रस्तुतार्थं समर्थयति (सूत्रकृतांग १।६।५) ।

प्रस्तुतागमेऽपि 'अभिभूय अदक्खू' इति पाठो दृश्यते  
(५।१११) । तत्रापि एषा एव भावना ।

चूर्णकृता 'अभिभूय' पदस्य अनेके अर्थाः कृताः—

चत्वारि चाइकस्माणि अभिभूय, परीसहा उवसग्गे य  
अभिभूय, अहवा जहा आइच्चो गहणक्खत्ताराणं प्रभं  
अभिभूय भाति तथा छउमत्थियनाणाणं अभिभूय सदेवमणु-  
यासुराए परिसाए मज्झयारे परितित्थिए अभिभूय .....  
(आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २९, ३०) ।

पातञ्जलयोगदर्शनानुसारेण व्युत्थानसंस्काराणामभिभवे सति  
निरोधसंस्काराणां प्राबुर्भावो जायते । (पातञ्जलयोगदर्शन,  
विभूतिपाद, सूत्र ८) ।

निर्देशो नास्ति, किन्तु दृष्टमितिपदेन ज्ञानदर्शनयोः आवरणमभिभूयेति स्वतः प्राप्तम् ।

वीराः—आवरणानि अभिभवितुं पराक्रमशालिनः ।

संयताः—इन्द्रियमनसोविषयेभ्यः उपरताः ।

सदा यताः—क्रोधादीनां निग्रहपरत्वेन संयमं प्रति तन्मयतां प्राप्ताः ।

सदा अप्रमत्ताः—चैतन्यं प्रति सततं जागरूकाः ।

आवरणाभिभवस्यैतानि चत्वारि साधनानि विद्यन्ते—पराक्रमः, संयमः, यमः अप्रमादश्च ।

ये संयता यता अप्रमत्ताश्च भवन्ति, त एव वीराः । तादृशैर्वीरैरेवावरणाभिभवः कर्तुं शक्यः ।

६६. जे प्रमत्ते गुणद्विए, से हु दण्डे पवुच्चति ।

सं०—यः प्रमत्तः गुणार्थी स खलु दण्डः प्रोच्यते ।

जो प्रमत्त है, गुणार्थी है, वह दण्ड कहलाता है ।

भाष्यम् ६९—सति प्रमादे आवरणाभिभवोऽशक्य इति समर्थयितुं सूत्रकारः प्रवक्ति—यः प्रमत्तः गुणार्थी—विषयार्थी वर्तते, स खलु 'दण्डः' प्रोच्यते । स खलु तेजस्कायिकजीवान् दण्डयन् वस्तुत आत्मानं दण्डयति, तेन स 'दण्डः' इत्युक्तः । सूत्रकृताङ्गे 'एतत्तुल्यप्रकरणे 'आयदंड' एषः प्रयोगोऽपि लभ्यते ।

एतेन फलितं भवति यत् प्रमत्तो विषयार्थी च हिंसायां प्रवर्तते । प्रमादो विषयाथिता च हिंसायाः कारणद्वयम् । एताभ्यामेव मनोवाक्कायदण्डा भवन्ति ।

७०. तं परिणाय मेधावी इयाणि णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं ।

सं०—तं परिज्ञाय मेधावी इदानीं नो यमहं पूर्वमकार्यं प्रमादेन ।

यह जानकर मेधावी पुरुष संकल्प करे—'वह अब नहीं करूंगा, जो मैंने प्रमादवश पहले किया था ।'

भाष्यम् ७०—प्रमादो हिंसायाः कारणमिति परिज्ञाय मेधावी मुनिः सुदृढसंकल्पपूर्वकमात्मानमनुशास्ति—'इदानीमहं संयतो जातः, तेन असंयतावस्थायां प्रमादेन यमग्निकायिकजीवानां समारम्भमकार्यं तं इदानीम-प्रमादावस्थायां न करिष्यामि ।'

मेधावी—यो जपरिज्ञया वस्तुतत्त्वं ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय च मर्यादायामवस्थितो भवति, स मेधावी ।

है कि क्या 'अभिभूत' कर, किन्तु 'दृष्ट' शब्द से ज्ञान-दर्शन के आवरण को अभिभूत कर, यह स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

वीर का अर्थ है—आवरणों को अभिभूत करने में पराक्रम कर ं वाले ।

संयत का अर्थ है—इन्द्रिय और मन के विषयों से उपरत ।

सदा यत का अर्थ है—क्रोध आदि के निग्रह में तत्पर होकर संयम के प्रति तन्मयता रखने वाले ।

सदा अप्रमत्त का अर्थ है—चैतन्य के प्रति सतत जागरूक ।

आवरण-विलय के ये चार साधन हैं—पराक्रम, संयम, यम और अप्रमाद ।

वे ही वीर होते हैं जो संयत, यत और अप्रमत्त होते हैं । ऐसे वीरों के द्वारा ही आवरण का अभिभव—विलय शक्य है ।

प्रमाद होने पर आवरण का अभिभव अशक्य होता है, इसका समर्थन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—जो प्रमत्त और गुणार्थी अर्थात् विषयार्थी होता है, वह 'दण्ड' कहलाता है । वह तेजस्कायिक जीवों को दण्डित करता हुआ वस्तुतः अपने आपको दण्डित करता है । इसलिए उसे 'दण्ड' कहा गया है । सूत्रकृताङ्ग में इसके तुल्य प्रकरण में 'आत्मदंड' ऐसा प्रयोग भी मिलता है ।

इससे फलित होता है कि प्रमत्त और विषयार्थी मनुष्य हिंसा में प्रवृत्त होता है । हिंसा के दो कारण हैं—प्रमाद और विषयाथिता । इन दोनों से ही मन, वचन और शरीर के दण्ड निष्पन्न होते हैं ।

प्रमाद हिंसा का कारण है, यह जानकर मेधावी मुनि दृढ संकल्प करते हुए अपने आप पर अनुशासन करता है—'अब मैं संयत हो गया हूँ, इसलिए असंयत अवस्था में प्रमाद से मैंने जो अग्निकायिक जीवों का समारम्भ किया था उसे अब अप्रमाद की अवस्था में नहीं करूंगा ।'

मेधावी—जो जपरिज्ञा से वस्तुतत्त्व को जानकर और प्रत्याख्यानपरिज्ञा से परित्याग कर मर्यादा में अवस्थित होता है, वह मेधावी कहलाता है ।

## ७१. लज्जमाना पुढो वास ।

सं०—लज्जमानान् पुथक् पश्य ।

तू देख, प्रत्येक संयमी साधक हिंसा से विरत हो संयम का जीवन जो रहा है ।

## ७२. अणगारा मोत्ति एणे पवयमाणा ।

सं०—अणगाराः स्म इत्येके प्रवदन्तः ।

और तू देख, कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं' यह निरूपित करते हुए भी गृहवासी जंसा आचरण करते हैं—अभिनकायिक जीवों की हिंसा करते हैं ।

भाष्यम् ७१,७२—सूत्रद्वयमिदं पूर्ववद् (सू० १७-१८)

पूर्ववत् देखें—१७-१८ सूत्र ।

ज्ञातव्यम् ।

## ७३. जमिणं विरुवरुवोहि सत्थेहि अगणि-कम्म-समारंभेणं अगणि-सत्थं समारंभमाणे, अण्णे वणेगस्वे पाणे विहिंसति ।

सं०—यदिदं विरुवरुवैः शस्त्रैः अग्निकर्मसमारंभेण अग्निशस्त्रं समारंभमाणः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिंसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्नि सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर अभिनकायिक जीवों की हिंसा करता है । वह केवल उन अभिनकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

भाष्यम् ७३ — निर्युक्तिकारेणाग्निकायिकजीवानां

निर्युक्तिकार ने अभिनकायिक जीवों के शस्त्रभूत (शस्त्रतुल्य)

शस्त्रभूतानां वस्तुनां निरूपणं कृतमस्ति—

वस्तुओं का निरूपण किया है—

१. मृत्तिका बालुका वा ।

१. मिट्टी या बालु ।

२. जलम् ।

२. जल ।

३. आर्द्रवनस्पतिः ।

३. गीली वनस्पति ।

४. त्रसाः प्राणिनः ।

४. त्रस प्राणी ।

५. स्वकायशस्त्रम्—पत्राग्निस्तृणारनेः । पत्राग्नि-संयोगात् तृणाग्निः अचित्तो भवति ।

५. स्वकायशस्त्र—पत्तों की अग्नि तृण को अग्नि का शस्त्र होती है । पत्राग्नि के संयोग से तृणाग्नि अचित्त हो जाती है ।

६. परकायशस्त्रम्—जलादि । आदिग्रहणात् 'कार्बन-डाई-आक्साइड' प्रभृतयः ।

६. परकायशस्त्र—जल आदि । आदि शब्द से कार्बन-डाई-आक्साइड आदि गृहीत हैं ।

७. तदुभयशस्त्रम् — तुषकरीषादिमिश्रितोऽग्निः अपराग्नेः ।

७. तदुभयशस्त्र—भूसी और सूखे गोबर आदि से मिश्रित अग्नि दूसरी अग्नि का शस्त्र होती है ।

## ७४. तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ।

सं०—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता ।

इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा का निरूपण किया है ।

## ७५. इमस्स चैव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं ।

सं०—अस्मै चैव जीविताय, परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुम् ।

वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए—

## १. आचारांग निर्युक्ति, गाथा १२३, १२४ :

पुढवी आउक्काए उल्ला य वणस्सई तसा पाणा ।

बायरतेउक्काय एयं तु समासओ सत्थं ॥

किञ्च सकायसत्थं किञ्च परकाय तदुभयं किञ्चो ।

एयं तु दब्बसत्थं भावे य असंजमो ॥

७६. से सद्यमेव अगणि-सत्थं समारंभइ, अण्णेहि वा अगणि-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा अगणि-सत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ ।

सं०—स स्वयमेव अग्निशस्त्रं समारंभते, अन्यैः वा अग्निशस्त्रं समारंभयति, अन्यान् वा अग्निशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते ।

कोई साधक स्वयं अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है ।

७७. तं से अहियाए, तं से अबोहोए ।

सं०—तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोधै ।

वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है । वह हिंसा उसकी अबोध के लिए होती है ।

७८. से तं संबुज्झमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए ।

सं०—स तत् संबुध्यमानः, आदानीयं समुत्थाय ।

वह हिंसा के परिणाम को समीचीन दृष्टि से समझ कर संयम की साधना में सावधान हो जाता है ।

७९. सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेहि जायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए ।

सं०—श्रुत्वा खलु भगवतः अनगाराणां वा अन्तिके इहैकेषां जातं भवति—एषा खलु ग्रंथः, एषा खलु मोहः, एषा खलु मारः, एषा खलु नरकः ।

भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (अग्निकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है ।

८०. इच्छत्थं गट्टिए लोए ।

सं०—इत्यत्र ग्रथितो लोकः ।

फिर भी सुख-सुविधा में मूर्च्छित मनुष्य अग्निकायिक जीव-निकाय की हिंसा करता है ।

८१. जमिणं विरुवरुवेहि सत्थेहि अगणि-कम्म-समारंभेणं अगणि-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरुवे पाणे विहिसति ।

सं०—यदिदं विरुवरुपैः शस्त्रैः अग्निकर्मसमारंभेण अग्निशस्त्रं समारंभमाणः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्नि सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर अग्निकायिक जीवों की हिंसा करता है । वह केवल उन अग्निकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

८२. से बेमि—अप्येगे अंधमबभे, अप्येगे अंधमच्छे ।

सं०—तद् ब्रवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्धाद्, अप्येकः अन्धमाच्छिन्धात् ।

मैं कहता हूँ—अग्निकायिक जीव जन्मना इन्द्रियविकल—अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अक्षय्य चेतना वाला होता है । शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीव को होती है ।

८३. अप्येगे पायमबभे, अप्येगे पायमच्छे ।

सं०—अप्येकः पादमाभिन्धाद्, अप्येकः पादमाच्छिन्धात् ।

इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के पैर आदि (द्रष्टव्यं १।२९) का शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर उसे अक्षय्य कष्टानुभूति होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीव को होती है ।

८४. अप्येगे संपमारए, अप्येगे उट्ठवए ।

सं०—अप्येकः संपमारयेद्, अप्येकः उट्ठवेत् ।

मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही अग्निकायिक जीव को होती है ।

भाष्यम् ७४-८४—एतानि सूत्राणि पूर्ववत् (२०-३०)

पूर्ववत् देखें—सूत्र २०-३०।

ज्ञातव्यानि ।

८५. से बेमि—संति पाणा पुढवि-णित्तिया, तण-णित्तिया, पत्त-णित्तिया, कट्ट-णित्तिया, गोमय-णित्तिया, कयवर-णित्तिया । संति संपातिमा पाणा, आहच्च संपयंति य । अर्गाण च खलु पुट्ठा, एगे संघायमावज्जंति । जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परियावज्जंति । जे तत्थ परियावज्जंति, ते तत्थ उट्ठायंति ।

सं०—तद् ब्रवीमि—सन्ति प्राणाः पृथिवीनिश्रिताः, तृणनिश्रिताः, पत्रनिश्रिताः, काष्ठनिश्रिताः, गोमयनिश्रिताः, कचवरनिश्रिताः । संति संपातिमाः प्राणाः, आहत्य संपतन्ति च । अग्निं च खलु स्पृष्टाः, एके संघातमापद्यन्ते । ये तत्र संघातमापद्यन्ते, ते तत्र पर्यापद्यन्ते । ये तत्र पर्यापद्यन्ते, ते तत्र अवद्रान्ति ।

मैं कहता हूँ—पृथ्वी, तृण, पत्र, काष्ठ, गोबर और कचरे के आश्रय में प्राणी रहते हैं । संपातिम (उड़ने वाले) प्राणी भी होते हैं । वे ऊपर से आकर नीचे गिर जाते हैं । कुछ प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर संघात को प्राप्त हो जाते हैं । जो प्राणी अग्नि का स्पर्श पाकर संघात को प्राप्त हो जाते हैं वे उसकी ऊष्मा से वहाँ मूर्च्छित हो जाते हैं । जो उसकी ऊष्मा से मूर्च्छित हो जाते हैं वे वहाँ मर जाते हैं ।

भाष्यम् ८५—अस्मिन् जगत्यनेके प्राणिनः सन्ति पृथ्वीनिश्रिताः—त्रसाः स्थावराश्च । तत्र त्रसाः—कुन्थु-पिपीलिकादयः सर्पमण्डूकादयश्च । स्थावराः—वृक्षगुल्म-लतातृणादयः । तृण-पत्रनिश्रिताः—पतङ्गेलिकादयः । काष्ठनिश्रिताः—घृणपिपीलिकाण्डादयः । गोमय-निश्रिताः—कुंथुपनकादयः । कचवरनिश्रिताः<sup>१</sup>—कृमि-कीटपतंगादयः । संपातिमाः—मक्षिकाभ्रमरपतंगमशक-पक्षिवातादयः ।

इस जगत् में अनेक प्रकार के प्राणी हैं । वे विभिन्न आश्रय-स्थानों में रहते हैं । पृथ्वी के आश्रय में त्रस और स्थावर—दोनों प्रकार के प्राणी रहते हैं—

त्रस—कुंथु, पिपीलिका, सर्प, मेंढक आदि ।

स्थावर—वृक्ष, गुल्म, लता, तृण आदि ।

तृण-पत्र के आश्रय में रहने वाले प्राणी—पतंगा, इल्ली आदि ।

काष्ठ के आश्रय में रहने वाले प्राणी—घृण, चीटी, अंडे आदि ।

गोबर के आश्रय में रहने वाले प्राणी—कुंथु, फफुन्दी आदि ।

कचरे के आश्रय में रहने वाले प्राणी—कृमि, कीट, पतंगा आदि ।

संपातिम प्राणी—मक्खी, भ्रमर, पतंगा, मच्छर, पक्षी, वायु आदि ।

ते आहत्य—आगत्याग्नीं संपतन्ति । तस्य स्पर्श प्राप्य एके जीवाः संघातमापद्यन्ते—गात्रसंकोचनं प्राप्नुवन्ति । ये संघातमापद्यन्ते ते पर्यापद्यन्ते—मूर्च्छिता भवन्ति । ते मूर्च्छिताः सन्तः अवद्रान्ति—म्रियन्ते ।

वे सभी प्रकार के प्राणी आकर अग्नि में गिरते हैं । उसके स्पर्श को पाकर कुछ जीव संघात को प्राप्त हो जाते हैं—उनका शरीर सिकुड़ जाता है । जो संघात को प्राप्त होते हैं, वे मूर्च्छित हो जाते हैं । वे मूर्च्छित होकर मर जाते हैं ।

८६. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णयाया भवंति ।

सं०—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता भवन्ति ।

जो अग्निकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ (प्रयोग) करता है, वह इन आरम्भों—तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्तियों से बच नहीं पाता ।

८७. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णयाया भवंति ।

सं०—अत्र शस्त्रं असमारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति ।

जो अग्निकायिक जीव पर शस्त्र का समारम्भ नहीं करता, वह इन आरम्भों से मुक्त हो जाता है ।

८८. तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं अग्णि-सत्थं समारंभेज्जा, नेवण्णेहि अग्णि-सत्थं समारंभावेज्जा, अग्णि-सत्थं समारंभमाणे अण्णे न समण्णजाणेज्जा ।

१. आचारंग वृत्ति, पत्र ५० : पत्रतृणधूलिसमुदायः कचवरः ।

सं०—तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं अग्निशस्त्रं समारम्भेत, नैव अन्यैः अग्निशस्त्रं समारम्भयेद्, अग्निशस्त्रं समारम्भमाणान् अन्यान् न समनुजानीत ।

यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं अग्निशस्त्र का समारम्भ न करे, दूसरों से उसका समारम्भ न करवाए तथा उसका समारम्भ करने वाले दूसरों का अनुमोदन न करे ।

८६. जस्सेते अग्नि-कर्म-समारम्भा परिणयाया भवन्ति, से ह्य मुणी परिणयाय-कस्मे । —त्ति वेमि ।

सं०—यस्यैते अग्नि-कर्म-समारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा । —इति ब्रवीमि ।

जिसके अग्नि सम्बन्धी कर्म-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही मुनि परिज्ञातकर्मा (कर्म-त्यागी) होता है । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ८६-८९—एतानि सूत्राणि पूर्ववत् (३१-३४) पूर्ववत् देखें—सूत्र ३१-३४ ।  
ज्ञातव्यानि ।

### पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

पञ्जीवनिकायक्रमे तेजस्कायानन्तरं वायुकायः प्रतिपाद्यते ।<sup>१</sup> अत्र क्रमप्राप्तो वायुकायप्रक्रमः, तथाप्यत्र तं विहाय वनस्पतेरुद्देशः पूर्व नियोजितः । अत्रावश्यं केनचित् कारणेन भाव्यम् । चूर्णिकारेण<sup>२</sup> प्रदर्शितमिदं—अचाक्षुषत्वाद् दुःश्रद्धेयो वायुः, तमश्रद्धानः शिष्यो मा विप्रतिपद्येत, तेनोत्क्रमः कृतः । किन्तु विमर्शयोग्योऽयं हेतुः ।

वायुरचाक्षुषः सन्नपि नास्ति दुःश्रद्धेयः । प्रस्तुता-ध्ययने वायोः प्रतिपादनमिष्टं नास्ति, किन्तु वायोः सजीवताप्रतिपादनमिष्टम् । अस्यां विचारणायां पृथिव्यादीनां जीवत्वमपि दुःश्रद्धेयम् । अत्र वयं कारणं मृगयामहे तदा वायोर्गतिमत्त्वमेवोत्क्रमस्य हेतुविभाव्यते । चत्वारः स्थावरकायाः संलग्नरूपेण प्रतिपादिताः । तदनन्तरं त्रसकायस्य प्रतिपादनम् । वायुरपि त्रसकायान्तर्गतः, तेन त्रसकायनिरूपणानन्तरं वायुकायस्य निरूपणं विहितम् ।

स्थानाङ्ग<sup>३</sup> तत्त्वार्थसूत्रे<sup>४</sup> च अग्नेरपि त्रसत्वं विवक्षितं, किन्तु यथा वायुस्तिर्यग्गतिमान् विद्यते तथाग्निर्नास्ति । तेन तेजस्कायः स्थावरशृङ्खलायामेव निर्दिष्टः ।

पञ्जीवनिकाय के क्रम में तेजस्काय के पश्चात् वायुकाय का प्रतिपादन होता है । यहाँ वायुकाय का विषय क्रम-प्राप्त है, फिर भी यहाँ उसको छोड़कर वनस्पति का पहले प्रतिपादन किया गया है । इसमें कोई कारण अवश्य होना चाहिए । चूर्णिकार ने इसका कारण प्रदर्शित करते हुए लिखा है—वायु आंखों से दिखाई नहीं देता, इसलिए वह दुःश्रद्धेय है । उस पर श्रद्धा न करने वाला शिष्य विपरीत मत न बना ले, इसलिए क्रम-परिवर्तन किया गया है । चूर्णिकार का यह हेतु विमर्शनीय है ।

वायु अचाक्षुष होते हुए भी दुःश्रद्धेय नहीं है । प्रस्तुत अध्ययन में वायु का प्रतिपादन इष्ट नहीं है, किन्तु वायु की सजीवता का प्रतिपादन अभिप्रेत है । इस सजीवता की विचारणा में पृथ्वी आदि की सजीवता भी दुःश्रद्धेय है । यदि हम कारण की खोज करें तो वायु की गतिमत्ता ही क्रम-व्यत्यय का कारण प्रतीत होती है । चार स्थावरकायों का संलग्नरूप से प्रतिपादन किया गया है । उसके बाद त्रसकाय का प्रतिपादन है । वायु भी त्रसकाय के अन्तर्गत है, इसलिए त्रसकाय के निरूपण के पश्चात् वायुकाय का निरूपण किया गया है ।

स्थानाङ्ग और तत्त्वार्थ सूत्र में अग्नि को भी त्रसकाय माना गया है, किन्तु वायु जिस प्रकार तिरछी गति वाला है वैसे अग्नि नहीं है, इसलिए तेजस्काय का निर्देश स्थावर की शृङ्खला में ही किया गया है ।

१. आपारो, १।१।१२ ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३१ ।

३. अंगसुत्राणि १, ठाणं, ३।३२६ : तिविहा तसा षण्णसा, तं

जहा—तेउकाइया, वाउकाइया, उराला तसा पाणा ।

४. तत्त्वार्थ, २।१४ : तेजोवायु द्वीन्द्रियादयश्च त्रसाः ।

## ६०. तं नो करिस्सामि समुट्ठाए ।

सं०—तं नो करिष्यामि समुत्थाय ।

अहिंसा-व्रती संकल्प करे—मैं अहिंसा धर्म में दीक्षित होकर वह—हिंसा नहीं करूंगा ।

भाष्यम् ९०—मुनिः प्रव्रज्यासमये षड्जीवनिकाय-संयमाय समुत्थितो भवति, अत एव स इमं संकल्पं पुनः पुनः अभ्यस्यति—'इदानीमहं मुनिर्जातः षड्जीवनिकाय-संयमाय समुत्थितः । तेन गृहस्थावस्थायां वनस्पति-जीवानां यं समारंभमकार्षं, तमिदानीं नो करिष्ये ।

प्रव्रज्या के समय मुनि षड्जीवनिकाय के संयम के लिए समुत्थित (तत्पर) होता है, इसलिए वह बार-बार इस संकल्प का अभ्यास करता है—'अब मैं मुनि हो गया हूँ, षड्जीवनिकाय के संयम के लिए उठ चुका हूँ, इसलिए गृहस्थावस्था में मैंने जो वनस्पति जीवों का आरम्भ किया है, उसे अब नहीं करूंगा ।

## ६१. मंता मइमं अभयं विदित्ता ।

सं०—मत्वा मतिमान् अभयं विदित्वा ।

मतिमान् पुरुष जीवों के अस्तित्व का मनन कर और सब जीव अभय चाहते हैं—इस आत्म-तुला को समझकर किसी की भी हिंसा नहीं करता ।

भाष्यम् ९१—वनस्पतिकायसमारम्भस्य परित्यागो नाज्ञानमूलकः, किन्तु तस्मिन्नस्ति जीवास्तित्वमिति मननपूर्वकमेव मतिमान् तस्य समारम्भं परिजानाति । द्वितीयं कारणं, ते वनस्पतिजीवा अल्पविकसिताः सन्तोऽपि इत्यभिलषन्ति—न कश्चित् तेषु मृत्युभयमापादयेत् इति तेषामभयवृत्तिं विदित्वा मुनिस्तत्समारम्भं परिजानाति ।

वनस्पतिकाय के समारंभ का परित्याग अज्ञानमूलक नहीं है । उसमें जीव का अस्तित्व है, इस चिन्तन के साथ मतिमान् पुरुष उसके समारम्भ का परित्याग करता है । दूसरा कारण है—वे वनस्पतिकाय के जीव अल्पविकसित होते हुए भी ऐसी अभिलाषा करते हैं कि उन्हें कोई मृत्युभय से भीत न करे । उनकी इस प्रकार की अभयवृत्ति को जानकर मुनि उनके समारम्भ का परित्याग करता है ।

अभयं—चूर्णकारेण सातं, सुखं, परिनिर्वाणं, अभयं—इत्येषामेकार्थकता प्रतिपादिता ।

अभय—चूर्णकार ने सात, सुख, परिनिर्वाण और अभय—इनको एकार्थक माना है ।

## ६२. तं जे णो करए एसोवरए, एत्थोवरए एस अणगारेत्ति पव्चच्चइ ।

सं०—तं यो नो करोति एष उपरतः, अत्रोपरतः एषः अनगारः इति प्रोच्यते ।

जो हिंसा नहीं करता, वह व्रती होता है । इस वनस्पति-लोक की हिंसा के विषय में जो व्रती होता है, वही अनगार कहलाता है ।

भाष्यम् ९२—यो मुनिरभयं विदित्वा वनस्पतिकाय-समारम्भं न करोति, स एष उपरत इत्युच्यते । वनस्पति-कायसमारंभादेव गृहस्था अगारं निर्मान्ति । केचन भिक्षवोऽपि तदानीं वनस्पतिं छित्त्वा कुटीनिर्माणं कुर्वाणा आसन् । स्थितिमेतां लक्ष्यीकृत्य सूत्रकारेणोक्तम्—'यो वनस्पतिसमारम्भं करोति, सोऽगारी एव, कथं सोऽनगार इति वक्तुं शक्यः ? स एवाऽनगारो भवितुमर्हति योऽत्र—वनस्पतिलोके अगानां—वृक्षाणां उपलक्षणाद् वनस्पतीनां समारम्भादुपरतोऽस्ति, न च अगारनिर्माण-कर्मणि व्यापृतो भवति ।'

जो मुनि अभय को जानकर वनस्पतिकाय का समारम्भ नहीं करता, वह उपरत कहलाता है । वनस्पतिकाय के समारम्भ से ही गृहस्थ गृह-निर्माण करते हैं । कुछ भिक्षु भी उस समय वनस्पति का छेदन कर कुटी का निर्माण करते थे । इस स्थिति को लक्षितकर सूत्रकार ने कहा—जो वनस्पति का समारम्भ करता है वह गृहस्थ ही है, उसे अनगार कैसे कहा जा सकता है ? अनगार वही हो सकता है जो इस वनस्पतिलोक में अग—वृक्षों अर्थात् समस्त वनस्पति के समारम्भ से उपरत होता है और अगार-निर्माण की प्रवृत्ति में व्यापृत नहीं होता ।

१. चिन्तयपिदके 'पाचित्तिय पालि' एकादसं पाचित्तियं (२) पञ्चत्ति—अथ लो भगवा एतास्मि निदाने एतास्मि पकरणे भिक्खुसङ्घं सन्निपातापेत्वा आलवके भिक्खू पटिपुच्छि—सच्चं किर तुम्हे, भिक्खवे दक्खं छिन्वथापि छेवोपोथासोत्ति ?

सच्चं भगवां त्ति ।

२. उत्तराध्ययन चूर्ण, पृष्ठ २६ : न गच्छंतीत्यगाः—वृक्षाः इत्यर्थः । अगैः कृतमगारं गृहमित्यर्थः, नास्य अगारं विद्धत इत्यनगारः ।



६३. जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ।

सं०—यः गुणः स आवर्त्तः, य आवर्त्तः स गुणः ।

जो विषय है वह आवर्त्त है । जो आवर्त्त है वह विषय है ।

भाष्यम् ९३—यो वनस्पतिकायसमारम्भादुपरतो न भवति, स वस्तुतोऽगारमेवावसतीति अस्मिन्नेवालापके वक्ष्यमाणमस्ति (सूत्रं ९८) । स गुणानास्वादमानो गुणेषु प्रवर्त्तत इति स्थापनां स्पष्टयितुं सूत्रकारः प्रवक्ति— गुणाः—शब्दादयः इन्द्रियविषयाः । ये गुणास्त आवर्त्ताः—नानाविधभावसंक्रमणहेतवः सन्ति । ते च प्रायो वनस्पतिसमारम्भजाः, यथा—वीणाभवनपुष्पफल-तूलिकादयः क्रमशो दृष्टान्ताः ज्ञेयाः ।

यो वनस्पतिसमारम्भे वर्त्तते, स गुणे वर्त्तते । यो गुणे वर्त्तते, स आवर्त्त वर्त्तते । य आवर्त्त वर्त्तते, सोऽगारवासी एव, नानगारो भवितुमर्हति ।

अस्य सूत्रस्य संरचना गत-प्रत्यागतशैल्या वर्त्तते ।

जो वनस्पतिकाय के समारम्भ से उपरत नहीं होता, वह वास्तव में गृहवासी ही है, यह इसी आलापक के सूत्र ९८ में बतलाया जायेगा । वह गुणों का आस्वाद लेता हुआ गुणों में प्रवृत्त होता है—इस स्थापना को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—शब्द आदि इन्द्रिय-विषय गुण हैं । जो गुण है वे आवर्त्त हैं अर्थात् नाना प्रकार के भावों के संक्रमण के हेतु हैं । वे गुण प्रायः वनस्पति के समारम्भ से पैदा होने वाले हैं, जैसे वीणा, भवन, फूल, फल, तूलिका (रई से भरा गद्दा) आदि । ये क्रमशः इन्द्रिय विषयों के लिए वनस्पति समारम्भ के दृष्टांत हैं ।

जो वनस्पति के समारम्भ में प्रवृत्ति करता है, वह गुण में प्रवृत्ति करता है । जो गुण में प्रवृत्ति करता है, वह आवर्त्त में प्रवृत्ति करता है । जो आवर्त्त में प्रवृत्ति करता है वह गृहस्थ ही है, अनगार नहीं हो सकता ।

इस सूत्र की रचना गत-प्रत्यागत शैली में है ।

६४. उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पसमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सहाइं सुणेति ।

सं०—ऊर्ध्वं अधः तिर्यक् प्राचीनं पश्यन् रूपाणि पश्यति, शृण्वन् शब्दान् शृणोति ।

ऊंचे, नीचे और तिरछे स्थानों में तथा पूर्व आदि दिशाओं में देखने वाला रूपों को देखता है, सुनने वाला शब्दों को सुनता है ।

भाष्यम् ९४—‘गुणाः क्व वर्त्तन्ते’ इति जिज्ञासायां कृतं समाधानमिदम्—दिशां विहाय नैतन्निरूपयितुं शक्यमिति सूत्रकारो वक्ति—सर्वासु दिशासु गुणा वर्त्तन्ते । मनुष्य ऊर्ध्वं पश्यन्नपि रूपाणि पश्यति, शृण्वंश्च शब्दान् शृणोति । एवं अधस्तिर्यक्प्राच्यादि-दिशास्वपि रूपाणि पश्यति, शब्दांश्च शृणोति । इन्द्रिय-विषयेषु रूपशब्दौ एव मुख्यौ स्तः । प्राधान्येन साहित्येऽपि दृश्यश्रव्यकाव्ययोरेव स्वीकरणमस्ति ।

‘गुण कहां होते हैं?’ इस जिज्ञासा का यह समाधान दिया गया है—दिशा को छोड़कर इसका निरूपण नहीं किया जा सकता, इसलिए सूत्रकार कहते हैं—सब दिशाओं में गुण होते हैं । मनुष्य ऊपर देखता हुआ भी रूपों को देखता है, सुनता हुआ शब्दों को सुनता है । इसी प्रकार नीची, तिरछी और पूर्व आदि दिशाओं में भी रूपों को देखता है और शब्दों को सुनता है । इन्द्रिय-विषयों में रूप और शब्द ही मुख्य हैं । साहित्य में भी मुख्यतः दृश्य एवं श्रव्य-काव्यों को ही स्वीकार किया गया है ।

६५. उड्ढं अहं तिरियं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सहेसु आवि ।

सं०—ऊर्ध्वं अधः तिर्यक् प्राचीनं मूर्च्छन् रूपेषु मूर्च्छति, शब्देषु चापि ।

ऊंचे, नीचे और तिरछे स्थानों में तथा पूर्व आदि दिशाओं में विद्यमान वस्तुओं में मूर्च्छित होने वाला रूपों में मूर्च्छित होता है, शब्दों में मूर्च्छित होता है ।

भाष्यम् ९५—पूर्वसूत्रे इन्द्रियविषयग्रहणमात्रमेव प्रति-पादितम् । प्रस्तुतसूत्रे तज्जनितां मूर्च्छां प्रतिपादयति सूत्रकारः । इन्द्रियविषयग्रहणमात्रं नास्ति दोषावहं, किन्तु तस्मिन् चित्तं मुह्यति, तदस्ति सदोषम् । अत एवोक्त-मस्ति—मूर्च्छितचित्तो मनुष्य ऊर्ध्वादिदिशासु रूपेषु मूर्च्छति शब्देषु चापि ।

पूर्वसूत्र में इन्द्रियविषयों का ग्रहणमात्र प्रतिपादित किया गया है । प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार उससे होने वाली मूर्च्छा का प्रतिपादन करते हैं । इन्द्रिय-विषयों का ग्रहणमात्र दोषयुक्त नहीं है, किन्तु उसमें चित्त मूढ बनता है, वह दोषपूर्ण है । इसीलिए कहा गया है—मूर्च्छित चित्त वाला मनुष्य ऊर्ध्व आदि दिशाओं में रूपों और शब्दों में मूर्च्छित होता है ।

प्राणिनां इन्द्रियगणस्य माध्यमेन बाह्यजगतः सम्पर्को भवति । तत्र चक्षुश्रोत्रयोरेव प्राधान्यम् । भाषात्मकः सम्पर्कः समाजं सूत्रयति । अभाषकाणां नास्ति समाजः । तेषां भवति समजः । अत उच्यते— 'समजस्तु पशूनां स्यात्, समाजस्त्वन्यदेहिनाम् ।' चक्षुषा प्रत्यक्षं दृष्टा भवन्ति पदार्थाः । अत एव सामाजिकसंघटनायां एते द्वे एव मुख्यत्वं भजतः । सूत्रकारेणापि अनयोर्विषयाणां उल्लेखः कृतः ।

आचारचूलायामस्य विषयस्य समर्थनपराः पञ्च-गाथा उपलभ्यन्ते ।<sup>१</sup>

मूर्च्छा—रागद्वेषपरिणामः ।<sup>२</sup>

### ६६. एस लोए विद्याहिए ।

सं०—एष लोको व्याहृतः ।

इसे लोक (आसक्ति का जगत्) कहा जाता है ।

भाष्यम् ९६—एष इन्द्रियविषयलोको मूर्च्छात्मकः व्याहृतः ।<sup>३</sup> मूर्च्छा मोहाक्षिप्तचेतसां नृणां सहजा भवति । इन्द्रियविषयाः तस्या उद्दीपने निमित्ततां भजन्ति । भिन्ना मूर्च्छा भिन्नाशचेन्द्रियविषयाः । सत्यपि भेदे सम्बन्ध-हेतुत्वादभेदोपचारेण इन्द्रियविषयलोकः मूर्च्छात्मको लोक इतिवक्तुं युक्तम् ।

### ६७. एत्थ अगुत्ते अणाणाए ।

सं०—अत्र अगुप्तः अनाज्ञायाम् ।

जो पुरुष इस लोक में अगुप्त होता है, वह आज्ञा में नहीं है ।

भाष्यम् ९७—एषु वनस्पतिजनितेषु कामगुणेषु यो मनुष्योऽगुप्तोऽस्ति, सोऽनाज्ञायाम् वर्तते ।

अगुप्तः—रागद्वेषवशगतः ।

आज्ञा—सूक्ष्मतत्त्वावबोधः अथवा अतीन्द्रियतत्त्व-

प्राणियों का बाह्य जगत् के साथ संपर्क इन्द्रियों के माध्यम से होता है । संपर्क-सूत्र में आंख और कान की ही प्रधानता है । भाषा के आधार पर होने वाला संपर्क समाज की संरचना करता है । अभाषक प्राणियों का 'समाज' नहीं होता, 'समज' होता है ! इसीलिए कहा है—'पशुओं का समज होता है, अन्य प्राणियों का समाज ।' आंखों से पदार्थ प्रत्यक्षरूप में देखे जाते हैं । इसलिए समाज की संघटना में आंख और कान—ये दो ही मुख्य होते हैं । सूत्रकार ने भी प्रस्तुत आलापक में इन दोनों इन्द्रियों के विषयों का उल्लेख किया है ।

आचारचूला में इस विषय के समर्थन में पांच गाथाएं उपलब्ध होती हैं ।

मूर्च्छा का अर्थ है—राग द्वेष का परिणाम ।

इस इन्द्रियविषयलोक को मूर्च्छात्मक कहा गया है । मोह से आक्षिप्त चित्तवाले मनुष्यों के मूर्च्छा सहज होती है । उसके उद्दीपन में इन्द्रिय-विषय निमित्त बनते हैं । मूर्च्छा भिन्न है इन्द्रिय-विषय भिन्न है । दोनों में भेद होने पर भी दोनों एक-दूसरे के संबंध के हेतु बनते हैं, इसलिए अभेदोपचार से इन्द्रियविषयलोक को मूर्च्छात्मक लोक कहना उपयुक्त है ।

जो मनुष्य इन वनस्पति-जनित कामगुणों में अगुप्त है, वह अनाज्ञा में है ।

अगुप्त का अर्थ है—रागद्वेष के वशीभूत ।

आज्ञा का अर्थ है—सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान अथवा अतीन्द्रिय ज्ञान

#### १. अंगसुत्ताणि १, आचारचूला, १५।७२-७६ :

ण सक्का ण सोउं सहा, सोयविसयमागता ।  
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥  
णो सक्का रुवमदट्ठुं, चक्खुविसयमागयं ।  
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥  
णो सक्का ण गंधमग्धाउं, णासाविसयमागयं ।  
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥  
णो सक्का रसमणासाउं, जीहाविसयमागयं ।  
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥  
णो सक्का ण संवेदेउं, फासविसयमागयं ।  
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

#### २. अंगसुत्ताणि १, ठाणं २।४३२-४३४ :

दुविहा मुच्छा पण्णत्ता, तं जहा—पेज्जवत्तिया चेव, दोस-वत्तिया चेव ।  
पेज्जवत्तिया मुच्छा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—माया चेव, लोभे चेव ।  
वोसवत्तिया मुच्छा दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—कोहे चेव, माणे चेव ।

३. घूर्णो 'एस असंजतलोए विद्याहिए' इति व्याख्यातम् ।  
(आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३४)

प्रतिपादकं जिनवचनमागम इति यावत् । न आज्ञा— अनाज्ञा । यः कामगुणवशवर्ती सन् वनस्पतिजीवान् हिनस्ति सोऽनाज्ञायां वर्तते, अतीन्द्रियविषयानभिज्ञोऽस्तीति यावत् ।

के प्रतिपादक जिनवचन—आगम । आज्ञा का न होना अनाज्ञा है । जो कामगुणों का वशवर्ती होकर वनस्पति जीवों की हिंसा करता है, वह अनाज्ञा में है, वह अतीन्द्रिय विषयों से अनभिज्ञ है ।

६८. पुणो-पुणो गुणासाए, वक्रसमायारे, पमत्ते गारमावसे ।

सं०—पुनः पुनः गुणास्वादः, वक्रसमाचारः, प्रमत्तोऽगारमावसति ।

जो बार-बार विषयों का आस्वाद करता है, जिसका आचरण वक्र—असंयममय होता है और जो प्रमत्त होता है, वह गृहत्यागी होकर भी गृहवासी होता है ।

भाष्यम् ९८—यः पुनः पुनर्गणान्—इन्द्रियविषयान् आस्वदते, असंयमं समाचरति, प्रमत्तो भवति, स पुरुषो गृहत्यागी भूत्वाऽपि वस्तुतः अगारमावसति ।

जो बार-बार गुणों अर्थात् इंद्रिय विषयों का आस्वाद लेता है, असंयम का आचरण करता है, प्रमत्त होता है, वह पुरुष गृहत्यागी होकर भी वस्तुतः गृहवासी है ।

वक्रः—असंयमः । आगमपरिभाषायां ऋजुः—संयमो मोक्षो वा, वक्रः—असंयमः संसारो वा ।

वक्र का अर्थ है—असंयम । आगम की परिभाषा में ऋजु का अर्थ है—संयम या मोक्ष और वक्र का अर्थ है—असंयम या संसार ।

वनस्पतिरसास्वादे गृहस्य गृहत्यागिनः कथं भावतः अगारवासित्वं भवतीति निशीथभाष्ये निदर्शितमस्ति ।

जो अनगार वनस्पति के रसास्वादन में आसक्त होता है, वह वास्तव में गृहवासी होता है, यह तथ्य निशीथभाष्य में स्पष्टरूप से प्रतिपादित है ।

६९. लज्जमाणा पुढो पास ।

सं०—लज्जमानान् पृथक् पश्य ।

तू देख, प्रत्येक संयमी साधक हिंसा से विरत हो संयम का जीवन जी रहा है ।

१००. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।

सं०—अनगाराः स्मः इति एके प्रवदन्तः ।

और तू देख, कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं'—यह निरूपित करते हुए भी गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—वनस्पतिकार्यिक जीवों की हिंसा करते हैं ।

भाष्यम् ९९-१००—सूत्रद्वयं पूर्ववत् (१७-१८) पूर्ववत् देखें—सूत्र १७-१८ । ज्ञातव्यम् ।

१०१. जमिणं विरूवरूवोहि सत्थोहि वणस्सइ-कम्म-समारंभेणं वणस्सइ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिसति ।

१. निशीथभाष्य, गाया ४७९१-४७९२ :

कायं परिचचयंतो, सेसे काए वए य सो चयति ।

णाणी णाणुवदेसे, अवट्टमाणो उ अन्नाणी ॥

वंसणचरणा मूढस्स णत्थि समता वा णत्थि सम्मं तु ।

विरतीलक्खणचरणं, तदभावे णत्थि वा तं तु ॥

चणो—'पल्लवे गेण्हंतेण वणस्सतिकाओ परिचचत्तो,

वणस्सतिकायपरिचचाणेण, सेसा वि काया परिचचत्ता, एवं

छक्कायपरिचचाणे पढमवयं परिचचत्तं, तस्स य परिचचाणे,

सेस वया वि परिचचत्ता । एवं अट्ठती भवति ।

जहा अण्णाणी णाणभावतो णाणुवदेसे ण वट्टति, एवं णाणी वि णाणुवदेसे अवट्टंतो णिच्छयतो णाणफलाभावाओ अण्णाणी चेव ।

णाणाभावे मूढो भवति, मूढस्स य वंसणचरणा ण भवति ।

अथवा—जेण जीवेसु समता णत्थि, पल्लवगहणातो, तेण सम्मत्तं णत्थि ।

विरतिलक्खणं चारित्तं भणियं, तं च पल्लवे गेण्हंतस्स लक्खणं ण भवति, 'तदभावे' सि लक्खणाभावे चारित्तं णत्थि ।'

सं०—यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारंभेण वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिंसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पति-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है। वह केवल उन वनस्पतिकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

भाष्यम् १०१—निर्धुक्तौ<sup>३</sup> वनस्पतिकायशस्त्राणि एवं प्रतिपादितानि—

निर्युक्ति में वनस्पतिकाय के शस्त्र इस प्रकार प्रतिपादित हुए हैं—

१. कल्पनी, कुठारी, दात्रं, दात्रिका, कुदालकं, वासी, परशुशूच ।

१. कैंची, कुठारो, हंसिया, छोटी हंसिया, कुदाली, वसूला और फरसा ।

२. हस्तपादमुखादयः ।

२. हाथ, पैर, मुंह आदि ।

३. स्वकायशस्त्रम्—लकुटादयः ।

३. स्वकायशस्त्र—लाठी आदि ।

४. परकायशस्त्रम्—पाषाणाग्न्यादयः ।

४. परकायशस्त्र—पाषाण, अग्नि आदि ।

५. तदुभयशस्त्रम्—कुठारादयः ।

५. तदुभयशस्त्र—कुठार आदि ।

६. भावशस्त्रम्—असंयमः ।

६. भावशस्त्र—असंयम ।

१०२. तत्थ खलु भगवत्या परिण्णा पवेदिता ।

सं०—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता ।

इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है ।

१०३. इमस्स चैव जीवियस्स, परिवंदण-माणण-पूयणाए, जाती-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं ।

सं०—अस्मै चैव जीविताय, परिवंदन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुम् ।

वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए ।

१०४. से सयमेव वणस्सइ-सत्थं समारंभइ, अण्णेहि वा वणस्सइ-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा वणस्सइ-सत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ ।

सं०—स स्वयमेव वनस्पतिशस्त्रं समारंभते, अन्यैः वा वनस्पतिशस्त्रं समारंभयति, अन्यान् वा वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते ।

कोई साधक स्वयं वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है ।

१०५. तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।

सं०—तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोध्यं ।

वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है, वह हिंसा उसकी अबोधि के लिए होती है ।

१०६. से तं संबुज्झमाणे, आघाणीयं समुट्ठाए ।

सं०—स तत् संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय ।

वह उस हिंसा के परिणाम को समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है ।

१. आचारांग निर्युक्ति, गाथा १४९-१५० :

कप्पणिकुहाणिअसियगदत्तियकुदालवासिपरसू अ ।

सत्थं वणस्सईए हत्था पाया मुहं अग्गी ॥

किच्ची सकायसत्थं किच्ची परकाय तदुभयं किच्ची ।

एयं तु दध्वसत्थं भावे य असंजमो सत्थं ॥

१०७. सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसि णायं भवति—एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए ।

सं०—श्रुत्वा भगवतः अतयाराणां वा अंतिके इहैकेषां ज्ञातं भवति—एषा खलु ग्रन्थः, एषा खलु मोहः, एषा खलु मारः, एषा खलु नरकः ।

भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थि है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है ।

१०८. इच्छत्थं गट्टिए लोए ।

सं०—इत्यत्र ग्रथितो लोकः ।

फिर भी सुख-सुविधा में मूर्च्छित मनुष्य वनस्पतिकायिक जीव-निकाय की हिंसा करता है ।

१०९. जमिणं विरूवरूवेह सत्थेहि वणस्सइ-कम्म-समारंभेणं वणस्सइ-सत्थं समारंभमाणे अणणे वणेरुवे पाणे विहिंसति ।

सं०—यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वनस्पतिकर्मसमारंभेण वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिंसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वनस्पति सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वनस्पतिकायिक जीवों की हिंसा करता है । वह केवल उन वनस्पतिकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

११०. से बेमि—अप्येगे अंधमब्भे, अप्येगे अंधमच्छे ।

सं०—तद् ब्रवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्धाद्, अप्येकः अन्धमाच्छिन्धाद् ।

मैं कहता हूँ—वनस्पतिकायिक जीव जन्मना इन्द्रियविकल—अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है । शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है ।

१११. अप्येगे पायमब्भे, अप्येगे पायमच्छे ।

सं०—अप्येकः पादमाभिन्धाद्, अप्येकः पादमाच्छिन्धात् ।

इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के पैर आदि (द्रष्टव्यं १।२९) का शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर उसे अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है ।

११२. अप्येगे संपमारए, अप्येगे उद्दवेत् ।

सं०—अप्येकः संपमारयेद्, अप्येकः उद्दवेत् ।

मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-वियोजन करने पर उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वनस्पतिकायिक जीव को होती है ।

भाष्यम् १०२-११२—एतानि सूत्राणि पूर्ववद् (२०-३०) पूर्ववत् देखें—सूत्र २०-३० ।  
ज्ञातव्यानि ।

११३. से बेमि—इमंपि जाइधम्मयं, एयंपि जाइधम्मयं । इमंपि बुद्धिधम्मयं, एयंपि बुद्धिधम्मयं । इमंपि चित्तमंतयं, एयंपि चित्तमंतयं । इमंपि छिन्नं मिलाति, एयंपि छिन्नं मिलाति । इमंपि आहारगं, एयंपि आहारगं । इमंपि अण्णिच्चयं, एयंपि अण्णिच्चयं । इमंपि असासयं, एयंपि असासयं । इमंपि चयावचइयं, एयंपि चयावचइयं । इमंपि विपरिणामधम्मयं, एयंपि विपरिणामधम्मयं ।

सं०—तद् ब्रवीमि—इदमपि जातिधर्मकं, एतदपि जातिधर्मकम् । इदमपि वृद्धिधर्मकं, एतदपि वृद्धिधर्मकम् । इदमपि चित्तवत्कं, एतदपि चित्तवत्कम् । इदमपि छिन्नं म्लायति, एतदपि छिन्नं म्लायति । इदमपि आहारकं, एतदपि आहारकम् । इदमपि अनित्यकं,

एतदपि अनित्यकम् । इदमपि अशाश्वतं, एतदपि अशाश्वतम् । इदमपि चयापचयिकं, एतदपि चयापचयिकम् । इदमपि विपरिणाम-धर्मकं, एतदपि विपरिणामधर्मकम् ।

मैं कहता हूँ—यह मनुष्य-शरीर भी जन्मता है, यह वनस्पति भी जन्मती है । यह मनुष्य-शरीर भी बढ़ता है, यह वनस्पति भी बढ़ती है । यह मनुष्य-शरीर भी चैतन्ययुक्त है, यह वनस्पति भी चैतन्ययुक्त है । यह मनुष्य-शरीर भी छिन्न होने पर म्लान होता है, यह वनस्पति भी छिन्न होने पर म्लान होती है । यह मनुष्य-शरीर भी आहार करता है, यह वनस्पति भी आहार करती है । यह मनुष्य-शरीर भी अनित्य है, यह वनस्पति भी अनित्य है । यह मनुष्य-शरीर भी अशाश्वत है, यह वनस्पति भी अशाश्वत है । यह मनुष्य-शरीर भी उपचित और अपचित होता है, यह वनस्पति भी उपचित और अपचित होती है । यह मनुष्य-शरीर भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता है, यह वनस्पति भी विविध अवस्थाओं को प्राप्त होती है ।

भाष्यम् ११३—स्थावरकायेषु वनस्पतिकायिकजीवा व्यक्तचैतन्यलक्षणा वर्तन्ते । पृथिव्यादिषु चैतन्यं वनस्पतिवद् व्यक्तं नास्ति । तेन न तेषां मनुष्यशरीरेण सह तुलना कृता । वनस्पतिजीवानां तुलना सर्वाङ्गीण-रूपेण जायते । जन्म-वृद्धि-भोजन-चयापचय-मरण-रोग-वालाद्यवस्था-चैतन्यप्रभृतानि लक्षणानि प्रत्यक्षीभूतानि अत्र विवृतानि ।

स्थावरकायिक जीवों में वनस्पतिकायिक जीवों की चेतना अत्यधिक स्पष्ट होती है । पृथ्वी आदि में वनस्पति की तरह चैतन्य स्पष्ट नहीं होता । इसलिए मानव शरीर के साथ उनकी तुलना नहीं की गई है । मनुष्य शरीर के साथ वनस्पति जीवों की तुलना सर्वाङ्गीण रूप से होती है । जन्म, वृद्धि, भोजन, चयापचय, मरण, रोग, बाल आदि अवस्था और चैतन्य आदि साक्षात् दृश्यमान लक्षणों का यहाँ विवरण दिया गया है—

१. यथा मनुष्यशरीरं जन्मधर्मकं विद्यते, तथा वनस्पतिशरीरमपि जन्मधर्मकम् ।
२. यथा मनुष्यशरीरं वर्धते, तथा वनस्पतिशरीर-मपि ।
३. यथा मनुष्यशरीरं चित्तवत्—ज्ञानेनानुगतं, तथा वनस्पतिशरीरमपि । धात्रीप्रपुन्नाटादीनां स्वाप-विबोधसद्भावो दृश्यते ।<sup>१</sup>

१. जैसे मनुष्य का शरीर जन्म-धर्मा है, वैसे ही वनस्पति का शरीर भी जन्म-धर्मा है ।
२. जैसे मनुष्य का शरीर बढ़ता है, वैसे ही वनस्पति का शरीर भी बढ़ता है ।
३. जैसे मनुष्य का शरीर चित्तवान्—ज्ञानयुक्त होता है वैसे ही वनस्पति का शरीर भी ज्ञानयुक्त होता है । आँवले के पेड़, चक्रवर्द (चक्रमर्द) के पौधे आदि में नींद और जागरण का अस्तित्व दृष्टिगोचर होता है ।

अस्मिन् विषये आधुनिकवैज्ञानिकानां मतं बोद्धुं 'सीक्रेट लाइफ ऑफ दी प्लान्टस्' इतिनामा ग्रन्थः द्रष्टव्यः ।

इस विषय में आधुनिक वैज्ञानिकों का मत जानने के लिए 'सीक्रेट लाइफ ऑफ दी प्लान्टस्' यह ग्रंथ देखना चाहिए ।

४. यथा मनुष्यशरीरस्य हस्ताद्यवयवाः छिन्नाः सन्तः म्लायन्ति—क्रमशः निर्जीवतां गच्छन्ति, तथा वनस्पतेरपि शाखापुष्पपत्राद्यवयवाः छिन्नाः सन्तः म्लायन्ति—मूलशरीरात् पृथग्भूतानामवयवानां आभामण्डलं क्रमशः क्षीणतां गच्छति, तस्मिन् क्षीणे मृत्युर्जायते ।
५. यथा मनुष्यशरीरं आहरति, तथा वनस्पति शरीर-मपि भूजलाद्याहरति । द्वयोरपि पाचनं प्रकाश-सापेक्षं वर्तते ।

४. जैसे मानव शरीर के हाथ आदि अवयव छिन्न होने पर म्लान होते हैं—क्रमशः निर्जीव हो जाते हैं, वैसे ही वनस्पति के भी शाखा, फूल, पत्ते आदि अवयव छिन्न होने पर म्लान होते हैं—मूल शरीर से पृथक् हुए अवयवों का आभामण्डल क्रमशः क्षीण होता चला जाता है । उसके क्षीण होने पर मृत्यु हो जाती है ।
५. जैसे मनुष्य का शरीर आहार लेता है वैसे ही वनस्पति का शरीर भी पृथ्वी, जल आदि का आहार ग्रहण करता है । दोनों में पाचनक्रिया प्रकाश-सापेक्ष है ।

१. वृत्तिकारेण अन्या अपि युक्तयः उपनताः—'तथाऽधोनिखात-द्रविणशोः स्वप्ररोहेणावेष्टनं प्रावृज्जलधरनिनादशिशिर-वायुसंस्पर्शाद् अंकुरोद्भेदः, तथा मदमदनसङ्गस्थलद्गति-विधूर्णमानलोललोचनविलासिनोसन्नूपुरसुकुमारचरणताड-नादशोकतरौः पल्लवकुसुमोद्गमः, तथा सुरभि-

सुरागण्डूपसेकाद् बकुलस्य स्पृष्टप्ररोहिकाबीनाञ्च हस्तादिसंस्पर्शात् संकोचादिका परिस्फुटा क्रियोपलब्धिः, न चैतदभिहिततत्सम्बन्धि क्रियाजालं ज्ञानमन्तरेण घटते, तस्मात् सिद्धं चित्तवत्त्वं वनस्पतेरिति ॥'

(आचारांग वृत्ति, पत्र ५९)

६. यथा मनुष्यशरीरं अनित्यं—हानिवृद्धियुक्तं वर्तते, तथा वनस्पतिशरीरमपि ।

७. यथा मनुष्यशरीरं अशाश्वतं—मरणधर्मकं विद्यते, तथा वनस्पतिशरीरमपि ।

८. यथा मनुष्यशरीरं चयापचयिकं विद्यते—प्रतिक्षणं कोटिशः कोशिका उत्पद्यन्ते विपद्यन्ते च, तथा वनस्पतिशरीरमपि चयापचयिकम् । तस्मिन्नपि कोशिकानामुत्पादो व्ययो वा दृश्यते ।

९. यथा मनुष्यशरीरं विपरिणामधर्मकं विद्यते तथा वनस्पतिशरीरमपि । विपरिणामः—

१. निषेकादिबालाद्यवस्थान्तरसंक्रमणम् ।

२. रोगोद्भवः ।

३. रसायनस्नेहाद्युपयोगाद् विशिष्टकान्तिबलोपचयादिरूपः ।

चूर्णिकारेण सूचितमिदं—एवं अन्येऽपि स्वप्नदोहद-रोगादिलक्षणाः पर्यायाः वाच्याः ।<sup>१</sup> वृत्तिकारेण वनस्पतेः स्वप्नविषये न किञ्चिदुल्लिखितम् । दोहदविषये इत्युल्लेखो लभ्यते—दोहदप्रदानेन तत्पूर्त्या वा पुष्पफलादीनामुपचयो जायते ।<sup>२</sup> इदानीं तनी धान्यादिवृद्धिः स्पष्टं परिदृश्यमानास्ति । वनस्पतेः स्वप्नदोहदविषयः इदानीमपि गहनगवेषणामपेक्षते ।

६. जैसे मनुष्य का शरीर अनित्य अर्थात् हानि-वृद्धि युक्त होता है, वैसे ही वनस्पति का शरीर भी अनित्य है, हानि-वृद्धि युक्त है ।

७. जैसे मनुष्य का शरीर अशाश्वत अर्थात् मरणधर्मा है, वैसे ही वनस्पति का शरीर भी अशाश्वत है, मरणधर्मा है ।

८. जैसे मनुष्य का शरीर चयापचय-धर्मा है अर्थात् उसमें प्रतिक्षण करोड़ों कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं, नष्ट होती हैं, वैसे ही वनस्पति का शरीर भी चयापचय-धर्मा है । उसमें भी कोशिकाओं की उत्पात्ति और विनाश देखा जाता है ।

९. जैसे मनुष्य का शरीर विपरिणामधर्मा है, वैसे ही वनस्पति का शरीर भी विपरिणामधर्मा होता है । विपरिणाम के तीन अर्थ हैं—

१. निषेक (गर्भ-निषेचन), बाल, युवा आदि अवस्थाओं में संक्रमण ।

२. रोग की उत्पत्ति ।

३. रसायन, स्नेह आदि के उपयोग से विशिष्ट कान्ति, बल का उपचय आदि ।

चूर्णिकार ने यह सूचित किया है—इस प्रकार स्वप्न, दोहद (गर्भकाल में होने वाली इच्छा) रोग आदि अन्य लक्षण भी वनस्पति में पाए जाते हैं । वृत्तिकार ने वनस्पति के स्वप्न के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं किया है । दोहद के विषय में यह उल्लेख मिलता है—वृक्षों में इच्छा उत्पन्न करने अथवा उनमें उत्पन्न इच्छा को सिचन देने अथवा उनके दोहद की पूर्ति करने से फूल, फल आदि का उपचय होता है । वर्तमान में इस विधि से धान्य आदि की वृद्धि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है । वनस्पति के स्वप्न तथा दोहद के विषय में अभी भी सधन गवेषणा अपेक्षित है ।

११४. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्छेते आरंभा अपरिणयाया भवन्ति ।

सं०—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरंभा अपरिज्ञाता भवन्ति ।

जो वनस्पतिकार्यिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरंभों—तत्संबंधी व तदाश्रित जीवाहिंसा की प्रवृत्तियों से बच नहीं पाता ।

११५. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्छेते आरंभा परिणयाया भवन्ति ।

सं०—अत्र शस्त्रं असमारंभमाणस्य इत्येते आरंभाः परिज्ञाता भवन्ति ।

जो वनस्पतिकार्यिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों से बच जाता है ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३५ ।

२. (क) आचारांग वृत्ति, पत्र ६० ।

(ख) आष्टे, 'दोहद' :

The desire of plants at budding-time, (as, for instance, of the Asoka to be

kicked by young ladies, of the Bakula to be sprinkled by mouthfuls of liquor etc.)

महीरुहा दोहदसेकशक्तेराकालिकं कोरफमुद्गिरन्ति (नेषघचरितम् ३।२१) ।

११६. त परिष्णाय मेधावी णेव सयं वणस्सइ-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहि वणस्सइ-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वणस्सइ-सत्थं समारंभंते समणुज्जाणेज्जा ।

सं०—तं परिष्णाय मेधावी नैव स्वयं वनस्पतिशस्त्रं समारंभेत, नैव अन्यैः वनस्पतिशस्त्रं समारंभयेत्, नैव अन्यान् वनस्पतिशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीत ।

यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं वनस्पतिशस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन न करे ।

११७. जस्सेते वणस्सइ-सत्थ-समारंभा परिष्णाय भवन्ति, से हु मुणी परिष्णाय-कम्ममे ।—त्ति वेमि ।

सं०—यस्यैते वनस्पतिशस्त्रसमारंभाः परिष्णायः भवन्ति, स खलु मुनिः परिष्णायकर्मि ।—इति ब्रवीमि ।

जिसके वनस्पति सम्बन्धी शस्त्र-समारंभ परिष्णाय होते हैं, वही मुनि परिष्णायकर्मि (कर्म-त्यागी) होता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ११४-११७—एतानि सूत्राणि पूर्ववद् (३१-३४) पूर्ववत् देखें—सूत्र ३१-३४ ।

ज्ञातव्यानि ।

## छट्टो उद्देशो : छठा उद्देशक

११८. से वेमि—सन्तिमे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोयया जरायया रसया संसेयया संमुच्छिमा उद्भिभया ओववाइया ।

सं०—अथ ब्रवीमि—सन्तिमे तसाः प्राणाः, तद् यथा—अण्डजाः, पोतजाः जरायुजाः, रसजाः, संसेदजाः, संमुच्छिमाः उद्भिदः औपपातिकाः ।

मैं कहता हूँ—ये प्राणी तस हैं, जैसे—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संसेदज, संमुच्छिम, उद्भिज्ज और औपपातिक ।

भाष्यम् ११८—प्रस्तुतसूत्रे त्रसजीवानां संग्रहः कृतोऽस्ति ।<sup>१</sup> ते त्रिविधा भवन्ति—१. सम्मूर्च्छनजाः, २. गर्भजाः, ३. औपपातिकाश्च । रसजाः, संसेदजाः, उद्भिद-दश्चैते सम्मूर्च्छनजाः । सम्मूर्च्छनं—गर्भाधानं विना यत्र तत्रैव आहारं गृहीत्वा शरीरसम्पादनं, तस्माज्जाताः सम्मूर्च्छनजाः । अण्डजाः, पोतजाः, जरायुजाश्चैते गर्भजाः ।

उपपातः—वैक्रियशरीरेण उपपत्तनं—जन्मग्रहणं, तत्र

प्रस्तुत सूत्र में त्रसजीवों का संग्रह किया गया है । वे तीन प्रकार के हैं—१. सम्मूर्च्छनज, २. गर्भज, ३. औपपातिक । रसज, संसेदज और उद्भिद—ये तीन सम्मूर्च्छनज हैं । सम्मूर्च्छन का अर्थ है—गर्भाधान के बिना ही यत्र-तत्र आहार ग्रहण कर शरीर का निर्माण करना । इस विधि से उत्पन्न होने वाले प्राणी 'सम्मूर्च्छनज' कहलाते हैं । अण्डज, पोतज और जरायुज—ये गर्भज हैं ।

उपपात—वैक्रिय शरीर से उपपत्तन अर्थात् जन्म ग्रहण करना ।

१. अण्डज—अण्डों से उत्पन्न होने वाले मयूर आदि ।

पोतज—पोत का अर्थ है शिशु । जो शिशुरूप में उत्पन्न होते हैं, जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नहीं होता, वे पोतज कहलाते हैं । हाथी, चर्म-जलौका आदि पोतज प्राणी हैं ।

जरायुज—जरायु का अर्थ गर्भ-वेष्टन या वह सिल्ली है, जो शिशु को आवृत किए रहती है । जन्म के समय में जो जरायु-वेष्टित दशा में उत्पन्न होते हैं, वे जरायुज कहलाते हैं । भैंस, गाय आदि ।

रसज—छाछ, दही आदि रसों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म-शरीरी जीव ।

संसेदज—पसीने से उत्पन्न होने वाले छटमल, यूका (जू) आदि जीव ।

औपपातिक—उपपात का अर्थ है—अज्ञानक घटित होने वाली घटना । देवता और नारकीय जीव एक मुहूर्त्त के भीतर ही पूर्ण पुत्र बन जाते हैं, इसीलिए इन्हें औपपातिक—अकस्मात् उत्पन्न होने वाले कहा जाता है । (आचारांग वृत्ति, पत्र ६२)



भवा औपपातिका देवा नारकाश्च ।

उपपात से जन्म लेने वाले देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं ।

११६. एस संसारेति पवुच्चति ।

सं०—एष संसार इति प्रोच्यते ।

यह त्रसलोक संसार कहलाता है ।

भाष्यम् ११९—त्रसकायजीवा एव संसरणशीला गतिमन्तश्च । अतः तत्सम्बन्धी लोकः संसार इत्युच्यते ।

त्रसकाय के जीव ही संसरणशील और गतिमान् होते हैं, इसलिए उनसे संबंधित लोक को संसार कहा जाता है ।

१२०. मंदस्स अविद्याणओ ।

सं०—मन्दस्य अविजानतः ।

यह संसार मंद और अज्ञानी को भी विदित होता है ।

भाष्यम् १२०—मन्दः—अल्पमतिर्युक्तः । मन्दमतिर्युक्तत्वात् स सूक्ष्मसत्यानभिज्ञः । तथापि तस्य मन्दमते-रजानिनश्चापि एष त्रसात्मकसंसारः सुविदितो भवति । नात्र स्थावरजीवकायवज्जीवत्वस्य तद्वेदनायाश्च कश्चित् सन्देहः समुत्पद्यते ।

मंद का अर्थ है—अल्पबुद्धि वाला । मंद मतिवाला व्यक्ति सूक्ष्म सत्य से अज्ञान होता है । फिर भी यह त्रसात्मक संसार मंदमति और अज्ञानी को भी सुविदित होता है । स्थावर जीवकाय की तरह इसके जीवत्व और वेदना के विषय में कोई संदेह उत्पन्न नहीं होता ।

१२१. णिज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिणिव्वाणं ।

सं०—निर्ध्याय प्रतिलेख्य प्रत्येकं परिनिर्वाणम् ।

प्रत्येक प्राणी को सुख इष्ट है, यह देखकर और जानकर तुम हिंसा से विरत होओ ।

भाष्यम् १२१—परिनिर्वाणं—सुखम् । 'सातंति वा सुहंति वा अभयंति वा परिणिव्वाणंति वा एगट्ठा' इति चूर्णिः ।

परिनिर्वाण का अर्थ है—सुख । चूर्णिकार के अनुसार सात, सुख, अभय और परिनिर्वाण—ये एकार्थक हैं ।

अत्र इष्टपदं अध्याहार्यम् । प्रत्येकस्य प्राणिनः परिनिर्वाणमिष्टमस्ति इतिनिर्ध्याय—संप्रेक्ष्य, प्रतिलेख्य—सम्यग् विमृश्य, हिंसातो विरमणं कार्यम् ।

यहां 'इष्ट' पद अध्याहार्य है । प्रत्येक प्राणी को परिनिर्वाण इष्ट होता है, यह देखकर और सम्यग् विचार कर हिंसा से विरत होना चाहिए ।

१२२. सव्वेसि पाणाणं सव्वेसि भूयाणं सव्वेसि जीवाणं सव्वेसि सत्ताणं अस्सायं अपरिणिव्वाणं महाभयं दुक्खं ति बेमि ।

सं०—सर्वेषां प्राणानां सर्वेषां भूतानां सर्वेषां जीवानां सर्वेषां सत्त्वानां असातं अपरिनिर्वाणं महाभयं दुःखं इति ब्रवीमि ।

सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए अपरिनिर्वाण (अशांति) अप्रिय, महाभयंकर और दुःखरूप है—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १२२—सर्वप्राणभूतजीवसत्त्वानामपरि-निर्वाणमनिष्टमस्तीति निर्ध्याय—संप्रेक्ष्य, हिंसातो विर-मणं कार्यम् ।

सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों को अपरिनिर्वाण—अशांति इष्ट नहीं होती, यह देखकर हिंसा से विरत होना चाहिए ।

असातं, अपरिनिर्वाणं, महाभयं, दुःखं इति एकार्थकाः साक्षात् सूत्र एव निर्दिष्टाः ।

असात, अपरिनिर्वाण, महाभय और दुःख—ये एकार्थक हैं । सूत्र में इनका स्पष्ट निर्देश है ।

१. त्रसलोक को संसार कहने के दो हेतु हो सकते हैं— परि-भ्रमणात्मक जगत्, गत्यात्मक जगत् । इस अष्टविध योनि-संग्रह में जीव परिभ्रमण करते हैं, इसलिए वह संसार है ।

इस योनि-संग्रह में उत्पन्न जीव ही गतिमान् होते हैं, अतः वह संसार है ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३६ ।

प्राणः—यस्माद् अनिति प्राणिति तेन प्राण इत्युच्यते ।

भूतः—यस्माद् भूतः भवति भविष्यति च तस्माद् भूत इत्युच्यते ।

जीवः—यस्मात् जीवत्वमायुष्कञ्च कर्मोपजीवति तस्मात् जीव इत्युच्यते ।

सत्त्वः—सत्त्वं—सत्ता । यस्मात् शुभाशुभैः कर्मभिः सत्त्वमस्ति यस्य, तस्मात् सत्त्व इत्युच्यते ।<sup>१</sup>

प्राण—आन-प्राण लेता है, इसलिए प्राण कहलाता है ।

भूत—था, है और होगा, इसलिए भूत कहलाता है ।

जीव—जो जीवत्व और आयुष्यकर्म का उपजीवी है, वह जीव कहलाता है ।

सत्त्व—सत्त्व का अर्थ है—सत्ता । आत्मा की शुभ-अशुभ कर्म से दैहिक अथवा वैभाविक सत्ता निमित्त होती है, इसलिए वह सत्त्व कहलाता है ।

### १२३. तसंति पाणा पदिशोदिसासु य ।

सं०—त्रस्यन्ति प्राणाः प्रदिशादिशासु च ।

दुःख से अभिभूत प्राणी दिशाओं और विदिशाओं में सब ओर से भयभीत रहते हैं ।

भाष्यम् १२३—अस्ति येषु जीवेषु आगतिगतिविज्ञानं ते त्रसाः । तथा ये त्रस्यन्ति, उद्विजन्ति, संकुचन्ति, विभ्यन्ति च, एतासु त्रसाद्यवस्थासु इतस्ततः पलायनं कुर्वन्ति, एतदपि त्रसजीवानां लक्षणम् ।<sup>१</sup>

प्रस्तुतसूत्रस्य ऐदंपर्यमिदं—त्रसाः प्राणा दिशासु अनुदिशासु च गतिं कुर्वन्ति तथा सर्वाभ्यो दिशाभ्योऽनुदिशाभ्यश्च भयभीता भवन्ति । चूर्णविस्मिन् प्रसंगे कोशीकारकीटनिदर्शनमुपलब्धौ कितमस्ति । यथा कोशीकारः सर्वतो भीत एव कोशनिर्माणं करोति ।

जिन जीवों में आगति-गति—आने-जाने का ज्ञान है, वे त्रस हैं । और जो संतप्त होते हैं, उद्विग्न होते हैं, संकुचित होते हैं, डरते हैं तथा त्रास आदि अवस्थाओं में जो इधर-उधर पलायन करते हैं, यह भी त्रसजीवों का एक लक्षण है ।

प्रस्तुत सूत्र का तात्पर्य यह है कि त्रस प्राणी दिशाओं और विदिशाओं में गति करते हैं तथा सब दिशाओं और विदिशाओं में भयभीत होते हैं । चूर्णकार ने इस प्रसंग में रेशम के कीड़े का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है । जैसे—रेशम का कीड़ा चारों ओर से भयभीत होकर ही कोश का निर्माण करता है ।

### १२४. तत्थ-तत्थ पुढो पास, आउरा परितार्वेति ।

सं०—तत्र तत्र पृथक् पश्य, आतुराः परितारयन्ति ।

तू देख, आतुर मनुष्य स्थान-स्थान पर त्रसकायिक प्राणियों को परितार दे रहे हैं ।

### १२५. संति पाणा पुढो सिया ।

सं०—सन्ति प्राणाः पृथक् श्रिताः ।

त्रसकायिक प्राणी पृथक् पृथक् शरीरों में आश्रित हैं ।

### १२६. लज्जमाणा पुढो पास ।

सं०—लज्जमानान् पृथक् पश्य ।

तू देख, प्रत्येक संयमी साधक हिंसा से विरत हो संयम का जीवन जी रहा है ।

१. अंगमुत्ताणि २, भगवई २।१५ : गोयमा ! जम्हा आणमइ वा, पाणमइ वा, उस्तसइ वा, नीससइ वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया ।

जम्हा भूते भवति भविस्सति य तम्हा भूए त्ति वत्तव्वं सिया ।

जम्हा जीवे जीवति, जीवत्तं आउयं च कम्म उवजीवति

तम्हा जीवे त्ति वत्तव्वं सिया

जम्हा सत्ते सुभासुभेहि कम्मैहि तम्हा सत्ते त्ति वत्तव्वं सिया ।

२. दसवेआलियं, ४।सूत्र ९ : जेसि केसिचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं, संकुच्चियं पसारियं रुयं भंतं तसियं पलाइयं आगइगइविन्नाया ।

१२७. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।

सं०—अणगाराः स्मः इति एके प्रवदन्तः ।

और तू देख, कुछ साधु 'हम गृहत्यागी हैं'—यह निरूपित करते हुए भी गृहवासी जंसा, आचरण करते हैं—त्रसकायिक जीवों की हिंसा करते हैं ।

भाष्यम् १२४-१२७—एतानि सूत्राणि पूर्ववद् (१५-१८) पूर्ववत् देखें—सूत्र १५-१८ ।  
द्रष्टव्यानि ।

१२८. जमिणं त्रिरूपरूपोर्हि सत्थोर्हि तसकाय-समारंभेण तसकाय-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरूवे पाणे विहिसति ।

सं०—यदिदं त्रिरूपरूपैः शस्त्रैः त्रसकायसमारंभेण त्रसकायशस्त्रं समारंभमाणः अन्यान्प्यनेकरूपान् प्राणान् विहिसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रस-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है । वह केवल उन त्रसकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

भाष्यम् १२८—त्रसकायस्य शस्त्राणि विदितान्येव । त्रसकाय के शस्त्र ज्ञात ही हैं ।

१२९. तत्थ खलु भगवया परिणया पवेइया ।

सं०—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता ।

इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है ।

१३०. इमस्स चैव जीवियस्स, परिवन्दण-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउं ।

सं०—अस्मै चैव जीविताय, परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुम् ।

वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए, दुःख-प्रतिकार के लिए—

१३१. से सयमेव तसकाय-सत्थं समारंभति, अण्णोर्हि वा तसकाय-सत्थं समारंभावेइ, अण्णे वा तसकाय-सत्थं समारंभमाणे समणुजाणइ ।

सं०—स स्वयमेव त्रसकायशस्त्रं समारंभते, अन्यैः वा त्रसकायशस्त्रं समारंभयति, अन्यान् वा त्रसकायशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीते ।

वह स्वयं त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है तथा करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है ।

१३२. तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।

सं०—तत् तस्य अहिताय, तत् तस्य अबोध्यै ।

वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है । वह हिंसा उसकी अबोधि के लिए होती है ।

१३३. से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए ।

सं०—स तत् संबुध्यमानः, आदानीयं समुत्थाय ।

वह उस हिंसा के परिणाम को समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है ।

१३४. सोच्छा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसि णायं भवइ—एस खलु गथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णरए ।

सं०—श्रुत्वा भगवतः अणगाराणां वा अन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति—एषा खलु ग्रंथः, एषा खलु मोहः, एषा खलु मारः, एषा खलु नरकः ।

भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (त्रसकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थ है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है ।

१३५. इच्छत्यं गडिए लोए ।

सं०—इत्यत्र ग्रथितो लोकः ।

फिर भी सुख-सुविधा में मूर्च्छित मनुष्य त्रसकायिक जीवनिकाय की हिंसा करता है ।

१३६. जमिणं विरुवरुर्वोहं सत्योहं तसकाय-समारंभेणं तसकाय-सत्यं समारंभमाणे अण्णे वणेगरुवे पाणे विहिसति ।

सं०—यदिदं विरुवरुर्वः शस्त्रैः त्रसकायसमारंभेण त्रसकायशस्त्रं समारंभमाणः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से त्रस-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर त्रसकायिक जीवों की हिंसा करता है । वह केवल उन त्रसकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

१३७. से बेमि—अप्येगे अंधमब्भे, अप्येगे अंधमच्छे ।

सं०—तद् ब्रवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्द्याद्, अप्येकः अन्धमाच्छिन्द्यात् ।

में कहता हूँ—कुछ त्रसकायिक जीव जन्मना इन्द्रियविकल—अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अश्वत्त चेतना वाले होते हैं । शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही कुछ त्रसकायिक जीवों को होती है ।

१३८. अप्येगे पायमब्भे, अप्येगे पायमच्छे ।

सं०—अप्येकः पादमाभिन्द्याद्, अप्येकः पादमाच्छिन्द्यात् ।

इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के पैर आदि (द्रष्टव्यं १।२९) का शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर उसे अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही कुछ त्रसकायिक जीवों को होती है ।

१३९. अप्येगे संपमारए, अप्येगे उद्दवेत् ।

सं०—अप्येकः संपमारयेद्, अप्येकः उद्दवेत् ।

मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-विद्योजन करने पर उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही कुछ त्रसकायिक जीवों को होती है ।

भाष्यम् १२९-१३९—एतानि सूत्राणि पूर्ववद् (२०-३०)

पूर्ववत् देखें—सूत्र २०-३० ।

द्रष्टव्यानि ।

१४०. से बेमि—अप्येगे अच्चाए वहंति, अप्येगे अजिणाए वहंति, अप्येगे मंसाए वहंति, अप्येगे सोणिघाए वहंति, अप्येगे हिययाए वहंति, अप्येगे पित्ताए वहंति, अप्येगे वसाए वहंति, अप्येगे पिच्छाए वहंति, अप्येगे पुच्छाए वहंति, अप्येगे बालाए वहंति, अप्येगे सिगाए वहंति, अप्येगे विसाणाए वहंति, अप्येगे दंताए वहंति, अप्येगे दाढाए वहंति, अप्येगे नहाए वहंति, अप्येगे ग्हारुणोए वहंति, अप्येगे अट्टोए वहंति, अप्येगे अट्टिमिजाए वहंति, अप्येगे अट्टाए वहंति, अप्येगे अणट्टाए वहंति, अप्येगे हिंसिस्सु मेत्ति वा वहंति, अप्येगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति, अप्येगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति ।

सं०—तद् ब्रवीमि—अप्येके अर्चायै घ्नन्ति, अप्येके अजिनाय घ्नन्ति, अप्येके मांसाय घ्नन्ति, अप्येके शोणिताय घ्नन्ति, अप्येके हृदयाय घ्नन्ति, अप्येके पित्ताय घ्नन्ति, अप्येके वसायै घ्नन्ति, अप्येके पिच्छाय घ्नन्ति, अप्येके पुच्छाय घ्नन्ति, अप्येके बालाय घ्नन्ति, अप्येके शृङ्गाय घ्नन्ति, अप्येके विषाणाय घ्नन्ति, अप्येके दंताय घ्नन्ति, अप्येके दाढायै घ्नन्ति, अप्येके नखाय घ्नन्ति, अप्येके स्नायवे घ्नन्ति, अप्येके अस्थे घ्नन्ति, अप्येके अस्थिमज्जायै घ्नन्ति, अप्येके अर्थाय घ्नन्ति, अप्येके अनर्थाय घ्नन्ति, अप्येके अहिंसिषुः मे इति वा घ्नन्ति, अप्येके हिंसन्ति मे इति वा घ्नन्ति, अप्येके हिंसिष्यन्ति मे इति वा घ्नन्ति ।

में कहता हूँ—कुछ व्यक्ति शरीर के लिए प्राणियों का वध करते हैं । कुछ लोग चर्म, मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पंख, पूंछ, केश, सोंग, विषाण (हस्तिदंत), दांत, दाढ़, नख, स्नायु, अस्थि और अस्थिमज्जा के लिए प्राणियों का वध करते हैं । कुछ व्यक्ति

प्रयोजनवश प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति बिना प्रयोजन ही प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति इन्होंने मेरे स्वजन-वर्ग की हिंसा की थी—यह स्मृति कर प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति ये मेरे स्वजन-वर्ग की हिंसा कर रहे हैं—यह सोचकर प्राणियों का वध करते हैं। कुछ व्यक्ति ये मेरी या मेरे स्वजन-वर्ग की हिंसा करेंगे—इस सम्भावना से प्राणियों का वध करते हैं।

**भाष्यम् १४०—**प्रस्तुतसूत्रे त्रसकायिकजीववधानानां प्रयोजनानि निर्दिष्टानि। एतानि समाजे प्रचलित-परम्पराणां सूचकानि सन्ति।

**अर्वा**—शरीरम्। चूर्णी वृत्तौ च कासांचित् परम्पराणां उल्लेखोऽपि लभ्यते—भुक्तविषः हस्तिनं मारयित्वा तच्छरीरे प्रक्षिप्तो विषमुक्तो भवति। सलक्षणं पुरुषम-क्षतं व्यापाद्य विद्यामंत्रसाधनानि कुर्वन्ति। केचन वलि-निमित्तमजादीन् व्यापादयन्ति।

**अजिनम्**—चर्म। सिंहव्याघ्रमृगादीन् एतदर्थं व्यापाद-यन्ति।

केचन मांस-शोणित-हृदय-पित्त-वसा-पिच्छ-पुच्छ-बाल-शृङ्ग-विषाण-दन्त-दंष्ट्रा - नख - स्नायु - अस्थि - अस्थिमज्जा-इत्याद्यवयवानामर्थमनेकजीवान् व्यापाद-यन्ति।

अत्र विषाणपदेन हस्तिदन्तानां निर्देशः।

केवलं प्रयोजनवशंवदा एव जना हिंसायां न प्रवर्तन्ते, किन्तु निष्प्रयोजना अपि तत्र प्रवृत्ता दृश्यन्ते। अत एव एष सूत्रांशः—‘केचिदर्थाय जीवान् धनन्ति, केचिच्च प्रयोजनं विनापि।’

प्रतिशोधप्रतिकाराशंकापरतन्त्रा हिंसायां प्रवर्तन्ते। एतत्सूचयति तृतीयांशः, यथा—

१. ‘अनेन मम कश्चिद् सम्बन्धी विघातितः, अतोऽमुं हनिष्यामि।’

२. ‘असौ हिनस्ति, अतोऽसौ मया हन्तव्यः।’

३. ‘असौ जीवितः सन् मां हनिष्यतीत्यसौ मया हन्तव्यः।’

१४१. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिणयाया भवन्ति।

सं०—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरम्भा अपरिज्ञाताः भवन्ति।

जो त्रसकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरम्भों—तत्सम्बन्धी व तदाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्तियों से बच नहीं पाता।

१४२. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिणयाया भवन्ति।

सं०—अत्र शस्त्रं असमारंभमाणस्य इत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति।

जो त्रसकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों से बच जाता है।

प्रस्तुत सूत्र में त्रसकायिकजीवों के वध के प्रयोजनों का निर्देश किया गया है। ये प्रयोजन समाज में प्रचलित तत्कालीन परम्पराओं के सूचक हैं।

**अर्वा** का अर्थ है—शरीर। चूर्ण और वृत्ति में कुछेक परं-पराओं का उल्लेख भी मिलता है। हाथी को मार कर यदि उसके मृत-कलेवर में विष खाए हुए व्यक्ति को रखा जाए तो वह व्यक्ति विषमुक्त हो जाता है। कुछ व्यक्ति लक्षण-संपन्न पुरुष को, क्षत-विक्षत किए बिना, मारकर विद्या, मन्त्र आदि की साधना करते हैं। कुछ लोग बलि के निमित्त बकरे आदि को मारते हैं।

**अजिन** का अर्थ है—चर्म। कुछ लोग चर्म के लिए सिंह, बाघ, हिरण आदि को मारते हैं।

कुछ लोग मांस, रक्त, हृदय, पित्त, चर्बी, पांख, पूँछ, केश, सींग, विषाण, दाँत, दाढ़, नख, स्नायु, बस्थि और अस्थिमज्जा आदि अवयवों के लिए अनेक जीवों का वध करते हैं।

यहां ‘विषाण’ शब्द हाथी के दाँतों के अर्थ में निर्दिष्ट है।

लोग प्रयोजनवश ही हिंसा में प्रवृत्त नहीं होते, किन्तु बिना प्रयोजन भी हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। इसीलिए प्रस्तुत सूत्र का यह अंश है—‘कुछ प्रयोजन के लिए जीवों का हनन करते हैं और कुछ बिना प्रयोजन भी।’

प्रतिशोध, प्रतिकार और आशंका के वशीभूत होकर लोग हिंसा में प्रवृत्त होते हैं। यह सूत्र के तीसरे अंश से सूचित होता है, जैसे—

१. ‘इसने मेरे किसी सम्बन्धी को मारा है, इसलिए मैं इसको मारूंगा।’—यह प्रतिशोध से की जाने वाली हिंसा है।

२. ‘यह मेरे स्वजन-वर्ग को मार रहा है, इसलिए मुझे इसको मार डालना चाहिए।’—यह प्रतिकार के लिए की जाने वाली हिंसा है।

३. ‘यह जीवित रहा तो मुझे मारेगा, इसलिए मुझे इसको मार देना चाहिए।’—यह इस आशंका से की जाने वाली हिंसा है।

१४३. तं परिणाय मेधावी णेव सयं तसकाय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहि तसकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे तसकाय-सत्थं समारंभंते समणुजाणेज्जा ।

सं०—तं परिणाय मेधावी नैव स्वयं तसकायशस्त्रं समारंभेत, नैवान्यैः तसकायशस्त्रं समारंभयेत्, नैवान्यान् तसकायशस्त्रं समारंभमाणान समनुजानीत ।

यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं तसकायशस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए, उसका समारंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन न करे ।

१४४. जस्सेते तसकाय-सत्थ-समारंभा परिणयाया भवन्ति, से हु मुणी परिणाय-कम्मे । —त्ति बेमि ।

सं०—यस्यैते तसकायशस्त्रसमारंभाः परिज्ञाताः भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा । —इति ब्रवीमि ।

जिसके तस सम्बन्धी शस्त्र-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही मुनि परिज्ञातकर्मा (कर्म-त्यागी) होता है । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १४१-१४४—एतानि सूत्राणि पूर्ववद् (३१-३४) पूर्ववत् देखें—सूत्र ३१-३४ ।

ज्ञातव्यानि ।

### सत्तमो उद्देशो : सातवां उद्देशक

१४५. प्ह एजस्स दुगंछणाए ।

सं०—प्रभुः एजस्य जुगुप्सायै ।

अहिसक पुरुष वायुकायिक जीवों की हिंसा से निवृत्त होने में समर्थ हो जाता है ।

भाष्यम् १४५—वायुः प्राणिनां प्रवृत्तौ सर्वत्र व्याप्तोऽस्ति । अतः सहजमेवेयं जिज्ञासा जाता—‘किं वायुकायजीवानां बधनिवारणं शक्यम् ? एतां जिज्ञासां समाधातुं सूत्रकारः प्रवक्ति—एतच्छक्यमस्ति । पुरुषो वायोर्वधनिवारणं कर्तुं प्रभुरस्ति ।’

एजः—एजते इति एजः—वायुः ।

दुगंछणा—जुगुप्सा । जुगुप्सा, संयमः, अकरणं, वर्जना, विवर्तनं, निवृत्तिरित्येकार्थाः ।

जहां कहीं प्राणियों की प्रवृत्ति होती है वहां वायु व्याप्त है । इसलिए सहज ही जिज्ञासा हुई कि क्या वायुकाय के जीवों की हिंसा का निवारण शक्य है ? इस जिज्ञासा के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—यह शक्य है । पुरुष वायु की हिंसा का निवारण करने में समर्थ है ।

एज—एजते का अर्थ है—कम्पित होना । वायु निरंतर प्रकंपित रहती है इसलिए एज का अर्थ है—वायु ।

दुगंछणा—इसका अर्थ है—जुगुप्सा । जुगुप्सा, संयम, अकरण, वर्जना, विवर्तन और निवृत्ति—ये एकार्थक हैं ।

१४६. आयंकदंसी अहियं ति नच्चा ।

सं०—आतङ्कदर्शी अहितमिति ज्ञात्वा ।

जो पुरुष हिंसा में आतंक देखता है, अहित देखता है, वही उससे निवृत्त होता है ।

भाष्यम् १४६—आलम्बनसूत्रमिदम् । आतङ्कदर्शन-महितज्ञानञ्च हिंसाविरमणस्यालम्बने भवतः ।

आतङ्कः—शारीरं मानसं वा दुःखम् । यो हिंसाकरणे आतंकं पश्यति स आतङ्कदर्शी सहजमेव हिंसातो विरमति ।

यह आलम्बन सूत्र है । आतंकदर्शन और अहित का ज्ञान—ये दोनों हिंसा-विरति के आलम्बन हैं ।

आतंक का अर्थ है—शारीरिक या मानसिक दुःख । जो हिंसा करने में आतंक देखता है वह आतंकदर्शी सहज ही हिंसा से विरत हो जाता है ।

१. आचारंगं ब्रूणि, पृष्ठ ३८ : ‘दुगंछणा नाम संयमणा अकरणा बज्जणा विज्जणा णियत्तित्ति वा एण्डा ।’

हिंसाकर्मणि प्रतीयमानं हितमन्ततोऽहितं भवति, दुश्चीर्णानि कर्माणि दुश्चीर्णानि फलानि भवन्ति, इति अहितबोधे सति सहजं भवति हिंसाविरमणम् ।

हिंसा की प्रवृत्ति में प्रतीत होने वाला हित अंत में अहित ही होता है। बुरे आचरण से उपाजित कर्मों का बुरा फल होता है। इस अहित का बोध होने पर हिंसा से सहज ही विरति हो जाती है।

१४७. जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ । जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ।

सं०—यः अध्यात्मं जानाति, स बहिर्जानाति । यः बहिर्जानाति, स अध्यात्मं जानाति ।

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है। जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।

भाष्यम् १४७—इदमप्यालम्बनसूत्रम् । अध्यात्म-पदस्य सन्दर्भगता अनेके अर्थाः जायन्ते—

१. आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तं अध्यात्मम् ।
२. मनसः परवर्ति चैतन्यं अध्यात्मम् ।
३. कायवाङ्मनसां भेदेऽपि यत् चेतनायाः सादृश्यं तद् अध्यात्मम् ।
४. संवेदनं अध्यात्मम् ।
५. वीतरागचेतना अध्यात्मम् ।

अत्र अध्यात्मपदस्यार्थः प्रियाप्रिययोः संवेदनं विद्यते । यः अध्यात्मं जानाति स बाह्यं जानाति—स्वात्मातिरिक्तान् शेषसर्वप्राणिनां जानाति । तात्पर्यमिदं—यथा स्वात्मनः प्रियाप्रियपरिस्थितौ सुखदुःखानुभूतिः जायते तथा बाह्यजीवजगतोऽपि ।

गतप्रत्यागतशैल्या संदूधमिदं सूत्रम्—यो बाह्यं जानाति सोऽध्यात्मं जानाति ।

१. प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या अनेक नयों से की जा सकती है, जैसे—

(१) वस्तु का आन्तरिक स्वरूप सूक्ष्म और बाह्य स्वरूप स्थूल होता है। स्थूल को जानना सरल और सूक्ष्म को जानना कठिन होता है। सूक्ष्म को जानने वाला स्थूल को स्पष्टतया जान लेता है। स्थूल को जानने वाला सूक्ष्म को उसके माध्यम से ही जान पाता है। आत्मा आन्तरिक तत्त्व है। उसका चेतन-स्वरूप स्पष्टतया ज्ञात नहीं होता। किन्तु शरीर में उसकी जो क्रिया प्रकट होती है, वह स्थूल है, बाह्य है। उसके माध्यम से जाना जा सकता है कि अचेतन शरीर चेतना की क्रिया नहीं कर सकता। यह जो चेतना की क्रिया प्रकट हो रही है, वह इसके भीतर अवस्थित चेतन तत्त्व की क्रिया है।

(२) व्यक्ति को सुख-दुःख का संवेदन प्रत्यक्ष होता है, इसलिए सुख-दुःख स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है। दूसरे के सुख-दुःख का संवेदन स्वसंवेदन के आधार पर जाना जा सकता है। इसलिए दूसरों के सुख-दुःख का

यह भी आलम्बन सूत्र है। विभिन्न संदर्भों में 'अध्यात्म' पद के अनेक अर्थ होते हैं—

१. अन्तरात्मा में होने वाली प्रवृत्ति अध्यात्म है।
२. मन से परे का चैतन्य अध्यात्म है।
३. शरीर, वाणी और मन की भिन्नता होने पर भी चेतना की जो सदृशता है, वह है अध्यात्म।
४. संवेदन अध्यात्म है।
५. वीतरागचेतना अध्यात्म है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'अध्यात्म' पद का अर्थ है—प्रिय और अप्रिय का संवेदन। जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है—अपनी आत्मा के अतिरिक्त, अपने आपके अतिरिक्त, शेष सब प्राणियों को जानता है। तात्पर्य यह है—जैसे स्वयं को प्रिय और अप्रिय परिस्थिति में सुख-दुःख की अनुभूति होती है वैसे ही बाह्य जीव जगत् को भी सुख-दुःख की अनुभूति होती है।

यह सूत्र गत-प्रत्यागत शैली में रचा गया है—जो बाह्य को जानता है वह अध्यात्म को जानता है।

संवेदन परोक्ष है। निमित्तों के मिलने पर जो अपने में घटित होता है, वही दूसरों में घटित होता है और जो दूसरों में घटित होता है, वही अपने में घटित होता है।

(३) ज्ञान सूर्य की भांति स्व-पर-प्रकाशी है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशित है और दूसरों को प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान स्वयं प्रकाशित है तथा दूसरे तत्त्वों को भी प्रकाशित करता है। ज्ञान का कार्य है ज्ञेय को जानना। ज्ञान स्वप्रकाशी है, इसलिए वह अध्यात्म को जानता है—अपने आपको जानता है। वह परप्रकाशी भी है, इसलिए बाह्य को जानता है—अपनी आत्मा से भिन्न समग्र ज्ञेय को जानता है। बाह्य जगत् और अन्तर्जगत् को जानने वाला ज्ञान एक ही है। इसीलिए सूत्रकार ने कहा है—जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है और जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है।

## १४८. एयं तुलमण्णोसि ।

सं०—एतां तुलां अन्विष्य ।<sup>१</sup>

इस तुला का अन्वेषण कर ।

भाष्यम् १४८—एतां पूर्वसूत्रप्रतिपादितां तुलामन्वेष्य । यथा मम दुःखं प्रियं नास्ति तथाऽन्येषामपि सर्वेषां जीवानां दुःखं प्रियं नास्ति, इत्यात्मतुलाबोधोऽपि हिंसाविरतेरालम्बनं भवति ।<sup>२</sup>

पूर्वसूत्र में प्रतिपादित इस तुला का अन्वेषण कर—जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे अन्य सभी जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है । यह आत्मतुला का अवबोध भी हिंसा-विरति का आलम्बन बनता है ।

१४९. इह शान्तिगया द्रविद्या, णावकंक्षन्ति वीजितुं ।<sup>१</sup>

सं०—इह शान्तिगताः द्रव्याः नावकांक्षन्ति वीजितुम् ।

इस निर्भ्रंश-शासन में वीक्षित मुनि शांत और संयम के योग्य होते हैं, इसलिए वे वीजन—हवा लेने की इच्छा नहीं करते ।

भाष्यम् १४९—वीजनस्य निदर्शनपूर्वकं वायुकायिक-जीवानां हिंसायाः प्रसंगं तन्निवारणञ्च प्रतिपादयति सूत्र-कारः । इह—जिनशासने प्रव्रजिता मुनयः वीजितुं नेच्छन्ति । तस्य हेतुद्वयम्—ते भवन्ति शान्तिं प्राप्ता द्रव्याश्च । शान्तिः—कषायोपशमः । शान्तिं प्राप्ताः—शान्ति-गताः ।

सूत्रकार वीजन के निदर्शन से वायुकायिक जीवों की हिंसा के प्रसंग और उसके निवारण को प्रतिपादित करते हैं । जिन शासन में प्रव्रजित मुनि वीजन (पंखे से हवा लेने) की इच्छा नहीं करते । उसके दो हेतु हैं—वे शान्ति को प्राप्त और द्रव्य—संयम के योग्य होते हैं ।

शान्ति का अर्थ है—कषाय का उपशमन । शान्ति को प्राप्त मुनि शान्तिगत कहलाते हैं ।

द्रव्याः—योग्याः संयमस्य । रागद्वेषमुक्ता देहासक्ते-मुक्ता वा । अथवा द्रविताः करुणाद्रान्तिःकरणाः । एतादृशा निदाघेऽपि शान्तिमनुभवन्ति, अतस्ते नोत्सहन्ते वायुकायिकजीवानां प्राणव्यपरोपणं कृत्वा शान्तिम-वाप्तुम् ।

द्रव्य का अर्थ है—संयम के योग्य । रागद्वेष से मुक्त अथवा देहासक्ति से मुक्त । अथवा जिनका अन्तःकरण करुणा से भीगा हुआ है, वे द्रवित या द्रव्य कहलाते हैं । इस प्रकार के मुनि गर्मी में भी शान्ति का अनुभव करते हैं । इसलिए वे (वीजन आदि से) वायुकायिक जीवों की हिंसा कर शान्ति प्राप्त करने के लिए उत्साहित नहीं होते ।

## १५०. लज्जमाणा पुढो पास ।

सं०—लज्जमानान पृथक् पश्य ।

तू देख, प्रत्येक संयमी साधक हिंसा से विरत हो संयम का जीवन जो रहा है ।

## १५१. अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।

सं०—अनगाराः स्म इति एके प्रवदन्तः ।

और तू देख, कुछ साधक 'हम गृहस्थागी हैं'—यह निरूपित करते हुए भी गृहवासी जैसा आचरण करते हैं—वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं ।

भाष्यम् १५०-१५१—पूर्ववत् १७-१८ सूत्रे द्रष्टव्ये ।

पूर्ववत् देखें—सूत्र १७-१८ ।

## १५२. जमिणं विरुवरुवेह सत्थोह वाउकम्म-समारंभेण वाउ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरुवे पाणे विहिसति ।

१. अन्वेषय इत्यर्थः ।

२. अहिंसा के तीन आलम्बन हैं—

( १ ) आतंक-दर्शन—हिंसा से होने वाले आतंक का दर्शन (सूत्र १४६)

( २ ) अहित-बोध—हिंसा से होने वाले अहित का बोध (सूत्र १४७)

( ३ ) आत्म-तुला—सब जीवों में सुख-दुःख के अनुभव

की समानता । (सूत्र १४८)

जैसे अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है । जैसे दूसरों को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही अपने को सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है ।

३. तुलना—वसवेआलियं, ६।३७ ।



सं०—यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारम्भेण वायुशस्त्रं समारम्भणः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिंसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वायु सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है। वह केवल उन वायुकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है।

भाष्यम् १५२—निर्युक्ताविमानि<sup>१</sup> वायुकायशस्त्राणि प्रतिपादितानि—

निर्युक्ति में वायुकाय के ये शस्त्र प्रतिपादित हैं—

१. वायुमुत्पादयितारो व्यजन-तालवृन्त-सूर्प-चामर-पत्र-चेलकर्णद्वयः ।

१. वायु को उत्पन्न करने वाले व्यजन—पंखा, तालवृन्त—ताड़ का पंखा, छाज, चामर, पत्र तथा वस्त्र का छोर आदि ।

२. अभिधारणा—प्रस्विन्नो यद् बहिरवतिष्ठते वातागमनमार्गं साऽभिधारणा ।

२. अभिधारणा—पसीने से लथपथ व्यक्ति का हवा के आगमन के मार्ग पर बैठना या खड़े रहना ।

३. चन्दनोशीरादीनां गन्ध्राः ।

३. चन्दन, खस आदि गंधद्रव्यों की सुगंध ।

४. अग्निः—तस्य ज्वाला प्रतापश्च ।

४. अग्नि—उसकी ज्वाला तथा गर्मी ।

५. स्वकायशस्त्रम्—प्रतिपक्षवातः शीत उष्णो वा ।

५. स्वकायशस्त्र—ठंडा या गर्म प्रतिपक्ष-वायु ।

पञ्चापि स्थावरकायाः परिणता अपरिणता अपि भवन्तीति स्थानाग्रे निर्दिष्टमस्ति ।<sup>२</sup> तत्र पञ्चविधः अचित्तवायुरपि प्रतिपादितोस्ति<sup>३</sup>—

स्थानांग के अनुसार पांचों स्थावर जीविकाय परिणत और अपरिणत—दोनों प्रकार के होते हैं। उसी आगम में अचित्त वायु के पांच प्रकार प्रतिपादित हैं—

१. आक्रान्तः—पादादिना समुत्थितो वायुः आक्रान्तः ।

१. आक्रान्त—पैरों को पीट-पीट कर चलने से उत्पन्न वायु ।

२. ध्मातः—दृत्यादिना संप्रेरितो वायुः ध्मातः ।

२. ध्मात—धौकनी आदि से उत्पन्न वायु ।

३. पीडितः—जलार्द्रवस्त्रादीनां निष्पीडनेन समुत्थितो वायुः पीडितः ।

३. पीडित—गीले कपड़ों के निचोड़ने आदि से उत्पन्न वायु ।

४. शरीरानुगतः—उद्गारोच्छ्वासादिः शरीरानुगतः ।

४. शरीरानुगत—डकार, उच्छ्वास आदि ।

५. संसृच्छिमः—व्यजनादिजन्यः ।

५. संसृच्छिम—पंखा झलने आदि से उत्पन्न वायु ।

निशीथभाष्ये चूर्णौ च वायुकायस्य अन्योन्यशस्त्रत्वं प्रतिपादितमस्ति ।<sup>४</sup> बृहत्कल्पभाष्ये क्षेत्रकालापेक्षया वायोः सचित्तचित्तत्वं विवृतमस्ति ।<sup>५</sup> इत्थं शस्त्रस्य सचित्तचित्तयोश्च विषये बहु व्याख्यातमस्ति । नच्च साध्यवसायमवसातव्यम् ।

निशीथ भाष्य तथा चूर्णि में एक वायु दूसरी वायु का शस्त्र है—ऐसा प्रतिपादन है। बृहत्कल्पभाष्य में क्षेत्र और काल की अपेक्षा से सचित्त-अचित्त वायु का विवेचन प्राप्त होता है। इस प्रकार शस्त्र के विषय में तथा सचित्त, अचित्त के विषय में बहुत विवेचन हुआ है। उसकी जानकारी धैर्य और प्रयत्न-साध्य है।

१५३. तत्थ खलु भगवथा परिण्णा पवेइया ।

सं०—तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता ।

इस विषय में भगवान् ने परिज्ञा (विवेक) का निरूपण किया है ।

१५४. इमस्स चेव जीविद्यस्स, परिवन्दन-माणण-पूयणाए, जाई-मरण-मोयणाए, दुखपडिघायहेउं ।

सं०—अस्मै चैव जीविताय, परिवन्दन-मानन-पूजनाय, जाति-मरण-मोचनाय, दुःखप्रतिघातहेतुम् ।

वर्तमान जीवन के लिए, प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए, जन्म, मरण और मोचन के लिए दुःख-प्रतिकार के लिए—

१५५. से सयमेव वाउ-सत्थं समारंभति, अण्णेहिं वा वाउ-सत्थं समारंभावेति, अण्णे वा वाउ-सत्थं समारंभंते समणुजाणइ ।

१. आचारांग निर्युक्ति, गाथा १७० :

विअणे य तालवंडे सुप्पसियपत्त चेलकण्णे य ।

अभिधारणा य बाहिं गंधगी वाउ सत्याइ ॥

२. अंगमुत्ताणि १, ठाणं २।१३३-१३७ ।

३. बही, ठाणं ५।१८३ । पंचविधा अचित्ता वाउकाइया

पण्णत्ता, तं जहा—अश्कते, धंते, पीलिए, सररीरणुगते, संसृच्छिने ।

४. निशीथभाष्य चूर्णि, भाग १, पृष्ठ ८५, ८६ ।

५. बृहत्कल्पभाष्य, गाथा १७३-१८० ।

सं०—स स्वयमेव वायुशस्त्रं समारभते, अन्यैः वा वायुशस्त्रं समारम्भयति, अन्यान् वा वायुशस्त्रं समारम्भमाणान् समनुजानीते ।  
कोई साधक स्वयं वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है या करने वाले दूसरों का अनुमोदन करता है ।

१५६. तं से अहिंसाए, तं से अबोहीए ।

सं०—तत् तस्य अहिंसाय, तत् तस्य अबोधैः ।

वह हिंसा उसके अहित के लिए होती है । वह हिंसा उसकी अबोध के लिए होती है ।

१५७. से तं संबुज्जमाणे, आयाणीयं समुट्ठाए ।

सं०—स तत् संबुध्यमानः, आदानीयं समुत्थाय ।

वह उस हिंसा के परिणाम को समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है ।

१५८. सोच्चा भगवओ अणगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं णायं भवइ—एस खलु गथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु णिरए ।

सं०—श्रुत्वा भगवतः अणगाराणां वा अन्तिके इहैकेषां ज्ञातं भवति—एषा खलु ग्रन्थः, एषा खलु मोहः, एषा खलु मार, एषा खलु नरकः ।  
भगवान् या गृहत्यागी मुनियों के समीप सुनकर कुछ मनुष्यों को यह ज्ञात हो जाता है—यह (वायुकायिक जीवों की हिंसा) ग्रन्थ है, यह मोह है, यह मृत्यु है, यह नरक है ।

१५९. इच्चत्थं गढिए लोए ।

सं०—इत्यत्र प्रथितः लोकः ।

फिर भी सुख-सुविधा में मूर्च्छित मनुष्य वायुकायिक जीव-निकाय की हिंसा करता है ।

१६०. जमिणं विरुवरुवेहिं सत्थेहिं वाउकम्म-समारंभेणं वाउ-सत्थं समारंभमाणे अण्णे वणेगरुवे पाणे विहिसति ।

सं०—यदिदं विरुवरुपैः शस्त्रैः वायुकर्मसमारंभेण वायुशस्त्रं समारम्भमाणः अन्यानप्यनेकरूपान् प्राणान् विहिसति ।

वह नाना प्रकार के शस्त्रों से वायु-सम्बन्धी क्रिया में व्यापृत होकर वायुकायिक जीवों की हिंसा करता है । वह केवल उन वायुकायिक जीवों की ही हिंसा नहीं करता, किन्तु नाना प्रकार के अन्य जीवों की भी हिंसा करता है ।

१६१. से बेमि—अप्पेगे अंधमब्भे, अप्पेगे अंधमच्छे ।

सं०—तद् ब्रवीमि—अप्येकः अन्धमाभिन्धाद्, अप्येकः अन्धमान्छिन्धात् ।

मैं कहता हूँ—वायुकायिक जीव जन्मना इन्द्रियविकल—अंध, बधिर, मूक, पंगु और अवयवहीन मनुष्य की भांति अव्यक्त चेतना वाला होता है । शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर जैसे जन्मना इन्द्रिय-विकल मनुष्य को कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वायुकायिक जीव को होती है ।

१६२. अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे ।

सं०—अप्येकः पादमाभिन्धाद्, अप्येकः पादमान्छिन्धात् ।

इन्द्रिय-सम्पन्न मनुष्य के पैर आदि (द्रष्टव्यं १।२९) का शस्त्र से छेदन-भेदन करने पर उसे अक्षम कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वायुकायिक जीव को होती है ।

१६३. अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उद्दवेत् ।

सं०—अप्येकः संप्रमारयेद्, अप्येकः उद्दवेत् ।

मनुष्य को मूर्च्छित करने या उसका प्राण-विपोजन करने पर उसे कष्टानुभूति होती है, वैसे ही वायुकायिक जीव को होती है ।

भाष्यम् १५३-१६३—एतानि सूत्राणि पूर्ववद् (२०-३०)

पूर्ववत् देखें—सूत्र २०-३० ।

द्रष्टव्यानि ।

१६४. से बेमि—संति संपाइमा पाणा, आहृच्च संपयंति य । फरिसं च खलु पुट्टा, एगे संघायमावज्जंति ।  
जे तत्थ संघायमावज्जंति, ते तत्थ परिघावज्जंति । जे तत्थ परिघावज्जंति, ते तत्थ उदायंति ।

सं०—तद् ब्रवीमि—संति संपातिमाः प्राणाः, आहृत्य संपतन्ति च । स्पर्शं च खलु स्पृष्टाः, एके संघातमापद्यन्ते ।  
ये तत्र संघातमापद्यन्ते, ते तत्र पर्यापद्यन्ते । ये तत्र पर्यापद्यन्ते, ते तत्र अवद्वान्ति ।

मैं कहता हूँ—संपातिम (उड़ने वाले) प्राणी भी होते हैं । वे ऊपर से आकर नीचे गिर जाते हैं । कुछ प्राणी वायु का स्पर्श पाकर संघात को प्राप्त हो जाते हैं । जो प्राणी वायु का स्पर्श पाकर संघात को प्राप्त हो जाते हैं वे उसके स्पर्श से वहाँ मूर्च्छित हो जाते हैं । जो उसके स्पर्श से मूर्च्छित हो जाते हैं वे वहाँ मर जाते हैं ।

भाष्यम् १६४—शेषं ८५ सूत्रवत्, केवलं अग्निस्थाने शेष ८५ सूत्र की भांति । केवल इतना-सा अन्तर है कि अग्नि के वायोः स्पर्शं प्राप्ता इति भावनीयम् । स्थान पर 'वायु का स्पर्श प्राप्त कर' ऐसा जानना चाहिए ।

१६५. एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णायया भवंति ।

सं०—अत्र शस्त्रं समारंभमाणस्य इत्येते आरंभा अपरिज्ञाता भवन्ति ।

जो वायुकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ (प्रयोग) करता है, वह इन आरंभों—तत्सम्बन्धी व तवाश्रित जीव-हिंसा की प्रवृत्तियों से बच नहीं पाता है ।

१६६. एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णायया भवंति ।

सं०—अत्र शस्त्रं असमारंभमाणस्य इत्येते आरंभाः परिज्ञाता भवन्ति ।

जो वायुकायिक जीव पर शस्त्र का समारंभ नहीं करता, वह इन आरंभों से मुक्त हो जाता है ।

१६७. तं परिण्णाय मेधावी णेव सत्थं वाउ-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहि वाउ-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे वाउ-सत्थं समारंभंते समणुज्जाणेज्जा ।

सं०—तं परिण्णाय मेधावी नैव स्वयं वायुशस्त्रं समारंभेत, नैवान्यैः वायुशस्त्रं समारंभयेत्, नैवान्यान् वायुशस्त्रं समारंभमाणान् समनुज्जाणीत ।

यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं वायुशस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए तथा उसका समारंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन न करे ।

१६८. जस्सेते वाउ-सत्थ-समारंभा परिण्णायया भवंति, से हु भुणी परिण्णाय-कम्मे ।—त्ति बेमि ।

सं०—यस्येते वायुशस्त्रसमारंभाः परिज्ञाताः भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा ।—इति ब्रवीमि ।

जिसके वायु सम्बन्धी कर्म-समारंभ परिज्ञात होते हैं, वही मुनि परिज्ञातकर्मा (कर्मत्यागी) होता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १६५-१६८—एतानि सूत्राणि पूर्ववद् (३१-३४) पूर्ववत् देखें—सूत्र ३१-३४ ।  
द्रष्टव्यानि ।

१६९. एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा ।

सं०—अत्रापि जानीहि उपादीयमानान् ।

इस प्रसंग में तुम जानो, कुछ साधु इन्द्रिय-विषयों से आक्रान्त होते हैं ।

भाष्यम् १६९—वायुकायिकहिंसा के कुर्वन्ति ? इति-  
जिज्ञासायां निरूपितमिदं—अस्मिन् विषये त्वं जानीयाः, कहा गया है—इस विषय में तुम यह जानो कि जो इन्द्रिय-विषयों से  
ये इन्द्रियविषयैरुपादीयमानाः—आक्रम्यमाणाः सन्ति आक्रान्त हैं, पराभूत हैं, वे ही वायुकाय की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं । वे

१. आटे, उपावा—to Seize, to attack.

त एव वायुकायहिंसायां प्रवर्तन्ते । ते के सन्तीति प्रश्न-  
स्योत्तरं वक्ष्यमाणसूत्रेषु वर्तते—

कौन हैं ? इस प्रश्न का उत्तर आगे के सूत्रों में प्राप्त है—

१७०. जे आयारे न रमन्ति ।

सं०—ये आचारे न रमन्ते ।

जो आचार में रमण नहीं करते ।

भाष्यम् १७०—आचारः—कर्मसमारम्भपरिज्ञा । ये  
आचारे न रमन्ते ते साताकुलमनसः वायुकायिकहिंसां  
कुर्वन्ति ।

आचार का अर्थ है—कर्म-समारम्भ की परिज्ञा—विवेक । जो  
आचार में रमण नहीं करते वे सुविधा के लिए आकुल-व्याकुल व्यक्ति  
वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं ।

१७१. आरंभमाणा विनयं वयन्ति ।

सं०—आरंभमाणाः विनयं वदन्ति ।

जो स्वयं आरंभ करते हुए (दूसरों को) आचार का उपदेश देते हैं ।

भाष्यम् १७१—विनयः—आचारोऽनुशासनं वा । ये  
वायुकायजीवानामारम्भसमारम्भं कुर्वाणा अपि विनयं  
वदन्ति इति आश्चर्यम् । ये स्वयं वायुकायिकहिंसां  
कुर्वन्ति तेषां विनयस्य प्रतिपादनं कथं सार्थकं भवेत् ?

विनय का अर्थ है—आचार अथवा अनुशासन ।

जो स्वयं वायुकाय के जीवों का आरंभ-समारम्भ करते हुए भी  
विनय का उपदेश देते हैं, यह आश्चर्य की बात है । जो स्वयं वायु-  
कायिक जीवों की हिंसा करते हैं, उनका विनय के विषय का प्रतिपादन  
कैसे सार्थक हो सकता है ?

१७२. छन्दोवणीया अज्ज्ञोववग्णा ।

सं०—छन्दोवणीताः अध्युपपन्नाः ।

जो स्वच्छन्दचारी और विषयासक्त होते हैं ।

भाष्यम् १७२—छन्दः—साधारणः अभिषङ्गः ।  
अध्युपपन्नाः—विषयेषु तीव्राभिनवेशमापन्नाः ।

छन्द का अर्थ है—विषयों के प्रति सामान्य आसक्ति ।

अध्युपपन्न का अर्थ है—विषयों में तीव्र आसक्ति रखने  
वाला ।

ये छन्दोवणीता अध्युपपन्नाश्च सन्ति ते वायुकायिक-  
हिंसां कुर्वन्ति ।

जो स्वच्छन्दचारी तथा विषयों में तीव्र आसक्ति रखते हैं  
वे वायुकायिक जीवों की हिंसा करते हैं ।

१७३. आरंभसक्ता पकरेति संगं ।

सं०—आरंभसक्ताः प्रकुर्वन्ति सङ्गम् ।

जो आरंभ में आसक्त होकर नई-नई आसक्तियों और नये-नये बन्धनों को उत्पन्न करते हैं ।

भाष्यम् १७३—ये आरंभसक्ताः संगं प्रकुर्वन्ति ।  
सङ्गः—रागद्वेषौ बन्धनं वा ।

जो आरंभ में आसक्त होकर संग करते हैं ।

संग का अर्थ है—रागद्वेष या बन्धन ।

‘एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा’ (सूत्रं १६९) इति  
सूत्रात् आरंभ्य प्रस्तुतसूत्रपर्यन्तं यत् प्रतिपादितं तस्य  
प्रतिपक्षोऽप्यत्र भावनीयः, यथा चूर्णी<sup>१</sup>—

‘एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा’ (१६९)—इस सूत्र से प्रस्तुत सूत्र  
तक जो प्रतिपादित किया गया है, उसका प्रतिपक्ष भी यहां जान लेना  
चाहिए । जैसे चूर्ण में कहा गया है—

‘एत्थं वि जाण अणुवाइयमाणा ।’

‘इस विषय में तुम जानो—जो इन्द्रिय-विषयों से आक्रान्त नहीं  
होते ।’

१. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ४१-४२ ।

‘जे आयारे रमंति ।’  
‘अणारंभमाणा विणयं वदंति ।’  
‘पसत्थच्छंदोवणीता तत्थेव अज्झोववण्णा ।’  
‘आरंभे असत्ता णो पगरंति संगं ।’

‘जो आचार में रमण करते हैं ।’  
‘जो आरंभ-समारंभ से उपरत होकर विनय का उपदेश देते हैं ।’  
‘जो प्रशस्त छंद को प्राप्त और उसी में अद्युपपन्न होते हैं ।’  
‘जो आरंभ में अनासक्त रहते हुए संग नहीं करते ।’

१७४. से वसुमं सव्व-समन्नागय-पण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं ।

सं०—स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना अकरणीयं पापं कर्म ।  
संयमी के लिए सर्वसमन्वागत प्रज्ञायुक्त आत्मा से पापकर्म अकरणीय है ।

भाष्यम् १७४—प्रज्ञानम्—प्रज्ञा । सर्वसमन्वागतमिति सर्वविषयग्राहि, सत्यविषयग्राहि वा । वसुमान्—संयमी । तादृशस्य साधकस्य सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना पापं कर्म अकरणीयं भवति । यस्मिन् सर्वविषयग्राहिणी सत्यविषयग्राहिणी वा प्रज्ञा उदिता भवति स एव पापं कर्म अकरणीयं मन्यते ।’

प्रज्ञान का अर्थ है—प्रज्ञा । सर्वसमन्वागत का अर्थ है—सब विषयों को ग्रहण करने वाला अथवा सत्य विषय को ग्रहण करने वाला प्रज्ञान । वसुमान् का अर्थ है—संयमी । वैसे साधक के लिए सर्वसमन्वागत प्रज्ञावाली आत्मा से पापकर्म अकरणीय होता है । जिसमें सर्व-विषयग्राही या सत्यविषयग्राही प्रज्ञा का उदय होता है, वही पापकर्म को अकरणीय मानता है ।

१७५. तं णो अण्णोसि ।

सं०—तत् न अन्विष्येत् ।  
संयमी उस पापकर्म का अन्वेषण न करे ।

भाष्यम् १७५—पूर्वस्मिन् सूत्रे ‘पापं कर्म अकरणीयं’ इति निर्दिष्टम् । प्रस्तुतसूत्रे ‘तत् पापं कर्म नान्वेषणीयं’ इति निर्देशः कृतः । पापकर्मणः अन्वेषणं कर्मविपाक-सम्भवं विद्यते । तेन पापकर्मणो विनोदाय प्रयत्नमानेन पुरुषेण भावविशुद्धेः प्रयोगः कर्तव्यः । सा भावविशुद्धिः पापकर्मन्वेषणस्य हेतुभूतां कर्मप्रकृतिं विपाकाक्षमां करिष्यति ।

इससे पूर्व के सूत्र में ‘पापकर्म अकरणीय है’—ऐसा निर्दिष्ट है । प्रस्तुत सूत्र में ‘उस पापकर्म का अन्वेषण न करे’—ऐसा निर्देश है । पापकर्म का अन्वेषण कर्म-विपाक से संभव होता है । इसलिए जो मनुष्य पापकर्म को दूर करना चाहता है, उसे भावविशुद्धि का प्रयोग करना चाहिए । वह भावविशुद्धि पापकर्म के अन्वेषण में हेतुभूत कर्म-प्रकृति के विपाक को अक्षम बना डालती है ।

१७६. तं परिणाय मेधावी णेव सयं छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभेज्जा, णेवण्णेहि छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभावेज्जा, णेवण्णे छज्जीव-णिकाय-सत्थं समारंभते समणुजाणेज्जा ।

सं०—तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं षड्जीवनिकायशस्त्रं समारंभते, नैवान्येः षड्जीवनिकायशस्त्रं समारंभयेत्, नैवान्यान् षड्जीवनिकायशस्त्रं समारंभमाणान् समनुजानीत ।

यह जानकर मेधावी मनुष्य स्वयं छह जीवनिकायशस्त्र का समारंभ न करे, दूसरों से उसका समारंभ न करवाए तथा उसका समारंभ करने वाले दूसरों का अनुमोदन न करे ।

१७७. जस्सेते छज्जीव-णिकाय-सत्थ-समारंभा परिणयाया भवति, से हु मुणी परिणाय-कम्मे ।—त्ति वेमि ।

१. प्रवृत्ति का मुख्य स्रोत अन्तःकरण है । वह प्रज्ञा से संचालित होता है । उसके नियामक तत्त्व दो हैं—मोह और निर्मोह । मोह से नियंत्रित प्रज्ञा असत्य होती है—धर्म के विपरीत होती है । निर्मोह से नियंत्रित प्रज्ञा सत्य होती है—धर्म के अनुकूल होती है । जिसकी प्रज्ञा सत्य होती है, वह शरीर, वाणी और भाव से ऋतु तथा कथनी और

करनी में समान होता है । इस प्रकार की सत्यप्रज्ञा से संचालित अन्तःकरण ही हिंसा और विषय से विरत हो सकता है । कोई भी साधक केवल बाह्याचार से हिंसा और विषय से विरत नहीं हो सकता । पूर्ण सत्यप्रज्ञा-युक्त अन्तःकरण से ही वह उनसे विरत हो सकता है ।

सं०—यस्यैते षड्जीवनिकायशस्त्रसमारम्भाः परिज्ञाताः भवन्ति, स खलु मुनिः परिज्ञातकर्मा ।—इति ब्रवीमि ।

जिसके छह जीवनिकाय-सम्बन्धी शस्त्र-समारम्भ परिज्ञात होते हैं, वही मुनि परिज्ञातकर्मा (कर्म-त्यागी) होता है ।

— ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १७६-१७७—पूर्ववद् द्रष्टव्ये (३३-३४) सूत्रे ।  
अत्र षड्जीवनिकायशस्त्रसमारम्भा इति विशेषः ।

पूर्व के ३३, ३४ सूत्रों में पृथ्वीकायशस्त्र समारंभ की बात आई है । यहां छह जीवनिकाय का शस्त्र-समारंभ परिज्ञात है । इतना-सा यहां अन्तर है ।

बीअं अङ्गयणं  
लोगविजओ

दूसरा अध्ययन  
लोकविचय

[उद्देशक ६ : सूत्र १८६]





## आमुखम्

प्रस्तुताध्ययनस्य नामास्ति लोकविचयः । चूणि-  
कारेण 'लोक' पदस्यार्थः कषायलोक इति कृतः । 'लोक'  
पदस्य अनेके अर्था विद्यन्ते । तेन नासंगतोऽयमर्थः ।  
प्रस्तुताध्ययनस्य अनुशीलनतः 'लोभविचय' इतिनामापि  
सहजं स्फुरति । प्रथमाध्ययने अहिंसा प्रतिपादितास्ति ।  
अस्मिन् अपरिग्रहस्य प्रतिपादनं स्वाभाविकं वर्तते ।  
'ममायमाणाण'<sup>१</sup> 'परिमिज्ज'<sup>२</sup> इति पदाभ्यामपि 'लोभ-  
विचय' पदस्य सम्भावनायाः पुष्टिर्जायते । स्थानांगेऽप्यु-  
क्तमस्ति आरम्भपरिग्रहाभ्यां जीवा धर्मश्रवणादिकं न  
लभन्ते, अनारम्भापरिग्रहाभ्यां च ते प्राप्नुवन्ति तत् ।<sup>३</sup>

निर्युक्तिकारेण 'विजय' पदं व्याख्यातम् ।<sup>४</sup> अस्य  
पदस्य 'विचय' इतिरूपमपि संगतमस्ति । विचयस्य  
'विजय' इतिरूपं प्राकृते संभवति, यथा—आज्ञाविचयस्य  
'आणाविजय'<sup>५</sup> इत्यादि । प्रस्तुताध्ययनस्य पङ्क्तेशका  
वर्तन्ते । निर्युक्तिकारेण तेषां विषयनिर्देशः कृतः,  
यथा—

१. स्वजने अभिष्वंगो न कार्यः ।
२. संयमे अदृढत्वं न कार्यम्, विषयकषायादौ च  
अदृढत्वं कार्यम् ।
३. जात्यादीनां मदो न कार्यः, जात्यादिहीनेन वा  
शोको न कार्यः तथा अर्थस्य असारता  
प्रतिपत्तव्या ।
४. भोगेषु अभिष्वंगो न कार्यः ।
५. संयमयात्रानिर्वाहाय लोकनिश्रया विहर्तव्यम् ।

६. सर्वत्र ममत्वपरित्यागः कार्यः ।

एतानि सर्वाण्यपि अपरिग्रहस्य विषयवस्तूनि ।

प्रस्तुताध्ययने परिग्रहस्य विषये महत्त्वपूर्णानि  
सूत्राणि वर्तन्ते—

१. आचारंग चूणि, पृष्ठ ४२ : कसायलोगविजयो कायव्वो ।
२. आचारो. २।५७ ।
३. बही, २।५८ ।
४. अंगसुत्ताणि १, ठाणं, २।४१,५२
५. आचारंग निर्युक्ति, गाथा १७५ :  
लोगस्स य निवखेवो, अदृढिहो छग्धिहो उ विजयस्स ।  
भावे कसायलोगो अहिगारो तस्स विजएणं ॥

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—'लोकविचय' । चूणिकार ने 'लोक'  
पद का अर्थ 'कषायलोक' किया है । 'लोक' पद के अनेक अर्थ होते हैं ।  
इसलिए चूणिकार द्वारा कृत यह अर्थ असंगत नहीं है । प्रस्तुत अध्ययन  
के अनुशीलन से यह सहज स्फुरित होता है कि इस अध्ययन का नाम  
'लोभविचय' भी हो सकता है । पहले अध्ययन में अहिंसा का प्रति-  
पादन हुआ है । इस अध्ययन में अपरिग्रह का प्रतिपादन होना स्वाभा-  
विक है । 'ममायमाणाण' तथा 'परिमिज्ज'—इन दो पदों से भी  
'लोभविचय' पद की संभावना पुष्ट होती है । स्थानांग में भी कहा  
है—आरम्भ और परिग्रह से जीव धर्म-श्रवण आदि को प्राप्त नहीं  
करते । अनारम्भ और अपरिग्रह से वे उसे उपलब्ध होते हैं ।

निर्युक्तिकार ने 'विजय' पद की व्याख्या की है । इस पद का  
'विचय' रूप भी संगत है । प्राकृत भाषा में 'विचय' का 'विजय'  
रूप बन जाता है, जैसे—आज्ञाविचय का प्राकृतरूप है 'आणाविजय'  
आदि । प्रस्तुत अध्ययन के छह उद्देशक हैं । निर्युक्तिकार ने उनके  
विषयों का निर्देश इस प्रकार किया है, जैसे—

१. स्वजन में आसक्ति नहीं करनी चाहिए ।
२. संयम में शिथिलता नहीं करनी चाहिए । विषय, कषाय आदि  
में शिथिलता करनी चाहिए ।
३. जाति आदि का मद नहीं करना चाहिए । जाति आदि से हीन  
व्यक्ति को शोक नहीं करना चाहिए तथा अर्थ—धन की  
असारता स्वीकार करनी चाहिए ।
४. भोगों में आसक्ति नहीं करनी चाहिए ।
५. संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए लोकनिश्रया (गृहस्य के आश्रय)  
में विहरण करना चाहिए ।
६. सर्वत्र ममत्व का वर्जन करना चाहिए ।

ये सारे अपरिग्रह के विषय हैं ।

प्रस्तुत अध्ययन में परिग्रह के विषय में महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रति-  
पादित हैं—

६. अंगसुत्ताणि १, ठाणं, ४।६५ ।
७. आचारंग निर्युक्ति, गाथा १७२ :  
सयणे य अददत्तं बीयगंमि माणो अ अत्थसारो अ ।  
भोगेसु लोगनिस्साइ लोणे अममिज्जया चेव ॥

‘जे ममाइय-मति जहाति, से जहाति ममाइयं ।’<sup>१</sup>

‘ण एत्थ तवो वा, दमो वा, णियमो वा दिस्सति ।’<sup>२</sup>

‘परिग्रहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा ।’<sup>३</sup>

अस्मिन्नध्ययने ‘लोगविपस्सी’ इतिपाठः विशेषं ध्यानमाकर्षति । अनेन पदेन विपश्यनाध्यानस्य प्रक्रिया सूचिता अस्ति । ‘आयतचक्खू’ इतिपदेन अनिमेष-प्रेक्षायाः त्राटकस्य वा ध्यानविधिनिर्दिष्टः ।<sup>४</sup>

भगवतो महावीरस्य साधनायाः सारमस्ति अप्रमादः । तस्मिन् विषये अन्तर्वेधी निर्देशोऽस्मिन् लभ्यते—

‘उदाहु वीरे—अप्पमादो महामोहे ।’<sup>५</sup>

‘अलं कुसलस्स पमाएणं ।’<sup>६</sup>

भगवान् महावीर आत्मकर्तृत्वस्य स्वातन्त्र्यस्य च महान् प्रवक्ता आसीत् । अत एव भगवतो दर्शने पश्यकस्य द्रष्टुर्वा विशिष्टं महत्त्वम् । प्रोक्तं भगवता—त्वं पश्य न केवलं मन्यस्व ।<sup>७</sup>

अध्यात्मसाधनाक्षेत्रे प्रतिपक्षभावनायाः सिद्धान्तः अस्ति अनुभवभूमिकायां सम्मतः । जैनमनोविज्ञाने सन्ति चतस्रो मौलिक्यो मनोवृत्तयः—क्रोधः, मानः, माया, लोभश्च । आसां परिष्कारः प्रतिपक्षभावनायां कर्तुं सुशकः । लोभः सर्वाधिको जटिलः । न चासौ लाभेन उपशमयितुं शक्यः । मनुष्ये यथा लोभस्य मनोवृत्तिस्तथा अलोभस्य भावोऽपि तस्मिन् विद्यमानोऽस्ति । कर्म-सिद्धान्तानुसारेण मोहनीयकर्मणः औदयिकभावसंभवो लोभः, मोहनीयकर्मणः क्षायोपशमिकभावजनितश्च अलोभः । प्रत्येकस्मिन् प्राणिनि यथा मोहनीयकर्मणः औदयिको भावो विद्यते तथा क्षायोपशमिको भावोऽपि विद्यते । सति प्रमादे क्षायोपशमिको भावो निष्क्रियो भवति, औदयिकभावश्च सक्रियो भवति । सति अप्रमादे च क्षायोपशमिको भावः सक्रियो भवति, औदयिकभावश्च निष्क्रियो भवति । शैवालं विनेतुं हस्ते व्याप्रियमाणे आकाशदर्शनं नक्षत्रदर्शनं च संभवति । विरते च हस्ते शैवालः एकाकारो भवति, अवरुणद्वि चाकाशदर्शनम् ।

भगवतः प्रवचनस्य प्रथमो निष्कर्षोऽस्ति अप्रमादस्य विकासः, तात्पर्यार्थे क्षायोपशमिकभावस्य प्रयोगः ।

‘जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वही परिग्रह को त्याग सकता है ।’

‘परिग्रही पुरुष में न तप होता है, न शांति होती है और न नियम ।’

‘साधक परिग्रह से अपने आपको दूर रखे ।’

इस अध्ययन में ‘लोगविपस्सी’ यह पद विशेष ध्यान आकृष्ट करता है । इस पद से ‘विपश्यना ध्यान’ की प्रक्रिया सूचित की गई है । ‘आयतचक्खू’ इस पद के द्वारा ‘अनिमेषप्रेक्षा’ अथवा ‘त्राटक’ ध्यान की विधि निर्दिष्ट की गई है ।

भगवान् महावीर की साधना का सार है—अप्रमाद । इस विषय का अन्तर्वेधी निर्देश प्रस्तुत अध्ययन में प्राप्त होता है—

महावीर ने कहा—‘साधक विषय-विकार में प्रमत्त न हो ।’

‘कुशल प्रमाद न करे ।’

भगवान् महावीर आत्मकर्तृत्व और स्वतंत्रता के महान् प्रवक्ता थे । इसीलिए भगवान् द्वारा निर्दिष्ट दर्शन में पश्यक या द्रष्टा का विशिष्ट महत्त्व है । भगवान् ने कहा—‘तुम स्वयं देखो, केवल मानो ही मत ।’

अध्यात्म साधना के क्षेत्र में प्रतिपक्ष भावना का सिद्धांत अनुभव की भूमिका में सम्मत है । जैन मनोविज्ञान के अनुसार मौलिक मनोवृत्तियां चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ । प्रतिपक्ष भावना के द्वारा इनका परिष्कार सरलता से किया जा सकता है । लोभ की मनोवृत्ति सबसे अधिक जटिल है । यह लाभ से उपशांत नहीं होती । मनुष्य में जैसे लोभ की मनोवृत्ति है वैसे अलोभ का भाव भी उसमें विद्यमान है । कर्मसिद्धांत के अनुसार मोहनीय कर्म के औदयिक भाव से लोभ उत्पन्न होता है और उसके क्षायोपशमिक भाव से अलोभ उत्पन्न होता है । प्रत्येक प्राणी में जैसे मोहनीयकर्म का औदयिक भाव होता है, वैसे ही उसमें क्षायोपशमिक भाव भी होता है । प्रमाद की अवस्था में क्षायोपशमिक भाव निष्क्रिय होता है और औदयिक भाव सक्रिय । अप्रमाद की अवस्था में क्षायोपशमिक भाव सक्रिय होता है और औदयिक भाव निष्क्रिय । आकाश-दर्शन और नक्षत्र-दर्शन के लिए पानी पर छाए हुए सेवाल को हाथ से हटाना जरूरी होता है । हाथ का प्रयत्न बंद होने पर सेवाल पुनः पानी पर एकाकार रूप में छा जाता है और आकाश-दर्शन अवरुद्ध हो जाता है ।

भगवान् महावीर के प्रवचन का पहला निष्कर्ष है—अप्रमाद का विकास, तात्पर्यार्थ में क्षायोपशमिक भाव का प्रयोग ।

१. आमारो, २।१५६ ।

२. वही, २।५९ ।

३. वही, २।११७ ।

४. वही, २।१२५ ।

५. वही, २।९४ ।

६. वही, २।९५ ।

७. वही, २।९७, ९९ ।

द्वितीयो निष्कर्षः—स्वात्मगतस्य अलोभस्य अनुभवेन लोभस्य परिष्कारः उन्मूलनञ्च ।<sup>१</sup>

प्रस्तुताध्ययनस्य केन्द्रीयतत्त्वमस्ति—‘अपरिग्रहा भविष्यामः ।’<sup>२</sup> अस्य संकल्पस्य सुरक्षायै शरीरस्य वस्तुनश्च ममत्वत्यागः अत्र प्रसाधितोऽस्ति ।<sup>३</sup>

आचारांगस्य मुख्यविषयोऽस्ति आचारः, तत्रापि मुनेराचारः, सोऽपि निर्वाणसाधनायै प्रतिपादित आचारः । तथापि प्रस्तुताध्ययने अनेकानि जीवनसूत्राणि उपलभ्यन्ते । तानि सन्ति समाजव्यवस्थायै व्यक्तिगत-जीवनाय चापि महान्ति उपयोगीनि । इन्द्रियाणां हानौ जरा सम्मुखीना भवतीति सिद्धान्तः अद्यापि सम्मतोऽस्ति ।<sup>४</sup> अकृतं करिष्यामीति विकाससूत्रं मन्यन्ते समाजविदः अर्थशास्त्रिणश्च, किन्तु अस्य मन्तव्यस्य एकांगिता तदानीं प्रकटीभवति यदा तद् मन्यमानो जनः रोगेण जरसा वा ग्रस्तः मरणासन्नावस्थायां वा असहायो भवति, न क्वचित् त्राणं वा शरणं वा पश्यति ।<sup>५</sup>

एवं प्रस्तुताध्ययने जीवनस्यापि सत्यानां अनावरण-मस्ति जातम् । पुनः पुनरस्मिन् सत्यसिन्धौ निमज्जनमेव अस्ति उपायः सत्यमुक्ताया उपलब्धेः ।]

दूसरा निष्कर्ष है—अपने भीतर विद्यमान अलोभ के अनुभव से लोभवृत्ति का परिष्कार और उन्मूलन ।

प्रस्तुत अध्ययन का केन्द्रीय तत्त्व है—‘हम अपरिग्रही बनेंगे’— यह संकल्प । इस संकल्प की सुरक्षा के लिए शरीर और पदार्थ के प्रति ममत्व का त्याग यहाँ बतलाया गया है ।

आचारांग का मुख्य विषय है—आचार । वह भी मुनि का आचार । वह भी निर्वाण की साधना के लिए प्रतिपादित आचार । फिर भी प्रस्तुत अध्ययन में अनेक जीवन-सूत्र उपलब्ध होते हैं । वे सूत्र समाज-व्यवस्था तथा व्यक्तिगत जीवन के लिए भी बहुत उपयोगी हैं । इन्द्रिय-शक्ति की क्षीणता होने पर बार्धक्य सम्मुख हो जाता है— यह सिद्धांत आज भी सम्मत है । ‘मैं वह काम करूंगा जो आज तक किसी ने नहीं किया’— इस सूत्र को समाजशास्त्री तथा अर्थशास्त्री विकास का सूत्र मानते हैं । किंतु इस मत की एकांगिता तब प्रगट होती है जब इस सूत्र को मानने वाला व्यक्ति रोग या बुढ़ापे से ग्रस्त होता है तथा मरणासन्न अवस्था में असहाय होता है, वहाँ त्राण या शरण नहीं देखता ।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में जीवन-सत्यों की भी स्फुट अभिव्यक्ति हुई है । इस सत्य-सिंधु में बार-बार ढुबकियां लगाना ही सत्य-मुक्ताओं की प्राप्ति का उपाय है ।

१. आचारो, २।३७ ।

२. वही, २।३१ ।

३. वही, २।१२७-१३९ ।

४. वही, २।४,५; ब्रह्मव्यम्—टिप्पणम् ।

५. वही, ३।१५-१७ ।



# वीअं अज्झयणं : लोगविजओ

## दूसरा अध्ययन : लोकविचय

### पढभो उद्देशो : पहला उद्देशक

#### १. जे गुणे से मूलद्वाने, जे मूलद्वाने से गुणे ।

सं०—यः गुणः स मूलस्थानं, यन्मूलस्थानं स गुणः ।

जो विषय है, वह आधार (लोभ) है, जो आधार (लोभ) है, वह विषय है ।

भाष्यम् १—प्रस्तुताध्ययने लोकस्य—कषायार्ज-भूतस्य लोभस्य परिग्रहस्य वा विचयः कर्तव्योऽस्ति । तत्र इन्द्रियविषयाः प्राधान्येन लोभहेतवः । तेनेदं प्रेक्षा-सूत्रं निर्दिष्टम्—यो गुणः स मूलस्थानम् । गुणः—इन्द्रियविषयः । मूलस्थानम्—आधारः । इन्द्रियविषया एव लोभोदयस्य हेतवः सन्ति । तेनाभेदोपचारोऽसौ—यो गुणः स मूलस्थानं, यन्मूलस्थानं स गुणः ।

एवं विषयलोभयोः कार्यकारणभावेनाभेदः सूचितः । विषयपरित्यागेन विना लोभपरित्यागो न सम्भवति इति वस्तुधर्मस्य विचयोऽत्र प्रस्तुतः ।

गतप्रत्यागतशैल्या रचितं सूत्रमिदम् ।

#### २. इति से गुणद्वी महता परियावेणं वसे पमत्ते—माया मे, पिया मे, भाया मे, भइणी मे, भज्जा मे, पुत्ता मे, धूया मे, सुण्हा मे, सहि-सहण-संगंथ-संथया मे, विविक्तोवगरण-परियट्टण-भोयण-अच्छायणं मे, इच्चत्थं गडिए लोए—वसे पमत्ते ।

सं०—इति स गुणार्थी महता परितापेन वसति प्रमत्तः—माता मे, पिता मे, भ्राता मे, भगिनी मे, भार्या मे, पुत्रा मे, दुहिता मे, स्नुषा मे, सखिस्वजनसंग्रन्थसंस्तुताः मे, विविक्तोपकरणपरिवर्तनभोजनाच्छादनं मे, इत्यर्थं ग्रथितः लोकः—वसति प्रमत्तः ।

इस प्रकार विषयार्थी पुरुष महान् परिताप से प्रमत्त होकर वास करता है । मेरी माता, मेरा पिता, मेरा भाई, मेरी बहिन, मेरी पत्नी, मेरे पुत्र, मेरी पुत्री, मेरी बधू, मेरा मित्र, मेरा स्वजन, मेरे स्वजन का स्वजन, मेरा सहवासी, मेरे प्रचुर उपकरण, परिवर्तन (वृद्धि या चक्रवृद्धि), भोजन, वस्त्र—इनमें आसक्त पुरुष प्रमत्त होकर इन परिग्रह-स्थानों में वास करता है ।

#### १. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ४४ : मूलं प्रतिष्ठा आधारो य एगद्वी ।

२. (क) गुणमूलस्थानानां अर्थतः एकत्वं प्रतिपादितमस्ति चूर्णं—अथतो भंगविकल्पा भवन्ति, 'जे गुणे से मूले, जे मूले से गुणे ?' आमं, एवं 'जे गुणे से ठाणे, जे ठाणे से गुणे ?' आमं, अहवा 'जे मूले से ठाणे, जे ठाणे से मूले ?' आमं, अहवा जे गुणेषु बट्टइ ते मूले बट्टति, ते चेव विकल्पा, एवं एतेसि गुणादीणं वंजणओ नाणत्तं, अत्थओ अनाणत्तं ।

(ख) गुण का अर्थ है—इन्द्रिय-विषय । वह दो प्रकार का

प्रस्तुत अध्ययन में लोक—कषाय के अंगभूत लोभ या परिग्रह का विचय करणीय है । इन्द्रियों के विषय मुख्यतया लोभ के हेतु हैं । इसलिए इस प्रेक्षा-सूत्र का निर्देश किया गया है—जो गुण है, वह मूल-स्थान है । गुण का अर्थ है—इन्द्रिय-विषय । मूलस्थान का अर्थ है—आधार । इन्द्रिय-विषय ही लोभ के उदय के हेतु होते हैं । इसलिए अभेदोपचार से कहा गया है—जो गुण है, वह मूलस्थान है, जो मूल-स्थान है, वह गुण है ।

इस प्रकार कार्य-कारण भाव के आधार पर विषय और लोभ का अभेद सूचित किया गया है । विषय का परित्याग किए बिना लोभ का परित्याग संभव नहीं होता, इस वस्तु-धर्म का विचय (विश्लेषण) यहां प्रस्तुत किया गया है ।

यह सूत्र गतप्रत्यागतशैली से रचा गया है ।

होता है—इष्ट और अनिष्ट । इष्टगुण के प्रति राग और अनिष्ट-गुण के प्रति द्वेष होता है । इस प्रकार गुणों से कषाय बढ़ता है और कषाय से संसार बढ़ता है—जन्म-मरण की परंपरा बढ़ती है । इस कारण-कार्य की परम्परा में गुण संसार का मूल आधार बन जाता है । इसीलिए गुण और मूलस्थान (संसार) में एकता आरोपित की गई है ।

भाष्यम् २—इन्द्रियविषयाः लोभोदयं प्रेरयन्ति । लोभस्य विद्यमानतायामेव इन्द्रियविषयेषु प्रियाप्रिय-भावः सञ्जायते इतिहेतुना स गुणार्थी पुरुषः महता परितापेन—भोगाभिलाषेण नानाविधेषु परिग्रहस्थानेषु वसति प्रमत्तो भूत्वा ।

परितापश्च ममकारजनित इतिवस्तुसत्यं स्पष्टयति सूत्रकारः—मात्रादिषु तथा नानाप्रकारोपकरणादिषु ममत्वं कुर्वाणस्तेषु ग्रथितो लोकः प्रमत्तो भूत्वा नाना-विधेषु परिग्रहस्थानेषु वसति ।

सखा—सहजातकं मित्रम् ।

संग्रन्थः—स्वजनस्य स्वजनः ।

संस्तुतः—सहवासी ।

परिवर्तनम्—वृद्धिश्चक्रवृद्धिर्वा ।<sup>१</sup>

इन्द्रियों के विषय लोभ के उदय में प्रेरक बनते हैं । लोभ की विद्यमानता में ही इन्द्रिय-विषयों के प्रति प्रिय-अप्रिय भाव उत्पन्न होता है, इसलिए वह विषयार्थी पुरुष महान् परिताप—भोगाभिलाषा से प्रमत्त होकर नाना प्रकार के परिग्रह-स्थानों में वास करता है ।

'परिताप ममकार से उत्पन्न होता है'—इस वस्तु-सत्य को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार कहते हैं—मनुष्य माता-पिता आदि स्वजनो तथा नाना प्रकार के उपकरणों में ममत्व करता हुआ उनमें आसक्त हो जाता है । फिर वह प्रमत्त होकर नाना प्रकार के परिग्रह-स्थानों में वास करता है ।

सखा का अर्थ है—साथ में जन्मा हुआ मित्र ।

संग्रन्थ का अर्थ है—स्वजन का स्वजन ।

संस्तुत का अर्थ है—सहवासी ।

परिवर्तन का अर्थ है—वृद्धि—व्याज या चक्रवृद्धि—व्याज पर व्याज ।

३. अहो य राओ य परितप्यमाणे, कालाकाल-समुद्गाई, संजोगट्टो अट्टालोभी, आलुपे सहसक्कारे, विणिविष्टचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो-पुणो ।

सं०—अहनि च रात्रौ च परितप्यमानः, कालाकालसमुत्थायी, संयोगार्थी, अर्थलोभी, आलुम्पः सहसाकारः, विनिविष्टचित्तः, अत्र शस्त्र पुनः पुनः ।

वह रात-दिन परितप्त रहता है, काल या अकाल में (अर्थार्जन का) प्रयत्न करता है, संयोग का अर्थी होकर अर्थ-लोलुप, चोर या लुटेरा हो जाता है । उसका चित्त परिवार या विषय-सेवन में ही लगा रहता है । वह पुनः पुनः शस्त्र बनता है ।

भाष्यम् ३—लोभवशंवदः पुरुषः मात्रादिनिमित्तं तथा अर्थस्योपार्जनरक्षणादिनिमित्तञ्च अहोरात्रं कायिकवाचिकमानसिकेन परितापेन परितप्यमान-स्तिष्ठति । स काले अकाले वा अर्थसंग्रहं प्रति मम्मण-वत् प्रवर्तते । स मनोज्ञानामिन्द्रियविषयाणां राज्यवैभवा-दीनाञ्च संयोगमर्थयते । स अर्थलोलुपो भूत्वा चौर्यादिकं करोति । सहसाकारी—अविमृश्यकारी, असमीक्षित-पूर्वापरदोषः महान्तमनर्थं सम्पादयति । तस्य चित्तं परिवारे विषये वा विनिविष्टं भवति । एतादृशः पुरुषः पुनः पुनः जीवनिकायानां कृते शस्त्रं—उपघातकारी भवति ।

लोभ के वशीभूत होकर पुरुष माता-पिता आदि स्वजनो के निमित्त तथा धन के उपार्जन और उसकी रक्षा आदि के निमित्त दिन-रात कायिक, वाचिक और मानसिक परिताप से संतप्त रहता है । वह समय-असमय का विवेक किए बिना धन का संग्रह करने के लिए 'मम्मण' सेठ की तरह लगा रहता है । वह मनोज्ञ इन्द्रिय-विषयों तथा राज्य और वैभव आदि की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहता है । वह अर्थलोलुप होकर चोरी आदि करता है । वह सहसाकारी अर्थात् बिना सोचे-विचारे काम करने वाला, पहले पीछे होने वाले दोषों की समीक्षा न करने वाला पुरुष महान् अनर्थ को जन्म देता है । उसका चित्त परिवार या इन्द्रिय-विषयों में संलग्न रहता है । ऐसा पुरुष जीवनिकायों के लिए बार-बार शस्त्र बनता है—संहारक बनता है ।

४. अप्यं च खलु आउं इहमेगोत्त माणवाणं, तं जहा—सोय-परिण्णाणेहि परिहायमाणेहि, चक्खु-परिण्णाणेहि परिहायमाणेहि, घाण-परिण्णाणेहि परिहायमाणेहि, रस-परिण्णाणेहि परिहायमाणेहि, फास-परिण्णाणेहि

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ४९ : परिवर्तनं—त्रिगुणं त्रिगुणं एवमादी ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र ९१ : द्विगुणत्रिगुणादिभेदमिन्नम् ।

(ग) कौटिलीयार्थशास्त्रे (२।७।३६) परिवर्तनस्य एष अर्थ

उपलभ्यते—राजद्रव्याणामन्यद्रव्येणादानं परिवर्तनम् ।

(घ) आटे, चक्रवृद्धिः—Interest upon interest, Compound interest ।

**परिहायमाणोहि ।**

सं०—अल्पं च खलु आयुः इहैकेषां मानवानां, तद् यथा—श्रोत्रपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, चक्षुःपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, घ्राणपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, रसपरिज्ञानैः परिहीयमानैः, स्पर्शपरिज्ञानैः परिहीयमानैः ।

इस संसार में कुछ मनुष्यों का आयुष्य अल्प होता है, जैसे—श्रोत्र-परिज्ञान के परिहीन हो जाने पर, चक्षु-परिज्ञान के परिहीन हो जाने पर, घ्राण-परिज्ञान के परिहीन हो जाने पर, रस-परिज्ञान के परिहीन हो जाने पर, स्पर्श-परिज्ञान के परिहीन हो जाने पर (वे अल्प आयु में ही मर जाते हैं) ।

भाष्यम् ४—केचिन्मनुष्या दीर्घायुषो भवन्ति, केचिच्चाल्पायुषः । यदा वयं अल्पायुष्कदशां विचारयामः तदा परिग्रहप्रधानानां प्रयत्नानां व्यर्थतायाः अनुभवो जायते । अल्पायुष्कविचयसूत्रमिदम् । श्रोत्रादीन्द्रियपञ्चकस्य परिज्ञानं यदा हीयमानं भवति तदा अकालेऽपि आयुषः क्षयो जायते ।

वैज्ञानिका<sup>१</sup> मन्यन्ते—मस्तिष्कीयकोशिकाणां क्षये जाते मनुष्योन्नियते । इन्द्रियाणां केन्द्रबिन्दवः सन्ति पृष्ठमस्तिष्के । सूत्रकारस्य तात्पर्यमिदं भवेत्—इन्द्रियाणां प्रज्ञानं तेषां केन्द्रबिन्दूनां हीनतायां सत्यां हीनं जायते । तस्यामवस्थायां असमयेऽपि मृत्युर्घटते । श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां लक्षशः स्नायवः सन्ति । तेषामभिघातेन सद्यो मृत्युः सम्भाव्यते ।<sup>२</sup>

कुछ मनुष्य दीर्घायु होते हैं, कुछ अल्पायु । जब हम अल्प आयुष्य की स्थिति पर विचार करते हैं तब परिग्रह-प्रधान प्रयत्नों की व्यर्थता का अनुभव होता है । प्रस्तुत सूत्र अल्पायुष्य का विचयसूत्र है । श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों की ग्रहण (ज्ञान) शक्ति जब क्षीण होनी शुरू हो जाती है तब अकाल में भी आयुष्य क्षीण हो जाता है ।

वैज्ञानिक मानते हैं कि मस्तिष्कीय कोशिकाओं के क्षीण होने पर मनुष्य मरता है । इन्द्रियों के केन्द्र-बिन्दु पृष्ठ-मस्तिष्क में होते हैं । सूत्रकार का तात्पर्य यह होना चाहिए कि इन्द्रियों का प्रज्ञान उनके केन्द्र-बिन्दुओं के क्षीण होने पर क्षीण होता है । उस स्थिति में असमय में भी मृत्यु घटित हो जाती है । श्रोत्र आदि इन्द्रियों में लाखों स्नायु होते हैं । उनके अभिघात से तत्काल मृत्यु हो सकती है ।

**५. अभिवक्तं च खलु वयं संपेहाए ।**

सं०—अभिवक्तं च खलु वयः संप्रेक्ष्य ।

अवस्था जरा की ओर जा रही है—यह देखकर पुरुष चिन्ताग्रस्त हो जाता है ।

१. अस्मिन् विषये—'लेबोरेटरी आफ रिपनीमेटोलोजी' संस्थाना-ध्यक्षस्य डा० ब्लादिमीरनेगोवस्कीमहोदयस्य सिद्धान्तः द्रष्टव्यः । (धर्मयुग, १३ दिसम्बर, १९८१ पृष्ठ १५) मनमोहनसरलमहोदयस्य लेखः ।

२. प्रस्तुतसूत्रेण तुलनीयम्—डा० कार्लसन का कथन है कि यद्यपि गणित से मानव की आयु एक सौ पचास वर्ष आती है, तथापि चिकित्सा विशेषज्ञों को मोटे तौर पर सौ वर्ष की आयु तो स्वीकार कर ही लेनी चाहिए ।

मानव जीवन के इस काल में उसकी विभिन्न शक्तियां की एक क्रम से क्षीण होती हैं । सबसे पहला लक्षण आंख पर प्रकट होता है । आंख के लेंस के लचीलेपन की कमी दसवें वर्ष में ही प्रारंभ हो जाती है और साठ वर्ष की आयु तक पहुंचते-पहुंचते वह समाप्त हो जाती है । आंख की शक्ति के क्षय के दूसरे लक्षण हैं—दृष्टि के प्रसार में कमी, किसी चीज का साफ साफ नजर न आना तथा हल्के प्रकाश में बिखलायी न पड़ना । ये लक्षण चालीस वर्ष की उम्र में प्रारंभ होते हैं । इसी प्रकार मानव की दूसरी शक्तियां भी कम होती हैं । स्वाद की तेजी पचास

वर्ष की उम्र से घटने लगती है और घ्राण-शक्ति साठ वर्ष की उम्र से । श्रवण-शक्ति का क्षय तो बीस वर्ष की उम्र से ही प्रारंभ हो जाता है ।

बीस वर्ष की उम्र से ही पेट के पाचक रस कम होने लगते हैं और साठ वर्ष की उम्र तक पहुंचते-पहुंचते उनका उत्पादन आधा हो जाता है । पचास वर्ष की उम्र में 'पेपसिन' और 'ट्रिपसिन' का उत्पादन बहुत ही घट जाता है । ये चीजें पाचन-शक्ति को ठीक रखने के लिए अत्यावश्यक हैं । वस्तुतः इन्हीं की कमी से हाजमें की तकलीफें उम्र के साथ बढ़ती हैं ।

मानव मस्तिष्क की ग्रहणशक्ति बाईस वर्ष की उम्र में सबसे अधिक होती है और उसके बाद वह घटती है, पर अत्यन्त अल्प गति से । चालीस वर्ष की उम्र के बाद घटने का क्रम कुछ बढ़ जाता है । अस्ती वर्ष की उम्र तक पहुंचने पर वह फिर उतनी रह जाती है जितनी की बारह वर्ष की उम्र में थी । (ज्वानी के बिना यह देह शक्य है—रतनलाल जोशी, काबम्बनी सितंबर १९८५)

भाष्यम् ५—वयस्त्रिविधं—प्रथमं मध्यमं पश्चिमञ्च ।  
प्रथमं वयः मध्यममभिधावति, मध्यमञ्च पश्चिमम् ।  
मध्यमावस्थायामिन्द्रियाणां शक्तेर्हीनिक्रमः प्रारब्धो  
भवति<sup>२</sup> इतिसम्प्रेक्षया अपि ममत्वविसर्जनं प्रति  
दृष्टिरुत्पद्यते ।

अभिक्रान्तं वयः—तृतीयं वयः ।

६. ततो से एगया मूढभावं जणयंति ।

सं०—ततः तस्य एकदा मूढभावं जनयन्ति ।

उसके पश्चात् एकदा—जीवन के उत्तरार्द्ध में इन्द्रियां मूढता उत्पन्न कर देती हैं ।

भाष्यम् ६—ततः एकदा—मध्यमावस्थायाः प्रवर्धमाने  
चरणे पश्चिमावस्थायां वा मनुष्यस्य इन्द्रियाणि मूढभावं  
जनयन्ति, यथा—मनुष्यो न शृणोति उच्चैर्वा शृणोति ।  
एवं शेषेन्द्रियविषयेऽपि वक्तव्यता । अस्य वैकल्पिकोऽर्थः—  
यथा यथा इन्द्रियाणि हीयमानानि भवन्ति, तथा तथा  
पुरुषः तद्विषयेषु आसक्तो भवति । एवं वृद्धत्वे प्रायो  
जनानां स्वभावः मूर्च्छामाप्नोति ।

अवस्था तीन प्रकार की होती है—प्रथम, मध्यम और पश्चिम—  
अन्तिम । प्रथम अवस्था मध्यम अवस्था की ओर दौड़ती है और मध्यम  
अवस्था अन्तिम अवस्था की ओर । मध्यम अवस्था में इन्द्रियों की शक्ति  
क्षीण होने लगती है । इस तथ्य की अनुप्रेक्षा करने से भी ममत्व-  
विसर्जन की दृष्टि उत्पन्न होती है ।

अभिक्रान्त वय का अर्थ है—तीसरी अवस्था ।

उसके बाद मध्यम अवस्था के उत्तरार्द्ध में या पश्चिम अवस्था  
(अन्तिम अवस्था) में मनुष्य की इन्द्रियां मूढभाव को पैदा करती हैं,  
जैसे—मनुष्य सुनता नहीं है या ऊंचा सुनता है । इसी प्रकार शेष  
इन्द्रियों की शक्ति भी क्षीण हो जाती है । इसका वैकल्पिक अर्थ यह  
है—जैसे-जैसे इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती है, वैसे-वैसे पुरुष उन  
इन्द्रिय-विषयों के प्रति अधिक आसक्त होता जाता है । बुढ़ापे में प्रायः  
लोगों का स्वभाव मूर्च्छाग्रस्त हो जाता है, अत्यधिक आसक्त बन जाता  
है ।

७. जेहि वा सार्द्ध संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुंवि परिवयंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवएज्जा ।

सं०—यैः वा सार्द्धं संवसति ते वा एकदा निजकाः तं पूर्वं परिवदन्ति, स वा तान् निजकान् पश्चात् परिवदेत् ।

वह जिनके साथ रहता है, वे आत्मीय जन एकदा उसके तिरस्कार की पहल करते हैं । बाद में वह भी उनका तिरस्कार करने  
लग जाता है ।

भाष्यम् ६ --इदानीं अशरणानुप्रेक्षासम्बन्धीनि विचय-  
सूत्राणि । पुरुषः यैः सह ममत्वबन्धं करोति, तेष्वपि  
बहवः स्वार्थपरायणा भवन्ति । यैः सह संवासोऽस्ति,  
तेऽपि निजका जना एकदेति वृद्धावस्थायां, पूर्वमिति  
स्वार्थासिद्धौ सत्यां तं परिवदन्ति परिभवन्तीत्यर्थः ।  
अथवा पश्चादिति स्वपरिभवानन्तरं सोऽपि तान्  
निजकान् जनान् परिभवेत् । एषः पारस्परिकः परि-  
भवोऽपि ममत्वविसर्जनस्य आलम्बनसूत्रं भवति ।

प्रस्तुत प्रकरण में अशरण अनुप्रेक्षा संबंधी विचय-सूत्र कहे  
जा रहे हैं । पुरुष जिनके साथ ममत्व-बंधन करता है, उनमें भी अनेक  
व्यक्ति स्वार्थ-परायण होते हैं । वह जिनके साथ रहता है, वे निजी  
व्यक्ति भी वृद्धावस्था में अथवा अपना स्वार्थ-सिद्ध न होने पर पहले  
उसका तिरस्कार करते हैं । अथवा अपना तिरस्कार होने पर, बाद में  
वह भी उन आत्मीय लोगों का तिरस्कार करता है । यह पारस्परिक  
तिरस्कार भी ममत्व-विसर्जन का आलम्बन-सूत्र बनता है ।

८. नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा । तुभं पि तेसि नालं ताणाए वा, सरणाए वा ।

१. द्रष्टव्यम्—आयारो ८।१५ भाष्यं टिप्पणं च ।  
२. सामान्यतः मनुष्य की आयु सौ वर्ष की होती है । वह  
दस दशकों में विभक्त है । चौथी दशा (४० वर्ष) तक  
शरीर की आधा और बल पूर्ण विकसित रहते हैं । उसके  
बाद उनकी हानि शुरू हो जाती है । पचास वर्ष की अवस्था  
में चक्षु तथा अन्य इन्द्रियों की शक्ति भी क्षीण होने लग  
जाती है । चूणि में इसका स्पष्ट उल्लेख है—वरिससया-  
थुगस्स पुरिसस्स आयुगं तिधा करेति, ताओ पुण दस

वसाओ, एक्केवको वओ साहिया तिन्नि दसा, खणे खणे  
वड्डमाणस्स छायाबलपमाणातिविसेसा भवंति जाव चउत्थी  
दसा, तेण परं परिहाणी, भणियं च -

‘पंचासगस्स चक्खुं, हायती मज्झिमं वयं ।

अभिवक्तं सपेहाए, ततो से एति मूढतं ॥’

तओ पढमवयाओ अतोतो मज्झिमस्स एगदेसे पंचमीदसाए  
वट्टमाणस्स इंदियाणि परिहार्यंति ।

(आचारांग चूणि, पृष्ठ ५९)



सं०—नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा । त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा, शरणाय वा ।

हे पुरुष ! वे स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं । तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो ।

भाष्यम् ८—केचिज्जना वृद्धमपि पुरुषं न परिवदन्ति, तथापि ते जरारोगादिकष्टेषु मृत्योर्वा तं संरक्षितुं न क्षमन्ते इत्यालम्बनं प्रस्तुते' सूत्रकारः—'नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा । त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा ।'

कुछ लोग बूढ़े व्यक्ति का भी तिरस्कार नहीं करते, फिर भी वे बुढ़ापा, रोग आदि कष्टों से या मृत्यु से उसकी रक्षा करने में असमर्थ होते हैं । सूत्रकार इस आलम्बन को प्रस्तुत कर रहे हैं—वे स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं । तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो ।

६. से ण हस्साए, ण किड्डाए, ण रतीए, ण विभूसाए ।

सं०—स न हास्याय, न क्रीडायै, न रत्यै, न विभूषायै ।

वह वृद्ध मनुष्य न हास्य-विनोद के योग्य, न क्रीड़ा के योग्य, न रति-सेवन के योग्य और न शृंगार के योग्य रहता है ।

भाष्यम् ९—वाढ्ढक्यदशाया अनुचिन्तनमपि ममत्व-विच्छेदस्य आलम्बनं भवति—वृद्धः पुरुषः न हसितुं शक्नोति, न लङ्घनप्लवनधावनादिक्रीडां कर्तुं शक्नोति, न विषयस्तेरपि योग्यो भवति, न च विभूषा-करणमपि तस्य उचितं भवति ।

बुढ़ापे की स्थिति का अनुचितन भी ममत्व-विच्छेद का आलम्बन बनता है—वृद्ध पुरुष न हंस सकता है, न कूदफांद, तैराकी और दौड़ आदि क्रीडाएं कर सकता है, न वह विषय का आस्वाद लेने के योग्य रहता है और न ही उसके लिए विभूषा करना उचित होता है ।

१०. इत्थेवं समुट्ठिए अहोविहाराए ।

सं०—इत्येवं समुत्थितः अहोविहाराय ।

इस प्रकार बुढ़ावस्था में होने वाली दशा को जानकर पुरुष अहोविहार—संयम के लिए समुद्यत होता है ।

भाष्यम् १०—साधारणमनुष्यस्य सहजाया मनोवृत्तेः निरूपणं आद्यसूत्रत्रये कृतम् । तदनन्तरं निरूपितानि विचयसूत्राणि । तेषामालम्बनेन संजाते मनोवृत्तेः परिवर्तने कश्चित् पुरुषः अहोविहाराय समुत्थितो भवति ।

इस अध्ययन के प्रथम तीन सूत्रों में जनसाधारण की सहज मनोवृत्ति का निरूपण किया गया है । उसके बाद विचय-सूत्र निरूपित हुए हैं । उनके आलम्बन से मनोवृत्ति का परिवर्तन होने पर कोई पुरुष अहोविहार के लिए समुद्यत होता है ।

अहोविहारः—विहारः यात्रा । विषयपरिग्रहादि-बन्धनबद्धानां जीवनयात्रा सर्वप्रतीतास्ति, किन्तु विषय-परिग्रहादेः बन्धनं छिद्वा ये जीवनयात्रायां प्रस्थिता भवन्ति तेषां विहारः साधारणजनानामाश्चर्यकारी । अत एव संयमः 'अहोविहारः' इतिपदेन सम्बोधितः ।

अहोविहार—विहार का अर्थ है—यात्रा । विषय, परिग्रह आदि के बंधनों से बंधे हुए प्राणियों की जीवन-यात्रा सर्व प्रतीत है । किन्तु जो व्यक्ति विषय, परिग्रह आदि के बंधन को तोड़कर जीवन-यात्रा में प्रस्थान करते हैं, उनकी यात्रा साधारण लोगों के लिए आश्चर्यकारी होती है । इसीलिए संयम को 'अहोविहार' पद से संबोधित किया गया है ।

११. अंतरं च खलु इमं संपेहाए—धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए ।

सं०—अन्तरं च खलु इदं संप्रेक्ष्य—धीरः मुहूर्तमपि नो प्रमाद्येत् ।

इस अन्तरात्मा की संप्रेक्षा कर धीर पुरुष मुहूर्तभर भी प्रमाद न करे ।

भाष्यम् ११—अन्तरमिति अन्तरात्मा । इमं अन्तरा-

अन्तर का अर्थ है—अन्तरात्मा । इस अन्तरात्मा की संप्रेक्षा

१. क्रियापदमिदम् ।

२. चूणो (पृष्ठ ५४) 'अन्तर' शब्दस्य द्वावथौ दृश्येते—

१. विरहः, २. छिन्नम् ।

वृत्तौ (पत्र ९७) अस्मार्थः कृतोऽस्ति—अवसरः ।

किन्तु अत्र अन्तरशब्दस्य 'अन्तरात्मा' इत्यर्थः अधिकं प्रसजति । आष्टेकृत 'संस्कृत-इंग्लिस-शब्दकोशे' अन्तर-शब्दस्य एतद्विषयका अनेकेऽर्था उपलभ्यन्ते—

स्मानं सम्प्रेक्ष्य धीरः मुहूर्त्तमपि न प्रमाद्येत्—गुणे मूल-स्थाने च न प्रवर्तेत । अन्तरात्मनः संप्रेक्षा मनुष्यजीवने एव इतिचिन्तनं अप्रमादस्यालम्बनं भवति ।

कर धीर पुरुष मुहूर्त्त भर भी प्रमाद न करे अर्थात् गुण (विषय) और मूलस्थान (लोभ) में प्रवृत्ति न करे । 'अन्तरात्मा की संप्रेक्षा मनुष्य जीवन में ही हो सकती है', यह चिन्तन अप्रमाद का आलम्बन बनता है ।

### १२. वयो अचचेद् जोष्यं व ।

सं०—वयः अत्येति यौवनं वा ।

अवस्था और यौवन बीत रहे हैं ।

भाष्यम् १२—वयो यौवनञ्च अत्येति—मृत्युं जरां चाभिधावति । प्राणी प्रतिक्षणं अवीचिभरणेन म्रिय-माणोस्ति । यौवनमपि प्रतिक्षणं हीयमानं विद्यते । सति आयुषि यौवने च धर्मारधना संभवति । जराजीर्णं शरीरं न तां कर्तुमर्हति । अप्रमादस्यालम्बनमिदम् ।

अवस्था और यौवन बीत रहे हैं—मृत्यु और बुढ़ापे की तरफ दौड़ रहे हैं । प्राणी प्रतिक्षण अवीचिभरण के द्वारा मर रहा है । यौवन की भी प्रतिक्षण हानि हो रही है । आयुष्य और यौवन होने पर ही धर्म की आराधना हो सकती है । बुढ़ापे से जीर्ण-शीर्ण शरीर धर्मा-राधना करने में समर्थ नहीं होता । यह अप्रमाद का आलम्बन-सूत्र है ।

### १३. जीविए इह जे प्रमत्ता ।

सं०—जीविते इह ये प्रमत्ताः ।

जो इस जीवन में प्रमत्त हैं ।

भाष्यम् १३—इह जीविते ये प्रमत्ता भवन्ति—गुणे मूलस्थाने च प्रवर्तन्ते, त एव हिंसामाचरन्तीति संबधनाति सूत्रमिदं अग्रिमसूत्रेण ।

इस जीवन में जो प्रमत्त होते हैं अर्थात् गुण और मूलस्थान में प्रवृत्ति करते हैं, वे ही हिंसा का आचरण करते हैं—इस प्रकार यह सूत्र अग्रिम सूत्र से संबद्ध होता है ।

### १४. से हन्ता छेत्ता भेत्ता लुपित्ता विलुपित्ता उद्द्रोता उत्त्रासइत्ता ।

सं०—स हन्ता छेत्ता भेत्ता लुपित्ता विलुपित्ता उद्द्रोता उत्त्रासयिता ।

वह हनन, छेदन, भेदन, प्रहार, ग्रामघात, प्राणवध और उत्त्रास करने वाला होता है ।

भाष्यम् १४—स इति गुणे मूलस्थाने च प्रवृत्तः पुरुषः हन्ता छेत्ता भेत्ता लुपित्ता विलुपित्ता उद्द्रोता उत्त्रास-यिता भवति ।

गुण और मूलस्थान में प्रवृत्त वह पुरुष हनन, छेदन, भेदन, प्रहार, ग्रामघात, प्राणवध और उत्त्रास करने वाला होता है ।

लुपित्ता—प्रहर्ता ।

लुपित्ता का अर्थ है—प्रहार करने वाला ।

विलुपित्ता—ग्रामादिघातकः ।<sup>१</sup>

विलुपित्ता का अर्थ है—ग्रामघात करने वाला ।

उद्द्रोता—प्राणवधकः ।

उद्द्रोता का अर्थ है—प्राणवध करने वाला ।

### १५. अकडं करिष्यामिति मण्यमाणे ।

सं०—अकृतं करिष्यामीति मन्वमानः ।

मैं वह करूंगा, जो आज तक किसी ने नहीं किया—यह मानते हुए—

भाष्यम् १५—प्रस्तुतसूत्रे अर्थार्जनस्य मानसिको हेतुरुपदर्शितः—अकृतं करिष्यामीति मन्वमानः पुरुषः

प्रस्तुत सूत्र में अर्थार्जन का मानसिक हेतु प्रदर्शित किया गया है । मैं वह करूंगा जो आज तक किसी ने नहीं किया—ऐसा मानकर

'अन्तरं—Soul, heart, mind, the inmost or secret nature, the Supreme Soul'

'सन्धि' शब्दस्यापि एव एव अर्थः विभाव्यते (आधारो ३।५१) ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ५४ : लुपित्ता कसाविहि मारणे पहारे य, लुपणासहो पहारे वद्वृत्ति । विलोपो नामाति-घातो ।

महते अर्थार्जनाय प्रवर्तते । मनोवैज्ञानिकभाषायां एषा अहं-सम्बद्धाभिप्रेरणा वर्तते ।<sup>१</sup>

व्यक्ति विपुल अर्थार्जन के लिए प्रवृत्त होता है । मनोविज्ञान की भाषा में यह 'अहं'-सम्बद्ध अभिप्रेरणा है ।

१६. जेहि वा सद्धि संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुढ्वि पोसेति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसेज्जा ।

सं०—यैः वा सद्धिं संवसति ते वा एकदा निजकाः तं पूर्वं पोषयन्ति, स वा तान् निजकान् पश्चात् पोषयेत् ।

वह जिनके साथ रहता है, वे आत्मीयजन एकदा (शैशव या अर्थाभाव में) उसके पोषण की पहल करते हैं । बाद में वह भी उनका पोषण करता है ।

१७. नालं ते तव त्राणाए वा, सरणाए वा । तुमपि तेसि नालं त्राणाए वा, सरणाए वा ।

सं०—नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा । त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा, शरणाय वा ।

ऐसा होने पर भी हे पुरुष ! वे तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं । तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो ।

भाष्यम् १६-१७ —अशरणानुप्रेक्षाया आलम्बनभूतं सूत्र-द्वयं पूर्ववद् द्रष्टव्यम् (७,८) । केवलं अयं विशेषः -- पूर्वमिति शैशवे विपन्नावस्थायां वा ते निजकाः तं पोषयन्ति, पश्चादिति अर्थप्राप्तौ सत्यां स निजकान् पोषयेत् ।

अशरण अनुप्रेक्षा के आलम्बनभूत दोनों सूत्र पूर्ववत् ७,८ की भांति द्रष्टव्य हैं । केवल इतना अन्तर है कि पूर्व अर्थात् शैशव या विपन्न अवस्था में वे आत्मीयजन उसका पोषण करते हैं । पश्चात् अर्थात् अर्थ की प्राप्ति होने पर वह आत्मीयजनों का पोषण करता है ।

१८. उवाइय-सेसेण वा सन्निहि-सन्निचओ कज्जइ, इहमेगेसि असंजयाणं भोयणाए ।

सं०—उपादितशेषेण वा सन्निधि-सन्निचयः क्रियते, इहैकेषां असंयतानां भोजनाय ।

मनुष्य उपभोग के बाद बचे हुए धन से कुछ असंयत व्यक्तियों (पुत्र आदि) के भोजन के लिए सन्निधि और सन्निचय करता है ।

भाष्यम् १८—ममत्वग्रन्थिवद्धः पुरुषः अर्थमर्जयति, स्वयमुपभुङ्क्ते । उपभुक्तशेषेण सन्निधि-सन्निचयं करोति एकेषामसंयतानां भोजनाय । अत्र असंयतशब्देन पुत्रादयः सन्ति विवक्षिताः ।<sup>२</sup>

ममत्व की ग्रंथि से बंधा हुआ पुरुष अर्थ का अर्जन करता है और स्वयं उस अर्थ का उपभोग करता है । उपभोग के बाद बचे हुए धन से कुछ असंयत व्यक्तियों के भोजन के लिए सन्निधि और सन्निचय करता है । यहाँ असंयत शब्द से पुत्र आदि विवक्षित हैं ।

सन्निधिः --ओदनादीनां शीघ्रविनाशिद्रव्याणां संग्रहः ।

सन्निधि का अर्थ है—ओदन (पके हुए चावल) आदि शीघ्र विनशी पदार्थों का संग्रह ।

सन्निचयः—धान्यघृतादीनां किञ्चित्कालस्थायि-द्रव्याणां संग्रहः ।

सन्निचय का अर्थ है—अनाज, घृत आदि कुछ समय तक रखी जा सकने वाली वस्तुओं का संग्रह ।

१९. तओ से एगया रोग-समुप्पाया समुप्पज्जंति ।

सं०—ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते ।

उसके पश्चात् अर्थ-संचय होने पर भी कदाचित् मनुष्य के शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

भाष्यम् १९—केचित्पुरुषा अर्थमुपार्जयन्ति किन्तु न तस्योपभोगं कर्तुं समर्था भवन्ति । तस्य कारणमस्ति रोगाणां समुत्पादः । एतदेव सत्यमस्मिन् सूत्रे प्रतिपादितमस्ति ।

कुछ पुरुष अर्थ का उपार्जन करते हैं किन्तु उसका उपभोग करने में समर्थ नहीं होते । उसका कारण है—रोगों की उत्पत्ति । यही सत्य इस सूत्र में प्रतिपादित है ।

१. Self-actualization Motives (maslow, Motivation and Personality, Harper, New York, 1954)

२. द्रष्टव्यम्—आचार्यो २।१०४, १०५ ।

२०. जेहि वा सार्द्धं संवसति ते वा णं एगया णियगा तं पुंवि परिहरन्ति, सो वा ते णियगे पच्छा परिहरेज्जा ।

सं०—यैः वा सार्द्धं संवसति ते वा एकदा निजकाः तं पूर्वं परिहरन्ति, स वा तान् निजकान् पश्चात् परिहरेत् ।

वह जिनके साथ रहता है, वे आत्मीय जन एकदा उसको छोड़ने की पहल करते हैं । बाद में वह भी उन्हें छोड़ देता है ।

भाष्यम् २०—रोगावस्थायां यैः सार्द्धं संवसति ते स्वजना अपि तं पूर्वं परिहरन्ति अथवा सेवाद्यभावे ग्लानिपरिगतः स तान् परिहरति ।

रोग की अवस्था में जिनके साथ वह रहता है, वे स्वजन भी उसको छोड़ने की पहल करते हैं अथवा सेवा आदि के अभाव में ग्लानि को प्राप्त होकर वह उनको छोड़ देता है ।

२१. नालं ते तव त्राणाए वा, सरणाए वा । तुमपि तेषां नालं त्राणाए वा, सरणाए वा ।

सं०—नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा । त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा, शरणाय वा ।

हे पुरुष ! वे तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं । तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो ।

भाष्यम् २१—केचित् स्वजनाः स्नेहवशाद् रोगाभि- भूतमपि जनं न परित्यजन्ति, तथापि ते तं रोगमुक्तं कर्तुं न प्रभवन्ति इत्यालम्बनसूत्रम्—

नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा ।  
त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा ।

कुछ स्वजन रोग से अभिभूत व्यक्ति को भी स्नेहवश नहीं छोड़ते, फिर भी वे उसको रोग-मुक्त नहीं कर सकते ।

इसका आलम्बनसूत्र है—

वे तुम्हारे त्राण या शरण के लिए समर्थ नहीं हैं ।  
तुम भी उनके त्राण या शरण के लिए समर्थ नहीं हो ।

२२. जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ।

सं०—जात्वा दुःखं प्रत्येकं सातम् ।

दुःख और सुख व्यक्ति का अपना-अपना होता है, यह जानकर—

भाष्यम् २२—दुःखं सुखञ्च, प्रत्येकं भवति । न च कश्चित् कस्यचित् सुखं दुःखं वा आदातुं समर्थो भवति—इति ज्ञात्वा आत्मनः अत्राणतां वा अशरणतां वा अनुभव ।

दुःख और सुख अपना-अपना होता है । कोई भी किसी के सुख या दुःख को बंटाने में समर्थ नहीं होता—यह जानकर तू अपनी अत्राणता या अशरणता का अनुभव कर ।

२३. अणभिक्रान्तं च खलु वयं संपेहाए ।

सं०—अनभिक्रान्तं च खलु वयः संप्रेक्ष्य ।

अवस्था अतिक्रान्त नहीं हुई है, यह देखकर—

भाष्यम् २३—विषयाः लोभमुद्दीपयन्ति, लोभश्च मनुष्यं अर्थाजनें प्रति प्रेरयति पारिवारिकममत्वं प्रति च । अजितेऽपि अर्थे प्रवृद्धेऽपि च ममत्वे नास्ति त्राणं वा शरणं वा । तेन 'अहोविहाराय' समुत्थानं कार्यम् ।<sup>१</sup> तत्र अनभिक्रान्तं वयो हेतुरिति संप्रेक्षा कार्या ।<sup>२</sup> त्रिष्वपि वयस्सु प्रव्रज्याग्रहणमस्ति सम्मतम् ।<sup>३</sup> तथापि अनभिक्रान्ते वयसि—प्रथमे द्वितीये वा वयसि प्रव्रज्याग्रहणं सुकरं, इति निर्दिष्टमिहसूत्रे ।

इन्द्रिय-विषय लोभ को उद्दीप्त करते हैं तथा लोभ मनुष्य को अर्थाजनें और पारिवारिक ममत्व की ओर प्रेरित करता है । अर्थ का अर्जन और ममत्व की प्रगाढ़ता होने पर भी कोई त्राण या शरण नहीं होता । इसलिए व्यक्ति को 'अहोविहार'—संयम के लिए समुच्चत होना चाहिए । उसे सोचना चाहिए कि संयम-ग्रहण के लिए अभी अवस्था—यौवन और शक्ति अतिक्रान्त नहीं हुई है । यद्यपि तीनों अवस्थाओं में प्रव्रज्या का ग्रहण सम्मत है फिर भी अनभिक्रान्त अर्थात् प्रथम या द्वितीय अवस्था में प्रव्रज्या का ग्रहण सुकर होता है, यह निर्देश इस सूत्र में दिया गया है ।

अस्यामवस्थायां परिवाद-पोषण-परिहार-सम्बद्धाः

इस अवस्था में तिरस्कार, परिवार का पोषण तथा उसे छोड़ने

१. द्रष्टव्यम्—२।१० भाष्यम् ।

२. द्रष्टव्यम्—२।५ भाष्यम् ।

३. आचारो, ८।१५ : जामा तिण्णि उवाहिया, जेसु इमे आरिया संबुज्जमाणा समुट्ठिया ।-

समस्या: नायान्ति ।<sup>१</sup> तेन अनभिक्रान्तवयसो वैशिष्ट्य-  
मस्ति ।

सम्बन्धी समस्याएं नहीं आतीं, इसलिए अभिक्रान्त वय की अपेक्षा अन-  
भिक्रान्त वय की विशिष्टता है ।

### २४. क्षणं जानाहि पंडित !

सं०—क्षणं जानीहि पंडित !

हे पंडित ! तू क्षण को जान ।

भाष्यम् २४—हे पण्डित ! क्षणं जानीहि । अनभि-  
क्रान्तं वयः अहोविहारस्य क्षणो भवति । इन्द्रिय-  
क्षमता अपि क्षणः अस्ति । क्षेत्रकालनक्षत्राद्यनुकूलता  
कर्मक्षयोपशमोऽपि च क्षणोऽस्ति । त्वं समग्रदृष्ट्या  
क्षणस्य पर्यालोचनं कुरु ।

हे पण्डित ! तू 'क्षण' को जान । अनभिक्रान्त अवस्था (प्रथम  
और द्वितीय अवस्था) अहोविहार का 'क्षण' होती है । इन्द्रियक्षमता  
भी 'क्षण' है । क्षेत्र, काल, नक्षत्र आदि की अनुकूलता और कर्म का  
क्षयोपशम भी 'क्षण' है । तू समग्रदृष्टि से 'क्षण' का पर्यालोचन कर ।

### २५. जाव सोय-पण्णाणा अपरिहीणा, जाव जेत्त-पण्णाणा अपरिहीणा, जाव घाण-पण्णाणा अपरिहीणा, जाव जीह- पण्णाणा अपरिहीणा, जाव फास-पण्णाणा अपरिहीणा ।

सं०—यावत् श्रोत्रप्रज्ञानानि अपरिहीनानि, यावत् नेत्रप्रज्ञानानि अपरिहीनानि, यावत् घ्राणप्रज्ञानानि अपरिहीनानि, यावत्  
जिह्वाप्रज्ञानानि अपरिहीनानि, यावत् स्पर्शप्रज्ञानानि अपरिहीनानि ।

जब तक श्रोत्र का प्रज्ञान पूर्ण है, जब तक नेत्र का प्रज्ञान पूर्ण है, जब तक घ्राण का प्रज्ञान पूर्ण है, जब तक जिह्वा का प्रज्ञान पूर्ण  
है, जब तक स्पर्श का प्रज्ञान पूर्ण है—

### २६. इच्छेतेहि विरुवरुर्वेहि पण्णाणेहि अपरिहीणेहि आयट्ठं सम्मं समणुवासिज्जासि ।—त्ति वेमि ।

सं०—इत्येतैः विरुपरूपैः प्रज्ञानैः अपरिहीनैः आत्मार्थं सम्यक् समणुवासयेः ।—इति ब्रवीमि ।

इन नानारूप प्रज्ञानों के पूर्ण रहते हुए आत्महित का तू सम्यक् अनुशीलन कर ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् २५-२६—क्षणमेव विशिनष्टि सूत्रकारः—  
यावत् श्रोत्र-नेत्र-घ्राण-जिह्वा-स्पर्श-प्रज्ञानानि अपरिही-  
नानि तावदात्मार्थं सम्यक् समणुवासयेः—अहोविहारेण  
आत्मानं भावयेः ।

सूत्रकार क्षण की ही विशेषता बतला रहे हैं—जब तक श्रोत्र,  
नेत्र, घ्राण, जिह्वा और स्पर्शन—इन पांचों इंद्रियों की ज्ञानशक्ति  
क्षीण नहीं हुई है, तब तक आत्मा को सम्यक् अनुवासित कर अर्थात्  
अहोविहार—संयम से अपने आपको भावित कर ।

## बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

### २७. अरइं आउट्टे से मेघावी ।

सं०—अरतिमावर्त्तत स मेघावी ।

जो अरति का निवर्तन करता है, वह मेघावी होता है ।

भाष्यम् २७—रतिः अरतिश्च सापेक्षौ शब्दौ । य  
अहोविहारं प्रतिपद्यापि तत्र न रमते स मेघावी न हि

रति और अरति—ये दोनों सापेक्ष शब्द हैं । जो अहोविहार—  
संयम को स्वीकार करने के बाद भी उसमें रमण नहीं करता वह

१. द्रष्टव्यम्—क्रमशः २।७, १६, २० भाष्यम् ।

भवति । अत एव उपदिशति सूत्रकारः—य अरतिं मेधावी नहीं होता । इसीलिए सूत्रकार कहते हैं—जो अरति का आवर्तते—निवर्तते, स मेधावी भवति ।<sup>१</sup>

मेधावी नहीं होता । इसीलिए सूत्रकार कहते हैं—जो अरति का निवर्तन करता है, वह मेधावी होता है ।

### २८. खणंसि मुक्के ।

सं०—क्षणे मुक्तः ।

वह क्षणभर में मुक्त हो जाता है ।

भाष्यम् २८—अरतिनिवर्तनस्य फलमिदम्—अहो-विहारे रममाणः सर्वकामेभ्यः बन्धनेभ्यश्च क्षणमात्रेण भरतवन् मुक्तो भवति ।

अरति के निवर्तन का यह फल है—अहोविहार में रमण करने वाला साधक भरत चक्रवर्ती की तरह क्षणमात्र में सभी कामनाओं और बंधनों से मुक्त हो जाता है ।

### २९. अणाणाए पुट्टा वि एगे णिघट्टंति ।

सं०—अनाज्ञायां स्पृष्टाः अपि एके निवर्तन्ते ।

अनाज्ञा में वर्तमान कुछ साधु कामना से स्पृष्ट होकर वापस घर में भी चले जाते हैं ।

भाष्यम् २९—आत्मभावः आत्मज्ञानं वा आज्ञा, अर्हतां उपदेशो वा । अनात्मभावः अनाज्ञा ।<sup>२</sup> तस्यां वर्तमानाः स्वच्छन्दविहारिणः एके कामनादिस्पृष्टाः निवर्तन्ते—पुनरपि गृहवासिनो भवन्ति ।

आज्ञा का अर्थ है आत्मभाव, आत्मज्ञान या अर्हता का उपदेश । अनाज्ञा अर्थात् अनात्मभाव । अनात्मभाव में रमण करने वाले स्वच्छन्द-विहारी कुछेक मुनि कामनाओं के बशवर्ती होकर पुनः गृहवासी बन जाते हैं ।

### ३०. मन्दा मोहेण पाउडा ।

सं०—मन्दाः मोहेन प्रावृताः ।

मन्दमति मनुष्य मोह से अतिशय रूप में आवृत होते हैं ।

भाष्यम् ३०—पुनर्गृहगमनस्य कारणद्वयं निर्दिष्टम्—मन्दत्वं मोहप्रावरणञ्च । ये मन्दा भवन्ति, मोहेन-प्रावृता भवन्ति, ते अहोविहारं प्रतिपद्यापि पुनस्ततो निवर्तन्ते । बुद्धेः मन्दतायां अपायस्यावबोधो न जायते । तेन मूर्च्छा द्विगुणा भवति । सत्यपि मोहे यदि चिन्तनं प्रमुणं स्यात् तदा मोहोपशान्तिरपि सुकरा भवति ।

प्रस्तुत सूत्र में प्रव्रज्या को छोड़कर पुनः गृहवास में जाने के दो कारण निर्दिष्ट हैं—मति की मंदता और मोह का सघन आवरण । जो मंद होते हैं और मोह से सघनरूप में आवृत होते हैं वे अहोविहार (संयम) को स्वीकार करके भी उसे छोड़ देते हैं । बुद्धि की मंदता में अपाय (दोष) का अवबोध नहीं होता । उससे मूर्च्छा दुगुनी हो जाती है । मोह के होने पर भी यदि चित्त उचित हो तो मोह की उपशान्ति सहजता से की जा सकती है ।

### ३१. अपरिग्रहा भविस्तामो समुद्राए, लद्धे कामेहिगाहंति ।

सं०—अपरिग्रहाः भविष्यामः समुत्थाय, लब्धान् कामान् अभिगाहन्ते ।

कुछ पुरुष हम अपरिग्रही होंगे—इस संकल्प से प्रव्रजित हो जाते हैं, फिर प्राप्त कामों में निमग्न हो जाते हैं ।

१. संयम में रति और असंयम में अरति करने से चैतन्य और आनन्द का विकास होता है । संयम में अरति और असंयम में रति करने से उसका ह्रास होता है, इसलिए साधक को यह निर्देश दिया है कि वह संयम में होने वाली अरति का निवर्तन करे ।

२. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ ५८ : अणाणा जहा अभि-

लसिता अहितपबिन्ती ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १०२ : आज्ञा—हिताहितप्राप्ति-परिहाररूपतया सर्वज्ञोपदेशः, तद् विपर्ययः अनाज्ञा ।

(ग) भाष्ये, आज्ञा—to know, understand, perceive etc.

भाष्यम् ३१—अहोविहाराय समुत्थानं 'अपरिग्रहा भविष्यामः' इति संकल्पपूर्वकं भवति । किन्तु ये अपरिग्रहस्य सिद्धिं न कुर्वन्ति ते लब्धान् कामान् अभिगाहन्ति—तत्र निमज्जन्ति, न च तेषां तीरे गन्तुं प्रयत्ना भवन्ति । प्रस्तुतसूत्रे परिग्रहकामयोरेकसूत्रता प्रदर्शिता ।

'हम अपरिग्रही होंगे'—इस संकल्प के साथ व्यक्ति अहोविहार—प्रब्रज्या के लिए तत्पर होते हैं, किंतु जो अपरिग्रह व्रत की सिद्धि नहीं करते, उसके रहस्य को आत्मसात् नहीं करते, वे प्राप्त कामों में निमग्न हो जाते हैं । वे कामनाओं का पार पाने के लिए प्रयत्न नहीं करते । प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह और कामनाओं की एकसूत्रता—पारस्परिकता दिखाई गई है ।

### ३२. अनाज्ञाणं मुनिषो पडिलेहंति ।

सं०—अनाज्ञायां मुनयः प्रतिलिखन्ति ।

अनाज्ञा में वर्तमान मुनि विषयों की ओर देखते हैं ।

भाष्यम् ३२—ये मुनयः अनाज्ञायां वर्तन्ते—नात्मनि रमन्ते, न च अहंतामुपदेशमनुसरन्ति, ते प्रतिलिखन्ति—कामभोगे चित्तं निवेशयन्ति ।<sup>१</sup>

जो मुनि अनाज्ञा में वर्तन करते हैं, आत्म-रमण नहीं करते और न अहंताओं के उपदेश का अनुसरण करते हैं, वे प्रतिलेखन करते हैं—कामभोगों में चित्त को स्थापित करते हैं ।

### ३३. एत्थ मोहे पुणो पुणो सण्णा ।

सं०—अत्र मोहे पुनः पुनः सन्नाः ।

उन्हें विषयों के प्रति मोह हो जाता है और वे पुनः पुनः उनके दलदल में निमग्न रहते हैं ।

भाष्यम् ३३—येषां चित्तं कामभोगे निविष्टं भवति, ये पुनः पुनः विषयान् स्मरन्ति, तेषां मोहः—विषयाभिष्वङ्गः संजायते । मोहमूढास्ते तत्र सन्नाः—निमग्ना भवन्ति ।<sup>२</sup>

जिनका चित्त कामभोगों में निविष्ट हो जाता है और जो बार-बार विषयों का स्मरण करते हैं, उनमें विषयों के प्रति आसक्ति हो जाती है । वे मोह से मूढ होकर उन विषयों में डूब जाते हैं ।

### ३४. णो हव्वाए णो पाराए ।

सं०—नो अवचि नो पाराय ।

वे न इस तीर पर आ सकते हैं और न उस पार जा सकते हैं ।

भाष्यम् ३४—हव्वं—गार्हस्थ्यम्, पारं—संयम इति चूर्णिकारः ।<sup>३</sup> तेषां मोहपङ्के निमग्नानां न गार्हस्थ्यं भवति न चानगारत्वम् । ते पंकावसन्नहस्तिवत् नारमागन्तुमर्हन्ति न च पारम् ।

चूर्णिकार ने 'हव्व' का अर्थ—गार्हस्थ्य और 'पार' का अर्थ—संयम किया है । मोह के दलदल में फंसे हुए उन मनुष्यों में न तो गृहस्थता होती है और न अनगारता । वे दलदल में फंसे हुए हाथी की भांति न इस तीर पर आ सकते हैं और न उस पार जा सकते हैं ।

### ३५. विमुक्का हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो ।

सं०—विमुक्ताः खलु ते जनाः, ये जनाः पारगामिनः ।

वे लोग विमुक्त होते हैं, जो लोग पारगामी होते हैं ।

भाष्यम् ३५—ये जनाः पारगामिनः सन्ति ते कामभोगेभ्यो विमुक्ताः—सर्वतः अप्रमत्ताः भवन्ति ।

जो लोग पारगामी होते हैं वे कामभोगों से विमुक्त अर्थात् सर्वथा अप्रमत्त होते हैं ।

१. आटे, लिखू—to touch.

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ५८ : पडिलेहणा कामभोगविहृ-चित्तं ।

३. तुलना—ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

(गीता २।६२)

४. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ५९ ।

क्रियमाणं कृतमिति सिद्धान्तयुक्त्या समये समये विमुच्यमानाः विमुक्ता इति निर्दिश्यन्ते ।

पारम्—संयमः । तस्याराधनपराः पारगामिनः ।

‘क्रियमाणं कृतं’ इस सिद्धांत की युक्ति से वे साधक प्रतिक्षण विमुच्यमान होने के कारण विमुक्त कहलाते हैं ।

पार का अर्थ है—संयम । उसकी आराधना में संलग्न व्यक्ति पारगामी कहलाते हैं ।

३६. लोभं अलोभेण दुर्गच्छमाणे, लब्धे कामे नाभिगाहइ ।

सं०—लोभं अलोभेन जुगुप्समानः लब्धान् कामान् नाभिगाहते ।

जो पुरुष अलोभ से लोभ को पराजित कर देता है, वह प्राप्त कामों में निमग्न नहीं होता ।

भाष्यम् ३६—लब्धान् कामान् नाभिगाहते इति पूर्व (सू० ३१) उक्तम् । ‘लब्धान् कामान् नाभिगाहते’ इति कथं सम्भवेत् ? अस्य समाधानं सूत्रकारः करोति—यः पुरुषः लोभं अलोभेन प्रति कुर्वन् नस्ति स लब्धान् कामान् नाभिगाहते ।

लोभोऽपि चित्तधर्मः भावो वा । अलोभोऽपि चित्तधर्मः । यथा यथा अलोभात्मकश्चित्तधर्मः अभ्यस्तो भवति तथा तथा लोभात्मकश्चित्तधर्मो हीनो भवति । अनेन अभ्यासक्रमेण लोभः अलोभेन अभिभूयते ।

उपलब्ध कामों में निमग्न होता है—ऐसा पहले (सूत्र ३१ में) कहा गया है । ‘उपलब्ध कामों में निमग्न न हो’ यह कैसे संभव हो सकता है ? सूत्रकार इसका समाधान इस प्रकार करते हैं—जो पुरुष अलोभ के द्वारा लोभ का प्रतिकार करता है, वह उपलब्ध कामों में निमग्न नहीं होता ।

लोभ भी चित्त का धर्म या भाव है । अलोभ भी चित्त का धर्म है । जैसे-जैसे अलोभात्मक चित्तधर्म का अभ्यास होता है वैसे-वैसे लोभात्मक चित्तधर्म क्षीण होता जाता है । इस अभ्यास-क्रम से लोभ अलोभ के द्वारा पराजित हो जाता है ।

३७. विणइत्तु लोभं निक्खम्म, एस अकम्मे जाणति-पासति ।

सं०—विनीय लोभं निष्क्रम्य, एष अकर्मा जानाति पश्यति ।

जो लोभ को छोड़कर प्रवृत्त होता है, वह अकर्मा होकर जानता-देखता है ।

भाष्यम् ३७—गृहादभिनिष्क्रमणकारिणः सर्वे तुल्या नहि भवन्ति । तेषु कश्चित् लोभस्य उन्मूलनं कृत्वा अभिनिष्क्रान्तो भवति, स अकर्मा सन् ध्यानस्थः ज्ञान-दर्शनावरणकर्ममुक्तो वा जानाति पश्यति, विषयाणां परिग्रहस्य च विपाकान् साक्षात्करोतीति तात्पर्यम् ।

व्याख्याया अपरो नयः—कर्मणः प्रवृत्तेर्वा हेतुरस्ति लोभः । यो लोभं विनीय अभिनिष्क्रामति स अकर्मा प्रवृत्तिचक्रस्य अपनयनं कृत्वा ज्ञाता द्रष्टा भवति, वैभाविकं कर्तृत्वं च तन् करोति ।

घर से अभिनिष्क्रमण करने वाले सभी साधक समान नहीं होते । उनमें कोई साधक लोभ का उन्मूलन कर अभिनिष्क्रमण करता है । वह अकर्मा अर्थात् ध्यानस्थ अथवा ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों से मुक्त होकर जानता-देखता है । इसका तात्पर्य है कि वह विषयों और परिग्रह के विपाकों का साक्षात्कार कर लेता है ।

दूसरी दृष्टि से इसकी व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—कर्म अथवा प्रवृत्ति का हेतु है—लोभ । जो लोभ को दूर कर अभिनिष्क्रमण करता है, वह ‘अकर्मा’ व्यक्ति प्रवृत्ति-चक्र से मुक्त होकर ज्ञाता-द्रष्टा होता है और वह वैभाविक कर्तृत्व को क्षीण कर देता है ।

३८. पडिलेहाए णाचकंखति ।

सं०—प्रतिलेखया नावकांक्षति ।

पर्यालोचन के द्वारा कोई सकर्मा साधक विषयों की आकांक्षा नहीं करता ।

भाष्यम् ३८—एकः कश्चित् सकर्मा—साकांक्षः सन् अभिनिष्क्रान्तः, स तथाविधक्षयोपशमवशाद् विषयाणां परिग्रहस्य च विपाकप्रतिलेखया—तत्पर्यालोचनया तान् नावकांक्षति ।

कोई एक व्यक्ति सकर्मा—मन में किसी आकांक्षा को लिए अभिनिष्क्रान्त होता है, वह मोहनीय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम के कारण विषयों और परिग्रह के विपाक का पर्यालोचन करता है और उनकी आकांक्षा से मुक्त हो जाता है ।



३६. एष अनगारेत्ति पवुच्चति ।

सं०— एष अनगार इति प्रोच्यते ।

वह अनगार कहलाता है ।

भाष्यम् ३९—यः लोभं अलोभेन प्रतिकरोति, विषयान् परिग्रहञ्च नाभिलषति, स एष अनगार इत्युच्यते ।

जो लोभ को अलोभ से पराभूत करता है और जो विषयो और परिग्रह की अभिलाषा नहीं करता, वह अनगार कहलाता है ।

४०. अहो य राओ य परितप्पमाणे, कालाकालसमुट्ठाई, संजोगट्ठी अट्टालोभी, आलुपे सहसक्कारे, विणिविट्ठचित्ते, एत्थ सत्थे पुणो-पुणो ।

सं०—अहनि च रात्रौ च परितप्पमानः, कालाकालसमुत्थायी, संयोगार्थी अर्थलोभी, आलुम्पः सहसाकारः, विनिविष्टचित्तः, अत्र शस्त्रं पुनः पुनः ।

वह रात-दिन परितप्त रहता है, काल या अकाल में अर्थाजिन का प्रयत्न करता है, संयोग का अर्थी होकर अर्थ-लोलुप, चोर या लुटेरा हो जाता है । उसका चित्त परिवार या विषय-सेवन में ही लगा रहता है । वह पुनः पुनः शस्त्र—संहारक बनता है ।

भाष्यम् ४०—पूर्वालापके (सूत्र ३) धृतिमतः पुरुषस्य निरूपणं कृतम् । प्रस्तुतालापके धृतिरहितस्य पुरुषस्य निरूपणं क्रियते । धृतिविरहितः पुरुषः लोभं विषयान् परिग्रहञ्च न परिहरति, तेन स परितापादिकमनुभवति ।

पूर्व आलापक (सूत्र ३) में धृतिमान् पुरुष का निरूपण किया है । प्रस्तुत आलापक में धृति-रहित पुरुष का निरूपण किया जा रहा है । धृतिविहीन पुरुष लोभ, विषयों और परिग्रह का परिहार नहीं करता, इसलिए वह परिताप आदि का अनुभव करता है ।

४१. से आय-बले, से णाइ-बले, से मित्त-बले, से पेच्च-बले, से देव-बले, से राय-बले, से चोर-बले, से अतिहि-बले, से किवण-बले, से समण-बले ।

सं०—स आत्मबलः, स ज्ञातिबलः, स मित्रबलः, स प्रेत्यबलः, स देवबलः, स राजबलः, स चोरबलः, स अतिथिबलः, स कृपणबलः, स श्रमणबलः ।

वह शरीरबल, ज्ञातिबल, मित्रबल, पारलौकिकबल, देवबल, राजबल, चोरबल, अतिथिबल, कृपणबल और श्रमणबल से युक्त बनना चाहता है ।

भाष्यम् ४१—मनुष्यः जीवनयात्रार्थमनेकेषां बलानां संग्रहं करोति ।

मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा के लिए अनेक प्रकार के बलों का संग्रह करता है ।

आत्मबलः—आत्मनः—शरीरस्य बलं अस्ति यस्य स आत्मबलः । लोभादिलः पुरुषः भोगार्थं आत्मनः—शरीरस्य वृद्धये मद्यं मांसञ्च सेवते ।

आत्मबल—आत्मा का अर्थ है—शरीर । जो शरीर बल से संपन्न है वह आत्मबल होता है । लोभ से क्लुषित पुरुष भोगों के लिए शरीर को पुष्ट करने के प्रयोजन से मद्य और मांस का सेवन करता है ।

ज्ञातिबलः मित्रबलश्च—स्वजने मित्रे च बलवति अहं बलवान् भविष्यामि इति चिन्तया स ज्ञातिबलं, मित्रबलञ्च अभिलषति ।

ज्ञातिबल, मित्रबल—‘स्वजनों और मित्रों के बलवान होने पर मैं बलवान होऊंगा’—इस चिंतन से वह ज्ञातिबल और मित्रबल को अभिलाषा करता है ।

प्रेत्यबलः देवबलश्च—परलोकार्थं देवप्रसन्नतार्थञ्च पशुबलिं करोति ।

प्रेत्यबल, देवबल—परलोक के लिए और देवों की प्रसन्नता के लिए वह पशुबलि करता है ।

राजबलः—आजीविकायै जयाय वा राजानं सेवते ।

राजबल—आजीविका या विजय के लिए राजा की सेवा करता है ।

चोरबलः—चौरभागं प्राप्स्यामीति चौरानुपचरति ।

चोरबल—चोरी का हिस्सा प्राप्त होगा, इस दृष्टि से चोरों का सहयोग करता है ।

अतिथिबलः कृपणबलः श्रमणबलश्च—धनयशोधर्मार्थं  
अतिथि<sup>१</sup>-कृपण<sup>२</sup>-श्रमण<sup>३</sup>ेभ्यः<sup>३</sup> दानं ददाति ।

अतिथि बल } धन, यश और धर्म के लिए क्रमशः अतिथि,  
कृपण बल } कृपण और श्रमणों को दान देता है ।  
श्रमण बल }

४२. इच्छेतेहि विरुवरुवेहि कज्जेहि दंड-समायाणं ।

सं०—इत्येतैः विरुपरूपैः कार्यैः दण्डसमादानम् ।

इन नानाविध कार्यों के लिए वह दंड—हिंसा का प्रयोग करता है ।

भाष्यम् ४२—इत्येतैः पूर्वसूत्रोक्तैः नानाविधैः  
प्रयोजनैः दण्डसमादानं क्रियते मनुष्येण ।

पूर्व सूत्र में बतलाए गए नाना प्रकार के प्रयोजनों से मनुष्य  
दण्ड का समादान—हिंसा का प्रयोग करता है ।

दण्डो घातो मारणमित्येकार्थाः ।

दण्ड, घात, मारण—ये एकार्थक शब्द हैं ।

४३. सपेहाए भया कज्जति ।

सं०—स्वप्रेक्षया भयात् क्रियते ।<sup>१</sup>

कोई व्यक्ति अपने चिंतन से और कोई भय से हिंसा का प्रयोग करता है ।

४४. पाप-मोक्खोत्ति मण्णमाणे ।

सं०—पापमोक्षः इति मन्यमानः ।

कोई यज्ञ, बलि आदि से पाप की मुक्ति मानता हुआ हिंसा का प्रयोग करता है ।

४५. अदुवा आसंसाए ।

सं०—अथवा आशंसया ।

अथवा कोई अप्राप्त को पाने की अभिलाषा से हिंसा का प्रयोग करता है ।

भाष्यम् ४३-४५—वलार्थं दण्डसमादानं क्रियते इति  
प्रयोजनमादिष्टम् । बलप्राप्तेः हेतुचतुष्टयमिदानीं  
आदिश्यते—

बल-प्राप्ति के लिए हिंसा का प्रयोग किया जाता है, यह  
प्रयोजन बताया जा चुका है । अब बल-प्राप्ति के चार हेतु और बताए  
जा रहे हैं—

१. स्वप्रेक्षा—स्वपर्यालोचना ।
२. भयम् ।
३. पापमोक्षः ।
४. आशंसा—अभिलाषा ।

१. स्वप्रेक्षा—स्व-पर्यालोचन ।
२. भय ।
३. पापमुक्ति ।
४. आशंसा अर्थात् अभिलाषा ।

४६. तं परिणाय मेधावी णेव सयं एएहि कज्जेहि दंडं समारंभेज्जा, णेवणं एएहि कज्जेहि दंडं समारंभावेज्जा, णेवणं  
एएहि कज्जेहि दंडं समारंभंतं समणुजाणेज्जा ।

सं०—तत् परिणाय मेधावी नैव स्त्रयं एतैः कार्यैः दण्डं समारंभेत, नैवान्यं एतैः कार्यैः दण्डं समारंभयेत्, नैवान्यं एतैः कार्यैः दण्डं  
समारंभमाणं समनुजानीत ।

यह जानकर मेधावी पुरुष इन प्रयोजनों से स्वयं हिंसा का प्रयोग न करे, दूसरे से उसका प्रयोग न करवाए और उसका प्रयोग  
करने वाले दूसरे का अनुमोदन न करे ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र १०४ :

तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना ।  
अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः ॥

२. आचारांग चूणि, पृष्ठ ६१ : किविणा विगलसरीरा ।

३. वही, पृष्ठ ६१ : समणा चरगति ।

**भाष्यम् ४६**—पूर्ववर्तिसूत्रत्रये दण्डसमादानस्य प्रयोजनानि सूचितानि । प्रस्तुतसूत्रे दण्डसमारम्भं कृत-कारितानुमतिभिः न कुर्याद् इति निर्देशः । अयं निर्देशः मेधाविनं लक्ष्यीकृत्य कृतः । यस्य मेधा अहिंसायाः मूल्यांकनं कर्तुं क्षमा तस्मै एष निर्देशः संगच्छते ।

पूर्ववर्ती तीन सूत्रों में दण्ड-समादान के प्रयोजन सूचित किए गए हैं । प्रस्तुत सूत्र में यह निर्देश है कि पुरुष कृत, कारित और अनुमति—इन तीनों से हिंसा न करे । यह निर्देश मेधावी को लक्ष्य कर किया गया है । जिस व्यक्ति की मेधा अहिंसा का मूल्यांकन करने में सक्षम है, उसके लिए यह निर्देश संगत लगता है ।

**४७. एस मार्गे आरिर्णहि पवेइए ।**

सं०—एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः ।

यह मार्ग आर्यों द्वारा प्रवेदित है ।

**भाष्यम् ४७**—एष अलोभस्य अपरिग्रहस्य ममत्व-मुक्तेर्वा मार्गः आर्यैः प्रवेदितः । आर्यैः इति आचार्यैः ।

अलोभ, अपरिग्रह अथवा ममत्वमुक्ति का यह मार्ग आर्यों द्वारा प्रवेदित है । आर्य का अर्थ है—आचार्य ।

**४८. जहेत्थ कुशलं णोर्वालपिज्जासि ।— त्ति बेमि**

सं०—यथात्र कुशलः नोपलिप्सेत् । —इति ब्रवीमि

जिससे कुशल पुरुष इसमें लिप्त न हो । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

**भाष्यम् ४८**—एष मार्गः आर्यैः इतिहेतुमुद्दिश्य पदिष्टः—यथा कुशलः अस्मिन् परिग्रहे नोपलिप्तो वेत् ।

आर्यों ने इस मार्ग का उपदेश इसलिए दिया है जिससे कि कुशल पुरुष इस परिग्रह में लिप्त न हो ।

### तइओ उहेसो : तीसरा उद्देशक

**४९. से असइं उच्चगोए, असइं णीयागोए । णो हीणे, णो अइरित्ते, णो वीहए ।**

सं०—सः असकृद् उच्चगोत्रः, असकृद् नीचगोत्रः । नो हीनः, नो अतिरिक्तः, नो स्पृहयेत् ।

वह पुरुष अनेक बार उच्चगोत्र और अनेक बार नीचगोत्र का अनुभव कर चुका है । अतः न कोई हीन है और न कोई अतिरिक्त । इसलिए वह उच्चगोत्र की स्पृहा न करे ।

**भाष्यम् ४९**—अर्थसंग्रहः पदार्थसंग्रहश्च प्रत्यक्षं परिग्रहः । किन्तु सूक्ष्मेक्षिकया सम्मानवाञ्छापि परिग्रह एव । तस्य विमुक्तये विचयसूत्रमिदम्—असौ संसारी पुरुषः अनेकवारं उच्चगोत्रो जातः अनेकवारञ्च नीचगोत्रो जातः । अनेन पुरुषेण अनेकवारं उच्चत्वं नीचत्वञ्च प्राप्तम् । तेनासौ नो हीनः न चातिरिक्तः । अथवा उच्चनीचगोत्रयोः नास्ति हीनमतिरिक्तं वा । तेन उच्चगोत्रं न स्पृहणीयम् ।<sup>१</sup>

अर्थ का संग्रह और पदार्थ का संग्रह प्रत्यक्ष परिग्रह है, किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से सम्मान की वाञ्छा भी परिग्रह ही है । उसकी विमुक्ति के लिए यह विचयसूत्र है—यह संसारी पुरुष अनेक बार उच्चगोत्र वाला बना है और अनेक बार नीचगोत्र वाला । यह पुरुष अनेक बार उच्चता और नीचता को प्राप्त हुआ है, इसलिए यह न हीन है और न अतिरिक्त । अथवा उच्च और नीच गोत्र—दोनों में कोई भी हीन या अतिरिक्त नहीं है । इसलिए उच्चगोत्र की स्पृहा नहीं करनी चाहिए ।

१. प्रस्तुतागमस्य रचनाकाले आर्यशब्दः उत्कर्षं प्राप्तः, अनाग्रशब्दश्च अपकर्षं गतः ।

२. आचारांग वृत्ति, पत्र १०७ : नोऽपीहए—अपिः सम्भावने

स च भिन्नक्रमो, जात्यादीनां मदस्थानानामन्यतमदपि 'नो ईहेतापि' नाभिलषेदपि अथवा नो स्पृहयेत्—नावकाक्षे-दिति ।

**उच्चगोत्रः**—उच्चं—सत्कारसम्मानार्हं गोत्रं यस्य स उच्चगोत्रः । अतो विपरीतः नीचगोत्रः ।

एतत् सूत्रं द्रव्यार्थिकनयेन व्याख्येयम् । द्रव्यार्थिक-नयेन निश्चयनयेन वा नास्ति कश्चिदात्मा हीनोऽतिरिक्तो वा । पर्यायार्थिकनयेन प्राणिनः हीना अतिरिक्ता वापि भवन्ति ।

**उच्चगोत्र**—उच्च अर्थात् सत्कार और सम्मान के योग्य गोत्र है जिसका, वह उच्चगोत्र है । इसके विपरीत नीचगोत्र है ।

इस सूत्र की व्याख्या द्रव्यार्थिक नय से करनी चाहिए । द्रव्यार्थिक नय अथवा निश्चय नय से कोई भी आत्मा हीन या अतिरिक्त नहीं है । पर्यायार्थिक नय से प्राणी हीन या अतिरिक्त भी होते हैं ।

५०. इति संख्याय के गोयावादी ? के माणावादी ? कंसि वा एगे गिज्भे ?

सं०—इति संख्याय को गोत्रवादी ? को मानवादी ? कस्मिन् वाए कः गृध्येत् ?

वास्तविकता को जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा ? कौन मानवादी होगा ? और कौन किसी एक स्थान में आसक्त होगा ?

**भाष्यम् ५०**—मया अन्यैरपि च जीवैरनेकवारं उच्चत्वं हीनत्वं वा अनुभूतम्, इति संख्याय—ज्ञात्वा को गोत्रवादी स्यात् ? कश्च मानवादी ? कस्मिन् वा एको गृध्येत्—इच्छां प्रयोजयेत् ?

जाति-कुल-बल-रूप-तपः-श्रुत-लाभैश्वर्यैरुपेतस्य गोत्रवादो भवति । स्वगुणपरिकल्पनाजनितो मानवादः भवति । सर्वं अनुभूतपूर्वम् । तेन उच्चत्वलाभे को विस्मयं कुर्यात् नीचत्वलाभे च उद्वेगं कुर्यात् ?

‘मैंने और दूसरे जीवों ने भी अनेक बार उच्चता और हीनता का अनुभव किया है’—यह जान लेने पर कौन गोत्रवादी होगा ? कौन मानवादी होगा ? और कौन किसी एक स्थान में गूढ़ होगा, आसक्त होगा ?

जाति, कुल, बल, रूप, तपस्या, श्रुत, लाभ और ऐश्वर्य से युक्त व्यक्ति के गोत्रवाद होता है और अपने गुणों की परिकल्पना से उत्पन्न मानवाद होता है । इन सबका पहले अनुभव किया जा चुका है । इसलिए कौन व्यक्ति उच्चता के प्राप्त होने पर विस्मय और निम्नता के प्राप्त होने पर उद्वेग करेगा ?

५१. तस्मा पंडिते णो हरिसे, णो कुज्भे ।

सं०—तस्मात् पंडितः नो हृष्येत्, नो क्रुध्येत् ।

इसलिए पंडित पुरुष न हर्षित हो और न क्रुपित हो ।

**भाष्यम् ५१**—तस्मात् पंडितः समतामनुभवेत् । उच्चगोत्रस्य—सम्मानादीनां लाभे सति नो हृष्येत्, नीचगोत्रस्य—अवमाननादीनां प्राप्ता सत्यां न क्रुध्येत् ।

इसलिए पंडित पुरुष समता का अनुभव करे । उच्चगोत्र—सम्मान आदि के प्राप्त होने पर हर्ष न करे और नीचगोत्र—अपमान आदि के प्राप्त होने पर क्रोध न करे ।

५२. भूर्णहि जाण पडिलेह सातं ।

सं०—भूतेषु जानीहि प्रतिलिख सातम् ।

तु जीवों में होने वाले कर्म-बन्ध और कर्म-विपाक को जान और कर्म-क्षय की समीक्षा कर ।

**भाष्यम् ५२**—नीचगोत्रस्यानुभवोऽस्ति दुःखम् । किं हेतुकं दुःखमित्यगवेषणायां सर्वप्रथमं जीवाभिगमः करणीयः । ततश्च स कथं कर्म बध्नाति कथञ्च कर्मणो विपाको जायते इत्यभिगमः कार्यः ।

नीचगोत्र का अनुभव दुःख है । दुःख का हेतु क्या है—इस गवेषणा में सबसे पहले जीवों का ज्ञान करना चाहिए और उसके बाद जीव किस प्रकार कर्म का बंधन करता है और कर्म का विपाक कैसे होता है, यह जानना चाहिए ।

सातं—क्षयः । कर्मणः क्षयः कथं स्याद् इति अन्वेष्टव्यम् ।

सात का अर्थ है—क्षय । कर्म का क्षय कैसे हो—यह अन्वेषण करना चाहिए ।

चूर्णीं वृत्ती च ‘सातं’ सुखमित्यपि लभ्यते ।

चूर्ण और वृत्ति में ‘सातं’ का अर्थ सुख भी मिलता है ।

१. ‘सातं’ ‘सातं’—एते द्वे अपि पदे क्षयार्थे उपलभ्येते ।  
आटे, सातः—destroyed । शातः—cut down ।

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृ० ६४ : पडिलेहिहि—गवेषाहि सातं—गूढ़ं, तद्विवक्षतो असातं, तं पडिलेहिहि, कस्स कि

५३. समिते एयाणुपस्सी ।

सं०—समितः एतदनुदर्शी ।

सम्यग्दर्शी पुरुष इसको देखता है ।

भाष्यम् ५३—समितः—इष्टानिष्टगवेषणया समधि-  
गततत्त्वः पुरुषः एतत् कर्मविपाकमनुपश्यति—

समित अर्थात् इष्ट और अनिष्ट की गवेषणा के द्वारा तत्त्व को  
जानने वाला सम्यग्दर्शी पुरुष इस कर्म-विपाक को देखता है—

५४. तं जहा—अंधत्तं बहिरत्तं मूयत्तं काणत्तं कुण्टत्तं कुब्जत्तं वडभत्तं श्यामत्तं शबलत्तं ।

सं०—तद् यथा—अन्धत्वं बहिरत्वं मूकत्वं काणत्वं कुण्टत्वं कुब्जत्वं वडभत्वं श्यामत्वं शबलत्वं ।

जैसे—कोई अंधा है और कोई बहुरा, कोई गूंगा है और कोई काना, कोई लूला है और कोई बौना, कोई कुबड़ा है और कोई  
कोढ़ी तथा कोई श्वेत कुष्ठ वाला है ।

भाष्यम् ५४—कर्मविपाकस्य निदर्शनमिदम्, यथा—  
क्वचिद् अन्धत्वं, बहिरत्वं, मूकत्वं, काणत्वं, कुण्टत्वं—  
कुण्टत्वं, कुब्जत्वं—वामनत्वम् । कुब्जशब्दस्य अर्थद्वयं  
लभ्यते—विनिर्गतपृष्ठग्रन्थिः ह्रस्वश्च । चूर्णौ 'खुज्जो—  
वामणो' इति व्याख्यातमस्ति ।<sup>१</sup> वृत्तौ कुब्जत्वं वामन-  
लक्षणमिति ।<sup>२</sup> अत्र वामनशब्देन खर्वत्वं सूचितमस्ति ।  
'खर्वः' इति बौना ।<sup>३</sup> वडभशब्दस्य सन्दर्भे कुब्जस्य  
एष एव अर्थः संगतोऽस्ति । संस्थानप्रकरणे कुब्ज-  
संस्थानस्य ईदृश एव अर्थो लभ्यते खुज्जोत्ति । अधस्तन-  
कायमडभम्, इह अधस्तनकायशब्देन पादपाणि-  
शिरोग्रीवमुच्यते, तद् यत्र शरीरलक्षणोक्तप्रमाणव्यभि-  
चारि, यत् पुनः शेषं तद् यथोक्तप्रमाणं तत्कुब्जमिति ।<sup>४</sup>  
वडभत्वं—विनिर्गतपृष्ठग्रन्थित्वं, श्यामत्वं—कुण्टित्वं,  
शबलत्वं—श्वेतकुण्टित्वम् ।<sup>५</sup>

यह कर्म-विपाक का निदर्शन है, जैसे—कहीं अन्धापन,  
बहुरापन, गूंगापन, कानापन, लूलापन, कुबड़ापन और बौनापन है ।  
'कुब्ज' शब्द के दो अर्थ प्राप्त होते हैं—पृष्ठग्रन्थि का बाहर निकलना  
और ठिगना । चूर्ण में 'खुज्ज' वामन के अर्थ में व्याख्यात है । वृत्ति  
में कुब्जत्व वामन का लक्षण है । यहां वामन शब्द खर्व के अर्थ में है ।  
खर्व का अर्थ है—बौना । 'वडभ' शब्द के संदर्भ में कुब्ज शब्द का यही  
अर्थ संगत लगता है । संस्थान के प्रकरण में कुब्ज-संस्थान का ऐसा  
ही अर्थ प्राप्त होता है—'अधस्तनकाय का वाचक है 'मडभ' । पैर, हाथ,  
मस्तक और ग्रीवा—ये अधस्तनकाय हैं । ये अवयव शास्त्रोक्त शरीर-  
लक्षणों के प्रमाण के अनुसार नहीं होते तथा शेष अवयव प्रमाणोपेत होते  
हैं, उसे 'कुब्ज' कहा जाता है । 'वडभत्व का अर्थ है—पृष्ठग्रन्थि का बाहर  
निकलना । श्यामत्व का अर्थ है—कोढ़ का रोग तथा शबलत्व का अर्थ  
है—सफेदकोढ़ ।

५५. सहपमाणं अनेगरुवाओ जोणीओ संधाति, विरुवरुवे फासे पडिसंवेदेइ ।

सं०—स्वप्रमादेन अनेकरूपाः योनीः संधाति, विरुवरूपान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयते ।

पुरुष अपने ही प्रमाद से नानारूप योनियों में जाता है और विविध प्रकार के आघातों का अनुभव करता है ।

भाष्यम् ५५—कर्मविपाकगवेषणां कुर्वाणः एतदपि  
सत्यमनुपश्यति—मनुष्यः स्वप्रमादेन अनेकरूपाः योनीः  
सन्धत्ते । नानाविधान् स्पर्शान्—आघातान् प्रतिसंवेदयते ।

कर्मविपाक की गवेषणा करने वाला इस सच्चाई को भी देखता  
है—मनुष्य अपने प्रमाद से नानारूप योनियों का संघान करता है और  
विविध प्रकार के आघातों का अनुभव करता है ।

पियं ? कि अनिट्ठं ? जं जस्स अप्पितं तं ण कायत्वं ।  
(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र ११८ : प्रत्युपेक्ष्य—पर्यालोच्य  
विचार्य कुशापीयया शेमुष्या जानीहि—अवगच्छ, कि  
जानीहि ? सातं सुखं तद् विपरीतमसातमपि जानीहि, किं  
च कारणं सातासातयोः ? एतज्जानीहि, किं चाभिलषन्त्य-  
विगानेन प्राणिन इति ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ६५ ।

२. आचारांग वृत्ति, पत्र १०८ ।

३. अभिधानचिन्तामणि, ३।१३०; ६।६५ ।

४. स्थानांग वृत्ति, पत्र ३३९ ।

५. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ६५ : सामो—कुट्टी ।

६. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ६५ : सबलत्तं—सिति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १०८ : शबलत्वं शिवत्रलक्षणम् ।

७. अत्रापि 'सह' पदं स्ववाचकं दृश्यते । इष्टव्यम्—आयारो,  
१।३ ।

५६. से अबुज्जभाणे हतोवहते जाइ-मरणं अनुपरियट्टमाणे ।

सं०—स अबुध्यमानः हतोपहतः जातिमरणं अनुपरिवर्तमानः ।

कर्म-विपाक को नहीं जानता हुआ वह हत और उपहत होता है तथा बार-बार जन्म और मरण करता है ।

भाष्यम् ५६—परिग्रहमदं, तद्धेतुकां हिंसां, ताभ्यां जायमानान् कर्मविपाकांश्च अनवबुध्यमानः स पुरुषः हत उपहतश्च भवति पराभवेन रोगादिना वा । स च तथाविधं कर्म अर्जयित्वा जन्म मरणञ्च अनुपरिवर्तते ।

परिग्रह का मद और परिग्रह के लिए की जाने वाली हिंसा— इन दोनों से होने वाले कर्म-विपाकों को नहीं जानता हुआ वह पुरुष तिरस्कार या रोग आदि से हत-उपहत होता है । उस प्रकार के कर्म का अर्जन कर वह बार-बार जन्म और मरण करता है ।

५७. जीवियं पुढो पियं इहमेगीति माणवाणं, खेत्त-वत्थु ममायमाणानाणं ।

सं०—जीवितं पृथु प्रियं इहैकेषां मानवानां क्षेत्रवास्तु ममायमानानाम् ।

भूमि और घर में ममत्व रखने वाले कुछ पुरुषों को विपुल जीवन प्रिय होता है ।

भाष्यम् ५७—अस्ति इच्छाया नानात्वम् । एके मानवाः केवलं विभवमेव इच्छन्ति । तादृशं विस्तीर्ण-विभवमेव जीवनं तेषां प्रियं भवति । ते क्षेत्रे वास्तुनि च ममत्वं कुर्वन्ति ।

इच्छा नाना प्रकार की होती है । कुछ मनुष्य केवल वैभव की ही चाह रखते हैं । उनको वंसा विस्तीर्ण वैभवशाली जीवन ही प्रिय होता है । वे क्षेत्र और वास्तु में ममत्व रखते हैं ।

पुढो—विस्तीर्णम् ।

पुढो का अर्थ है—विस्तीर्ण ।

क्षेत्रं—अनाच्छादितभूमिः ।

क्षेत्र का अर्थ है—अनाच्छादित भूमि, खुली भूमि ।

वास्तु—आच्छादितभूमिः गृहमिति ।

वास्तु का अर्थ है—आच्छादित भूमि अर्थात् घर ।

५८. आरक्तं विरक्तं मणिकुण्डलं सह हिरण्येण, इत्थियाओ परिगिञ्ज तत्थेव रत्ता ।

सं०—आरक्तं विरक्तं मणिकुण्डलं सह हिरण्येन स्त्रीः परिगृह्य तत्रैव रत्ताः ।

वे रंग-बिरंगे वस्त्र तथा मणि, कुण्डल, हिरण्य और स्त्रियों का परिग्रह कर उनमें ही अनुरक्त हो जाते हैं ।

भाष्यम् ५८—ते आरक्तं—कुसुम्भादिना रक्तं, विरक्तं—नानारागेन रक्तं वस्त्रं मणि कुण्डलं हिरण्यं स्त्रीश्च परिगृह्य तत्रैव रज्यन्ति ।

वे आरक्त—कुसुम्भा आदि से रंगे हुए वस्त्र, विरक्त—विविध रंगों से रंगे हुए वस्त्र, मणि, कुण्डल, हिरण्य और स्त्रियों का परिग्रह कर उनमें ही अनुरक्त हो जाते हैं ।

मनुष्यः वस्त्राणां शरीररक्षायै, मणिकुण्डलयोः भूषायै, हिरण्यस्य जीवनयापनाय, स्त्रीणाञ्च परिवार-वृद्धये परिग्रहं करोति । उपयोगिता यदा आसक्तौ परिणता भवति तदा ममत्वग्रन्थिः सुदृढो भवति । सूत्रकारेण एतत् सत्यमिहोपदर्शितम् ।

मनुष्य शरीररक्षा के लिए वस्त्रों का, अलंकरण के लिए मणि-कुण्डल आदि का, जीवनयापन के लिए हिरण्य—सिक्के, सोना आदि का और परिवार की वृद्धि के लिए स्त्रियों का परिग्रहण करता है । जब यह उपयोगिता आसक्ति में परिणत हो जाती है तब ममत्व की गांठ घुल जाती है । सूत्रकार ने यहां इसी सत्य को अभिव्यक्त किया है ।

५९. ण एत्थ तपो वा, दमो वा, नियमो वा विस्सति ।

सं०—नात्र तपो वा, दमो वा, नियमो वा दृश्यते ।

परिग्रही पुरुष में न तप होता है, न दम और न नियम ।

भाष्यम् ५९—अत्र परिग्रहे परिग्रहानुरक्ते वा पुरुषे न तपो वा दमो वा नियमो वा दृश्यते । परिग्रहानु-बन्धेन निरन्तरं मनःसंतापो जायते । संतप्ते मनसि

परिग्रह-प्रधान वातावरण अथवा परिग्रह में अनुरक्त पुरुष में न तप दृष्टगोचर होता है, न दम और न नियम । परिग्रह के अनुबन्ध से निरन्तर मानसिक संताप बना रहता है । मन के संतप्त होने पर

१. आटे, रक्तकं—A Red Garment.

तपःप्रभृतीनां का कथा ?

तपः—स्वादविजयः आसनविजयादि ।

वसः—इन्द्रियविजयः कषायविजयश्च ।

नियमः—परिमितकालाय भोगोपभोगवस्तूनां प्रत्याख्यानम् ।<sup>१</sup>

तप आदि की बात ही कैसे संभव हो सकती है ?

तप का अर्थ है—स्वादविजय, आसनविजय आदि ।

वस का अर्थ है—इन्द्रियविजय और कषायविजय ।

नियम का अर्थ है—परिमित समय के लिए भोग-उपभोग की वस्तुओं का प्रत्याख्यान ।

६०. संपुष्णं बाले जीवितुकामे लालप्यमाणे मूढे विपर्यासमुपैति ।

सं०—संपुष्णं बालः जीवितुकामः लालप्यमानः मूढः विपर्यासमुपैति ।

अज्ञानी पुरुष व्याघात रहित वैभवपूर्ण जीवन जीने की कामना करता है । वह बार-बार सुख की कामना करता है किन्तु वह मूढ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है ।

भाष्यम् ६०—अज्ञानी पुरुषः सम्पूर्ण—निर्व्याघातं विभवपूर्णं जीवनं जीवितुकामः लालप्यते—पुनः पुनः सुखं प्रार्थयते, किन्तु परिग्रहासक्तिमूढः सन् विपर्यासमुपैति—सुखार्थी सन् दुःखमाप्नोति ।<sup>२</sup>

अज्ञानी पुरुष निर्विघ्न वैभवपूर्ण जीवन जीने की इच्छा करता है और वह बार-बार सुख की अत्यधिक कामना करता रहता है, किन्तु परिग्रह की आसक्ति से मूढ होकर वह विपर्यास को प्राप्त होता है—सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त होता है ।

६१. इणमेव नावकांक्षति, जे जणा ध्रुवचारिणो । जाती-मरणं परिणाय, चरे संक्रमणे दृढे ।

सं०—इदमेव नावकांक्षति ये जनाः ध्रुवचारिणः । जातिमरणं परिणाय चरेत् संक्रमणे दृढे ॥

जो पुरुष शाश्वत की ओर गतिशील हैं, वे इस विपर्यासपूर्ण जीवन को जीने की इच्छा नहीं करते । जन्म-मरण को जानकर वह मोक्ष के दृढ सेतु—अपरिग्रह पर चले ।

भाष्यम् ६१—ये जनाः परिग्रहमूर्च्छायाः परिणामं ज्ञात्वा ध्रुवचारिणः—शाश्वतं प्रति गतिशीलाः भवन्ति, ते इदं अशाश्वतं विभवपूर्णं विपर्यासपूर्णं वा जीवनं नावकांक्षन्ति । परिग्रहमूर्च्छाया फलमस्ति जन्ममरणं—नानायोनिषु परिभ्रमणं, अन्धत्वादिनानावस्थाया अनुभवनञ्च । एतत्परिणाय अमूर्च्छितचित्तः पुरुषः दृढे संक्रमणे चरेत् । संक्रमणं—सेतुः । अत्र तस्य तात्पर्यमस्ति अपरिग्रहः ।

जो लोग परिग्रह की मूर्च्छा के परिणाम को जानकर ध्रुवचारी—शाश्वत की ओर गतिशील होते हैं, वे इस अशाश्वत, वैभवपूर्ण और विपर्यासपूर्ण जीवन की आकांक्षा नहीं करते । परिग्रह की मूर्च्छा का फल है—जन्म-मरण—नाना योनियों में परिभ्रमण और अन्धता आदि नाना अवस्थाओं का अनुभव । यह जानकर अमूर्च्छित चित्त वाला पुरुष दृढ संक्रमण से चले । संक्रमण का अर्थ है—सेतु । यहां उसका तात्पर्य है—अपरिग्रह ।

६२. णत्थि कालस्स णागमो ।

सं०—नास्ति कालस्य अनागमः ।

मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नहीं है ।

भाष्यम् ६२—अध्रुवं विहाय ध्रुवं प्रति गमनस्य हेतु-रुपदर्शयते—पुरुषः विभवपूर्णं जीवनमभिलषति, किन्तु तत् कियच्चिरं तिष्ठति ? नास्ति कालस्य कोऽपि अनागमः—एतादृशः कोऽपि क्षणो नास्ति यस्मिन् मृत्युनिगच्छेत् । दिनेऽपि रात्रावपि बाल्येऽपि यौवनेऽपि सर्वास्वप्यव-

अशाश्वत को छोड़कर शाश्वत की ओर गति करने के हेतु का उपदर्शन किया जा रहा है—पुरुष वैभवपूर्ण जीवन की अभिलाषा करता है, किन्तु वह जीवन कितने समय तक ठहरता है ? काल का कोई अनागम नहीं है—ऐसा कोई भी क्षण नहीं है जिसमें मौत न आ सके । दिन में भी, रात में भी, बचपन में भी और जवानी में भी,

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, ८९ :

अस्य विवा रजनी वा, पक्षो मासस्तपत्तुरयनं वा ।  
इतिकालपरिच्छित्या, प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः ॥

२. द्रष्टव्यम्—आयारो, २१५१ ।

स्थासु मृत्योरामगमस्य अस्ति अवकाशः। तेन ध्रुवचारित्वमभीष्टम्। ध्रुवचारी अप्रमत्तो भवति, अप्रमत्तो वा ध्रुवचारी भवति।

सभी अवस्थाओं में मौत के आने का अवकाश है। इसलिए ध्रुव-चारित्व—शाश्वत के प्रति गमन इष्ट है। वास्तव में जो ध्रुवचारी होता है वह अप्रमत्त होता है—मृत्यु के प्रति जागरूक होता है अथवा जो अप्रमत्त होता है वह ध्रुवचारी होता है।

६३. सर्वे प्राणाः प्रियायुषा सुखसाया दुःखपडिकूला अप्रियवधा प्रियजीविणो जीवितुकामाः।

सं०—सर्वे प्राणाः प्रियायुषः सुखस्वादाः दुःखप्रातेकूलाः अप्रियवधाः प्रियजीविणः जीवितुकामाः।

सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। वे सुख का आस्वाद करना चाहते हैं, उन्हें दुःख प्रतिकूल है। उन्हें वध अप्रिय है, जीवन प्रिय है। वे जीवित रहना चाहते हैं।

६४. सर्वेषां जीवितं प्रियम्।

सं०—सर्वेषां जीवितं प्रियम्।

सब प्राणियों को जीवन प्रिय है।

६५. तं परिग्रहं चतुष्पदं अभिर्जुजियाणं संसिद्धिघाणं त्रिविधेण जा वि से तत्थ मत्ता भवइ—अत्पा वा बहुगा वा।

सं०—तत् परिग्रहं द्विपदं चतुष्पदं अभियुज्य संसिद्धिं त्रिविधेन यापि तस्य तत्र मात्रा भवति—अत्पा वा बहुका वा।

परिग्रह में आसक्त पुरुष द्विपद (कर्मकर) और चतुष्पद (पशु) का परिग्रह कर, उन्हें बलात् सेवा में नियोजित कर वह अर्थ का संबर्धन करता है। त्रिविध प्रयत्न से उसके पास अर्थ की अल्प या बहुत मात्रा हो जाती है।

भाष्यम् ६३-६५—परिग्रहार्थं हिंसा क्रियमाणास्ति। अनेकेषां मनुष्याणां पशूनाञ्च जीवनस्य निग्रहोऽपि क्रियमाणोऽस्ति। परिग्रहस्य संचयः हिंसापूर्वको भवतीति प्रदर्शयते सूत्रत्रयेण। सर्वेषां प्राणिनां आयुः प्रियमस्ति, अनुकूलोऽस्ति सुखास्वादः, दुःखमस्ति प्रतिकूलं, वधः अप्रियः, कामभोगसम्पन्नमस्ति च जीवनं प्रियम्। ते सन्ति निरूपक्रमं जीवितुकामाः।<sup>१</sup>

सर्वेषां प्राणिनां स्वतंत्रं जीवनं प्रियमस्ति। केऽपि कस्यचिदधीनतां नेच्छन्ति, तथापि परिग्रहासक्तः पुरुषः तेषां प्राणिनां द्विपदानां चतुष्पदानाञ्च जीवनं परिग्रह्य—स्वायत्तीकृत्य, तान् अभियोगेन—बलात् सेवायां नियोज्य अर्थं सञ्चिनोति।

त्रिविधेन—स्व-पर-तदुभयप्रयत्नेन अथवा मानसिक-वाचिक-कायिकप्रयत्नेन तस्य पार्श्वे अत्पा वा बह्वी वा

परिग्रह के लिए हिंसा की जाती है। अनेक मनुष्यों और पशुओं के जीवन का निग्रह भी किया जाता है। परिग्रह का संचय हिंसापूर्वक होता है, यही प्रस्तुत तीन सूत्रों (६३-६५) में बताया गया है। सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है। उनको सुख का आस्वाद अनुकूल लगता है। दुःख उन्हें प्रतिकूल लगता है। उन्हें वध अप्रिय है, कामभोगों से युक्त जीवन प्रिय है। वे निरूपक्रम (अकालमृत्यु-रहित) जीवन जीना चाहते हैं।

सभी प्राणियों को स्वतंत्र जीवन प्रिय है। कोई किसी की अधीनता में रहना नहीं चाहता, फिर भी परिग्रह में आसक्त पुरुष द्विपद—नौकर-चाकर तथा चतुष्पद—पशुओं को अपने अधीन रखकर, उन्हें बलात् सेवा में नियोजित कर, अर्थ का संचय करता है।

पुरुष तीन प्रकार में अर्थ का अर्जन करता है—वह स्वयं धन-संग्रह करने का प्रयत्न करता है, दूसरों का सहयोग लेकर अर्थार्जन करता है अथवा स्व-पर के प्रयत्न से वह धन-संचय करता है। अथवा

१. 'सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय'—यहां यह चर्चा परिग्रह के प्रकरण में की गई है। परिग्रह का संचय करने वाला अपना दुःख दूर करने और सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह दूसरों के सुख की हानि न हो, इसका ध्यान नहीं रखता। वह इस सत्य को भुला देता है—जैसे मुझे सुख प्रिय और दुःख अप्रिय है, वैसे ही दूसरों को भी सुख

प्रिय और दुःख अप्रिय है। अर्थार्जन के क्षेत्र में सामाजिक स्तर पर शोषण और अनतिक्रमिता चलती है, वह इसी सत्य की विस्मृति का परिणाम है। भगवान् ने बार-बार इस सत्य को याद दिलाकर व्यवहार को आत्मतुला की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का विशा-निर्देश दिया है।



अर्थमात्रा<sup>१</sup> भवति, यथा—सहस्रपतिः लक्षपतिः कोटि-  
पतिरिति ।

वह मानसिक, वाचिक या शारीरिक प्रयत्नों के द्वारा अर्थ-संचय करने में प्रयत्नशील होता है। उन प्रयत्नों के फलस्वरूप उसके पास अल्प या बहुत धन-संचय हो जाता है। कोई सहस्रपति, कोई लक्षाधिपति और कोई कोट्याधीश बन जाता है।

६६. से तत्थ गडिण् चिट्ठइ, भोयणाए ।

सं०—स तत्र ग्रथितः तिष्ठति भोजनाय ।

वह उस अर्थ-राशि में आसक्त रहता है और भोग के लिए उसकी अपेक्षा रखता है।

भाष्यम् ६६—स पुरुषः तस्मिन् सञ्चिते अर्थराशौ  
मृद्धः तिष्ठति । स भोगाय अर्थमपेक्षते । तदर्थमेव च तत्र  
मूर्च्छितो भवति ।

वह पुरुष उस संचित अर्थ-राशि में आसक्त रहता है। सुख-  
सुविधा के उपभोग के लिए उसे धन की अपेक्षा रहती है, इसीलिए वह  
उसमें मूर्च्छित हो जाता है।

६७. तओ से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ ।

सं०—ततः तस्य एकदा विपरिशिष्टं संभूतं महोपकरणं भवति ।

भोग के बाद बची हुई प्रचुर अर्थ-राशि से उसके पास विपुल अर्थ-राशि हो जाती है।

भाष्यम् ६७—ततः भोगार्थं अर्थसा रक्षां कुर्वतः  
कदाचित् विपरिशिष्टं धनं संभूतं भवति, संभूतत्वाच्च  
महोपकरणं भवति—अर्थस्य महान् राशिरिति ।

फिर सुख-सुविधा के उपभोग के लिए धन को बचाते-बचाते  
उसके पास धन का संचय होता जाता है और वह संचित धन-राशि  
धीरे-धीरे विपुल बन जाती है।

६८. तं पि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारो वा से अवहरति, रायानो वा से विलुपंति, णस्सति वा से, विणास्सति  
वा से, अगारदाहेण वा से डङ्गइ ।

सं०—तदपि तस्य एकदा दायादाः विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य अपहरति, राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य,  
विनश्यति वा तस्य, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते ।

एक समय ऐसा आता है कि उस संचित धनराशि से दायाद हिस्सा बंटा लेते हैं, या चोर उसका अपहरण कर लेते हैं, या राजा उसे  
छीन लेते हैं, या वह नष्ट-विनष्ट हो जाती है, या गृहदाह के साथ जल जाती है।

भाष्यम् ६८—सन्निचितोऽर्थः अनेकेषु आकांक्षां जन-  
यति इति वस्तुसत्यम् । तस्य तिस्रोऽवस्था भवन्ति—  
अर्जनं भोगो विनाशश्च । तत्र तृतीयावस्थायाम् अपरि-  
हार्यत्वमिहास्ति दर्शितम्—तं विपरिशिष्टमर्थं कदाचित्  
दायादा विभजन्ति, अदत्तहारो वा अपहरति, राजानो  
वा अवच्छिन्दन्ति, स्वतः एव नश्यति वा विनश्यति<sup>२</sup> वा,  
अगारदाहेन वा दह्यते ।

संचित धन-राशि अनेक लोगों में आकांक्षा पैदा करती है—यह  
वस्तुसत्य है। धन की तीन अवस्थाएं होनी हैं—अर्जन, भोग और  
विनाश। यहाँ तीसरी अवस्था—विनाश की अनिवार्यता दिखाई गई  
है। भगीदार उस बचे हुए धन का हिस्सा बंटा लेते हैं। अथवा चोर  
उसका अपहरण कर लेते हैं। अथवा राजा उसे छीन लेते हैं। अथवा  
वह स्वतः नष्ट-विनष्ट हो जाता है। अथवा गृहदाह के साथ वह जल  
कर नष्ट हो जाता है।

६९. इति से परस्स अट्टाए कुराडं कम्माइं बाले पकुवमाणे तेण दुक्खेण मूढे विपरियासुवेइ ।

सं०—इति स परस्य अर्थाय कुराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन मूढः विपर्यासमुपैति ।

इस प्रकार अज्ञानी पुरुष दूसरे के लिए कुरकर्म करता हुआ उस दुःख में मूढ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है।

१. प्रस्तुतसूत्रस्य चूर्णो 'तत्थ' इति पदं नास्ति व्याख्यातम्  
(पृ० ६८) । ८१ सूत्रेऽपि नास्ति व्याख्यातम् (पृ० ७२) ।  
वृत्तावस्ति । अत्र 'अत्थमत्ता' इति पाठस्य सम्भावनापि  
सहजतया जायते । वृत्तिकारेणापि सोपस्कारत्वात् सूत्राणां

अर्थमात्रा इत्युल्लिखितम् (वृत्ति पत्र, १११) ।

२. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ६९ : णस्सति च उप्पयादि सयमेव,  
.....विणस्सति अं विणा परिभोगेण कालेण विणस्सइ ।  
.....अह्वा जाशए विण्णाए सव्वं विणस्सइ

भाष्यम् ६९—अज्ञानी पुरुषो धनमर्जयन् मुख्यतया परस्येति परिवारस्यार्थं क्रूराणि कर्माणि प्रकुरुते । तेन स्वकृतेन क्रूरकर्मादिदुराचरितेन दुःखहेतुत्वात् दुःखेन मूढः सन् विपर्यासमुपैति—सुखार्थी सन् दुःखं प्राप्नोति ।\*

अज्ञानी पुरुष धन का अर्जन करता हुआ मुख्यतया पर अर्थात् परिवार के लिए क्रूरकर्म करता है । क्रूरकर्म करना दुराचरण है । वह दुःख का हेतु है । अपने द्वारा किए गए क्रूरकर्म से अर्जित दुःख से मूढ होकर वह व्यक्ति विपर्यास को प्राप्त होता है—सुख का अर्थी होकर दुःख को प्राप्त होता है ।

७०. मुणिणा ह एयं पवेइयं ।

सं०—मुनिना खलु एतत् प्रवेदितम् ।

यह मुनि ने कहा है ।

भाष्यम् ७०—एतत् सत्यं मुनिना—परमज्ञानिना भगवता महावीरेण प्रवेदितम् ।

यह सत्य मुनि—परमज्ञानी भगवान् महावीर ने कहा है ।

७१. अणोहंतरा एते, नो य ओहं तरित्तए । अतीरंगमा एते, नो य तीरं गमित्तए । अपारंगमा एते, नो य पारं गमित्तए ।

सं०—अनोघन्तराः एते, नो च ओघं तरित्तुम् । अतीरङ्गमाः एते, नो च तीरं गन्तुम् । अपारङ्गमाः एते, नो च पारं गन्तुम् ।

ये अनोघन्तर हैं—ओघ को तरने में समर्थ नहीं हैं । ये अतीरंगम हैं—तीर तक पहुंचने में समर्थ नहीं हैं । ये अपारंगम हैं—पार तक पहुंचने में समर्थ नहीं हैं ।

भाष्यम् ७१—एते क्रूरकर्माणिः परिग्रहिणो मनुष्या अनोघन्तरा<sup>३</sup> भवन्ति, न च समर्था भवन्ति ओघं तरित्तुम् । एते अतीरंगमा भवन्ति, न च समर्था भवन्ति तीरं गन्तुम् । एते अपारंगमा भवन्ति, न च समर्था भवन्ति पारं गन्तुम् ।

ये क्रूरकर्म करने वाले परिग्रही मनुष्य अनोघन्तर होते हैं—दुःख के प्रवाह को तरने में समर्थ नहीं होते । ये अतीरंगम होते हैं—दुःख के तट तक पहुंचने में समर्थ नहीं होते । ये अपारंगम होते हैं—पार तक पहुंचने में समर्थ नहीं होते ।

परिग्रहस्य क्रूरतायाश्च अस्ति कश्चिद् आन्तरिकः संबंधः । यथा यथा परिग्रहो वर्धते तथा तथा मृदुतायाः ह्रासः क्रूरतायाश्च वृद्धिः भवतीति साक्ष्यमस्ति मानवजातेरितिहासः । दुःखमुक्तेरुपायोऽस्ति मृदुता । क्रूरता सामाजिकसंबंधान् समस्यासंकुलान् कृत्वा मनुष्यं अपारंगमं करोति ।

परिग्रह और क्रूरता में कोई आंतरिक संबंध है । जैसे-जैसे परिग्रह बढ़ता है, वैसे-वैसे मृदुता का ह्रास होता है और क्रूरता बढ़ती जाती है । इसका साक्षी है मानवजाति का इतिहास । दुःखमुक्ति का उपाय है—मृदुता । क्रूरता सामाजिक सम्बन्धों को समस्या-संकुल बनाकर मनुष्य को अपारंगम बना देती है—वह पार नहीं पहुंचा पाती ।

ओघः—दुःखस्य प्रवाहः ।

तीरम्—दुःखस्य तटम् ।

पारम्—परवर्तितटम् ।

ओघ का अर्थ है—दुःख का प्रवाह ।

तीर का अर्थ है—दुःख का तट ।

पार का अर्थ है—परवर्ती तट ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र ११२ :

रागद्वेषाभिभूतत्वात्, कार्याकार्यपराङ्मुखः ।

एष मूढ इति ज्ञेयो, विपरीतविधायकः ॥

२. आम का फल जैसे आम कहलाता है, वैसे ही आम का बीज भी आम कहलाता है । इसी प्रकार प्रतिकूल संवेदन जैसे दुःख कहलाता है, वैसे ही प्रतिकूल संवेदन का हेतुभूत कर्म भी दुःख कहलाता है । जो दार्शनिक कार्य और कारण को पृथक्-पृथक् देखते हैं, वे दुःख के मूल को

समाप्त नहीं कर पाते । फलतः वह मूल बार बार फलित होता है—मनुष्य को मूढ बनाता है ।

जो क्रूरकर्म करता है, वह मूढ होता है और जो मूढ होता है वह विपर्यास को प्राप्त होता है—यह कार्य-कारण की भ्रंशला है ।

३. आचारांग वृत्ति, पत्र ११२ : तस्तेष्वानन्दसत्त्वात् खश खित्त्वान्मुभागमः ।

७२. आयाणिज्जं च आयाय, तस्मिं ठाणे ण चिट्ठइ । वित्थं गप्पखेयण्णे, तस्मिं ठाणम्मि चिट्ठइ ।

सं०—आदानीयं च आदाय तस्मिन् स्थाने न तिष्ठति । वितथं प्राप्य अक्षेत्रज्ञः तस्मिन् स्थाने तिष्ठति ।

अनात्मज्ञ पुरुष आदानीय (अपरिग्रह) को प्राप्त कर उस स्थान में स्थित नहीं होता । वह वितथ (परिग्रह) को प्राप्त कर उस स्थान में स्थित होता है ।

भाष्यम् ७२—प्रस्तुतागमे 'आयाणिज्ज' पदस्य प्रयोगो नैकवारं दृश्यते । 'आयाणीय' इति पदमपि बहुधा प्रयुक्तमस्ति । अनयोः पदयोः अनेके अर्था वर्तन्ते, यथा—संयमः ।<sup>१</sup> पंचविधः आचारः ।<sup>२</sup> आदेयः अथवा ज्ञानादीनि ।<sup>३</sup> ग्राह्यं सम्यग्दर्शनादि ।<sup>४</sup> आदानीयं श्रुतम् ।<sup>५</sup> आदानीयं—आदातव्यं भोगांगं द्विपदचतुष्पदधनधान्य-हिरण्यादि ।<sup>६</sup> आदानीयः आदेयवचनः ।<sup>७</sup> आदीयते इत्यादानीयं—कर्म ।<sup>८</sup> अत्र प्रकरणवशात् तद् अपरिग्रहे वर्तते ।

अक्षेत्रज्ञः—अनात्मज्ञः पुरुषः आदानीयं—अपरिग्रहं आदाय तस्मिन् स्थाने—अपरिग्रहस्य स्थाने न तिष्ठति । वितथमिति परिग्रहं प्राप्य तस्मिन् स्थाने—परिग्रहस्य स्थाने तिष्ठति ।

अनात्मवित् पुरुषः परिग्रहस्य पदार्थस्य वा मूर्च्छां परिहर्तुं न तीरयति । यदा कदा यथाकथंचित् आदानीयं आदायापि आत्मनः पुद्गलस्य च भेदविज्ञानानुदया-वस्थार्या भेदविज्ञानलब्धे अपरिग्रहस्थाने न स्थातुमर्हन्तीति सुनिश्चितमिदम् ।

७३. उद्देशो पासगस्स णत्थि ।

सं०—उद्देशः पश्यकस्य नास्ति ।

द्रष्टा के लिए कोई उद्देश—व्यपदेश नहीं है ।

भाष्यम् ७३—यः वस्तुसत्यं पश्यति स पश्यकः । तस्य उद्देशो नास्ति । उद्देशः—व्यपदेशः, यथा—सुखी, दुःखी, क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, धनी, निर्धन इति । पश्यकः एतादृशमुद्देशमतिक्रम्य सततमात्मस्थतामनुभवति विकल्पजनितञ्च दुःखमतिवर्तते ।<sup>११</sup>

प्रस्तुत आगम में 'आयाणिज्ज' तथा 'आयाणीय' पद का प्रयोग अनेक बार हुआ है । इन दोनों शब्दों के अनेक अर्थ हैं, जैसे—संयम, पांच प्रकार का आचार, आदेय अथवा ज्ञान आदि, ग्राह्य सम्यग्दर्शन आदि, श्रुत, द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य, हिरण्य आदि आदेय भोगांग, आदेयवचन तथा कर्म । प्रस्तुत प्रकरण में उसका अर्थ है—अपरिग्रह ।

अक्षेत्रज्ञ—अनात्मज्ञ पुरुष आदानीय—अपरिग्रह को प्राप्त कर उस स्थान—अपरिग्रह के स्थान में स्थित नहीं होता । वह वितथ—परिग्रह को प्राप्त कर उस स्थान—परिग्रह के स्थान में स्थित होता है ।

अनात्मविद् मनुष्य परिग्रह तथा पदार्थ की मूर्च्छा का परिहार करने में समर्थ नहीं होता । जब-कभी तथा जैसे-तैसे अपरिग्रह प्राप्त कर लेने पर भी उसमें आत्मा और पुद्गल का भेदविज्ञान उदित नहीं होता, ऐसी स्थिति में वह भेदविज्ञान से प्राप्त होने वाले अपरिग्रह के स्थान में स्थित नहीं हो पाता, यह सुनिश्चित है ।

जो वस्तु-सत्य को देखता है वह द्रष्टा होता है । उसका उद्देश नहीं होता । उद्देश का अर्थ है—व्यपदेश, जैसे—सुखी, दुःखी, क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, धनी, निर्धन आदि । द्रष्टा इस प्रकार के व्यपदेश का अतिक्रमण कर सदा आत्मस्थता का अनुभव करता है और विकल्प-जनित दुःख का अतिक्रमण कर देता है ।

१. आयारो, २।७२; ४।४४; ६।५१ ।

२. वही, १।२४, ४७, ७८, १०६, १३३, १५७; २।१४८ ।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २२ ।

४. वही, पृष्ठ ७० ।

५. वही, पृष्ठ १५० ।

६. आचारांग वृत्ति, पत्र ३४ ।

७. वही, पत्र ११२ ।

८. वही, पत्र ११२ ।

९. वही, पत्र १७५ ।

१०. वही, पत्र २२० ।

११. द्रष्टव्यम्—आयारो २।१८५ ।

७४. बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुक्खे दुक्खो दुक्खानामेव आवट्टं अणुपरियट्टइ । — त्ति वेमि ।

सं०—बालः पुनः स्निहः कामसमनोज्ञः अशमितदुःखः दुःखी दुःखानामेव आवर्त्तं अनुपरिवर्तते । —इति श्रीमि ।

अज्ञानी पुरुष स्नेहवान् और काम-प्रार्थी होकर दुःख का शमन नहीं कर पाता । वह दुःखी बना हुआ दुःखों के आवर्त्त में अनुपरिवर्तन करता है । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ७४—यः पुनः बालो भवति, पश्यको न भवति, स स्नेहवान् कामसमनोज्ञः—कामं प्रार्थयमानः विषयपरिग्रहसमुत्थं दुःखं नोपशमितुमर्हति । अशमित-दुःखः स शारीरमानसाभ्यां दुःखाभ्यां दुःखी भूत्वा दुःखानामेव आवर्त्तमनुपरिवर्तते ।

बालस्य पुनः सुखी, दुःखी, क्रोधी—एवंविध उद्देशो भवति ।<sup>१</sup>

जो अज्ञानी होता है, द्रष्टा नहीं होता, वह स्नेहिल पुरुष काम की प्रार्थना करता हुआ विषय और परिग्रह से समुत्पन्न दुःख का उपशमन नहीं कर सकता । वह दुःख का उपशमन न करने के कारण शारीरिक और मानसिक दुःखों से दुःखी होकर दुःखों के आवर्त्त में ही बार-बार घूमता रहता है ।

अज्ञानी पुरुष के लिए सुखी, दुःखी, क्रोधी—आदि का व्यपदेश होता है ।

### चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

७५. तओ से एगया रोग-समुप्पाया समुप्पज्जंति ।

सं०—ततः तस्य एकदा रोगसमुत्पादाः समुत्पद्यन्ते ।

उसके पश्चात् कदाचित् मनुष्य के शरीर में रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

भाष्यम् ७५—अर्थः कामस्य साधनमस्ति । अर्थवान् पुरुषः कामान् सेवते । ततः कामासेवनात् एकदेति सम्भाव्यते रोगाणां समुत्पत्तिः । भगन्दरो वातादि-रोगाश्च उत्पद्यन्ते इति चूर्णिकारः ।<sup>२</sup> धातुक्षयभगन्द-रादयो रोगाः समुत्पद्यन्ते इति वृत्तिकारः ।<sup>३</sup> चरकेऽपि अस्य संवादित्वं लभ्यते ।

धन काम का साधन है । धनवान् पुरुष कामों का सेवन करता है । काम का आसेवन रोगों की उत्पत्ति का कारण बन सकता है । चूर्णिकार के अनुसार काम के आसेवन से भगंदर, वात आदि रोग तथा वृत्तिकार के अनुसार धातुक्षय, भगंदर आदि रोग उत्पन्न होते हैं । चरक में भी इस तथ्य की संवादिता प्राप्त होती है ।

७६. जेहिं वा सद्धिं संवसति ते वा णं एगया णियया पुव्विं परिवर्यंति, सो वा ते णियगे पच्छा परिवएज्जा ।

सं०—यैः वा सार्द्धं संवसति ते वा एकदा निजकाः पूर्वं परिवदन्ति, स वा तान् निजकान् पश्चाद् परिवदेत् ।

वह जिनके साथ रहता है, वे आत्मीयजन एकदा उसके तिरस्कार की पहल करते हैं । बाद में वह भी उनका तिरस्कार करने लग जाता है ।

भाष्यम् ७६—यैः सह संवासोऽस्ति तेऽपि निजका जना एकदा पूर्वमिति नीरोगावस्थायां सर्वकर्मक्षमा-वस्थायाञ्च राजकुलं सभां उद्यानं वा गच्छन्तं तं अनु-गच्छन्ति । रोगावस्थायां कर्माऽक्षमावस्थायाञ्च ते तं परिभवन्ति । पश्चादिति स्वपरिभवानन्तरं सोऽपि तान् निजकान् परिभवति ।<sup>४</sup>

जिनके साथ सहवास होता है वे आत्मीयजन कभी नीरोग अवस्था और सम्पूर्ण कार्यक्षम अवस्था में राजकुल, सभा या उद्यान को जाते हुए उस व्यक्ति का अनुगमन करते हैं, उसके साथ-साथ जाते हैं । वही व्यक्ति जब रोग से आक्रांत और कार्य करने में अक्षम हो जाता है तब वे आत्मीयजन उसका तिरस्कार करते हैं । अपने तिरस्कार के बाद वह भी उन आत्मीयजनों का तिरस्कार करने लग जाता है ।

१. द्रष्टव्यम्—आचारो २।१५६ ।

२. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ७१ : अहवा अतिकामासत्तस्स इहेव भगंदरो अंतविहिमाति रोगा वाताति उप्पज्जन्ति ।

३. आचारंग वृत्ति, पत्र ११३ : कामा दुःखात्मका एव, नत्र चासत्तस्य धातुक्षयभगन्दरादयो रोगाः समुत्पद्यन्ते ।

४. तुलना—आचारंगभाष्यम्, २।६ ।

७७. नालं ते तव त्राणाए वा, शरणाए वा । तुमपि तेसि नालं त्राणाए वा, शरणाए वा ।

सं०—नालं ते तव त्राणाय वा, शरणाय वा । त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा, शरणाय वा ।

हे पुरुष ! वे स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं । तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो ।

भाष्यम् ७७—त्राणम् --क्रिया<sup>१</sup>, चिकित्सा<sup>२</sup> इत्यर्थः । शरणमपि व्याधेरुपशमः<sup>३</sup> केचिज्जना रुग्णमपि पुरुषं न परिवदन्ति, तथापि नालं ते तव त्राणाय वा शरणाय वा । त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा ।

त्राण का अर्थ है—क्रिया, चिकित्सा । शरण अर्थात् व्याधि का उपशमन । कुछ लोग रुग्ण व्यक्ति का भी तिरस्कार नहीं करते, फिर भी वे तुम्हारे त्राण या शरण के लिए सक्षम नहीं हैं । तुम भी उनके त्राण या शरण के लिए सक्षम नहीं हो ।

७८. जाणित्तु दुखं पत्तेयं सायं ।

सं०—जात्वा दुःखं प्रत्येकं सातम् ।

दुःख और सुख अपना-अपना होता है—यह जानकर ।

भाष्यम् ७८ - अर्थार्जनकामासेवनाभ्यामजितं दुःखं प्रत्येकं भवति—कर्तुरेव भवति, न येषां कृते कृतं तेषु संक्रामति । एवं सातमपि प्रत्येकं भवति इति ज्ञात्वा अर्थार्जने कामसेवने च नासक्तिरासेवनीया ।

अर्थार्जन और काम के आसेवन से उपाजित दुःख अपना-अपना होता है—करने वाले का ही होता है । जिनके लिए किया जाता है उनमें वह संक्रांत नहीं होता । इसी प्रकार सुख भी अपना-अपना होता है, यह जानकर अर्थार्जन और कामसेवन में आसक्ति नहीं करनी चाहिए ।

७९. भोगामेव अणुसोयन्ति ।

सं०—भोगानेव अनुशोचन्ति ।

कुछ मनुष्य भोग के विषय में ही सोचते रहते हैं ।

भाष्यम् ७९—कामभोगेभ्यः रोगोत्पत्तिर्भवति, अत्राणता अशरणता च भवति, व्यक्तिगतञ्च सुख-दुःखं भवति इति ज्ञात्वापि केचिन्मनुष्याः भोगान् एव अनुशोचन्ति । इत्यस्ति मूर्च्छाविलसितम् ।

कामभोगों से रोग की उत्पत्ति होती है, अत्राणता और अशरणता होती है और सुख-दुःख व्यक्तिगत होता है—यह जानकर भी कुछ मनुष्य भोगों का ही अनुचितन करते हैं । यह मूर्च्छा की ही लीला है ।

८०. इहभेर्गेसि माणवानां ।

सं०—इहेकेषां मानवानाम् ।

यहां कुछ मनुष्यों के लिए अर्थ ही प्रधान है ।

भाष्यम् ८०—एकेषां मानवानां 'अर्थो हि सर्वेषां पुरुषार्थानां मूलं भवति' इति मतिर्भवति । यथा—अर्थमूलो हि धर्मकामौ इति चाणक्यः<sup>४</sup> इति चिन्तनेन ते अर्थमर्जयन्ति ।

कुछ लोग 'अर्थ ही सब पुरुषार्थों का मूल है', ऐसा मानते हैं । चाणक्य का भी यही मत है—धर्म और काम का मूल अर्थ है । इस चिन्तन से मनुष्य अर्थ का अर्जन करते हैं ।

८१. त्रिविहेण जावि से तत्थ मत्ता भवइ—अप्पा वा बहुगा वा ।

सं०—त्रिविधेन यपि तस्य तत्र मात्रा भवति—अल्पा वा बहुका वा ।

अपने, पराए या दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से उनके पास अर्थ की अल्प या बहुत मात्रा हो जाती है ।

१. आचारंग चूणि, पृष्ठ ७२ : इह रोगा अधिकृता, तत्थ सम्मं रोगिस्स किरियं ताणं ।

२. आपटे, क्रिया— Medical Treatment.

३. आचारंग चूणि, पृष्ठ ७२ : वाहिउवसमो सरणं ।

४. कौटलीयार्थशास्त्रम्, १।२।३ : अर्थमूलो हि धर्मकामाश्रिति

भाष्यम् ८१—अत्र २।६५ सूत्रस्य भाष्यांशः पुन-  
रावर्तनीयः—त्रिविधेन—स्व-पर-तदुभयप्रयत्नेन अथवा  
मानसिक-वाचिक-कायिकप्रयत्नेन तस्य पार्श्वे अल्पा वा  
बह्वी वा अर्थमात्रा भवति, यथा—सहस्रपतिः, लक्षपतिः,  
कोटिपतिरिति ।

यहां २/६५वें सूत्र का भाष्यांश जोड़ देना चाहिए—तीन प्रकार  
से—स्व-पर और तदुभय के प्रयत्न से अथवा मानसिक, वाचिक और  
शारीरिक प्रयत्न से उसके पास अल्प या बहुत अर्थ की मात्रा हो जाती  
है, जैसे—सहस्रपति, लक्षपति और कोटिपति ।

८२. से तत्थ गडिए चिड्ठति, भोगणाए ।

सं०—स तत्र ग्रथितः तिष्ठति, भोजनाय ।

वह उस अर्थ-राशि में आसक्त रहता है और भोग के लिए उसकी अपेक्षा रखता है ।

८३. ततो से एगया विपरिसिद्धं संभूयं महोवगरणं भवति ।

सं०—ततः तस्य एकदा विपरिशिष्टं संभूतं महोपकरणं भवति ।

भोग के बाद बची हुई प्रचुर अर्थराशि से उसके पास विपुल अर्थराशि हो जाती है ।

८४. तं पि से एगया दायाया विभयति, अदत्तहारो वा से अवहरति, रायाणो वा से विलुपति, णस्सइ वा से, विणस्सइ  
वा से, अगारडाहेण वा से उज्झइ ।

सं०—तदपि तस्य एकदा दायादाः विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य अपहरति, राजानो वा तस्य विलुम्पन्ति, नश्यति वा तस्य, विनश्यति  
वा तस्य, अगारदाहेन वा तस्य दह्यते ।

एक समय ऐसा आता है कि उस संचित अर्थराशि से दायाद हिस्सा बंटा लेते हैं, या चोर उसका अपहरण कर लेते हैं, या राजा  
उसे छीन लेते हैं, या वह नष्ट-विनष्ट हो जाती है, या गृहदाह के साथ वह जल जाती है ।

८५. इति से परस्स अट्ठाए कूराइं कम्मइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विपरियासुवेइ ।

सं०—इति स परस्य अर्थाय क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन मूढः विपर्यासमुपैति ।

इस प्रकार अज्ञानी पुरुष दूसरे के लिए क्रूरकर्म करता हुआ उस दुःख से मूढ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है ।

भाष्यम् ८२-८५—एतानि सूत्राणि पूर्ववद् पूर्ववत् देखें—सूत्र ६६-६९ ।  
(६६-६९) द्रष्टव्यानि ।

८६. आसां च छंदं च विगिच्च धीरे ।

सं०—आशां च छन्दञ्च वेविक्ष्व' धीर ! ।

हे धीर ! तू आशा और छंद को छोड़ ।

भाष्यम् ८६—विपर्यासनिवृत्तये हे धीर ! त्वं  
आशां छन्दञ्च वेविक्ष्व—परित्यज ।

आशा—भोगाभिलाषः ।

छन्दः—इन्द्रियसुखवृत्तिः ।\*

छन्दो णाम पराणुवत्ती, अणासंसंतोवि कोपि  
पराणुवत्तीए अकुसलं आरभति इति चूर्णौ ।<sup>३</sup>

हे धीर ! तू विपर्यास को मिटाने के लिए आशा और छंद का  
परित्याग कर ।

आशा का अर्थ है—भोग की अभिलाषा ।

छन्द का अर्थ है—इन्द्रिय-सुखों की पराधीनता ।

चूर्ण के अनुसार छन्द का अर्थ है दूसरे के अधीन रहना । कोई  
व्यक्ति आशंसा न होने पर भी दूसरे की अधीनता के कारण अकुशल  
(अशुभयोग) की प्रवृत्ति करता है ।

१. (क) विज् न्क् पृथग्भावे इति धातोः रूपम् ।

(ख) विच् न्क् पृथग्भावे इति धातोः रूपं 'विङ् श्व' भविष्यति ।

२. आष्टे, छन्द—Pleasure.

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ७२ ।

८७. तुमं चैव तं सल्लमाहृद्दु ।

सं०—त्वमेव तत् शल्यमाहृत्य ।

उस शल्य का सृजन तूने ही किया है ।

भाष्यम् ८७—शल्यम्—कर्म, तद्विपाकश्च । आशा छन्दोऽपि च शल्यमेव । ततः कर्म, ततश्च दुःखम् । एतत् शल्यं त्वमेव आहृत्वा, अतस्त्वमेव तस्योद्धरणे प्रभुरसि ।

शल्य का अर्थ है कर्म और उसका विपाक । आशा और छन्द भी शल्य ही हैं । उनसे कर्म और कर्म से दुःख उत्पन्न होता है । इस शल्य का सृजन तूने ही किया है, इसलिए तू ही उसे निकालने में समर्थ है ।

८८. जेण सिया तेण णो सिया ।

सं०—येन स्यात् तेन नो स्यात् ।

जिससे होता है उससे नहीं भी होता ।

भाष्यम् ८८—येन अर्थजातेन पदार्थेन वा भोगो-पभोगः सुखोपलब्धिर्वा स्यात् तेन नापि स्यात्, विचित्र-त्वात् कर्मपरिणतेः रोगार्त्वाच्छरीरस्य, अन्येषामपि च तथाविधानां विघ्नानां सम्भवात् ।

जिस अर्थराशि से या पदार्थ से भोगों का उपभोग या सुख की उपलब्धि होती है, उनसे नहीं भी होती । इसका कारण है—कर्म-परिणति की विचित्रता, शरीर की रग्नता और उसी प्रकार के अन्य विघ्नों की संभाव्यता ।

८९. इणमेव णावबुद्धंति, जे जणा मोहपाउडा ।

सं०—इदमेव नावबुध्यन्ते ये जनाः मोहप्रावृताः ।

मोह से अतिशय आवृत मनुष्य इस पौद्गलिक सुख की अनैकान्तिकता को भी नहीं समझ पाते ।

भाष्यम् ८९—इदं वस्तुसत्यमस्ति, किन्तु ये जना मोहप्रावृता भवन्ति, ते तदपि नावबुध्यन्ते । मोहो रागद्वेषात्मकः । स च द्विविधो भवति—दर्शनमोहः चारित्रमोहश्च ।

यह वस्तु-सत्य है, किन्तु जो लोग मोह से सघन रूप में आवृत होते हैं वे इसे भी नहीं समझ पाते । मोह राग-द्वेषात्मक होता है । वह दो प्रकार का होता है—दर्शनमोह और चारित्रमोह ।

९०. शीभि लोए पव्वहिए ।

सं०—स्त्रीभिः लोकः प्रव्यथितः ।

यह लोक स्त्रियों के द्वारा वशीकृत है ।

भाष्यम् ९०—आशया छन्दसा चाभिभूतः, काम-शल्येन पीडितः, भोगस्य सुखानुभूतिं प्रति अनैकान्तिकतां च अनवबुध्यमानो लोकः स्त्रीभिः प्रव्यथितो भवति ।

जो व्यक्ति आशा और छन्द से पराभूत, कामशल्य से पीडित और भोगों की सुखानुभूति की अनैकान्तिकता (अनिश्चितता) को नहीं समझता वह स्त्रियों से प्रव्यथित होता है, उनका वशवर्ती बन जाता है ।

९१. ते भो वयंति—एयाइं आयतणाइं ।

सं०—ते भो ! वदन्ति—एतानि आयतनानि ।

हे शिष्य ! वे कहते हैं—ये स्त्रियां आयतन हैं ।

भाष्यम् ९१—‘भो’ इति शिष्यामन्त्रणार्थम् । ते स्त्रीभिः प्रव्यथिता जनाः वदन्ति—एतानि आयतनानि सन्ति—एताः स्त्रियः भोगस्य स्थानानि विद्यन्ते ।

‘भो’—यह शिष्य के सम्बोधन का वाचक है । वे स्त्रियों से प्रव्यथित (वशीकृत) लोग कहते हैं—ये आयतन हैं—ये स्त्रियां भोग-स्थान हैं । आयतन दो प्रकार का होता है—प्रशस्त और

आयतनं द्विविधं भवति—प्रशस्तं अप्रशस्तञ्च । प्रशस्तं ज्ञानादि, अप्रशस्तं विषयाः स्त्रियश्च । यः प्रशस्तभावा-यतनशून्यो भवति स अनायतनान्यपि आयतनानि करोति। स्त्रियो न सन्ति वस्तुतो भोगायतनानि ।

अप्रशस्त । ज्ञान आदि प्रशस्त आयतन हैं । विषय और स्त्रियां अप्रशस्त आयतन हैं । जो प्रशस्त भाव के आयतन से शून्य होता है वह अनायतन को भी आयतन बना देता है । स्त्रियां वस्तुतः भोग की आयतन नहीं हैं, भोग-सामग्री नहीं हैं ।

६२. से दुःखाए मोहाए माराए णरगाए णरग-तिरिक्खाए ।

सं०—तद् दुःखाय मोहाय माराय नरकाय नरकतिरश्चे ।

यह उसके दुःख, मोह, मृत्यु, नरक और तिर्यंच गति के लिए होता है ।

भाष्यम् ९२—एतद् अनायतने आयतनाभिमतं तस्य दुःखाय, मोहाय, माराय, नरकाय, नरकतिर्यंगत्यै च भवति ।

अनायतन को आयतन मानना उसके दुःख, मोह, मृत्यु, नरक और तिर्यंच गति के लिए होता है ।

कार्यकार्यस्य अविवेको मोहः । विषयासक्तो कार्यमकार्यं न जानाति ।

करणीय और अकरणीय का अविवेक मोह है । विषयों में आसक्त मनुष्य करणीय और अकरणीय को नहीं जानता ।

विषयेषु अतिप्रसक्तः इष्टां स्त्रियमलभमानः आत्महृत्यामपि करोति । तेन विषयासक्तिर्मृत्युरेव भवति ।

विषयों में अति आसक्त मनुष्य अपनी मनोगत स्त्री के प्राप्त होने पर आत्महत्या भी कर लेता है । इसलिए विषयों की आसक्ति मृत्यु ही है ।

विषयासक्तो मनुष्यो नरके उत्पद्यते । तत् उद्वर्तनं कृत्वा तिर्यंगतावृत्पद्यते । एवं नरकतिर्यंगता पुनर्पुनरनुपरिवर्तमानो भवति ।

विषयासक्त मनुष्य नरक में उत्पन्न होता है । वहां से निकल कर वह तिर्यंच गति में जन्म लेता है । इस प्रकार वह बार-बार नरक और तिर्यंच गति में परिभ्रमण करता रहता है ।

६३. सततं मूढे धम्मं णाभिजाणइ ।

सं०—सततं मूढः धर्मं नाभिजानाति ।

सतत मूढ मनुष्य धर्म को नहीं जानता ।

भाष्यम् ९३—नानागतिषु जन्ममरणचक्रमनुभवन् सततं मूढः—मूर्च्छा परिगतः पुरुषः धर्मं नाभिजानाति । मूर्च्छायां न धर्माभिज्ञानम् । धर्माभिज्ञानं विना न मूर्च्छा-परिहारः । इदानीं कथञ्चिद् मूर्च्छाभिज्ञो जातः । तेन अप्रमत्तेन भाव्यमित्युपदेशः—

बिभिन्न गतियों में जन्म-मरण करता हुआ मनुष्य निरंतर मूर्च्छित बना रहता है । मूर्च्छित मनुष्य धर्म को नहीं जान पाता । मूर्च्छा में धर्म की पहचान नहीं होती । धर्म को जाने बिना मूर्च्छा का परिहार नहीं होता । वर्तमान जन्म में कुछ मूर्च्छा टूटी है, इसीलिए अब अप्रमत्त रहना चाहिए । इस उपदेश के संदर्भ में—

६४. उदाह वीरे—अप्पमादो महामोहे ।

सं०—उदाह वीरः—अप्रमादः महामोहे ।

महावीर ने कहा—साधक विषय-विकारों में प्रमत्त न हो ।

भाष्यम् ९४—वीरः तीर्थकरः महावीरो वा उदाहृतवान्—महामोहे अप्रमादः कार्यः ।

वीर अर्थात् तीर्थकर अथवा महावीर ने कहा—महामोह में प्रमत्त मत बनो ।

महामोहः—स्त्री-पुं-नपुंसक-वेदाः विषयाभिलाषो वा ।

महामोह का अर्थ है—(१) स्त्रीवेद—स्त्री के प्रति होने वाला विकार, (२) पुरुषवेद—पुरुष के प्रति होने वाला विकार, (३) नपुंसक-वेद—नपुंसक के प्रति होने वाला विकार । अथवा महामोह का अर्थ है—विषय-सेवन की अभिलाषा ।



६५. अलं कुशलस्य प्रमादस्य ।

सं०—अलं कुशलस्य प्रमादेन ।

कुशल प्रमाद न करे

भाष्यम् ९५—कुशलस्य प्रमादेन किं प्रयोजनम् ? अस्याशयमिदं—कुशलः वीतरागः वीतरागसाधनायां वा प्रवृत्तः पुरुषः । वीतरागे कुतः प्रमादस्य चर्चा ? प्रमादस्य कारणमस्ति मोहः । तस्य प्रलयं कृत्वैव पुरुषो वीतरागो भवति । न च तस्मिन् क्वचिदपि कदाचिदपि विषयाभिलाषः प्रस्फुरति । यश्च वीतरागसाधनायां प्रवृत्तः स कदाचिद् महामोहदशां प्राप्नुयात् । तं लक्ष्यीकृत्य निर्दिष्टं भगवता—त्वं कुशलोऽसि । वीतरागदशां अधिजिगमिषुरसि । तव प्रमादेन किं प्रयोजनम् ? त्वया सततं अप्रमत्तेन भाव्यम् ।

कुशल का प्रमाद से क्या प्रयोजन ? इसका आशय यह है कि जो वीतराग है या वीतराग की साधना में प्रवृत्त है, वह कुशल कहलाता है । वीतराग व्यक्ति में प्रमाद का प्रसंग ही कहां ? प्रमाद का कारण है—मोह । उसका सवंधा क्षीण करके ही व्यक्ति वीतराग बनता है । उसमें कहीं और कभी भी विषयाभिलाषा नहीं जागती । जो वीतराग की साधना में प्रवृत्त है, वह कभी महामोह की दशा को प्राप्त हो सकता है । उसको लक्ष्य कर भगवान् ने कहा—तू कुशल है । तू वीतराग-दशा को प्राप्त करना चाहता है । फिर प्रमाद से तेरा क्या प्रयोजन ? तुझे सतत अप्रमत्त रहना चाहिए ।

६६. शान्ति-मरणं संपेहाए, भेउरधम्मं संपेहाए ।

सं०—शान्तिमरणं संप्रेक्ष्य, भिदुरधर्मं संप्रेक्ष्य ।

शांति और मरण की संप्रेक्षा करने तथा अनित्य शरीर की संप्रेक्षा करने पर अप्रमाद की वृद्धि होती है ।

भाष्यम् ९६—नाभ्यासेन विना अप्रमादस्य आसेवनं प्रमादस्य च परिहारः कर्तुं शक्यः । तेन तदालम्बनसूत्रं निर्दिश्यते—शान्तिसंप्रेक्षा, मरणसंप्रेक्षा, अनित्यसंप्रेक्षा—एतानि त्रीणि सन्ति अप्रमादस्य आलम्बनानि ।

अभ्यास के बिना प्रमाद की साधना और अप्रमाद का परिहार नहीं किया जा सकता । इसलिए उसका आलम्बन-सूत्र निर्दिष्ट किया जा रहा है । शांति-संप्रेक्षा, मरण-संप्रेक्षा और अनित्य-संप्रेक्षा—ये अप्रमाद की साधना के तीन आलम्बन हैं ।

शांतिः—निर्वाणम् । मरणम्—संसारः । अथवा शांतिः—अव्याबाधा प्रवृत्तिः । मरणम्—सव्याबाधा प्रवृत्तिः । भिदुरधर्ममिति अनित्यं शरीरम् ।

शांति का अर्थ है—निर्वाण और मरण का अर्थ है—संसार । अथवा बाधा रहित प्रवृत्ति शांति है और बाधा सहित प्रवृत्ति मरण है । भिदुरधर्म का अर्थ है—शरीर की अनित्यता ।

शांतिर्मरणस्य अनित्यतायाश्च पौनःपुन्येन प्रेक्षया प्रमादो निवर्तते अप्रमादश्च प्रवर्धते ।

शांति, मरण और अनित्यता की बार-बार प्रेक्षा करने से प्रमाद की निवृत्ति और अप्रमाद की वृद्धि होती है ।

६७. जालं पास ।

सं०—जालं पश्य ।

तू देख ! ये भोग तृप्ति देने में समर्थ नहीं हैं ।

भाष्यम् ९७—इदमपि अप्रमादस्य आलम्बनसूत्रम्—मतिमन् ! त्वं पश्य, एते कामभोगा भुज्यमाना अपि अलमिति पर्याप्ता न भवन्ति, न तृप्तये भवन्ति । अतृप्तिश्च उत्तरोत्तरं प्रवर्धते । भणितं च—

यह भी अप्रमाद का आलम्बन-सूत्र है—मतिमन् ! तू देख, भोगे जाने वाले ये कामभोग भी पर्याप्त नहीं हैं, तृप्ति देने वाले नहीं हैं । इनके भोग से उत्तरोत्तर अतृप्ति बढ़ती है । कहा भी है—

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां, नापगानां महोदधिः ।  
नान्तकृत् सर्वभूतानां, न पुंसां वामलोचना ॥'

जैसे अग्नि इंधन से, महासमुद्र नदियों से और यमराज सभी प्राणियों को मारकर भी तृप्त नहीं होता, वैसे ही स्त्री पुरुषों से तृप्त नहीं होती ।

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ ७५ में उद्धृत श्लोक ।

६८. अलं ते एएहि ।

सं०—अलं ते एतैः ।

फिर इनसे तुम्हारा क्या प्रयोजन ?

भाष्यम् ९८—एते कामभोगा अतृप्तिमुद्दीपयन्ति । तेन तव एतैः अलम्—किं प्रयोजनम् ?

ये कामभोग अतृप्ति को उत्तेजित करते हैं। इसलिए तुम्हारा इनसे क्या प्रयोजन ?

६९. एयं पास मुणी ! महाभयं ।

सं०—एतत् पश्य मुने ! महाभयम् ।

ज्ञानिन् ! तू देख, यह महाभयंकर है ।

भाष्यम् ९९—हे मुने—ज्ञानिन् ! त्वं पश्य, एष विषयाभिलाषः महाभयम् । एष विषयाभिलाषः प्रियैः मृदुभिश्च उद्दीपनैरुद्दीप्तो भवति वेदनाञ्च जनयति, तेनासौ महाभयः । भणितं च—

हे ज्ञानिन् ! तू देख, यह विषयों की अभिलाषा महाभयंकर है। यह विषयाभिलाषा प्रिय और मृदु उद्दीपनों से उद्दीप्त होती है और वेदना को उत्पन्न करती है, इसलिए यह महाभयंकर है। कहा भी है—

एतो च उष्णतरोया अष्णा का वेयणा गणिज्जंती ?

अं कामवाहिगहितो इज्जति किर चंदकिरणोह ॥'

इससे अधिक उष्णतर अर्थात् तीव्रतर अन्य कौनसी वेदना होगी कि कामरूपी व्याघ्रि से ग्रस्त व्यक्ति चन्द्रमा की शीतल किरणों से भी जल जाता है !

पौर्णमास्याश्चंद्रमसः मनुष्याणां भावेन अस्ति कश्चित् सम्बन्ध इति वैज्ञानिकानामपि साम्प्रतमभिमतमस्ति ।

आज के वैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि पूर्णिमा के चन्द्रमा का मनुष्यों के भावों के साथ कुछ न कुछ संबंध अवश्य है ।

१००. णाइवाएज्ज कंचणं ।

सं०—नातिपातयेत् कञ्चन ।

पुरुष किसी भी जीव का अतिपात न करे ।

भाष्यम् १००—कामासक्तः हिंसायां प्रवर्तते । काम-विरतेरनन्तरं हिंसाविरतेरुपदेशः—कमपि जीवं नाति-पातयेत् काममुक्तः पुरुषः ।\*

काम में आसक्त मनुष्य हिंसा में प्रवृत्त होता है। काम-विरति के पश्चात् हिंसा की विरति का उपदेश दिया गया है कि काममुक्त पुरुष किसी भी जीव का अतिपात न करे ।

१०१. एस वीरे पसंसिए, जे ण णिविज्जति आदाणाए ।

सं०—एष वीरः प्रशंसितः यो न निविन्दते अदानाय ।

वह वीर प्रशंसित होता है, जो अदान से खिन्न नहीं होता ।

भाष्यम् १०१—यस्य नास्ति परिग्रहः स जीवनधारणार्थं भोजनादिदानेन लभ्यते । दानञ्च दातुरिच्छा-श्रितम् । कश्चिद् दाता न दित्सुरथवा नोचिता दान-सामग्री, तदानीमदानं<sup>३</sup> स्यात् । तस्यामदानावस्थायां

जिसके पास परिग्रह नहीं है, वह अपने जीवन-निर्वाह के लिए भोजन आदि दान के द्वारा प्राप्त करता है। दान दाता की इच्छा पर निर्भर होता है। कोई दाता देना नहीं चाहता अथवा उचित दान सामग्री प्राप्त नहीं है, तब अदान की स्थिति पैदा होती है अर्थात् उस व्यक्ति

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ ७५ में उद्धृत गाथा ।

२. भोग और हिंसा एक ही रेखा के दो बिन्दु हैं। ऐसा कोई भोगी नहीं है जो भोग का सेवन करता है और उसके लिए हिंसा नहीं करता। जहां हिंसा है वहां भोग हो भी सकता है और नहीं भी होता। जहां भोग है वहां हिंसा निश्चित है। अतः भोग के संदर्भ में अहिंसा का उपदेश

बहुत मूल्यवान् है ।

३. चूणो (पृ० ७५) 'अदानाए' इति पाठो व्याख्यातः—'जे ण णिविज्जति अदानाए' णिवेदो णाम अप्पाणिवा, अलब्धमाणा णिविदति अप्पाणं—किं मम एताए दुल्लमलाभाए पव्वज्जाए गहियाए ? वृत्तो (पत्र ११६) । 'आदानाय' इति पाठो व्याख्यातोऽस्ति ।

यो न खिद्यते स एष वीरः प्रशंसितः ।

को कुछ नहीं मिलता । ऐसी अदान की स्थिति में भी जो खिन्न नहीं होता वह वीर पुरुष प्रशंसित होता है ।

१०२. ण मे देति ण कुप्पिज्जा, थोवं लद्धुं न खिंसए । पडिसेहिओ परिणमिज्जा ।

सं०—न मे ददाति न कुप्येत्, स्तोत्रं लब्ध्वा न खिंस्येत् । प्रतिषिद्धः परिणमेत् ।

यह मुझे भिक्षा नहीं देता—यह सोचकर उस पर क्रोध न करे । थोड़ा प्राप्त होने पर निन्दा न करे । गृहस्वामी प्रतिषेध करे तो वहाँ से चला जाए ।

भाष्यम् १०२—अदानावस्थायां यदाचरितव्यं तस्य निर्देशः क्रियते—‘न मे ददाति’ इति न कुप्येत्, कश्चित् स्तोत्रं ददाति, तस्य न निंदां कुर्यात् । प्रतिषिद्धः ततः परिणमेत्—निवर्तते ।

अदान की स्थिति में साधक को जो आचरण करना चाहिए, उसका निर्देश यह है—‘वह मुझे भिक्षा नहीं देता’—यह सोचकर उस पर क्रोध न करे । कोई दाता थोड़ा देता है तो उसकी निन्दा न करे । गृहस्वामी प्रतिषेध करे तो वहाँ से लौट जाए ।

अदानं स्तोत्रदानं प्रतिषेधश्च—एताः तिस्रोऽप्यवस्थाः मनोविचलनस्य हेतुतां प्रपद्यन्ते । समाहितात्मा मुनिः एतासु अवस्थासु समत्वं भजते । वस्तुतः समत्वमुपाश्रित एव वीरो भवति अथवा वीर एव समत्वमाचरितुमर्हति ।

दान न देना, थोड़ा देना अथवा दान देने से प्रतिषेध करना—दान की ये तीनों अवस्थाएँ मन को विचलित करने में कारणभूत बनती हैं । समाहित आत्मा वाला मुनि इन अवस्थाओं में समता रखता है । वास्तव में समत्व की उपासना करने वाला ही वीर होता है अथवा जो वीर होता है वही समत्व का आचरण कर सकता है ।

१०३. एयं मोणं समणुवासेज्जासि । —त्ति बेमि ।

सं०—एतत् मोनं समणुवासयेः । —इति ब्रवीमि ।

मुनि इस ज्ञान का सम्यक् अनुपालन करे । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १०३—एतत् पूर्वनिर्दिष्टं मोनं त्वं समणुवासयेः । यो मन्यते स मुनिः । मुनेर्भावः मौनम् । ज्ञानं संयमो वा इति तात्पर्यम् ।

पूर्व सूत्रों में निर्दिष्ट जो मोन है उसका तू सम्यक् अनुपालन कर । जो जानता है वह मुनि है । मुनि का भाव है—मौन । इसका तात्पर्यार्थ है—ज्ञान अथवा संयम ।

### पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

१०४. जमिणं विरूवरुवेहिं सत्थेहिं लोमस्स कम्म-समारंभा कज्जंति, तं जहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुब्हाणं णातीणं धातीणं राईणं दासाणं दासीणं कम्मकरणं कम्मकरीणं आएसाए, पुढो पहेणाए, सामासाए, पायरासाए ।

सं०—यदिदं विरूपरूपं शस्त्रं लोकस्य कर्मसमारम्भाः क्रियन्ते, तद् यथा—आत्मने पुत्रेभ्यः दुहितृभ्यः स्नुषाभ्यः ज्ञातिभ्यः धात्रीभ्यः राजभ्यः दासेभ्यः दासीभ्यः कर्मकरेभ्यः कर्मकरीभ्यः आदेशाय, पृथक् प्रहेणकाय, श्यामाशाय, प्रातराशाय ।

प्रकरणसङ्गत्या अदानमिति उपयुक्तमस्ति । अत्र अदान-मेव दीर्घाकरणाद् आदानमिति मन्तव्यम् ।

१. जीवन यापन के लिए भोजन आवश्यक है । मुनि गृहस्थ के घर से उसे प्राप्त करता है । यह (भोजन) भोग भी बन सकता है और त्याग भी बन सकता है । रागद्वेष-मुक्त भाव से लिया हुआ और किया हुआ भोजन त्याग होता

है । राग-द्वेषयुक्त भाव से लिया हुआ और किया हुआ भोजन भोग बन जाता है । त्याग या संयम की साधना करने वाला मुनि भोजन लेने के अवसर पर क्रोध, निन्दा आदि आवेशपूर्ण व्यवहार न करे । मन को शांत और संतुलित रखे ।

असंयमी पुरुष अपने लिए, पुत्र, पुत्री, वधू, ज्ञाति, धाय, राजा, दास, दासी, नौकर, नौकरानी के निमित्त आतिथ्य, उपहार, सायंकालीन भोजन और प्रातःकालीन भोजन के लिए नाना प्रकार के शस्त्रों से कर्म-समारंभ—अग्नि का समारंभ करते हैं ।

भाष्यम् १०४—मनुष्येण विरूपरूपैः—नानाप्रकारैः शस्त्रैः लोकस्य<sup>१</sup>—अग्नेः सम्बन्धिनः पाककर्मसमारम्भाः क्रियन्ते, तद् यथा—आत्मनः, पुत्राणां, दुहितृणां, स्नुषाणां, ज्ञातीनां, धात्रीणां, राज्ञां, दासानां, दासीनां, कर्मकराणां, कर्मकरीणां निमित्तं आदेशाय, पृथक् प्रहेणकाय, श्यामाशाय, प्रातराशाय ।

आदेशः—आतिथ्यं यज्ञो वा<sup>२</sup> ।

प्रहेणकम्—उत्सवे दीयमानं मिष्टानम्<sup>३</sup> ।

श्यामाशः—श्यामा रात्री । सायंकालीनं भोजनं सायमाशः इति यावत् ।

मनुष्य अपने लिए, पुत्र, पुत्री, वधू, ज्ञाती, धाय, राजा, दास, दासी, नौकर, नौकरानी के निमित्त आतिथ्य, उपहार, सायंकालीन भोजन तथा प्रातःकालीन भोजन के निष्पादन में नाना प्रकार के शस्त्रों से अग्नि का समारंभ कर पकाने की प्रवृत्ति करता है ।

आदेश का अर्थ है—आतिथ्य अथवा यज्ञ ।

प्रहेणक का अर्थ है—उत्सव में उपहार स्वरूप दी जाने वाली मिठाई ।

श्यामाश—श्यामा का अर्थ है—रात्री । श्यामाश का अर्थ है—सायंकालीन भोजन । इसे सायमाश भी कहा जा सकता है ।

### १०५. सन्निधि-सन्निचओ कज्जइ इहमेगेसि माणवाणं भोयणाए ।

सं०—सन्निधि-सन्निचयः क्रियते इहेकेषां मानवानां भोजनाय ।

वे कुछ लोगों के भोजन के लिए सन्निधि और सन्निचय करते हैं ।

भाष्यम् १०५—एतेषां पुत्रादीनां निमित्तं केषाञ्चिद् अन्येषां मानवानां भोजनाय सन्निधि-सन्निचयोऽपि क्रियते<sup>४</sup> ।

संग्रहस्य मनोवृत्तिः मूलमनोवृत्तिरस्ति । परिवारः तस्या वृत्तेः प्रयोगभूमिर्भवति । मनुष्यः परिवारस्य समृद्धये महान्तं संग्रहं करोति इति ।

मनुष्य पुत्र आदि के निमित्त तथा कुछ अन्य लोगों के भोजन के लिए भी सन्निधि तथा सन्निचय करता है ।

संग्रह की मनोवृत्ति मूलमनोवृत्ति है । परिवार उस वृत्ति की प्रयोगभूमि है । मनुष्य परिवार की समृद्धि के लिए महानतम संग्रह करता है, यह इसका तात्पर्य है ।

### १०६. समुद्धिए अणगारे आरिए आरियपण्णे आरियदंसो अयं संधीति अदक्खु ।

सं०—समुत्थितः अनगारः आर्यः आर्यप्रज्ञः आर्यदर्शी अयं सन्धिः इति अद्राक्षीत् ।

आर्य, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी और संयम में तत्पर अनगार ने 'यह विवर है'—ऐसी अनुभूति की है ।

भाष्यम् १०६—अहिंसायाः स्वादविजयस्य च साधनायै समुत्थित आर्य आर्यप्रज्ञ आर्यदर्शी अनगार अयं सन्निधि-सन्निचयः सन्धिरिति अद्राक्षीत् ।

अहिंसा और स्वाद-विजय की साधना के लिए तत्पर आर्य, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी अनगार ने यह—सन्निधि-सन्निचय संधि है—ऐसा अनुभव किया है ।

१. अत्र लोकपदं अग्निसूचकमस्ति । इदं पदं १।३९ सूत्रे जलस्य सूचकं तथा १।६६ सूत्रे अग्निसूचकं विद्यते । अत्र पाकप्रकरणे अस्य अग्निसूचकत्वं स्वाभाविकम् ।

२. आप्ते, आदिशु—A Sacrifice offered to a particular deity.

चूर्णिकारेणापि यज्ञस्य उल्लेखः कृतः—अप्यणो चैव कोऽयं यज्ञं करोति । (आ. चू. पृ. ७७)

किन्तु आदेशस्य अर्थः भिन्नः कृतोऽस्ति—आदिसति आएसं वा करोति, जं भणितं—पाहणओ (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ

७७) । वृत्तौ 'आएस' पदस्य अर्थः आतिथेयः कृतोऽस्ति—आदिश्यते परिजनो यस्मिन्नागते तदातिथेयय.....

(आचारांग वृत्ति, पत्र ११८) । तत्कालीनयज्ञप्रधानपरंपरायां आदेशपदस्य यज्ञवाचकत्वमपि नास्ति असंगतम् ।

३. आप्ते, प्रहेणकम्—Sweetmeats distributed at festivals. चूर्णौ—प्रहेणंति वा उबिखत्तभत्तंति वा एगद्धा (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ७५) ।

४. ब्रष्टव्यम्—आयारो, २।१८ ।

अत्र सन्धिपदं विवरवाची दृश्यते । नानापिण्ड-  
रतस्यानगारस्य एकत्र पर्याप्ताहारस्यादानं सन्धिर्भवति—  
आसक्तिवृद्ध्यै विवरं भवति ।

तदानीं केचन भिक्षवः एकपिण्डरता आसन् ।  
भगवता महावारेण आहारगृद्धिप्रमोक्षाय नानापिण्ड-  
ग्रहणस्य व्यवस्था कृता ।

यहां 'संधि' शब्द विवरवाची है । अनेक घरों से आहार लेने  
वाला अनगार यदि एक ही घर से पर्याप्त आहार लेता है तो यह  
संधि है, क्योंकि यह आसक्ति की वृद्धि के लिए 'विवर' है, छिद्र है ।

उस समय कुछ भिक्षु एक ही घर के आहार में रत रहते थे ।  
भगवान महावीर ने आहार की आसक्ति कम करने लिए अनेक  
घरों से आहार ग्रहण करने की व्यवस्था की ।

१०७. से णाडए, णाडआवए, ण समणुजाणइ ।

सं०—स नाददीत न आदापयेत् न समनुजानीत ।

वह आसक्ति बढ़ाने वाले आहार को स्वयं ग्रहण न करे, दूसरों से ग्रहण न करवाए और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन न करे ।

भाष्यम् १०७—तादृशं सन्धि-सन्धिचयीकृतमाहारं  
स्वयं नाददीत, नादापयेत्, न च आददानं समनुजानी-  
यात् ।

अनगार उस प्रकार के सन्धि और सन्धिचित किए हुए  
आहार को स्वयं न ले, दूसरों से न लिवाए और न लेने वाले का  
अनुमोदन करे ।

१०८. सव्वामगंधं परिणाय, णिरामगंधो परिव्वए ।

सं०—सर्वामगन्धं परिजाय निरामगंधः परिव्रजेत् ।

वह सब प्रकार की भोजन की आसक्ति का परित्याग कर अनासक्त रहता हुआ परिव्रजन करे ।

भाष्यम् १०८—पुत्रादिनिमित्तं यद् विशिष्टभोजनं  
निष्पादितं स्थापितञ्च तस्य ग्रहणं आमगन्धो विद्यते ।  
तेन स मुनिः सर्व आमगन्धं—भोजनासक्ति परिग्रहभूतां  
परिजानीयात्, तथा भोजने अनासक्तः—अपरिग्रहीभूतः  
परिव्रजेत् ।<sup>१</sup>

पुत्र आदि के निमित्त जो विशिष्ट भोजन बनाया जाता है,  
स्थापित किया जाता है, उसको ग्रहण करना 'आमगंध' है । इसलिए  
वह मुनि सभी प्रकार के आमगंध—भोजन की आसक्ति को परिग्रहभूत  
मानकर उसका परित्याग करे और भोजन में अनासक्त अर्थात्  
अपरिग्रही होकर परिव्रजन करे ।

१०९. अदिस्समाणे कय-दिवकएसु । से ण किणे, ण किणावए, किणंतं ण समणुजाणइ ।

सं०—अदृश्यमानः क्रयविक्रययोः । स न क्रीणीयात्, न ऋपयेत्, क्रीणन्तं न समनुजानीत ।

वह क्रय और विक्रय में ध्यापृत न हो—स्वयं क्रय न करे, दूसरों से न करवाए और करने वाले का अनुमोदन न करे ।

भाष्यम् १०९—ममत्वमुक्तः अनगारः क्रयविक्रययोः  
अदृश्यमानो भवति—न तत्र प्रवर्तते । स आहारार्थं  
किमपि वस्तुजातं न क्रीणाति, न ऋपयति, न च क्रीणन्तं  
समनुजानीति । क्रयविक्रयौ परिग्रहसम्बद्धौ । तेन अपरि-

जो अनगार ममत्व से मुक्त है, वह क्रय-विक्रय से दूर रहता  
है, वह उसमें प्रवृत्त नहीं होता । वह आहार के लिए किसी भी वस्तु  
का स्वयं क्रय नहीं करता, न दूसरे से क्रय करवाता है और न क्रय  
करने वाले का अनुमोदन करता है । क्रय और विक्रय—दोनों परिग्रह

१. निशीथभाष्ये दोषपूर्णहारग्रहणेन चारित्रं आमं अविपक्वं  
भवति इत्युक्तमस्ति—

उग्गमदोसावीसा, भावतो अस्संजमो य आमविही ।

अन्नो वि य आएसो, जो वाससतं न पुरेति ॥

'आहाकम्मादि उग्गमदोसा, आदिसहाओ एसणदोसा,  
उपायणा य दोसा, भणियं च 'सव्वामगंधं परिणाय  
णिरामगंधो परिव्वए ।' जओ तेहि उग्गमादिवोसेहि  
घेप्पमाणेहि चारित्तं अविपक्वं अपज्जत्तं आमं भण्णति ।  
असंजमो वि आमविधीए चेव भवति, जतो चरणस्सोव-  
घायकारी । किं च—जो वरिससतायुपुरिसो वरससतं

अतरेत्ता अंतरे भरंतो आमो भण्णति ।' (निशीथ भाष्य  
चूर्ण, भाग ३, गा० ४७१६, पृष्ठ ४८५)

२. १०४-१०८ पर्यन्तं सूत्रेषु कश्चित् सम्बन्धो न परिलभ्यते ।  
सन्धिशब्दस्य निश्चितोऽर्थोऽपि नोपलभ्यते । चूर्णो  
भिक्षाकालः तथा वैकल्पिकरूपेण 'भावसन्धिः' इति अर्थद्वयं  
दृश्यते । (चूर्ण, पृष्ठ ७७-७८) १०७ सूत्रे—'नादद्याद्'  
इत्युल्लेखोऽस्ति, किन्तु किं नादद्यादिति नास्ति पूर्वायातम् ।  
चूर्णो 'अणोसणिज्जं नादद्याद्' इति व्याख्यातमस्ति । किन्तु  
कुत आयतमिदम् ? एतेषां प्रश्नानां सम्बन्धे निर्दिष्ट-  
सूत्राणामर्थः चिन्तनीयः प्रतिभाति ।

ग्रहस्यानगारस्य तत्र प्रवृत्तिरनिष्टा इति स्वभावा-  
पतितम् ।

से संबंधित है, इसलिए अपरिग्रही अनगर के लिए क्रय-विक्रय की  
प्रवृत्ति अनिष्टकर होती है, यह इससे स्वयं फलित होता है ।

११०. से भिक्षु कालणे बलणे मायणे खेयणे खणयणे विणयणे समयणे भावणे, परिग्रहं अममायमाणे, कालेणुट्टाई,  
अपडिण्णे ।

सं०—स भिक्षुः कालजः बलजः मात्रजः क्षेत्रजः क्षणजः विनयजः समयजः भावजः परिग्रहं अममायमानः, काले उन्थायी, अप्रतिजः ।  
वह भिक्षु कालज, बलज, मात्रज, क्षेत्रज, क्षणज, विनयज, समयज, भावज, परिग्रह पर ममत्व नहीं करने वाला, काल में उत्थान  
करने वाला और अप्रतिज होता है ।

भाष्यम् ११०—स भिक्षुः आहारान्वेषणवेलायां  
अपरिग्रहं संरक्षन् अनेकेषां वस्तुबोधानामधिकारी  
भवतीति प्रस्तुतसूत्रे प्रदर्शितमस्ति । यथा—

१. स कालज्ञो भवति—यस्मिन् काले यत् कर्तव्यं तत्  
जानाति, यो वा यत्र भिक्षाकालः तमपि जानाति । काले  
भिक्षामटतः प्रयत्नः सफलो भवति, अकाले च विफलः ।  
उक्तमस्ति दशवैकालिके—

अकाले चरसि भिक्षु, कालं न पडिलेहसि ।  
अप्पाणं च किलामेसि, सन्निवेशं च गरिहसि ॥'

२. स बलज्ञो भवति—अतिपरिश्रान्तः आहारं भोक्तुं  
न शक्नोति, तेन स्वबलं दृष्ट्वा आहारोपलब्धये अटति ।

३. स मात्रज्ञो भवति—साधारणे काले एषा  
मात्रा—द्वौ भागौ आहारस्य, एको भागो जलस्य, एकश्च  
भागो पवनार्थम् ।

ऋतुभवा मात्रा—सर्वतो आहारस्य नैका मात्रा  
भवति, किन्तु भिन्ना भिन्ना ।

वस्तुसम्बद्धा मात्रा—वस्तु वस्तु अपेक्ष्य मात्रा  
भवति । यथा संतुलिते भोजने मात्राया विवेको दृश्यते ।

४. स क्षेत्रज्ञो भवति—आहारोपलब्धेरपयुक्तं क्षेत्रं  
जानाति ।

५. स क्षणज्ञो भवति—आसन्ने भिक्षाक्षणे 'किं  
वक्तव्यं, किं वा न वक्तव्यम्' इति जानाति ।

६. स विनयज्ञो भवति—अतिभूमिं न गच्छति,  
इन्द्रियाणि यथाभागं नियोजयति, गुप्तस्थानानि  
आभरणानि च न चिरं निरीक्षते ।

वह भिक्षु आहार की अन्वेषणा के समय अपने अपरिग्रह त्त  
का संरक्षण करने के लिए अनेक वस्तु-तथ्यों का जानकार होता है—यह  
प्रस्तुत सूत्र का प्रतिपाद्य है । जैसे—

१. वह भिक्षु कालज्ञ होता है—जिस काल में जो करना होता  
है, उसे जानता है । जिस क्षेत्र में जो भिक्षा-काल है उसको भी  
जानता है । भिक्षा-काल में भिक्षा के लिए जाने वाला मुनि अपने  
प्रयत्न में सफल होता है और अकाल में भिक्षा के लिए जाने वाला मुनि  
विफल होता है । दशवैकालिक सूत्र में कहा है—

'भिक्षो ! तुम अकाल में जाते हो, काल की प्रतिलेखना नहीं  
करते, इसलिए तुम अपने आपको बलान्त करते हो और सन्निवेश  
(ग्राम) की निन्दा करते हो ।'

२. वह भिक्षु बलज्ञ होता है—जो घूमते-घूमते अत्यधिक थक  
जाता है, वह आहार कर नहीं सकता, इसलिए वह अपने बल को  
तोलकर आहार की उपलब्धि के लिए परित्रजन करता है ।

३. वह भिक्षु मात्रज्ञ होता है—सामान्यतः आहार की मात्रा  
यह है—दो भाग आहार के लिए, एक भाग पानी के लिए और एक  
भाग पवन के लिए ।

ऋतु-सम्बद्ध मात्रा—विभिन्न ऋतुओं में आहार की मात्रा एक  
समान नहीं रहती । वह प्रत्येक ऋतु में भिन्न-भिन्न हो जाती है ।

वस्तु-संबद्ध मात्रा—भिन्न-भिन्न वस्तु की मात्रा भिन्न-भिन्न  
होती है । जैसे—संतुलित भोजन की तालिका में मात्रा का विवेक  
दृष्टिगोचर होता है ।

४. वह भिक्षु क्षेत्रज्ञ होता है—आहार-प्राप्ति के उपयुक्त क्षेत्र का  
जानकार होता है ।

५. वह भिक्षु क्षणज्ञ होता है—भिक्षा का क्षण—अवसर  
उपस्थित होने पर वह जानता है कि क्या बोलना चाहिए और क्या  
नहीं बोलना चाहिए ।

६. वह भिक्षु विनयज्ञ होता है अर्थात् आचार तथा अनुशासन  
का ज्ञाता होता है । वह भिक्षा के लिए घर में प्रवेश कर अतिभूमि—  
अननुज्ञात भूमि में नहीं जाता (जहाँ जाना निषिद्ध हो, वहाँ नहीं

७. स समयज्ञो भवति—समयः सिद्धान्तः । स भिक्षुः आत्मपरतदुभयसमयं जानाति । असमयज्ञः न दातुः प्रश्नान् समाधातुमर्हति ।

८. स भावज्ञो भवति—दातुः प्रियमप्रियं वा भावं जानाति ।

९. स परिग्रहं अममीकुर्वन् भवति, परिग्रहे—आहारादिपदार्थजाते न ममत्वं करोति ।<sup>१</sup>

१०. स सति काले उत्थायी भवति—आत्मनः पराक्रमकाले उत्थानं करोति । कालज्ञपदे भिक्षुकालः संकेतितः, अत्र पराक्रमकालः विवक्षितोऽस्ति । कालज्ञ-बलज्ञपदयोर्ज्ञानं विवक्षितं, अत्र च करणम् ।

११. स अप्रतिज्ञो भवति—नात्मनः प्रतिज्ञया आहारादिकं गृह्णाति, किन्तु सामुदायिकम् ।

चूर्णौ एवं व्याख्यातमस्ति—‘अपडिण्णो’ णाम अहं एगो उवभूजेहामि अण्णेवि एतं गुरुमादी भोक्खंति पाहंति वा, एयाए परिण्णाए गिण्हइ, ण आयवडियाए, तेण अपडिण्णो, अहवा अपडिण्णायेसु कुलेसु गिण्हइ, ण य एतं परिण्णं करित्ता गच्छति जहा अमुगकुलाणि गच्छी-हामि सो अपडिण्णो, जो विकरणो एगागी सोऽवि नाणा-दीणं अट्ठाए नेण्हति ।<sup>२</sup>

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ७९ : परिग्रहो णाम अतिरिक्तं संजमोवकरणातो जं भंडयं, भणितं च—जं जुज्जतो उवगारे उवगरणं तंसि होति उवगरणं, इह तु आहाराधिकारे वट्टमाणे जत्तियं अणसणिज्जं किंवि दब्बं तं संजमस्त उवघातोत्तिकाडं जिणेहिं पडिकुटं भवतित्ति, एसणिज्जं पि अतिमत्ताए ण धित्तव्वं, मत्ताजुत्तं पि ण एतं मय गुरुमाईणं ण एतं ।

२. (क) चूर्णौ वृत्तौ च पुनरुक्तिप्रश्नः एवं चर्चितोऽस्ति—सति य उट्ठाण-कम्भ-बल-वीरिय-पुरिसगार-परक्कमे, आह—जत्ति उट्ठाणबलाण एगट्ठा तं तेण बलग्रहणा उट्ठाण-ग्रहणा य पुणरुत्तं एसणिज्जंति, भण्णति—अध्विरीयकारणा ण पुणरुत्तं, तत्थ नाणं इहं करणं, कालो बलं खित्तं अध्वि-

जाता) । वह इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में नियोजित करता है । गुप्त स्थानों तथा आभूषणों को घूर कर नहीं देखता, चिरकाल तक नहीं देखता ।

७. वह भिक्षु समयज्ञ होता है । समय का अर्थ है सिद्धान्त । वह भिक्षु स्वयं के, दूसरों के तथा दोनों के सिद्धान्तों का जानकर होता है । जो असमयज्ञ होता है वह दान देने वाले के प्रश्नों का समाधान करने में समर्थ नहीं होता ।

८. वह भिक्षु भावज्ञ होता है—वह दाता के प्रिय और अप्रिय भावों को जानने वाला होता है ।

९. वह भिक्षु परिग्रह में ‘मेरापन’ नहीं रखता अर्थात् परिग्रह—आहार आदि पदार्थों में ममत्व नहीं करता ।

१०. वह भिक्षु कालोत्थायी होता है—वह उपयुक्त काल में उपयुक्त पराक्रम करता है । वह अपने पराक्रम-काल में उत्थान—पुरुषार्थ करता है । ‘कालज्ञ’ पद में भिक्षुकाल का संकेत दिया गया है । यहां पराक्रम-काल विवक्षित है । ‘कालज्ञ’ और बलज्ञ—इन दो पदों में ज्ञान की विवक्षा है (भिक्षु को काल का तथा बल का ज्ञान होना चाहिए), यहां करण अर्थात् क्रियान्विति विवक्षित है । (अर्थात् भिक्षु को काल जानकर उपयुक्त पराक्रम करना चाहिए) ।

११. वह भिक्षु अप्रतिज्ञ होता है—वह केवल अपने लिए ही आहार आदि नहीं लेता, वह सामुदायिक—सभी के लिए आहार लाता है ।

चूर्णि में इसकी व्याख्या इस प्रकार है—वह भिक्षु इस प्रतिज्ञा से आहार आदि ग्रहण करता है कि मैं भी भोजन करूंगा और गुरु आदि अन्य मुनिजन भी इसको ग्रहण करेंगे । वह केवल अपने उद्देश्य से ही ग्रहण नहीं करता, इसलिए वह अप्रतिज्ञ होता है । अथवा वह अप्रतिज्ञात कुलों से भिक्षा ग्रहण करता है । वह ऐसा संकल्प लेकर नहीं जाता कि मैं अमुक-अमुक कुलों में ही भिक्षा के लिए जाऊंगा । वह अप्रतिज्ञ होता है । जो अकेला होता है वह भी ज्ञान आदि के प्रयोजन से भिक्षा ग्रहण करता है ।

वरीयं आयरियब्धं तेण ण पुणरुत्तं (चूर्णि, पृष्ठ ७९) ।

‘कालाणुट्ठाई’ यद्यस्मिन् काले कर्त्तव्यं तत्तस्मिन्नेवानु-ष्ठातुं शीलमस्येति कालानुष्ठायी, कालानतिपातकर्त्तव्योद्यतो, ननु चास्यार्थस्य ‘से भिक्षू कालान्ने’ इत्यनेनैव गताथंस्वात् किमर्थं पुनरभिधीयते इति ? नैष दोषः, तत्र हि जपरिज्ञं केवलाऽभिहिता, कर्त्तव्यकालं जानाति, इह पुनरासेवना-परिज्ञा, कर्त्तव्यकाले कार्यं विधत्त इति । (वृत्ति, पत्र १२०)

(ख) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ८० : ‘अयं पिंडसंघीति आडवित्ता जाव ‘कालेऽणुट्ठाए अपडिण्णो’ एतेसि एगाहियारिएहि सुत्तेहि एक्कारस पिंडेसणाओ णिज्जूढाओ ।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ७९-८० ।

१११. दुहओ छेत्ता नियाइ ।

सं०—द्वितः छित्वा निर्याति ।

वह दोनों को छिन्न कर नियमित जीवन जीता है ।

भाष्यम् १११—स भिक्षुः रागं द्वेषञ्च उभयमपि छित्वा नियतं याति—नियमितं जीवनं जीवति । अनेषणीयग्रहणे प्रियाप्रियभावावेव निमित्तं भवतः । तेन द्वयोरपि वर्जनदिक् सूचिता ।

वह भिक्षु राग और द्वेष दोनों का छेदन कर नियमित जीवन जीता है । अनेषणीय के ग्रहण में प्रिय और अप्रिय भाव ही निमित्त बनते हैं, इसलिए दोनों के वर्जन की बात कही गयी है ।

११२. वस्त्रं पडिग्रहं, कंबलं पायपुंछणं, उग्रहं च कडासनं । एतेसु चैव जाएज्जा ।

सं०—वस्त्रं प्रतिग्रहं कम्बलं पादप्रोच्छनं अवग्रहं च कडासनम् । एतेषु चैव याचेत ।

वह वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोच्छन, अवग्रह और कटासन—इनकी ही याचना करे ।

भाष्यम् ११२—स भिक्षुः वस्त्रं, प्रतिग्रहः<sup>१</sup>, कम्बलं, पादप्रोच्छनं, अवग्रहः, कटासनञ्च<sup>२</sup>—एतेषु<sup>३</sup> जीवन-निर्वाहसाधनभूतेषु वस्तुषु याचनां कुर्यात् । अन्यपदार्थ-सम्बद्धां याचनाप्रवृत्तिं निरुद्ध्यत् ।

वह भिक्षु वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोच्छन, अवग्रह और कटासन—जीवन-निर्वाह के साधनभूत इन पदार्थों की ही याचना करे तथा अग्यान्य पदार्थों की याचना की प्रवृत्ति का निरोध करे ।

अवग्रहः—स्थानम् ।

अवग्रह का अर्थ है—स्थान ।

११३. लब्धे आहारे अनगारे मायं जाणेज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं ।

सं०—लब्धे आहारे अनगारः मात्रां जानीयात्, तद् यथेदं भगवता प्रवेदितम् ।

आहार प्राप्त होने पर मुनि मात्रा को जाने, भगवान् ने जैसे इसका निर्देश किया है ।

भाष्यम् ११३—अनगारः लब्धे आहारे मात्रां जानीयात् । सा कियती भवति ? इति जिज्ञासायां सूत्रकारो निर्दिशति—यथा इयं भगवता प्रवेदिता । अत्रापि मात्रायाः स्पष्टनिर्देशो नास्ति । भगवत्यामस्या निर्देश एवमुपलभ्यते<sup>४</sup>—

अनगार आहार को प्राप्त कर उसको खाने की मात्रा को जाने । खाने की वह मात्रा कितनी होनी चाहिए— इस जिज्ञासा के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—‘भगवान् ने जैसे इसका निर्देश किया है ।’ इस कथन में भी आहार की मात्रा का स्पष्ट निर्देश नहीं है । भगवती सूत्र में इसका निर्देश इस प्रकार मिलता है—

- ० अट्ट कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारे-माणे अप्पाहारे,
- ० दुवालसं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहार-माहारेमाणे अवड्ढोमीयरिए,
- ० सोलसं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारे-माणे दुभागप्पत्ते,
- ० चउव्वीसं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहार-माहारेमाणे ओमोदरिए,
- ० बत्तीसं कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारे-माणे पमाणपत्ते,

- ० मुर्गी के अण्डे जितने आठ कवल का आहार करने वाला अल्पाहारी होता है ।
- ० मुर्गी के अण्डे जितने बारह कवल का आहार करने वाला अपार्ध (आधे से कुछ कम) अवमोदर्य करने वाला होता है ।
- ० मुर्गी के अंडे जितने सोलह कवल का आहार करने वाला आधा आहार करने वाला होता है ।
- ० मुर्गी के अंडे जितने चौबीस कवल का आहार करने वाला अवमोदर्य—कुछ कम खाने वाला होता है ।
- ० मुर्गी के अंडे जितने बत्तीस कवल का आहार करने वाला पूरे प्रमाण से आहार करने वाला होता है ।

१. एत्तो वत्थेसणपातेसणाओ निज्जूडाओ (आ०चू०पृ० ८०) ।

२. एत्तो सुत्ता सेज्जा णिज्जूडा (वही, पृ० ८०) ।

३. ‘एतेषु’ इति पवस्य आधारः ५।१८, ३९ सूत्रयोर्द्वन्द्वव्यः ।

४. अंगमुत्ताणि २, भगवई ७।२४ ।



० एतो एककेण वि चासेणं ऊणगं आहारमाहारेमाणे समणे निग्गंथे नो पकामरसभोईति वत्तव्वं सिया ।<sup>१</sup>

इससे एक कवल भी कम आहार करने वाला श्रमण निर्ग्रन्थ प्रकामरसभोजी नहीं कहलाता ।

११४. लाभो त्ति ण मज्जेज्जा ।

सं०—लाभ इति न मावेत् ।

आहार का लाभ होने पर मद न करे ।

११५. अलाभो त्ति ण सोयए ।

सं०—अलाभ इति न शोचेत् ।

आहार का लाभ न होने पर शोक न करे ।

भाष्यम् ११४-११५—आहारस्य लाभे सति मदी न कर्त्तव्यः । तस्याऽलाभे च शोको न कर्त्तव्यः । लाभा-लाभयोः समतामनुभवेत् । 'अहं पर्याप्तमाहारं लभे, शेषा न लभन्ते'—एष मदस्य आकारः । 'अहं मंदभाग्यः पर्याप्तमाहारं न लभे'—इति शोकस्य आकारः । शोक-निवृत्तये चूर्णिकारेण एकमालम्बनसूत्रं निर्दिष्टमस्ति—

'लभ्यते लभ्यते साधु, साधु एव न लभ्यते ।  
अलब्धे तपसो वृद्धिर्लब्धे वेहस्य धारणा ॥'<sup>२</sup>

आहार का लाभ होने पर अनगर मद न करे और उसका अलाभ होने पर शोक न करे । लाभ और अलाभ में वह समता रखे । 'मुझे पर्याप्त आहार मिलता है, दूसरों को नहीं मिलता'—यह मद का स्वरूप है । 'मैं मंद-भाग्य हूँ, मुझे पर्याप्त आहार नहीं मिलता'—यह शोक का स्वरूप है । शोक की निवृत्ति के लिए चूर्णिकार ने एक आलम्बन-सूत्र निर्दिष्ट किया है—

'यदि आहार मिलता ही मिलता है तो बहुत अच्छी बात है । यदि नहीं मिलता है तो भी अच्छी बात है । क्योंकि आहार के न मिलने पर सहज ही तप की वृद्धि होती है और यदि मिलता है तो शरीर-धारण या प्राण-धारण सहज हो जाता है ।'

११६. बहुं पि लद्धुं ण णिहे ।

सं०—बहु अपि लब्ध्वा न निवध्यात् ।

वस्तु का प्रचुर मात्रा में लाभ होने पर भी उसका संग्रह न करे ।

भाष्यम् ११६—अनगरः प्रचुरमात्रायां सुलभे आहारजाते तन्न निदध्यात्—न स्थापयितुमिच्छेत् । वस्त्रपात्रादिविषयेऽपि एष एव नियमः ।

प्रचुर मात्रा में आहार की प्राप्ति सुलभ होने पर भी अनगर उसका संग्रह न करे, उसको एकत्रित कर न रखे । वस्त्र-पात्र आदि के विषय में भी यही नियम है ।

११७. परिग्रहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा ।

सं०—परिग्रहात् आत्मानं अपव्वक्केत ।

परिग्रह से अपने-आपको दूर रखे ।

भाष्यम् ११७—आहारवस्त्रादीनां पदार्थानां प्राप्ता-वपि अनगरः परिग्रहं न कुर्यात् । 'एतं आहारं अहं स्वयमेव परिभोक्ष्ये, अन्यस्मै न दास्यामि' एतादृशो ममत्वाभिप्रायः परिग्रहो भवति । आचार्यसत्कामिदं

आहार, वस्त्र आदि पदार्थों की प्राप्ति होने पर भी अनगर उनका परिग्रह न करे । 'यह आहार मैं स्वयं खाऊंगा, दूसरों को नहीं दूंगा, ऐसा ममत्व भाव परिग्रह होता है । आहार आदि सारे पदार्थ आचार्य की निश्चा—आश्रय में हैं, ऐसा सोचकर अनगर स्वयं को परिग्रह

१. भोजन की मात्रा का निश्चित माप नहीं किया जा सकता । उसका संबंध भूख से है । न सबकी भूख समान होती है और न सबकी भोजन की मात्रा, फिर भी आनुपातिक दृष्टि से भगवान् ने भोजन की मात्रा बतलाई और

उससे कुछ कम खाने का निर्देश दिया ।

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ८१ ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १२१ :

..... लब्धे तु प्राणधारणम् ।

आहारादिवस्तुजातम् इति सामालोच्य आत्मानं से दूर रखे, पदार्थ के प्रति मूर्च्छा या ममत्व न करे । परिग्रहाद् अपष्वष्केत्—अपसर्पयेत्—पदार्थजाते मूर्च्छा ममत्वं वा न कुर्यात् ।<sup>१</sup>

### ११८. अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा ।

सं०—अन्यथा पश्यकः परिहरेत् ।

अध्यात्म तत्त्वदर्शी वस्तुओं का परिभोग अन्यथा करे—जैसे अध्यात्म के तत्त्व को नहीं जानने वाला मनुष्य करता है, वैसे न करे ।

भाष्यम् ११८—अनगारः आत्मानं परमतत्त्वञ्च पश्यति, तेन स पश्यको भवति । तादृशः स आहारादि-वस्तुजातानां अन्यथा परिभोगं कुर्यात्—गृहस्थवत् परिग्रहबुद्ध्या तेषां परिभोगं न कुर्यात् । एतद् वस्तु-जातं धर्मोपकरणं आचार्यसत्कञ्च इति सम्प्रधार्य तस्य परिभोगं कुर्यात्, न तस्मिन् मूर्च्छा ममत्वं वा कुर्यात् ।

‘अन्यथा परिभोगनियमः’ अध्यात्मसाधनायामुपस्थितस्य गृहस्थस्यापि अनुसरणीयो भवति । यथा अध्यात्म-रहस्यमजानानो गृहस्थः पदार्थानां मूर्च्छातिरेकेण उप-भोगं करोति तद् अध्यात्मरहस्यविद् गृहस्थः तथा न कुर्यात् । सति मूर्च्छातिरेके गाढकर्मणा बन्धो भवति । मूर्च्छातिनुत्वे कर्मणा बन्धोऽपि शिथिलो भवति ।<sup>१</sup>

अनगार आत्मा और परमतत्त्व को देखता है, इसलिए वह पश्यक—द्रष्टा होता है । ऐसा वह अनगार आहार आदि पदार्थों का परिभोग अन्य प्रकार से करे—गृहस्थ की भांति परिग्रह की बुद्धि से उनका परिभोग न करे । ‘ये पदार्थ धर्मोपकरण हैं तथा आचार्य की निश्चा में हैं’—ऐसा सोचकर उनका परिभोग करे, उनमें न मूर्च्छा करे और न ममत्व रखे ।

अन्य प्रकार से परिभोग करने का यह नियम अध्यात्म-साधना में उपस्थित गृहस्थ के लिए भी अनुसरणीय है । जैसे अध्यात्म के रहस्य का अज्ञानकार गृहस्थ पदार्थों का उपभोग मूर्च्छा के अतिरेक से करता है, उस प्रकार से अध्यात्म के रहस्य को जानने वाला गृहस्थ न करे । मूर्च्छा का अतिरेक होने पर गाढ कर्मों का बंध होता है । मूर्च्छा की अल्पता में कर्मों का बंध भी शिथिल होता है ।

### ११९. एस मग्गे आरिएहि पवेइए ।

सं०—एष मार्गः आर्यैः प्रवेदितः ।

यह मार्ग तीर्थकरों के द्वारा प्रतिपादित है ।

भाष्यम् ११९—एष आहारादिपदार्थजातविषयकः अपरिग्रहमार्गः आर्यैः प्रवेदितः । अत्र आर्यपदेन साक्षाद् भगवतो महावीरस्य ग्रहणं, परम्परया अन्येषामपि तीर्थकराणाम् ।

आहार आदि पदार्थों से संबंधित अपरिग्रह का यह मार्ग आर्यों द्वारा प्रतिपादित है । यहां आर्यपद से साक्षात् भगवान् महावीर का ग्रहण किया है और परम्परा से अन्यान्य तीर्थकरों का भी ।

### १२०. जहेस्थ कुसले णोवलिपिज्जासि त्ति बेमि ।

सं०—यथात्र कुशलः नोपलिप्सेत् इति ब्रवीमि ।

जैसे कुशल पुरुष इस में लिप्त न हो, ऐसा मैं कहता हूँ ।

१. धर्मोपकरण के बिना जीवन का निर्वाह नहीं होता । इसलिए उसका ग्रहण किया जाता है, फिर भी मुनि का यह चिंतन बना रहना चाहिए कि नौका के बिना समुद्र को पार नहीं किया जा सकता । समुद्र का पार पाने के लिए नौका आवश्यक है, किन्तु समुद्रयात्री उसमें आसक्त नहीं होता, वैसे ही जीवन चलाने के लिए आवश्यक धर्मोपकरण में मुनि को आसक्त नहीं होना चाहिए ।

२. वस्तु का अपरिभोग और परिभोग—ये दो अवस्थाएँ हैं । वस्तु का अपरिभोग एक निश्चित सीमा में ही हो सकता

है । जहां जीवन है, शरीर है, वहां वस्तु का उपभोग-परि-भोग करना ही होता है । एक तत्त्वदर्शी मनुष्य भी उसका उपभोग-परिभोग करता है और तत्त्व को नहीं जानने वाला भी । किन्तु इन दोनों के उद्देश्य, भावना और विधि में मौलिक अंतर होता है—

	उद्देश्य	भावना	विधि
१. तत्त्व को नहीं जानने वाला	पौद्गलिक सुख	आसक्त	असंयत
२. तत्त्वदर्शी	आत्म-विकास के लिए शरीर-धारण	अनासक्त	संयत

भाष्यम् १२०—अत्र मार्गपदेन अपरिग्रहमार्गो विवक्षितोऽस्ति । केवलं पदार्थसंग्रह एव न परिग्रहः, किन्तु पदार्थेषु जायमाना मूर्च्छाऽपि परिग्रहोऽस्ति । मूर्च्छायां प्रतनुतां गतायां पुरुषः लाभे सति न साद्यति, अलाभे सति न शोचति, बहुलाभे सति न सन्निधि-सन्निचयं करोति । स पश्यको भवति । तस्य सकलोऽपि व्यवहारो मूर्च्छावतः पुरुषात् भिन्नो भवति । तेन निगमने प्रोक्तं— यथा अस्मिन् मार्गे कुशलोऽनगारः परिग्रहलेपेन आत्मानं नोपलिम्पेद् इति ब्रवीमि ।

प्रस्तुत प्रसंग में 'मार्ग' पद से अपरिग्रह का मार्ग विवक्षित है । केवल पदार्थ का संग्रह ही परिग्रह नहीं है, किन्तु पदार्थों के प्रति होने वाली मूर्च्छा भी परिग्रह है । जब मूर्च्छा कृश हो जाती है तब व्यक्ति लाभ होने पर भी मद नहीं करता, अलाभ की स्थिति में शोक नहीं करता तथा बहुत लाभ होने पर सन्निधि-सन्निचय नहीं करता । वह द्रष्टा होता है । उसका सारा व्यवहार भी मूर्च्छाग्रस्त व्यक्ति से भिन्न होता है । इसलिए उपसंहार में कहा गया—जैसे इस मार्ग में कुशल अनगार परिग्रह के लेप से अपने-आपको लिप्त न करे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

### १२१. कामा दुरतिक्रमा ।

सं०—कामाः दुरतिक्रमाः ।

काम दुर्लभ्य हैं ।

भाष्यम् १२१—परिग्रहस्य मूलं कामः । स च द्विविधः—

परिग्रह का मूल है काम—कामना । वह दो प्रकार का है—

१. इच्छाकामः—स्वर्णादिपदार्थप्राप्तेः कामना ।

१. इच्छाकाम—स्वर्ण आदि पदार्थों को प्राप्त करने की कामना ।

२. मदनकामः—शब्दादीनामिन्द्रियविषयाणां कामना ।

२. मदनकाम—शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों की कामना ।

कामसंज्ञा सुचिरसंस्कारसमुद्भवा । तेन एते कामाः दुरतिक्रमाः भवन्ति । कामानामतिक्रमणं प्रतिस्त्रोतोगमनमस्ति । इन्द्रियाणि च अनुस्त्रोतोवाहीनि सन्ति । तेन कामानामतिक्रमणं कर्तुं दुःशकमस्ति ।

कामसंज्ञा चिरसंचित संस्कारों से उत्पन्न होती है, इसलिए इन कामनाओं का अतिक्रमण करना कष्टसाध्य होता है । कामनाओं का अतिक्रमण करना प्रतिस्त्रोत में चलना है । इन्द्रियां अनुस्त्रोतगामिनी हैं । इसलिए कामनाओं का अतिक्रमण करना दुःशक्य है ।

### १२२. जीवियं दुष्प्रतिबृंहणम् ।

सं०—जीवितं दुष्प्रतिबृंहणम् ।

जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता—छिन्न आयुष्य को साधा नहीं जा सकता ।

भाष्यम् १२२—जीवितं स्वल्पम्, अनल्पाश्च कामाः । स्वल्पे जीवने न तेषां पूर्तिः संभवति । कामाश्च यथा यथा सेव्यन्ते तथा तथा प्रवर्धन्ते, किन्तु तथा जीवितस्य उपबृंहणमस्ति दुष्करम् । कामानां दुरतिक्रमणे अयं प्रथमो हेतुः ।

जीवन स्वल्प है, कामनाएँ अधिक हैं । इस छोटे से जीवन में उनकी संपूर्ति संभव नहीं है । जैसे-जैसे कामनाओं की पूर्ति की जाती है, वैसे-वैसे वे बढ़ती जाती हैं । किन्तु उसी अनुपात में जीवन को बढ़ाना दुष्कर है । कामनाओं के दुरतिक्रमण का यह पहला हेतु है ।

### १२३. कामकामी खलु अयं पुरिसे ।

सं०—कामकामी खलु अयं पुरुषः ।

यह पुरुष कामकामी है—मनोज शब्द और रूप की कामना करने वाला है ।

भाष्यम् १२३—पुरुषः स्वभावत एव कामान् कामयते । कामश्च मौलिकी मनोवृत्तिरिति सा दुस्त्यजा । कामानां दुरतिक्रमणे अयं द्वितीयो हेतुः ।

पुरुष स्वभाव से ही कामभोगों की कामना करता है । 'काम' मौलिक मनोवृत्ति है, इसलिए उसको छोड़ना कठिन होता है । कामनाओं के दुरतिक्रमण का यह दूसरा हेतु है ।

१२४. से सोयति जूरति तिप्पति पिडुति परितप्पति ।

सं०—स शोचति खिद्यते तेपते पीड्यते परितप्यते ।

कामकामी पुरुष शोक करता है, खिन्न होता है, कुपित होता है, आंसू बहाता है, पीड़ा और परिताप का अनुभव करता है ।

भाष्यम् १२४—कामानां प्रकृतिमुपदर्श्य इदानीं अपायविचयध्यानस्य प्रक्रियां दर्शयति सूत्रकारः ।

कामाः अति नान्ताः न भवन्ति तस्यामवस्थायामसौ पुरुषः यत् करोति तस्य चित्रणम्—

सोयति—शोचति—शोकाकुलः उपहृतमनःसंकल्पो वा भवति ।

जूरति<sup>१</sup>—इष्टार्थस्यालाभे वियोगे वा खिद्यते क्रुध्यति वा ।

तिप्पति—तेपते—अश्रुविमोचनं करोति ।

पिडुति—पीड्यते—कामानुस्मृत्या पीडामनुभवति ।

परितप्पति—परितप्यते—कामातुरः पुरुषः बाह्ये वातावरणे अन्तःकरणे च कायिकं वाचिकं मानसिकं त्रिविधमपि तापमनुभवति । क्रोधादिजनितः संतापः कादाचित्को भवति, किन्तु कामजनितः संतापः दीर्घकालिको भवति ।

शोकः, खेदः, क्रोधः, अश्रुपातः, पीडा, परितापः— एते कामासक्तेः अपायाः<sup>२</sup> सन्ति, अतः अपायहेतूनां कामानां परिहाराय उपायः अन्वेष्टव्यो भवति ।

कामनाओं की प्रकृति को बताकर अब सूत्रकार अपायविचय-ध्यान की प्रक्रिया बता रहे हैं ।

जब कामनाओं की संपूर्ति नहीं होती, उस स्थिति में मनुष्य क्या-क्या करता है, उसका चित्रण प्रस्तुत सूत्र में है—

वह पुरुष शोक करता है, शोकाकुल होता है अथवा उसका मन संकल्प-विकल्पों से भर जाता है ।

वह इष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने पर या उसका वियोग ही जाने पर खिन्न होता है, कुपित होता है ।

वह आंसू बहाता है, रोता है ।

वह कामभोगों की स्मृति कर पीड़ा का अनुभव करता है ।

वह कामातुर पुरुष बाहर और भीतर में कायिक, वाचिक और मानसिक—इन तीनों प्रकार के ताप का अनुभव करता है । क्रोध आदि से उत्पन्न संताप कादाचित्क होता है, किन्तु कामजनित संताप दीर्घकालिक होता है ।

शोक, खेद, क्रोध, अश्रुपात, पीड़ा और परिताप—ये कामासक्ति से उत्पन्न अपाय हैं, दोष हैं । इसलिए अपाय के हेतुभूत इन कामभोगों के परिहार के लिए उपाय खोजना आवश्यक है ।

१२५. आयतचक्षु लोम-विपस्सी लोमस्स अहो भागं जाणइ, उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ ।

सं०—आयतचक्षुः लोकविपश्यी लोकस्य अधो भागं जानाति, ऊर्ध्वं भागं जानाति, तिरियञ्चं भागं जानाति ।

संयतचक्षु पुरुष लोकदर्शी होता है । वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरिछे भाग को जानता है ।

भाष्यम् १२५—अस्मिन् सूत्रे अपायविचयध्यानस्य<sup>३</sup> प्रक्रिया प्रदर्शितास्ति । कामातिक्रमणस्य उपायोऽस्ति विपश्यना ज्ञातृभावो वा । आयतचक्षुः—संयतचक्षुः<sup>४</sup> अनिमेषदृष्टिरिति यावत् । लोकः—शरीरम्<sup>५</sup> तस्य

प्रस्तुत सूत्र में अपायविचयध्यान की प्रक्रिया प्रदर्शित है । काम अर्थात् कामभोगों के अतिक्रमण का उपाय है—विपश्यना अथवा ज्ञातृ-भाव । आयतचक्षु का अर्थ है—संयतचक्षु, अनिमेषदृष्टि । लोक का अर्थ है—शरीर और उसको देखने वाला लोकविपश्यी कहलाता है ।

१. प्राकृते खिद्य-क्रुधोः 'जूर' इत्यादेशो भवति ।

(हेमचन्द्राचार्य, प्राकृत व्याकरणम् ८।४।१३२, १३५)

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ८३ : तस्स अवाया ..... जता य तेसि कामाणं इहमेव दोसा ।

३. (क) वही, पृष्ठ ८३ : उभयलोगअवायदंसी .....

(ख) धवला, पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग ४, सूत्र २६, गाथा ३९, पृष्ठ ७२ ।

४. आटे, आयत—Curbed, Restrained ।

५. (क) शिवसंहिता, २।५, ३७ :

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।

मेकमृङ्गे सुधारश्चिर्बहिरष्टकलापुतः ॥५॥

ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे स्थानानि स्युर्बहूनि च ।

मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके ॥३७॥

(ख) तंत्रसंग्रह, भाग २, पृष्ठ ३०९, श्लोक २९ :

ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं, देहमध्ये व्यवस्थितम् ।

साकाराश्च विनश्यन्ति, निराकारो न नश्यति ॥

(ग) चरकसंहिता, शारीरस्थान ५।३—पुरुषोऽयं लोकसंज्ञितः

इत्युवाच भगवान् पुनर्वसुराश्रयः । यावन्तो हि लोके

(मूर्तिमंतः) भावविशेषाः तावन्तः पुरुषे, यावन्तः पुरुषे

तावन्तो लोके इति ।

विपश्यी लोकविपश्यी । विपश्यनाध्यानार्थं शरीरस्य विपश्यना ध्यान के लिए शरीर के तीन भाग किये जाते हैं—  
त्रयो भागाः क्रियन्ते—

नाभिप्रदेशः लोकस्य तिर्यग्भागः,  
ततो निम्नः प्रदेशः लोकस्य अधोभागः,  
तत उपरितनः प्रदेशः लोकस्य ऊर्ध्वभागः ।

यः अनिमेषचक्षुर्भूत्वा शरीरस्य विपश्यनां करोति—  
तस्य त्रीनपि भागान् केवलं जानाति पश्यति, न  
तद्विषये कामपि संवेदनां करोति स कामानतिक्रमितुं  
समर्थो भवति ।

नाभि का प्रदेश—लोक का तिर्यग्भाग ।  
नाभि से नीचे का भाग—लोक का अधोभाग ।  
नाभि से ऊपर का भाग—लोक का ऊर्ध्वभाग ।

जो साधक अनिमेषदृष्टि से शरीर की विपश्यना करता है—  
शरीर के तीनों भागों को केवल जानता है, देखता है, उनके विषय  
में कोई संवेदन नहीं करता वह 'काम' का अतिक्रमण करने में समर्थ  
होता है ।

### १२६. गढिए अणुपरियट्टमाणे ।

सं०—ग्रथितः अनुपरिवर्तमानः ।

काम में आसक्त पुरुष अनुपरिवर्तन कर रहा है ।

१. (क) चित्त को काम-वासना से मुक्त करने का पहला  
आलम्बन है—लोक-दर्शन ।

लोक का अर्थ है—भोग्यवस्तु या विषय । शरीर भोग्य-  
वस्तु है । उसके तीन भाग हैं—

- अधोभाग—नाभि से नीचे ।
- ऊर्ध्वभाग—नाभि से ऊपर ।
- तिर्यग्भाग—नाभि-स्थान ।

प्रकारान्तर से उसके तीन भाग ये हैं—

- अधोभाग—आंख का गड्ढा, गले का गड्ढा, मुख के बीच का भाग ।
- ऊर्ध्वभाग—घुटना, छातो, ललाट, उभरे हुए भाग ।
- तिर्यग्भाग—समतल भाग ।

साधक देखे—शरीर के अधोभाग में खोत है, ऊर्ध्वभाग में  
खोत है और मध्यभाग में खोत है—नाभि है ।

देखें—आयारो, ५।११८ ।

शरीर को समग्रदृष्टि से देखने की साधना-पद्धति बहुत  
महत्त्वपूर्ण रही है । प्रस्तुत सूत्र में उसी शरीर-विपश्यना  
का निर्देश है । उसे समझने के लिए 'विसुद्धिमग्न' का छद्मा  
परिच्छेद पठनीय है ।

(देखें—विसुद्धिमग्न, भाग १ पृष्ठ १६०-१७५) ।

(ख) प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या का दूसरा नय है—

दीर्घदर्शी साधक देखता है—लोक का अधोभाग विषय-  
वासना में आसक्त होकर शोक आदि से पीड़ित है ।

लोक का ऊर्ध्वभाग भी विषय-वासना में आसक्त होकर  
शोक आदि से पीड़ित है ।

लोक का मध्यभाग भी विषय-वासना में आसक्त होकर  
शोक आदि से पीड़ित है ।

(ग) प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या का तीसरा नय है—

दीर्घदर्शी साधक मनुष्य के उन भावों को जानता है,  
जो अधोगति के हेतु बनते हैं, उन भावों को जानता है,  
जो ऊर्ध्वगति के हेतु बनते हैं और उन भावों को जानता  
है, जो तिर्यग् (मध्य) गति के हेतु बनते हैं ।

(घ) इसकी प्राटक-परक व्याख्या भी की जा सकती है—

आंखों को विस्फारित और अनिमेष कर उन्हें किसी  
एक बिंदु पर स्थिर करना प्राटक है । इसकी साधना सिद्ध  
होने पर ऊर्ध्व, मध्य और अधः—ये तीनों लोक जाने जा  
सकते हैं । इन तीनों लोकों को जानने के लिए इन तीनों  
पर ही प्राटक किया जा सकता है ।

भगवान् महावीर ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और मध्यलोक  
में ध्यान लगाकर समाधिस्थ हो जाते थे  
(आयारो, १।४।१४) ।

इससे ध्यान की तीन पद्धतियां फलित होती हैं—

१. आकाश-दर्शन,
२. तिर्यग् भित्ति-दर्शन,
३. भूगर्भ-दर्शन ।

आकाश-दर्शन के समय भगवान् ऊर्ध्वलोक में विद्यमान  
तत्त्वों का ध्यान करते थे । तिर्यग् भित्ति-दर्शन के समय वे  
मध्यलोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान करते थे । भूगर्भ-  
दर्शन के समय वे अधोलोक में विद्यमान तत्त्वों का ध्यान  
करते थे । ध्यानविचार में लोक-चिंतन को आलम्बन  
बताया गया है । ऊर्ध्वलोकवर्ती वस्तुओं का चिंतन उरसाह  
का आलम्बन है । अधोलोकवर्ती वस्तुओं का चिंतन परा-  
क्रम का आलम्बन है । तिर्यग्लोकवर्ती वस्तुओं का चिंतन  
चेष्टा का आलम्बन है । लोक-भावना में भी तीनों लोकों  
का चिन्तन किया जाता है ।

(नमस्कार स्वाध्याय, पृष्ठ २४९)

भाष्यम् १२६—प्रथितः—बद्धः । कामैर्प्रथितः पुरुषः अनुपरिवर्तमानो भवति । अनुपरिवर्तनानुप्रेक्षा काम-मुक्तेः द्वितीय उपायविचयः । कामस्य आसेवनेन तस्येच्छा न शाम्यति । किन्तु कामी पुरुषः वारं वारं तमनुपरिवर्तते । 'काम अकामेन शाम्यति न तु तस्यासेवनेन' इत्यनुभूतेर्जागरणमस्ति काममुक्तेः समर्थ-मालम्बनम् ।

प्रथित का अर्थ है—बद्ध । काम में आसक्त पुरुष अनुपरिवर्तन करता रहता है, उत्तरोत्तर कामों के पीछे चक्कर लगाता रहता है । अनुपरिवर्तना की अनुप्रेक्षा करना काममुक्ति का दूसरा उपाय-विचय है । 'काम' के आसेवन से कामेच्छा शान्त नहीं होती, किन्तु कामी पुरुष बार-बार 'काम' के पीछे दौड़ता रहता है । 'काम अकाम से उपशांत होता है, काम के आसेवन से नहीं'—इस अनुभूति का जागरण काम-मुक्ति का सशक्त आलम्बन है ।

### १२७. संधि विदित्वा इह मच्चिहं ।

सं०—सन्धि विदित्वा इह मत्संघे ।

पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के शरीर की संधि को जानकर कामासक्ति से मुक्त हो ।

भाष्यम् १२७—आगमेषु 'सन्धि' शब्दस्य प्रयोगो तानार्थवाची दृश्यते । प्रस्तुतागमे षट्स्थानेषु आलोच्य-पदमुपलभ्यते—

आगमों में 'संधि' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ है । प्रस्तुत आगम में संधि शब्द छह स्थानों में उपलब्ध होता है—

१. 'समुद्रिणं अणगारे आरिणं आरिपण्णे आरियदंसी अयं संघीति अदक्खु ।' अत्र सन्धिरिति विवरम् ।

१. आर्यं, आर्यप्रज्ञ, आर्यदर्शी और संयम में तत्पर अनगार ने 'यह संधि है'—ऐसी अनुभूति की है । यहां संधि का अर्थ है—विवर ।

२. 'संधि विदित्वा इह मच्चिहं ।' अत्र सन्धिपदं अस्थिजोडवाचकमस्ति ।

२. पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के शरीर की संधि को जानकर ... यहां संधि का अर्थ है—हड्डियों की जोड़ ।

३. 'संधि लोणस्स जाणित्ता ।' अत्र सन्धिपदं अभिप्राय-वाचकमस्ति ।

३. सभी प्राणी जीना चाहते हैं, इस संधि को जानकर ..... यहां संधि का अर्थ है—अभिप्राय ।

प्रस्तुतसूत्रेण सह 'समयं लोणस्स जाणित्ता,' 'दुक्खं लोणस्स जाणित्ता' सूत्रे अपि भावनीये ।

प्रस्तुत सूत्र के साथ-साथ 'सब आत्माएं समान हैं' तथा 'लोक के दुःख को जानकर'—ये दोनों सूत्र भी ज्ञातव्य हैं ।

४. 'एत्थोचरए तं श्लोसमाणे 'अयं संघी' ति अदक्खु ।' अत्र सन्धिपदस्य द्वावर्थौ प्रासङ्गिकौ स्तः—(१) अतीन्द्रिय-चैतन्योदयहेतुभूतं कर्मविवरं सन्धिः । (२) अप्रमत्ता-अध्यवसायसन्धानभूतं शरीरवर्तिकरणं चैतन्यकेन्द्रं चक्रमिति यावत् ।

४. इस अर्हत्-शासन में स्थित मुनि ने शरीर को संयत कर यह 'संधि' है—ऐसा देखा है ।

यहां संधि शब्द के दो अर्थ प्रासंगिक हैं—

(१) अतीन्द्रिय चेतना के उदय में हेतुभूत कर्म-विवर ।

(२) अप्रमत्त अध्यवसाय की निरंतरता को बनाए रखने वाले शरीरवर्तीकरण, चैतन्य-केन्द्र अथवा चक्र ।

५. 'संधिं सप्पुण्येहमाणस्स एगायतण-रयस्स इह विप्पमुक्कस्स, णत्थि मग्गे विरयस्स ति बेमि ।' "

५. 'जो संधि को देखता है, एक आयतन (वीतरागता) में लीन है, ऐहिक ममत्व से मुक्त है, हिंसा से विरत है, उसके लिए कोई मार्ग नहीं है—ऐसा मैं कहता हूँ ।

६. 'जहेत्थ मए संघी म्पोसिए, एवमणत्थ संघी वुज्झोसिए भवति ..... ।' "

६. जैसे मैंने यहां संधि की आराधना की है, वैसी संधि की आराधना अन्यत्र दुर्लभ है ..... ।

अत्र सन्धिर्विवरं ज्ञानदर्शनचारित्र्याराधना वा ।

यहां संधि का अर्थ है—विवर अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की समन्वित आराधना ।

१. आगारो, २।१०६

२. वही, २।१२७

३. वही, ३।५१

४. वही, ३।३

५. वही, ३।७७

६. वही, ५।२०

७. वही, ५।३०

८. वही, ५।४१

'विसुद्धिमग्गे' सन्धिदर्शनं वैराग्यस्य आलम्बनरूपेण सम्मतमस्ति ।

प्रस्तुतप्रकरणे मर्त्येषु—मनुष्यशरीरेषु सन्धिदर्शनं कामवासनाविमुक्तेरस्ति तृतीय उपायविचयः ।<sup>१</sup>

'विसुद्धिमग्गे' ग्रन्थ में संधि को देखना वैराग्य का आलम्बन माना गया है ।

प्रस्तुत प्रकरण में मनुष्य के शरीर में संधि को देखना काम-वासना की मुक्ति का तीसरा उपाय-विचय है ।

१२८. एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिभोयए ।

सं०—एषः वीरः प्रशंसितः यो बद्धान् प्रतिमोचयेत् ।

वही वीर प्रशंसित होता है जो काम-वासना से बद्ध को मुक्त करता है ।

भाष्यम् १२८—काममुक्तिः पराक्रमेण भवति । तेन अस्मिन् साधनापथे यः संयमवीर्येण वीरो भवति, स एव प्रशंसनीयो भवति, काममुक्तौ सफलतां लभते इति तात्पर्यम् । तस्य वीरत्वं प्रस्फुटीभवति यः कामबन्धनेन बद्धं स्वं ततो विमुक्तं कृत्वा अन्यानपि बद्धान् प्रतिमोचयेत् ।

पराक्रम से ही काममुक्ति साधी जा सकती है । इसलिए इस साधना-पथ में जो अनगार संयमवीर्य से वीर होता है, वही प्रशंसनीय होता है, अर्थात् वही काममुक्ति में सफल हो सकता है । उस व्यक्ति का वीरत्व प्रस्फुटित होता है जो स्वयं को कामवासना के बंधनों से मुक्त करता है और दूसरे जो कामवासना में बंधे हुए हैं, उनको भी मुक्त करता है ।

१२९. जहा अंतो तथा बाहि, जहा बाहि तथा अंतो ।

सं०—यथा अन्तः तथा बहिः, यथा बहिः तथा अन्तः ।

यह शरीर जैसा भीतर है, वैसा बाहर है, जैसा बाहर है, वैसा भीतर है ।

भाष्यम् १२९—कामबन्धनविमुक्तेः चतुर्थ उपाय-विचयोऽस्ति निर्वेदः—शरीरं प्रति वैराग्यकरणम् । शरीरस्य प्रकृतिरियं—यथा तद् अन्तः शोणितादिधातुमयं अशुचि विद्यते तथा बहिरपि, यथा बहिः शोणितादि-धातुमयं अशुचि विद्यते तथा अन्तरपि ।<sup>३</sup>

काम-बंधन की विमुक्ति का चौथा उपाय-विचय है—निर्वेद । इसका अर्थ है—शरीर के प्रति विरक्ति । शरीर का यह स्वरूप है कि जैसा वह भीतर में रक्त आदि धातुमय और अपवित्र है, वैसा ही वह बाहर में है । जैसा वह बाहर में रक्त आदि धातुमय और अपवित्र है, वैसा ही वह भीतर में है ।

१. विसुद्धिमग्ग, भाग १, पृष्ठ १६५ :—सन्धि-दर्शन—शरीर की संधियों (जोड़ों) का स्वरूप-दर्शन कर उसके यथार्थ रूप को समझना । शरीर अस्थियों का ढांचा-मात्र है, उसे देखकर उससे विरक्त होना । शरीर में एक सौ अस्ती सन्धियां भानी जाती हैं । चौदह महासन्धियां हैं—तीन दाएं हाथ की सन्धियां—कंधा, कुहनी और पहुंचा । तीन बाएं हाथ की सन्धियां । तीन दाएं पैर की सन्धियां—कमर, घुटना और गुल्फ । तीन बाएं पैर की सन्धियां । एक गर्दन की सन्धि । एक कमर की सन्धि ।

२. (क) सुश्रुतसंहितायां सन्धिसंख्या इत्थं निर्दिष्टास्ति—  
'संख्यातस्तु दशोत्तरे द्वे शते, तेषां शाखास्वष्टषष्टिः,  
एकोनषष्टिः कोष्ठे, शीषां प्रत्यूर्ध्वं व्यशोतिः ।'  
(सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानम्, ५।२७)

(ख) सुश्रुतसंहिता, ५।२८ :

अस्थनां तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः ।

पेशीस्माद्युक्तानां तु सन्धिसंख्या न विद्यते ॥

३. (क) द्रष्टव्या—आयारो, ५।११८ सूत्रस्य व्याख्या ।

(ख) तुलना—अथर्ववेद २।३० : यदन्तरं तद् बाह्यं, यद् बाह्यं तदन्तरम् ।

(ग) इसका वैकल्पिक अनुवाद इस प्रकार भी किया जा सकता है—साधक जैसा अन्तस् में वैसा बाहर में, जैसा बाहर में वैसा अंतस् में रहे ।

कुछ दार्शनिक अन्तस् की शुद्धि पर बल देते थे और कुछ बाहर की शुद्धि पर । भगवान् एकांगी दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते थे । उन्होंने दोनों को एक साथ देखा और कहा—केवल अंतस् की शुद्धि ही पर्याप्त नहीं है । बाहरी व्यवहार भी शुद्ध होना चाहिए । वह अंतस् का प्रतिफल है । केवल बाहरी व्यवहार का शुद्ध होना भी पर्याप्त नहीं है । अंतस् की शुद्धि के बिना वह कोरा वमन बन जाता है । इसलिए अंतस् भी शुद्ध होना चाहिए । अंतस् और बाह्य दोनों की शुद्धि ही धार्मिक जीवन की पूर्णता है ।

१३०. अंतो अंतो पूतिदेहंतराणि, पासति पुढोवि सवन्ताइं ।

सं०—अन्तः अन्तः पूतिदेहान्तराणि पश्यति पृथगपि स्रवन्ति ।

पुरुष इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर पहुँच कर शरीर-घातुओं को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है ।

भाष्यम् १३०—साधकः शरीरस्य अशुचित्वानुप्रेक्षां कुर्वन् अंतो अंतो—यथा यथा अन्तः प्रविशति, तथा तथा पूतिदेहस्य अन्तराणि—विवराणि पृथक् पृथक् स्रवन्ति पश्यति । तानि च पुरुषे नव भवन्ति, स्त्रीषु च द्वादश । तेषां अशुचित्वदर्शनेन देहासक्तेर्विमुक्तिः ततश्च कामासक्तिः क्षीणा भवति ।

साधक शरीर की अनुप्रेक्षा करते-करते जैसे-जैसे शरीर के भीतर प्रवेश करता है, वैसे-वैसे वह अशुचिमय शरीर में झरते हुए विविध स्रोतों को देखता है । वे छिद्र पुरुष में नी और स्त्री में बारह होते हैं । उन छिद्रों की अशुचिता को देखकर देहासक्ति से छुटकारा मिलता है और फिर कामासक्ति क्षीण होती जाती है ।

वृत्तौ अशुच्यनुप्रेक्षालम्बनभूते द्वे गाथे उद्धृते स्तः—

वृत्तिकार ने अशुचि अनुप्रेक्षा की आलम्बनभूत दो गाथाएं उद्धृत की हैं—

मांसद्वी-रुहिर-ण्हाखण्ड-कललमय-मेद-मज्जासु ।  
पुण्णमि चम्मकोत्ते, दुग्धे असुइबीमच्छे ॥

यह शरीर मांस, अस्थि, रुधिर युक्त तथा स्नायुओं से बंधा हुआ, कललमय, मेद और मज्जा से परिपूर्ण एक चर्मकोश है । यह दुग्धमय तथा अशुचि होने के कारण बीभत्स है ।

संचारिम-जंत-गलंत-वच्च-मुत्तंत-सेअ-पुण्णमि ।  
देहे हुज्जा कि रागकारणं असुइहेउम्मि ?

यह शरीररूपी यंत्र निरंतर संचलित और स्रवित होने वाले मल-मूत्र तथा प्रस्वेद से युक्त है । इस अशुचिरूप देह में राग या आसक्ति का क्या कारण हो सकता है ?

१३१. पंडिए पडिलेहाए ।

सं०—पंडितः प्रतिलिखेत् ।

पंडित पुरुष काम के विपाक को देखे ।

भाष्यम् १३१—पंडितः शरीरस्य असारतां अशुचित्वं कामभोगस्य विपाकांश्च अनुप्रेक्ष्य प्रतिलेखनां कुर्यात्—तां अनुप्रेक्षां हृदयेन स्पृशेत्, तस्याः धारणां स्वमस्तिष्के उत्कीर्णां वा कुर्यात् ।

तत्त्वज्ञ पुरुष शरीर की असारता, अशुचिता तथा कामभोगों के परिणामों की अनुप्रेक्षा कर प्रतिलेखना करे—उस अनुप्रेक्षा का हृदय से स्पर्श करे अथवा उस अनुप्रेक्षा की धारणा को अपने मस्तिष्क में उकेर दे ।

प्रतिलेखनापूर्वकं ये कामाः परित्यक्ताः, न ते पुनरुपादातव्याः इति विचारविचयात्मकमालम्बनम् ।

प्रतिलेखनापूर्वक अर्थात् हृदय की अनुभूति पूर्वक जो कामभोग परित्यक्त होते हैं उनका पुनः ग्रहण नहीं होना चाहिए । यह विचार-विचयात्मक आलम्बन है ।

१३२. से मइमं परिणाय, मा य हु लालं पन्चासी ।

सं०—स मतिमान् परिज्ञाय भा च खलु लालां प्रत्याशीः ।

वह मतिमान् पुरुष काम को जानकर और त्याग कर लार को न चाटे ।

भाष्यम् १३२—स मतिमान् द्विविधयाः परिज्ञायाः प्रयोगं कृत्वा कामान् परिहृतवान् । परिज्ञा—विवेकः । सा द्विविधा—ज्ञ-परिज्ञा प्रत्याख्यान-परिज्ञा च । ज्ञ-परिज्ञया कामानां विपाकान् ज्ञात्वा प्रत्याख्यान-परिज्ञया च तेन ते परिहृताः । तस्य कृते उपदेशसूत्रमिदम्—‘मा

उस मतिमान् पुरुष ने दोनों प्रकार की परिज्ञाओं का प्रयोग कर कामभोगों को छोड़ा है । परिज्ञा का अर्थ है—विवेक । परिज्ञा दो प्रकार की होती है । ज्ञ-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-परिज्ञा । ज्ञ-परिज्ञा से कामभोगों के विपाकों को जानकर, प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसने उनका परित्याग किया है । उसके लिए यह उपदेश-सूत्र है ‘तुम लार को

१. आचारांग वृत्ति, पत्र १२४ ।



त्वं लालां प्रत्याशीः—कामान् वान्त्वा न तान् पुनरापिवेः  
इति विचारविचयात्मकमालम्बनम् ।

मल चाटो' । इसका तात्पर्य है—कामभोगों का वमन कर उनको पुनः  
स्वीकार मत करो । यह भी विचार-विचयात्मक आलम्बन है ।

१३३. मा तेषु तिरश्चीनमात्मानमापादये ।

सं०—मा तेषु तिरश्चीनमात्मानमापादयेः ।

तुम अपने-आपको काम के मध्य मत फंसाओ ।

भाष्यम् १३३—अस्ति मनुष्ये कामः, अस्ति च शरीरे  
कामासेवनस्य विवराणि । यावद् देहासक्तिः तावत्  
मनुष्यः तेषु मूर्च्छितो भवति । शरीरं क्वचिदपि स्थितं  
स्यात् तथापि मनः वारं वारं तत्रैव धावति । एतां  
स्थितिं विज्ञाय भगवता इति उपदेशसूत्रं प्रोक्तम्—तेषु  
देहविवरेषु आत्मानं मा तिरश्चीनं—मध्यगतं आपादयेः ।

मनुष्य में काम-भावना है और शरीर में काम-आसेवन के  
विवर हैं । जब तक देहासक्ति होती है, तब तक मनुष्य उन विवरों के  
प्रति मूर्च्छित होता है । शरीर कहीं भी स्थित हो फिर भी मन बार-  
बार उन विवरों के प्रति दौड़ता है । इस स्थिति को जानकर भगवान्  
ने यह उपदेश-सूत्र कहा—तुम उन छिद्रों के बीच अपने आपको मत  
फंसाओ ।

१३४. कामं कमे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई, कडेण मूढे पुणो तं करेइ लोभं ।

सं०—कामं कमेः खलु अयं पुरुषः बहुमायी, कृतेन मूढः पुनः तं करोति लोभम् ।

पुरुष कामकामी होता है । वह कामना की पूर्ति के लिए बहुतों को ठगता है । वह अपने ही कृत कार्यों से मूढ होकर पुनः  
ललचाता है ।

भाष्यम् १३४—कामान् इच्छामदनरूपान् कामते—  
अभिलषति स कामं कमेः इत्युच्यते ।<sup>३</sup> एतादृशः पुरुषः  
स्वकामनापूर्तये बहूनि मायां करोति इति बहुमायी  
भवति । स च पदार्थेषु लुभ्यति । किमर्थं लुभ्यति  
इति जिज्ञासायां सूत्रकारः अनुवृत्तेः सिद्धान्तं दर्शयति—  
मनुष्यः यत्कार्यं करोति तस्य वृत्तिर्जायते । सा वृत्तिः  
अनुवृत्ता भवति—पुनः पुनः प्रकटिता भवति । तात्पर्य-  
मिदम्—मनुष्यः वृत्तिबद्धः सन् लोभादिषु प्रवर्तते ।

काम दो प्रकार के हैं—इच्छाकाम और मदनकाम । जो काम  
की अभिलाषा करता है वह कामं कमे कहलाता है । ऐसा व्यक्ति अपनी  
कामनाओं की पूर्ति के लिए बहुत माया करता है, इसलिए वह बहु-  
मायावी होता है । वह पदार्थों में लुब्ध होता है । वह लुब्ध क्यों होता  
है, इस जिज्ञासा को समाहित करने के लिए सूत्रकार अनुवृत्ति के  
सिद्धांत का निरूपण करते हैं—मनुष्य जो कार्य करता है उसकी वृत्ति  
अर्थात् संस्कार मन में अंकित होता है । वह संस्कार बार-बार प्रकट  
होता है । यह अनुवृत्ति का सिद्धांत है । इसका तात्पर्य यह है कि  
मनुष्य संस्कार से प्रतिबद्ध होकर लोभ आदि वृत्तियों में प्रवृत्त होता है ।

१. तिर्यगेव तिरश्चीनम् । तिर्यग्शब्दस्य वक्रः सर्पाकारः  
मध्यः इत्यादयोऽनेके अर्था विद्यन्ते । (आप्टे—संस्कृत इंग्लिश  
द्विवचनरी) । अत्र मध्यवाची अर्थः अभिप्रेतोऽस्ति ।

२. वृत्तौ 'कासंकासे' (पत्र १२५) इति पाठः व्याख्यातोऽस्ति ।  
स न समीचीनः प्रतिभाति । अस्य स्थाने 'कामं कमे' इति  
पाठः संभाव्यते । प्राचीनलिप्यां सकारमकारयोः सादृश्यमिष  
भाति । अस्मिन् पाठे लिपिदोषेण सकारमकारयोः विपर्ययो  
जात इति कल्पना नास्ति अस्वाभाविकी । चूर्णौ 'कामं कामे'  
इति पाठः व्याख्यातोऽस्ति—'कामं कामे खलु अयं पुरिसे'  
इमं अज्ज करेमि इमं हिज्जो काहामि, अहवा इमं पुढं इमं  
पच्छा, भणियं च—

'इमं तावत् करोम्यद्य, इवः करिष्यामि धा परम् ।

चिन्तयन् कार्यकार्याणि, प्रेत्यार्थं नावबुद्धं ते ।

(अ० चू० पृष्ठ ८५)

'जमिणं परिकहिज्जइ'—अस्मिन् उत्तरवर्तिपुत्रेऽपि  
कामं कमेस्य वारद्वयं उल्लेखो दृश्यते—'जमिणं परिकहिज्जति'  
जदीति अणुद्विद्वस्स गहणं, भण्णति—कतरस्स अणुद्विद्वस्स ?  
कामं कमेस्स बहुमायिणी मूढस्स .....

अहवा इमस्स चेव परिवूहणताए, कामं कमे बहुमायी पुणो  
तं करेति । (आ० चू० पृष्ठ ८६)

चूर्णिसम्मतपाठस्य व्याख्या स्वाभाविकी विद्यते ।

'कामं कमे' की तुलना गीता के 'कामकामी' शब्द से की  
जा सकती है—

'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्बत् ।  
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥

(गीता, २।७०)

अत एव उक्तमिदम्—कृतेन मूढः पुरुषः पुनस्तं लोभं करोति ।'

इसलिए कहा है—पुरुष अपने ही कृत कार्यों से मूढ होकर कामसामग्री प्राप्त करने के लिए पुनः ललचाता है ।

१३५. वैरं वद्धेति अप्पणो ।

सं०—वैरं वद्धयति आत्मनः ।

वह अपना वैर बढ़ाता है ।

भाष्यम् १३५—लोभस्य अपायान् दर्शयति सूत्रकारः । कामार्तः पुरुषः आत्मनः वैरं वद्धयति । अभिमानपूर्वकः अमर्षः वैरम् । वैरम्—दुःखं कर्म वा । वद्धयति—तद् वैरं अनन्तं करोति ।

सूत्रकार लोभ के दोषों का दिग्दर्शन कराते हैं—कामार्त पुरुष अपने वैर को बढ़ाता है । अभिमानपूर्वक क्रोध करना वैर है । वैर का अर्थ दुःख या कर्म भी है । बढ़ाने का अर्थ है—वैर की परम्परा को अनन्त करना ।

१३६. जमिणं परिकहिज्जइ, इमस्स चैव पडिबूहणयाए ।

सं०—यदिदं परिकथ्यते अस्य चैव परिवूहणाय ।

यह जो कहा जा रहा है—'काम का आसेवन तृप्ति देता है' यह यथार्थ नहीं है । वह अतृप्ति को बढ़ाने वाला ही होता है ।

भाष्यम् १३६—यद् इदं परिकथ्यते—'कडेण मूढे पुणो तं करेइ लोभं', तत् अस्य कामस्य एव प्रतिबूहणाय भवति । तात्पर्यमिदम्—दुःखनिवृत्तये काममासेवते, किन्तु मूढो नहि जानाति अनेन दुःखस्य तद्हेतुभूतस्य कामस्य च पुष्टिजायते । भणितं च—

'दुःखार्तः सेवते कामान्, सेवितास्ते च दुःखदाः ।

यदि ते न प्रियं दुःखं, प्रसंगस्तेषु न क्षमः ॥'<sup>१६</sup>

जो यह कहा जाता है कि 'पुरुष अपने ही कृत कार्यों से मूढ होकर पुनः ललचाता है, अर्थात् काम-सामग्री पाने की लालसा 'काम' को ही परिपुष्ट करती है । इसका तात्पर्य यह है—मनुष्य दुःख की निवृत्ति के लिए 'काम' का आसेवन करता है, किन्तु वह मूढ मनुष्य नहीं जानता कि इससे दुःख और उसके हेतुभूत काम-दोनों का पोषण होता है । कहा है—

'दुःखार्तं पुरुष 'काम' का आसेवन करता है । वे आसेवित 'काम' उसके लिए दुःखदायी होते हैं । यदि तुझे दुःख प्रिय नहीं है तो 'काम' में प्रवृत्ति करना उचित नहीं है ।'

१३७. अमरायइ महासड्डी ।

सं०—अमरायते महाश्रद्धी ।

काम और अर्थ में जिसकी महान् श्रद्धा होती है, वह अमर की भांति आचरण करता है ।

१. जो व्यक्ति क्लिप्तव्यता (अब यह करना है, अब वह करना है, इस चिन्ता) से आकुल होता रहता है, वह मूढ कहलाता है ।

मूढ व्यक्ति सुख का अर्थो होने पर भी दुःख पाता है । वह आकुलतावश शयन-काल में शयन, स्नान-काल में स्नान और भोजन-काल में भोजन नहीं कर पाता—

'सोउं सोवणकाले, मज्जणकाले य मज्जिउं लोलो ।

जेमेउं च वराओ, जेमणकाले न चाएइ ॥'

मूढ व्यक्ति स्वप्निल जीवन जीता है । वह काल्पनिक समस्याओं में इतना उलझ जाता है कि वास्तविक समस्याओं की ओर ध्यान ही नहीं दे पाता । एक भिखारी था । उसने एक दिन भैंस की रखवाली की । भैंस के मालिक ने प्रसन्न हो उसे दूध दिया । उसने दूध को जमा दही बना

लिया । दही के पात्र को सिर पर रख कर चला । वह चलते-चलते सोचने लगा—इसे मथ कर घी निकालूंगा । उसे बेचकर व्यापार करूंगा । व्यापार में पैसे कमाकर व्याह करूंगा । फिर लड़का होगा । फिर मैं भैंस लाऊंगा । मेरी पत्नी बिलीना करेगी । मैं उसे पानी लाने को कहूंगा । वह उठेगी नहीं, तब मैं क्रोध में आकर एडी के प्रहार से बिलीना को फोड़ डालूंगा । दही दुल जाएगा । वह कल्पना में इतना तन्मय हो गया कि उसने दूधे हुए दही को साफ करने के लिए अपने सिर पर से कपड़ा खींचा । सिर पर रखा हुआ दही का पात्र गिर गया । उसके स्वप्नों की सृष्टि विलीन हो गई ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ६६ ।

भाष्यम् १३७—यस्य कामे तदुपायभूते अर्थे च महती श्रद्धा विद्यते, स महाश्रद्धी पुरुषः अमरायते—मरणा-शंका मतिक्रान्त इव आचरति ।<sup>१</sup>

जिस व्यक्ति की 'काम'—इंद्रिय विषयों तथा उनके साधनभूत धन में महान् श्रद्धा होती है, वह महाश्रद्धी पुरुष 'अमर' की भांति आचरण करता है। वह इस प्रकार से आचरण करता है मानो उसे मरने की आशंका ही नहीं है।

### १३८. अदृमेतं पेहाए ।

सं०—आर्त्तमेतं प्रेक्ष्य ।

तू देख, वह पीड़ित है ।

भाष्यम् १३८—यः कामस्य तदुपायभूतस्य अर्थस्य च चिन्तया व्याकुलः स आर्त्तः—पीडितो दुःखी वा विद्यते इति प्रेक्ष्य त्वं जानीहि—'कामं अर्थं च दुःखस्य उपादानम् ।'<sup>१</sup>

जो काम तथा उसके साधन भूत अर्थ की चिन्ता से व्याकुल होता है वह आर्त्त होता है, पीड़ित अथवा दुःखी होता है—यह देखकर तुम जानो, काम और अर्थ—ये दोनों दुःख के उपादान कारण हैं।

### १३९. अपरिण्णाए कन्दति ।

सं०—अपरिज्ञाय क्रन्दति ।

अर्थ-संग्रह का त्याग नहीं करने वाला क्रन्दन करता है ।

भाष्यम् १३९—कामं अर्थं तयोर्विपाकांश्च अपरिज्ञाय पुरुषः क्रन्दति—अप्राप्ते कांक्षया क्रन्दति, नष्टे च शोकेन क्रन्दति ।

काम और अर्थ तथा उनके परिणामों को नहीं जानता हुआ पुरुष क्रन्दन करता है। उसके दो कारण हैं—(१) उनकी प्राप्ति न होने पर आकांक्षा से क्रन्दन करता है तथा (२) उनके नष्ट हो जाने पर शोक से क्रन्दन करता है।

### १४०. से तं जाणह जमहं वेमि ।

सं०—अथ तद् जानीत यदहं ब्रवीमि ।

तुम उसे जानो, जो मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १४०—अथ तद् जानीत यदहं ब्रवीमि—इति वदन् सूत्रकारः कामचिकित्सां प्रति शिष्यस्य ध्यानं आकर्षति ।

इसलिए तुम उसे जानो, जो मैं कहता हूँ—यह कहते हुए सूत्रकार काम-चिकित्सा के प्रति शिष्य का ध्यान आकृष्ट करते हैं।

### १४१. तेइच्छं पण्डिते पवयमाणे ।

सं०—चिकित्सां पण्डितः प्रवदन् ।

चिकित्सा-कुशल वंश चिकित्सा में प्रवृत्त हो रहा है ।

१. राजगृह में मगधसेना नाम की गणिका थी। वहाँ धन नाम का सार्थवाह आया। वह बहुत बड़ा धनी था। उसके रूप, यौवन और धन से आकृष्ट होकर मगधसेना उसके पास गयी। वह आय और व्यय का लेखा करने में तन्मय हो रहा था। उसने मगधसेना को देखा तक नहीं। उसके अहं की चोट लगी। वह बहुत उदास हो गयी।

मगध सम्राट् जरासन्ध ने पूछा—'तुम उदास क्यों हो ? किसके पास बैठने से तुम पर उदासी छा गयी ?'

गणिका ने कहा—'अमर के पास बैठने से ।'

'अमर कौन ?' सम्राट् ने पूछा ।

गणिका ने कहा—'धन सार्थवाह। जिसे धन की ही चिन्ता है। उसे मेरी उपस्थिति का भी बोध नहीं हुआ, तब मरने का बोध कैसे होता होगा ?'

यह सही है कि अर्थ-लोलुप व्यक्ति मृत्यु को नहीं देखता और जो मृत्यु को देखता है, वह अर्थ-लोलुप नहीं हो सकता।

भाष्यम् १४१—अस्ति कश्चित् पण्डितः । स चिकित्सां प्रवदन्तस्ति । अहं कामचिकित्सां कर्तुं समर्थः इति घोषणां कुर्वाणः अस्ति । चिकित्सा कामस्यापि स्यात् व्याधेरपि च । किन्तु प्रकरणवशात् अत्र काम-चिकित्सा विवक्षिता संभाव्यते ।<sup>१</sup>

कामनिग्रहः चिकीर्षितोऽस्ति । स च उपायसाध्यः । तदर्थमाध्यात्मिका उपायाः पूर्वसूत्रेषु प्रदर्शिताः । तन्त्र-साधनापद्धतौ वनौषधिसाध्या उपाया अपि लभ्यन्ते । तदर्थं वनस्पतिजीवानां हिंसा अनिवार्या भवति इति स्पष्टं निर्दिशति सूत्रकारः—

१४२. से हन्ता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्द्रोत्ता ।

सं०—स हन्ता छेत्ता भेत्ता लुम्पयिता विलुम्पयिता उद्द्रोता ।

वह चिकित्सा के लिए अनेक जीवों का हनन, छेदन, भेदन, लुंपन, विलुंपन और प्राण-वध करता है ।

भाष्यम् १४२—स कामचिकित्सापण्डितः काम-चिकित्सायै वनस्पत्यादिजीवानां हन्ता छेत्ता भेत्ता लुम्पयिता विलुम्पयिता उद्द्रोता च भवति ।

लुम्पयिता—त्रोटयिता ।<sup>२</sup>

उद्द्रोता—उत्पीडयिता ।<sup>३</sup>

कोई पंडित—कुशल चिकित्सक है । वह चिकित्सा की बात कह कर घोषणा कर रहा है कि 'मैं काम-चिकित्सा करने में समर्थ हूँ' । चिकित्सा 'काम' की भी होती है और व्याधि की भी होती है । किन्तु यहां प्रकरणवश संभवतः काम-चिकित्सा ही विवक्षित है ।

काम का निग्रह करना इष्ट है । वह उपाय-साध्य है । उसके लिए पूर्व सूत्रों में आध्यात्मिक उपाय निर्दिष्ट हैं । तांत्रिक साधना-पद्धति में काम-चिकित्सा के लिए वनौषधिसाध्य उपाय भी प्राप्त होते हैं । उसके लिए वनस्पति के जीवों की हिंसा अनिवार्य होती है । इसका स्पष्ट निदर्शन करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

वह काम-चिकित्सा में निपुण व्यक्ति काम-चिकित्सा के लिए वनस्पति आदि जीवों का हनन, छेदन, भेदन, लुंपन, विलुंपन तथा उद्द्रवण करता है ।

लुम्पयिता का अर्थ है—तोड़ने वाला ।

उद्द्रोता का अर्थ है—उत्पीडन करने वाला ।

१४३. अकडं करिष्यामि मण्यमाने ।

सं०—अकृतं करिष्यामि इति मन्यमानः ।

'पहले किसी ने नहीं किया, ऐसा मैं करूंगा'—यह मानता हुआ वह हिंसा में प्रवृत्त होता है ।

भाष्यम् १४३—अकृतं—यदपरेण कामचिकित्सनं न कृतम्, तदहं करिष्यामि इति मन्यमानः स जीवानां हननादिक्रियासु प्रवर्तते ।

दूसरे व्यक्ति ने जैसी काम-चिकित्सा नहीं की मैं वैसी करूंगा—यह मानता हुआ वह व्यक्ति जीवों के हनन आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होता है ।

१४४. जस्स वि य णं करेइ ।

सं०—यस्यापि च करोति ।

वह जिसकी चिकित्सा करता है—वह भी हिंसा में प्रवृत्त होता है ।

भाष्यम् १४४—स यस्यापि जीवहिंसासम्बद्धां काम-चिकित्सां करोति, सोऽपि हिंसायां प्रवृत्तो भवति ।

वह चिकित्सक जिस व्यक्ति की जीव-हिंसा से युक्त काम-चिकित्सा करता है, वह भी हिंसा में प्रवृत्त होता है ।

१४५. अलं बालस्स संगेण ।

सं०—अलं बालस्य सङ्गेण ।

हिंसा में प्रवृत्त बाल के संग से क्या लाभ ?

१. चूर्णकारेण मुखयत्वेन व्याधिचिकित्सापरो व्याख्यातोऽसौ आलापकः । वं कल्पकरूपेण कामचिकित्सापरश्च ।

(चूर्ण, पृष्ठ ८७-८८)

टीकाकारेण मुखयत्वेन कामचिकित्सापरोऽसौ

आलापको व्याख्यातः, भौणरूपेण व्याधिचिकित्सापरोऽपि । (वृत्ति, पत्र १२६)

२. आण्डे, लुप्—to break ।

३. वही, इ—to injure ।

भाष्यम् १४५—यो हिंसायां प्रवृत्तः स अविरतो भवति । स एव बालपदवाच्यः । तादृशो बालः कथं कामविरतेः चिकित्सां कर्तुमर्हत् ? तेन तस्य सङ्गेन किं प्रयोजनम् ? इति उपदिशति सूत्रकारः ।

जो हिंसा में प्रवृत्त होता है, वह अविरत होता है। वही 'बाल'—अल्पज्ञ कहलाता है। वैसा बाल व्यक्ति काम-विरति की चिकित्सा कैसे कर सकता है ? इसलिए उसके संग से प्रयोजन ही क्या ? यही सूत्रकार बतलाते हैं ।

१४६. जे वा से कारेइ बाले ।

सं०—यो वा स कारयति बालः ।

जो ऐसी चिकित्सा करवाता है, वह बाल है ।

भाष्यम् १४६—यो वा तादृशीं हिंसानुबन्धां कामचिकित्सां कारयति स बालः । तस्यापि एतादृशेन कर्मणा किं प्रयोजनम् ?

जो वैसी हिंसानुबन्धी काम-चिकित्सा कराता है, वह बाल है ! उसको भी ऐसी प्रवृत्ति से क्या प्रयोजन ?

१४७. ण एवं अनगारस्स जायति । —त्ति वेमि ।

सं०—न एवं अनगारस्य जायते ।—इति ब्रवीमि ।

अनगार ऐसी चिकित्सा नहीं करा सकता ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १४७—अनगारस्य नैवं जायते । स ध्यानेन तपसा च काम-चिकित्सां करोति, न तु तान्त्रिकपद्धत्या स तां कर्तुमर्हति ।

अनगार ऐसी चिकित्सा नहीं करा सकता । वह ध्यान तथा तपस्या के द्वारा काम-चिकित्सा करता है । वह तान्त्रिक-पद्धति से काम-चिकित्सा नहीं कर सकता ।

व्याधिचिकित्साक्षेत्रेऽपि हननछेदनभेदनादिक्रिया प्रयुज्यमाना आसीत् । तस्मिन् विषये भगवतो महावीरस्य दृष्टिरियमासीत्—यो जीवोपमर्देन व्याधिचिकित्सां प्रतिपादयति स बालः—अविज्ञाततत्त्वोऽस्ति । विदेह-साधनां कुर्वाणस्थानगारस्य तादृश्या चिकित्सया किं प्रयोजनम् ? यदि कश्चिदपि अनगारश्चिकित्सा-मिच्छेत् सोऽपि निरवद्येन उपायेन ।

व्याधि की चिकित्सा के क्षेत्र में भी हनन, छेदन, भेदन आदि क्रियाएं प्रयुक्त होती थीं । उस विषय में भगवान् महावीर का दृष्टिकोण यह था—जो जीवहिंसायुक्त रोग-चिकित्सा का प्रतिपादन करता है, वह 'बाल' है । वह तत्त्व को नहीं जानता । विदेह की साधना करने वाले अनगार को वैसी चिकित्सा से क्या प्रयोजन ? यदि कोई अनगार रोग की चिकित्सा कराना चाहे तो उसे भी निरवद्य उपाय से चिकित्सा करानी चाहिए ।

१. इस सूत्र के बंक्लिक अनुवाद इस प्रकार किए जा सकते हैं—

- (क) यह (चिकित्सा-हेतु किया हुआ वध) उस अज्ञानी के संग (कर्म-बंध) के लिए पर्याप्त है ।  
(ख) अज्ञानी के संग से क्या ?

२. मुनि-जीवन की दो भूमिकाएं थीं—संघवासी और संघ-मुक्त । संघवासी शरीर का प्रतिकर्म—सार-संभाल करते थे । गच्छ-मुक्त मुनि शरीर का प्रतिकर्म नहीं करते थे । वे रोग उत्पन्न होने पर उसकी चिकित्सा भी नहीं करवाते थे । यह भूमिका-भेद भगवान् महावीर के उत्तरकाल में हुआ प्रतीत होता है । प्रारंभ में भगवान् ने मुनि के लिए चिकित्सा का विधान नहीं किया था । उसके सम्भावित कारण दो हैं—अहिंसा और अपरिग्रह ।

चिकित्सा में हिंसा के अनेक प्रसंग आते हैं । बंध चिकित्सा के लिए हिंसा करता है, उसका सूत्र १४२ में स्पष्ट निर्देश है । औषधि के प्रयोग से होने वाली कृमि

आदि की हिंसा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

शरीर का ममत्व भी परिग्रह है । अपरिग्रही को उसके प्रति भी निममत्व होना चाहिए । जिसने शरीर और उसका ममत्व विसर्जित कर दिया, जो आत्मा में लीन हो गया, वह चिकित्सा को अपेक्षा नहीं रखता । वह शरीर में जो घटित होता है, उसे होने देता है । वह उसे कर्म का प्रतिकूल मान सह लेता है । जीवन और मृत्यु के प्रति समभाव रखने के कारण जीवन का प्रयत्न और मृत्यु से बचाव नहीं करता, इसलिए उसके मन में चिकित्सा का संकल्प नहीं होता ।

भगवान् महावीर के उत्तरकाल में इस चिंतनधारा में परिवर्तन हुआ । उस समय साधना की दो भूमिकाएं निर्मित हुईं और प्रथम भूमिका की साधना में उस चिकित्सा को मान्यता दी गई, जिसमें बंध-कृत हिंसा का प्रसंग न हो ।

## छटो उद्देशो : छठा उद्देशक

१४८. से तं संबुद्धमाणे आयाणीयं समुद्गाए ।

सं०—स तं संबुध्यमानः आदानीयं समुत्थाय ।

वह उस चिकित्सा को समीचीन दृष्टि से समझकर संयम की साधना में सावधान हो जाता है ।

भाष्यम् १४८—सः पुरुषः तं चिकित्साप्रसङ्गं संबुध्यमानः इति निश्चिनुयात्—नैष संयमिनामाचरणीयः । तेन आदानीयं समुत्थाय प्रवर्तते ।

आदानीयं—ज्ञानदर्शनचारित्र्यात्मकं संयमम् ।

समुत्थाय—ज्ञानादीनामाराधनायै अप्रमादयोग-मालम्ब्य ।

वह पुरुष उस चिकित्सा प्रसंग को जानकर यह निश्चय करे कि ऐसी सावध चिकित्सा मुनियों के लिए आचरणीय नहीं है । इसलिए आदानीय—संयम में अप्रमत्त होकर प्रवृत्त हो ।

आदानीय—ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यात्मक संयम ।

समुत्थाय—ज्ञान आदि की आराधना के लिए अप्रमाद योग का आलंबन लेकर ।

१४९. तम्हा पावं कम्मं, णेव कुज्जा न कारवे ।

सं०—तस्मात् पापं कर्म नैव कुर्यात् न कारयेत् ।

इसलिए वह पापकर्म स्वयं न करे और न दूसरों से करवाए ।

भाष्यम् १४९—आदानीयाय समुत्थानं कृतं तस्मात् कारणात् पापं कर्म नैव कुर्यात्, न च कारयेत् । अत्र चूर्णो पावं—हिसादि जाव मिच्छादंसणसल्लं ।<sup>१</sup> इति पाठेन अष्टादशपापानि संगृहीतानि, किन्तु प्रक्रान्तमिह हिसानुबद्धं चिकित्सितम् । सूत्रे अनुमोदनस्य नास्ति उल्लेखः, चूर्णो तस्यापि समायोजनं लभ्यते ।<sup>२</sup>

वह मुनि संयम की साधना में सावधान हुआ है, इसलिए वह कभी पाप-कर्म न करे, न दूसरों से करवाए । चूर्णिकार के अनुसार यहां प्राणातिपात से मिथ्यादर्शनशल्य तक के अठारह पाप संगृहीत हैं । किन्तु यहां हिसात्मक चिकित्सा का प्रसंग है । सूत्र में अनुमोदन का कोई उल्लेख नहीं है । चूर्ण में उसका भी उल्लेख है ।

१५०. सिया से एगयरं विप्परामुसइ, छसु अण्णयरंसि कप्पति ।

सं०—स्यात् स एकतरं विपरामृशति षट्सु अन्यतरस्मिन् कल्पते ।

यह सम्भव है कि जो एक जीव-निकाय की हिंसा करता है, वह छहों जीव-निकायों की हिंसा करता है ।

भाष्यम् १५०—स्यात्—कदाचित् प्रमादवशगतः एकतरं जीवनिकायं हिनस्ति, तदा स षण्णामपि जीवनिकायानां समारम्भे वर्तते । यथा घटनिर्माणकाले कुम्भकारः पृथ्वीकायजीवान् हिंसन् अग्नेः वायोः वनस्पतेः त्रसप्राणिनाञ्च समारम्भेऽपि वर्तते ।

कदाचित् प्रमाद के वशीभूत होकर व्यक्ति किसी एक जीव-निकाय की हिंसा करता है, तब भी वह छहों जीव-निकायों की हिंसा में प्रवृत्त होता है । जैसे कुम्भकार घट का निर्माण करते हुए पृथ्वीकाय के जीवों की हिंसा करता है, तब भी वह पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा त्रसकाय के जीवों की हिंसा करता है ।

व्याख्याया द्वितीयो नयः—यः एकजीवातिपाती भवति, स वस्तुतः सर्वजीवातिपाती भवति, अविरतत्वात् । यस्य जीवहिंसाविरतिर्नास्ति स

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या का दूसरा प्रकार यह है—जो एक जीव की हिंसा करता है, वह वास्तव में सभी जीवों की हिंसा करता है, क्योंकि वह अविरत है । जिसके जीव-हिंसा की विरति नहीं है, वह

१. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ८९ ।

२. वही, पृष्ठ ८९ : सतं ण कुज्जा णो अण्णेहिं कारवे करेतंऽण्णं

णाणुमोदए, अणुमोदणा अकरणाकारणेण गहिता, णवए णवभेदेण ।

यस्य कस्यापि जीवनिकायस्य हिंसायां प्रवर्तितुं जिस-किसी जीव-निकाय की हिंसा करने में प्रवृत्त हो सकता है।  
सावकाशः ।<sup>१</sup>

विपरामृशति—हिनस्ति ।\*

कल्पते—वर्तते ।

विपरामृशति का अर्थ है—हिंसा करना ।

कल्पते का अर्थ है—है ।

१५१. सुहृद्दी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढे विपरियासमुवेति ।<sup>२</sup>

सं०—सुखार्थी लालप्पमानः स्वकेन दुःखेन मूढः विपर्यासमुपैति ।

सुख का अर्थों बार-बार सुख की कामना करता है । वह अपने द्वारा कृत दुःख—कर्म से मूढ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है—  
सुख का अर्थों होकर दुःख को प्राप्त होता है ।

भाष्यम् १५१—किमर्थं पुरुषः हिंसायां प्रवर्तते इति जिज्ञासां समाधत्ते सूत्रकारः—द्विविधाः पुरुषाः भवन्ति—आत्मार्थिनः सुखार्थिनश्च । तत्र यः सुखार्थी भवति स हिंसायां प्रवर्तते । स वारं वारं सुखं प्रार्थयते ।\* स सुखं प्रार्थयमानः दुःखमर्जयति ।

पुरुष हिंसा क्यों करता है—इस जिज्ञासा के समाधान में सूत्रकार कहते हैं—पुरुष दो प्रकार के होते हैं—आत्मार्थी और सुखार्थी । जो सुखार्थी है, वह हिंसा में प्रवृत्त होता है । वह बार-बार सुख (सुविधा) की आकांक्षा करता है । वह सुख की आकांक्षा करता हुआ दुःख का अर्जन करता है, कर्म-बंध करता है । कर्म दुःख है, क्योंकि

१. जो एक जीव-निकाय की हिंसा करता है, वह छहों जीव-निकायों की हिंसा करता है । इस सूत्र की पृष्ठभूमि में अहिंसा अथवा मैत्री का दर्शन छिपा हुआ है ।

साधक के लिए सब जीवों की हिंसा निषिद्ध है । यह सर्व निषेध अहिंसा के चित्त का निर्माण करता है । एक जीव-निकाय की हिंसा विहित और अन्य जीव-निकायों की हिंसा निषिद्ध हो तो अहिंसा के चित्त का निर्माण नहीं हो सकता । जो व्यक्ति एक जीव-निकाय की हिंसा करता है, उसके चित्त में अन्य जीव-निकायों के प्रति मैत्री सघन नहीं हो सकती ।

भगवान् महावीर के युग में कुछ परिव्राजक यह प्रतिपादित करते थे—हम केवल पानी के जीवों की हिंसा करते हैं, अन्य जीवों की हिंसा नहीं करते । कुछ श्रमण निरूपित करते थे—हम भोजन के लिए जीव-हिंसा करते हैं, अन्य प्रयोजन के लिए जीव-हिंसा नहीं करते ।

भगवान् महावीर के शिष्य जंगल के मार्ग में विहार करते, तब बीच में अचिंत पानी नहीं मिलता । अनेक मुनि प्यास से आकुल हो स्वर्गवासी हो जाते । ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठा हो कि कदाचित् विकट परिस्थिति आने पर सचिंत पानी पी लिया जाए तो क्या आपत्ति है ?

इन सब निरूपणों और प्रश्नों को सामने रखकर भगवान् ने यह प्रतिपादित किया कि जिस साधक के चित्त में किसी एक जीव-निकाय की हिंसा की भावना अव्यक्त रहती है, उसका सर्वजीव-अहिंसा के पथ में प्रस्थान नहीं होता । अतः साधक की मैत्री सघन होनी चाहिए । उसके चित्त में कभी भी किसी जीव-निकाय की हिंसा की भावना शेष नहीं रहनी चाहिए ।

यह सूत्र परिग्रह के प्रकरण में है । अतः परिग्रह के संबन्ध में भी इस सूत्र की व्याख्या की जा सकती है । हिंसा, असत्य, अस्तेय, अश्रहाचर्य, परिग्रह और रात्रि-भोजन—ये छह अव्रत हैं । क्या एक अव्रत का आचरण करने वाला दूसरे अव्रत के आचरण से बच सकता है ? क्या परिग्रह रखने वाला हिंसा से बच सकता है ? क्या हिंसा करने वाला परिग्रह से बच सकता है ? इन प्रश्नों के उत्तर में भगवान् महावीर ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया—मूल दोष दो हैं—राग और द्वेष । हिंसा, परिग्रह आदि दोष उनके पर्याय हैं । राग-द्वेष से प्रेरित होकर जो पुरुष परिग्रह का स्पर्श करता है, वह हिंसा आदि का भी स्पर्श करता है । छहों अव्रतों का पूर्ण त्याग संयुक्त होता है, विद्युक्त नहीं होता । कोई मुनि अहिंसा का पालन करे और अपरिग्रह का पालन न करे, अपरिग्रह का पालन करे और अहिंसा का पालन न करे—ऐसा नहीं हो सकता । महाव्रत एक साथ ही प्राप्त होते हैं और एक साथ ही भंग होते हैं । प्रत्याख्यानान्तरण कथाय के प्रशांत होने पर महाव्रत उपलब्ध होते हैं और उसके उदीर्ण होने पर उनका भंग हो जाता है । ये एक, दो या अपूर्ण संख्या में न उपलब्ध होते हैं, और न विनष्ट । इसलिए परिग्रह के प्रकरण में इस सिद्धांत को इस भाषा में प्रस्तुत किया जा सकता है—परिग्रह का स्पर्श करने वाला हिंसा आदि सभी अव्रतों का स्पर्श करता है ।

२. आप्टे, परामशः—Violence.

३. द्रष्टव्यम्—आयारो २।६०,६९ ।

४. आचारांग चूणि, पृष्ठ ९० : अचचत्थं—पुणो पुणो लप्पमाणो लालप्पमाणो, अं भणितं सुहं पत्थेत्ताणो ।

दुःखहेतुत्वात् दुःखं कर्म । तेन स्वकेन—स्वाजितेन दुःखेन मूढः सन् विपर्यसिमुपैति—सुखार्थी सन् दुःखं प्राप्नोति ।

हिताहितयोः कार्याकार्ययोः वर्ज्यावर्ज्ययोरविवेकः मोहः । मोहं प्राप्तो मूढः । स मूढत्वात् नाभिजानाति सुखाय क्रियमाणः प्रयत्नः दुःखाय भविष्यति । अत एव स आत्मनः परस्य वा सुखार्थं पृथ्वीकायादीनां समारम्भं करोति । ततश्च दीर्घकालं दुःखमनुभवति ।<sup>१</sup>

वह दुःख का हेतु है । वह पुरुष अपने द्वारा अर्जित दुःख से मूढ़ होकर विपर्यसि को प्राप्त होता है—सुख की आकांक्षा करता है, पर दुःख पाता है ।

हित और अहित, कार्य और अकार्य, वर्ज्य और अवर्ज्य का अविवेक मोह है । जो मोहग्रस्त होता है वह मूढ़ है । मूढ़ता के कारण वह पुरुष नहीं जानता कि सुख के लिए किया जाने वाला प्रयत्न वस्तुतः दुःख के लिए होगा । इसीलिए वह अपने तथा दूसरों के सुख के लिए पृथ्वीकाय आदि जीवनिकायों की हिंसा करता है । उसका परिणाम है कि वह दीर्घकाल तक दुःख का अनुभव करता है ।

१५२. सएण विप्पमाएण, पुढो वयं पकुच्चति ।

सं०—स्वकेन विप्रमादेन पृथग् वयः प्रकरोति ।

वह अपने अतिप्रमाद के कारण विविध प्रकार के गतिचक्र का निर्माण करता है ।

भाष्यम् १५२—सुखाकांक्षा प्रमादं जनयति । स स्वकीयेन विप्रमादेन पृथग् वयः प्रकरोति । वयः<sup>२</sup>—संसारः गतिचक्रं वा ।<sup>३</sup>

सुख की आकांक्षा प्रमाद को उत्पन्न करती है । वह पुरुष अपने अतिप्रमाद के कारण विविध प्रकार के वय का निर्माण करता है । वय का अर्थ है—संसार अथवा गतिचक्र (जन्म-मृत्यु) ।

१५३. जंसिमे पाणा पव्वहिया । पडिलेहाए णो णिकरणाए ।

सं०—यस्मिन् इमे प्राणाः प्रव्यथिताः । प्रतिलिख्यः नो निकरणाय ।

ये प्राणी जिसमें व्यथित होते हैं, यह जानकर हिंसा और परिग्रह का संकल्प न करे ।

भाष्यम् १५३—यस्मिन् स्वकृतेन प्रमादेन आपादिते गतिचक्रे संसारे वा प्राणाः प्रव्यथिता भवन्ति—शारीरेश्च मानसैश्च दुःखैः पीडिताः भवन्ति, तत् प्रतिलिख्य—सम्यग् ज्ञात्वा हिंसायाः तद्हेतुभूतस्य परिग्रहस्य च निकरणाय नो प्रवर्तेत ।

अपने द्वारा कृत प्रमाद से संप्राप्त जिस गतिचक्र अथवा संसार में प्राणी प्रव्यथित होते हैं—शारीरिक तथा मानसिक दुःखों से पीड़ित होते हैं, उसको सम्यग् प्रकार से जानकर हिंसा तथा उसके हेतुभूत परिग्रह के निकरण के लिए प्रवृत्ति न करे ।

निकरणं—निश्चितं करणं, आवश्यकमिदमिति बुद्ध्या करणम् ।<sup>४</sup>

निकरण का अर्थ है—निश्चित रूप से करना, 'यह आवश्यक है'—इस बुद्धि से करना ।

१५४. एस परिण्णा पवुच्चइ ।

सं०—एतत् परिज्ञा प्रोच्यते ।

इसे परिज्ञा कहा जाता है ।

भाष्यम् १५४—एतत्<sup>५</sup>—हिंसायाः परिग्रहस्य च अनिकरणं 'परिज्ञा' इति उच्यते ।

इस—हिंसा और परिग्रह के अनिकरण को परिज्ञा (विवेक) कहा जाता है ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९१ : सो मूढत्ता णाभियाणति जहा अप्पस्स सुहस्स कारणा पुढविस्कायातिसमारंभेण अणंतकालं संसारे अणुभवति दुक्खं, जहा अत्तट्ठा त्था परट्ठाथि, माता-पतिमादीणं कारणा पुढविमादी समारभति ततो विपरियासं एति ।

२. वही, पृष्ठ ९१ : विच्छिण्णो वयो अणुभवीहाउयं अणेगविहं वा वयं पत्तेयं पत्तेयं छसु जीवनिकाएसु आउयं, पुणे पुणे वा वयं पुढोवयं—भित्तं कुच्चति ।

३. ऐतरेयब्राह्मण, अध्याय १२, खण्ड ८ : 'वयः सुवर्णा उपसेडुरिन्धनित्युत्तमया परिवर्धति ।' सायणाचार्य स्वभाष्ये वेतेघातोर्यत्यर्थस्य वय इति रूपं सम्मतम् ।

४. तुलना, आशारो—१।६१ ।

५. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९१ : जा एस वत्ता पाणाइवायाईणं अकरणा ।

६. ऋष्यभ्यम्—आशारो, १।९ ।



१५५. कम्मोवसंती ।

सं०—कर्मोपशान्तिः ।

यह परिशा कर्म की उपशान्ति है ।

भाष्यम् १५५—परिग्रहस्य असंग्रहेण कर्मणां उपशान्तिः भवति । अतः अनिकरणं कर्मोपशान्तिः इत्यपि उच्यते ।<sup>१</sup>

कर्मोपशान्तिः—नवस्य कर्मणः अकरणं पुराणस्य च क्षणम् ।

परिग्रह के असंग्रह से कर्मों की उपशान्ति होती है । इसलिए अनिकरण का अर्थ कर्मों की उपशान्ति भी है ।

कर्मोपशान्ति का अर्थ है—नए कर्मों का अकरण अर्थात् अबंध तथा पुराने कर्मों का क्षय ।

१५६. जे ममाइय-मति जहाति, से जहाति ममाइयं ।

सं०—यः ममायितमतिं जहाति, स जहाति ममायितम् ।

जो परिग्रह की बुद्धि का त्याग करता है, वह परिग्रह का त्याग कर सकता है ।

भाष्यम् १५६—ममायितम्—ममीकृतम् । ममायितस्य मतिः ममायितमतिः । ममीकारः प्राणिषु भवति पदार्थेषु वा, यथा—मम माता, मम पिता, मम गृहं, मम भूमिः । यः पुरुषः बुद्धिगतं ममत्वं त्यजति स एव वस्तुतः प्राणिविषयकं पदार्थविषयकं वा ममत्वं त्यजति ।

अस्मिन् विषये चूर्णिकारेण भरतस्य उदाहरणं प्रस्तुतीकृतम्—भरहसामिणा आदंसघरे पविट्ठेणं ममीकारमती जडा ।<sup>२</sup>

उक्तं केनचित् तपस्विना—राजन् ! अहं प्रासादे वसामि, तव मस्तिष्के च प्रासादो वसति । तात्पर्यमिदम्—यावत् बुद्धिगतः परिग्रहो न परित्यक्तो भवति तावत् पदार्थगतः परिग्रहो न परित्यक्तः स्यात् । तेन पूर्वं चित्तस्य परिष्कारः करणीयः ।<sup>३</sup>

ममायित का अर्थ है—यह मेरा है, ऐसी भावना । ममायित व्यक्ति की मति ममायितमति है । ममीकार प्राणियों के प्रति और पदार्थों के प्रति होता है, जैसे—मेरी माता, मेरे पिता, मेरा घर, मेरी भूमि । जो व्यक्ति बुद्धिगत ममत्व को छोड़ देता है, वही वास्तव में प्राणिविषयक अथवा पदार्थ-विषयक ममत्व का त्याग करता है ।

इस विषय में चूर्णिकार ने भरत का उदाहरण प्रस्तुत किया है—‘भरत चक्रवर्ती ने आदशंगृह—शीशे के महल में प्रवेश कर ममीकार की मति का परित्याग कर दिया ।’

किसी एक संन्यासी ने राजा से कहा—राजन् ! मैं महल में रह रहा हूँ किन्तु तुम्हारे मस्तिष्क में महल है । इसका तात्पर्य है—जब तक बुद्धिगत परिग्रह नहीं छूटता तब तक पदार्थगत परिग्रह परित्यक्त नहीं होता । इसलिए सबसे पहले चित्त का परिष्कार करना चाहिए ।

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९१ : परिष्णा कम्मोवसंति ति वा एगट्ठा ।

(ख) मनुष्य कर्म करता है । कर्म का अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं है । वह उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया जाता है । जीवन की कुछ आवश्यकताएँ हैं । कर्म के द्वारा उनकी पूर्ति की जाती है । आवश्यकता की पूर्ति के लिए कर्म करना एक बात है और कर्म के लिए आवश्यकता खोजना दूसरी बात है । मन आसक्ति से भरा होता है, तब मनुष्य कर्म की आवश्यकता उत्पन्न करता है । उससे समस्याओं का विस्तार होता है । अनासक्त व्यक्ति के कर्म उपशांत

हो जाते हैं, आवश्यकता-भर बचते हैं । साथ-साथ कर्म से होने वाले कर्म-बन्ध भी उपशांत हो जाते हैं ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९२ ।

३. वही, पृष्ठ ९२ : एवं अण्णमुधि वयेसु आयोज्जं । अस्याधारेण एवं रचितं स्यात्—

जे पाणाइवायमति जहाति, से जहाति पाणाइवायं ।

जे मुसावायमति जहाति, से जहाति मुसावायं ।

जे अबिन्नावाणमति जहाति, से जहाति अबिन्नावाणं ।

जे अबंभवेरमति जहाति, से जहाति अबंभवेरं ।

१५७. से ह्व विट्टपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं ।

सं०—स खलु दृष्टपथः मुनिः यस्य नास्ति ममायितम् ।

जिसके पास परिग्रह नहीं है, उसी मुनि ने पथ को देखा है ।

भाष्यम् १५७—ममत्वेन पन्था अपि विपर्यस्तो भवति, ज्ञानमपि च विपर्यस्तं भवति । यस्य ममत्वं नास्ति स एव दृष्टपथः, स एव मुनिः ज्ञानीति यावत् । ममत्वग्रन्थेः विमोक्षे सत्येवं दर्शनस्य ज्ञानस्य च सहजा उपलब्धिर्भवति इति तात्पर्यम् ।

ममत्व के कारण मार्ग भी विपरीत हो जाता है और ज्ञान भी विपरीत हो जाता है । जिसमें ममकार नहीं होता, उसी ने मार्ग को देखा है, वही मुनि है, ज्ञानी है । ममत्व की गांठ खुलते ही ऐसे दर्शन और ज्ञान की उपलब्धि सहज हो जाती है, यही इसका तात्पर्य है ।

१५८. तं परिणाय मेधावी ।

सं०—तं परिज्ञाय मेधावी ।

मेधावी पुरुष परिग्रह को जाने और उसका त्याग करे ।

भाष्यम् १५८—मेधावी तं परिग्रहं ज्ञ-परिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यान-परिज्ञया प्रत्याचक्षीत ।

मेधावी मुनि उस परिग्रह को ज्ञ-परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उसका परित्याग करे ।

१५९. विदित्ता लोगं, वंता लोगसण्णं, से मत्तिमं परक्कमेज्जासि त्ति बेमि ।

सं०—विदित्वा लोकं, वान्त्वा लोकसंज्ञां, स मत्तिमान् पराक्रमेत इति ब्रवीमि ।

मत्तिमान् पुरुष लोक को जानकर, लोकसंज्ञा को त्याग कर संयम में पराक्रम करे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १५९—स मत्तिमान् लोकं विदित्वा लोक-संज्ञाञ्च वदित्वा पराक्रमेत इति ब्रवीमि ।<sup>१</sup>

वह मत्तिमान् मुनि लोक—लोभ या ममत्व के परिणामों को जानकर, लोकसंज्ञा—लोभ की मति या ममत्वबुद्धि को त्याग कर संयम में पराक्रम करे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

लोकः—लोभः ममत्वं वा ।

लोक का अर्थ है—लोभ या ममत्व ।

लोकसंज्ञा—लोभमतिः ममत्वमतिर्वा ।

लोकसंज्ञा का अर्थ है—लोभ की मति या ममत्व की मति ।

एताभ्यां द्वाभ्यां पदाभ्यामिति ध्वन्यते—प्रथमं परिग्रहस्य स्वरूपावबोधः कार्यः, तदनन्तरं तस्य संज्ञायाः मतेः संस्कारस्य वा परिष्कारः कार्यः । अपरिग्रहसिद्धिरेष पूर्णप्रयोगः ।<sup>२</sup>

इन दोनों पदों की ध्वनि यह है—सबसे पहले परिग्रह के स्वरूप का ज्ञान करना चाहिए । उसके पश्चात् परिग्रह की संज्ञा, मति अथवा संस्कार का परिष्कार करना चाहिए । अपरिग्रह की सिद्धि के लिए यह पूरा प्रयोग है ।

१६०. णारत्ति सहते वीरे, वीरे णो सहते रत्ति । जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जति ।

सं०—णारत्ति सहते वीरः, वीरो नो सहते रतिम् । यस्मात् अविमनाः वीरः, तस्मात् वीरः न रज्यति ।

वीर पुरुष अरति को सहन नहीं करता, वह रति को सहन नहीं करता, क्योंकि वह विमनस्क नहीं होता—मध्यस्थ रहता है । इसलिए वह आसक्त नहीं होता ।

भाष्यम् १६०—लोकसंज्ञानिवृत्तये पराक्रमं कुर्वतोऽपि पुरुषस्य कदाचित् तपः-नियम-संयमेषु अरतिर्भवेत् कदाचित्च तस्य विषयकषायादिलक्षणे असंयमे रतिर्भवेत्, स

साधक लोकसंज्ञा की निवृत्ति के लिए पराक्रम करता है, फिर भी कभी उसके मन में तप, नियम और संयम के प्रति अरति हो सकती है और कभी उसके मन में विषय, कषाय आदि असंयम में रति हो

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९३ : एवं तित्थगरआणाए बेमि, णो त्थेच्छया, अहिगारसमसीए एवं बेमि, ण अज्जयणसमसीए ।

२. तुलना—आयारी, ३।२५ ।

वीरोऽस्ति, तेन अरति रति च न सहेत ।<sup>१</sup> ते तत्कालं मनसो निष्कासयेत् । निष्कासनस्य प्रक्रियामपि सूत्रकारो दर्शयति—तयोः द्वयोरपि अविमनस्कताबलात् रेचनं कर्तुं शक्यम् । अरतिः रतिश्च द्वे अपि मनसो विशिष्टावस्थे स्तः । यदा मनसि तयोरुर्मयः उत्पद्यन्ते, तदा पुरुषो विमनाः भवति । यदि ध्यानबलेन उत्पन्नमात्राः ताः ऊर्माः निरुणद्धि—क्षणमात्रमपि न सहते, तत्कालं मनो निर्विषयं निर्विकल्पं वा करोति, स अविमनाः भवति । स वीरः स्ववीर्येण विचयात्मकं धर्मध्यानमालम्बते, अत एव स विषयेषु न रज्यति । सर्वेभ्यः इष्टानिष्टेभ्यः शब्दादिविषयेभ्यो विरक्तो भवति ।

उत्पन्नमात्रस्य अरतेः रतिश्च तरंगस्य तत्कालं प्रेक्षणं निष्कासनं निरोधनं वा, तस्य क्षणमात्रमपि न सहनं, एतदस्ति जागरूकताहेतुकम् । भावक्रियाया अभ्यासेनैव तादृशी जागरूकता संभाव्यते । इदमेव अप्रमादसाधनायाः रहस्यम् ।<sup>२</sup>

### १६१. सद्दे य फासे अहियासमाणे ।

सं०—शब्दान् च स्पर्शान् अहियासमानः ।

अनासक्त साधक शब्द और स्पर्श को सहन करता है ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९३ : ण इति पडितेधे, सधर्णं मरिसणं, जति णाम कवायि तस्स परक्कमतो तवणियम-संजमेसु अरती भवेज्जा ततो तं खणमित्तमवि ण सहति, द्विप्पमेव उज्जाणेण मणतो निच्छुभति—णिष्विंसयं करेति, वीर इति—

विदारयति तत्कर्म, तपसा च विराजते ।

तपोवीर्येण युक्तश्च, वीरो वीरेण दर्शितः ॥

जहेव संजमे अरति ण सहति तहेव विसयकसायादि-लखणे असंजमे जति क्हुंचि तस्स रती उप्पज्जति तं पि खणमित्तमवि ण सहति—ण खमति, धम्मउज्जाणसहगतो उप्पणमित्तं णिष्कासति, 'जम्हा अविमणे' जम्हा सो इट्ठाणिट्ठेसु पत्तेसु विसएसु धितिवलअस्सितो अविमणो भवति, अहवा जम्हा सो संजमे अरति ण सहति असंजमे अ रति तेण मज्झत्थो णिच्चमेव अविमणो धीरो 'तम्हादेव विरज्जते' विसएसु ।

२. अरति को सहन न करना—यह संकल्प-शक्ति (Will-power) के विकास का सूत्र है । जिसके प्रति मनुष्य का आकर्षण नहीं होता, उसके प्रति प्रयत्नपूर्वक ध्यान करने से, मानसिक धारा को प्रवाहित करने से संकल्प-शक्ति विकसित

सकती है, पर वह साधक वीर है, इसलिए वह अरति तथा रति को सहन न करे । उनको तत्काल मन से निकाल दे । उनके निष्कासन की प्रक्रिया भी सूत्रकार बतलाते हैं—उन दोनों—अरति और रति का भी अविमनस्कता—मध्यस्थता के बल से रेचन किया जा सकता है । अरति और रति ये दोनों मन की विशिष्ट अवस्थाएँ हैं । जब मन में उनकी तरंगें उत्पन्न होती हैं तब मनुष्य विमना होता है । यदि व्यक्ति उत्पन्न होते ही उन ऊर्मियों का ध्यान-शक्ति से निरोध कर लेता है, क्षणमात्र के लिए भी उनको सहन नहीं करता अथवा तत्काल ही मन को निर्विषय या निर्विकल्प बना लेता है, वह अविमना होता है । वह वीर साधक अपनी शक्ति से विचयात्मक धर्म-ध्यान का आलंबन लेता है, इसीलिए वह विषयों में आसक्त नहीं होता । वह इष्ट-अनिष्ट सभी शब्दादि इन्द्रिय-विषयों से विरक्त हो जाता है ।

अरति और रति की तरंग के उत्पन्न होते ही तत्काल उसकी प्रेक्षा करना, उसका निष्कासन अथवा निरोध करना, उसे क्षणभर के लिए भी सहन न करना, यह जागरूकता का हेतु है । भावक्रिया के अभ्यास से ही वैसी जागरूकता सम्भव हो सकती है । यही अप्रमाद की साधना का रहस्य है ।

होती है । इन्द्रियों का आकर्षण विषयों के प्रति होता है । विषय-विरति के प्रति उनका आकर्षण नहीं होता । इसलिए कभी-कभी साधक के मन में विषय-विरति के प्रति अरति उत्पन्न हो जाती है । उस अरति को सहने वाले साधक का संकल्प शिथिल हो जाता है । जो साधक अरति को सहन नहीं करता, विषय-विरति के प्रति अपने मन की धारा को प्रवाहित करता है, वह अपनी संकल्प-शक्ति का विकास कर संयम को सिद्ध कर लेता है ।

भगवान् महावीर की साधना अप्रमाद (जागरूकता) और पराक्रम की साधना है । साधक को सतत अप्रमत्त और पराक्रमी रहना आवश्यक है । साधना-काल में यदि किसी क्षण प्रमाद आ जाता है—अरति, रति का माव उत्पन्न हो जाता है, तो साधक उसी क्षण ध्यान के द्वारा उसका विरेचन कर देता है । इससे वह संस्कार नहीं बनता, पन्थिपात नहीं होता ।

अरति-रति का रेचन न किया जाए, तो उससे विषय-नुबन्धी चित्त का निर्माण हो जाता है । फिर विषय की आसक्ति छूट नहीं सकती । अतः सूत्रकार ने इस विषय में साधक को बहुत सावधान रहने का निर्देश दिया है ।

भाष्यम् १६१—साधनाकाले अनेकविधाः शब्दाः श्रवणगोचरतामापन्ना भवन्ति । कश्चित् कथयेत्—असौ गृहाश्रमभारं वोढुमसमर्थस्तेन श्रमणो जातः । कश्चिद् वदेत्—क्लीवोऽसौ तेन श्रमणो जातः ।

श्मशानप्रतिमायां व्यन्तरदेवकृता अट्टहासयुताः भयंकराः शब्दा अपि श्रुतिगोचरतामापद्यन्ते ।

एवमेव स्पर्शा अपि सम्मुखीना भवन्ति । सामान्यतः मनुष्यतिर्यङ्कृताः, श्मशानप्रतिमादौ देवकृता अपि ।

साधनाशीलः पुरुषः तान् शब्दान् स्पर्शश्च अध्यासमानो विहरेत् ।

अत्र स्पर्शाः कष्टानि । अध्यासमानः—सहमानः ।

तात्पर्यमिदम्—इष्टानिष्टेषु शब्देषु स्पर्शेषु च रागद्वेषौ न कुर्यात् । मनसो निर्विकल्पता एव राग-द्वेषयोरकरणोपायः । एतद् अपायविचयस्य उपाय-विचयस्य च निदर्शनमस्ति ।

१६२. निर्विन्द नन्दि इह जीवितस्य ।

सं०—निर्विन्दस्व नन्दि इह जीवितस्य ।

पुरुष ! तू जीवन में होने वाले प्रमोद से अपना आकर्षण हटा ले ।

भाष्यम् १६२—इह शब्देषु स्पर्शेषु च जीवनस्य प्राणस्य प्राणविद्युतो वा या नन्दिः<sup>१</sup>—मनसस्तुष्टिः भवति, ततस्त्वं निर्विन्दस्व—अनासक्तिमवलम्बस्व इति तात्पर्यम् । अनेनोपायेन तेषु जायमानौ रागद्वेषौ सहजमेव सहितौ भविष्यतः ।

१६३. मुनी मोनं समादाय, धुणे कम्म-सरीरं ।

सं०—मुनिः मोनं समादाय धुनीयात् कर्मशरीरकम् ।

मुनि मोन को प्राप्त कर कर्म-शरीर को प्रकल्पित करे ।

भाष्यम् १६३—मुनिः मोनं समादाय कर्मशरीरं धुनीयात् । मुनिः<sup>२</sup>—ज्ञानी । मोनं—ज्ञानं संयमो वा । ४।३२ सूत्रे 'धुणे सरीरं' इति पाठोऽस्ति । तत्र चूर्णकारेण मुख्यरूपेण कर्मशरीरं धुनीयाद् इति व्याख्यातम् ।<sup>३</sup> वैकल्पिकरूपेण औदारिकशरीरं धुनीयाद् इत्यपि व्याख्यातम् ।<sup>४</sup>

साधनाकाल में अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं । कोई कहता है—यह व्यक्ति गृहस्थाश्रम के भार को बहन करने में असमर्थ था इसलिए यह श्रमण बन गया । कोई कहता है—यह तो क्लीव था, नपुंसक था, इसलिए श्रमण बन गया ।

जो श्मशान प्रतिमा की साधना करता है उसे व्यन्तर देवों द्वारा कृत अट्टहासयुक्त भयंकर शब्द सुनाई देते हैं ।

इसी प्रकार स्पर्श—कष्ट भी सामने आते हैं । सामान्यतः ये कष्ट मनुष्यकृत और पशुकृत होते हैं । जो श्मशान प्रतिमा आदि की साधना करता है उसे देवकृत उपसर्ग भी भेलने पड़ते हैं ।

साधनाशील पुरुष उन शब्दों और स्पर्शों को सहता हुआ विहरण करे ।

स्पर्श का अर्थ है—कष्ट । अध्यासमान का अर्थ है—सहन करता हुआ ।

इसका तात्पर्य यह है—साधक इष्ट-अनिष्ट शब्दों तथा स्पर्शों में राग-द्वेष न करे । राग-द्वेष न करने का एकमात्र उपाय है मन की निर्विकल्पता । यह अपायविचय तथा उपायविचय का निदर्शन है ।

इन शब्दों और स्पर्शों (के आसेवन) में जीवन, प्राण या प्राण-विद्युत् की जो नदी—मन की तुष्टि होती है, उससे तुम निर्विण्ण बनो, अनासक्त रहो, यह तात्पर्य है । इस उपाय से शब्दों और स्पर्शों में होने वाले राग-द्वेष सहजरूप से ही सह लिए जाएंगे ।

मुनि मोन को स्वीकार कर कर्मशरीर को धुन डाले । मुनि का अर्थ है—ज्ञानी और मोन का अर्थ है—ज्ञान अथवा संयम । ४।३२ सूत्र में 'धुणे सरीरं'—ऐसा पाठ है । वहां चूर्णकार ने मुख्य रूप से कर्म-शरीर को प्रकल्पित करे—ऐसी व्याख्या की है । वैकल्पिक रूप से औदारिक शरीर को प्रकल्पित करे—यह भी व्याख्या की है ।

१. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ९३ : नंदी प्रमोदे रमणे समिद्धीए थ इस्सरियविभवकया मणसो तुद्धी ।

२. वही, पृष्ठ ९३ : समजेत्ति वा माहजेत्ति वा मुणित्ति वा एणद्धा ।

३. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ १४६ : 'धुणे सरीरं' दब्बेणं वण्णात्ति, भावे कम्मावकरिसणं, सीर्यंत इति शरीरं, क्तरं ? कर्म-शरीरं ।

४. वही, पृष्ठ १४६ : अहवा ओरालियसरीरघुणणा.....;

सूत्रकृतांगे 'धुणे उराल' इति पाठो लभ्यते । तस्मिन् औदारिकशरीरस्य स्पष्टं निर्देशोऽस्ति । चूर्णिकारेणात्र औदारिककर्मशरीरयोः सम्बन्धोऽपि प्रदर्शितः ।<sup>१</sup>

यत्र तपसः प्रकरणमस्ति तत्र औदारिकशरीरस्य धुननं मुख्यं कर्मशरीरस्य धुननं च आनुषङ्गिकरूपेण विवृतं भवति । यत्र च ध्यानस्य प्रकरणमस्ति तत्र कर्मशरीरस्य प्रयोगः साक्षात् वर्तते । औदारिकशरीर-मत्रानुषङ्गिकं भवति ।<sup>२</sup>

प्रस्तुतालापके कर्मशरीरधुननस्य द्वावपि उपायौ निर्दिष्टौ स्तः—पूर्ववर्तित्रिषु सूत्रेषु (१६०-१६२) ध्यानात्मक उपायो दृश्यते, अग्रिमसूत्रे (१६४) खाद्य-संयमरूप उपायो निर्दिश्यमानोऽस्ति । इति अवधारणीय-मस्ति—अप्रकम्पिते औदारिके शरीरे कर्मशरीरं प्रकम्पितं न स्यात् । तेनात्र औदारिकशरीरस्य तस्मिन् प्रवर्तमानस्य चित्तस्य च प्रकम्पनं स्वतः प्राप्तमस्ति ।<sup>३</sup>

### १६४. पंतं लूहं सेवन्ति वीरा समत्वदंशिणो ।

सं०—प्रान्तं रूक्षं सेवन्ते वीराः समत्वदंशिनः ।

समत्वदर्शी वीर प्रांत—नीरस, वासी और रूक्ष आहार आदि का सेवन करते हैं ।

भाष्यम् १६४—कर्मशरीरधुननस्य एक उपायोऽस्ति आहारसंयमः । यः कोऽपि पुरुषः नाहारसंयमं कर्तुं प्रत्यलो भवति । वीरा एव मनोबलस्य वीर्यस्य वा प्राचुर्यात् तं कर्तुमर्हन्ति । मनोज्ञाऽमनोज्ञयोः यो न समदृष्टिः सोऽपि न क्षमते तं कर्तुम् । ये समत्वदर्शिनः त एव तं कर्तुं प्रभवन्ति । ये वीराः समत्वदर्शिनः प्रान्तं—पर्युषितं रूक्षं आहारं सेवन्ते । सम्यक्त्वदर्शिनः इति चूर्णौ व्याख्यातमस्ति ।<sup>४</sup> येषां दृष्टिकोणः सम्यग् नास्ति तेषामपि न संभवति आहारसंयमः ।

सूत्रकृतांग में 'धुणे उराल' ऐसा पाठ मिलता है । उसमें औदारिक शरीर का स्पष्ट निर्देश है । यहां चूर्णिकार ने औदारिक शरीर और कर्मशरीर—दोनों का संबंध भी बताया है ।

जहां तपस्या का प्रकरण है वहां औदारिक शरीर को धुनना मुख्य होता है और प्रासंगिक रूप में कर्मशरीर के धुनने की बात भी प्राप्त होती है । जहां ध्यान का प्रकरण है वहां कर्मशरीर को धुनने की बात मुख्य होती है और औदारिक शरीर को धुनने की बात गौण होती है ।

प्रस्तुत आलापक में कर्मशरीर के धुनने के दो उपाय निर्दिष्ट हैं—पूर्ववर्ती तीन सूत्रों (१६०-१६२) में ध्यानात्मक उपाय निर्दिष्ट हैं, अग्रिम सूत्र (१६४) में खाद्य-संयमरूप उपाय बताया जा रहा है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि औदारिक शरीर को प्रकंपित किए बिना कर्मशरीर प्रकंपित नहीं होता । इसलिए औदारिक शरीर तथा उसमें प्रवृत्त चित्त का प्रकंपन यहां स्वतः प्राप्त हो जाता है ।

कर्मशरीर को धुनने का एक उपाय है—आहार का संयम । हर कोई व्यक्ति आहार-संयम करने में समर्थ नहीं होता । वीर व्यक्ति ही अपने मनोबल तथा शक्ति की प्रचुरता से आहार का संयम कर सकते हैं । मनोज्ञ और अमनोज्ञ आहार के प्रति जो समदृष्टि नहीं होता, वह आहार-संयम नहीं कर सकता । जो समत्वदर्शी होते हैं, वे ही आहार-संयम कर सकते हैं । जो वीर समत्वदर्शी हैं वे प्रांत—पर्युषित तथा रूक्ष आहार का सेवन करते हैं । चूर्ण में समत्वदर्शी के स्थान पर सम्यक्त्वदर्शी शब्द व्याख्यात है । जिनका दृष्टिकोण सम्यग् नहीं है, वे भी आहार-संयम नहीं कर सकते ।

१. अंगसुत्ताणि १, सूयगडो १, १०।११ ।

२. सूत्रकृतांग चूर्ण, पृष्ठ १८८ : उरालं नाम औदारिकशरीरं, तत् तपसा धुनीहि, धुननं कृशीकरणमित्यर्थः । तस्मिंश्च धयमाने कर्मापि धुयते ।

३. योगरसायन, २५४ :

नादारंभे भवेत् सर्वगात्राणां भञ्जनं ततः ।

शिरसः कम्पनं परचात् सर्वदेहस्य कम्पनम् ॥

४. एषा पद्धतिः वैज्ञानिकपरिभाषायां 'बायोफीडबैकपद्धतिः' इति वक्तं शक्यम् ।

५. महाभारत, शान्तिपर्व, मोक्षधर्मपर्व, अध्याय ३००, श्लोक ४२-४६ :

युधिष्ठिर उवाच—

आहारान् कीदृशान् कृत्वा, कानि जित्वा च भारत !

योगी बलमवाप्नोति, तद् भवान् अबतुमर्हति ॥

भीष्म उवाच—

कणानां भक्षणे युक्तः पिप्याकस्य च भारत !

स्नेहानां वज्रने युक्तो योगी बलमवाप्नुयात् ॥

भुञ्जानो यावकं रूक्षं, दीर्घकालमरिबम !

एकाहारो विशुद्धात्मा, योगी बलमवाप्नुयात् ॥

पक्षान् मासानृतूश्चेतान्, संवत्सरानहस्तथा ।

अयः पीत्वा पयोमिश्रा, योगी बलमवाप्नुयात् ॥

अखण्डमपि वा मासं सततं मनुजेश्वर !

उपोष्य सम्यक् शुद्धात्मा, योगी बलमवाप्नुयात् ॥

६. (क) आचारसंग चूर्ण, पृष्ठ ९४ : सम्मत्सं परसंति सम्मदंशिणो ।

(ख) वृत्तिकार (वृत्ति पत्र १३०) ने 'संमत्संशिणो' इस पद का मूल अर्थ समत्वदर्शी और वैकल्पिक अर्थ

१६५. एष ओघन्तरे मुणो, तिष्णे मुत्ते विरते, वियाहिते त्ति वेमि ।

सं०—एष ओघन्तरः मुनिः तीर्णः मुक्तः विरतः व्याहृतः इति ब्रवीमि ।

यह जन्म-मृत्यु के प्रवाह को तरने वाला मुनि तीर्थ, मुक्त और विरत कहलाता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १६५—एष प्रस्तुतालापकवर्णितो<sup>१</sup> मुनिः ओघन्तरः तीर्णः मुक्तः विरतः व्याहृतः भवति—इति ब्रवीमि ।

१६०-१६४ सूत्रों में वर्णित अनगर ओघन्तर, तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

कर्मजनितसंस्कारस्य संसारस्य वा ओघं—प्रवाहं तरति—तस्य पारं प्राप्नोतीति ओघन्तरः ।

कर्म-जनित संस्कारों या संसार के ओघ—प्रवाह को तरने वाला अर्थात् पार पाने वाला ओघन्तर कहलाता है ।

१६६. दुर्वसु मुणी अणाणाए ।

सं०—दुर्वसुः मुनिः अनाज्ञापाम् ।

आज्ञा का पालन नहीं करने वाला मुनि दरिद्र होता है ।

भाष्यम् १६६—स मुनिः दुर्वसुः भवति यस्तीर्थकरस्य अनाज्ञायां वर्तते । अरतिरत्योः असहनं, शब्दस्पर्श-योरघिसहनं, पुद्गलविषये मनस्तुष्टेः निवारणं, कर्म-शरीरस्य धुननं, प्रान्तरूक्षाहारस्य सेवनं कार्यमिति तीर्थकरस्य आज्ञा । आज्ञा एव मुनेर्वसु—विभवः । य आज्ञां अतिक्रम्य वर्तते स दुर्वसुः—संयमसाधनायां दरिद्रो जायते । अनाज्ञायां वर्तनस्य आन्तरिको हेतुरस्ति अतीतकालभावितकर्मोदयः, बाह्यं कारणमस्ति परिस्थितिः ।

तीर्थकर की आज्ञा का पालन नहीं करने वाला मुनि संयम-धन से दरिद्र होता है । तीर्थकर की आज्ञा है कि मुनि असंयम में रति और संयम में अरति को सहन न करे, शब्द और स्पर्श को सहन करे, पौद्गलिक पदार्थों में होने वाली मानसिक तुष्टि का निवारण करे, कर्मशरीर को धुन डाले, प्रान्त और रूक्ष आहार का सेवन करे । तीर्थकर की आज्ञा ही मुनि का वसु—वैभव है । जो आज्ञा का अतिक्रमण करता है वह दुर्वसु अर्थात् संयम की साधना में दरिद्र होता है । अनाज्ञा में प्रवृत्त होने का आन्तरिक कारण है—अतीतकालीन कर्मों का उदय और बाह्य कारण है—परिस्थिति ।

१६७. तुच्छए गिलाइ वत्तए ।

सं०—तुच्छकः ग्लायति वक्तुम् ।

साधना-शून्य पुरुष साधना-पथ का निरूपण करने में ग्लानि का अनुभव करता है ।

भाष्यम् १६७—विभवहीनः द्रव्यतः तुच्छो भवति । अनाज्ञायां वर्तमानः भावतः तुच्छो भवति । तेन स यथार्थं वक्तुं ग्लायति । चरित्रहीनो न सत्यं वक्तीति ध्रुवं सत्यम् । स पूजासत्कारादिनिमित्तं शुद्धं मार्गं प्ररूपयितुं ग्लायति । यदि स मूलगुणतुच्छः तदा मूलगुणान् प्ररूपयितुं ग्लायति । यदि उत्तरगुणतुच्छः तदा उत्तर-गुणविषये अन्यथा प्ररूपणां करोति । एष तुच्छभावः

जो वैभवहीन है वह द्रव्यतः तुच्छ होता है और जो अनाज्ञा में प्रवृत्त है वह भावतः तुच्छ होता है । इसलिए वह यथार्थ—सत्य कहने में ग्लानि का अनुभव करता है । 'चरित्रहीन व्यक्ति यथार्थ नहीं बोलता'—यह ध्रुव सत्य है । वह पूजा और सत्कार आदि की आकांक्षा के वशी-भूत होकर शुद्ध मार्ग की प्ररूपणा करने में ग्लानि का अनुभव करता है । यदि वह मूलगुणों—महाव्रत आदि की आराधना में कमजोर है तो वह मूलगुणों की प्ररूपणा करने में ग्लानि का अनुभव करता है और

सम्यक्त्वदर्शी किया है । इससे प्रतीत होता है कि उनके सामने मूल पाठ 'समत्तवसिणो' रहा है । यहां समत्व-दर्शी अधिक संगत सगता है, क्योंकि समत्वदर्शी ही नीरस आहार का समभाव से सेवन कर सकता है ।

इशवैकालिक (५।१।९७) के विम्बलिखित पद्य से इसकी पुष्टि होती है—

'तित्तगं व कडुयं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा ।  
एय लद्धमन्नद्वपउत्तं. महुघयं व भुंजेज्ज संजए ॥'

—गृहस्थ के लिए बना हुआ तीता (तित्त) या कडुवा, कसैला या खट्टा, मीठा या नमकीन जो भी आहार उपलब्ध हो उसे संयमी मुनि मधुघृत की भांति खाए ।

१. आलापकसूत्राणि—आयारी २।१६०-१६४ ।

चरित्रहीनभावो वा असत्यप्रतिपादनस्य मुख्यं कारण-  
मस्ति । अत एव मिथ्यातर्कानां प्रपञ्चो विरञ्चितो  
भवति ।

यदि वह उत्तरगुणों की साधना में कमजोर है तो उत्तरगुणों के विषय  
में विपरीत प्ररूपणा करता है । यह तुच्छभाव अथवा चारित्रिक  
हीनता का भाव असत्य के प्रतिपादन का मुख्य कारण है । इसीलिए  
भूठे तर्कों का जाल बिछाया जाता है ।

१६८. एस वीरे पसंसिए ।

सं०—एष वीरः प्रशंसितः ।

यह आज्ञा का पालन करने वाला वीर पुरुष प्रशंसित होता है ।

भाष्यम् १६८—एष वीरः आज्ञायां वर्तमानः वसुमान्  
चरित्रसम्पन्नत्वाद् अतुच्छः पुरुषः पृष्ठो वा अपृष्ठो वा  
शुद्धं अपरिग्रहमार्गं वक्तुं न ग्लायति । चरित्रवान्  
नासत्यं वक्तीति ध्रुवं सत्यम् । अत एव स यथार्थप्रति-  
पादने लब्धपराक्रमत्वात् वीरः सन् प्रशंसितः—जनानां  
हृदये प्रतिष्ठितो भवति ।

यह वीर और तीर्थंकर की आज्ञा में वर्तमान पुरुष चरित्र-  
सम्पन्न होने के कारण वैभवशाली और पुरुषार्थी होता है । वह पूछने  
पर या बिना पूछे ही विशुद्ध अपरिग्रह का मार्ग निदिष्ट करने में ग्लानि  
का अनुभव नहीं करता । चरित्रवान् व्यक्ति असत्य नहीं बोलता—यह  
सनातन सत्य है । इसलिए वह यथार्थ का प्रतिपादन करने के लिए  
पराक्रमशाली होने के कारण वीर होता है । उसकी प्रशंसा होती है  
और वह लोगों के हृदय में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

१६९. अच्छेइ लोयसंजोयं ।

सं०—अत्येति लोकसंयोगम् ।

सुवसु मुनि लोक-संयोग का अतिक्रमण कर देता है ।

भाष्यम् १६९—एतादृशो वीरपुरुष एव लोकसंयोगं  
अत्येति ।

ऐसा वीर पुरुष ही लोक-संयोग का अतिक्रमण करता है ।

लोकः—स्वर्णादिपदार्थः मातृपित्रादिपरिवारः ममत्वं  
वा । एभिः नानाविधाः सम्बन्धाः सन्ति सम्पादिताः ।  
ते येन केनचित् न सन्ति सुपरिहार्याः । वीरपुरुष एव  
तान् अतिक्रमितुमर्हति ।

लोक का अर्थ है—स्वर्ण आदि पदार्थ, माता-पिता आदि  
परिवार अथवा ममकार । इनके साथ अनेक प्रकार के सम्बन्ध स्थापित  
किए जाते हैं । वे सम्बन्ध जिस-किसी व्यक्ति के द्वारा सहजरूप से छोड़े  
नहीं जा सकते । वीर पुरुष ही उनका अतिक्रमण कर सकता है ।

१७०. एस णाए पवुच्चइ ।

सं०—एष नायः प्रोच्यते ।

सुवसु मुनि नायक कहलाता है ।

भाष्यम् १७०—यो लोकसंयोगमतिक्रामति स एष  
नायकः प्रोच्यते । यो धने परिवारे च लिप्तो भवति  
स न नायको भवितुमर्हति । नायकस्य प्रधानो गुणोऽस्ति  
त्यागः ।

जो लोक-संयोग का अतिक्रमण करता है वह सुवसु मुनि  
नायक कहलाता है । जो धन और परिवार में लिप्त होता है वह  
नायक नहीं हो सकता । नायक का मुख्य गुण है—त्याग ।

नाय एव नायकः ।

जो स्वयं को और दूसरों को मोक्ष की ओर ले जाता है, वह  
नाय—नायक है ।

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९५ : एस इति जो भणितो  
अप्पाणं परं च मोक्खं, णाति णाया, जं भणितं उभयत्रातो ।  
(ख) आण्डे—नायः—A leader, guide.

(ग) वृत्तिकारेण अस्य द्वावर्थो कृतो स्तः—

१. एष न्यायः—एष सन्मार्गः मुमुक्षूणामयमाचारः ।  
२. परं आत्मानं च मोक्षं नयतीति छान्दसत्वात् कर्त्तरि  
अप्पायः (आचारांगं वृत्ति, पत्र १३१) ।

१७१. अं दुःखं प्रवेदितं इह माणवाणं, तस्स दुःखस्स कुसला परिणामुदाहरन्ति ।

सं०—यद् दुःखं प्रवेदितं इह मानवानां, तस्य दुःखस्य कुशलाः परिज्ञां उदाहरन्ति ।

इस जगत् में मनुष्यों के द्वारा दुःख प्रवेदित है । कुशल पुरुष उस दुःख की परिज्ञा बतलाते हैं ।

भाष्यम् १७१—मानवानां इह—संसारे दुःखं प्रवेदितम्—अनुभूतमस्ति, तस्य दुःखस्य कुशलाः परिज्ञामुदाहरन्ति ।

अत्र कुशलपदेन गणधरादीनां संकेतः कृतोऽस्ति । ते ज्ञातारः धर्मकथालब्धिसम्पन्ना यथावादिनस्तथाकारिणः जितनिद्राः जितेन्द्रियाः जितपरीषहाः देशकालज्ञाः भवन्ति ।

परिज्ञा—विवेकः दुःखमुक्तेरुपायो वा ।

सा चतुष्पादा भवति—अस्ति बन्धः, अस्ति बन्धहेतुः, अस्ति मोक्षः, अस्ति मोक्षहेतुः ।

१७२. इति कम्म परिणाय सर्वशो ।

सं०—इति कर्म परिणाय सर्वशः ।

पुरुष कर्म की सर्व प्रकार से परिज्ञा करे ।

भाष्यम् १७२—दुःखस्य हेतुरस्ति कर्म । तेन तत् सर्वशः परिणाय तस्य परिज्ञा करणीया, यथा—कथं तस्य बन्धो भवति ? को बध्नाति ? कदा तस्य विपाको भवति कदा च न भवति ? कियत् तत्, चिरकालस्थितिकं भवति अल्पकालस्थितिकं वा ? इति कर्मणो विषये सर्वशः—सर्वप्रकारैः ज्ञात्वा तस्य परिज्ञा कर्तुं शक्या ।

१७३. जे अणण्णदंसी, से अणण्णारामे । जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी ।

सं०—यः अनन्यदर्शी स अनन्यारामः । यः अनन्यारामः स अनन्यदर्शी ।

जो अनन्य को देखता है, वह अनन्य में रमण करता है । जो अनन्य में रमण करता है, वह अनन्य को देखता है ।

भाष्यम् १७३—प्रस्तुतसूत्रे कर्मपरिज्ञायाः उपायः संदर्शितः । यः केवलं निष्कर्माणमेव पश्यति न ततोऽन्यत् किञ्चित् पश्यति, स अनन्यदर्शी भवति । यः कर्म पश्यति स कर्मणा बद्धो भवति, यश्च निष्कर्माणं—

संसार में मनुष्यों के द्वारा दुःख प्रवेदित—अनुभूत है । कुशल व्यक्ति उस दुःख की परिज्ञा (विवेक) बतलाते हैं ।

यहां 'कुशल' पद से गणधर आदि का ग्रहण किया गया है । वे जाता, धर्मकथा करने की लब्धि से सम्पन्न, कथनी और करनी की समानता से युक्त, निद्राविजयी, जितेन्द्रिय, परिषहों पर विजय प्राप्त करने वाले तथा देश और काल को जानने वाले होते हैं ।

परिज्ञा के दो अर्थ हैं—विवेक अथवा दुःख-मुक्ति का उपाय । परिज्ञा के चार चरण हैं—

१. कर्म-बंध है ।

३. मोक्ष है ।

२. कर्म-बंध का हेतु है ।

४. मोक्ष का हेतु है ।

दुःख का हेतु है कर्म । इसलिए कर्म का सर्वाङ्गीण ज्ञान कर उसकी परिज्ञा करनी चाहिए । जैसे—कर्म का बन्ध कैसे होता है ? कर्म कौन बांधता है ? उसका विपाक कब होता है और कब नहीं होता ? कर्म की स्थिति कितनी होती है—वह दीर्घकाल की स्थिति वाला होता है या अल्पकाल की स्थिति वाला ? इस प्रकार कर्म के विषय को सभी पहलुओं से जानने के पश्चात् उसकी परिज्ञा की जा सकती है ।

प्रस्तुत सूत्र में कर्म-परिज्ञा का उपाय निर्दिष्ट है । जो केवल निष्कर्मा को देखता है, उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं देखता, वह अनन्यदर्शी होता है । जो कर्म को देखता है अर्थात् कर्म के हेतुओं में रमण करता है, वह कर्म से बंधता है । जो निष्कर्मा—निर्मल चैतन्य

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९५ : परिणामा दुविहा... उवदितंति, तंजहा बंधो बंधहेतु मुक्को मोक्खो मोक्खहेतुश्च ।

(ख) लौकिक भाषा में अप्रिय वेदना को दुःख कहा जाता है । धर्म की भाषा में दुःख का हेतु भी दुःख कह-

लाता है । दुःख का हेतु कर्म-बंध है । भगवान् ने जनता को यह विवेक दिया—बंध है और बंध का हेतु है । मोक्ष है और मोक्ष का हेतु है ।

(ग) इसकी तुलना बौद्ध दर्शन सम्मत चार आर्यसत्यों से होती है ।



निर्मलचैतन्यं पश्यति स कर्मभ्यो मुक्तो भवति ।  
यश्चैतन्यं पश्यति स तत्रैव रमते, न अन्येषु कर्मबन्धहेतुषु  
विषयकषायादिषु इति अनन्यदर्शी अनन्यारामो भवति ।

गतप्रत्यागतलक्षणेन इत्थमपि वक्तुं शक्यम्—यः  
अनन्ये रमते, स एव अनन्यं पश्यति ।<sup>१</sup>

‘अण्णदंसी’ इति पदस्य आशयः ‘णिककम्मदंसी’  
इति पदेन स्पष्टं भवति—

‘पलिच्छिविया णं णिककम्मदंसी ।’

‘पलिच्छिविय बाहिरां च सोयं, णिककम्मदंसी इह  
मच्चिर्एह ।’

१७४. जहा पुण्णस्स कत्थइ, तथा तुच्छस्स कत्थइ । जहा तुच्छस्स कत्थइ, तथा पुण्णस्स कत्थइ ।

सं०—यथा पुण्यस्य कथयति तथा तुच्छस्य कथयति । यथा तुच्छस्य कथयति तथा पुण्यस्य कथयति ।

धर्मकथी जैसे सम्पन्न को उपदेश देता है, वैसे ही विपन्न को देता है । जैसे विपन्न को उपदेश देता है, वैसे ही सम्पन्न को देता है ।

भाष्यम् १७४—आत्मदर्शनमन्तरेण व्यवहारेऽपि  
समत्वं नावतरति । यः आत्मदर्शी भवति स नान्यार्थं  
प्रयतते, केवलं आत्मार्थमेव प्रयतते । अत एव स

आत्मदर्शन के बिना व्यवहार में भी समता का अवतरण नहीं  
होता । जो आत्मदर्शी होता है, वह अन्य प्रयोजनों के लिए प्रयत्न नहीं  
करता, केवल आत्म-प्रयोजन के लिए ही प्रयत्न करता है । इसीलिए

१. चूर्णो वृत्तो च एतत् सूत्रं व्यावहारिक-सम्पन्नदर्शन-  
दृष्ट्या व्याख्यातमस्ति ।

(क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ९६ : अण्ण इति परिवर्जणे  
तिष्णि तिसट्ठा पावातिथसया अण्णदिट्ठी, अण्णदरिसी  
वताइं तत्त्वबुद्धीए पेक्खति, इमं एकं जइणं तत्-  
बुद्धीए पासति, जो अण्णदिट्ठी सो नियमा ‘अण्णणा-  
रामो’ ण अण्णत्थारमतीति अण्णणारामो, गति-  
पच्चागतिलक्खणेण अण्णति—जे ‘अण्णणारामो’ से  
नियमा अण्णदिट्ठी, जं भणितं सम्मदिट्ठी, ण य अण्ण-  
दिट्ठीए रमति, तथा विसयकसायादिलक्खणे अचरित्ते  
अतवे ण य रमति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १३१ ।

(ग) भगवान् महावीर की साधना का मौलिक आधार  
है—अप्रमाद—निरन्तर जागरूक रहना । अप्रमाद  
का पहला सूत्र है—आत्म-दर्शन । भगवान् ने  
कहा—आत्मा से आत्मा को देखो—‘संपिक्खए  
अप्पगमप्पएणं ।’

अनन्य-दर्शन का अर्थ है—आत्म-दर्शन । जो आत्मा  
को देखता है, वह आत्मा में रमण करता है । जो  
आत्मा में रमण करता है, वह आत्मा को देखता है ।

को देखता है, वह कर्मों से मुक्त होता है । जो चैतन्य को देखता है, वह  
उसी में रमण करता है । वह कर्मबंध के अन्यान्य हेतुभूत विषय-कषाय  
आदि में रमण नहीं करता, इसलिए वह अनन्यदर्शी होता है, अनन्याराम  
होता है ।

गत-प्रत्यागत शैली में रचित इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार  
भी की जा सकती है—जो अनन्य (आत्मा) में रमण करता है वही  
अनन्य (आत्मा) को देखता है ।

‘अनन्यदर्शी’ पद का आशय ‘निष्कामदर्शी’ पद से स्पष्ट होता  
है—

संयम और तप के द्वारा राग-द्वेष को छिन्न कर पुरुष आत्मदर्शी  
हो जाता है ।

इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को रोककर इस मरणधर्मा जगत्  
में तुम निष्कर्मदर्शी बनो ।

दर्शन के बाद रमण और रमण के बाद फिर स्पष्ट  
दर्शन—यह क्रम चलता रहता है । वासना और  
कषाय (क्रोध, अभिमान, माया, लोभ) ये आत्मा से  
अन्य हैं । आत्मा को देखने वाला अन्य में रमण नहीं  
करता ।

आत्मा को जानना ही सम्यग्ज्ञान है । आत्मा को  
देखना ही सम्यग्दर्शन है । आत्मा में रमण करना  
ही सम्यग्चारित्र्य है । यही मुक्ति का मार्ग है ।

अप्रमाद का दूसरा सूत्र है—वर्तमान में जीना—  
क्रियमाण क्रिया से अभिन्न होकर जीना । वर्तमान  
क्रिया में तन्मय होने वाला अन्य क्रिया को नहीं  
देखता । जो अतीत की स्मृति और भविष्य की  
कल्पना में खोया रहता है, वह वर्तमान में नहीं रह  
सकता ।

जो व्यक्ति एक क्रिया करता है और उसका  
मन दूसरी क्रिया में दौड़ता है, तब वह वर्तमान के  
प्रति जागरूक नहीं रह पाता ।

२. आचारो, ३।३५ ।

३. वही, ४।५० ।

अपरिग्रहस्य तत्त्वं यथा पुण्यस्य कथयति तथा तुच्छस्य कथयति । गतप्रत्यागतलक्षणेन यथा तुच्छस्य कथयति, तथा पुण्यस्य कथयति । केवलं निर्जरार्थमेव धर्मः आख्यातव्यः । अनन्यदर्शी तदर्थमेव कथयति, अतः तत्समक्षे पुण्यस्य—ऋद्धिमतः, तुच्छस्य—दरिद्रस्य भेदो नार्थवान् भवति ।

अपरिग्रहस्य सिद्धान्तः धनिनां कृते यावान् हितावहः तावानेव विभवविहीनानां कृतेऽपि, किञ्च धनं उभयत्र नास्ति—एकस्य पार्श्वे विद्यते, इतरस्य पार्श्वे नास्ति, किन्तु मूर्च्छा उभयत्रापि विद्यते । तेन तद्विमुक्तये अपरिग्रहधर्मस्य उपदेशः द्वयोरपि समक्षे एकेनैव प्रकारेण करणीयः—येन आदरेण पुण्यस्य अपरिग्रहो वक्तव्यः तेनैव आदरेण तुच्छस्य वक्तव्यः । नात्र धनिनः अतिरेकः कार्यः । येनादरेण तुच्छस्य वक्तव्यः, तेनैवादरेण पुण्यस्य वक्तव्यः । नैव पुण्यं प्रति घृणाभावः प्रदर्शनीयः ।

वह अपरिग्रह के तत्त्व का निरूपण जैसे सम्पन्न व्यक्ति के समक्ष करता है, वैसे ही विपन्न व्यक्ति के समक्ष करता है और जैसे विपन्न व्यक्ति के समक्ष करता है, वैसे ही सम्पन्न व्यक्ति के समक्ष करता है । केवल निर्जरा के लिए ही धर्म का आख्यान करना चाहिए । अनन्यदर्शी केवल निर्जरा के लिए ही धर्मकथा करता है, इसलिए उसके समक्ष वैभवशाली और दरिद्र का भेद अर्थवान् नहीं होता ।

अपरिग्रह का सिद्धान्त वैभवशाली व्यक्तियों के लिए जितना हितकारी है उतना ही हितकारी है वैभवहीन व्यक्तियों के लिए । यह सच है कि दोनों के पास धन नहीं है—एक के पास है और दूसरे के पास नहीं है, किन्तु मूर्च्छा या ममत्व दोनों में है । इसलिए उस मूर्च्छा की विमुक्ति के लिए अपरिग्रह धर्म का उपदेश दोनों प्रकार के व्यक्तियों के समक्ष समान प्रकार से करना चाहिए—जिस आदरभाव से वैभवशाली को अपरिग्रह का सिद्धान्त बताया जाता है, उसी आदरभाव से वैभवहीन व्यक्ति को वह सिद्धान्त बताना चाहिए । सिद्धान्त के प्रतिपादन में धनी व्यक्ति को अतिरिक्त महत्त्व नहीं देना चाहिए । जिस आदरभाव से वैभवहीन व्यक्ति को अपरिग्रह का सिद्धान्त बताया जाता है, उसी आदरभाव से वैभवशाली व्यक्ति को अपरिग्रह का सिद्धान्त बताना चाहिए । वैभवशाली व्यक्ति के प्रति घृणा का भाव नहीं दिखाना चाहिए ।

### १७५. अवि य हणे अणादियमाणे ।

सं०—अपि च हन्यात् अनाद्रियमाणः ।

धर्म-कथा में किसी के सिद्धांत का अनादर करने पर कोई व्यक्ति मार-पीट भी कर सकता है ।

भाष्यम् १७५—अपिः सम्भावनायाम् । यदि धर्मतत्त्वस्य प्रतिपादने कोऽपि कस्यचिद् अनादरं कुर्यात् तदेति सम्भवति, स अनाद्रियमाणः पुरुषः तं धर्मोपदेष्टारं हन्यात् । अस्य घातुपदस्य तात्पर्यमिदम्—शारीरिकं त्रासं दद्यात्, आक्रोशेत् अथवा तदुपदिष्टं धर्मं न स्वीकुर्यात् । 'एते पुण्याश्चौरा भवन्ति' धर्मकथाप्रसंगे इत्यादि-प्रतिपादनं न धर्मतत्त्वस्य स्वीकृतये भवति । 'एते तुच्छा अधर्मेण ईदृशा जाताः—कष्टासनाः कुगृहाः कुभोजनाश्च' इत्यादिप्रतिपादने ते न धर्मं गृह्णन्ति, न च तत्र पुनरायान्ति आक्रोशादिकमपि कुर्युः ।

प्रस्तुत सूत्र में 'अपि' शब्द सम्भावना के अर्थ में है । यदि धर्म-तत्त्व के प्रतिपादन में कोई किसी का अनादर करता है तो सम्भव है वह अनादर व्यक्ति उस धर्मोपदेष्टा की हत्या कर दे । यहाँ 'हन्यात्' घातुपद का तात्पर्य है—शारीरिक त्रास देना, आक्रोश करना अथवा धर्मोपदेष्टा द्वारा उपदिष्ट धर्म को स्वीकार न करना । धर्मकथा के प्रसंग में ऐसा प्रतिपादन करना कि ये वैभवशाली व्यक्ति चोर होते हैं—ऐसा कथन धर्मतत्त्व की स्वीकृति में सहायक नहीं होता । धर्मकथा के प्रसंग में ऐसा कहना कि ये दरिद्र व्यक्ति अधार्मिक होने के कारण ही कष्ट में स्थित हैं, टूटे-फूटे घरों में रहने वाले तथा कुभोजन करने वाले होते हैं । ऐसा कहने पर वे सामान्य या अधनी व्यक्ति धर्म को स्वीकार नहीं करते और न वे मुनियों के स्थान पर धर्म सुनने पुनः आते हैं । वे धर्मोपदेशकों पर आक्रोश आदि भी करने लग जाते हैं ।

१. अंगसुत्ताणि १, सूयगडो, २।२।५३ : से भिक्खू धम्मं किट्ठेमाणे—णो अण्णस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । णो अथस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । णो

सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । णो अण्णस्सि विक्खेज्जाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । अगिलाए धम्ममाइक्खेज्जा । गण्णत्थ कम्मणिज्जरट्टयाए धम्ममाइक्खेज्जा ।

२. सुलना—आयारो, २।४९ : णो हीणे णो अइरिस्से ।

१७६. एत्थंपि जाण, सेयंति णत्थि ।

सं०—अत्रापि जानीहि श्रेयः इति नास्ति ।

तुम जानो, अविधिपूर्वक की जाने वाली धर्म-कथा में भी श्रेय नहीं है ।

भाष्यम् १७६—विचारस्य आग्रहो ममत्वं वा परिग्रहो भवति । अपरिग्रहसाधनायां प्रवृत्तेन पुरुषेण स्वविचारास्तथा प्रतिपादनीयाः यथा स्वस्य श्रोतुश्च अपरिग्रहो विकासं व्रजेत् ।

अत्रापि जानीहि—धर्मतत्त्वस्य प्रतिपादने सम्यग् विवेचनीयम् । विवेकाभावे श्रेयो नास्ति । तत्र प्रथमः स्वसामर्थ्यविवेकः । धर्मकथालब्धिसम्पन्नेन आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी, निर्वेदनी इत्यादिरूपा चतुर्विधापि कथा करणीया । धर्मकथाकरणाभ्यासिना आक्षेपणी, विक्षेपणी—द्विविधैव कथा करणीया, न तु तेन दार्शनिक-विषयस्य स्पर्शः कार्यः । अपरिपक्वज्ञानः यदि तद् विषयं स्पृशेत् तदा प्राप्तान् प्रश्नान् समाधातुं न शक्नोति इति श्रेयो न भवति ।

द्वितीयः क्षेत्रविवेकः । कस्य दर्शनस्य प्रभावेण प्रभावितं क्षेत्रमिदं इति विवेकं कृत्वैव धर्मकथा करणीया, अन्यथा श्रेयो न भवति, विग्रहः समुत्पद्यते ।

तृतीयः कालविवेकः । कस्मिन् समये किं वक्तव्यम्, इति विवेकपूर्वकं धर्मः प्रतिपादनीयः ।

चतुर्थो भावविवेकः । स च साक्षात् सूत्रेण प्रोच्यते—

१७७. के यं पुरिसे ? कं च णए ?

सं०—कोयं पुरुषः ? कं च नतः ?

धर्म-कथा के समय विवेक करे—'यह पुरुष कौन है ? किस दर्शन का अनुयायी है ?'

भाष्यम् १७७—धर्मकथायाः प्रसंगे इति विवेकः कार्यः—कोयं पुरुषः—पुण्यः तुच्छो वा ? मृदुस्वभावः कठोरस्वभावो वा ? श्रद्धाप्रवणस्तर्कप्रवणो वा ? जिज्ञासुः संघर्षशीलो वा ?

एवं असौ कतरत् प्रवचनं प्रवचनकारं वा प्रणतः—प्रतिपन्नः ?

विचार का आग्रह या ममत्व भी परिग्रह होता है । जो व्यक्ति अपरिग्रह की साधना में प्रवृत्त है उसे अपने विचारों का प्रतिपादन उस प्रकार से करना चाहिए, जिससे स्वयं में और सुनने वालों में अपरिग्रह की भावना विकसित हो ।

इस विषय में यह भी जानो—धर्मतत्त्व के प्रतिपादन में सम्यक् विवेक करना चाहिए । विवेक के अभाव में हित नहीं होता । उसमें पहला है—अपने सामर्थ्य का विवेक । जो मुनि धर्मकथा करने की लब्धि से सम्पन्न है, वह आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी—इन चारों प्रकार की कथाओं (बातों या घटनाओं) का प्रतिपादन करे । जो मुनि धर्मकथा करने का अभी अभ्यास कर रहा है उसे केवल आक्षेपणी और विक्षेपणी—इन दो प्रकार की कथाओं का ही प्रतिपादन करना चाहिए । उसे दार्शनिक विषयों का स्पर्श नहीं करना चाहिए । अपरिपक्व ज्ञान वाला मुनि यदि उन दार्शनिक विषयों को छूता है तो वह तद्विषयक प्राप्त प्रश्नों का समाधान नहीं कर सकता । इसलिए यह हितकर नहीं होता ।

दूसरा है—क्षेत्र का विवेक । यह क्षेत्र किस दर्शन के प्रभाव से प्रभावित है—यह विवेक करके ही धर्मकथा में प्रवृत्त होना चाहिए । अन्यथा हित नहीं होता, विग्रह उत्पन्न हो जाता है ।

तीसरा है—काल का विवेक । किस समय में क्या बोलना चाहिए, इस विवेक को सामने रखकर धर्म का प्रतिपादन करना चाहिए ।

चौथा है—भाव-विवेक । वह साक्षात् सूत्र में बताया जा रहा है—

धर्मकथा के प्रसंग में यह विवेक करना चाहिए—सामने श्रोता कौन है—धनी है या अधनी ? मृदु स्वभाव वाला है या कठोर स्वभाव वाला ? श्रद्धालु है या तार्किक ? जिज्ञासु है या भगडालु ?

इसी प्रकार यह पुरुष किस दर्शन या दार्शनिक को स्वीकार कर चलता है ?

१७८. एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए ।

सं०—एष वीरः प्रशंसितः, य बद्धान् प्रतिमोचयेत् ।

वही वीर प्रशंसित होता है, जो बंधे हुए मनुष्यों को मुक्त करता है ।

भाष्यम् १७८—यः पूर्वनिर्दिष्टप्रकारेण धर्मकथां कुर्वन् बद्धान् मोचयति, स एष वीरः—धर्मकथायां श्रेष्ठः' इति प्रशस्यते । लोकाः खलु पूर्वाग्रहैः कर्मभिः तज्जनितसंस्कारैः परिग्रहेण च बद्धा भवन्ति । पूर्वनिर्दिष्ट-विवेकशून्यः धर्मकथो न तान् तेभ्यो मोक्तुमर्हति । स एव तान् मोक्तुमर्हति यो भवति विचाराग्रहेण मुक्तः, अनेकान्तदृष्टिः, समन्वयप्रवणमतिः, समत्वभावं प्रतिपन्नः । तादृशः आत्मीयोत्तमतया सर्वत्र प्रशंसितो भवति ।

जो मुनि पूर्व निर्दिष्ट विधि से धर्मकथा करता हुआ बद्ध व्यक्तियों को मुक्त करता है, वही वीर धर्मकथा करने में श्रेष्ठ है— इस प्रकार प्रशंसित होता है । लोग पूर्वाग्रहों से, कर्मों से, कर्मजनित संस्कारों से तथा परिग्रह से बन्धे हुए होते हैं । पूर्वनिर्दिष्ट विवेक-विकल धर्मकथो उन लोगों को इन सब बंधनों से मुक्त नहीं कर सकता । वही धर्मकथो लोगों को इन बंधनों से मुक्त कर सकता है, जो स्वयं वैचारिक आग्रह से मुक्त है, अनेकान्तदृष्टि से सम्पन्न है, समन्वय की बुद्धि से कुशल है और समताभाव को बनाए रखने वाला है । वैसा व्यक्ति अपनी पवित्रता और निर्मलता के कारण प्रशंसित होता है ।

१७९. उड्ढं अहं तिरियं दिसासु, से सव्वतो सव्वपरिण्णचारी ।

सं०—ऊर्ध्वं अधः तिर्यक् दिशासु स सर्वतः सर्वपरिज्ञाचारी ।

वह ऊंची दिशा, नीची दिशा और तिरछी दिशा—सब दिशाओं में, सब ओर से, समग्र परिज्ञा के द्वारा चलता है ।

भाष्यम् १७९—स अपरिग्रही पुरुषः ऊर्ध्वं अधः तिर्यक्—एतासु सर्वासु दिक्षु सर्वकालं सर्वात्मप्रदेशैर्वा परिज्ञया—विवेकेन आचरति । स पदार्थं चैतन्यञ्च भिन्नत्वेन अनुभवन् आवश्यकं क्रियाकलापं करोति, न च रागद्वेषाभ्यां प्रेरितः करोति, इत्येतदेव तस्य सर्व-परिज्ञाचारित्वं भवति ।

वह अपरिग्रही पुरुष ऊंची, नीची और तिरछी—इन सभी दिशाओं में सदा अथवा सभी आत्मप्रदेशों से परिज्ञा—विवेक से आचरण करता है । वह पदार्थ और चैतन्य की भिन्नता का अनुभव करता हुआ आवश्यक क्रिया-कलाप सम्पन्न करता है । वह राग-द्वेष से प्रेरित होकर नहीं करता—यही उसकी सर्वपरिज्ञाचारिता है ।

१८०. ण लिप्पई छणपएण वीरे ।

सं०—न लिप्यते क्षणपदेन वीरः ।

वीर पुरुष हिंसा-कर्म से लिप्त नहीं होता ।

भाष्यम् १८०—तादृशो वीरः क्षणपदेन न लिप्यते—हिंसासंभूतकर्मणा न बध्यते । अस्मिन् जीवाकुले पदार्था-कुले च लोके कः कथमलिप्तः स्थानुमर्हति ? पदे पदे हिंसायाः ममत्वस्य च प्रसंगो वर्तते । तथापि सर्वतः सर्वपरिज्ञाचारी—सर्वचैतन्यपदार्थयोः भेदमनुभवन् पुरुषः न ममतां गच्छति । परिग्रहप्रसूता च हिंसा । अममत्वः अप्रमादमारूढो भवति । तेन स क्रियां कुर्वाणोऽपि न हिंसया लिप्तो भवति ।

वैसा वीर पुरुष क्षणपद से लिप्त नहीं होता—हिंसा से संभूत कर्मों से नहीं बंधता । इस जीवाकुल और पदार्थाकीर्ण लोक में कौन कैसे अलिप्त रह सकता है ? पग-पग पर हिंसा और ममत्व का प्रसंग रहता है । फिर भी सभी प्रकार से जो सर्वपरिज्ञाचारी है—जो चैतन्य और पदार्थ की भिन्नता का अनुभव करता है वह पुरुष ममता नहीं करता । हिंसा परिग्रह से उत्पन्न होती है । ममत्वमुक्त व्यक्ति अप्रमत्त अवस्था में आरोहण कर देता है । इसलिए वह व्यक्ति प्रवृत्ति करता हुआ भी हिंसा से लिप्त नहीं होता ।

इदं सूत्रं अहिंसायाः हृदयं वर्तते । अत एव हिंसायाः द्रव्यभावयोर्विवेकः कर्तुं शक्यः ।

प्रस्तुत सूत्र अहिंसा का हृदय है । इससे द्रव्यहिंसा और भावहिंसा का विवेक किया जा सकता है ।

निर्लेपतावादस्य चिन्तनं बहुप्राचीनं वर्तते । उत्तराध्ययने इदमुपलभ्यते—'उवलेवो होइ भोगीसु,

निर्लेपतावाद का चिन्तन बहुत प्राचीन है । उत्तराध्ययन सूत्र में यह उपलब्ध होता है—'भोगों में उपलेप होता है । अभोगी

१. आप्ते, वीरः—Excellent, eminent.

अभोगी नोवल्लिप्पइ ।<sup>१</sup>

गीतायामपि योगयुक्तस्य क्रियां कुर्वाणस्यापि लेपः  
न भवतीति प्रतिपादितमस्ति—

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।  
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥<sup>२</sup>

लिप्त नहीं होता ।<sup>१</sup>

गीता में भी यह प्रतिपादित है कि योगयुक्त साधक क्रिया करता हुआ भी लिप्त नहीं होता—

जो योगयुक्त है, विशुद्ध है, विजितात्मा और जितेन्द्रिय है, जो सभी प्राणियों को अपने समान समझता है, वह क्रिया करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ।

१८१. से मेधावी अणुग्घायणस्स खेघण्णे, जे य बंधप्पमोक्खमण्णेसी ।

सं०—स मेधावी अनुद्घातनस्य क्षेत्रज्ञः, यश्च बन्धप्रमोक्षान्वेषी ।

जो बन्ध से मुक्त होने की खोज करता है, वह मेधावी अहिंसा के मर्म को जान लेता है ।

भाष्यम् १८१—य कर्मबन्धस्य मोक्षमन्वेषयति स मेधावी अनुद्घातनस्य ज्ञानं करोति । उद्घातनम्—हिंसा । अनुद्घातनम्—अहिंसा । हिंसातः कर्मबन्धो भवति, तेन बन्धप्रमोक्षाय अहिंसायाः तद्हेतुभूतस्य अपरिग्रहस्य च ज्ञानमनिवार्यमस्ति ।

चूर्णो अनुद्घातनपदस्य व्याख्यानमन्यथा विद्यते—अणं<sup>३</sup>—कर्म, तस्य उद्घातनम्—उत्पादनम्, इति अणुग्घायणं । स मेधावी कर्मोत्पादनस्य हेतुं जानाति ।

जो कर्मबन्ध की मुक्ति का अन्वेषण करता है वह मेधावी पुरुष अनुद्घातन को जान लेता है । उद्घातन का अर्थ है—हिंसा । अनुद्घातन का अर्थ है—अहिंसा । हिंसा से कर्मबन्ध होता है । अतः कर्मबन्ध की मुक्ति के लिए अहिंसा और उसका हेतुभूत अपरिग्रह का ज्ञान अनिवार्य होता है ।

चूर्ण में 'अनुद्घातन' पद की व्याख्या भिन्न प्रकार से है—'अण' का अर्थ है—कर्म, उसका उद्घातन अर्थात् उत्पादन । अनुद्घातन का अर्थ है—कर्म का उत्पादन । वह मेधावी कर्म के उत्पादन के हेतु को जानता है ।

१८२. कुसले पुण णो बद्धे, णो मुक्के ।

सं०—कुशलः पुनः नो बद्धः नो मुक्तः ।

कुशल न बद्ध होता है और न मुक्त होता है ।

भाष्यम् १८२—बन्धप्रमोक्षस्य अन्वेषणायां स्वभावत एव एष विकल्पः उत्पद्यते—अस्मिन् परिग्रहहिंसाकुले लोके किं बन्धप्रमोक्षः संभवति ? अस्य प्रश्नस्य समाधानं कुर्वन् सूत्रकारः प्रवक्ति—कुशलः—सर्वपरिज्ञा-चारी पुरुषः ।<sup>४</sup> अमौ जीवन्मुक्तः इत्यपि उच्यते ।<sup>५</sup> स च अस्मिन् लोके जीवन्नपि कर्महेतुभूतया पदार्थासक्त्या नो बद्धो भवति, जीवनयात्रोपयोगिभिः पदार्थैः नो मुक्तो भवति ।<sup>६</sup>

स अप्रमत्तभावेन प्रवृत्तिं कुर्वाणोऽपि नो बद्धो भवति, प्रवृत्तेर्नो मुक्तो भवति ।

बन्धन-मुक्ति की खोज में सहज ही यह विकल्प उत्पन्न होता है कि इस परिग्रह और हिंसा से व्याप्त लोक में क्या बन्धन-मुक्ति संभव है ? इस प्रश्न को समाहित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—कुशल का अर्थ है—सर्वपरिज्ञाचारी पुरुष । वह जीवन्मुक्त भी कहलाता है । वह इस संसार में जीवन-यापन करता हुआ भी कर्मबन्ध की हेतुभूत पदार्थासक्ति से बद्ध नहीं होता और जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए उपयोगी पदार्थों से मुक्त नहीं होता ।

वह अप्रमत्तभाव से प्रवृत्ति करता हुआ भी बद्ध नहीं होता, वह प्रवृत्ति से मुक्त नहीं होता ।

१. उत्तररत्नसयणाणि, २५।३९ ।

२. गीता ५।७ शांकरभाष्य, पृष्ठ २१७ .....स तत्रैव वर्तमानोपि लोकसंग्रहाय कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते न कर्मभिर्बन्धयत इत्यर्थः । न चासौ परमार्थतः करोतीत्येतत् ।

३. प्राकृते 'ऋण' शब्दस्य 'अणं' इति रूपं जायते ।

४. कुशल का अर्थ है—जानी । धर्म-कथा में दक्ष, विभिन्न दर्शनों का पारगामी, अप्रतिबद्धविहारी, कथनी और करनी में समान, निद्रा एवं इन्द्रियों पर विजय पाने वाला, साधना

में आने वाले कष्टों का पारगामी और देश-काल को समझने वाला मुनि 'कुशल' कहलाता है । तीर्थंकर को भी कुशल कहा जाता है ।

५. तुलनीय, पातंजलयोगदर्शन, भाष्य, ४।३० : क्लेशकर्म-निवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति ।

६. तुलनीय, पातंजल योगदर्शन, भाष्य, २।२७ : एतां सप्त-विधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते, प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीत-त्वादिनि ।

चूर्णो वृत्ती च अन्येष्वर्थ्याः उपनीताः सन्ति—

अथवा स अविरत्यादिभिः अप्रशस्तैर्भावैः नो बद्धो भवति, चरित्रतपःप्रभृतिभिः प्रशस्तैर्भावैः नो मुक्तो भवति ।

अथवा स जीवन्मुक्तत्वात् दुःखानुभूत्या नो बद्धो भवति, दुःखमये संसारे निवसन् न दुःखाद् मुक्तो भवति ।

कुशलः--वीतरागः । स च कषायहेतुकेन कर्मणा साम्परायिक्या क्रियया वा नो बद्धयते । तदेव भवबीजं वर्तते । स पुनः आवरणादीनां सद्भावात् नो मुक्तो भवति ।

कुशलः—केवली । स च आवरणादिभिर्नो बद्धो भवति, भवोपग्राहिकर्मभिर्नो मुक्तो भवति ।

१८३. से जं च आरभे, जं च णारभे, अणारद्धं च णारभे ।

सं०—स यच्च आरभते यच्च नारभते, अनारब्धं च नारभते ।

वह किसी प्रवृत्ति का आचरण करता है और किसी का आचरण नहीं करता, मुनि उसके द्वारा अनाचीर्ण का आचरण न करे ।

भाष्यम् १८३—बन्धमोक्षाय विधिनिषेधावपि परिज्ञातव्यौ भवतः । कुशलः यद् आरभते—यद् आचरणं करोति स विधिः, यच्च नारभते—यद् नाचरति स निषेधः । एतौ बन्धप्रमोक्षस्य हेतू । अनारब्धस्य आचरणं बन्धहेतुर्भवति । अतः बन्धप्रमोक्षार्थी कुशलपुरुषेण अनारब्धं—अनाचीर्णं नारभेत । तदारब्धं तु यथाशक्यमाचीर्णं स्यात् किन्तु तेन अनारब्धं तु नाचरितव्यमेव इत्यवधारणार्थं 'अणारद्धं च णारभे' इति सूत्रवाक्यस्योपन्यासः ।

चूर्णि और वृत्ति में इसके दूसरे अर्थ भी प्रस्तुत हुए हैं—

अथवा वह पुरुष अविरति आदि अप्रशस्त भावों से बद्ध नहीं होता और चरित्र, तप आदि प्रशस्त भावों से मुक्त नहीं होता ।

अथवा वह जीवन-मुक्त होने के कारण दुःखानुभूति से बद्ध नहीं होता और दुःखमय संसार में रहता हुआ दुःख से मुक्त भी नहीं होता ।

कुशल का अर्थ है—वीतराग । वह कषाय के हेतुभूत कर्म अथवा साम्परायिक क्रिया से नहीं बंधता । वही भवबीज—जन्म-मरण का बीज होता है । वह कर्मों के आवरण आदि की विद्यमानता के कारण मुक्त भी नहीं होता ।

कुशल का अर्थ है—केवली । वह आवरण पैदा करने वाले कर्मों से बद्ध नहीं होता तो भवोपग्राही कर्मों से मुक्त भी नहीं होता ।

बन्धन-मुक्ति के लिए विधि और निषेध—दोनों को जानना आवश्यक है । कुशल पुरुष जिसका आचरण करता है, वह विधि है, जिसका आचरण नहीं करता, वह निषेध है । ये दोनों बन्धन-मुक्ति के हेतु हैं । अनाचीर्ण का आचरण करना बन्धन का हेतु है । इसलिए जो बन्धन-मुक्ति चाहता है, उसे कुशल पुरुष द्वारा अनाचीर्ण का आचरण नहीं करना चाहिए । उसके द्वारा अनाचीर्ण विधि का यथाशक्य आचरण किया जा सकता है, किन्तु उसके द्वारा अनाचीर्ण विधि का आचरण तो नहीं ही करना चाहिए—इस अवधारणा के लिए 'अणारद्धं च णारभे'—इस सूत्र-वाक्य का उपन्यास किया गया है ।

१८४. क्षणं क्षणं परिणाय, लोकासंज्ञां च सर्वशः ।

सं०—क्षणं क्षणं परिणाय, लोकसंज्ञां च सर्वशः ।

पुरुष प्रत्येक हिंसा-स्थान को जाने और छोड़े । उसी प्रकार लोक-संज्ञा को सब प्रकार से जाने और छोड़े ।

भाष्यम् १८४—लोकसंज्ञा—परिग्रहः पदार्थासक्तिर्वा । तां सर्वशः परिणाय—हिंसां जनयतीति विवेकं कृत्वा सा प्रत्याख्यातव्या तथा तज्जनिता हिंसापि परिणाय प्रत्याख्यातव्या । प्रस्तुतसूत्रे परिग्रहस्य हिंसायाश्च कार्यकारणभावः परिलक्ष्यते । लोकसंज्ञा हिंसायाः कारणमस्ति ।

लोकसंज्ञा का अर्थ है—परिग्रह या पदार्थासक्ति । लोकसंज्ञा को पूर्णरूप से जानकर अर्थात् इससे हिंसा उत्पन्न होती है—यह विवेक कर लोकसंज्ञा का प्रत्याख्यान करना चाहिए । उसी प्रकार लोकसंज्ञा से उत्पन्न होने वाली हिंसा का परिज्ञान कर उसका भी प्रत्याख्यान करना चाहिए । प्रस्तुत सूत्र में परिग्रह और हिंसा का कार्य-कारणभाव परिलक्षित होता है । लोकसंज्ञा हिंसा का कारण है ।

१. (क) आचारंग चूर्णि, पृष्ठ १०० : क्षणं क्षणं परिणाय—  
क्षणं हिंसाए जस्स जेणपगारेण क्षणणं भवति जहा सत्यपरिणाय एक्केक्कस्स कायस्स सत्यपगारा भणित्ता तं क्षणं बुविहाए परिणाय ।

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र १३४ : क्षणं हिंसायां क्षणनं क्षणो—हिंसनं, कारणे कार्योपचारात् येन येन प्रकारेण हिंसा उत्पद्यते, तत् तत् नपरिणया परिणाय प्रत्याख्यानपरिणया परिहरेत् ।

१८५. उद्देशो पासगस्स णत्थि ।

सं०—उद्देशः पश्यकस्य नास्ति ।

द्रष्टा के लिए कोई निर्देश नहीं है ।

भाष्यम् १८५—यः पुरुषः परिग्रहस्य अपायान् अपरिग्रहस्य गुणांश्च पश्यति, तस्य कृते उद्देशो नास्ति । उद्दिश्यते येन स उद्देशः, यथा—अयं बद्धः, अयं मुक्तः, अयं सुखी, अयं दुःखी इत्यादि । यः अपरिग्रहस्य सिद्ध्या पश्यकभावमापन्नः तस्य कृते बद्धमुक्तादिपर्यायानामुद्देशाः नोपेक्षिताः भवन्ति । द्रष्टा द्रष्टा एव । स पश्यकभावबलात् बन्धमोक्षादिपर्यायान् नानुगच्छति नानुभवति वा । यः परिग्रहं पदार्थं वा पश्यति, स न द्रष्टा भवितुमर्हति । यः केवलं चैतन्यमनुभवति, स एव द्रष्टेति पदवाच्यो भवति ।

अत्र उद्देशपदं उपाधेभविं व्यनक्ति । तृतीयाध्ययनस्य उपसंहारे (सूत्र ८७) 'पश्यकस्य उपाधिर्न विद्यते' इति प्रतिपादितमस्ति । तेनास्य सम्बन्धो योजनीयः । यः कर्मकृतां सुखदुःखाद्यवस्थामनुभवति तस्य उपाधिर्जायते, तस्यैव उद्देशो जायते, यश्चैतन्यमनुभवति तस्य नैतत् जायते ।<sup>१</sup>

१८६. बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे असमियदुखसे दुखी दुख्खानामेव आवट्ठं अणुपरियट्ठह ।—त्ति वेमि ।

सं०—बालः पुनः स्निहः कामसमनोजः अशमितदुःखः दुःखी दुःखानामेव आवर्त्तं अनुपरिवर्तते । —इति वेमि ।

अज्ञानी पुरुष स्नेहवान् और काम-प्राप्तिं होकर दुःख का शमन नहीं कर पाता । वह दुःखी बना हुआ दुःखों के आवर्त्त में अनुपरिवर्तन करता रहता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १८६—यः पश्यको न भवति, स लोभाभिभूतत्वात् अज्ञानत्वाच्च बद्धो युवापि सन् बाल इत्युच्यते । स यत्र तत्र प्रीणाति कामान्, स्नेहवान् भवति—इन्द्रियविषयान् समनुजानाति, तेन स अशमितदुःखः दुःखी दुःखानामेव आवर्त्तं अनुपरिवर्तते ।

इन्द्रियविषयानामासेवनं सुखानुभूतिं जनयदपि परिणामे दुःखं जनयति । तेन वस्तुतः तद् दुःखमेव । कामस्य अनुमोदकः न दुःखावर्त्तस्य पारं प्राप्नोति इति तात्पर्यम् ।<sup>२</sup>

जो पुरुष परिग्रह के दोषों और अपरिग्रह के गुणों को देखता है, उसके लिए उद्देश नहीं होता, कोई निर्देश नहीं होता । जिससे उद्दिष्ट किया जाता है, बताया जाता है, वह है उद्देश । जैसे—यह बद्ध है, यह मुक्त है, यह सुखी है, यह दुःखी है आदि । जो अपरिग्रह को सिद्धि से द्रष्टा बन जाता है, उसके लिए बद्ध, मुक्त आदि पर्यायों का कथन अपेक्षित नहीं होता । द्रष्टा द्रष्टा ही होता है । वह द्रष्टाभाव के कारण बन्धमुक्ति के पर्यायों को प्राप्त नहीं करता अथवा उनका अनुभव नहीं करता । जो परिग्रह को देखता है अथवा पदार्थों को देखता है, वह द्रष्टा नहीं हो सकता । जो केवल चैतन्य का अनुभव करता है, वही द्रष्टा कहलाता है ।

यहां 'उद्देश' पद उपाधि का अर्थ अभिव्यक्त करता है । तीसरे अध्ययन के उपसंहार में (सूत्र ८७) ऐसा प्रतिपादित है कि पश्यक के उपाधि नहीं होती । उसके साथ प्रस्तुत सूत्र का संबंध जोड़ना चाहिए । जो पुरुष कर्मकृत सुख-दुःख आदि अवस्थाओं का अनुभव करता है, उसके उपाधि होती है, उसी के ही उद्देश होता है । जो चैतन्य का अनुभव करता है, उसके उद्देश नहीं होता, उपाधि नहीं होती ।

जो पश्यक—द्रष्टा नहीं होता वह लोभ से अभिभूत होने के कारण और अज्ञान के कारण 'बाल' कहलाता है, फिर चाहे वह बद्ध या युवा ही क्यों न हो । वह यत्र-तत्र कामों के प्रति अनुरक्त होता है, स्नेहिल होता है अर्थात् वह इन्द्रिय-विषयों का अनुमोदन करता है, इसलिए वह दुःख का शमन नहीं कर पाता । वह दुःखी बना हुआ दुःखों के आवर्त्त में अनुपरिवर्तन करता रहता है ।

इन्द्रिय-विषयों का आसेवन सुख की अनुभूति पैदा करता है, पर उसकी परिणति दुःख में होती है । इसलिए वस्तुतः वह दुःख ही है । काम का अनुमोदन करने वाला पुरुष दुःख के आवर्त्त का पार नहीं पा सकता, यही इसका तात्पर्य है ।

१. (क) आचार्यो, ३।१८ : अकम्मस्स ववहारो न विज्जह ।

(ख) आचार्यो, ३।१९ : कम्मणा उवाही जायइ ।

२. द्रष्टव्यम्—आचार्यो, २।७३ ।

३. द्रष्टव्यम्—आचार्यो, २।७४ ।





तइयं अज्झयणं  
सीओसणिज्जं

तीसरा अद्ययन  
शीतोष्णीय

[उद्देशक ४ : सूत्र ८७]



## आमुखम्

प्रस्तुताध्ययनस्य नामास्ति शीतोष्णीयम् । अस्मिन् साधनाकाले आगम्यमानानां शीतोष्णस्थितानां सहनं विहितमस्ति, अतः शीतोष्णीयमिति नाम विद्यते अन्वर्थम् । पदार्थदृष्ट्या शीतमिति शीतलं, उष्णमिति ग्रीष्मं, तात्पर्यार्थे शीतपदेन अनुकूलस्य उष्णपदेन च प्रतिकूलस्य ग्रहणं कृतम् । निर्युक्तिकारेण आभ्यां पदाभ्यां द्वाविंशतिपरीषहाणां संबन्धो योजितः । तदनुसारं स्त्री-सत्कारपरीषहौ शीतो शेषाश्चोष्णाः । अनयोर्वैकल्पिकोऽर्थोऽपि निर्युक्तौ उपलभ्यते—ये तीव्रपरिणामाः परीषहास्ते उष्णाः, ये च मन्दपरिणामास्ते शीताः ।\*

निर्युक्तौ शीतोष्णयोः निक्षेपावसरे कतिचिद् विकल्पाः प्रदर्शिताः सन्ति, यथा—हिमतुषारकरकादयः सचेतनं द्रव्यशीतम्, हारादयः अचित्तं द्रव्यशीतम् । सच्चित्तोदककृताः जलदाः मिश्रं द्रव्यशीतम् । पुद्गलस्य शीतो गुणः पुद्गलाश्रितं भावशीतम् । जीवस्य औपशमिकक्षायिकक्षायोपशमिका भावाः भावशीताः । एवं उष्णपदस्य निक्षेपावसरे सचेतनं द्रव्योष्णं अग्निः । अचेतनं द्रव्योष्णं आदित्यरश्मिः । मिश्रं द्रव्योष्णं कवोष्णं अनुद्वृत्तत्रिदण्डं उष्णं जलं वा । अचेतनः भावोष्णः पुद्गलस्य उष्णो गुणः । सचेतनः भावोष्णः जीवस्य औदयिको भावः । क्रोधो मानश्चोष्णो भवति । विवक्षा-भेदेन लोभः शीतोऽपि भवति । क्षायिको भावः अशेष-कर्मदहनान्यथानुपपत्तेरुष्णो भवति ।\*

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'शीतोष्णीय' है । साधनाकाल में आनेवाली शीत और उष्ण स्थितियों को सहने का विधान इसमें किया गया है । इसलिए इसका अन्वर्थ नाम 'शीतोष्णीय' रखा गया है । पद की दृष्टि से 'शीत' पद का अर्थ है—शीतल और 'उष्ण' पद का अर्थ है—ग्रीष्म । तात्पर्य की भाषा में शीत पद से अनुकूल और उष्णपद से प्रतिकूल का ग्रहण किया गया है । निर्युक्तिकार ने इन दो पदों के साथ बाबीस परीषहों की संबन्ध-योजना की है । उसके अनुसार स्त्री परीषह और सत्कार परीषह—ये दो शीत तथा शेष बीस परीषह उष्ण के अन्तर्गत हैं । निर्युक्ति में इनका वैकल्पिक अर्थ भी प्राप्त होता है—जो तीव्र परिणाम वाले परीषह हैं वे उष्ण हैं तथा जो मंद परिणाम वाले हैं वे शीत हैं ।

निर्युक्ति में 'शीत' और 'उष्ण'—इन दो पदों के निक्षेप के प्रसंग में कुछेक विकल्प प्रस्तुत किए गए हैं । शीत पद का निक्षेप—

- सचेतन द्रव्यशीत—हिम, तुषार, करक (ओले) आदि ।
- अचेतन द्रव्यशीत—हार आदि ।
- मिश्र द्रव्यशीत—सचित्त जल से निष्पन्न बादल ।
- भावशीत—पुद्गल का शीत गुण पुद्गलाश्रित भावशीत है ।  
जीव का औपशमिक, क्षायिक तथा क्षायोपशमिक भाव जीवाश्रित भावशीत है ।

उष्ण पद का निक्षेप—

- सचेतन द्रव्यउष्ण—अग्नि ।
- अचेतन द्रव्यउष्ण—सूर्य की रश्मि ।
- मिश्र द्रव्यउष्ण—थोड़ा गरम जल, तीन उकाले से रहित गरम जल ।
- अचेतन भावउष्ण—पुद्गल का उष्ण गुण ।
- सचेतन भावउष्ण—जीव का औदयिक भाव । क्रोध और मान उष्ण होते हैं । विवक्षाभेद से लोभ शीत भी होता है । क्षायिक भाव समस्त कर्मों का दहन किए बिना उत्पन्न नहीं होता, इसलिए यह उष्ण है ।

१. (क) आचारांग निर्युक्ति, गाथा २०२ :

इत्थो सवकारपरीसहो य दो भाषसीयला एए ।  
सेसा बीसं उष्हा परीसहा हुंति नायग्वा ॥

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १३६ : स्त्रीपरीषहः सत्कार-परीषहश्च द्वाचप्येतौ शीतो, चायमनोनुकूलत्वात्, शेवास्तु पुनर्विशतिरुष्णा ज्ञातव्या भवन्ति, मनसः प्रतिकूलत्वादिति ।

२. (क) आचारांग निर्युक्ति, गाथा २०३ :

जे तिष्वप्परिणामा परीसहा ते भवन्ति उष्हा उ ।  
जे मंदप्परिणामा परीसहा ते भवे सीया ॥

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १३६ : तीव्रो—दुःसहः परि-णामः—परिणतियेषां ते तथा, य एवभूताः परीषहास्ते उष्णाः, ये तु मन्दपरिणामास्ते शीता इति ।

३. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २०० :

दग्धे सीयत्सवत्थं दग्धुहं चैव उष्हदत्थं तु ।  
भावे उ पुग्गलगुणो जीवस्स गुणो अचेपविहो ॥

प्रस्तुताध्ययनस्य प्रतिपाद्यमस्ति मुनिना शीतोष्णौ परीषहौ विषोढव्यौ । अस्य चत्वार उद्देशका वर्तन्ते । तेषां विषयनिर्देशः एवमस्ति<sup>१</sup>—

१. ये असंयमिनस्ते भावनिद्रया सुप्ताः सन्ति ।
२. भावनिद्रामापन्ना दुःखमनुभवन्ति ।
३. नैव दुःखसहनादेव केवलात्<sup>२</sup>, संयमानुष्ठानशून्यया अक्रियया वा श्रमणो भवति ।
४. कषाया वमनीयाः ।

प्रस्तुताध्ययनस्य प्रारम्भः स्वपनजागरणावस्थामधिकृत्य भवति । शरीरयात्रायै यथा जागरणस्य मूल्यमस्ति तथा निद्राया अपि मूल्यमस्ति । अध्यात्मसाधनाक्षेत्रे केवलं जागरणस्यैव मूल्यमस्ति न तु निद्रायाः । अत एवोक्तम्—मुनयः सदा जाग्रति अमुनयश्च सदा सन्ति सुप्ताः । दर्शनावरणीयकर्मविपाकोदयेन क्वचित् स्वपन्नपि पुरुषः सम्यग्दर्शनत्वात् संविग्नत्वाच्च वस्तुतः सुप्तो न भवति । दर्शनमोहनीयोदयो महानिद्रा वर्तते । यस्तमतिक्रान्तः स सदा जाग्रदेव । यश्च दर्शनमोहनीयोदयादापातितं भावनिद्रामनुभवति स सदा निद्राण एव । अयं स्वपनजागरणयोरलौकिको विधिः ।<sup>३</sup> निर्युक्तिकारेण सुप्तावस्थाया दोषा जागृदवस्थायाश्च गुणाः प्रतिपादिताः, यथा सुप्तमत्तमूर्च्छिता अप्रतिकारं दुःखं प्राप्नुवन्ति तथा भावनिद्रायां वर्तमानो जनः प्रचुरं दुःखं लभते । यथा विवेकी मनुष्यः प्रदीप्ते प्रज्वलने प्रपलायमानः सुखमनुभवति तथा सापायनिरपायविवेकज्ञोऽपायं परिहरन् सुखी भवति ।<sup>४</sup>

अस्मिन् अध्ययने समतायाः सिद्धान्तः प्रतिपादितोऽस्ति ।<sup>५</sup> आचाराङ्गं समतायाः प्रतिपादकं सूत्रं वर्तते, अत एवास्य 'सामायिकम्' इति नाम विद्यते । 'तिविज्जो,' 'परमं' प्रभृतिपदानि रचनाकालस्य प्राचीनत्वसूचकानि विद्यन्ते । अस्मिन् कर्मवादस्य प्रतिपादकानि सूत्राण्यपि उपलभ्यन्ते ।<sup>६</sup> अस्मिन् दर्शनपदं

इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है कि मुनि को शीत और उष्ण—दोनों प्रकार के परीषह सहने चाहिए । इसके चार उद्देशक हैं । उनके विषय इस प्रकार हैं—

१. जो असंयमी हैं वे भावनिद्रा में सुप्त हैं ।
२. भावनिद्रा में सुप्त व्यक्ति दुःख का अनुभव करते हैं ।
३. केवल कष्ट सहने मात्र से अथवा संयम के अनुष्ठान से शून्य अक्रिया—निवृत्ति मात्र से कोई श्रमण नहीं होता ।
४. कषायों को छोड़ना चाहिए ।

प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ भयन और जागरण की अवस्था के विषय से होता है । शरीर-यात्रा के लिए जैसे जागरण का मूल्य है वैसे ही निद्रा का भी मूल्य है । अध्यात्म की साधना के क्षेत्र में केवल जागरण का ही मूल्य है, निद्रा का नहीं । इसीलिए कहा है—मुनि सदा जागृत रहते हैं, अमुनि सदा सुप्त रहते हैं । दर्शनावरणीय कर्म के विपाकोदय से कहीं सोता हुआ भी व्यक्ति सम्यग्दर्शनयुक्त तथा संवेगयुक्त होने के कारण वास्तव में सुप्त नहीं होता । दर्शनमोहनीय कर्म का उदय महानिद्रा है । जो इसका अतिक्रमण कर देता है वह सदा जागृत ही रहता है । जो व्यक्ति दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से निष्पन्न भावनिद्रा का अनुभव करता है, वह सदा सोया हुआ ही रहता है । यह भयन और जागरण की अलौकिक विधि है । निर्युक्तिकार ने सुप्ता अवस्था के दोषों तथा जागृत अवस्था के गुणों का प्रतिपादन किया है । जैसे सुप्त, मत्त और मूर्च्छित व्यक्ति अप्रतिकारात्मक दुःख को प्राप्त होते हैं, वैसे ही भावनिद्रा का अनुभव करता हुआ प्राणी प्रचुर दुःख को प्राप्त होता है । जैसे विवेकी मनुष्य आग लग जाने पर पलायन कर सुख का अनुभव करता है वैसे ही विघ्न—बाधा अथवा दोष तथा निविघ्न—अबाधा तथा अदोष का विवेक करने वाला व्यक्ति बाधा का परिहार करता हुआ सुखी होता है ।

इस अध्ययन में समता का सिद्धान्त प्रतिपादित है । आचारांग समता का प्रतिपादक आगम है, इसीलिए इसका नाम 'सामायिक' है । इसमें प्रयुक्त 'त्रिविद्य', 'परम' आदि शब्द इस आगम के रचना काल की प्राचीनता के द्योतक हैं । इसमें कर्मवाद के प्रतिपादक सूत्र भी उपलब्ध होते हैं । इसमें 'दर्शन' शब्द विविध पदों के साथ सन्दृब्ध होकर प्रयुक्त हुआ है । यह 'दर्शन' पद 'सत्य' का वाचक है । मृषावाद-

१. आचारांग निर्युक्ति गाथा १९७, १९८  
पढमे सुत्ता अस्संजयति बिइए दुहं अणुहवन्ति ।  
सइए न हु दुक्खेणं अकरणयाए व समणुत्ति ॥  
उद्देसंमि चउत्थे अहिगारो उ वमणं कसायाणं ।  
पावविरईओ विउणो उ संजमो इत्थ सुखुत्ति ॥
२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १०२ : इदाणि मा सासिस्सं एगंतेण  
दुक्खेण धम्मो, तेण तम्मत्तपडिसेहणत्थं भण्णति ततिए—ण  
य दुक्खेण, अकरणयाए व समणोत्ति ।

३. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २११ :  
सुत्ता अमुणभो तथा मुणभो सुत्तावि जागरा हुंति ।  
धम्मं पडुक्ख एवं निहामुत्सेण भइयव्वं ॥
४. वही, गाथा २१२, २१३ ।
५. आयारो, ३।३ ।
- ६, ७. वही, ३।२८ ।
८. वही, ३।१८-२५ ।

विविधैः पदैः सन्दृब्धं दृश्यते ।<sup>१</sup> एतेन दर्शनपदेन सत्यं विवक्षितमस्ति । मृषावादवर्जनात्मकं सत्यं न अहिंसा-मतिरिणक्ति । अस्मिन्नध्ययने 'सच्चसि धिति कुब्बह', 'पुरस्ता ! सच्चमेव समभिजाणाहि'<sup>२</sup>, 'सच्चस्त आणाए उवट्टिए से मेहावी मारं तरति'<sup>३</sup> प्रभृतीनि सूत्राणि अमृषावादात्मक-सत्याभिधायकानि सूत्राणि न सन्ति । एतानि सन्ति सम्यग्दर्शनात्मकसत्याभिधायकानि अथवा आत्मनः पदार्थस्य च याथार्थ्यनिरूपकाणि ।

जैनदर्शने सर्वज्ञवादः निष्ठां प्राप्नोति । आचारांगे सर्वज्ञवादः चर्चितोऽस्ति नवा इति प्रश्नः विद्वद्भिः उपस्थाप्यते । सर्वज्ञसंबन्धिनी मध्यकालीना चर्चा अस्मिन्नपि समस्ति तथापि 'एतत् पश्यकस्य दर्शनमस्ति' अनेन वाक्यांशेन एतत् सुनिश्चितं भवति यत् एतज्जैनदर्शनं द्रष्टुर्दर्शनं विद्यते न तु तर्कोद्भवं दर्शनम् । पश्यकोपि द्वाभ्यां विशेषणाभ्यां विशेषितोऽस्ति—य उपरतशस्त्रः अहिंसको वा भवति, यः पर्यन्तकरः ज्ञाना-वरणस्य अन्तकरो वा भवति, स एव पश्यको भवति । कर्मणा उपाधिर्भवति ।<sup>४</sup> पश्यकस्य उपाधिर्न भवति ।<sup>५</sup> अनयोः सूत्रयोः सन्दर्भे सर्वज्ञसिद्धयै प्रयुक्तः मध्यकालीनस्तर्कः समवतरति—'प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादि-सिद्धेस्तत्सिद्धिः ।'<sup>६</sup>

प्रज्ञाया अतिशयः—तारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तम्, अतिशयत्वात्, परिमाणातिशयवदित्यनुमानेन निरतिशय-प्रज्ञासिद्ध्या तस्य केवलज्ञानस्य सिद्धिः, तत्सिद्धिरूपत्वात् केवलज्ञानसिद्धेः । 'आदि' ग्रहणात् सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात् घटवदित्यतो, ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादानुपपत्तेश्च तत्सिद्धिः, यदाह—

'धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत् पुंसां कुतः पुनः ।  
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुतान्चेत् साधनस्तरम् ॥'  
(सिद्धिविनिश्चय, पृ० ४१३)

१. आधारी, ३।२८—समसदंसी । ३०—भयाणुपस्ती ।  
३३—आयंकदंसी । ३५—गिक्कम्मदंसी । ३८—परम-  
दंसी । ४८—अणोमदंसी । ७२, ८५—एयं पासगस्स वंसणं ।  
८३—कोहदंसी ..... दुक्खदंसी ।  
२. आधारी, ३।४० ।

वर्जक सत्य अहिंसा से पृथक् नहीं है । इस अध्ययन में—'पुरुष ! तू सत्य में धृति कर', 'पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर', 'जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है वह मेधावी मृत्यु अथवा कामनाओं को तर जाता है'—आदि सूत्र अमृषावादात्मक सत्य के वाचक सूत्र नहीं हैं, किंतु ये हैं सम्यग्दर्शनात्मक सत्य के वाचक अथवा आत्मा और पदार्थ की यथार्थता के निरूपक सूत्र ।

जैन दर्शन में सर्वज्ञवाद का सांगोपांग वर्णन है । आचारांग में सर्वज्ञवाद की चर्चा है या नहीं, यह प्रश्न विद्वान् व्यक्ति उपस्थित करते हैं । मध्यकाल में सर्वज्ञसंबन्धी जो चर्चाएं हुईं, वे इसमें हैं, फिर भी 'यह द्रष्टा का दर्शन है'—इस वाक्यांश से यह सुनिश्चित हो जाता है कि जैनदर्शन द्रष्टा का दर्शन है, न कि तर्क से उत्पन्न दर्शन । पश्यक अर्थात् द्रष्टा दो विशेषणों से विशेषित है—(१) जो उपरतशस्त्र अथवा अहिंसक होता है और (२) जो पर्यन्तकर अथवा ज्ञानावरण कर्म का अंत करने वाला होता है, वही पश्यक या द्रष्टा होता है । 'कर्म से उपाधि होती है ।' 'द्रष्टा के कोई उपाधि नहीं होती ।' इन दोनों सूत्रों के संदर्भ में सर्वज्ञ की सिद्धि के लिए प्रयुक्त मध्यकालीन तर्क का समवतरण होता है—'प्रज्ञा के तारतम्य की विश्रान्ति आदि की सिद्धि से केवलज्ञान की सिद्धि होती है ।'

प्रज्ञा का अतिशय-तारतम्य कहीं विश्रान्त होता है, क्योंकि वह अतिशय है । प्रत्येक अतिशय की कहीं न कहीं विश्रान्ति (चरम परिणति) अवश्य होती है, जैसे परिमाण के अतिशय की विश्रान्ति आकाश में हुई है । इस अनुमान प्रमाण से निरतिशय प्रज्ञा की सिद्धि होने से केवलज्ञान की सिद्धि होती है । निरतिशय प्रज्ञा की सिद्धि ही केवलज्ञान की सिद्धि है । सूत्र में प्रयुक्त 'आदि' शब्द से केवलज्ञान की सिद्धि के लिए यह अनुमान भी समझ लेना चाहिए । सूक्ष्म, अन्तरित—व्यवहित तथा दूरस्थ पदार्थ किसी के प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं, क्योंकि वे प्रमेय हैं । जो प्रमेय होता है वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय अवश्य होता है, जैसे घट । तथा ज्योतिष ज्ञान में जो अविसंवाद देखा जाता है, उससे भी केवलज्ञान की सिद्धि होती है । कहा है—

'अत्यंत परोक्ष पदार्थों को भी कोई पुरुष अवश्य जानता है ।  
ऐसा नहीं होता तो ज्योतिष ज्ञान में जो अविसंवाद है, वह कैसे होता?  
यदि कहा जाए, यह अविसंवाद श्रुत (शास्त्र) से होता है, तो उसके लिए भी दूसरे साधन की आवश्यकता है ।'

३. वही, ३।६५ ।  
४. वही, ३।६६ ।  
५. वही, ३।८५ ।  
६. वही, ३।१९ ।  
७. वही, ३।८७ ।

बाधकामावाच्च ।<sup>१</sup>

कालासवेशीयपुत्रस्य भगवतो महावीरस्य स्थविरैः सह यः संवादः संवृत्तः तेन एष निष्कर्षः सम्मुखीभवति, भगवतो महावीरस्य साधनापद्धतेः षड् मूलतत्त्वानि आसन्—

- |                     |                  |
|---------------------|------------------|
| १. सामायिकम् ।      | ४. संवरः ।       |
| २. प्रत्याख्यानम् । | ५. विवेकः ।      |
| ३. संयमः ।          | ६. व्युत्सर्गः । |

अस्मिन्नागमे सामायिकादीनि षडपि तत्त्वानि सन्ति संवर्णितानि, तानि यथास्थानमन्वेषणीयानि ।<sup>२</sup> अस्मिन् पंचमहाव्रतानां स्पष्टं व्यवस्था नास्ति, यथा सूत्रकृतांगे दृश्यते ।<sup>३</sup> अस्मिन् विषये इति वक्तव्यमावश्यकमस्ति यद् भगवतो महावीरस्य प्रवचने पञ्च महाव्रतानि सामायिकस्याङ्गभूतानि विस्तारभूतानि च सन्ति । आत्मनो निरूपणं सामायिकेन संबद्धमेव, यथा भगवत्यां सामायिकेन आत्मन एकत्वं प्रदर्शितमस्ति ।<sup>४</sup> समयसारेऽपि एवमेव दृश्यते ।<sup>५</sup>

अस्मिन् पुनर्जन्मनः कारणानि<sup>६</sup> अमरत्वहेतूनि<sup>७</sup> च सन्ति वर्णितानि । अस्मिन् अध्यात्मं सम्यक् परिभावितमस्ति ।<sup>८</sup> समता अशस्त्रे एव भवति, शस्त्रे न सा भवितुमर्हति, तत्र वैषम्यमेव । इत्थमत्यन्तं मननीयमस्ति अध्ययनमिदम् ।

‘सर्वज्ञता का कोई बाधक प्रमाण नहीं है । अतः बाधक प्रमाण के अभाव में सर्वज्ञता की सिद्धि होती है ।’

कालासवेशीयपुत्र का भगवान् महावीर के स्थविरों के साथ जो संवाद हुआ, उससे यह निष्कर्ष सामने आता है कि भगवान् महावीर की साधना पद्धति के छह मूल तत्त्व थे—

- |                   |                 |
|-------------------|-----------------|
| १. सामायिक ।      | ४. संवर ।       |
| २. प्रत्याख्यान । | ५. विवेक ।      |
| ३. संयम ।         | ६. व्युत्सर्ग । |

प्रस्तुत आगम में सामायिक आदि छहों तत्त्वों का वर्णन प्राप्त है । उनका यथास्थान अन्वेषण किया जा सकता है । जैसे सूत्रकृतांग में पांच महाव्रतों की स्पष्ट व्यवस्था है, वैसे प्रस्तुत आगम में नहीं है । इस विषय में यह बताना आवश्यक है कि भगवान् महावीर के प्रवचन में पांच महाव्रत सामायिक के ही अंग हैं और वे सामायिक के ही विस्तार हैं । आत्मा का निरूपण सामायिक से संबद्ध है ही । भगवती सूत्र में सामायिक के साथ आत्मा का एकत्व बताया गया है । समयसार ग्रन्थ में भी ऐसा ही देखा जाता है ।

आचारांग में पुनर्जन्म के कारण तथा अमरत्व (जन्म-मरण से मुक्ति) के हेतु भी प्रतिपादित हैं । इसमें अध्यात्म की भावना का सम्यक् निरूपण हुआ है । समत्व अशस्त्र में ही होता है, शस्त्र में वह सम्भव नहीं है । उसमें विषमता ही होती है । इन सभी दृष्टियों से यह अध्ययन अत्यंत मननीय है ।

१. प्रमाणमीमांसा, १।१।१६, १७ ।

२. अंगसुत्ताणि २, भगवई १।४२३-४२८ ।

३. सामायिकम्—३।३० ।

प्रत्याख्यानम्—१।११; ३।२८, ४६ ।

संयमः—३।४ ।

संवरः—३।८६ ।

विवेकः—५।७३, ७४ ।

व्युत्सर्गः—दा. गाथा ५, गाथा २१ ।

एते संकेता उदाहरणरूपेण प्रदर्शिताः । वस्तुतः प्रस्तुतागमः एषु षट्सु तत्त्वेषु कृतो भवति ।

४. अंगसुत्ताणि १, सुयगडो २।१।५९ ।

५. अंगसुत्ताणि २, भगवई, १।४२६……“आया, अज्जो ! सामाहए ।

६. समयसार, गाथा २७७ :

आदा खु मज्झ पाणं आदा से वंसणं चरित्तं च ।

आवा पच्चक्खणं आदा मे संवरो जोगो ॥

७. आचारो, ३।१४ ।

८. वही, ३।१५, ३६, ४५ ।

९. वही, ३।५४, ५५ ।

## तइयं अज्झयणं : सीओसणिज्जं

### तीसरा अध्ययन : शीतोष्णीय

#### पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

१. सुत्ता अमुणी सया, मुणियो सया जागरंति ।

सं०—सुप्ताः अमुनयः सदा, मुनयः सदा जाग्रति ।

अज्ञानी सदा सोते हैं, ज्ञानी सदा जागते हैं ।

भाष्यम् १—प्रस्तुताध्ययने सुखदुःखतितिक्षा समुप-  
दिश्यते । तितिक्षां विना अहिंसाया अपरिग्रहस्य च  
नास्ति सिद्धिः । तत्सिद्धयर्थं सुखं दुःखञ्च द्वयमपि भवति  
सोढव्यम् । अमुनिः न तितिक्षामर्हति । मुनिः सदा  
जागति । स एव तामर्हति, इति वस्तुसत्यं सूत्रकारः  
प्रवक्ति—यो मन्यते त्रिकालावस्थं जगत् स मुनिः मनन-  
शीलो ज्ञानी वा । अमुनिः तद्विपरीतः । अमुनयः  
सुप्ताः भवन्ति । सुप्तो द्विविधः—द्रव्यसुप्तः—निद्रा-  
सुप्तः, भावसुप्तः—हिंसायां परिग्रहे वा प्रवृत्तः, विषय-  
कषायैर्वा धर्मं प्रति सुप्तः । जागृतोऽपि द्विविधः—द्रव्य-  
जागृतः—निद्रामुक्तः, भावजागृतः—अहिंसायामपरिग्रहे  
च लीनः, सम्यग्दृष्टिः, वितृष्णः, धर्मं प्रति उत्साह-  
वांश्च ।

ज्ञानयोगेन मुनेः चित्तं मनः मस्तिष्कं समग्रं नाडी-  
तन्त्रं च सतताऽप्रमादवशात् स्वाधीनं भवति । स निद्रा-  
वस्थायामपि नाकरणीयं करोति इति सदा जागरणस्य  
रहस्यम् । काव्यसाहित्येऽपि सततजागरूकतायाः सूक्तं  
लभ्यते—

‘मनसि वचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे,  
यदि मम पतिभावो राघवादन्यर्धुंसि ।  
तदिह बहु शरीरं मामकं पावकेदं,  
विकृतसुकृतभाजां येन साक्षी त्वमेव ॥’

प्रस्तुत अध्ययन में सुख-दुःख की तितिक्षा—सहिष्णुता का  
उपदेश दिया गया है । तितिक्षा के बिना अहिंसा और अपरिग्रह की  
सिद्धि नहीं होती । उनकी सिद्धि के लिए सुख और दुःख—दोनों को  
सहन करना होता है । अमुनि तितिक्षा नहीं कर सकता । मुनि सदा  
जागता रहता है । वही तितिक्षा करने में समर्थ होता है । इस सत्य को  
सूत्रकार इस प्रकार प्रगट करते हैं—जो जगत् की त्रैकालिक अवस्था  
को जानता है, अथवा जो मननशील होता है, ज्ञानी होता  
है, वह मुनि है । उसके विपरीत होता है अमुनि । अमुनि सुप्त होते हैं ।  
सुप्त के दो प्रकार हैं—द्रव्य-सुप्त और भाव-सुप्त । द्रव्य-सुप्ता  
वह होता है जो निद्रा में सोया हुआ है और भाव-सुप्त वह होता है  
जो हिंसा और परिग्रह में प्रवृत्त है तथा विषय अथवा कषायों के वशीभूत  
होकर धर्म के प्रति सुप्त है । जागृत के भी दो प्रकार हैं—द्रव्य-जागृत  
और भाव-जागृत । द्रव्य-जागृत वह है जो निद्रामुक्त है और भाव-  
जागृत वह है जो अहिंसा तथा अपरिग्रह में लीन है, सम्यग्दृष्टि है,  
वितृष्ण है और धर्म के प्रति उत्साहवान् है ।

ज्ञानयोग से मुनि का चित्त, मन, मस्तिष्क और सारा नाडी-  
तन्त्र—ये सब सतत अप्रमाद की साधना के कारण उसके अधीन हो  
जाते हैं । वह निद्रावस्था में भी अकरणीय कार्य नहीं करता, यही सदा  
जागृत रहने का रहस्य है । काव्यसाहित्य में भी सतत जागरूक रहने  
का सूक्त प्राप्त है—

अग्नि-परीक्षा के समय सीता कहती है—‘हे अग्नि ! यदि मैंने  
मन से, वचन से और शरीर से, जागृत अवस्था में या सुप्त अवस्था में,  
राघव के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के प्रति पतिभाव किया हो तो तू  
मेरे इस शरीर को जला डाल । हे पावक ! तू ही है साक्षी पाप और  
पुण्य करने वालों का ।

## २. लोयंसि जाण अहियाय दुख्खं ।

सं०—लोके जानीहि अहियाय दुःखम् ।

तुम जानो, इस लोक में दुःख—अज्ञान अहित के लिए होता है ।

भाष्यम् २—सुप्तस्य अज्ञानं मोहं—स्वभावविकृतिर्वा प्रवर्धते । तद् दुःखहेतुत्वाद् दुःखं अथवा दुःखं कर्म ।<sup>१</sup> तच्च लोके अहियाय भवति इति त्वं जानीहि । हिंसायां परिग्रहे च प्रवृत्तस्य इहैव लोके वधवन्धादयः अहितकराः परिणामाः दृश्यन्ते ।

सुप्त व्यक्ति का अज्ञान बढ़ता है अथवा मोह—स्वभाव की विकृति बढ़ती है । वह दुःख का हेतु होने के कारण दुःख है । अथवा दुःख है कर्म । 'वह संसार में अहित के लिए होता है', ऐसा तुम जानो । जो पुरुष हिंसा और परिग्रह में प्रवृत्त है, उसे इसी जन्म में वध, बंधन आदि अहितकारी परिणामों को भोगना पड़ता है ।

## ३. समयं लोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए ।

सं०—समतां लोके ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतः ।

'सब आत्माएं समान हैं'—यह जानकर पुरुष समूचे जीव-लोक की हिंसा से उपरत हो जाए ।

भाष्यम् ३—लोकस्य—जीवसमूहस्य समतां ज्ञात्वा मुनिः शस्त्रोपरतो भवति । यैः यैर्हेतुभिः जीवानां वधो जायते, ते शस्त्रं इत्युच्यन्ते । अहिंसकः अपरिग्रहश्च<sup>२</sup> सर्वशस्त्रेभ्य उपरतो भवति । अत्र अहिंसाया विषये समतापदस्य वाच्यं आत्मतुला भवति । अपरिग्रहस्य सन्दर्भे समतापदस्य वाच्यमस्ति लाभालाभादिषु समभावः ।

'लोक' का अर्थ है—जीव-समूह । 'सभी प्राणियों की आत्मा समान है' यह जानकर मुनि हिंसा से उपरत हो जाता है । जिन-जिन हेतुओं से जीवों का वध होता है, वे सारे हेतु शस्त्र कहलाते हैं । अहिंसक और अपरिग्रही व्यक्ति सभी शस्त्रों से उपरत होता है । यहाँ अहिंसा के संदर्भ में समता का अर्थ है—आत्मतुला—सभी प्राणियों को अपनी आत्मा के समान समझना और अपरिग्रह के संदर्भ में समता का अर्थ है—लाभ-अलाभ आदि द्वन्द्वों में समभाव रखना ।

## ४. जस्सिमे सद्दा य रूवा य गंधा य रसा य फासा य अभिसमन्नागया भवंति, से आयवं नाणवं वेयवं धम्मवं बंभवं ।

सं०—यस्येमे शब्दाश्च रूपाणि च गन्धाश्च रसाश्च स्पर्शाश्च अभिसमन्वागताः भवन्ति, स आत्मवान् ज्ञानवान् वेदवान् धर्मवान् ब्रह्मवान् ।

जो पुरुष इन—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्शों को भली-भांति जान लेता है—उनमें राग-द्वेष नहीं करता, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है ।

भाष्यम् ४—यस्य पुरुषस्य जीवने अपरिग्रहो निष्ठां गच्छति स आत्मवान् भवति । तात्पर्यमिदम्—शब्दादयः पौद्गलिकाः, आत्मस्वरूपञ्च चैतन्यम् । यस्य इमे शब्दादयः अभिसमन्वागताः—सम्यग् उपलब्धाः भवन्ति—'एते चैतन्याद् भिन्नाः सुखदुःखात्मकवन्ध-हेतवश्च' इति ज्ञ-परिज्ञया प्रत्याख्यान-परिज्ञया च परिज्ञाता भवन्ति स आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान्, ब्रह्मवान् भवति ।

जिस पुरुष के जीवन में अपरिग्रह की भावना परिपूर्णरूप से आत्मसात् हो जाती है, वह पुरुष आत्मवान् होता है । इसका तात्पर्य है कि आत्मवान् पुरुष में यह संबोध जाग जाता है कि शब्द आदि विषय पौद्गलिक हैं और आत्मस्वरूप चैतन्यमय है । जिसको ये शब्द आदि विषय अभिसमन्वागत—सम्यग् उपलब्ध हो जाते हैं अर्थात् ये सब चैतन्य से भिन्न हैं तथा सुख-दुःखरूप बंधन के हेतु हैं—इस रूप में वे ज्ञ-परिज्ञा से तथा प्रत्याख्यान-परिज्ञा से परिज्ञात हो जाते हैं, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है ।

प्रस्तुतसूत्रं भेदविज्ञानं प्रतिपादयति । चैतन्यपदार्थयो-रभेदानुभूत्या एव परिग्रहे मूर्च्छा जायते । तयोर्भेदानु-भूत्या अपरिग्रहः सिद्धयति । तस्मिन् सिद्धे एव आत्मा

प्रस्तुत सूत्र में भेदविज्ञान का प्रतिपादन है । आत्मा और पदार्थ अथवा चैतन्य और पुद्गल की अभेदानुभूति से ही परिग्रह में मूर्च्छा पैदा होती है । उनकी भेदानुभूति से अपरिग्रह सिद्ध होता है ।

१. (क) आचारंग चूणि, पृष्ठ १०५, दुःखमिति कम्मं साशोराति वा ।

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र १३९ : दुःखहेतुत्वाद् दुःखम्—

अज्ञानं मोहनीयं वा ।

२. न परिग्रहः अस्ति यस्य स अपरिग्रहः, अपरिग्रहीति यावत् ।



आत्मानं लभते, इति स आत्मवान् भवति । तस्य ज्ञानं शब्दादिविषयेभ्यो विमुक्तं जायते, अतः स ज्ञानवान् भवति । वेदः—शास्त्रम् । तस्य प्रतिपाद्यमस्ति रागद्वेष-विमोक्षः । हीनायां पदार्थानुरक्तौ स वेदवान् भवति । धर्मः समतालक्षणः । स प्रियाप्रियेषु शब्दादिविषयेषु समस्तिष्ठति, अतः धर्मवान् भवति । ब्रह्म—आचारः सत्यं तपश्च । स एतेषु प्रतिष्ठितो जायते, अतः ब्रह्मवान् भवति ।

उसकी सिद्धि होने पर ही आत्मा आत्मा को उपलब्ध होती है । यही आत्मवान् होने का अर्थ है । ऐसे व्यक्ति का ज्ञान शब्द आदि विषयों से मुक्त हो जाता है, इसलिए वह ज्ञानवान् होता है । वेद का अर्थ है—शास्त्र । उसका प्रतिपाद्य है—राग-द्वेष से विमुक्ति । पदार्थों की अनुरक्ति क्षीण होने पर वह वेदवान् होता है । धर्म का लक्षण है—समता । आत्मवान् व्यक्ति प्रिय और अप्रिय शब्द आदि विषयों के प्रति सम रहता है, इसलिए वह धर्मवान् होता है । ब्रह्म का अर्थ है—आचार, सत्य और तप । आत्मवान् व्यक्ति इनमें प्रतिष्ठित होता है—आचारनिष्ठ, सत्यनिष्ठ और तपोनिष्ठ होता है, इसलिए वह ब्रह्मवान् होता है ।

### ५. पण्णारोहि परिमाणइ लोयं, मुणीति वच्चे, धम्मविउत्ति अंजू ।

सं०—प्रज्ञानं: परिजानाति लोकं मुनिरिति वाच्यः, धर्मविद् इति ऋजुः ।

जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक को जानता है, वह मुनि कहलाता है । वह धर्मविद् और ऋजु होता है ।

भाष्यम् ५—यः प्रज्ञानेन लोकं परिजानाति स मुनिरिति वाच्यः धर्मविदिति ऋजुश्च । धर्मः—स्वभावः । यः सर्वेषां द्रव्याणां धर्मान् वेत्ति स धर्मविद् भवति इति विचयध्यानस्य सूचनमिदम् । यो धर्माणां विचयं करोति, स एव प्रज्ञानेन चेतनाचेतनात्मकं लोकं परिजानाति । लोकस्य परिज्ञानेनैव हेयोपादेयबुद्धिः प्रस्फुटा भवति । तेन स ऋजुः कल्याणकारी वा भवति ।

जो पुरुष अपनी प्रज्ञा से लोक को जानता है वह मुनि, धर्मविद् और ऋजु कहलाता है । धर्म का अर्थ है—स्वभाव । जो सभी द्रव्यों के स्वभाव को जानता है वह धर्मविद् होता है, यह विचयध्यान का सूचन-सूत्र है । जो द्रव्य के स्वभाव का विचय करता है, वही प्रज्ञा से चेतनाचेतनात्मक लोक को जानता है । लोक के परिज्ञान से ही हेय और उपादेय की बुद्धि प्रस्फुटित होती है, इसलिए वह व्यक्ति ऋजु अथवा कल्याणकारी होता है ।

### ६. आवट्टसोए संगमभिजानाति ।

सं०—आवर्तस्रोतः सङ्गमभिजानाति ।

आत्मवान् मुनि संग को आवर्त और स्रोत के रूप में देखता है ।

भाष्यम् ६—संगः—रागः । स आवर्तः स्रोतश्च इति अभिजानाति ।

आवर्तः—इन्द्रियासक्तिवेगात् मनसः चांचल्यं भ्रमणं वा ।

स्रोतः—द्वारम् । स्थानांगे नवानां स्रोतसां उल्लेखो विद्यते—द्वे श्रोत्रे, द्वे नेत्रे, द्वे घ्राणे, मुखं, उपस्थं, पायुश्च ।<sup>३</sup> स्रोतशब्देन इन्द्रियस्यापि ग्रहणं संभवति । 'आयाणसोयगद्धि' इति प्रयोगोऽपि लभ्यते ।<sup>४</sup> अत्र स्रोतःशब्देन इन्द्रियस्रोतः इति विवक्षितं स्यात् ।

संग का अर्थ है—राग । संग 'आवर्त और स्रोत है', ऐसा वह जानता है ।

आवर्त का अर्थ है—इन्द्रियों की आसक्ति के वेग से होने वाली मन की चंचलता अथवा मन का भ्रमण ।

स्रोत का अर्थ है—द्वार । स्थानांग सूत्र में नौ स्रोतों का उल्लेख है—दो कान, दो नेत्र, दो घ्राण (नासिकाएं), मुख, लिंग और गुदा । स्रोत शब्द से इन्द्रिय का भी ग्रहण संभव है । आचारंग में 'आयाणसोयगद्धि'—इन्द्रिय-विषयों में आसक्त—ऐसा प्रयोग भी मिलता है । इसलिए यहां स्रोत शब्द से इन्द्रियस्रोत विवक्षित है ।

१. चूर्णा 'अंजू' पदस्य 'ऋजुः' इत्यर्थो दृश्यते—अंजुति उज्जूं, अं भणितं निरुवहयं (आचारंग चूर्ण, पृष्ठ १०६) । वृत्तावपि ऋजुरिति ऋजोः—ज्ञानदर्शनचारित्र्याख्यस्य मोक्षमार्गस्यानुष्ठानावकुटिलो यथावस्थितपदार्थस्वरूप-परिच्छेदाव वा ऋजुः सर्वोपाधिषुद्धोऽवक इति यावत् (आचारंग वृत्ति, पत्र १४०) इति व्याख्यातमस्ति । किन्तु प्रस्तुतपदस्य 'अंजू' घातोः संबंधः अधिकं संगच्छति ।

'अंजस' शब्दस्य अर्थोऽपि 'ऋजुः' भवति—आप्टे, 'अंजस'—Not crooked, straight, honest, upright<sup>१</sup> ।

२. आप्टे, ऋजुः—Beneficial.

३. अंगसुत्ताणि १, ठाणं १।२४ : णवसोतपरिस्सवा बोदी पणत्ता, तं जहा—दो स्रोता, दो नेता, दो घ्राणा, मुहं, पोसए, पाऊ ।

४. आयारो ४।४५ ।

उक्तञ्च निशीथभाष्यचूर्णी रागो त्ति वा संगो त्ति वा एगद्वा । अहवा कम्मजणितो जीवभावो रागो, कम्ममुणा सह संजीययंतो स एव संगो वुत्तो ।<sup>१</sup>

निशीथभाष्यचूर्णि में राग और संग को एकार्थक माना है । अथवा कर्मों से उत्पन्न जीव का भाव राग है और वही भगव जब कर्मों के साथ संयोग कराता है तब वह संग कहलाता है ।

७. सीओसिणच्चाई से निग्रन्थे अरइ-रइ-सहे फरुसियं णो वेदेति ।

सं०—शीतोष्णसहः स निग्रन्थः अरतिरतिसहः परुषतां नो वेदयति ।

निग्रन्थ सर्वा और गर्मी को सहन करता है । वह अरति—संयम में होने वाले विषाद और रति—असंयम में होने वाले आह्लाद को सहन करता है, उन्हे बिचलित नहीं होता । वह कष्ट का वेदन नहीं करता ।

भाष्यम् ७—शीतं—अनुकूला परिस्थितिः, उष्णम्—प्रतिकूला परिस्थितिः । य एतां द्वयीं परिस्थितिं सहते स अरतिरतिसहो निग्रन्थः क्वचनपि परुषतां न वेदयति । भाववैचित्र्यात् साधकस्यापि चित्ते कदाचित् असंयमे रतिरुत्पद्यते संयमे च अरतिः । य एतद् युगलं प्रति सहिष्णुर्भवति तस्य परुषतायाः संवेदनं नहि भवति, न च संयमे भारानुभूतिर्भवति, न च ग्रन्थिपातोऽपि जायते ।

शीत का अर्थ है—अनुकूल परिस्थिति और उष्ण का अर्थ है—प्रतिकूल परिस्थिति । जो इन दोनों प्रकार की परिस्थितियों को सहन करता है, वह अरति और रति को सहन करने वाला निग्रन्थ कहीं भी कष्ट—दुःख का वेदन नहीं करता । भावों के उथल-पुथल के कारण साधक के मन में भी कभी असंयम के प्रति रति—अनुरक्ति और संयम के प्रति अरति—विरक्ति हो सकती है । जो इस युगल—अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति के प्रति सहिष्णु होता है उसको कष्ट का संवेदन नहीं होता, संयम में भार की अनुभूति नहीं होती और न उसमें ग्रन्थिपात ही होता है ।

८. जागर-वेरो वरए वीरे ।

सं०—जागरः वैरोपरतः वीरः ।

जागृत और वर से उपरत व्यक्ति वीर होता है ।

भाष्यम् ८—जागरः वैराद् उपरतश्च पुरुषः वीरो भवति । अत्र वीरस्य लक्षणद्वयं प्रतिपादितम् । सुप्तः पुरुषो न किञ्चिद् विशिष्टं ईरयति, तेन वीरो न भवति । जीवेषु शत्रुभावमापन्नोऽपि न वीरो भवितुमर्हति । हिंसा परिग्रहश्च वैरहेतुत्वमापद्येते । ताभ्यामनुपरतः न काञ्चिद् विशिष्टां प्रेरणां विदधाति । तेन जागरत्वं मैत्री च वीरस्य लक्षणे भवतः ।

जो जागृत है, वर से उपरत है, वह पुरुष वीर है । यहां वीर के ये दो लक्षण प्रतिपादित हैं । जो पुरुष सुप्त है वह कुछ भी विशिष्ट पुरुषार्थ नहीं करता, इसलिए वह वीर नहीं होता । जो जीवों के प्रति शत्रुता का भाव रखता है, वह भी वीर नहीं हो सकता । वैरभाव के हेतु दो हैं—हिंसा और परिग्रह । जो पुरुष इन दोनों हेतुओं से उपरत नहीं होता वह कुछ भी विशेष प्रेरणा नहीं दे सकता, कुछ भी विशेष नहीं कर सकता । इसलिए जागरण और मैत्री—ये दो लक्षण वीर पुरुष के होते हैं ।

९. एवं दुक्खा पमोक्खति ।

सं०—एवं दुःखात् प्रमोक्ष्यसि ।

हे वीर ! तू इस प्रकार जागरुक्तता और मैत्री के प्रयोग द्वारा दुःखों से मुक्ति पा जाएगा ।

भाष्यम् ९—एवं जागरभावेन तत्परिणामभूतेन मित्रभावेन च दुःखमुक्तिः शक्या भवति । सुप्तः पुरुषः

इस प्रकार जागृतभाव तथा उसके परिणामभूत मित्रभाव से दुःखमुक्ति हो सकती है । जो पुरुष सुप्त है, वह सभी जीवों का अमित्र

१. निशीथभाष्यचूर्णि, भाग ३, पृष्ठ १९० ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १०७ : चाएति साहति सक्केइ वासेहि तुट्ठाएति वा धाडेति वा एगद्वा ।

३. वही, पृष्ठ १०७ : फरुसियं—संजमो, ण हि फरुसत्ता संजमे तवसि वा कम्माणि लग्गति अतो संजमं तवं वा

फारुसयं ण वेदेति, जहा भारवाहो अभिक्खणं भारवहणेण जितकरणत्तेण य मुख्यमधि भारं ण वेदयति, ण वा तस्स भारस्स उन्विधयति, सो एवं फारुसयं अवेदंती ।

४. आटे, परुषः—Knotted; परुस्—A Joint, Knot (प्रथिः) ।

सर्वेषां जीवानां अमित्रो भवति । तादृशः दुःखपरम्परां जनयति । न ततो मोक्षं लभते । अतः जागरभावः अत्यन्तमुपादेयः । तस्मिन् सति पुरुषः हिंसायां परिग्रहे च न प्रवर्तते ।

होता है। वैसा पुरुष दुःख की परंपरा को जन्म देता है। वह उससे मुक्त नहीं हो पाता। इसलिए जागरण अवस्था अत्यन्त उपादेय है। उसके होने पर पुरुष हिंसा और परिग्रह में प्रवृत्त नहीं होता।

### १०. जरामच्चुवसोवणीए णरे, सययं मूढे धम्मं नाभिजानति ।

सं०—जरामृत्युवशोपनीतः नरः सततं मूढः धर्मं नाभिजानति ।

बुढापे और मृत्यु से परतन्त्र तथा मोह से सतत मूढ बना हुआ मनुष्य धर्म को नहीं जानता ।

भाष्यम् १०—असौ पुरुषः जरसा मृत्युना च वशं उपनीतोऽस्ति । तथापि भावतः सततं सुप्तः मूढो भवति । तादृशः धर्मं नाभिजानति । कर्मक्षयकारणं धर्मः । तस्य सम्यक् परिज्ञानं नहि भवति ।

यह पुरुष बुढापे और मृत्यु से परतन्त्र है। फिर भी भावतः सतत सुप्त होने के कारण वह मूढ होता है। वैसा व्यवित धर्म को नहीं जानता। धर्म है—कर्मों को क्षीण करने का हेतु। मूढ व्यक्ति में उसका सम्यक् परिज्ञान नहीं होता।

### ११. पासिय आउरे पाणे, अप्पमत्तो परिव्वए ।

सं०—दृष्ट्वा आतुरान् प्राणान् अप्रमत्तः परिव्रजेत् ।

सुप्त मनुष्यों को आतुर देखकर जागृत पुरुष निरन्तर अप्रमत्त रहे ।

भाष्यम् ११—जागृतः पुरुषः भावसुप्तान् मनुष्यान् शारीरिक-मानसिक-दुःखैः आतुरीभूतान् अथवा कामातुरान् भयातुरान् वा दृष्ट्वा अप्रमत्तः—नित्य-जागृतः परिव्रजति ।

जागृत पुरुष भावसुप्त मनुष्यों को शारीरिक और मानसिक दुःखों से आतुरीभूत—आकुल-व्याकुल अथवा कामातुर अथवा भयातुर देखकर अप्रमत्त—सदा जागृत रहकर परिव्रजन करता है।

### १२. मंता एयं मइमं ! पास ।

सं०—मत्वा एतत् मतिमन् ! पश्य ।

मतिमन् ! तू मननपूर्वक इसे देख ।

भाष्यम् १२—भावसुप्तस्य एते अपायाः भवन्ति, एतत् मत्वा मतिमन् ! त्वं पश्य—स्वपनमहिताय जागरणं च हिताय भवति ।

भावसुप्त पुरुष के ये दोष होते हैं—यह मानकर हे मतिमन् ! तू देख, सोना अहितकर होता है और जागना हितकर ।

### १३. आरंभजं दुःखमिणं ति णच्चा ।

सं०—आरंभजं दुःखमिदं इति ज्ञात्वा ।

दुःख आरम्भ से उत्पन्न है—यह जानकर तू सतत अप्रमत्त रहने का अभ्यास कर ।

भाष्यम् १३—आरम्भः—असंयमः हिंसादिजनिता प्रवृत्तिर्वा । इह जगति यत्किञ्चिद् दुःखमस्ति तत्सर्वं आरम्भजं विद्यते इति ज्ञात्वा निरारम्भो भव, धर्मजागरिकां कुरु ।

आरंभ का अर्थ है—असंयम अथवा हिंसा आदि से उत्पन्न प्रवृत्ति । इस संसार में जो कुछ भी दुःख है, वह सारा आरंभ से उत्पन्न है—यह जानकर तुम निरारम्भ बनो, धर्म-जागरिका करो ।

### १४. माई पमाई पुणरेइ गन्धं ।

सं०—मायी प्रमादी पुनरेति गर्भम् ।

मायी और प्रमादी मनुष्य बार-बार जन्म लेता है ।

भाष्यम् १४—धर्मस्य निष्पत्तिरस्ति अमृतोपलब्धिः, यत्र पुरुषो न जायते, न म्रियते। पूर्वापरशरीराभ्यां वियोगयोगी संसारः। तत्र पुनरपि जन्म पुनरपि मृत्युरिति चक्रं विद्यते। पुनर्जन्मनः कारणं निर्दिशति सूत्रकारः—मायी प्रमादी पुरुषः पुनर्गर्भमायाति। मायी—विषयकषायवासितचेताः। तस्य परिणामशुद्धिर्न जायते। प्रमादी च नोचितमाचरणं कर्तुमर्हति। तेन स पुनः पुनर्जन्म गृह्णाति। यस्य जन्म तस्य निश्चितं मृतत्वम्।

धर्म की निष्पत्ति है—अमरत्व की उपलब्धि, जहाँ पुरुष न जन्मता है और न मरता है। पूर्व शरीर का वियोग और दूसरे शरीर का योग ही संसार है। वहाँ बार-बार जन्म और बार-बार मृत्यु का चक्र चलता रहता है। सूत्रकार इसका कारण निर्दिष्ट करते हैं—मायावी और प्रमादी पुरुष बार-बार जन्म लेता है। मायावी का अर्थ है—वह पुरुष जिसका चित्त विषय और कषाय से संस्कारित है। उस व्यक्ति के परिणामों की शुद्धि नहीं होती। प्रमादी पुरुष उचित आचरण नहीं कर सकता। इसलिए वह बार-बार जन्म ग्रहण करता है। जिसका जन्म होता है, निश्चित ही उसकी मृत्यु होती है।

१५. उवेहमाणो सह-रूवेसु अंजू, माराभिसंकी मरणा पमुच्चति।

सं०—उपेक्षमाणः शब्दरूपेषु ऋजुः, माराभिशङ्की मरणात् प्रमुच्यते।

शब्द और रूप की उपेक्षा करने वाला ऋजु होता है। जो मृत्यु से आशंकित रहता है, वह मृत्यु से मुक्त हो जाता है।

भाष्यम् १५—शब्दान् रूपाणि च उपेक्षमाणः अनातुरो भवति, न इष्टानिष्टविषयेषु रागद्वेषौ करोति, न च तदर्थं कञ्चिद् व्यापारं करोति। अनया अव्यापारात्मकोपेक्षया स ऋजुर्भवति। तादृशः पुरुषः मारं—मृत्युं अभिशंकमानः मरणात् प्रमुच्यते, अमृतत्वमाप्नोतीति तात्पर्यम्। मृत्योर्भयं अमृतत्वस्य महत्त्वपूर्ण-मालम्बनमस्ति।

जो शब्द और रूप—इन इन्द्रिय विषयों की उपेक्षा करता है वह अनातुर होता है, अव्याकुल होता है। वह इष्ट-अनिष्ट विषयों के प्रति राग-द्वेष नहीं करता और न वह उनके लिए किसी प्रकार की प्रवृत्ति ही करता है। इस अप्रवृत्त्यात्मक उपेक्षाभाव से वह ऋजु होता है। वैसा व्यक्ति मार—मृत्यु की आशंका रखता हुआ मरण से मुक्त हो जाता है। इसका तात्पर्य है कि वह अमरत्व को पा लेता है। अमरत्व की प्राप्ति का महत्त्वपूर्ण आलम्बन है—मृत्यु का भय।

१६. अप्प्रमत्तो कामेहि, उवरतो पापकर्मैहि, वीरे आयगुप्ते जे खेयण्णे।

सं०—अप्रमत्तः कामेषु उपरतः पापकर्मैभ्यः वीरः आत्मगुप्तः यः क्षेत्रज्ञः।

जो क्षेत्रज्ञ होता है वह कामनाओं के प्रति अप्रमत्त, असंयत प्रवृत्तियों से उपरत, वीर और आत्मगुप्त—अपने आप में सुरक्षित होता है।

भाष्यम् १६—क्षेत्रज्ञः पुरुषः स्वपराक्रमेण अमृतत्वमाप्नोति। क्षेत्रम्—शरीरम्, कामः, इन्द्रियविषयाः, हिंसा, मनोवाक्कायप्रवृत्तिश्च। यः पुरुषः एतत्सर्वं जानाति स क्षेत्रज्ञो भवति। सः कामान् प्रति अप्रमत्तः अवहितो वा भवति, हिंसादिपापकर्मैभ्यः उपरतः, संयमवीर्येण वीरः, मनोवाक्कायैश्च आत्मगुप्तो जायते।

क्षेत्रज्ञ पुरुष अपने पराक्रम से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। क्षेत्र शब्द के पाँच अर्थ हैं—शरीर, काम, इन्द्रिय-विषय, हिंसा, और मन-वचन-काया की प्रवृत्ति। जो पुरुष इन सबको जानता है वह क्षेत्रज्ञ होता है। वह कामनाओं के प्रति अप्रमत्त अथवा सावधान (जागरूक), हिंसा आदि पापकर्मों से उपरत, संयमवीर्य से वीर तथा मन, वचन और शरीर से आत्मगुप्त हो जाता है।

१. (क) गीता, १३।१-६ :

इत्वं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।  
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विद्वः ॥  
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत !  
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत् तज्ज्ञानं मतं मम ॥  
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद् विकारि यतश्च यत् ।  
स च यो यत् प्रभावश्च तत् समासेन मे शृणु ॥

ऋषिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विधैः पृथक् ।  
ब्रह्मसूत्रपदेशेन हेतुमद्भिर्विनिश्चितं ॥  
महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।  
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चन्द्रियगोचराः ॥  
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।  
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥

(ख) तुलना, गीता १३।७-११ ।

(ग) द्रष्टव्यम्—आयारी, ४।२ भाष्यम् ।

१७. जे पञ्जवजाय-सत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे । जे असत्थस्स खेयण्णे, से पञ्जवजाय-सत्थस्स खेयण्णे ।

सं०—यः पर्यवजातशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः स अशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः । यः अशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः स पर्यवजातशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः ।

जो विषयों के विभिन्न पर्यायों में होने वाले शस्त्र—असंयम को जानता है, वह अशस्त्र—संयम को जानता है । जो अशस्त्र—संयम को जानता है, वह विषयों के विभिन्न पर्यायों में होने वाले शस्त्र—असंयम को जानता है ।

भाष्यम् १७—शब्दरूपादिविषयेषु प्रवृत्तिरसंयमः तन्नित्वृत्तिश्च संयमः । एतौ द्वावपि ज्ञातव्यौ स्तः । शब्दादिविषयाणां पर्यवसमूहाः जागृतिभावं हिंसन्ति । अतस्ते शस्त्रं भवन्ति । तेषां निग्रहश्च अशस्त्रम् । यः पर्यवजातशस्त्रस्य—असंयमस्य क्षेत्रज्ञो भवति, स एव अशस्त्रस्य—संयमस्य क्षेत्रज्ञो भवति । यः अशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञो भवति, स एव पर्यवजातशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञो भवति । तात्पर्यमिदम्—यावद् असंयमस्य तत्त्वं ज्ञातं नहि भवति, तावत् संयमस्य तत्त्वं ज्ञातं दुष्शकम् । यावत् संयमस्य तत्त्वं ज्ञातं नहि भवति, तावद् असंयमस्य तत्त्वमपि सम्यक्तया ज्ञातं नहि भवति । द्वयोरपि ज्ञानं अन्योन्यं निश्चितमस्ति । अयं विकासक्रमः श्लोकद्वयेन सुगम्यो भवति—

यथा यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।  
तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ॥  
यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुलभा अपि ।  
तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥<sup>१</sup>

शब्द, रूप आदि इन्द्रिय-विषयों के प्रति होने वाली प्रवृत्ति असंयम है और उसकी निवृत्ति संयम है । असंयम और संयम—दोनों को जानना आवश्यक है । शब्द आदि विषयों के विभिन्न पर्याय जागृति को नष्ट कर डालते हैं । इसलिए वे शस्त्र हैं । उनका निग्रह करना अशस्त्र है । जो इस पर्यवजातशस्त्र—असंयम को जानता है, वही अशस्त्र—संयम को जानता है । जो अशस्त्र—संयम को जानता है, वही पर्यवजातशस्त्र—असंयम को जानता है । इसका तात्पर्य है कि जब तक असंयम को नहीं जाना जाता तब तक संयम को जानना कठिन होता है । जब तक संयम को नहीं जाना जाता तब तक असंयम को भी सम्यग् रूप से नहीं जाना जा सकता । दोनों का ज्ञान एक दूसरे पर अवलम्बित है । यह विकासक्रम निम्न दो श्लोकों से सुबोध ही जाता है—

जैसे-जैसे बुद्धि में उत्तम तत्त्वों का समावेश होता है,  
वैसे-वैसे सुलभता से प्राप्त विषय भी रुचिकर नहीं लगते ।  
जैसे-जैसे सुलभता से प्राप्त विषय रुचिकर नहीं लगते,  
वैसे-वैसे बुद्धि में उत्तम तत्त्वों का समावेश होता रहता है ।

१८. अकम्मस्स व्यवहारो न विज्जइ ।

सं०—अकर्मणः व्यवहारो न विद्यते ।

कर्ममुक्त (शुद्ध) आत्मा के लिए कोई व्यवहार नहीं होता—नाम और गोत्र का व्यपदेश नहीं होता ।

भाष्यम् १८—कर्मणि क्षीणे पुरुषः अकर्मा भवति । अकर्मणः व्यवहारो न विद्यते । व्यवहारः—व्यपदेशः विभागो वा । यथा—नैरयिकः, तिर्यग्योनिकः, मनुष्यः, देवो वा । एवं बालः, कुमारः, युवा, वृद्धो वा । अमुक-नामकः अमुकगोत्रो वा ।

कर्मों के क्षीण होने पर पुरुष अकर्मा ही जाता है । अकर्मा के लिए कोई व्यवहार नहीं होता । व्यवहार का अर्थ है—व्यपदेश—कथन अथवा विभाग । जैसे—यह नैरयिक है, तिर्यग्योनिक है, मनुष्य है अथवा देव है । इसी प्रकार यह बाल है, कुमार है, युवा है या वृद्ध है । अथवा यह अमुक नाम वाला है, अमुक गोत्रवाला है ।

सकर्मणस्तु व्यवहारो विद्यते इति सूत्रकारः स्वयं निर्दिशति ।

सकर्मा व्यक्ति के लिए व्यवहार—व्यपदेश होता है—यह स्वयं सूत्रकार निर्दिष्ट करते हैं ।

१९. कम्मणा उवाही जायइ ।

सं०—कर्मणा उपाधिः जायते ।

उपाधि कर्म से होती है ।

१. इष्टोपवेश (पूज्यपादकृत), श्लोक ३७, ३८ ।

भाष्यम् १९—उपाधिः<sup>१</sup>—व्यवहारः व्यपदेशः विशेषणं वा । स च कर्मणा जायते । सुखी, दुःखी, सवीर्यः, निर्वीर्यः इत्यादयः सर्वे व्यपदेशाः कर्मसम्बद्धा वर्तन्ते ।<sup>२</sup>

उपाधि का अर्थ है—व्यवहार, व्यपदेश या विशेषण । वह कर्म से होती है । सुखी-दुःखी, सवीर्य-निर्वीर्य आदि सारे व्यपदेश कर्मों से सम्बद्ध हैं ।

२०. कर्म च पडिलेहाए ।

सं०—कर्म च प्रतिलिख्य ।

कर्म का निरीक्षण कर ।

भाष्यम् २०—कर्मणा उपाधिर्जायते । तेन तस्य प्रतिलेखा कर्तव्या । कर्मसंबन्धो बन्धः प्रकृतिस्थित्यनुभाग-प्रदेशात्मकः । तस्य पर्यालोचनाकरणेन कर्मपरम्परायाः सम्यग् अवबोधो जायते । तेन एतज्ज्ञातं भवति—

कर्म से उपाधि होती है, इसलिए कर्म का निरीक्षण करना चाहिए । कर्म से ही बंध होता है । वह चार प्रकार का है—प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध । उसकी पर्यालोचना करने से कर्म की परम्परा का सम्यग् अवबोध होता है । उससे यह ज्ञात होता है—

२१. कम्ममूलं च जं छणं ।

सं०—कर्ममूलं च यत् क्षणं ।

हिंसा का मूल कर्म है ।

भाष्यम् २१—क्षणः—हिंसा । तस्या मूलं<sup>३</sup> कर्म विद्यते । हिंसायाः मूलं परिस्थितिरसायनादिनिमित्तेषु अन्विष्यते । परन्तु तस्या मूलं कारणं कर्म विद्यते । यस्य कर्मण उदयेन जीवो हिंसायां प्रवर्तते तस्य नामास्ति प्राणःतिपातस्थानम् ।

क्षण का अर्थ है—हिंसा । हिंसा का मूल है—कर्म । व्यक्ति परिस्थिति तथा रसायन आदि निमित्तों में हिंसा के मूल को ढूँढता है । किन्तु उसका मूल कारण है—कर्म । जिस कर्म के उदय से जीव हिंसा में प्रवृत्त होता है, उस कर्म का नाम है—प्राणातिपातपापस्थान ।

२२. पडिलेहिय सब्बं समायाय ।

सं०—प्रतिलिख्य सर्वं समादाय ।

पुरुष कर्म का निरीक्षण कर इस सत्य को स्वीकार करे ।

भाष्यम् २२—उक्तपद्धत्या कर्मणां प्रतिलेखनां कृत्वा सर्वस्य—सत्यस्य समादानं कर्तव्यं—रागो द्वेषश्च कर्मबीजं विद्यते, इति समादाने सति—

उक्त पद्धति से कर्मों का निरीक्षण कर, 'राग और द्वेष कर्म के बीज हैं'—इस सत्य को ग्रहण करना चाहिए । इस सत्य का ग्रहण करने पर—

२३. दोहि अंतेहि अदिस्समाणे ।

सं०—द्वेष्यां अन्ताभ्यां अदृश्यमानः ।

वीतराग पुरुष राग और द्वेष—इन दोनों अंतों से अदृश्यमान होता है ।

१. चूर्णिकारेण उपधिपदं व्याख्यातम्—उबही तिबिहो—आतोवही, सरीरोवहि, कम्मोवहि, तत्थ अप्पा दुप्पउत्तो आयउवधी, ततो कम्मोवही भवति, सरीरोवहीओ ववहरि-ज्जति, तंजहा—नेरइयसरीरो ववहारेण उ नेरइओ एवमादि, तहा बालकुमारान्ति, भणियं च—

'कर्मणो जायते कर्म, ततः संजायते भवः ।

भवाच्छरीरदुःखं च, ततश्चान्यतरो भवः ॥'

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १०९, ११०)

उपाधिः उपधिश्च—द्वे पदे समानार्थके अपि विद्यते ।

२. तुलना—आधारो, २।१८५ ।

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ११० : मूलंति वा प्रतिष्ठानंति वा हेतुस्ति वा एतद्वा ।

४. प्रस्तुतसूत्रे 'सत्त्वं' इति पदस्य न कोऽर्थः परिभाष्यते । अस्य स्थाने 'सत्त्वं' इति पाठः संभाव्यते । प्राचीनलिप्यां वकारवकारयोः सादृश्यात् विपर्ययो जातः इति संभवति ।

भाष्यम् २३—पुरुषः द्विविधो भवति—रागचरितः  
द्वेषचरितश्च । तत्र रागी रागेण दृश्यते, द्वेषी द्वेषेण  
दृश्यते । वीतरागः पुरुषः एताभ्यां द्वाभ्यामपि न दृश्यते ।  
तस्य न रागजनिताः प्रवृत्तयः प्रत्यभिज्ञानं भवन्ति, न च  
द्वेषजनिताः । अत एव स एताभ्यामन्ताभ्यां अदृश्यमानो  
भवति ।'

अन्तः—स्वभावो निश्चयो वा ।

पुरुष दो प्रकार के होते हैं—राग का आचरण करने वाले और  
द्वेष का आचरण करने वाले । रागी राग से पहचाना जाता है और  
द्वेषी द्वेष से पहचाना जाता है । वीतराग पुरुष इन दोनों से नहीं  
पहचाना जाता । उसकी पहचान न रागयुक्त प्रवृत्तियों से और न  
द्वेषजनित प्रवृत्तियों से होती है । इसलिए वह इन दोनों अन्तों से  
अदृश्यमान होता है ।

अन्त का अर्थ है—स्वभाव अथवा निश्चय ।

२४. तं परिणाय मेधावी ।

सं०—तं परिज्ञाय मेधावी ।

राग-द्वेष अहितकर हैं, यह जानकर मेधावी उनका अपनयन करे ।

भाष्यम् २४—स्वपनमहिताय भवति जागरणञ्च  
हिताय इति परिज्ञाय मेधावी जागरणार्थं रागद्वेषापनो-  
दाय वा प्रयतेत ।

सोना अहित के लिए होता है और जागना हित के लिए—यह  
जानकर मेधावी मुनि जागरण के लिए अथवा राग-द्वेष के  
अपनयन के लिए प्रयत्न करे ।

२५. विदित्ता लोगं, वंता लोगसण्णं से मइमं परक्कमेज्जासि । —त्ति बेमि ।

सं०—विदित्वा लोकं वान्त्वा लोकसंज्ञां स मतिमान् पराक्रमेत । —इति ब्रवीमि ।

मतिमान् पुरुष विषयलोक को जानकर, लोकसंज्ञा—विषयासक्ति को त्याग कर संयम में पराक्रम करे ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् २५—मतिमान् जागरणदिशायां पराक्रमेत ।  
एतत्कृते लोकस्य ज्ञानं लोकसंज्ञायाश्च परित्यागः  
अपेक्षामर्हति । यावत् कषायलोकस्य तद्विपाकस्य च  
सम्यक् परिज्ञानं नहि भवति, तावत् अस्यां दिशायां  
पराक्रमो न घटते । लोकसंज्ञा—लोकप्रवाहसम्मता विष-  
याभिमुखता यावत् वान्ता न स्यात् तावत् कुतो  
जागरणाभिमुखः प्रयत्नो भवेत् ?'

मतिमान् पुरुष जागरण की दिशा में पराक्रम करे । इसके लिए  
लोक का ज्ञान और लोकसंज्ञा का परित्याग अपेक्षित होता है । जब  
तक कषायलोक तथा उसके विपाक का सम्यक् अवबोध नहीं होता,  
तब तक इस दिशा में पराक्रम नहीं किया जा सकता । लोकसंज्ञा का  
अर्थ है—लोकप्रवाह सम्मत विषयों की ओर दौड़ने की मनोवृत्ति ।  
जब तक वह छोड़ी नहीं जाती तब तक जागरण की दिशा में प्रयत्न  
कहां से हो सकता है ?

## बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

२६. जातिं च वुड्ढिं च इहज्ज ! पासे ।

सं०—जातिं च वृद्धिं च इह आर्य ! पश्य ।

हे आर्य ! तू संसार में जन्म और जरा को देख ।

१. तुलना—अंगमुत्ताणि १, सूयगडो २।१।५४ : जे खलु  
पारत्था सारंभा सपरिग्गहा, संतेगइया समणा माहणा वि  
सारंभा सपरिग्गहा दुहओ पावाइं कुव्वंति, इति संखाए

दोहि वि अंतेहि अबिस्समाणो ।  
२. तुलना—आघारो २।१।५९ ।

भाष्यम् २६—भगवान् गौतमं प्रत्याह—इह—  
मनुष्यजन्मनि आर्य ! जातिं वृद्धिं च पश्य । जातिः—  
प्रसूतिः । वृद्धिः—जरा । मनुष्यः प्रसूतिकाले नवजातो  
भवति, जरावस्थायाञ्च स वृद्धो भवति मृत्युञ्च  
गच्छति । एतस्मिन् अवस्थाद्वयेऽपि स दुःखमनुभवति ।  
तेनैव तस्य पौर्वापर्यस्मृतिविलुप्ता भवति । उक्तञ्च—

जातमाणस्त जं दुःखं, मरमाणस्त जंतुणो ।  
तेण दुःखेण संभूढो, जातिं ण सरति अप्पणो ॥<sup>३</sup>

२७. भूतेहिं जाण पडिलेह सातं ।

सं०—भूतेषु जानीहि प्रतिलिख सातम् ।

तु जीवों के कर्म-बंध और कर्म-विपाक को जान तथा उनके सुख-दुःख को देख ।

भाष्यम् २७—कर्मास्ति दुःखम् । किं हेतुकं कर्म ?  
इति गवेषणायां सर्वप्रथमं कर्मस्वरूपावबोधः करणीयः ।  
कथं कर्मणो बन्धो जायते, कथञ्च तस्य विपाको  
जायते इत्यभिगमः कार्यः । ततश्च कर्महेतुभूतस्य  
आश्रवस्य कर्मणश्च क्षयः कथं स्याद् इति अन्वेष्यम् ।<sup>४</sup>

भगवान् महावीर ने गौतम से कहा—आर्य ! तुम मनुष्य जन्म  
में जाति और वृद्धि को देखो ! जाति का अर्थ है—जन्म और वृद्धि का  
अर्थ है—जरा । मनुष्य जन्मते समय नवजात शिशु होता है और जरा  
अवस्था में बूढ़ा हो जाता है और फिर मर जाता है । इन दोनों  
अवस्थाओं में भी वह दुःख का अनुभव करता है । इसीलिए उसकी  
पौर्वापर्य—आगे-पीछे की स्मृति विलुप्त हो जाती है । कहा है—

‘जन्मते और मरते समय प्राणी को सधन दुःख होता है । उस  
दुःख में मूर्च्छित होकर वह प्राणी अपने पूर्वजन्म की स्मृति नहीं कर  
पाता ।’

२८. तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा, समत्तदंसी ण करेति पावं ।

सं०—तस्मात् त्रिविद्यः परममिति ज्ञात्वा समत्वदर्शी न करोति पापम् ।

इसलिए तीन विद्याओं का ज्ञाता समत्वदर्शी अथवा सम्यक्त्वदर्शी पुरुष परम को जानकर पाप नहीं करता ।

भाष्यम् २८—परमः—जीवस्य पारिणामिको भावः<sup>५</sup>

परम का अर्थ है—जीव का पारिणामिकभाव अथवा मोक्ष ।

१. आचारांग जूणि, पृष्ठ १११ ।

२. २६ सूत्रे ‘जाति-वृद्धि’ इति पवाभ्यां पूर्वजन्मविद्यायाः जन्म-  
मरणविद्यायाश्च सूचना कृतास्ति । २७ सूत्रे ‘भूतेहिं जाण’  
इति वाक्येन जीवस्वरूपावबोधविद्या कर्मविद्या वा  
सूचितास्ति । जीवकर्मणोः अन्योन्यानुप्रवेशेन सर्वथा भेदो  
नाभ्युपगम्यः—

‘अण्णोण्णाणुगयाणं ‘इमं व तं थ’ ति विभयणमजुत्तं ।

जह दुद्धपाणियाणं जावंतं विसेसपज्जाया ॥’

[सम्मत्तित्तं १।४७]

‘पडिलेह सातं’ इति वाक्येन आत्मवस्य कर्मणश्च  
क्षयविद्यायाः सूचनं कृतम् ।

३. आलापपद्धतौ एकादशसामान्यस्वभावा निरूपिताः सन्ति ।  
स्वभावाः कथ्यन्ते—अस्तिस्वभावः, नास्तिस्वभावः, नित्य-  
स्वभावः, अनित्यस्वभावः, एकस्वभावः, अनेकस्वभावः,  
भेदस्वभावः, अभेदस्वभावः, भव्यस्वभावः, अभव्यस्वभावः,  
परमस्वभावः इति द्रव्याणां एकादशसामान्यस्वभावाः ।

[आलापपद्धति, देवसेनविरचित, नयचक्र पृ० २४३]

कर्म दुःख है । कर्म का हेतु क्या है ? इसकी गवेषणा का  
पहला बिन्दु है—कर्म के स्वरूप को जानना । कर्म का बंध कैसे होता  
है ? उसका विपाक कैसे होता है ? इसकी जानकारी करनी चाहिए ।  
उसके पश्चात् कर्मबंध के हेतुभूत आश्रव का तथा कर्म का क्षय कैसे हो  
सकता है—इसका अन्वेषण करना चाहिए ।

सर्वाण्यपि द्रव्याणि पारिणामिकभावप्रधानानि भवन्तीति  
तेषां परमः—पारिणामिको भावः सामान्यस्वभावः ।  
चेतन्यस्य पारिणामिको भावः जीवस्य परमः स्वभावो  
भवति । अत एव समयप्राभूते नयचक्रे च परमः स्वभावः  
ध्येय उक्तः—ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो  
भवति । कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् ।

[समयप्राभूत गा० ३२०, जयसेनटीका]

‘हेया कस्मे जणिया भावा, खयजा हु मुणसु फलरूवा ।

ज्ञेओ त्ताणं भणिओ परमसहावो हु जीवस्स ॥’

[नयचक्र, मायल्लधवलविरचित, गा० ७६]

‘सब्बेसि सब्भावो जिणेहिं खलु पारिणामिओ भणिओ ।

तम्हा णियलाहत्थं ज्जेओ इह पारिणामिओ भावो ॥’

[नयचक्र, गाथा ३७६]

नयचक्र में पारिणामिकभाव के लिए ‘परम’ शब्द का  
ही प्रयोग किया गया है—‘ओदियियं उवसमियं खयउव-  
समियं च खाइयं परमं ।’

[नयचक्र, गाथा ३७०]



मीक्षो वा ।<sup>१</sup> यावत् जीवः परमसद्भावस्य भावनां न करोति तावद् दुःखमुक्तो न भवति । तं ज्ञात्वा त्रिविधः समत्वदर्शी सम्यक्त्वदर्शी वा भवति । स च पापं न करोति । आश्रवस्य कर्मणश्च यतो वृद्धिः स्यात् तन्नाचरति । पूर्वजन्मज्ञानं जन्ममरणयोजनं आश्रवक्षयज्ञानं चेति तिस्रो विद्याः । एतासां विद्यानां ज्ञाता त्रिविधो भवति ।<sup>२</sup>

जब तक जीव परमसद्भाव की भावना नहीं करता, तब तक वह दुःख-मुक्त नहीं होता । उसको जानकर त्रिविध समत्वदर्शी अथवा सम्यक्त्वदर्शी होता है । वह पाप नहीं करता । वह ऐसा आचरण नहीं करता जिससे आश्रव और कर्म की वृद्धि होती हो । तीन विद्याएं हैं—(१) पूर्वजन्म का ज्ञान, (२) जन्म-मरण का ज्ञान, (३) आश्रव-क्षय का ज्ञान । जो इन तीनों विद्याओं का ज्ञाता होता है, वह 'त्रिविध' कहलाता है ।

२६. उम्मुञ्च पाशं इह मच्चिदएहि ।

सं०—उम्मुञ्च पाशं इह मर्त्यैः ।

मनुष्यों के साथ होने वाले पाश—प्रेमानुबंध का विमोचन कर ।

भाष्यम् २९—हे पुरुष ! त्वं इह मनुष्यैः संजायमानं पाशं मुञ्च । पाशः—बन्धनम् । रागादयः पाशाः भवन्ति । उत्तराध्ययने लभ्यते—णेहपासा भयंकरा ।<sup>३</sup>

हे पुरुष ! तू इस संसार में मनुष्यों के साथ होने वाले पाश का विमोचन कर । पाश का अर्थ है—बन्धन । राग आदि बंधन हैं । उत्तराध्ययन में कहा है—'स्नेहबंधन भयंकर होता है ।'

३०. आरंभजीवी उ भयाणुपस्सी ।

सं०—आरंभजीवी तु भयानुदर्शी ।

आरंभजीवी मनुष्य भय को देखता है ।

भाष्यम् ३०—कामार्थं मनुष्यः आरंभे प्रवर्तते । यः आरंभजीवी भवति स भयं अनुपश्यति । महारंभ-महापरिग्रहयोः प्रवृत्तस्य बन्ध-वध-रोध-मरणावसानानि भयानि जायन्ते इति प्रत्यक्षमेव ।

कामनाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य हिंसा में प्रवृत्त होता है । जो हिंसाजीवी होता है वह सर्वत्र भय देखता है । हम यह प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि जो मनुष्य महान् आरंभ और महान् परिग्रह में प्रवृत्त होता है वह बंध, वध, अवरोध तथा मृत्यु के भय से आतंकित रहता है ।

३१. कामेषु गिद्धा णिचयं करेति, संसिच्यमाणा पुणरेति गर्भम् ।

सं०—कामेषु गृद्धाः निचयं कुर्वन्ति, संसिच्यमानाः पुनर्यन्ति गर्भम् ।

कामों में आसक्त मनुष्य संचय करते हैं । संचय की आसक्ति का सिचन पाकर वे बार-बार जन्म को प्राप्त होते हैं ।

भाष्यम् ३१—निचयो द्विविधः—स्वर्णादिपदार्थानां निचयः कर्मणां निचयश्च । तस्य कारणमस्ति कामेषु जायमाना गृद्धिः । द्विविधोऽपि निचयः मूर्च्छाभावेन जन्यते । ये निचयजनके भावे प्रवर्तन्ते ते तादृशेन भावेन संसिच्यमानाः पुनर्गर्भमायान्ति । यथा महामेधेन संसिच्यमानानि बीजानि अङ्कुरितानि भवन्ति ।

संचय दो प्रकार का होता है—स्वर्ण आदि पदार्थों का संचय और कर्मों का संचय । संचय का मूल कारण है—कामनाओं में होने वाली आसक्ति । दोनों प्रकार के संचयों का जनक है—मूर्च्छाभाव । जो पुरुष संचय के जनक मूर्च्छाभाव में प्रवृत्त होते हैं वे उस मूर्च्छाभाव का अत्यधिक सिचन पाकर बार-बार जन्म को प्राप्त होते हैं । जैसे महामेध से सिंचित होकर बीज अंकुरित हो जाते हैं ।

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १११ : परं माणं जस्स तं परमं, तं च सम्मदंसणादि, सम्मदवंसणनाणाओवि चरित्तं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १४५ : परमं—मीक्षपदं सर्व-संवरूपं चारित्रं वा सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं वा ।

२. दीघनिकाय भाग ३, पृष्ठ १६२ : तिस्सो विज्जा—पुब्बे निवासानुस्सरति ज्ञाणं विज्जा, सत्तानं चुत्तुपपाते ज्ञाणं विज्जा, आसवाणं खये ज्ञाणं विज्जा ।

३. उत्तरज्जयणाणि, २३:४३ ।

३२. अवि से हासमासज्ज, हंता णंदीति मन्वति । अलं बालस्स संगेण, वेरं वड्ढेति अप्पणो ।

सं०—अपि स हासमासाच्च, हत्वा नन्दीति मन्यते । अलं बालस्य सङ्गेन, वैरं वर्धयति आत्मनः ।

आसक्त मनुष्य हास—आमोद-प्रमोद के लिए जीवों का वध कर हर्षित होता है । ऐसे हास-प्रसंग से उस अज्ञानी को क्या लाभ ? उससे वह अपना वैर बढ़ाता है ।

भाष्यम् ३२—मनुष्ये कषायजनितो मनस्तापः प्रकृत्या एव भवति । तन्निवारणाय स मनोरंजनप्रयोगान् आश्रयते । तेषु केचित् प्रयोगाः हिंसात्मका अपि भवन्ति । यथा बाला दर्दुराणां पातोत्पातं कुर्वाणाः प्रमोदन्ते । युवानोऽपि कुक्कुटानां मेषाणां शशकानां च प्रतिस्पर्द्धां आयोजयन्ति, शुना शशकवधे च सामोदं करास्फोटनं कुर्वन्ति । एतां मनोवृत्तिं लक्ष्यीकृत्य सूत्रकारेण प्रोक्तम्—कश्चिद् अज्ञानी पुरुषः हासपूर्वकं प्राणिनो हत्वा नन्दी—प्रमोदः<sup>१</sup> इति मन्यते । एतादृशस्य बालस्य सङ्गेन किं प्रयोजनम्<sup>२</sup> यः प्राणिनो हत्वा आत्मनो वैरं वर्धयते ?<sup>३</sup> ह्रीभयादिनिमित्तश्चेतोविप्लवो हासः इति वृत्तिकारः ।<sup>४</sup>

मनुष्य में प्रकृति से ही कषायजनित मनस्ताप होता है । उस मनस्ताप को मिटाने के लिए वह मनोरंजन के प्रयोग करता है । उन प्रयोगों में कुछ प्रयोग हिंसात्मक भी होते हैं । जैसे बच्चे मेंढ़कों को बार-बार आकाश में उछाल कर नीचे गिराने में खुश होते हैं । युवक भी मनोरंजन के लिए मुर्गों, मेंढ़ों तथा खरगोशों की प्रतिस्पर्द्धाएं आयोजित करते हैं तथा कुत्तों द्वारा खरगोशों का वध होते देखकर हर्षित होते हैं, तालियां बजाते हैं । इस मनोवृत्ति को लक्षित कर सूत्रकार ने कहा—कोई अज्ञानी पुरुष हास—आमोद-प्रमोद के लिए प्राणियों की हत्या कर हर्षित होता है । ऐसे अज्ञानी व्यक्ति के संग—हास-प्रसंग से क्या प्रयोजन जो प्राणियों की हत्या कर अपना वैर बढ़ाता है ? वृत्तिकार ने हास का अर्थ सज्जा, भय आदि के निमित्त से होने वाला चित्त-विप्लव किया है ।

३३. तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा, आयंकवंसी ण करेति पापं ।

सं०—तस्मात् त्रिविद्यः परममिति ज्ञात्वा आतङ्कदर्शी न करोति पापम् ।

इसलिए तीन विद्याओं का ज्ञाता आतंकदर्शी—हिंसा में आतंक देखने वाला पुरुष परम को जानकर पाप नहीं करता ।

भाष्यम् ३३—तस्मात् त्रिविद्यः परमं<sup>५</sup> ज्ञात्वा आतङ्क-दर्शी सन् पापं—हिंसास्त्वप्रवर्धकं न करोति । यथा परमदर्शनं हिंसानिवृत्तेः साधनमस्ति तथा हिंसायां आतङ्कदर्शनमपि तन्निवृत्तेः साधनमस्ति । यावत् परमदर्शनं न स्यात् तावत् हिंसायां आतङ्कदर्शनं न भवति । यावत् हिंसायां आतङ्कदर्शनं न भवति तावत् परमदर्शनं न भवति । द्वयोर्भावे एव हिंसाश्रवात् विरतिर्जायते ।<sup>६</sup>

इसलिए त्रिविद्य पुरुष परम को जान कर हिंसा में आतंक देखता हुआ हिंसा के आलव को बढ़ाने वाला पापकारी आचरण नहीं करता । जैसे परम—मोक्ष का दर्शन हिंसा-निवृत्ति का साधन है वैसे ही आतंकदर्शन भी हिंसा-निवृत्ति का साधन है । जब तक परमदर्शन नहीं होता तब तक हिंसा में आतंकदर्शन नहीं होता और जब तक हिंसा में आतंकदर्शन नहीं होता, तब तक परमदर्शन नहीं होता । दोनों के होने पर ही हिंसा के आश्रव से विरति होती है ।

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ ११२, णंदि पमोदी हरिसो एगद्धा ।

२. तुलना—आयारो, २/१४५ ।

३. तुलना—आयारो, २/१३५ ।

४. आचारांग वृत्ति, पत्र १४४ ।

५. परमः—द्रष्टव्यम्—३।२८ सूत्रभाष्यम् ।

६. आतंकदर्शनपूर्वकं पापवर्जनस्य उल्लेखः पिटकेऽपि दृश्यते—

(क) कतमं च भिक्खवे, सम्परायिकं वज्जं ? इध, भिक्खवे, एकच्चो इति परिसञ्चिक्खति—‘कायदुच्चरितस्स खो पन पापको दुक्खो विपाको अभिसम्परायं, वचि-दुच्चरितस्स पापको दुक्खो विपाको अभिसम्परायं, मनोदुच्चरितस्स पापको दुक्खो विपाको अभिसम्परायं । अहं चेव खो पन कायेन दुच्चरितं चरेय्यं,

वाचाय दुच्चरितं चरेय्यं, मनसा दुच्चरितं चरेय्यं । किं च तं याहं न कायस्स भेवा परं मरणा अपायं दुग्गतिं विनिपातं निरयं उपपज्जेय्यं ति । सो सम्परायिकस्स वज्जस्स भीतो कायदुच्चरितं पहाय काय-सुचरितं भावेति, वचोदुच्चरितं पहाय वचोसुचरितं भावेति, मनोदुच्चरितं पहाय मनोसुचरितं भावेति, सुद्धं अत्तानं परिहरति । इदं वुच्चति, भिक्खवे, सम्परायिकं वज्जं ।

[अंगुत्तरनिकाय २।१, भाग १, पृष्ठ ४७]

(ख) अंगुत्तरनिकाय, भाग १, पृष्ठ ५१ : भिक्षुओ ! यह आशा करनी चाहिए कि दोष में भय मानने वाला, दोष में भय देखने वाला सभी दोषों से मुक्त हो जाएगा ।

३४. अग्रं च मूलं च विविङ्घि घीरे ।

सं०—अग्रं च मूलं च विविङ्घि घीरे !

हे घीरे ! तू अग्र और मूल का विवेक कर ।

भाष्यम् ३४—हे धीरपुरुष ! त्वं अग्रं मूलञ्च विविङ्घि<sup>१</sup>—तयोर्विवेकं कुरु । महावीरस्य दृष्टिः न केवलं अग्रं स्पृशति न च मूलं, किन्तु उभयस्पर्शिनी विद्यते । किमग्रं किञ्च मूलं इति नात्र सुस्पष्टम् । उत्तराध्ययने 'रागो य दोसो वि य कम्मवीयं' इति प्रतिपादितमस्ति ।<sup>२</sup> अनेन ज्ञायते रागद्वेषौ मूलम् । तद्वेतुकानि कर्माणि अग्रम् । दशाश्रुतस्कन्धे दृश्यते<sup>३</sup>—मोहनीयं कर्म मूलं शेषकर्माणि अग्रम् । रागद्वेषावपि प्रत्यभिज्ञातव्यौ, कर्माण्यपि च प्रत्यभिज्ञातव्यानि । न केवलं मोहनीयं कर्म प्रत्यभिज्ञातव्यं किन्तु शेषकर्माण्यपि प्रत्यभिज्ञातव्यानि इति उभयदृष्टिसंस्पर्शः ।

हे धीरपुरुष ! तू अग्र और मूल—दोनों का विवेक कर । महावीर की दृष्टि न केवल अग्र का स्पर्श करती है और न केवल मूल का स्पर्श करती है, किन्तु वह दोनों का स्पर्श करती है । प्रस्तुत सूत्र में अग्र क्या है और मूल क्या है, इसका स्पष्ट निर्देश नहीं है । उत्तराध्ययन में कहा है—राग और द्वेष—ये कर्म के बीज हैं । इससे ज्ञात होता है कि राग और द्वेष मूल हैं और इन दोनों के हेतुभूत कर्म अग्र हैं । दशाश्रुतस्कन्ध आगम में कहा है—मूल है मोहनीय कर्म और शेष कर्म हैं अग्र । राग-द्वेष—इन दोनों को भी पहचानना है और साथ-साथ अन्य कर्मों को भी पहचानना है । केवल मोहनीय कर्म को ही नहीं पहचानना है, किन्तु शेष सभी कर्मों को पहचान करनी है । यही है उभयदृष्टि का संस्पर्श ।

३५. पर्लिच्छिदिया णं णिककम्मदंसी ।

सं०—परिच्छिद्य निष्कर्मदर्शी ।

पुरुष संयम और तप के द्वारा राग-द्वेष को छिन्न कर आत्मदर्शी हो जाता है ।

भाष्यम् ३५—कर्म—मनोवाक्कायजनिता प्रवृत्तिः । जीवः पारिणामिकभावेन स्वभावेन वा अकर्मा विद्यते, किन्तु रागद्वेषाभ्यां बद्धो जीवो वर्तते सकर्मा । संयमेन तपसा च रागद्वेषौ परिच्छिद्य स निष्कर्मदर्शी—आत्मदर्शी मोक्षदर्शी वा भवति ।<sup>४</sup>

कर्म का एक अर्थ है—मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति । जीव अपने पारिणामिकभाव से या स्वभाव से अकर्मा होता है किन्तु राग और द्वेष से बंधा हुआ जीव सकर्मा होता है । संयम और तप के द्वारा राग-द्वेष को छिन्न कर वह निष्कर्मदर्शी—आत्मदर्शी या मोक्षदर्शी हो जाता है ।

१. आटे, विच्—to discriminate, distinguish, discern.

२. उत्तराध्ययणाणि, ३२:५ ।

३. नवसुत्ताणि, बसाओ, ५:११,१४ :

'जहा मत्थए सुईए, हुताए हम्मती तले ।

एवं कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥'

'सुक्कमूले जथा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।

एवं कम्मा न रोहंति, मोहणिज्जे खयं गते ॥'

४. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ ११३ : ण तस्स कम्म विज्जतीति णिककम्मा, को सो? मोक्खो, णिककमाणं पस्सतीति णिककम्मदंसी, तवर्यं घडति उज्जमइ वा, णिककमाणं वा दरितेति णिककम्मदरिस्सी—सिद्धदरिसि मोक्खदरिसि वा ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १४५ : निष्कर्मदर्शी भवति. निष्कर्माणमात्मानं पश्यति, तच्छीलश्च निष्कर्मत्वाद् वा अपगतावरणः सर्वदर्शी सर्वज्ञानी च भवति ।

(ग) ऋष्टव्यम्—आयारो, ४:५० भाष्यम् ।

(घ) आत्मा है, फिर भी वह दृष्ट नहीं है । उसके दर्शन में बाधक तत्त्व दो हैं—राग और द्वेष । ये आत्मा पर कर्म का सघन आवरण डालते रहते हैं, इसलिए उसका दर्शन नहीं होता । राग-द्वेष के छिन्न हो जाने पर आत्मा निष्कर्म हो जाता है । निष्कर्म होते ही वह दृष्ट हो जाता है । निष्कर्मदर्शी के चार अर्थ किए जा सकते हैं—(१) आत्मदर्शी, (२) मोक्षदर्शी, (३) सर्वदर्शी, (४) अक्रियादर्शी ।

महावीर की साधना का मूल आधार है—अक्रिया । सत् वही होता है, जिसमें क्रिया होती है । आत्मा की स्वाभाविक क्रिया है—चैतन्य का व्यापार । उससे मिला क्रिया होती है, वह स्वाभाविक नहीं होती । अस्वाभाविक क्रिया का निरोध ही आत्मा की स्वाभाविक क्रिया के प्रवर्तन का रहस्य है । स्वाभाविक क्रिया के क्षण में राग-द्वेष की क्रिया अवरुद्ध हो जाती है ।

३६. एस मरणा पमुच्चइ ।

सं०—एष मरणात् प्रमुच्यते ।

आत्मवर्शा मृत्यु से मुक्त हो जाता है ।

भाष्यम् ३६—एष निष्कर्मदर्शी मरणात् प्रमुच्यते । मनुष्यः अमरत्वमभिलषति । तस्य साधनमस्ति निष्कर्म-दर्शनम् ।

यह निष्कर्मदर्शी मनुष्य मृत्यु से मुक्त हो जाता है । मनुष्य अमरत्व चाहता है । उसका साधन है—निष्कर्मदर्शन ।

३७. से हृ दिट्टपहे मुणी ।

सं०—स खलु दृष्टपथः मुनिः ।

उस आत्मवर्शा मुनि ने ही पथ को देखा है ।

भाष्यम् ३७—येन अग्रं मूलञ्च विविक्तं, निष्कर्म-दर्शनञ्च उपलब्धं तेन मुनिना आश्रवस्य कर्मणाञ्च क्षयस्य दुःखमुक्तेर्वा पन्थाः दृष्टः ।

जिस ने अग्र और मूल का विवेक किया है तथा निष्कर्मदर्शन को प्राप्त किया है, उस मुनि ने आश्रव और कर्मों के क्षय के मार्ग को अथवा दुःखमुक्ति के मार्ग को देख लिया है ।

३८. लोयंसी परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते, समिते सहिते सया जए कालकांखी परिठवए ।

सं०—लोके परमदर्शी विवित्तजीवी उपशान्तः समितः सहितः सदा यतः कालकाङ्क्षी परिव्रजेत् ।

जो लोक में परम को देखता है, वह विवित्त जीवन जीता है । वह उपशान्त, सम्यक् प्रवृत्त, सहिष्णु और सदा अप्रमत्त होकर जीवन के अन्तिम क्षण तक परिव्रजन करता है ।

भाष्यम् ३८—ज्ञानी पुरुषः यथा चर्यया परिव्रजति—जीवनं यापयति, सा सप्तसूत्र्या अत्र प्रदर्शिता—

ज्ञानी पुरुष जिस चर्या से जीवन यापन करता है, उसके सात सूत्र ये हैं—

- (१) तादृशः पुरुषः परमदर्शी—जीवस्य पारिणामिक-भावदर्शी चैतन्यदर्शी वा भवति ।
- (२) स विवित्तजीवी—रागद्वेषमुक्तजीवी एकान्तजीवी वा भवति । यः परमदर्शी भवति स एव विवित्त-जीवी भवितुमर्हति ।
- (३) स उपशान्तः—इन्द्रियमनसोरुपशमकारको भवति ।
- (४) स समितः<sup>१</sup>—लक्ष्यं प्रति केन्द्रितो भवति ।
- (५) स सहितः<sup>२</sup>—सहिष्णुः भवति ।
- (६) स सदा यतः—संयमवान् भवति ।
- (७) स कालकांक्षी—मृत्युं प्रति अनुद्विग्नो भवति, तटस्थ-भावेन तं पश्यति, न ततो भीतो भवति, न च तं प्रति उत्सुको भवति ।

१. वैसा पुरुष परमदर्शी—जीव के परिणामिकभाव को देखने वाला अथवा चैतन्य को देखने वाला होता है ।
२. वह विवित्तजीवी—राग द्वेष से मुक्त होकर जीने वाला अथवा एकान्तजीवी होता है । जो परमदर्शी होता है वही विवित्तजीवी हो सकता है ।
३. वह उपशान्त इन्द्रिय और मन का उपशमन करने वाला होता है ।
४. वह समित—अपने लक्ष्य के प्रति केन्द्रित होता है ।
५. वह सहित—सहिष्णु होता है ।
६. वह सदा यत—संयमवान् होता है ।
७. वह कालकांक्षी—मृत्यु के प्रति अनुद्विग्न होता है । वह तटस्थ-भाव से मृत्यु को देखता है । वह न उससे भयभीत होता है और न उसके प्रति उत्सुक होता है ।

१. (क) आटे, समितः—Connected with, united with.

(ख) आचारांग चूर्ण पृष्ठ ११४ : समिते—इरियाति-समिते ।

(ग) आचारांग वृत्ति, पत्र १४६ : पञ्चभिः समितिभिः सम्यग् वा इतो—गतो मोक्षमार्गं समितः ।

२. (क) आटे, सहितः Borne, endured.

(ख) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ११४ : सहिते—नाणावि सहितो, अहवा विवित्तजीवित्तेण उवसमेण समितोहिय समयगततथा सहितो ।

(ग) आचारांग वृत्ति, पत्र १४६ : सहितः—समन्वितो । चूर्णवृत्तिकृतोऽर्थः अठ्याहृतो वृश्यते । सहितस्य स्वतन्त्रोऽर्थः प्रासंगिकोऽस्ति ।

३६. बहुं च खलु पापकर्मं पगडं ।

सं०—बहु च खलु पापकर्मं प्रकृतम् ।

इस जीव ने अतीत में बहुत पापकर्म किए हैं ।

भाष्यम् ३९—‘कालकंठी परिष्वए’ (सूत्र ३।३८)—  
अस्य तात्पर्यमस्ति यावज्जीवं शीतं उष्णं सहमानः  
परिव्रजेत् । किमर्थमेतावन्तं दीर्घं कालं परिव्रजेत्  
इत्याशङ्कायां सूत्रकारो निर्दिशति—अतीते काले बहु  
पापकर्म प्रकृतमस्ति । तद् नाल्पेन कालेन क्षीणतां नेतुं  
शक्यम् । तत्क्षयार्थं दीर्घकालः अपेक्षितोऽस्ति ।

‘कालकंठी परिष्वए’—इसका तात्पर्य है कि साधक जीवन-  
पर्यन्त शीत और उष्ण—अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को सहन  
कर परिव्रजन करे । प्रश्न होता है कि इतने दीर्घकाल तक (शीत और  
उष्ण को) सहन करते हुए क्यों परिव्रजन किया जाए ? इसके  
समाधान में सूत्रकार कहते हैं—अतीत में बहुत सारे पापकर्म किए हैं ।  
उनका क्षय अल्प समय में नहीं किया जा सकता । उनको क्षीण करने  
के लिए दीर्घकाल की अपेक्षा होती है ।

४०. सच्चंसि धृति कुव्वह ।

सं०—सत्ये धृति कुव्वह ।

तु सत्य में धृति कर ।

भाष्यम् ४०—सत्यं इति सत्, सद्भावः, तत्त्व, तथ्यं,  
सार्वभौमनियमः, भूतोद्भावनं, संयमः, कायभाव-  
भाषाणां ऋजुता, अविस्वादनयोगः, यथार्थवचनं,  
अर्गहितवचनं, व्यवहाराश्रितवाक्यं प्रतिज्ञा वा ।

‘सत्य’ पद के ये अर्थ हैं—(१) सत्, (२) सद्भाव, (३) तत्त्व,  
(४) तथ्य, (५) सार्वभौमनियम, (६) भूतोद्भावन, (७) संयम,  
(८) काय, भाव और भाषा की ऋजुता तथा अविस्वादनयोग,  
(९) यथार्थवचन, (१०) अर्गहितवचन, (११) व्यवहाराश्रित वचन  
और (१२) प्रतिज्ञा ।

सत्—‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्’ । अत्र ‘सत्’ इति  
पदं अस्तित्वात्मकं सत्यं संबध्नाति ।

सत्—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त होता है वह सत् है । यहां  
‘सत्’ शब्द अस्तित्वात्मक सत्य का वाचक है ।

सद्भावः—निश्चयनयः—‘तहियाणं तु भावाणं,  
सब्भावे उवएसणं ।’<sup>१</sup>

सद्भाव—निश्चय दृष्टि का वाचक ।

तत्त्वम्—द्रव्यस्य यथार्थं स्वरूपम्—चेतनतत्त्वमेव  
सत्यं, अचेतनतत्त्वं मिथ्या अथवा अचेतनतत्त्वमेव सत्यं  
चेतनतत्त्वं मिथ्या इति नास्ति सम्मतम् । चेतनतत्त्वमपि  
सत्यं, अचेतनतत्त्वमपि सत्यं इत्यभिमतम् ।

तत्त्व—द्रव्य का यथार्थ स्वरूप । चेतनतत्त्व ही सत्य है और  
अचेतनतत्त्व मिथ्या है अथवा अचेतनतत्त्व ही सत्य है और चेतनतत्त्व  
मिथ्या है—यह सम्मत नहीं है । चेतनतत्त्व भी सत्य है और अचेतन-  
तत्त्व भी सत्य है—ऐसा अभिमत है ।

भूतोद्भावनम्—यथार्थस्य प्रतिपादनम्, यथा—  
अस्ति आत्मा परलोकश्च ।

भूतोद्भावन—यथार्थ का प्रतिपादन, जैसे— आत्मा है, परलोक  
है ।

संयमः—सत्यः संयमः इति आचारांगवृत्तौ ।<sup>२</sup>

संयम—आचारांग की वृत्ति में सत्य का अर्थ है—संयम ।

‘काय-भाव-भाषाणां ऋजुता अविस्वादनयोगः’ इति  
स्थानांगे—चउव्विहे सच्चे पण्णत्ते, तं जहा—काउज्जु-  
यया, भासुज्जुयया, भावुज्जुयया, अविस्वायणाजोगे ।

स्थानांग के अनुसार सत्य के चार प्रकार हैं—काया की  
ऋजुता, भाव की ऋजुता, भाषा की ऋजुता तथा योगों की  
अविस्वादिता ।

व्यवहाराश्रितवाक्यम्—दसविहे सच्चे पण्णत्ते, तं  
जहा—

व्यवहाराश्रितवचन—सत्य के दस प्रकार हैं, जैसे—

१. तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्, ५।२९ ।

२. उत्तरज्ज्ञयणाणि, २५।१५ ।

३. आचारांग वृत्ति, पत्र १४७ ।

४. अंगसुत्ताणि १, ठाणं ५।१०२ ।

५. वही, ठाणं १०।८९ ।

‘जगद्वय सम्मय ठवणा, नामे ऋवे पदुस्वसञ्चे य ।  
ववहार भाव जोगे, दसमे ओवम्मसञ्चे य ॥’

प्रतिज्ञा इति आचारांगचूर्णो—जहापरिणं अणुपालं-  
तेण सच्चं ।’

अस्मिन् प्रकरणे सत्यशब्दस्य प्रयोगः सार्वभौमनियमे  
संयमे च वर्तते, यथा—

१. अस्ति कर्म ।
२. कृतं कर्म भोक्तव्यम् ।
३. उदीरणाकरणेन कर्मणो भोगे परिवर्तनमपि  
जायते ।
४. उदीरणादिकरणानां साधनमस्ति संयमः ।

कर्मणः क्षयार्थं धृतिरपि नितान्तमपेक्षितास्ति । यस्य  
सत्ये धृतिर्भवति स एव पूर्वाजितं कर्म क्षीणतां नेतुं  
शक्नोति ।

द्रष्टव्यं सूत्रद्वयम्—३।६५, ६६ ।

४१. एत्थोवरए मेधावी सर्वं पापकम्मं झोसेति ।

सं०—अत्रोपरतः मेधावी सर्वं पापकर्म क्षपयति ।

संयत अथवा विरत मेधावी सब पापकर्म को क्षीण कर डालता है ।

भाष्यम् ४१—अत्र य उपरतः—संयतो विरतो\* वा  
भवति स सर्वं पापकर्म क्षपयति । पापकर्मक्षपणस्य  
उपायोस्ति संयमः । अस्मिन् सूत्रे स एव मुख्यत्वेन  
प्रदर्शितः ।

यः संयमे उपरतः—सामीप्येन रतो भवति\*, स सर्वं  
पापकर्म क्षपयति । अयं वैकल्पिकोर्थोऽपि सम्मतः ।

४२. अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरइत्तए ।

सं०—अनेकचित्तः खलु अयं पुरुषः स केतनं अर्हति पूरयितुम् ।

यह पुरुष अनेक चित्त वाला है । वह चलनी को भरना चाहता है ।

भाष्यम् ४२—अयं प्रमत्तः पुरुषः लोभाभिभूतः सन्  
अनेकचित्तो भवति । नानाविधेषु अर्थोपार्जनहेतुभूतेषु  
व्यवसायेषु तस्य चित्तं प्रवर्तते । स केतनं पूरयितुं  
अर्हति—इच्छति ।

द्रव्यकेतनम्—चालनी, भावकेतनम्—इच्छा । अस्य  
तात्पर्यम्—लोभेच्छा व्याकुलमतिः पुरुषः शक्याशक्य-  
विचाराक्षमः अशक्यानुष्ठानेऽपि प्रवर्तते । अन्यथा दुष्पूरा

जनपद सत्य, सम्मत सत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य, रूप सत्य,  
प्रतीत्य सत्य, व्यवहार सत्य, भाव सत्य, योग सत्य तथा औपम्य  
सत्य ।

आचारांग चूर्ण में सत्य का अर्थ है—प्रतिज्ञा । प्रतिज्ञा के  
अनुसार (व्रतों का) पालन करना सत्य है ।

प्रस्तुत प्रकरण में ‘सत्य’ शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ  
है—सार्वभौम नियम तथा संयम । जैसे—

१. कर्म है ।
२. किए हुए कर्मों को भोगना पड़ता है ।
३. उदीरणा के द्वारा कर्मों के भोग में परिवर्तन भी  
होता है ।
४. उदीरणा आदि ‘करणों’ का साधन है—संयम ।

कर्मों के क्षय के लिए धृति भी नितान्त अपेक्षित होती है ।  
जिस साधक की सत्य में धृति होती है, वही पूर्वाजित कर्मों को क्षीण  
करने में समर्थ होता है ।

देखें दोनों सूत्र—३।६५ तथा ६६ ।

यहां जो उपरत—संयत या विरत होता है वह सभी पाप-  
कर्मों को क्षीण कर डालता है । पापकर्म को क्षीण करने का उपाय  
है संयम । प्रस्तुत सूत्र में उसी का मुख्यरूप में प्रतिपादन है ।

जो संयम में उपरत होता है, संलग्न होता है, वह सभी  
पापकर्मों को क्षीण कर डालता है । यह वैकल्पिक अर्थ भी सम्मत है ।

यह प्रमत्त पुरुष लोभ से अभिभूत होकर अनेकचित्त वाला हो  
जाता है । उसका चित्त धनोपार्जन के हेतुभूत विभिन्न व्यवसायों में  
प्रवर्तित रहता है । वह केतन—चलनी को (पानी से) भरना चाहता  
है ।

द्रव्य केतन है—चलनी और भाव केतन है—इच्छा ।  
इसका तात्पर्य है—लोभ की इच्छा से आकुल-व्याकुल पुरुष  
शक्य और अशक्य का चिंतन नहीं कर सकता और वह अशक्य

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ११४ ।

२. वही, पृष्ठ ११५ : उवरतो णिब्बित्तो ।

३. आचारांग वृत्ति, पत्र १४७ : अत्र अस्मिन् संयमे भगवद्-  
वचसि वा उप—सामीप्येन रतः—व्यवस्थितः ।

इच्छा कथं पूरयितुं शक्या । उक्तं चोत्तराध्ययने—

‘सुबन्धुर्गुणस्त उ पश्यवा भवे,  
सिया ह केलाससभा असंख्या ।  
नरस्त लुब्धस्त न तेहि किंचि,  
इच्छा ह आगाससभा अर्णतिथा ॥’<sup>१३</sup>

‘जहा साहो तथा लोहो, साहा लोहो पबहुई ।  
वोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निद्वियं ॥’<sup>१४</sup>

लाभेन नेच्छा पूर्णा भवति—

‘न शयानो अयेन्निद्रां, न भुञ्जानो जयेत् भुधाम् ।  
न काममानः कामानां, लाभेनेह प्रशान्यति ।’<sup>१५</sup>

अनुष्ठान में भी प्रवृत्त हो जाता है । अन्यथा इस दुष्पूर इच्छा की पूर्ति कैसे की जा सकती है ? उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—

‘कदाचित् सोने और चांदी के कैलास के समान असंख्य पर्वत हो जायें, तो भी लोभी पुरुष को उनसे कुछ भी नहीं होता, क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है ।’

‘जैसे लाभ होता है वैसे ही लोभ होता है । लाभ से लोभ बढ़ता है । दो माशे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड़ से भी पूरा नहीं हुआ ।’

लाभ से इच्छा पूरी नहीं होती—

‘शयन से नींद पर, भोजन से भूख पर विजय नहीं पाई जा सकती । इसी प्रकार कामनाओं के लाभ (पूर्ति) से काम को शान्त नहीं किया जा सकता, उसको नहीं जीता जा सकता ।’

४३. से अणवहाए अणपरियावाए अणपरिग्हाए, जणवयवहाए जणवयपरियावाए जणवयपरिग्हाए ।

सं० --स अन्यवधेन अन्यपरितापेन अन्यपरिग्रहेण जनपदवधेन जनपदपरितापेन जनपदपरिग्रहेण ।

तृष्णाकुल मनुष्य दूसरों के वध, परिताप और परिग्रह तथा जनपद के वध, परिताप और परिग्रह के लिए प्रवृत्ति करता है ।

भाष्यम् ४३—स अनेकचित्तः पुरुषः यैः प्रकारैः  
अर्थमुपार्जयति, ते केचित् प्रदर्शयन्ते—

अनेक चित्त वाला पुरुष जिन प्रकारों से धन कमाता है, वे कुछेक प्रकार यहां निर्दिष्ट हैं—

१. अन्यवधः—यथा चौरा धनिकं मारयित्वा धनं गृह्णन्ति ।
२. अन्यपरितापः—शस्त्रप्रहारैः परं परितप्तं कृत्वा केचिद् धनं गृह्णन्ति ।
३. अन्यपरिग्रहः—शक्तिप्रयोगपूर्वकं दासदासीभृत्याऽ-बलादीनां परिग्रहः, तेषां परतन्त्रतापादनम् ।
४. जनपदवधः } यथा केचिद् राजानो लोभा-
५. जनपदपरितापः } भिभूताः जनपदस्य वधाय परि-  
तापाय च प्रवर्तन्ते ।
६. जनपदपरिग्रहः—केचिन्ममैतद् राज्यं राष्ट्रं वा इति ममत्वं कुर्वन्ति तथा परराज्यमपि विक्रमेण परिगृह्णन्ति ।

१. अन्यवध—जैसे चोर धनिकों की हत्या कर धन चुराते हैं ।
२. अन्यपरिताप—कुछ व्यक्ति शस्त्र के प्रहारों से दूसरों को परितप्त कर धन का हरण करते हैं ।
३. अन्यपरिग्रह—अपनी शक्ति का उपयोग कर दास, दासी, भृत्य, स्त्रियों आदि को अपने अधीन करते हैं ।
४. जनपदवध— } जैसे कई राजा लोभ के वशीभूत होकर
५. जनपदपरिताप— } जनपद में निवास करने वाले व्यक्तियों का वध करने या परिताप देने में प्रवृत्त होते हैं ।
६. जनपदपरिग्रह—कई राजा यह राज्य या राष्ट्र मेरा है, ऐसा ममत्व रखते हैं और दूसरे राज्यों को भी अपने पराक्रम से जीत लेते हैं ।

४४. आसेवित्ता एतमट्ठं इच्छेवेगे समुट्ठिया, तम्हा तं बिइयं नो सेवए ।

सं० - आसेव्य एतमर्थं इत्येवैके समुत्थिताः, तस्मात् तं द्वितीयं नो सेवते ।

कुछ व्यक्ति परिग्रह, वध आदि का आसेवन कर अंत में संयम-साधना में लग जाते हैं । इसलिए वे फिर उस काम-भोग एवं हिंसा आदि का आसेवन नहीं करते ।

भाष्यम् ४४—एतमर्थं परिग्रहं तदर्थं जायमानां  
हिंसामासेव्यापि एके समुत्थिता भवन्ति, यथा भरतः

कुछ व्यक्ति परिग्रह और उसके लिए होने वाली हिंसा का आसेवन करके भी संयम की साधना के लिए तत्पर हो जाते हैं । जैसे

१. उत्तरज्जयणाणि, १।४८ ।

२. वही, ८।१७ ।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ११५ ।

चक्रवर्ती सन्नपि समुत्थितः, अर्जुनमाली च वधप्रवृत्तोपि समुत्थितः । यदि परिग्रहः हिंसा च समाधानं भवेत् तदा किमर्थं भरतादयः समुत्थिता अभवन् ? एतेन ज्ञायते यद् आसेव्यमाना विषया न तृप्तिं जनयन्ति परिग्रहोपि च । हिंसापि न मनसः शान्तिं निष्पादयति । तस्माद् विषयान् परिग्रहं हिंसां च परित्यज्य द्विनसिवेत ।

महाराज भरत चक्रवर्ती होने पर भी संयम की साधना के लिए तत्पर हो गए और लोगों के वध में प्रवृत्त अर्जुनमाली भी संयम-साधना के लिए उद्यत हो गया । यदि परिग्रह और हिंसा जीवन का समाधान होता तो भरत आदि संयमी क्यों बनते ? इससे जाना जाता है कि भोगे जाने वाले विषय तथा परिग्रह व्यक्ति को तृप्त नहीं करते । हिंसा भी मानसिक शांति नहीं देती, इसलिए विषय, परिग्रह और हिंसा का परित्याग कर उनका पुनः आसेवन नहीं करना चाहिए ।

४५. निस्सारं पासिय णाणो, उववायं चवणं णच्चा । अणणं चर माहणे !

सं० -- निस्सारं दृष्ट्वा ज्ञानी, उपपातं च्यवनं ज्ञात्वा, अनन्यं चर माहन !

ज्ञानी ! तू वेष्ट ! विषय निस्सार हैं । तू जान ! जन्म और मृत्यु निश्चित है । अतः हे माहन ! तू अनन्य—आत्मा में रमण कर ।

भाष्यम् ४५—अनन्यं यश्चरति स एव विषयादीनां सेवनं त्यक्तुमर्हति । अनन्यं—चैतन्यम् । एतत् शाश्वतं सदाहितकरत्वात् सारभूतं च । नान्यः कोपि पदार्थ ईदृशो भवति । सर्वेपि विषया अनित्यत्वान्निस्साराः । सर्वापि लोको जन्ममरणचक्रपरिघट्टितः । सूत्रकार उपदिशति— हे माहन ! त्वं अनन्यं चर । अनन्यचरणस्य द्वौ हेतु— विषयाणां निस्सारतादर्शनं जन्ममरणपरम्परायाश्च ज्ञानम् । स एव ज्ञानी यो द्वयमिदं यथार्थं वेत्ति ।

जो पुरुष अनन्य में रमण करता है, वही विषय आदि के आसेवन को छोड़ सकता है । अनन्य का अर्थ है—चैतन्य । वह शाश्वत है, सदा हितकारी होने के कारण सारभूत है । दूसरा कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं होता । सभी विषय अनित्य होने के कारण निस्सार हैं । सारा संसार जन्म और मृत्यु के चक्र में पिसा जा रहा है । सूत्रकार कहते हैं— हे माहन ! तू अनन्य—आत्मा में रमण कर । आत्मा में रमण करने के दो हेतु हैं—विषयों की निस्सारता का दर्शन (अनुभव) और जन्म-मरण की परम्परा का ज्ञान । ज्ञानी वही होता है जो दोनों हेतुओं को यथार्थरूप में जानता है ।

४६. से ण छणे ण छणावए, छणंतं णाणुजाणइ ।

सं०— स न क्षणोति न क्षणयति क्षण्वन्तं नानुजानाति ।

वह अहिंसक मनुष्य जीवों की हिंसा न करता है, न कराता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है ।

भाष्यम् ४६—अनन्यचरणस्य प्रथमं लक्षणमस्ति अहिंसा । स माहनः अनन्यं चरन् न कमपि प्राणिनं हन्ति न घातयति न च घ्नन्तमप्यनुजानाति ।

आत्मरमण का पहला लक्षण है—अहिंसा । वह माहन—अहिंसक व्यक्ति आत्मा में रमण करता हुआ किसी भी प्राणी की न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से कराता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है ।

४७. णिविदं गंदि अरते पयासु ।

सं० -- निविन्दस्व नन्दी अरतः प्रजामु ।

तू कामभोग के आनन्द से उदासीन बन । स्त्रियों में अनुरक्त मत बन ।

भाष्यम् ४७—अनन्यं चरतो द्वितीयं लक्षणमस्ति ब्रह्मचर्यम् । नन्दी—प्रमोदः । विषयेषु जायमानां नन्दी प्रति निर्वेदं कुरु अथवा एते गब्दादयो विषयाः किम्पाक-फलसमाना इति निविद्धि—निश्चितं जानीहि । एतद् विदित्वा प्रजामु—स्त्रीषु अरतो भव ।

आत्मरमण का दूसरा लक्षण है—ब्रह्मचर्य । नन्दी का अर्थ है—प्रमोद । विषयों में होने वाले प्रमोद के प्रति तुम विरक्ति करो अथवा यह निश्चित जानो कि ये शब्द आदि विषय किम्पाकफल के सदृश हैं । यह जानकर स्त्रियों से विरत हो जाओ ।



४८. अणोमदंसी णिसन्ने पावेहि कम्मोहि ।

सं० - अनवमदर्शी निषण्णः पापेषु कर्मसु ।

आत्मा को देखने वाला पुरुष पापकर्म का आवर नहीं करता ।

भाष्यम् ४८—अवमं—हीनम् । अनवमं—उत्तमम् । यः अवमान् विषयान् विहाय अनवमं आत्मानं पश्यति स पापेषु कर्मसु निषण्णः—कृतानादरः अनुन्नतो वा भवति ।

चूर्णो 'अणोमदंसी उत्तमसम्मद्विद्दी' इति व्याख्या-  
तमस्ति । तेनेति ज्ञायते उत्तमसम्मद्विष्टः पुरुषः पापेषु  
कर्मसु न प्रवर्तते ।

अवम का अर्थ है—हीन और अनवम का अर्थ है—उत्तम ।  
जो साधक अवम विषयों को छोड़ कर अनवम आत्मा को देखता है,  
वह पापकारी प्रवृत्तियों का आदर नहीं करता अथवा उनके  
प्रति उत्सुक नहीं होता ।

चूर्ण में अनवमदर्शी का अर्थ उत्तम सम्मद्विष्ट किया है ।  
उससे यह ज्ञात होता है कि उत्तम सम्मद्विष्ट पुरुष पापकर्मों में  
प्रवृत्त नहीं होता ।

४९. कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं । तस्मा हि वीरे विरते बहाओ, छिन्देज्ज सोयं लघुभूतगामी ।

सं० - क्रोधातिमानं हन्यात् च वीरः, लोभं पश्य निरयं महान्तम् । तस्मात् हि वीरः विरतः वधात्, छिन्द्यात् स्रोतो लघुभूतकामी ।

वीर पुरुष क्रोध और अतिमान को नष्ट करे । लोभ को महान् नरक के रूप में देखे । इसलिए लघुभूतकामी वीर पुरुष बध से  
विरत होकर स्रोत को छिन्न कर डाले ।

भाष्यम् ४९—पापानि कर्माणि क्रोधादयः । तेन  
निदिश्यते—वीरः पुरुषः क्रोधं अतिमानं च हन्यात्,  
लोभं महान्तं नरकं पश्येत् । चूर्णकारेण प्रत्यपादि—  
'पायसो लोभेण महंतो णरयो णिव्वत्तिज्जति, जेण उरगा पंचमि  
जंति लोभुक्कडत्ता य मच्छा मणुगा य सत्तमि ।'<sup>१</sup>

तस्माद् लघुभूतकामी वीरः लोभहेतुकाद् वधाद्  
विरतो भवेत्, स्रोतः—रागद्वेषौ च छिन्द्यात् । आत्मानं  
लघुभूतं कामयते इति लघुभूतकामी । लघुभूतः—संयमः,  
तं कामयते इति लघुभूतकामी । लघुभूतगामी वा,  
लघुभूतो—वायुः तद्वद् गमनशीलः लघुभूतगामी—  
अप्रतिबद्धविहारी इति यावत् ।

क्रोध आदि पापकर्म हैं । इसलिए निर्देश दिया गया है कि वीर  
पुरुष क्रोध और अतिमान को नष्ट करे । लोभ को महान् नरक के  
रूप में देखे । चूर्णकार कहते हैं—लोभ से प्रायः महान् नरक की  
प्राप्ति होती है । लोभ के कारण उरग पांचवीं नरक में जाते हैं  
और लोभाकुल मत्स्य और मनुष्य सातवीं नरक में जाते हैं ।

इसलिए लघुभूतकामी वीर पुरुष लोभ के कारण होने  
वाले बध से विरत हो और स्रोत—राग-द्वेष का छेदन करे । जो  
स्वयं को लघुभूत (हल्का) करने की कामना करता है, वह  
लघुभूतकामी कहलाता है । लघुभूत का एक अर्थ है—संयम । जो  
संयम की कामना करता है, वह लघुभूतकामी कहलाता है । लघुभूत-  
गामी मानकर भी इसकी व्याख्या की जा सकती है । लघुभूत का अर्थ  
है—वायु । जो वायु की भांति गमनशील होता है, वह है लघुभूतगामी  
अर्थात् अप्रतिबद्धविहारी ।

१. चूर्णो वृत्तौ च 'क्रोधादिमानम्' इति व्याख्यातमस्ति—

(क) आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ११७ : कोहपुव्वगो य माणो  
तेण कोहादि, कहं ? जातिमंतो हीणजातो मणितो  
पुव्वं ता कुज्जति, पच्छा मज्जति, मम एसो जाति  
कुलं वा णिदति अतो कोहादि ।

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र १४८; 'क्रोधः आदिर्येषां ते  
क्रोधादयः ।' अत्र आदिपदस्य अर्थो नावगम्यते, तेन  
अइमाण इति पदमस्माभिः व्याख्यातम् । सूत्रकृतंगेपि

अस्य प्रयोगो दृश्यते—'अतिमाणं च मायं च ।'

[सूयगडो १।१।३४]

२. अत्र झूलपाठे द्वितीयास्थाने षष्ठी अस्ति ।

३. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ११७ : इह तु ठित्ती विवस्सिया,  
वेयणा वा, अप्पइट्ठानो छित्ततो सव्वखुद्धो ठित्तिवेयणाहि  
महंतो ।

४. बही, पृष्ठ ११७ ।

५०. गंथं परिष्णाय इहज्जेव वीरे, सोयं परिष्णाय चरेज्ज इते । उम्मज्ज लद्धुं इह माणवेहि, णो पाणिणं पाणे समारभेज्जासि । —त्ति वेमि ।

सं०— ग्रन्थं परिष्णाय इहाद्यैव वीरेः, स्रोतः परिष्णाय चरेद् दान्तः । उन्मज्जनं लब्ध्वा इह मानवेषु, नो प्राणिनः प्राणान् समारभेत । इति ब्रवीमि ।

इन्द्रियजयी और वीर पुरुष परिग्रह को जानकर, राग-द्वेष को तत्काल छोड़ कर विचरण करे । मनुष्य इस जन्म में ही उन्मज्जन को प्राप्त हो सकता है । उसे प्राप्त कर वह प्राणियों के प्राणों का समारम्भ न करे । --ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ५०—यस्य इन्द्रियाणि मनश्च उपशान्तानि स दान्तो वीरः इह अद्यैव—अचिरात् परिग्रहं तत्कारण-भूतो रागद्वेषौ च परिष्णाय चरेत् ।

रागद्वेषात्मकं स्रोतः; तद्धेतुकः परिग्रहः; तद्धेतुका च हिंसा । एतत् सर्वं निमज्जनम् । एतत् सर्वेषु प्राणिषु दृश्यते, किन्तु उन्मज्जनं केवलं मनुष्येष्वेव । एतद् उन्मज्जनं—स्रोतानिरोधं अपरिग्रहं च लब्ध्वा दान्तः पुरुषः नो प्राणिनां प्राणान् समारभेत ।

ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षसाधनानि, तत्र ज्ञान-दर्शने अमनुष्येष्वपि भवतः; किन्तु चारित्रं केवलं मनुष्येष्वेव । अतः उन्मज्जनं चारित्रमित्यपि परिभाषितुं शक्यम् । ज्ञानदर्शने अपि चारित्रयोगं प्राप्य पूर्णसार्थकतां गच्छतः ।

जिसकी इन्द्रियां और मन उपशान्त हैं वह दान्त और वीर पुरुष परिग्रह और उसके कारणभूत राग-द्वेष को भली प्रकार से जानकर तथा तत्काल छोड़कर विहरण करे ।

राग और द्वेष—ये दो स्रोत हैं । उनके लिए परिग्रह होता है और परिग्रह के लिए हिंसा होती है । यह सारा निमज्जन—डूबना है । सभी प्राणियों में यह निमज्जन है, केवल मनुष्य में ही उन्मज्जन है । उन्मज्जन है—स्रोतों का निरोध और अपरिग्रह । इस उन्मज्जन को प्राप्त कर दान्त पुरुष प्राणियों के प्राणों का हनन न करे ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये मोक्ष के साधन हैं । ज्ञान और दर्शन अमनुष्य अर्थात् नरक, तिर्यञ्च और देव में भी होते हैं, किन्तु चारित्र केवल मनुष्यों में ही होता है । इसलिए उन्मज्जन का अर्थ चारित्र भी किया जा सकता है । चारित्र का योग पाकर ज्ञान-दर्शन भी पूर्ण सार्थक बन जाते हैं ।

## तइओ उद्देशो : तीसरा उद्देशक

५१. संधिं लोकास्य जाणित्ता ।

सं०—संधिं लोकस्य ज्ञात्वा ।

सभी प्राणी जीना चाहते हैं, इस संधि को जानकर प्रमाद न करे ।

भाष्यम् ५१—अत्र सन्धिपदं अभिप्रायवाचकमस्ति । 'सर्वे जीवा जीवितुमिच्छन्ति न तु मर्तुम्' इति लोकस्य—भूतग्रामस्य समानः सन्धिर्वर्तते । एवं ज्ञात्वा न प्रमादः आसेवनीयः । एष हिंसाविरतेः प्रथमो हेतुः ।

प्रस्तुत सूत्र में 'संधि' शब्द अभिप्रायवाचक है । 'सभी प्राणी जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता—यह सभी प्राणियों का समान अभिप्राय है । यह जानकर प्रमाद नहीं करना चाहिए । यह हिंसा-विरति का पहला हेतु है ।

५२. आयओ बहिया पास ।

सं०—आत्मनः बहिः पश्य ।

तू बाह्य—स्वयं से भिन्न प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देख ।

भाष्यम् ५२—त्वं बाह्यं—स्वतो भिन्नं भूतग्रामं आत्मवत् पश्य । यथा आत्मनः अप्रियं दुःखं तथा सर्व-स्यापि भूतग्रामस्य इति हिंसाविरतेद्वितीयो हेतुः ।

तू बाह्य अर्थात् स्वयं से भिन्न प्राणियों को आत्मतुल्य (अपने समान) देख । जैसे स्वयं को दुःख अप्रिय है वैसे ही सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है, यह हिंसा-विरति का दूसरा हेतु है ।

५३. तम्हा ण हंता ण विघायए ।

सं०—तस्मात् न हन्ता न विघातयेत् ।

इसलिए जीवों का स्वयं हनन न करे और न दूसरों से करवाए ।

भाष्यम् ५३—तस्माद् उक्तहेतुद्वयं समीक्ष्य न स्वयं भूतग्रामं हन्यात् न चान्यैर्विघातयेत् ।

इसलिए इन दोनों हेतुओं (सूत्र ५१-५२) की समीक्षा कर मनुष्य न स्वयं प्राणियों की हिंसा करे और न दूसरों से करवाए ।

५४. जमिणं अण्णमण्णवित्तिगिच्छाए, पडिलेहाए ण करेइ पावं कम्मं, किं तत्थ मुणी कारणं सिया ?

सं०—यदिदं अन्योन्यविचिकित्साया प्रतिलिख्य न करोति पापं कर्म, किं तत्र मुनिः कारणं स्यात् ?

जो परस्पर एक-दूसरे की आशंका से या दूसरे के देखते हुए पाप-कर्म नहीं करता, क्या उसका कारण जानी होना है ?

भाष्यम् ५४—पापकर्मणः अकरणं द्विहेतुकं भवति—अध्यात्मज्ञानहेतुकं अन्योन्यविचिकित्साहेतुकं च । विचिकित्सा नाम शंका, भयं, लज्जा वा । परस्परं विचिकित्सामाश्रित्य कश्चित् पापं कर्म न करोति अथवा प्रतिलेखां—प्रेक्षामाश्रित्य परः पश्यतीति कृत्वा पापं कर्म न करोति । किं तत्र मुनिः कारणं स्यात् ? काक्वा पृष्टस्य प्रश्नस्य इदमुत्तरं भवति—यद् विचिकित्सा-संप्रयोगेण पापकर्मणोऽकरणे मुनिः कारणं न स्यात्, न तदध्यात्मज्ञानहेतुकमिति तात्पर्यम् ।

पापकर्म का आचरण न करने के दो हेतु हैं—आध्यात्मिक ज्ञान तथा पारस्परिक विचिकित्सा । विचिकित्सा का अर्थ है—शंका, भय, लज्जा । परस्पर एक-दूसरे की आशंका के कारण कोई व्यक्ति पापकर्म का आचरण नहीं करता अथवा कोई दूसरा देख रहा है, इसलिए पापकर्म का आचरण नहीं करता । क्या उस पापकर्म के न करने का कारण मुनि—जानी होना है ? काकुध्वनि से पूछे गए इस प्रश्न का उत्तर यह है—परस्पर एक दूसरे की आशंका से पापकर्म न करना उसका हेतु जानी होना नहीं है । तात्पर्य की भाषा में उसका हेतु अध्यात्मज्ञान नहीं है ।

५५. समयं तत्थवेहाए, अप्पाणं विप्पसायए ।

सं०—समतां तत्र उपेक्ष्य आत्मानं विप्रसादयेत् ।

पुरुष जीवन में समता का आचरण कर अपने चित्त को प्रसन्न करे ।

भाष्यम् ५५—समतामुपेक्ष्य<sup>१</sup> पापकर्मणोऽकरणं, तत्र मुनिः कारणं स्यात् । समतापूर्वकं पापकर्मणो विरमण-मध्यात्मज्ञानहेतुकं भवति । समभावः समता । परेषां प्रत्यक्षे परोक्षे च समाना प्रवृत्तिर्वा समता । यथोक्तं दशवैकालिकसूत्रे—'दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा ।' यः परैर्दृश्यमानो यथा हिंसादीन् आश्रवान् परिहरति तथा परैर्दृश्यमानोऽपि तान् नाचरति, तेन तस्यात्मनो विशिष्टः प्रसादो जायते । विप्रसादः—चित्तस्थ प्रसन्नता निर्मलता वा । यश्च प्रत्यक्षे किञ्चिदन्वयत् करोति परोक्षे च किञ्चिदन्वया-चरति, तस्य चित्तं मायाचारेण मलिनं भवति, कुतरतत्र प्रसन्नता भवेत् ?

समता को समझकर—हृदयंगम कर पापकर्म न करना, वहाँ मुनि कारण बनता है । समतापूर्वक पापकर्म से विरत होना—इसका हेतु अध्यात्मज्ञान है । समता का अर्थ है—समभाव । अथवा दूसरों के प्रत्यक्ष या परोक्ष में समान प्रवृत्ति करना समता है । जैसा कि दशवैकालिक सूत्र में कहा है—दिन में या रात में, अकेले में या समूह के बीच, सोते या जागते मनुष्य को पाप-कर्म से बचना चाहिए । जो व्यक्ति दूसरों के देखते हुए हिंसा आदि आश्रवों का परिहार करता है वैसे ही वह दूसरों के न देखते हुए भी हिंसा आदि का आचरण न करे । उससे उसके मन में विशेष आनन्द की अनुभूति होती है । विप्रसाद का अर्थ है—चित्त की प्रसन्नता अथवा चित्त की निर्मलता । जो व्यक्ति सामने कुछ और करता है 'और पीछे कुछ और ही करता है, उसका चित्त माया के आचरण के कारण मलिन होता है । उसमें चित्त की प्रसन्नता कहां से होगी ?

निविचारता वा समता । यत्र रागात्मको द्वेषात्मको वा विचारो न भवति तत्र समता जायते । तस्यां

समता का एक अर्थ है—निविचारता । जहाँ रागात्मक या द्वेषात्मक विचार नहीं होता वहाँ समता का आचरण होता है । उस

१. उप—सामीप्येन ईक्षा—उपेक्षा । चूर्णो (पृष्ठ ११९) उवेच्च इवखा उविवखा—इति व्याख्यातमस्ति ।

वृत्तौ (पत्र १५०) उत्प्रेक्ष्य—पर्यालोच्य इति व्याख्यातम् ।  
२. वसवेभालियं, ४/सूत्र १८ ।

अवस्थायामात्मप्रसादः भूतार्थविषयः प्रज्ञालोको वा प्रतिफलितो भवति ।<sup>१</sup> उत्तराध्ययनेऽपि अस्य संवादित्वं दृश्यते—

‘एवं संसंकल्पविकल्पनासो, संजायई समयमुवद्वियस्स ।  
अत्थे असंकल्पयतो तथो से पहीयए कामगुणेषु तन्हा ॥’

‘स वीयरामो कयसव्वकिच्चो, खवेइ नाणावरणं खणेणं ।  
तहेव अं दंसणमावरेइ जं अंतरायं पकरेइ कम्मं ॥’<sup>२</sup>

अवस्था में आत्मप्रसाद अथवा यथार्थ विषयक प्रज्ञा का आलोक प्रति-फलित होता है। उत्तराध्ययन सूत्र में भी इसका संवादी प्रमाण मिलता है—

‘इस प्रकार जो समता को प्राप्त हो जाता है, उसके संकल्प और विकल्प नष्ट हो जाते हैं। जो अर्थों—इन्द्रिय-विषयों का संकल्प नहीं करता, उसके कामगुणों में होने वाली तृष्णा प्रक्षीण हो जाती है।’

‘फिर वह वीतराग सब दिशाओं में कृतकृत्य होकर क्षणभर में ज्ञानावरण को क्षीण कर देता है। उसी प्रकार जो कर्म दर्शन का आवरण करता है और जो कर्म अन्तराय (विघ्न) करता है, उस दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को क्षीण कर देता है।’

५६. अणणपरमं नाणी, णो पमाए कयाइ वि । आयगुत्ते सया वीरे, जायामायाए जावए ।

सं०—अनन्यपरमं ज्ञानी नो प्रमाद्येत् कदाचिदपि । आत्मगुप्तः सदा वीरः यात्रामात्रया यापयेत् ।

ज्ञानी पुरुष अनन्यपरम—आत्मोपलब्धि के प्रति क्षण भर भी प्रमाद न करे। वह सदा आत्मगुप्त और पराक्रमशील रहे और परिमित भोजन से जीवन-यात्रा चलाए।

भाष्यम् ५६—पूर्व ‘अणणदंसी’<sup>३</sup> तथा ‘परमदंसी’<sup>४</sup> एते पदे प्रयुक्ते स्तः । अत्र ‘अणणपरमं’ पदं प्रयुक्तमस्ति । न विद्यते अन्यः परमः—प्रधानोऽस्मादिति अनन्यपरमः—आत्मोपलब्धिः संयमः समता वा । तं प्रति ज्ञानी पुरुषः नो कदाचिदपि प्रमाद्येत् । संयमसाधनायां ज्ञानस्य यथा महत्त्वं तथा वीर्यस्यापि । अत एव भणितम्—स वीरः पुरुषः प्रमादस्य हेतुभूतं मनोवाक्कायं भोजनं च विजेतुं वीर्यं प्रयुञ्जीत आत्मगुप्तो भवेत् । आत्मा—शरीरं, वाग्, मनश्च, तैर्गुप्तो भवेत् । गुप्तये आहारस्य विवेकः परं अपेक्षितः ।

यात्रा-मात्रा—यात्रा—संयम-यात्रा, तस्या निर्वाहाय यावती आहारमात्रा युज्यते तावत्या शरीरं यापयेत् । अतिस्निग्धेन अतिप्रमाणेन वा आहारेण नो गुप्तिर्भवति । आहारस्य अकरणेन शरीरधारणमशक्यं, तेन यथा विषयाणामुदीरणा न भवति, दीर्घकालं संयमाधारदेह-प्रतिपालनं भवति तथा आहर्तव्यम् ।

‘अनन्यदर्शी’ (अणणदंसी) तथा ‘परमदर्शी’ (परमदंसी)—ये दोनों पद पहले प्रयुक्त हो चुके हैं। यहां ‘अनन्यपरम’—यह पद प्रयुक्त है। जिससे दूसरा परम या प्रधान नहीं है, वह अनन्यपरम अर्थात् आत्मोपलब्धि, संयम या समता है। उसके प्रति ज्ञानी पुरुष कभी भी प्रमाद न करे। संयम की साधना में ज्ञान का जैसा महत्त्व है वैसा ही महत्त्व है वीर्य का, शक्ति का। इसीलिए कहा है—वह वीर पुरुष प्रमाद के हेतुभूत मन, वचन और काया तथा आहार पर विजय प्राप्त करने के लिए शक्ति का प्रयोग करे, आत्मगुप्त बने। यहां ‘आत्मा’ शब्द शरीर, वाणी और मन का द्योतक है। वह इन तीनों से गुप्त हो। गुप्ति के लिए आहार का विवेक अत्यन्त अपेक्षित है।

यात्रा-मात्रा—यहां यात्रा का अर्थ है—संयम-यात्रा। उसके निर्वाह के लिए आहार की जितनी मात्रा आवश्यक हो उतनी मात्रा से शरीर का यापन करे। अतिस्निग्ध और अतिमात्रा में भोजन करने से गुप्ति नहीं होती। आहार के बिना शरीर को टिकाया नहीं जा सकता। इसलिए वैसा भोजन करना चाहिए जिससे इन्द्रिय-विषयों की उदीरणा—उत्तेजना न हो और संयम के आधारभूत शरीर की दीर्घकाल पर्यन्त प्रतिपालना हो सके।

१. तुलना—पातञ्जलयोगदर्शन, १।४७ : निविचारवंशारच्छे  
अध्यात्मप्रसादः ।

२. उत्तराध्ययणाणि, ३२।१०७-१०८ ।

३. आमारो, २।१७३ ।

४. वही, ३।३८ ।

५. आचारांग सूत्रि, पृष्ठ १२० : इंबिएहि आयोवयारं काउं  
भण्णइ—आत्मगुप्ते ।

५७. विरागं रूवेहि गच्छेज्जा, महया खुडुएहि वा ।

सं०—विरागं रूपेषु गच्छेत् महत्सु क्षुल्लकेषु वा ।

पुरुष क्षुद्र या महान्—सभी प्रकार के रूपों के प्रति वैराग्य धारण करे ।

भाष्यम् ५७—गुप्तिः—कायवाङ्मनसां सम्यक्-  
प्रवृत्तेरपि निरोधः । तस्या उपायोस्ति वैराग्यम् । अत  
एव निर्दिष्टं—रूपेषु विरागं गच्छेत् । रूपम्—पदार्थः ।  
सर्वेषु पदार्थां रूपरसाद्यात्मका भवन्ति । तत्र रूपं अतीव  
आक्षिपति, तस्मात् तद्ग्रहणम् । ते महान्तः क्षुद्रका वा  
भवेयुः । नागार्जुनीयानां व्याख्यानमेवम्—

‘विसयंमि पंचगंभीवि, दुविहंमि तियं तियं ।

भावओ सुट्ठु जाणित्ता, से न लिपपइ बोसुवि ॥’<sup>१</sup>

इन्द्रियाणां शब्दादयः पञ्च विषयाः । ते द्विविधाः  
—इष्टा अनिष्टाश्च । ते च त्रिविधाः हीनमध्यमोत्कृष्ट-  
भेदात् । तान् प्रति अलिप्ती भवेत् ।

विरजनम्—विरागः वैराग्यं वा । विषयदोष-  
दर्शनाभ्यासेन वितृष्णं<sup>२</sup> चित्तम्—निर्वेदः । तेन (निर्वेदेन)  
जायमानो वशीकारः वैराग्यम्, यथा—‘निव्वेएणं भंते !  
जीवे किं जणयइ’ ?

‘निव्वेएणं विव्वमाणसतेरिच्छिएसु कामभोगेसु निव्वेयं  
हव्वमागरुद्धइ, सव्वविसएसु विरज्जइ ।’<sup>३</sup>

५८. आगतिं गतिं परिणाय, दोहि वि अंतेहि अविस्समाणे । से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण उज्जइ, ण हम्मइ कंचणं सव्वलोए ।

सं०—आगतिं गतिं परिज्ञाय, द्वाभ्यामपि अन्ताभ्यां अदृश्यमानः स न छिद्यते न भिद्यते न दह्यते न हन्यते केनचिद् सर्वलोके ।

जो आगति और गति (संसार-भ्रमण) को जानता है वह राग और द्वेष—इन दोनों अंतों से दूर रहता है । वह समूचे लोक में न किसी के द्वारा छेदा जाता है, न भेदा जाता है, न जलाया जाता है और न मारा जाता है ।

भाष्यम् ५८—विरागस्य आलम्बनमस्ति आगतेर्गतेश्च  
परिज्ञानम् । य एतां द्वयीं परिजानाति स द्वाभ्यामपि  
अन्ताभ्याम्—रागद्वेषाभ्यां अदृश्यमानो भवति । स च  
रक्त इति द्विष्ट इति वा न परिलक्ष्यते । तादृशः पुरुषः  
सर्वलोके केनचित्<sup>४</sup> न छिद्यते, न भिद्यते, न दह्यते, न  
हन्यते । ऐहिकदृष्ट्या शरीरावस्थायां शस्त्रादिना न  
छिद्यते । लोकोत्तरदृष्ट्या शरीरमुक्तावस्थायां स अच्छेद्यः,  
अभेद्यः, अदाह्यः, अवध्यश्च भवति ।<sup>५</sup>

मानसिक, वाचिक और कायिक सम्यक् प्रवृत्ति का भी निरोध  
करना गुप्ति है । उसका उपाय है—वैराग्य । इसीलिए कहा है—  
पुरुष रूपों के प्रति विरक्त हो । रूप का अर्थ है—पदार्थ ।  
सभी पदार्थ रूप-रस आदि से युक्त होते हैं । पदार्थ के सभी  
गुणों में रूप सबसे अधिक आकृष्ट करता है, इसलिए मुख्य रूप से  
उसका ग्रहण किया गया है । पदार्थ क्षुद्र या महान् होते हैं ।  
आचार्य नागार्जुन की परम्परा की व्याख्या यह है—

इन्द्रियों के शब्द आदि पांच विषय हैं । वे दो प्रकार के हैं—  
इष्ट और अनिष्ट । ये दोनों तीन-तीन प्रकार के हैं—हीन, मध्यम  
और उत्कृष्ट । साधक उनके प्रति अलिप्त रहे ।

विरजन का अर्थ है—विराग या वैराग्य । विषयों में दोष देखने  
के अभ्यास से चित्त की वितृष्णा-अवस्था निर्वेद है । इस निर्वेद से होने  
वाला वशीकरण वैराग्य है । जैसे—गीतम ने भगवान् से पूछा—  
‘भंते ! निर्वेद से जीव क्या प्राप्त करता है ?’

भगवान् ने कहा—‘गीतम ! निर्वेद से जीव में देव, मनुष्य  
और तिर्यञ्च संबंधी कामभोगों के प्रति शीघ्र ही ग्लानि उत्पन्न होती  
है और वह सभी विषयों के प्रति विरक्त हो जाता है ।

विराग का आलम्बन है—आगति और गति का ज्ञान । जो  
आगति और गति—इन दोनों को जानता है, वह दोनों अंतों—राग  
और द्वेष से भी दूर रहता है । वह रक्त है या द्विष्ट है—ऐसा परि-  
लक्षित नहीं होता । वैसे पुरुष सारे लोक में किसी के द्वारा न छेदा  
जाता है, न भेदा जाता है, न जलाया जाता है और न मारा जाता है ।  
लौकिकदृष्टि से शरीरावस्था में वह शस्त्र आदि से नहीं छेदा जाता  
और लोकोत्तरदृष्टि से शरीरमुक्त अवस्था में अर्थात् सिद्ध अवस्था में  
वह अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अवध्य होता है ।

१. आचारंग वृत्ति, पत्र १५० ।  
२. उत्तरज्जयणाणि, २९।४६ : वीयरगयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ? वीयरगयाए णं नेहाणुबंधणाणि तस्साणुबंधणाणि य वोच्छिइइ मणुन्नेसु सहफरित्तरत्तस्सुवेणु वेव विरज्जइ ।  
३. बही, २९।३ ।

४. आचारंग वृत्ति, पत्र १५१ : ‘कंचणं’ मिति विभक्ति-परिणामात् केनचित् ।  
५. तुलना—भगवद्गीता, २।२४ : अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमव्येद्योऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरसतोऽयं सनातनः ॥

५६. अवरेण पुत्रं ण सरंति एगे, किमस्सतीतं ? किं वागमिस्सं ? भासंति एगे इह माणवा उ, जमस्सतीतं आगमिस्सं ।

सं०—अपरेण पूर्व न स्मरन्ति एके, किमस्यातीतं ? किं वा आगमिष्यत् ? भाषन्ते एके इह मानवाः तु यदस्यातीतं आगमिष्यत् । कुछ पुरुष भविष्य और अतीत की चिन्ता नहीं करते—इसका अतीत क्या था ? इसका भविष्य क्या होगा ? कुछ मनुष्य कहते हैं—जो इसका अतीत था, वही इसका भविष्य होगा ।

भाष्यम् ५९—केचित् साधका अपरेण—अनागतैः पूर्वम्—अतीतं न स्मरन्ति । अस्य रागद्वेषाभिभूतस्य चित्तस्य किमतीतमासीत् ? किं वा अनागतं भविष्यति ? इति संबंधयोजनां न कुर्वन्ति ।

कुछ साधक भविष्य और अतीत की चिन्ता नहीं करते । वे यह नहीं सोचते कि राग-द्वेष से अभिभूत इस चित्त का अतीत क्या था अथवा इसका भविष्य क्या होगा ? इस प्रकार की संबंध योजना नहीं करते ।

केचिन्मानवाः इति भाषन्ते—यदस्य अतीतमासीत् तदेव अनागतं भविष्यति ।

कुछ पुरुष यह कहते हैं—जो इसका अतीत था, वही इसका भविष्य होगा ।

६०. नातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छंति तथागया उ । विधूत-कप्पे एयाणुपस्सी, णिज्झोसइत्ता खवगे महेसी ।

सं०—नातीतमर्थं न च आगमिष्यत् अर्थं पश्यन्ति<sup>१</sup> तथागताः तु विधूतकल्पः एतदनुदर्शी निश्शोष्य क्षपकः महर्षिः ।

तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते । धृताचार की साधना करने वाला महर्षि वर्तमानदर्शी होता है । वह कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है ।

भाष्यम् ६०—तथागताः न अतीतमर्थं न च अनागतमर्थं नियच्छन्ति । विधूतकल्पो<sup>२</sup> महर्षिः एतदनुदर्शी भवति, तेन स कर्मशरीरं निश्शोष्य तस्य क्षपको भवति ।

तथागत न अतीत के अर्थ को देखते हैं और न अनागत के अर्थ को । विधूतकल्प—धृताचार की साधना करने वाला महर्षि वर्तमानदर्शी होता है, इसलिए वह कर्मशरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है ।

चित्तपर्यायाः कर्मसंस्काराश्च त्रैकालिका भवन्ति । तत्र अतीतपर्यायः किं भविष्यपर्यायस्य नियमनं करोति अथवा भविष्यपर्यायः अतीतपर्यायात् सर्वथा स्वतन्त्रो भवति ? अस्मिन् विषये अभिमतमेकमस्ति यदनागतमस्ति अतीतनियमितम् । अस्मिन्नभिमतं अतीते रागात्मकं चित्तं अनागतेपि रागात्मकं भविष्यति, किन्तु तथागता नैतन्मन्यन्ते । तेषामभिमतं परिणतैः वैचित्र्याद् अनागतं अतीतानुरूपमेव न भवति, किन्तु ततो विलक्षणमपि भवति । अत एव विधूतकल्पस्य प्रयोजनम् । यदि अनागतं सर्वथा अतीतपरतंत्रं स्यात्तदा पूर्वसंस्कारक्षपणस्य न कोप्युपायः संभवेत् ।<sup>३</sup>

चित्त-पर्याय और कर्म-संस्कार त्रैकालिक होते हैं । क्या अतीत का पर्याय भविष्य के पर्याय का नियमन करता है अथवा भविष्य का पर्याय अतीत के पर्याय से सर्वथा स्वतंत्र होता है ? इस विषय में एक अभिमत यह है कि अनागत अतीत से नियंत्रित है । इस अभिमत के अनुसार अतीत में यदि चित्त रागात्मक है तो वह अनागत में भी रागात्मक होगा । किन्तु तथागत यह नहीं मानते । उनके अभिमत में परिणति की विचित्रता के कारण अनागत अतीत के अनुरूप ही नहीं होता, किन्तु उससे विलक्षण भी होता है । इसीलिए विधूतकल्प साधना की प्रयोजनीयता है । यदि अनागत अतीत से सर्वथा परतंत्र होता तो पूर्व-संस्कारों की क्षीणता का कोई भी उपाय संभव नहीं हो पाता ।

१. प्राकृतव्याकरण (हेमचन्द्र), ४।१८१ :

दृशो निअच्छापेच्छावयच्छावयज्ज - वज्ज - सव्वव - देवखी - अक्खावक्खावअक्ख - पुत्तोअ - पुलअ - निआवआस - पासाः ।

२. द्रष्टव्यम्—आधारो. ६।२४ ।

३. सूत्र ५९-६० की व्याख्या दार्शनिक और साधना—दोनों नयों से की गई है । दार्शनिक नय से व्याख्या इस प्रकार है—

कुछ दार्शनिक भविष्य के साथ अतीत को स्मृति नहीं करते । वे अतीत और भविष्य में कार्यकारणभाव नहीं मानते कि जीव का अतीत क्या था और भविष्य क्या होगा ?

कुछ दार्शनिक कहते हैं—इस जीव का जो अतीत था, वही भविष्य होगा ।

६१. का अरई ? के आणंदे ? एत्थंपि अग्रहे चरे । सर्वं हासं परिचच्चज्ज, आलीण-गुत्तो परिव्वए ।

सं०—का अरतिः ? कः आनन्दः ? अत्रापि अग्रहः चरेत् । सर्वं हास्यं परित्यज्य आलीनगुप्तः परिव्रजेत् ।

साधक के लिए क्या अरति और क्या आनन्द ? वह अरति और आनन्द के विकल्प को ग्रहण न करे । हास्य आदि सब प्रमादों को त्याग कर, इन्द्रिय-विजय और मन-वचन-काया का संवरण कर परिव्रजन करे ।

भाष्यम् ६१ — अरतिः — इष्टाप्राप्तिविनाशोत्थो मानसो भावः । आनन्दः—इष्टार्थवाप्तिसमुत्थो मानसो भावः । कुतश्चिन्मिताद् अरतिरुत्पद्येत तदा का अरतिः ? अथवा अतीते अनन्तशः अरतिः प्राप्ता इति कृत्वा तस्या रेचनं कुर्यात् । एवं इष्टार्थे प्राप्ते सति क आनन्दः ? अथवा अतीते अनन्तशोपि प्राप्तोऽसौ इति कृत्वा तस्य रेचनं कुर्यात् । अस्मिन् विषये ध्यानावस्थितो मुनिः अग्रहश्चरेत्—अरतेरानन्दस्य च ग्रहणं विकल्पं वा न कुर्यात् । स सर्वं हास्यं परित्यजेत् । आलीनः—इन्द्रियसंवृतः, गुप्तः—मनो-वाक्कायकर्मभिः संवृतः परिव्रजेत् ।

इष्ट की अप्राप्ति और इष्ट के विनाश से होने वाला मानसिक भाव अरति है तथा इष्ट अर्थ की प्राप्ति से होने वाला मानसिक भाव आनन्द है । साधक में किसी निमित्त से अरति उत्पन्न हो सकती है, तब वह सोचे—'मेरे लिए क्या अरति ?' अथवा वह सोचे—'मैंने अतीत में अनन्त बार अरति को भोगा है'—ऐसा सोचकर उसका रेचन करे, उसे मन से निकाल दे । इसी प्रकार इष्ट अर्थ की प्राप्ति होने पर साधक सोचे—'इसमें कैसा आनन्द ? अथवा वह सोचे—'मैंने अतीत में अनन्त बार आनन्द को भोगा है'—यह सोचकर उसका रेचन करे, उसे मन से निकाल दे । इस विषय में ध्यानवीन मुनि अरति और आनन्द का ग्रहण न करे, न उनके विकल्प में उलझे । वह समस्त प्रकार के हास्य का परित्याग करे । वह आलीन और गुप्त होकर परिव्रजन करे । आलीन का अर्थ है—इन्द्रियों से संवृत और गुप्त का अर्थ है—मन, वचन और काया की प्रवृत्ति से संवृत ।

६२. पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि ?

सं०—पुरुष ! त्वमेव तव मित्रं, किं बहिः मित्रमिच्छसि ?

पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है । फिर बाहर मित्र क्यों खोजता है ?

भाष्यम् ६२—साधनाकाले वर्तमानस्य कदाचित् पूर्वपरिचितानां स्मृतिर्जायते अथवा अमित्रैर्बाध्यमानस्य मित्रं प्रति इच्छा प्रवर्तते । तदर्थमिदमाध्यात्मिक-मालम्बनम्—हे पुरुष ! त्वमेव तव मित्रमसि । अप्रमत्त आत्मा एव तव मित्रमस्ति । किं बहिर्मित्रमिच्छसि ? यो बाह्यो मित्रामित्रविशेषः स व्यवहारनयसापेक्षः । निश्चयनयसापेक्षं सूत्रमिदम् । तात्पर्यमिदम्—त्वं

साधना करने वाले पुरुष के कभी पूर्व परिचितों की स्मृति ही आती है अथवा अमित्रों के द्वारा बाध्यमान होने पर मित्र के प्रति इच्छा होती है । उसके लिए यह आध्यात्मिक आलम्बन है—हे पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है । अप्रमत्त आत्मा ही तेरा मित्र है । बाहर मित्र क्यों खोज रहा है ? जो बाह्य मित्र और अमित्र होते हैं वे सारे व्यावहारिक दृष्टि से हैं । प्रस्तुत सूत्र निश्चय नय का द्योतक है । इस सूत्र का तात्पर्य यह है—तू अप्रमत्त हो । बाह्य मित्र

तथागत अतीत और आगामी अर्थ को स्वीकार नहीं करते । महर्षि इन सब मतों की अनुपशयना (पर्यालोचना) कर धुताचार के आसेवन द्वारा कर्म-शरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है ।

साधना नय की व्याख्या इस प्रकार है—

कुछ साधक अतीत के भोगों की स्मृति और भविष्य के भोगों की अभिलाषा नहीं करते । कुछ साधक कहते हैं—अतीत भोग से तृप्त नहीं हुआ; इससे अनुमान किया जाता है कि भविष्य भी भोग से तृप्त नहीं होगा ।

अतीत के भोगों की स्मृति और भविष्य के भोगों की अभिलाषा से राग-द्वेष और मोह उत्पन्न होते हैं । इसलिए तथागत (वीतराग की साधना करने वाले) अतीत और

भविष्य के अर्थ को नहीं देखते—राग-द्वेषात्मक चित्त-पर्याय का निर्माण नहीं करते ।

जिसका आचार राग-द्वेष और मोह की शांति या क्षीण करने वाला होता है, वह विधूतकल्प कहलाता है । वह तथागत विधूतकल्प 'एयाणुपस्सी' होता है ।

१. एतदनुपश्यी—वर्तमान में घटित होने वाले यथार्थ को देखने वाला ।

२. एकानुपश्यी—अपनी आत्मा को अकेला देखने वाला ।

३. एजानुपश्यी—धुताचार के द्वारा होने वाले प्रकम्पनों या परिवर्तनों को देखने वाला ।

वह राग और द्वेष से मुक्त रह कर कर्म-शरीर को क्षीण करता है ।

अप्रमत्तो भव । बाह्यमित्रान्वेषणायां मा समयं यापय । की खोज में अपने समय को मत गवां ।

६३. जं जाणेज्जा उच्चालइयं, तं जाणेज्जा दूरालइयं । जं जाणेज्जा दूरालइयं, तं जाणेज्जा उच्चालइयं ।

सं०—यं जानीयाद् उच्चालयिकं, तं जानीयाद् दूरालयिकम् । यं जानीयाद् दूरालयिकं, तं जानीयाद् उच्चालयिकम् ।

जिसे तुम परम तत्त्व के प्रति लगा हुआ जानते हो, उसे कामनाओं से दूर हुआ जानो । जिसे तुम कामनाओं से दूर हुआ जानते हो, उसे परम तत्त्व के प्रति लगा हुआ जानो ।

भाष्यम् ६३—यः उच्चे—परमतत्त्वे लीनो भवति तथा मित्रामित्रविशेषाद् ऊर्ध्वं तिष्ठति स उच्चालये विहरतीति उच्चालयिकः । तादृशः कामनातः अनुकूल-प्रतिकूलसंवेदनाच्च दूरं तिष्ठति, तेन स दूरालयिको भण्यते । उच्चालयिकत्वं दूरालयिकत्वस्य सूचक-मस्ति । दूरालयिकत्वमपि सूचयति उच्चालयिकत्वम् ।

जो उच्च—परम तत्त्व में लीन होता है तथा मित्र और अमित्र की मान्यता से ऊपर उठ जाता है, वह उच्चालय में विहरण करने वाला उच्चालयिक होता है । वंसा साधक कामनाओं तथा अनुकूल और प्रतिकूल संवेदनाओं से दूर रहता है, इसलिए वह दूरालयिक कहलाता है । उच्चालयिक दूरालयिक का सूचक है । दूरालयिक भी उच्चालयिक का सूचक है ।

६४. पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिञ्ज, एवं दुक्खा पमोक्खसि ।

सं०—पुरुष ! आत्मानमेव अभिनिगृह्य, एवं दुःखात् प्रमोक्ष्यसि ।

पुरुष ! आत्मा का ही निग्रह कर । इस प्रकार तू दुःख से मुक्त हो जाएगा ।

भाष्यम् ६४—आत्मा—चित्तम् । हे पुरुष ! त्वं अनुकूलसंवेदने रज्यमानं प्रतिकूलसंवेदने च द्विष्यमाण-मात्मानं अभिनिगृह्य तिष्ठ । एवं त्वं दुःखाद् मुक्तो भविष्यसि । दुःखं अनुकूलप्रतिकूलसंवेदनाभ्यामुत्पद्यते । यः संवेदनस्याभिनिग्रहणं करोति तस्य सहजमेव दुःख-प्रमोक्षो जायते ।<sup>३</sup>

आत्मा का अर्थ है चित्त । हे पुरुष ! तू अनुकूल संवेदनों में अनुरक्त हो जाने वाले और प्रतिकूल संवेदनों में द्वेष करने वाले चित्त का निग्रह करके रह । इस प्रकार तू दुःख से मुक्त हो जाएगा । दुःख उत्पन्न होता है अनुकूल और प्रतिकूल संवेदनों से । जो संवेदनों का निग्रह कर लेता है, उसके सहज ही दुःख-मुक्ति हो जाती है ।

६५. पुरिसा ! सच्चमेव समभिजानीहि ।

सं०—पुरुष ! सत्यमेव समभिजानीहि ।

पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर ।

भाष्यम् ६५—आत्मनिग्रहः किमुपायः इति जिज्ञासां समाधातुं सूत्रकारो निर्दिशति—हे पुरुष ! त्वं सत्यमेव समभिजानीहि । सत्यम्—वस्तुनो यथार्थस्वरूपम् ।

आत्म-निग्रह का उपाय क्या है ?—इस जिज्ञासा का समाधान करने के लिए सूत्रकार कहते हैं—हे पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर । सत्य का अर्थ है—वस्तु का यथार्थ स्वरूप । जब तक

१. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १२४ : विसए उच्चासिते ।  
(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १५३ : उच्चालयितारम्—  
अपनेतारम् ।

२. आचारांग चूणि, पृष्ठ १२४ : दुक्खं—कम्मं ।

३. आत्मा शब्द का प्रयोग चैतन्य-विण्ड, मन और शरीर के अर्थ में होता है । अभिनिग्रह का अर्थ है—समीप जाकर पकड़ना । जो व्यक्ति मन के समीप जाकर उसे पकड़ लेता है, उसे जान लेता है, वह सब दुःखों से मुक्त हो जाता है । निकटता से जान लेना ही वास्तव में पकड़ना है । निबंधन करने से प्रतिक्रिया पैदा होती है । उससे निग्रह नहीं होता । धर्म के क्षेत्र में यथार्थ को जान लेना ही निग्रह है ।

४. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १२४ : सच्चो णाम संजमो सत्तरसविहो तं समभियाणहि, जं भणितं तं सभायर, अहवा सच्चेण सेसाणि विद्याणि पासिज्जंति, कहं ? जो आयरियसगासे पंच महव्वयाइं, आसन्तिता नाणुपालेइ सो परिणालोवेण असच्चो भवति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १५३ : सद्भ्यो हितः सत्यः—संयमस्तमेवापरक्यापारनिरपेक्षः समभिजानीहि—आसेवनापरिजया समनुतिष्ठ, यदिवा सत्यमेव समभिजानीहि—पुरसाक्षिगृहीतप्रतिज्ञानिवाहको भव ।

(ग) इष्टव्यम्—३।४० भाष्यम् ।



यावत् सत्यं समभिज्ञातं न भवति तावद् वस्तु प्रति जायमानं प्रियाप्रियसंवेदनग्रहणं विभुक्तं न स्यात् । अपायविचयविपाकविचयात्मकेन धर्मध्यानेन पदार्थ-संबन्धिनः अपायान् तद्धेतुकान् विपाकांश्च समभिज्ञायैव पुरुषः आत्मनिग्रहं कर्तुं शक्नोति ।

वह सम्यग् रूप से ज्ञात नहीं होता तब तक वस्तु के प्रति होने वाला प्रिय संवेदन अथवा अप्रिय संवेदन का ग्रहण नहीं रुकता । धर्मध्यान के दो भेदों—अपयविचय और विपाकविचय से पदार्थ सम्बन्धी दोषों तथा उनसे होने वाले परिणामों को सम्यग् रूप से जानकर ही पुरुष आत्म-निग्रह कर सकता है ।

६६. सच्चस्स आणाए उवट्टिए से मेहावी मारं तरति ।

सं०—सत्यस्य आज्ञया उपस्थितः स मेधावी मारं तरति ।

जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है ।

भाष्यम् ६६—यः सत्यस्य<sup>१</sup> आज्ञया उपस्थितः स मेधावी मारं तरति । आज्ञा—आगमः, अन्तर्दृष्टिः, सूक्ष्मार्थपरिज्ञानमिति । मारः—मृत्युः<sup>२</sup> अथवा कामः, इच्छाकामः मदनकामश्च । असत्यस्योपस्थानेनैव मूर्च्छा भ्रान्तिर्वा प्रवर्धते, ततः कामोऽभिजायते । सत्यस्य साक्षादुपस्थानेनैव कामः अन्तं नेतुं शक्यः ।

जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है, वह मेधावी मृत्यु को तर जाता है । आज्ञा के तीन अर्थ हैं—आगम, अन्तर्दृष्टि, सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान । मार का अर्थ है—मृत्यु अथवा काम । काम के दो प्रकार हैं—इच्छाकाम और मदनकाम । असत्य की आराधना से ही मूर्च्छा और भ्रान्ति बढ़ती है । उससे काम उत्पन्न होता है । सत्य की साक्षात् आराधना से ही काम—मृत्यु अथवा कामनाओं का अन्त किया जा सकता है ।

६७. सहिए धम्ममादाय, सेयं समणुपस्यति ।

सं०—सहितः धर्ममादाय श्रेयः समनुपश्यति ।

सहिष्णु साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय का साक्षात् कर लेता है ।

भाष्यम् ६७—सहितः<sup>३</sup>—सहनशीलः । येन अनुकूला प्रतिकूला च परिस्थितिः सोढा स धर्मं समादाय श्रेयः समनुपश्यति । यः प्रेयसि एव मूर्च्छितः स कथं श्रेयः समनुदर्शी भवेत् ? श्रेयः<sup>४</sup>—इन्द्रियातीतं पदार्थातीतं च सुखं हितं वा अथवा कल्याणं, यथा—

सहित का अर्थ है—सहनशील । जिसने अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों को सहन किया है, वह सहिष्णु साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय का साक्षात् कर लेता है । जो केवल प्रेयस् में ही मूर्च्छित रहता है वह श्रेय का साक्षात्दर्शी कैसे हो सकता है ? श्रेय का अर्थ है—इन्द्रियातीत और पदार्थातीत सुख या हित अथवा कल्याण । जैसे—

सोच्छा जाणइ कल्लाणं, सोच्छा जाणइ पावणं ।

उच्चयं पि जाणई सोच्छा, जं छेयं तं समायरे ॥<sup>५</sup>

‘सुन कर ही कल्याण जाना जाता है और सुनकर ही पाप जाना जाता है । दोनों को सुनकर जाना जाता है । जो श्रेयस्कर है, उसका तुम आचरण करो ।’

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १२४ : दुवाखसंगं वा प्रवचनं सच्चं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १५३ : सत्यः—आगमः ।

(ग) द्रष्टव्यम्—३।४० भाष्यम् ।

२. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १२४ : मारणं मारयति मारो, जं भणितं संसारो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १५३ : मारं—संसारम् ।

३. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १२४ : तेण तित्थगर-भासितेण अ सच्चेण सहितो तत्पुव्वगं चरितं धम्मं

आदाय ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १५३ : सहितो—ज्ञानादियुक्तः सह हितेन वा युक्तः सहितः ।

(ग) आटे, सहितः Borne, Endured.

४. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १२४ : सेयं इति वसंसे अत्थे, सयंति तमित्ति सेओ, जं भणितं मोक्खं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १५३ : श्रेयः पुण्यमात्महितं वा ।

५. दसवेआलियं, ४ गाया ११ ।

६८. बृहओ जीवितस्य, परिवन्दन-माणण-पूयणाए, अंसि एगे प्रमाद्वेति ।

सं०—द्वितः जीवितस्य परिवन्दन-मानन-पूजनाय, यस्मिन् एके प्रमाद्वन्ति ।

राग और द्वेष के अधीन होकर मनुष्य वर्तमान जीवन के लिए तथा प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए जेष्टा करता है। कुछ साधक भी उनके लिए प्रमाद करते हैं।

भाष्यम् ६८—मनुष्या द्वाभ्यां रागद्वेषाभ्यामभिभूता जीवितस्य हेतोः, परिवन्दनमाननपूजनहेतोश्च प्रमत्ताः सन्ति, किन्तु एके प्रव्रज्यामादायापि असहिष्णुत्वात् तदर्थं प्रमाद्वन्ति ।

जो पुरुष राग और द्वेष—इन दोनों से अभिभूत हैं वे अपने जीवन के लिए तथा प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए प्रमत्त होते हैं, किन्तु कुछ प्रव्रज्या ग्रहण करके भी असहिष्णु होने के कारण जीवन, प्रशंसा आदि के लिए प्रमाद करते हैं।

६९. सहिए दुखमत्ताए पुटो णो भंभाए ।

सं०—सहितः दुःखमात्रया स्पृष्टः नो 'भंभाए'<sup>२</sup> ।

सहिष्णु साधक दुःखमात्रा से स्पृष्ट होने पर व्याकुल न हो ।

भाष्यम् ६९—सहनशीलो मुनिः दुःखमात्रया—शीतोष्णैः परीषहैः स्पृष्टः नो भंभाप्रताडित इव व्याकुलमतिर्भवेत् । शीतैः परीषहैः रागभंभा समुत्पद्यते उष्णैश्च द्वेषभंभा । तां द्विविधामपि व्याकुलतां अकृत्वा समत्वे स्थातुमर्हति ।

सहिष्णु मुनि दुःखमात्रा—शीत और उष्ण (अनुकूल और प्रतिकूल) परीषहों से स्पृष्ट होने पर भंभा से प्रताडित व्यक्ति की भांति आकुल-व्याकुल न बने। शीत परीषहों से राग का भंभावात उत्पन्न होता है और उष्ण परीषहों से द्वेष का भंभावात उठता है। वह सहिष्णु साधक दोनों प्रकार की व्याकुलताओं में न फंस कर समता में स्थित हो सकता है।

७०. पासिमं दविए लोयालोय-पबंचाओ मुच्चइ । —त्ति बेमि ।

सं०—दृष्टिमान् द्रव्यः लोकालोकप्रपञ्चात् मुच्यते । —इति ब्रवीमि ।

दृष्टिमान् और द्रव्य—रागद्वेष से अपराजित साधक लोक के दृष्ट प्रपंच से मुक्त हो जाता है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

भाष्यम् ७०—येन पुरुषेण शीतोष्णपरीषहान् सोढुं दृष्टिरुपलब्धा स दृष्टिमान्<sup>३</sup> द्रव्यः—रागद्वेषाभ्यामनभिभूतः लोकालोक<sup>४</sup> प्रपञ्चाद् मुच्यते । लोकः—दृश्यमानः, अलोकः—अदृश्यमानः अथवा लोके आलोक्यमानः—लोकालोकः, तस्य प्रपञ्चः—बन्धनस्य विस्तारः । द्रव्यः पुरुषः दृश्यमानानां संबन्धानां अदृश्यमानानां च कर्म-बन्धनानां प्रपञ्चाद् मुक्तो भवति ।

जिस साधक को शीत और उष्ण—अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों को सहने की दृष्टि उपलब्ध है, वह दृष्टिमान् होता है। वह द्रव्य अर्थात् राग-द्वेष से अपराजित व्यक्ति लोक-अलोक के प्रपंच से मुक्त हो जाता है। लोक का अर्थ है—दृश्यमान और अलोक का अर्थ है—अदृश्यमान अथवा लोकालोक का अर्थ है—लोक में दिखाई देने वाला। उसका प्रपंच अर्थात् बन्धन का विस्तार। द्रव्य अर्थात् वीतराग पुरुष दृश्यमान सम्बन्धों के तथा अदृश्यमान कर्मबन्धों के प्रपंच से मुक्त हो जाता है।

१. द्रष्टव्यम्—आयारो, १।२१ ।

२. देशीशब्दः ।

३. 'पासिम' अस्य पदस्य 'पश्य इमं', 'दृष्ट्वा इमं' अथवा 'दृष्टिमान्'—एतानि त्रीणि रूपाणि संस्कृते कर्तुं शक्यानि । अस्माभिः एकं पदमादाय दृष्टिमानिति रूपं कृतम् ।

(क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १२५ : पस्सतीति पासिमं, किं एतं ? जं भणितं—संधि लोगसस जाव णो भंशाएत्ति एतं पस्सति ।

(२) आचारांग वृत्ति, पत्र १५४ : उहं शकादेरारभ्यानन्तर-

सुअं यावत् तमिममर्थं पश्य—परिच्छिन्दि ।

४. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १२५ : लोकतीति लोगो, आलोककतीति आलोको, लोगालोगो, जो जेहि णाए वट्ति सो तेणप्पगारेण आलोककति, जं भणितं—विस्सति, संजहा—नारइयत्तेण, एवं सेसेसुवि पिह्मिपिहेहि सरीरवियप्पेहि आलोककति सरीरे ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १५४ : आलोक्यत इत्यालोकः, कर्मणि घञ्, लोके चतुर्दशरज्ज्वात्मके आलोको लोकालोकः ।

### चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

७१. से वंता कोहं च, माणं च, मायं च, लोभं च ।

सं०—स वमिता क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च ।

साधक क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन करने व त्याग होता है ।

भाष्यम् ७१—इदानीं लोकालोकप्रपञ्चमुक्तेः प्रक्रिया उपदिश्यते—स शीतोष्णपरीषहसहिष्णुर्मुनिः कषाय-मुक्त्या मुक्तो भवति । कषायश्च क्रोधमानमायालोभ-भेदात् चतुर्विधः । तत्र उपघातादिहेतुजनिताऽध्यवसायः क्रोधः । उत्कर्षाध्यवसायो मानः । वञ्चनाध्यवसायो माया । तृष्णापरिग्रहाध्यवसायो लोभः ।

मुक्तिमिच्छुः पुरुषः एतं चतुर्विधकषायं वमिता भवति । तं उपशमं क्षयं वा नयतीति तात्पर्यम् ।

अब लोकालोक के प्रपञ्च से मुक्त होने की प्रक्रिया बतलाई जा रही है—वह शीत और उष्ण परीषहों को सहने वाला मुनि कषायों की मुक्ति होने पर मुक्त हो जाता है । कषाय चार प्रकार का है—क्रोध, मान, माया और लोभ । उपघात आदि हेतुओं से उत्पन्न अध्यवसाय क्रोध है । उत्कर्ष का अध्यवसाय है मान । वञ्चना का अध्यवसाय है माया और तृष्णा तथा परिग्रह का अध्यवसाय है लोभ ।

जो पुरुष मुक्ति चाहता है वह इन चारों कषायों का वमन करने वाला होता है । इसका तात्पर्य है कि वह इन कषायों का उपशम या क्षय कर देता है ।

७२. एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पल्लियंतकरस्स ।

सं०—एतद् पश्यकस्य दर्शनं उपरतशस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य ।

यह अहिंसक और निरावरण द्रष्टा का दर्शन है ।

भाष्यम् ७२—एतत् कषायविरेचनं पश्यकस्य दर्शन-मस्ति । निरावरणत्वात् सर्वं पश्यति इति पश्यः, स एव पश्यकः—भगवान् महावीरः । शस्त्रं द्रव्यभावभेद-भिन्नम् । द्रव्यशस्त्रमग्न्यादयः, भावशस्त्रं कषायः असंयमो वा ।\*

उपरतं शस्त्रं यस्य स उपरतशस्त्रः । यः घात्यकर्मणां पर्यन्तं करोति स पर्यन्तकरः । यः उपरतशस्त्रो भवति स पर्यन्तकरो भवति । यश्च पर्यन्तकरो भवति स पश्यको भवति । तस्य दर्शनमिदम् ।

कषायों के विरेचन का यह सिद्धान्त पश्यक—द्रष्टा का दर्शन है । निरावरण होने के कारण जो सब कुछ देखता है वह पश्य है । वही पश्यक है । भगवान् महावीर पश्यक—द्रष्टा हैं ।

शस्त्र के दो भेद हैं—द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र । अग्नि आदि द्रव्य शस्त्र हैं और कषाय अथवा असंयम भाव शस्त्र हैं ।

जो शस्त्रों से उपरत है, वह उपरतशस्त्र है । जो घात्यकर्मों का अन्त करता है, वह पर्यन्तकर है । जो उपरतशस्त्र होता है वह पर्यन्तकर होता है । जो पर्यन्तकर होता है, वह पश्यक होता है । उसी का यह दर्शन है ।

७३. आयाणं (णिसिद्धा ?) सगड्ढिम् ।

सं०—आदानं (निषेध्य) स्वकृतभित् ।

जो पुरुष कर्म के आदान—कषाय को रोकता है, वही अपने किए हुए कर्म का भेदन कर पाता है ।

भाष्यम् ७३—अत्र नाशकनीर्यं, कृतानि कर्माणि भोक्तव्यानि । कथं तेषां पर्यन्तं कर्तुं शक्यम् ? आदानस्य निरोधे पूर्वाजितानां कर्मणां भेदनं संभाव्यतामेति । आदानम्—कषायः । यः आदानं निरुणद्धि स स्वकृतस्य कर्मणः भेत्ता भवति । निरोधे अपूर्वकर्मणां

यह आशंका नहीं करनी चाहिए कि जब किए हुए कर्मों को भोगना ही होता है तब उनका अन्त कैसे किया जा सकता है ? आदान का निरोध करने पर पूर्वाजित कर्मों का भेदन सम्भव बनता है । आदान का अर्थ है—कषाय । जो आदान का निरोध करता है वह अपने द्वारा कृत कर्मों का भेदन करने वाला होता है । निरोध में नए

१. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ १२६ : वमन्ति वा विरेयन्ति वा विमिचन्ति वा विसोहन्ति वा एगद्धा ।

२. देखें—आयारो, १।१९ ।

प्रवेशो निरुद्धो भवति, पूर्वकर्मणां च क्षयो भवति । तत्क्षयार्थं कषायस्य निरोधः अवश्यं कर्तव्य इति हृदयम् ।

कर्मों का प्रवेश निरुद्ध हो जाता है और पूर्व कर्मों का क्षय होता है । कर्मों के क्षय के लिए कषाय का निरोध अवश्य करना चाहिए, यह इसका हार्द है ।

७४. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ।

सं०—यः एकं जानाति, स सर्वं जानाति । यः सर्वं जानाति, स एकं जानाति ।

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है । जो सबको जानता है, वह एक को जानता है ।

भाष्यम् ७४—‘एगं’ इति पदं अनिर्दिष्टविशेष्यं वर्तते । अनुवृत्त्या आदानमिति प्रकृतम् । य एकमादानं—क्रोधकषायं जानाति स सर्वमादानं जानाति । यः सर्वमादानं जानाति स वस्तुरूपेण एकमादानं जानाति । आदानमुक्तेः प्रथम उपायोऽस्ति तस्य सर्वात्मना परिज्ञानम् । यो आदानं न जानाति स कथं तस्य निरोधाय निर्जरणाय वा प्रयतेत ?

एष आचारशास्त्रीयः दृष्टिकोणः । चूर्णो वृत्तौ च प्रस्तुतसूत्रं दर्शनशास्त्रीयदृष्टिकोणेन व्याख्यातमस्ति । आगमानां व्याख्यापद्धतेश्चत्वारि अङ्गानि विद्यन्ते—द्रव्यानुयोगः, चरणकरणानुयोगः, गणितानुयोगः, धर्मकथानुयोगश्च । प्रत्येकं सूत्रं एभिश्चतुर्भिः दृष्टिकोणैः वक्तव्यं भवति । तेन दार्शनिकदृष्टिकोणोऽपि नाप्रासङ्गिकः ।

चूर्णिकाराभिमतम्—‘जो एगं जीवद्रव्यं अजीवद्रव्यं वा अतीतानागतवट्टमाणेहि सव्वपज्जएहिं जाणइ, सिस्सो वा पुच्छति—भगवं ! जो एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ ? आमं, एत्थ जीवपज्जवा अजीवपज्जवा य भाणियव्वा ।’<sup>१</sup>

वृत्तिकारेण किञ्चिद् विस्तृतरूपेण व्याख्यातमिदं<sup>२</sup>—‘यः कश्चिदविशेषितः एकं परमाण्वादि द्रव्यं पश्चात्-पुरस्कृतपर्यायं स्वपरपर्यायं वा जानाति—परिच्छिनत्ति, स सर्वं स्वपरपर्यायं जानाति, अतीतानागतपर्यायिद्रव्य-परिज्ञानस्य समस्तवस्तुपरिच्छेदाविनाभावित्वात् ।’<sup>३</sup>

यः सर्वं संसारोदरविवरवत्ति वस्तु जानाति स एकं

प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त ‘एगं’ शब्द का विशेष्य निर्दिष्ट नहीं है । अनुवृत्ति से ‘आदान’ पद यहां प्रासंगिक है । जो एक आदान—क्रोध कषाय को जानता है, वह सभी आदानों—कषायों को जानता है । जो सभी आदानों को जानता है, वह यथार्थरूप में एक आदान को जानता है । आदान-मुक्ति का पहला उपाय है—उसका सम्पूर्ण ज्ञान । जो आदान को नहीं जानता वह उसके निरोध के लिए अथवा निर्जरण—क्षय के लिए कैसे प्रयत्न करेगा ?

यह आचारशास्त्रीय दृष्टिकोण है । चूर्ण और वृत्ति में प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या दर्शनशास्त्रीय दृष्टिकोण से की गई है । आगमों की व्याख्या-पद्धति के चार अंग हैं—द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, गणितानुयोग और धर्मकथानुयोग । प्रत्येक सूत्र की व्याख्या इन चार दृष्टिकोणों से की जाती है । इसलिए दार्शनिक दृष्टिकोण भी अप्रासंगिक नहीं है ।

चूर्णिकार का अभिमत यह है—जो जीव अथवा अजीव द्रव्य को अतीत, अनागत और वर्तमान—सभी पर्यायों से जानता है, उस व्यक्ति को लक्ष्य कर शिष्य ने पूछा—भंते ! क्या एक को जानने वाला सबको जानता है ?

आचार्य ने कहा—हां ।

कैसे भंते ?

आचार्य ने कहा—एक को जानने वाला सबको जानता है, इसका तात्पर्य यह है कि वह व्यक्ति जीव द्रव्य अथवा अजीव द्रव्य के त्रैकालिक—अतीत, अनागत और वर्तमान—पर्यायों को जानता है ।

वृत्तिकार ने इसकी व्याख्या कुछ विस्तार से की है—

जो कोई पुरुष किसी अविशेषित एक परमाणु आदि द्रव्य को अथवा उसके अतीत और अनागत पर्यायों को अथवा स्व-पर पर्यायों को जानता है—उनका परिच्छेद करता है, वह सभी स्व-पर पर्यायों को जानता है । क्योंकि प्रत्येक द्रव्य अतीत और अनागत पर्याययुक्त होता है । उसका ज्ञान समस्त वस्तु के परिच्छेद-विशेष ज्ञान के बिना नहीं हो सकता ।

जो पुरुष संसार में विद्यमान सभी वस्तुओं को जानता है वह

घटादि वस्तु जानाति, तस्यैवातीतानागतपर्यायभेदैस्तत्-  
तत्स्वभावापत्याऽनाद्यनन्तकालतया समस्तवस्तुस्वभाव-  
गमनादिति<sup>१</sup>, तदुक्तम्—

एगद्वियस्स जे अस्थपज्जवा वयणपज्जवा वावि ।  
तीयाणगयभूया तावइयं तं हवइ बब्बं ॥<sup>१</sup>

विश्ववर्तीनि सर्वाण्यपि द्रव्याणि परंपरया  
संश्लिष्टानि वर्तन्ते । ततः एकस्य ज्ञानं सर्वेषां  
ज्ञानमपेक्षते ।\*

जिनभद्रगणिकामाश्रमणेन आकाररूपमक्षरं लक्ष्यी-  
कृत्य लिखितं, सर्वमजानन् नाकारं सर्वथा जानाति—

'एयं जाणं सब्बं जाणइ, सब्बं च जाणमेयं ति ।  
इयं सब्बमजाणंतो, नाकारं सब्बहा मुणइ ॥<sup>२</sup>

मलधारिहेमचन्द्रसूरिणा समर्थितमिदं—एकं किमपि  
वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैः युक्तं जानन्—अवबुध्यमानः  
सर्वं लोकालोकगतं वस्तु सर्वैः स्वपरपर्यायैर्युक्तं जानाति,  
सर्ववस्तुपरिज्ञानानन्तरीयकत्वाद् एकवस्तुज्ञानस्य । यश्च  
सर्वं सर्वपर्यायोपेतं वस्तु जानाति स एकमपि सर्वपर्यायो-  
पेतं जानाति, एकपरिज्ञानाऽविनाभावित्वात् सर्वपरि-  
ज्ञानस्य ।<sup>३</sup>

### ७५. सब्बतो पमत्तस्स भयं, सब्बतो अप्पमत्तस्स नत्थि भयं ।

सं०—सर्वतः प्रमत्तस्य भयं, सर्वतः अप्रमत्तस्य नास्ति भयम् ।

प्रमत्त को सब ओर से भय होता है । अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता ।

भाष्यम् ७५—कषायस्य स्वरूपज्ञानेन तथ्यमेतद्  
हृदयङ्गमं भवति—प्रमत्तस्य सर्वतो भयं भवति ।  
सर्वतः—द्रव्यतः, क्षेत्रतः, कालतः, भावतश्च ।

द्रव्यतः—सर्वेषु आत्मप्रदेशेषु ।

घट आदि एक वस्तु को भी जान लेता है । क्योंकि उसी घट की  
अतीत और अनागत पर्यायों के भेद से वह घट विभिन्न वस्तुओं के  
स्वभाव को प्राप्त कर अनादि-अनन्त काल में विश्व की सभी वस्तुओं  
के स्वभाव को प्राप्त कर चुका होता है । कहा भी है—

'एक द्रव्य में अतीत, अनागत और वर्तमान के जितने  
अर्थ-पर्याय और वचन-पर्याय होते हैं, वह द्रव्य उतना ही होता है ।'

विश्व के सारे द्रव्य परंपरा से संश्लिष्ट हैं । इसलिए एक द्रव्य  
का ज्ञान करने के लिए सभी द्रव्यों का ज्ञान अपेक्षित होता है ।

जिनभद्रगणिकामाश्रमण ने आकाररूप अक्षर को लक्ष्य कर  
लिखा है— जो सबको नहीं जानता वह एक 'आकार' अक्षर को भी  
नहीं जानता ।

जो एक को जानता है वह सबको जानता है । जो सबको  
जानता है वह एक को जानता है । जो सबको नहीं जानता वह एक  
'आकार' को सर्वथा नहीं जानता ।

मलधारी हेमचन्द्रसूरी ने इसी मत का समर्थन करते हुए  
लिखा है— जो किसी एक वस्तु को सभी स्व-परपर्यायों से युक्त जानता  
है वह लोक और अलोक के सभी वस्तुओं को, सभी स्व-पर पर्यायों से  
युक्त जानता है, क्योंकि एक वस्तु का ज्ञान सभी वस्तुओं के परिज्ञान का  
अविनाभावी है । जो सर्वपर्यायों से युक्त सभी वस्तुओं को जानता है,  
वह एक वस्तु को भी सर्वपर्यायों से युक्त जानता है । क्योंकि सभी  
वस्तुओं का परिज्ञान एक वस्तु के परिज्ञान का अविनाभावी है ।

कषाय का स्वरूप जान लेने पर यह तथ्य हृदयगम हो जाता  
है कि प्रमत्त पुरुष को सर्वतः भय होता है । सर्वतः का अर्थ है—द्रव्य  
से, क्षेत्र से, काल से और भाव से ।

द्रव्यतः—प्रमत्त व्यक्ति के सभी आत्मप्रदेशों में भय व्याप्त  
रहता है ।

१. सन्मतितर्कप्रकरण, १।३१ ।

२. द्रव्य के त्रैकालिक पर्यायों को जानने वाले व्यक्ति का ज्ञान  
इतना विकसित होता है कि उसमें सब द्रव्यों को जानने  
की क्षमता होती है । जिसमें सब द्रव्यों को जानने की  
क्षमता होती है, वही वास्तव में एक द्रव्य को जान सकता  
है ।

द्रव्य के पर्याय दो प्रकार के होते हैं—स्वपर्याय और  
परपर्याय । स्वपर्याय और परपर्याय—इन दोनों को जाने  
बिना एक द्रव्य को भी पूर्णतः नहीं जाना जा सकता ।

स्वपर्याय और परपर्याय—इन दोनों पर्यायों से एक द्रव्य  
को जानने का अर्थ सब द्रव्यों को जानना है ।

इसका आध्यात्मिक तात्पर्य इस भाषा में व्यक्त किया जा  
सकता है—

जो आत्मा को जानता है, वह सबको जानता है,  
जो सबको जानता है, वही आत्मा को जानता है ।

३. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ४८४ ।

४. वही, गाथा ४८४ वृत्ति... ।

क्षेत्रतः—षट्सु दिक्षु ।

कालतः—अनुसमयम् ।

भावतः—सर्वासु अवस्थासु ।

यः रागद्वेषाभ्यां क्रोधमानमायालोभैर्वा अभिभूतात्मपरिणामः स प्रमत्तः । तैरनभिभूतात्मपरिणामश्चाप्रमत्तः । रागाभिभूतः पुरुषः प्रियवियोगाशंकया विभेति, द्वेषाभिभूतश्च अप्रियसंयोगाशंकया । एवं क्रोधादीनपि अनुगच्छति भयम् । प्रियाप्रिययोः समं तिष्ठतः अप्रमत्तस्य कुतोऽपि भयं न भवति । तात्पर्यमस्य यस्मिन् कषायः सक्रियस्तत्र भयं, यस्मिन् स निष्क्रियः तत्राभयं भवति ।

क्षेत्रतः—छहों दिशाओं से उसे भय होता है ।

कालतः—प्रति क्षण उसे भय सताता है ।

भावतः—सभी अवस्थाओं में वह भयभीत रहता है ।

प्रमत्त वह होता है जिसके आत्म-परिणाम राग-द्वेष अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ से अभिभूत होते हैं । जिसके आत्म-परिणाम इनसे अभिभूत नहीं होते वह अप्रमत्त होता है । राग से अभिभूत व्यक्ति अपने प्रिय के वियोग की आशंका से भयभीत हो जाता है और द्वेष से अभिभूत व्यक्ति अप्रिय के संयोग की आशंका से भयभीत हो जाता है । इस प्रकार भय क्रोध आदि का भी अनुगमन करता है । अप्रमत्त व्यक्ति प्रिय और अप्रिय के प्रति सम रहता है, इसलिए उसे कहीं से भी भय नहीं होता । इसका तात्पर्य यह है कि जिसमें कषाय सक्रिय है, वहां भय है और जिसमें वह निष्क्रिय है, वहां अभय है ।

७६. जे एगं नामे, से बहुं नामे, जे बहुं नामे, से एगं नामे ।

सं०—यः एकं नामयति, स बहून् नामयति । यः बहून् नामयति, स एकं नामयति ।

जो एक को भुकाता है, वह बहुतों को भुकाता है । जो बहुतों को भुकाता है, वह एक को भुकाता है ।

भाष्यम् ७६—कषायाधिकारो वर्तते । कषायस्य वमनं द्विविधं भवति—उपशमनवमनं क्षपणवमनं च । अध्यात्मजगति दमनं नास्ति सम्मतं, किन्तु विरेचनमस्ति सङ्गतम् । उपशमनस्य क्रमोऽत्र दर्शितः—य एकं नामयति स बहून् नामयति । नामयति इति उपशमयति । मोहनीयकर्मणः अष्टाविंशतिः प्रकृतयः सन्ति । य एकं क्रोधं उपशान्तं करोति स बह्वीरपि शेषाः सप्तविंशति प्रकृतीः उपशान्ताः करोति । प्रतिपक्षभावनादिभिः अनुप्रेक्षादिभिरासनादिप्रयोगैश्च क्रोधादीनामुपशमो जायते । क्षयः सकृद् भवति उपशमश्च असकृद् ।

यो बहून् कषायान् उपशमयति स क्रोधादिकमन्य-तरमपि उपशमयति ।

कषाय का अधिकार है । कषाय का वमन दो प्रकार का होता है—उपशमन वमन और क्षपण वमन । अध्यात्म-जगत् में दमन सम्मत नहीं है, किन्तु विरेचन सम्मत है । प्रस्तुत सूत्र में उपशमन का क्रम प्रतिपादित है—जो पुरुष एक को नमाता है, वह बहुतों को नमाता है । नमाता है का अर्थ है—उपशमन करता है । मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियां हैं । जो एक क्रोध की प्रकृति का उपशमन करता है, वह बहुत सारी शेष सत्ताईस प्रकृतियों का भी उपशमन कर देता है । प्रतिपक्षी भावनाओं, अनुप्रेक्षाओं तथा आसन आदि के प्रयोगों से क्रोध आदि प्रकृतियों का उपशमन होता है । क्षय एक बार होता है, उपशमन बार-बार ।

जो अनेक कषायों (कषाय की प्रकृतियों) का उपशमन करता है, वह क्रोध आदि किसी एक का भी उपशमन करता है ।

७७. दुःखं लोघस्स जाणित्ता ।

सं०—दुःखं लोकस्य ज्ञात्वा ।

पुरुष लोक के दुःख को जान कर (उसके हेतुभूत कषाय का परित्याग करे) ।

भाष्यम् ७७—इदानीं क्षपणवमनं प्रकान्तम् । यो दुःखं दुःखहेतुं च उपलभ्य ज्ञानपूर्विकां क्रियामाचरति तस्य कषायप्रकृतयः क्षीणा भवन्ति । लोकस्य दुःखमस्ति इति ज्ञात्वा तस्य हेतोरन्वेषणं करणीयम् । व्यवहारनय-माश्रित्य दुःखं प्रतिकूलसंवेदनं, निश्चयनयमाश्रित्य तस्य हेतुभूतं कर्म दुःखम् ।

अब प्रसंग है—क्षपणवमन का । जो पुरुष दुःख और दुःख के हेतु को जानकर ज्ञानपूर्विक क्रिया करता है, उसके कषाय की प्रकृतियां क्षीण होती हैं । लोक के दुःख है, यह जान कर उस दुःख के हेतु की खोज करनी चाहिए । व्यावहारिक दृष्टिकोण के अनुसार प्रतिकूल संवेदन दुःख है और नैश्चयिक दृष्टिकोण के अनुसार दुःख का हेतुभूत कर्म दुःख है ।

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ १२६ : उवसमगति वा जामणं वा एगट्ठा ।

७८. वंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं । परेण परं जंति, नावकांखंति जीवियं ।

सं०— वान्त्वा लोकस्य संयोगं यान्ति वीराः महायानम् । परेण परं यान्ति, नावकाङ्क्षन्ति जीवितम् ।

वीर साधक लोक के संयोग को त्याग कर महायान—महापथ या क्षपकश्रेणि को प्राप्त होते हैं । वे आगे से आगे बढ़ते जाते हैं । वे जीने की आकांक्षा नहीं करते ।

भाष्यम् ७८—लोकः आत्मव्यतिरिक्तः धनपुत्रशरीरादिः । तस्य संयोगः—ममत्वपूर्वकः संबंधः कर्मबन्धस्य निमित्तं भवति, अतस्तं लोकसंयोगं वान्त्वा वीरा महायानं यान्ति । महायानम्—महापथः, क्षपकश्रेणिरिति तात्पर्यम् । यथा यथा लोकसंयोगस्य परित्यागो भवति तथा तथा महायानं प्रति गतिर्भवति । अत एषोच्यते—महायानं प्रति प्रस्थिताः 'परेण परं'—उत्तरोत्तरं तेजो-लेश्यामवाप्नुवन्ति, यथा भगवत्यां निरूपितमिदम्—

जे इमे भंते ! अज्जत्ताए समणा निग्गंथा विहरंति, ते णं कस्स तेयलेस्सं वीईवयइ ?

गोयमा ! मासपरियाए समणे निग्गंथे वाणमंतराणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

दुमासपरियाए समणे निग्गंथे असुरिदवज्जियाणं भवणवासीणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

एवं एएणं अभिलावेणं—तिमासपरियाए समणे निग्गंथे असुरकुमाराणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

चउम्मासपरियाए समणे निग्गंथे गहगण-नक्खत-ताराव्वाणं जोतिसियाणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

पंचमासपरियाए समणे निग्गंथे चंदिम-सूरियाणं जोतिसिदाणं जोतिसराईणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

छम्मासपरियाए समणे निग्गंथे सोहम्मीसाणाणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

सत्तमासपरियाए समणे निग्गंथे सणकुमार-माहिदाणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

अट्टमासपरियाए समणे निग्गंथे बंभलोग-लंतगाणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

नवमासपरियाए समणे निग्गंथे महासुक-सहस्साराणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

दसमासपरियाए समणे निग्गंथे आणय-पाणय-आरणच्चुयाणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

आत्मा के अतिरिक्त धन, पुत्र, शरीर आदि लोक है । उसका संयोग—ममत्वपूर्वक संबंध कर्मबंध का निमित्त होता है । इसलिए उस लोक-संयोग को छोड़कर वीर पुरुष महायान पर चलने लगते हैं । महायान का अर्थ है—महापथ । इसका तात्पर्य है—क्षपकश्रेणि । जैसे-जैसे लोक-संयोग का परिहार होता है, वैसे-वैसे महायान के प्रति गति होती है । इसलिए यह कहा जाता है—जो महायान के प्रति प्रस्थित हैं वे उत्तरोत्तर (विशुद्ध) तेजोलेख्या को प्राप्त होते जाते हैं । भगवती सूत्र में इसका निरूपण इस प्रकार है—

गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते ! आज जो श्रमण-निर्ग्रन्थ विहरण कर रहे हैं, वे किसकी तेजोलेख्या का अतिक्रमण करते हैं ?'

भगवान् ने कहा—'गौतम ! एक मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ व्यन्तर देवों की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

दो मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ असुरेन्द्र के अतिरिक्त सभी भवतपति देवों की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

इस प्रकार इस अभिलाप से—तीन मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ असुरकुमार देवों की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

चार मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ग्रह-नक्षत्र और तारा रूप ज्योतिष देवों की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

पांच मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ज्योतिष्क इन्द्र, ज्योतिष्क राज चांद-सूर्य की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

छह मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सौधर्म और ईशान देवों की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

सात मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ सनत्कुमार और माहेन्द्र देवों की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

आठ मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ ब्रह्मलोक और लान्तक देवों की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

नौ मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ महाशुक्र और सहस्रार देवों की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

दस मास की संयम-पर्याय वाला श्रमण-निर्ग्रन्थ आनत और प्राणत तथा आरण और अच्युत देवों की तेजोलेख्या का अतिक्रमण कर देता है ।

एककारसमासपरियाए समणे निग्गंथे गेवेज्जगाणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

बारसमासपरियाए समणे निग्गंथे अणुत्तरोववाइ-याणं देवाणं तेयलेस्सं वीईवयइ ।

तेण परं सुक्के सुक्काभिजाए भवित्ता तओ पच्छा सिज्झति बुज्झति मुच्चति परिनिव्वायति सव्वदुक्खाणं अंतं करेति ।<sup>१</sup>

एतादृशाः जीवितं नावकाक्षन्ति । जीविताशंसा लोके सर्वतो बलवती भवति । ते ततोऽपि मुक्ता भवन्ति, न दीर्घजीवित्वं अभिलषन्ति न च विषयकषायासंयमयुतं जीवितम् ।

७६. एगं विगिच्चमाणे पुढो विगिच्चइ, पुढो विगिच्चमाणे एगं विगिच्चइ ।

सं०—एकं विविञ्चानः पृथक् विविनक्ति पृथक् विविञ्चानः एकं विविनक्ति ।

एक का विवेक करने वाला अनेक का विवेक करता है । अनेक का विवेक करने वाला एक का विवेक करता है ।

भाष्यम् ७९—क्षपणक्रियामारूढः पुरुषः एकं क्रोधं क्षपयन् अन्यानपि कषायभेदान् क्षपयति ।<sup>२</sup> अत्र कर्म-शास्त्रगता सम्पूर्णा क्षपणप्रक्रिया अवतारणीया ।<sup>३</sup> गत-प्रत्यागत क्रमेण उच्यते—कषायस्य बहून् भेदान् क्षपयन् तस्यैकं भेदं क्षपयति ।

क्षपणक्रिया में आरूढ अनगार एक क्रोध कषाय का क्षय करता हुआ कषाय के अन्यान्य भेदों को भी क्षीण कर डालता है । कर्मशास्त्र-गत क्षपण प्रक्रिया की सम्पूर्ण अवतारणा यहां कर लेनी चाहिए । गतप्रत्यागतक्रम से भी कहा जा सकता है—कषायों के अनेक भेदों का क्षय करता हुआ अनगार कषाय के एक भेद का भी क्षय कर डालता है ।

८०. सद्धी आणाए मेधावी ।

सं०—श्रद्धी आज्ञया मेधावी ।

श्रद्धावान् आगम के उपदेश के अनुसार मेधावी होता है ।

भाष्यम् ८०—इदानीं क्षपकश्रेणिं प्रति जिगमिषो-रहंतां दर्शयति सूत्रकारः—यः श्रद्धी भवति सोऽर्हति महायानमुपलब्धुम् ।

प्रस्तुत आलापक में सूत्रकार क्षपकश्रेणी में आरूढ होने के इच्छुक अनगार की योग्यता का निर्देश करते हैं—जो श्रद्धावान् होता है, वह महायान को उपलब्ध कर सकता है ।

श्रद्धा<sup>४</sup>—मोक्षाभिलाषः । श्रद्धावान् पुरुष एव संवेगं प्राप्य कर्मक्षयाय प्रवर्तते, यथा उत्तराध्ययने—

संवेगेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?<sup>५</sup>

संवेगेणं अणुत्तरं धम्मसद्धं जणयइ । अणुत्तराए धम्मसद्धाए संवेगं हव्वमागच्छइ, अणंताणुबंधिकोह-माणमायालोभे खवेइ, कम्मं न बंधइ, तप्पच्चइयं च णं मिच्छत्तविसोहि काऊण दंसणाराहए भवइ । दंसणविसो-

श्रद्धा का अर्थ है—मोक्ष की अभिलाषा । श्रद्धावान् पुरुष ही संवेग—वैराग्य को प्राप्त कर कर्मक्षय के लिए प्रयत्न करता है । जैसे उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—गौतम ने पूछा—भंते ! संवेग से जीव क्या प्राप्त करता है ? भगवान् ने कहा—गौतम ! संवेग से जीव अनुत्तर धर्म श्रद्धा को प्राप्त होता है । अनुत्तर धर्मश्रद्धा से तीव्र संवेग को प्राप्त करता है, अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ को क्षीण करता है, नए कर्मों का संग्रह नहीं करता, कषाय के क्षीण होने से

१. अंगसुत्ताणि २, भगवई १४।१३६ ।

२. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ १२७ : एगं अणंताणुबंधि कोहं सव्वअयप्पवेसेहि विगिच्चित्तो, विगिच्चिणंति वा विवेगोत्ति वा खवणत्ति वा एगट्ठा ।

३. पंचम कर्मग्रन्थ, क्षपकश्रेणि द्वार, गाथा ९९,१०० ।

४. पातञ्जलयोगदर्शन १।२० भाष्यं—श्रद्धा चेतसः संप्रसादः, सा हि जमनीव कल्याणी योगिनं पाति ।

५. उत्तरज्जयणाणि, २९।२ ।



हीए य णं विसुद्धाए अत्थेगइए तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झइ । सोहीए य णं विसुद्धाए तच्चं पुणे भवग्गहणं नाइक्कमइ ।

द्वितीयाहंता—यः आज्ञया मेधावी भवति । आज्ञा—श्रुतज्ञानमागमो वा । सूक्ष्मार्थेषु यस्य मेधा आज्ञामनुसरति सोर्हति महायानमुपलब्धुम् । यः श्रद्धी न भवति स स्वेच्छया स्वमेधया वा आगमगम्यान् सूक्ष्मानर्थान् हेतुप्रयोगेण प्रतिपादयन् सिद्धान्तविराधको भवति । उक्तं च सन्मत्यां—

जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमे य आगमिओ ।

जो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अन्नो ॥<sup>१</sup>

समुच्चयार्थः—श्रद्धावान् आगमोपदेशेन मेधावी भवति ।<sup>२</sup>

द१. लोगं च आणाए अभिसमेच्चा अकुतोभयं ।

सं०—लोकं च आज्ञया अभिसमेत्य अकुतोभयम् ।

पुरुष आज्ञा से कषायलोक को जान कर अकुतोभय हो जाता है—उसे किसी भी विधा से भय नहीं होता ।

भाष्यम् ८१—लोकमिति प्रकरणात् कषायलोकं, आज्ञया—आप्तवचनेन ज्ञात्वा यः प्रवर्तते तस्य न कुतोपि भयं भवति, अतः सोऽकुतोभयं पर्यायमनुभवति । भयस्य हेतुर्दुःखं, दुःखस्य हेतुः कषायः प्रमादो वा, यथा च स्थानांगसूत्रे<sup>३</sup>—

किंभया पाणा ? समणाउसो !.....

दुक्खभया पाणा समणाउसो !

से णं भंते दुक्खे केण कडे ?

जीवेणं कडे पमादेणं ।

येन कषायः उपशमं क्षयं वा नीतः तस्य दुःखं न भवति । यस्य नास्ति दुःखं स सर्वथा अभयो भवति ।

द२. अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं ।

सं०—अस्ति शस्त्रं परेण परं, नास्ति अशस्त्रं परेण परम् ।

शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होता है । अशस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण नहीं होता—वह एकरूप होता है ।

प्रकट होने वाली मिथ्यात्व-विशुद्धि कर दर्शन (सम्यक् श्रद्धान) की आराधना करता है । दर्शन-विशोधि के विशुद्ध होने पर कई एक जीव उसी जन्म से सिद्ध हो जाते हैं और कुछ उसके विशुद्ध होने पर तीसरे जन्म का अतिक्रमण नहीं करते—उसमें अवश्य ही सिद्ध हो जाते हैं ।

दूसरी योग्यता है—जो आज्ञा से मेधावी होता है । आज्ञा का अर्थ है—श्रुतज्ञान अथवा आगम । सूक्ष्म अर्थों में जिसकी मेधा आज्ञा का अनुसरण करती है वह व्यक्ति महायान प्राप्त कर सकता है । जो श्रद्धावान् नहीं होता वह अपनी इच्छा या अपनी मेधा से आगमगम्य सूक्ष्म अर्थों का हेतु-प्रयोग के द्वारा प्रतिपादन करता हुआ सिद्धान्त का विराधक होता है । सन्मति प्रकरण में कहा है—

दो प्रकार के पदार्थ होते हैं—हेतुगम्य और अहेतुगम्य अर्थात् श्रद्धागम्य । जो साधक हेतुगम्य पदार्थों के लिए हेतुओं का और आगमिक अर्थात् श्रद्धागम्य पदार्थों के लिए श्रद्धा का उपयोग करता है वह अपने सिद्धान्त का प्रजापक होता है । जो हेतुगम्य के पक्ष में श्रद्धा और अहेतुगम्य के पक्ष में हेतु का प्रयोग करता है वह सिद्धान्त का विराधक होता है ।

समुच्चयार्थ है—श्रद्धावान् पुरुष आगम के उपदेश से मेधावी होता है ।

प्रस्तुत आलापक में लोक—कषायलोक का प्रकरण है । जो साधक आज्ञा—आप्तवचन से कषायलोक को जानकर प्रवृत्ति करता है उसको कहीं से भी भय नहीं होता । इसलिए वह अकुतोभय—अभय की पर्याय का अनुभव करता है । भय का हेतु है—दुःख और दुःख का हेतु है—कषाय अथवा प्रमाद । स्थानांग सूत्र का एक प्रसंग है— भगवान् ने गौतम आदि श्रमणों से पूछा—आयुष्मान् ! श्रमणो ! प्राणी किससे भय खाते हैं ? (गौतम आदि श्रमणों ने कहा—हम नहीं जानते) । तब—

भगवान् ने कहा—प्राणी दुःख से भय खाते हैं ।

दुःख का कर्त्ता कौन है ?

प्राणी ने अपने ही प्रमाद से दुःख का सर्जन किया है ।

जिसने कषाय को उपशांत या क्षीण कर दिया है, उसके दुःख नहीं होता । जिसके दुःख नहीं होता वह सर्वथा अभय होता है ।

१. सन्मतितर्कप्रकरण ३।४५ ।

२. (क) गीता ४।३९ : श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् ।

(ख) उत्तरज्जयणाणि २।३० : नावंसणिस्स नाणं ।

३. अंगुत्ताणि १, ठाणं, ३।३३६ ।

भाष्यम् ८२—शस्त्रं परेण परं—उत्तरोत्तरं तीक्ष्णतरं तीक्ष्णतमं भवति । प्रत्यक्षमस्ति पाषाणयुगीनशस्त्रात् प माणुशस्त्राणां तीक्ष्णतमता । अशस्त्रे अस्ति एकरूपता, तेन तत्र नास्ति तारतम्यम् । प्रकरणवशादिह शस्त्रम्—कषायः स च तीव्रः तीव्रतरस्तीव्रतमश्च भवति । अत एव स अनन्तानुबंध्यादिभेदैर्व्याख्यातः ।<sup>१</sup> अशस्त्रम्—अकषायः, स संयमः समता अहिंसा वा । तत्र कञ्चित् प्राणिनं प्रति मन्दाहिंसा, कञ्चित् प्रति तीव्रा, कञ्चित् प्रति तीव्रतरा, कञ्चित् प्रति तीव्रतमा च न भवति किन्तु सा प्राणिमात्रं प्रति समाना एव भवति ।

तात्पर्यमस्य यत्किञ्चिद् वैषम्यमस्ति तत् कषायकृतमस्ति । शस्त्राणां त्रिकासोऽपि कषायकृत एव । यावत् तस्योपशमः क्षयो वा न स्यात् तावत् मनःशान्तेः विश्वशान्तेश्च कथापि वृथा ।<sup>२</sup>

८३. जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी । जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से प्रेयदंसी । जे प्रेयदंसी से दोषदंसी, जे दोषदंसी से मोहदंसी । जे मोहदंसी से गर्भदंसी, जे गर्भदंसी से जन्मदंसी । जे जन्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से निरयदंसी । जे निरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुःखदंसी ।

सं०—यः क्रोधदर्शी स मानदर्शी, यः मानदर्शी स मायादर्शी । यः मायादर्शी स लोभदर्शी, यः लोभदर्शी स प्रेयोदर्शी । यः प्रेयोदर्शी स दोषदर्शी, यः दोषदर्शी स मोहदर्शी । यः मोहदर्शी स गर्भदर्शी, यः गर्भदर्शी स जन्मदर्शी । यः जन्मदर्शी स मारदर्शी, यः मारदर्शी स निरयदर्शी । यः निरयदर्शी स तिर्यग्दर्शी, यः तिर्यग्दर्शी स दुःखदर्शी ।

जो क्रोधदर्शी है वह मानदर्शी है । जो मानदर्शी है वह मायादर्शी है । जो मायादर्शी है वह लोभदर्शी है । जो लोभदर्शी है वह प्रेयदर्शी है । जो प्रेयदर्शी है वह दोषदर्शी है । जो दोषदर्शी है वह मोहदर्शी है । जो मोहदर्शी है वह गर्भदर्शी है । जो गर्भदर्शी है वह जन्मदर्शी है । जो जन्मदर्शी है वह मृत्युदर्शी है । जो मृत्युदर्शी है वह नरकदर्शी है । जो नरकदर्शी है वह तिर्यचदर्शी है । जो तिर्यचदर्शी है वह दुःखदर्शी है ।

भाष्यम् ८३—पूर्व (सूत्र ३।७७) 'दुःखं लोयस्स जाणित्ता' इति निरूपितम् । प्रस्तुतसूत्रे दुःखस्य मूलकारणानि सन्ति निरूपितानि । पूर्वस्मिन् सूत्रे शस्त्रस्य परम्परायाः सूचनं कृतम् । इह सा साक्षात् प्रदर्शिता अस्ति ।

यः क्रोधं पश्यति—करोति स मानं पश्यति । एवं मानेन मायायाः, मायया लोभस्य, लोभेन प्रेयसः, प्रेयसा द्वेषस्य, द्वेषेन मोहस्य च नियतः संबंधः । एषा शस्त्रस्य परम्परा । अस्याः प्रभावेण प्राणी गर्भं पश्यति ।

१ अंगुस्तानि १, ठाणं, ४।८४-८७ ।

२. द्वेष, घृणा, क्रोध—ये शस्त्र हैं । मंत्री, क्षमा—ये अशस्त्र हैं । शस्त्र में विषमता होती है । विषमता अर्थात् अपकर्ष और उत्कर्ष । अतः कोई मनुष्य 'अ' के प्रति मंत्र द्वेष करता है । 'ब' के प्रति तीव्र द्वेष करता है । 'क' के प्रति तीव्रतर द्वेष करता है । 'ख' के प्रति तीव्रतम द्वेष करता है । इस प्रकार शस्त्र मंद, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होता है । अशस्त्र में समता होती है । समभाव एकरूप

शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्णतर, तीक्ष्णतम होता जाता है । आज पाषाणयुगीन शस्त्रों से परमाणुशस्त्रों की अतिशय तीक्ष्णता प्रत्यक्ष है । अशस्त्र में एकरूपता होती है, इसलिए उसमें तरतमता नहीं रहती । प्रकरण के अनुसार यहां शस्त्र है—कषाय । वह तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम होता है, इसलिए उसकी व्याख्या अनन्तानुबंधी आदि भेदों के रूप में की गई है ।

अशस्त्र है—अकषाय । दूसरे शब्दों में संयम, समता अथवा अहिंसा अशस्त्र हैं । अहिंसा किसी प्राणी के प्रति मंद, किसी के प्रति तीव्र, किसी के प्रति तीव्रतर और किसी के प्रति तीव्रतम नहीं होती, किन्तु वह प्राणी मात्र के प्रति समान ही होती है ।

इसका तात्पर्य है कि जो कुछ विषमता है वह कषायकृत है । शस्त्रों का विकास भी कषायकृत ही है । जब तक कषाय का उपशमन या क्षय नहीं होता तब तक मानसिक शांति और विश्वशांति की बात ही व्यर्थ है ।

पहले (सूत्र ३।७७ में) 'लोक के दुःख को जानकर'—ऐसा निरूपित है । प्रस्तुत सूत्र में दुःख के मूल कारणों का निरूपण है । इससे पूर्व ८२वें सूत्र में शस्त्र की परंपरा का सूचनमात्र किया गया है । प्रस्तुत आलापक में उस परंपरा का स्पष्ट निर्देश है ।

जो क्रोध करता है, वह मान करता है । इसी प्रकार मान का माया से, माया का लोभ से, लोभ का राग से, राग का द्वेष से तथा द्वेष का मोह से नियत संबंध है । यह शस्त्र की परंपरा है । इसके प्रभाव से ही प्राणी गर्भ में जाता है । इसका यह परिणाम है—गर्भ से

होता है । यह 'अ' के प्रति मंत्र और 'ब' के प्रति तीव्र नहीं हो सकता । हिंसा शस्त्र से ही नहीं होती । वह स्वयं शस्त्र है । हिंसा का अर्थ है—असंयम । जिसकी इंद्रियां और मन असंयत होते हैं, वह प्राणीमात्र के लिए शस्त्र होता है ।

अहिंसा अशस्त्र है । प्राणीमात्र के प्रति संयम होना अहिंसा है । जिसकी इंद्रियां और मन संयत होते हैं, वह प्राणीमात्र के लिए अशस्त्र होता है ।

एष परिणामः—गर्भेण जन्मनः, जन्मना मृत्योः, मृत्युना नरकस्य तिर्यग्गतेश्च यथावकाशं संबन्धयोजना । तत्र अंतिमः परिणामोस्ति दुःखम् ।

यदि दुःखं ज्ञातव्यं तर्हि क्रोधोपि ज्ञातव्यः, यावन् मोहोपि ज्ञातव्यो भवति । एते न ज्ञाता भवन्ति तावद् दुःखं वस्तुवृत्त्या ज्ञातं न भवति ।

यदि दुःखं परिहर्तव्यमस्ति तर्हि सर्वप्रथमं क्रोधः परिहर्तव्यः यावन्मोहश्च । एतेषां परिहारं विना दुःखस्य परिहारः कर्तुं न शक्यते । अत एवोच्यते—

८४. से मेधावी अभिनिवर्तयेत् क्रोधं च, मानं च, मायां च, लोभं च, प्रेयश्च, दोषं च, मोहं च, गर्भं च, जन्मं च, मारं च, नरगं च, तिर्यग्च, दुःखं च ।

सं०—स मेधावी अभिनिवर्तयेत् क्रोधं च, मानं च, मायां च, लोभं च, प्रेयश्च, दोषं च, मोहं च, गर्भं च, जन्मं च, मारं च, नरकं च, तिर्यग्च, दुःखं च ।

मेधावी क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय, द्वेष, मोह, गर्भ, जन्म, मृत्यु, नरकगति, तिर्यग्गति और दुःख को छिन्न करे ।

भाष्यम् ८४—स मेधावी पुरुषः दुःखं परिजिहीर्षुः अनेन क्रमेण प्रहारं कुर्यात्—सर्वप्रथमं क्रोधमभिनिवर्तयेत्—व्यावर्तयेद् छिन्द्यात् वा । येन क्रोधश्छिन्नः तेन मानश्छिन्नः यावद् दुःखं छिन्नम् ।

यदि दुःख को जानना है तो क्रोध को भी जानना होगा । इसी प्रकार मान, माया, लोभ, राग-द्वेष और अन्त में मोह को भी जानना होगा । जब तक ये सारे ज्ञात नहीं हो जाते तब तक दुःख भी यथार्थ रूप में ज्ञात नहीं होता ।

यदि दुःख का परिहार करना है तो सबसे पहले क्रोध का परिहार करना होगा । इसी प्रकार मान, माया, लोभ, राग-द्वेष और मोह का परिहार करना होगा । इन सबके परिहार के बिना दुःख का परिहार नहीं किया जा सकता । इसीलिए कहा है—

दुःख का परिहार करने का इच्छुक वह मेधावी पुरुष इस क्रम से प्रहार करे—सबसे पहले क्रोध का व्यावर्तन करे अथवा छेदन करे । जिसने क्रोध को छेद डाला उसने मान को, जिसने मान को उसने माया को, जिसने माया को उसने लोभ को, जिसने लोभ को उसने राग को, जिसने राग को उसने द्वेष को, जिसने द्वेष को उसने मोह को, जिसने मोह को उसने गर्भ को, जिसने गर्भ को उसने जन्म को, जिसने जन्म को उसने मृत्यु को, जिसने मृत्यु को उसने नरकगति को, जिसने नरकगति को उसने तिर्यग्गति को, जिसने तिर्यग्गति को उसने दुःख को छेद डाला है ।

८५. एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्थस्स पत्थितकरस्स ।

सं०—एतद् पश्यकस्य दर्शनं उपरतशस्त्रस्य पर्यन्तकरस्य ।

यह अहिंसक और निरावरण द्रष्टा का दर्शन है ।

भाष्यम् ८५—३।७२ सूत्रवत् ।

देखें—३।७२ वां सूत्र ।

८६. आघाणं णिसिद्धा सगडिभि ।

सं०—आदानं निषेध्य स्वकृतभित् ।

जो पुरुष कर्म के आदान—कषाय को रोकता है, वही अपने किए हुए कर्म का भेदन कर पाता है ।

भाष्यम् ८६—३।७३ सूत्रवत् ।

देखें—३।७३ वां सूत्र ।

१. आचारंग चूणि, पृष्ठ १२८ : निव्वट्टनंति वा छिण्णणत्ति वा एणट्ठा । लोपोवि जहा एणेणप्पहारेण हृत्यो निव्वट्टितो

पादो वा, जं भणितं—छिण्णा ।

८७. किमस्ति उवाही पासगस्स ण विज्जइ ?  
णत्थि । —त्ति बेमि ।

सं०—किमस्ति उपाधिः पश्यकस्य न विद्यते ?  
नास्ति । —इति ब्रवीमि ।

क्या द्रष्टा के कोई उपाधि होती है या नहीं होती ?  
नहीं होती । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ८७—उपाधिः—कषायजनितः आत्मपरिणामः । सर्वेषां जीवानां उपाधिर्वर्तते इति जिज्ञासायां अस्य विकल्पस्योत्थानं—किं पश्यकस्य उपाधिरस्ति अथवा नास्ति ? भगवतोत्तरितं—नास्ति । यः केवलं जानाति पश्यति तस्य न तु कषाय उदयमेति, न च कर्मोपाधिरपि जायते । यो यो मोहानुभवस्य क्षणः स उपाधेः क्षणः । ज्ञाता द्रष्टा अमोहावस्थामनुभवति, तेन तस्योपाधिर्न भवति—इति ब्रवीमि ।

उपाधि का अर्थ है—कषाय से उत्पन्न आत्म-परिणाम । सभी प्राणियों के उपाधि है तो फिर इस जिज्ञासा में यह विकल्प उठता है कि क्या द्रष्टा के उपाधि होती है या नहीं ? भगवान् ने कहा—नहीं, उसके उपाधि नहीं होती । जो केवल जानता-देखता है उसके न कषाय का उदय होता है और न कर्म की उपाधि होती है । जो जो मोह के अनुभव का क्षण है, वह उपाधि का क्षण है । ज्ञाता-द्रष्टा अमोहावस्था का अनुभव करता है, इसलिए उसके उपाधि नहीं होती—ऐसा मैं कहता हूँ ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र १५८ : 'पश्यकस्य' केवलिनः  
'उपाधिः' विशेषणं, उपाधीयते इति बोधाधिः, द्रव्यतो

हिरण्यादिः, भावतोऽण्डप्रकारं कर्म, स द्विविधोऽप्युपाधिः  
किमस्त्याहोस्विन्न विद्यते ? नास्तीति ।

चउत्थं अज्झयणं  
सम्मत्तं

चीथा अछययन  
सम्यक्त्थ

[उद्देशक ४ : सूत्र ५३]



## आमुखम्

प्रस्तुताऽध्ययनस्य नामास्ति सम्यक्त्वम् । केचित् प्रतिपादयन्ति, जैनानां साधनापद्धतौ दुःखसहनमेव धर्म इति सम्मतमस्ति, किन्तु एतत् सुप्रतिपादितं नास्ति । चूर्णिकारेण तृतीयाऽध्ययनस्य प्रारम्भे अस्याऽध्ययनस्य प्रारम्भेऽपि च लिखितमिदम्—नैकान्तेन दुःखेन सुखेन वा धर्मो भवति, धर्मोऽस्ति कषायवमनम् ।<sup>१</sup> तस्य प्रधानं कारणमस्ति सम्यक्त्वम् । आचारांगे अस्याध्ययनस्य अत्यन्तं गौरवपूर्णं स्थानमस्ति । लिखितं चूर्णिकारेण— यथा चतुःशालमध्यगतो दीपस्तत् सर्वमुद्द्योतयेत्, एवं मध्यगतमध्ययनमिदं सर्वमाचारमवभासयेत् ।<sup>१</sup>

प्रस्तुताऽध्ययनस्य चत्वार उद्देशकाः सन्ति । तेषामर्थीधिकारः निर्युक्तौ एवं निर्दिष्टः समस्ति—

१. सम्यग्वादः ।

२. धर्मप्रवादिनां परीक्षा ।

३. अनवद्यतपोवर्णनम् । बालतपसः नास्ति मोक्षं प्रति सर्वाराधकत्वम् ।

४. संक्षेपेण नियमनं संयमनं वा उक्तम् ।

तात्पर्यार्थे प्रथमोद्देशके सम्यग्दर्शनं द्वितीये सम्यग्ज्ञानं तृतीये सम्यक्तपः चतुर्थे च सम्यक्चारित्र्यमस्ति निरूपितम् ।<sup>१</sup>

अत्र सम्यक्त्वपदेन किमस्ति प्रस्तुतमिति निक्षेपेणैव अवगन्तुं शक्यम् । निक्षेपावसरे 'सम्यक्त्व' पदं निर्युक्तौ निक्षिप्तमस्ति । तत्र द्रव्यनिक्षेपे सम्यक्पदं सप्तधा भवति—

१. कृतम्—यथा रथः निर्वातितः, तस्य यथाऽवयव-लक्षणनिष्पत्तेर्द्रव्यसम्यक् कर्तुंस्तन्निमित्तचित्तस्वास्थ्यो-त्पत्तेः, यदर्थं वा कृतं तस्य शोभनाशुकरणतया समाधान-

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १२९ : ण य एगंतेण दुक्खेण धम्मो सुहेण वा कसायवमणं च ।

२. वही, पृष्ठ १२९ : जहा वा चातुस्सालमज्जागतो बीवो तं सव्वं उज्जोवेति एवं एतं अज्जायणाणं मज्जागतं सव्वं आयारं अवभासति ।

३. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २१४, २१५ :

पढमे सम्मावाओ बीए धम्मप्पवाइयपरिक्खा ।

तइए अणवज्जतवो न इ बालतवेण मुक्खुत्ति ॥

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'सम्यक्त्व' है । कुछ विद्वान् यह प्रतिपादन करते हैं कि जैन-साधना-पद्धति में दुःख सहना ही धर्म माना गया है । किन्तु यह प्रतिपादन समीचीन नहीं है । चूर्णिकार ने तीसरे अध्ययन के प्रारंभ में तथा इस अध्ययन के प्रारंभ में भी यह लिखा है—'एकान्त दुःख या एकान्त सुख से धर्म नहीं होता । धर्म है—कषायों का वमन । उसका प्रधान कारण है—सम्यक्त्व । आचारांग में प्रस्तुत अध्ययन का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है । चूर्णिकार ने लिखा है—'चतुःशाला के मध्य में रखा हुआ दीपक उस संपूर्ण चतुःशाला को प्रकाशित कर देता है, वैसे ही आचारांग सूत्र का यह मध्यगत अध्ययन संपूर्ण आचार (आचारांग) को आलोकित करता है ।

इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं । निर्युक्ति में उनके अर्थीधि-कार (विषय) इस प्रकार निर्दिष्ट हैं—

१. सम्यग्वाद ।

२. धर्म-प्रवादियों की परीक्षा ।

३. निरवद्य तप का वर्णन । बाल-तप की मोक्ष के प्रति सर्वाराधकता का निषेध ।

४. नियमन या संयमन का संक्षिप्त कथन ।

तात्पर्य की भाषा में पहले उद्देशक में सम्यग्दर्शन, दूसरे में सम्यग्ज्ञान, तीसरे में सम्यगतप और चौथे में सम्यक् चारित्र्य का निरूपण है ।

यहां 'सम्यक्त्व' पद से क्या प्रस्तुत किया गया है, यह निक्षेपों के द्वारा ही जाना जा सकता है । निक्षेप के प्रसंग में निर्युक्ति में 'सम्यक्त्व' के निक्षेप किए गए हैं । द्रव्यनिक्षेप में 'सम्यक्' पद के सात प्रकार हैं—

१. कृत—जैसे—एक रथ का निर्माण किया गया । उसके अवयवों की समुचित निष्पत्ति हुई । यह 'द्रव्य सम्यक्' है, क्योंकि रथ निर्माता की उसके निमित्त से चैतसिक प्रसन्नता हुई । अथवा

उद्वेसमि चउत्थे समासवयणेण नियमणं भणियं ।

तम्हा य नाणदंसणतवच्चरणे होइ जइयव्वं ॥

४. वही, गाथा २१७ :

अहं दव्वसम्म इच्छाणुलोमियं तेषु तेषु बव्वेसुं ।

कयसंखयसंजुत्तो पउत्त जइ मिण्ण छिण्णं वा ॥

हेतुत्वाद् वा द्रव्यसम्यक् ।<sup>१</sup>

२. संस्कृतम्—पटादेः अवयवानां संस्करणं पुनः नवीनीकरणं च संस्कृत-द्रव्यसम्यक् ।

३. संयुक्तम्—गुणान्तराधानाय द्वयोर्द्रव्ययोः संयोगः पयःशर्करयोरिव कर्तुरूपभोक्तृर्वा मनःप्रीत्यै भवति इति संयुक्तद्रव्यसम्यक् । तद्विपरीतं तिलदध्नोः संयोगः विरोधित्वात् असम्यक् भवति ।

४. प्रयुक्तम्—यस्य यद् द्रव्यं प्रयुक्तं सत् लाभहेतुत्वात् आत्मनः समाधानाय भवति तत् प्रयुक्तद्रव्यसम्यक्, यथा रुग्णस्य औषधं, बुभुक्षितस्य ओदनं, तृष्णातुरस्य पानम् ।

५. त्यक्तम्—यत् त्यक्तं सत् सम्यक् भवति तत् त्यक्तद्रव्यसम्यक्, यथा भारादि ।

६. भिन्नम्—यद् भिन्नं सत् सम्यक् भवति तद् भिन्नद्रव्यसम्यक्, यथा काकादीनां समाधानोत्पत्तेः भिन्नं दधिभाजनम् ।

७. छिन्नम्—यच्छिन्नं सत् सम्यक् भवति तत् छिन्नद्रव्यसम्यक्, यथा अधिकमांसव्रणादीनां छेदः ।

भावसम्यक् त्रिविधं भवति—दर्शनसम्यक्, ज्ञान-सम्यक्, चारित्रसम्यक् च ।<sup>२</sup>

सम्यग्दर्शनं विना क्रियां कुर्वाणोऽपि स्वजनादीन् परित्यजन्नपि मिथ्यादृष्टिर्न सिद्ध्यति ।<sup>३</sup> जयाचार्येण मिथ्यादृशां मोक्षमार्गस्य देशाराधकत्वं स्वीकुर्वतापि प्रस्तुतविषयस्य पुष्टिः कृतास्ति ।<sup>४</sup> तस्मात् सम्यक्त्वार्थं यत्नो विधेयः । अहिंसाधर्मः शाश्वतो धर्मः । अयं आचारपक्षः । अस्य पृष्ठभूमौ सम्यक्त्वं वर्तते । यावत् षड्जीवनिकायं प्रति श्रद्धा सम्यग्बोधश्च न भवति तावत् अहिंसाधर्मस्य अनुशीलनस्य प्रश्नोऽपि नोद्भवति । अत एवोक्तम्—‘समिच्च लोयं खेयणोहि पवेइए ।<sup>५</sup> ‘तच्चं चयं तहा चयं, अस्सि चयं पबुच्चति ।<sup>६</sup>

१. आचारांग वृत्ति, पत्र १५९ ।

२. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २१८ :

तिविहं तु भावसम्मं वंसण नाणे तहा चरित्ते य ।  
वंसणचरणे तिविहं नाणे बुविहं तु नायव्वं ॥

३. वही, गाथा २१९, २२० :

कुणभाणोऽवि य किरियं परिच्चयंतोऽवि सयणघणभोए ।  
दितोऽवि बुहस्स उरं न जिणइ अंधो पराणीयं ॥

जिसके लिए उस रथ का निर्माण किया गया उसे रथ की सुंदर और शीघ्र निर्मिति होने के कारण समाधान मिला, इसलिए वह ‘द्रव्य-सम्यक्’ है ।

२. संस्कृत—वस्त्र आदि के अवयवों को संस्कारित करना और उनका पुनः नवीनीकरण करना ‘संस्कृत द्रव्यसम्यक्’ है ।

३. संयुक्त—दो भिन्न-भिन्न द्रव्यों के संयोग से भिन्न गुण का निर्माण होता है । जैसे—दूध के साथ चीनी का संयोग होने पर कर्ता और उपभोक्ता—दोनों का मन प्रसन्न होता है । यह ‘संयुक्त द्रव्यसम्यक्’ है । इसके विपरीत तिल और दही का संयोग विरोधी होने के कारण, ‘असम्यक्’ होता है ।

४. प्रयुक्त—जिसके जिस द्रव्य के प्रयुक्त होने पर लाभ का हेतु बनता है, वह स्वयं के समाधान—समाधि के लिए होता है । वह ‘प्रयुक्त द्रव्य-सम्यक्’ है । जैसे रोगी के लिए दवा, भूखे के लिए भोजन और प्यासे के लिए पानी ।

५. त्यक्त—जो छोड़े जाने पर सम्यक् होता है, वह ‘त्यक्त द्रव्य-सम्यक्’ है । जैसे—भार आदि ।

६. भिन्न—जो भिन्न होने पर सम्यक् होता है, वह ‘भिन्न द्रव्य-सम्यक्’ है । जैसे—काम आदि के लिए दही का फूटा हुआ बर्तन समाधान का हेतु होने के कारण ‘भिन्न द्रव्य-सम्यक्’ है ।

७. छिन्न—जो छिन्न होने पर सम्यक् होता है, वह ‘छिन्न द्रव्य-सम्यक्’ है । जैसे—बड़े हुए मांस, व्रण आदि का छेदन ।

भाव सम्यक् तीन प्रकार का होता है—दर्शनसम्यक्, ज्ञान-सम्यक् और चारित्रसम्यक् ।

सम्यग्दर्शन के बिना क्रिया करता हुआ भी तथा स्वजन आदि का परित्याग करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि जीव सिद्ध नहीं होता । श्रीमज्जयाचार्य ने मिथ्यादृष्टि को मोक्षमार्ग का देश—आंशिक आराधक मानते हुए भी प्रस्तुत मत की पुष्टि की है । इसलिए सम्यक्त्व प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए । अहिंसा धर्म शाश्वत धर्म है । यह आचारपक्ष है । इसकी पृष्ठभूमि में सम्यक्त्व है । जब तक षड्जीवनिकाय के प्रति श्रद्धा और सम्यग् बोध नहीं होता तब तक अहिंसा धर्म के अनुशीलन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता । इसीलिए कहा है—‘आत्मज्ञ अर्हत्ते ने जीव-लोक को जानकर अहिंसा धर्म का प्रतिपादन किया है ।’ ‘यह अहिंसा धर्म तथ्य है । यह वैसा ही है । यह इस अर्हत् प्रवचन में सम्यग् निरूपित है ।’

कुणभाणोऽवि निर्विति परिच्चयंतोऽवि सयणघणभोए ।

दितोऽवि बुहस्स उरं मिच्छविट्ठी न सिज्जइ उ ॥

४. आराधना, अष्टम द्वार, गाथा ४ :

जे सन्नकित्ति विण म्हे, चारित्रि नी किरिया रे ।

बार अनंत करी, पिण काज न सरिया रे ॥

॥ भावे भावना ॥

५. आयारो, ४।२ ।

६. वही, ४।४ ।



प्रस्तुताध्ययने 'सख्ये पाणा ण हंतब्बा' एतस्य प्राधान्यं नास्ति, किन्तु 'सख्ये पाणा ण हंतब्बा'—एतत् तथ्यं सद्भूतमिति यावत्, एतत् तथा सम्यग्दर्शनमिति यावत्, तात्पर्यार्थे सम्यगाचारः सम्यग्दर्शनपूर्वक एव भवति ।<sup>१</sup>

अस्मिन्नध्ययने हिंसायाः समर्थनकारिणां मतमस्ति उल्लिखितम्, तत्प्रतिपक्षे अहिंसायाः सिद्धान्तस्य आर्यवचनत्वमपि उपस्थापितमस्ति । प्रकम्पनस्य सिद्धान्तबीजमपि अस्मिन्नुपलभ्यते ।\* मुनेः प्राचीनतमा साधनापद्धतिस्तस्याः क्रमिकविकासश्च अस्ति सम्यग्निर्दिष्टः ।<sup>२</sup> एकत्वानुप्रेक्षायाः प्रयोगसंकेतोऽपि विद्यते ।\* सत्यान्वेषिणां कृते दिशासूचकमिदं अध्ययनं अहिंसामनुसन्धानानामपि च ।

प्रस्तुत अध्ययन में 'सख्ये पाणा ण हंतब्बा'—'किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए—इस तथ्य के प्रतिपादन की प्रधानता नहीं है, किन्तु किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए—यह तथ्य है, वास्तविक है, यही सम्यग्दर्शन है'—इस प्रतिपादन की प्रधानता है । तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है कि सम्यग् आचार सम्यग् दर्शन पूर्वक ही होता है ।

इस अध्ययन में हिंसा का समर्थन करने वाले दार्शनिकों का मत उल्लिखित है । साथ ही साथ उसके प्रतिपक्ष में अहिंसा के सिद्धान्त का आर्यवचनत्व भी उपस्थापित किया है । प्रकम्पन का सिद्धान्त-बीज भी इसमें उपलब्ध है । मुनि की प्राचीनतम साधना पद्धति तथा उसके क्रमिक विकास का सम्यग् निर्देश भी इसमें प्राप्त है । इसमें एकत्व-अनुप्रेक्षा के प्रयोग का संकेत भी है । सत्यान्वेषी साधकों के लिए तथा अहिंसा विषयक अनुसंधान करने वालों के लिए भी यह अध्ययन दिशासूचक है ।

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ १३४, १३५ ।

२. आचारो, ४।३४, ३७ ।

३. वही, ४।४० ।

४. वही, ४।३२ ।



## चउत्थं अज्झयणं : सम्मत्त

### चौथा अध्ययन : सम्यक्त्व

#### पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

१. से बेमि—जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्देव्यव्वा ।

सं०—अथ ब्रवीमि—ये अतीताः, ये च प्रत्युत्पन्नाः, ये च आगमिभ्याः अर्हन्तः भगवन्तः ते सर्वे एवं आचक्षते, एवं भाषन्ते, एवं प्रज्ञापयन्ति, एवं प्ररूपयन्ति—सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः, न आज्ञापयितव्याः, न परिगृहीतव्याः न परितापयितव्याः न उद्द्रोतव्याः ।

मैं कहता हूँ—जो अर्हत् भगवान् अतीत में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे—वे सब ऐसा आख्यान करते हैं, ऐसा माधन करते हैं, ऐसा प्रज्ञापन करते हैं और ऐसा प्ररूपण करते हैं—किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें वास नहीं बनाना चाहिए। उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए ।

भाष्यम् १—अथ ब्रवीमि—‘सर्वे प्राणितो न हन्तव्याः’ इति अहिंसासूत्रं केन प्रतिपादितमिति जिज्ञासायां सूत्रकारेण उत्तरितम्—इदमर्हता प्रतिपादितम् । एतत् शाश्वतं सत्यमस्ति, अतः अतीतैरर्हद्भिरेवं प्रत्यपादि, प्रत्युत्पन्ना अर्हन्तोप्येवं प्रतिपादयन्ति, भाविनोऽर्हन्तोपि एवं प्रतिपादयिष्यन्ति । अनेन सत्यस्य एकत्वं त्रैकालिकत्वं च सूचितं भवति ।<sup>१</sup> अर्हन्तस्तीर्थकराः । भगवन्तः त एव पूज्यत्वात् ज्ञानसम्पदासंपन्नत्वाद् वा ।

प्राणाः—जम्हा आणमइ वा, पाणमइ वा, उस्ससइ वा, नीससइ वा तम्हा पाणे त्ति वत्तव्वं सिया ।

भूताः—जम्हा भूते भवति भविस्सति य तम्हा भूए त्ति वत्तव्वं सिया ।

जीवाः—जम्हा जीवे जीवति, जीवत्तं आउयं च कम्मं उवजीवति तम्हा जीवे त्ति वत्तव्वं सिया ।

मैं कहता हूँ—‘किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिए’—इस अहिंसा-सूत्र का प्रतिपादन किसने किया, इस जिज्ञासा के उत्तर में सूत्रकार कहते हैं—अर्हत् ने इस सूत्र का प्रतिपादन किया है । यह शाश्वत सत्य है, इसलिए अतीत में हुए अर्हतों ने ऐसा प्रतिपादन किया था, वर्तमान के अर्हत् भी ऐसा ही प्रतिपादन करते हैं और भविष्य में होने वाले अर्हत् भी ऐसा ही प्रतिपादन करेंगे । इससे इस सत्य की एकरूपता और त्रैकालिकता सूचित होती है । अर्हत् तीर्थकर होते हैं । वे ही पूज्य होने के कारण अथवा ज्ञानसंपदा से संपन्न होने के कारण भगवान् होते हैं ।

प्रस्तुत आलापक में जीववाची चार शब्द हैं—प्राण, भूत, जीव और सत्त्व । उनकी व्याख्या यह है—

प्राण—जो आन, अपान, उच्छ्वास और निःश्वास से युक्त हैं वे प्राण कहलाते हैं ।

भूत—जो थे, हैं और रहेंगे, वे भूत कहलाते हैं ।

जीव—जिससे जीव जीता है, जो जीवत्व और आयुष्य कर्म का उपजीवी है, वह जीव है ।

१. कुमारिलभट्टेन प्रश्नः उपस्थापितः—यदि अस्ति सर्वज्ञः तर्हि शास्त्रेषु किं नास्ति एकवाक्यता ? यद्यस्ति तेषु परस्परं विप्रतिपत्तिः तदा कथं तत्प्रणेतारः सर्वज्ञाः भवेयुः ?

प्रस्तुतसूत्रे त्रिकालवर्तिनामर्हतां एकवाक्यतां प्रतिपाद्य इति प्रदर्शितम्—अर्हता प्रणीते शास्त्रे भिन्नवाक्यता विप्रतिपत्तिर्वा न स्यात् ।

सत्त्वाः—जम्हा सत्ते सुभासुर्भेहि कम्महेहि तम्हा सत्ते त्ति वत्तव्वं सिधा ।<sup>१</sup>

अत्र अहिंसासूत्रे पञ्च आदेशाः सन्ति—

१. न हन्तव्याः—दण्डकसादिभिः ।

२. न आज्ञापयितव्याः—प्रसह्य अभियोगदानेन ।

३. न परिग्रहीतव्याः—मम भृत्यदासदास्यादिरिति ममीकारेण ।<sup>२</sup>

४. न परितापयितव्याः—शारीरमानसपीडो-त्पादनेन ।

५. नोद्द्रोतव्याः<sup>३</sup>—प्राणव्यपरोपणेन ।

सत्त्व—जिसमें शुभ-अशुभ कर्मों की सत्ता है, वह सत्त्व है ।

प्रस्तुत अहिंसा-सूत्र में पांच आदेश हैं—

१. उनका हनन नहीं करना चाहिए—दंड, चाबुक आदि साधनों से ।

२. उन पर शासन नहीं करना चाहिए—बलपूर्वक आदेश देकर ।

३. उनका परिग्रह नहीं करना चाहिए—ये मेरे भृत्य, दास-दासी हैं—इस प्रकार ममकार के द्वारा ।

४. उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए—शारीरिक और मानसिक पीड़ा उत्पन्न कर ।

५. उनका उद्द्रवण नहीं करना चाहिए—प्राण-वियोजन के द्वारा ।

२. एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहि पवेइए ।

सं०—एष धर्मः शुद्धः नित्यः शाश्वतः समेत्य लोकं क्षेत्रज्ञैः प्रवेदितः ।

यह अहिंसा धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है । आत्मज्ञ अहंतों ने लोक को जान कर इसका प्रतिपादन किया ।

भाष्यम् २—एष पञ्चादेशात्मकः अहिंसाधर्मः चतुर्लक्षणो विद्यते—

१. शुद्धः—रागद्वेषरहितत्वात् ।

२. नित्यः—अपरिवर्तनीयस्वरूपत्वात् ।

३. शाश्वतः—त्रिकालावस्थायित्वात् ।

४. क्षेत्रज्ञैः<sup>४</sup> प्रवेदितः—आत्मज्ञैः जीवलोकं समेत्य—सम्यगवबुध्य<sup>५</sup> निरूपितत्वात् ।

इस पांच आदेश वाले अहिंसा धर्म के चार लक्षण हैं—

१. शुद्ध—राग-द्वेष से रहित होने के कारण ।

२. नित्य—अपरिवर्तनीय स्वरूप के कारण ।

३. शाश्वत—त्रैकालिक होने के कारण ।

४. क्षेत्रज्ञ-प्रवेदित—आत्मज्ञ व्यक्तियों द्वारा जीवलोक का सम्यग् अवबोध कर निरूपित होने के कारण ।

अनात्मज्ञप्रणीतः धर्मः रागद्वेषयुक्तत्वात् अशुद्धो भवति । स्वमतिविकल्पप्रकल्पितत्वात् परिवर्तितस्वरूपं नानाभेदयुक्तं भवति । अनेन इति व्याप्तिः फलिता भवति—यः आत्मज्ञैः प्रवेदितः धर्मः स तात्त्विकरूपेण एकः । यो नास्ति तात्त्विकरूपेण एकः स नास्ति आत्मज्ञैः प्रवेदितः ।

जो धर्म अनात्मज्ञ व्यक्तियों द्वारा प्रणीत होता है वह राग-द्वेष युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है । वह अपनी बुद्धि के विकल्पों से कल्पित होने के कारण परिवर्तनशील होता है, विभिन्न भेदों वाला होता है । इससे यह व्याप्ति (त्रैकालिक नियम) फलित होती है कि जो धर्म आत्मज्ञ व्यक्तियों द्वारा प्ररूपित होता है वह तात्त्विकरूप से एक होता है । जो तात्त्विकरूप से एक नहीं होता, वह आत्मज्ञ व्यक्तियों द्वारा प्ररूपित नहीं होता ।

१. अंगमुत्ताणि २, भगवई २।१५ ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १३४ : कप्पक्कपादीहि सज्जं अभियोगो आणा, परिग्गहो ममीकारो, तंजहा—मम दासो मम भिच्चो एवमादि, आणापरिग्गहणं विसेसो, अपरिग्गहितोवि आणपति, परिग्गहो सामिकरणमेव ।

३. वही, पृष्ठ १३४ : उद्दवणा मारणं ।

४. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १३४ : खित्तं—आगासं, खित्तं जाणतीति खेत्तणो, तं तु आहारभूतं दव्व-कालभावाणं, अमुत्तं च पवुच्चति, अमुत्ताणि खित्तं

च जाणतो पाएण दव्वादीणि जाणइ, जो वा संसारि-याणि दुक्खाणि जाणति सो खेत्तणो, पंडितो वा ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १६२ : खेवज्जैः—जन्तुदुःख-परिच्छेत्तुभिः ।

(ग) आप्ते, क्षेत्रज्ञः—The soul, the supreme soul, a witness, dextorus etc.

(घ) द्रष्टव्यम्—आयारो, ३।१६ भाष्यम् ।

५. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १३४ : समिच्चत्ति वा जाणित्तु वा एगट्ठा ।

अहिंसाधर्मः आत्मज्ञैः प्रवेदितोऽस्ति, अनेन इति फलितं भवति—धर्मस्य मूलस्रोतोऽस्ति आत्मज्ञता, न तु बुद्धिः । य आत्मवित् स सर्ववित् । आत्मविदेव दुःखस्य मूलकारणं ज्ञातुं शक्नोति ।

अहिंसा धर्म आत्मज्ञ पुरुषों द्वारा प्रतिपादित है, इससे यह फलित होता है—धर्म का मूल स्रोत है—आत्मज्ञता । बुद्धि धर्म का मूल स्रोत नहीं है । जो आत्मज्ञ होता है वही सर्वज्ञ होता है । आत्मज्ञ ही दुःख के मूल कारण को जान सकता है ।

३. तं जहा—उद्विगेषु वा, अणुद्विगेषु वा । उवद्विगेषु वा, अणुवद्विगेषु वा । उवरयदंडेषु वा, अणुवरयदंडेषु वा । सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा । संजोगरएसु वा, असंजोगरएसु वा ।

सं०—तद् यथा—उत्थितेषु वा अनुत्थितेषु वा । उपस्थितेषु वा, अनुपस्थितेषु वा । उपरतदंडेषु वा, अनुपरतदंडेषु वा । सोपधिकेषु वा, अनुपधिकेषु वा । संयोगरतेषु वा, असंयोगरतेषु वा ।

अहंतीं ने अहिंसा-धर्म का उन सबके के लिए प्रतिपादन किया है—जो उसकी आराधना के लिए उठे हैं या नहीं उठे हैं, जो उपस्थित हैं या अनुपस्थित हैं, जो दण्ड से उपरत हैं या दंड से अनुपरत हैं, जो परिग्रही हैं या परिग्रही नहीं हैं, जो संयोग में रत हैं या संयोग में रत नहीं हैं ।

भाष्यम् ३—धर्मप्रवेदनस्य सार्वभौममुद्देश्यमस्ति । तदर्थं दश विकल्पाः अत्र प्रतिपादिताः, तद् यथा—

- (१) उत्थिताः—धर्मं प्रति कृतायासाः ।
  - (२) अनुत्थिताः—तद्विपरीताः ।
  - (३) उपस्थिताः—धर्मं शुश्रूषवो जिघृक्षवो वा ।
  - (४) अनुपस्थिताः—तद्विपरीताः ।
  - (५) उपरतदण्डाः—संयमिनः ।
  - (६) अनुपरतदण्डाः—तद्विपरीताः ।
  - (७) सोपधिकाः—हिरण्यादिमन्तः ।
  - (८) अनुपधिकाः—तद्विपरीताः ।
  - (९) संयोगरताः—पुत्रकलत्रादिसंबंधवन्तः ।
  - (१०) असंयोगरताः—तद्विपरीताः ।
- एतेषां सर्वेषां कृते क्षेत्रज्ञैः धर्मः प्रवेदितः ।

धर्म के प्रतिपादन का उद्देश्य सार्वभौम है । उसके लिए दस विकल्प यहाँ प्रस्तुत हैं, जैसे—

१. उत्थित—जो धर्म के प्रति प्रयत्नशील हैं ।
२. अनुत्थित—जो धर्म के प्रति उदासीन हैं ।
३. उपस्थित—जो धर्म तत्त्व को सुनने और ग्रहण करने के इच्छुक हैं ।
४. अनुपस्थित—जो धर्म तत्त्व को सुनने और ग्रहण करने के इच्छुक नहीं हैं ।
५. उपरतदंड—जो संयमी हैं ।
६. अनुपरतदंड—जो संयमी नहीं हैं ।
७. सोपधिक—जो हिरण्य आदि उपधि से युक्त हैं ।
८. अनुपधिक—जो उपधि रहित हैं ।
९. संयोगरत—जो पुत्र, स्त्री आदि के संबंधों से युक्त हैं ।
१०. असंयोगरत—जो पुत्र आदि के संबंधों से रहित हैं ।

इन सब प्रकार के व्यक्तियों के लिए क्षेत्रज्ञ—आत्मज्ञ व्यक्तियों ने धर्म का प्रतिपादन किया है ।

४. तच्च चेत्यं तथा चेत्यं, अस्मि चेत्यं पञ्चचइ ।

सं०—तथ्यं चेतत् तथा चेतत् अस्मिन् चेतत् प्रोच्यते ।

यह अहिंसा-धर्म तथ्य है । यह वैसा ही है । यह इस अहंत्व-प्रवचन में सम्यग् निरूपित है ।

भाष्यम् ४—एतत् 'सर्वे पाणा न हंतव्या' अहिंसा-सूत्रं तथ्यं अस्ति । एतत् तथा वर्तते यथा निरूपितम् । अस्मिन् सम्यक्त्वाध्ययने एतत् सम्यग्दर्शनं प्रोच्यते ।

चूर्णिकारस्य अभिमत 'सर्वे पाणा न हंतव्या' एतत् श्रद्धानलक्षणं रोचकसम्यग्दर्शनं विद्यते । तस्यानुसारि आचरणं कारकसम्यग्दर्शनं विद्यते । अस्मिन् आहंते शासने एतत् सम्यग्दर्शनद्वयं प्रोच्यते ।<sup>१</sup>

'किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिए' यह अहिंसा-सूत्र तथ्य है । यह वैसा ही है, जैसा निरूपित है । प्रस्तुत 'सम्यक्त्व अध्ययन' में इसे सम्यग् दर्शन कहा है ।

चूर्णिकार के अभिमत में 'सर्वे पाणा न हंतव्या'—यह श्रद्धानलक्षण वाला रोचक सम्यग्दर्शन है । उसके अनुसार आचरण करना कारक सम्यग्दर्शन कहलाता है । इस अहंत्व शासन में सम्यग्दर्शन के ये दो प्रकार हैं ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १३४, १३५ ।

## ५. तं आइइत्तु ण णिहे ण णिक्खिवे, जाणित्तु धम्मं जहा तथा ।

सं०—तद् आदाय न निदध्यात्, न निक्षिपेत्, ज्ञात्वा धर्मं यथा तथा ।

पुरुष उस अहिंसा व्रत को स्वीकार कर उसमें छलना न करे और न उसे छोड़े । धर्म का जैसा स्वरूप है, वैसा जान कर आजीवन उसका पालन करे ।

भाष्यम् ५—तद् अहिंसाव्रतं रोचककारकसम्यग्दर्शनं वा आदाय तन्न निदध्यात्—छादयेत् तथा न निक्षिपेत् । यथा—केचिद् भिक्षुव्रतानि गृहीत्वा उत्प्रव्रजन्ति तथा न कुर्यात्, किन्तु तद् यावज्जीवमनुपालयेत् । अस्य कारणं, यथा धर्मस्य स्वरूपमस्ति तथा तस्य परिज्ञानं करणीयम् । तेन निक्षेपणस्य कथापि व्यथां जनयति । हृदयंगतायां मनीषायां किं कोपि स्थितात्मा तां त्यक्तुं इच्छेत् ? स एव इच्छेत् योस्ति अस्थितात्मा । तस्य निक्षेपणं न स्यात् किन्तु ततश्च्युतिरेव भवेत् । यथोक्तं दशवैकालिके 'अएज्ज वेहं न उ धम्मसासनं ।'

निहन्यते इति निहः । तद् अहिंसाव्रतं आदाय परीपहैः उपसर्गैः वा न निहो भवेत् इत्यपि व्याख्यातुं शक्यम् ।

## ६. दिट्ठेहि णिव्वेयं गच्छेज्जा ।

सं०—दृष्टेषु निर्वेदं गच्छेत् ।

वह विषयों के प्रति विरक्त रहे ।

भाष्यम् ६—अहिंसाया अनुपालने या या बाधा वर्तन्ते तासां यावन्न परिहारः तावत् न तस्या अनुपालनं संभवति । तत्र प्रथमा बाधास्ति दृष्टानि । दृष्टम्—इन्द्रियविषयः शब्दरूपगन्धरसस्पर्शात्मकः । दृष्टासक्तः अहिंसायाः पालनं कर्तुं न प्रभवति । अत एव निर्देशोऽयम्—अहिंसाया आराधकः दृष्टेषु निर्वेदं गच्छेत्, तेषां वेदनं—आस्वादनं न कुर्यात् ।

## ७. णो लोगस्सेसणं चरे ।

सं०—तो लोकस्यैषणां चरेत् ।

वह लोकैषणा न करे ।

भाष्यम् ७—अहिंसाया अनुपालने द्वितीया बाधास्ति लोकैषणा । लोक्यते इति लोकः—इन्द्रिय-विषयः, तस्य एषणां न चरेत् । अस्य वैकल्पिकोर्थः—इन्द्रियविषयान् एषति सर्वोपि लोकः तत्किमहं तेषामे-षणं न कुर्याम्, इति चिन्तनं लोकैषणा । अहिंसाया

पुरुष उस अहिंसा व्रत अथवा रोचक और कारक सम्यग्दर्शन को स्वीकार कर उसमें छलना न करे और न उसे छोड़े । जैसे—कुछ भिक्षु भिक्षु-व्रतों को स्वीकार कर उत्प्रव्रजन करते हैं—भिक्षु-दीक्षा को त्याग देते हैं, वैसा न करे, किन्तु भिक्षु-व्रतों का यावज्जीवन पालन करे । इसका कारण है, धर्म का जैसा स्वरूप है, वैसा उसको जानना चाहिए, जिससे कि उसको छोड़ने का प्रश्न ही न उठे । भिक्षु-व्रत की मनीषा हृदयंगम हो जाने पर क्या कोई स्थितात्मा पुरुष उसको छोड़ना चाहेगा ? वही छोड़ना चाहेगा जो अस्थितात्मा है । प्रव्रज्या का निक्षेपण नहीं होना चाहिए किन्तु उसमें रहते प्राणों का विसर्जन ही होना चाहिए । दशवैकालिक में कहा है—भिक्षु शरीर को त्याग दे किन्तु धर्म-शासन को न छोड़े ।'

निह का अर्थ है—हनन करने वाला । साधक उस अहिंसा व्रत को स्वीकार कर परिषह और उपसर्गों के द्वारा व्रत का हनन करने वाला न हो—यह व्याख्या भी की जा सकती है ।

अहिंसा व्रत की अनुपालना में जो जो बाधाएं हैं, जब तक उनका परिहार नहीं होता, तब तक उसका अनुपालन संभव नहीं है । उसमें प्रथम बाधा है—दृष्ट । दृष्ट का अर्थ है शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्शात्मक इन्द्रिय-विषय । जो व्यक्ति इन्द्रिय-विषयों में आसक्त है, वह अहिंसा का पालन नहीं कर सकता । इसीलिए यह निर्देश है—अहिंसा का आराधक इन्द्रिय-विषयों के प्रति विरक्त रहे । उनका वेदनं—आस्वादन न करे ।

अहिंसा व्रत की अनुपालना में दूसरी बाधा है—लोकैषणा । जो देखा जाता है वह है लोक । लोक का तात्पर्यार्थ है इन्द्रिय-विषय । साधक उसकी एषणा न करे । इस आलापक का वैकल्पिक अर्थ यह है—'सभी प्राणी इन्द्रिय-विषयों की एषणा करते हैं तो फिर मैं उनकी एषणा क्यों न करूं'—ऐसा सोचना लोकैषणा है । अहिंसा

आराधक एतां लोकैषणां न चरेत् । अनया हिंसायां प्रवृत्तिः स्यादिति दर्शितमुत्तराध्ययने—

जणेण सद्धि होखामि, इइ बाले पगम्भई ।  
कामभोगाणुराएणं, केसं संपडिवज्जई ॥

तओ से दंडं समारम्भई, तसेसु थावरेसु य ।  
अट्टाए य अणट्टाए, भूयग्गामं विहिंसई ॥<sup>१</sup>

का आराधक इस लोकैषणा को न करे । इस लोकैषणा से हिंसा में प्रवृत्ति होती है—ऐसा प्रतिपादित है उत्तराध्ययन सूत्र में—

‘मैं लोक समुदाय के साथ रहूँगा’ (जो उनकी गति होगी, वही मेरी होगी) —ऐसा मान कर बाल अज्ञानी धृष्ट बन जाता है । वह कामभोग के अनुराग से क्लेश पाता है ।

‘फिर वह त्रस तथा स्थावर जीवों के प्रति दंड का प्रयोग करता है और प्रयोजनवश अथवा बिना प्रयोजन ही प्राणी-समूह की हिंसा करता है ।’

८. जस्स णत्थि इमा णाई, अण्णा तस्स कओ सिया ?

सं० — यस्य नास्ति इयं ज्ञातिः, अन्या तस्य कुतः स्यात् ।

जिसे इस अहिंसा-धर्म का ज्ञान नहीं है, उसे अन्य तत्त्वों का ज्ञान कहां से होगा ?

भाष्यम् ८—ज्ञातिः—ज्ञानम् । दृष्टेषु निर्वेदं कुर्यात्, नो लोकस्य एषणां चरेत् । एतद् अहिंसायाः अध्यात्मस्य वा आधारभूतं तत्त्वमस्ति । यस्य इयं ज्ञातिर्न भवति तस्य अन्या ज्ञातिः कुतो भवेत् ? य इन्द्रियाप्यतीत्य न वरति तस्य अहिंसायां क्व प्रवेशः ?

ज्ञाति का अर्थ है—ज्ञान । ‘इन्द्रिय-विषयों के प्रति विरक्त रहे, लोकैषणा न करे’—यह अहिंसा अथवा अध्यात्म का आधारभूत तत्त्व है । जिसको इसका ज्ञान नहीं होता, उसको अन्य तत्त्वों का ज्ञान कहां से होगा? जो इन्द्रियों का अतिक्रमण कर नहीं चलता, उसका अहिंसा में प्रवेश कैसे हो सकता है ?

९. दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं, जमेयं परिकहिज्जइ ।

सं० — दृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातं, यदेतत् परिकथ्यते ।

यह अहिंसा-धर्म जो कहा जा रहा है, वह दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञात है ।

भाष्यम् ९—यदेतद् अहिंसासूत्रं परिकथ्यते तत् सर्वं दृष्टं श्रुतं मतं विज्ञातमस्ति ।<sup>२</sup>

यह जो अहिंसा-सूत्र कहा जा रहा है वह सारा दृष्ट है, श्रुत है, मत है और विज्ञात है ।

१. उत्तरज्जयणाणि ५।७-८ ।

२. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १३५ : णाणं णाती, जं णणितं तं अन्नतरइवियरागदोसोवयोगो जस्सिमा णत्थि अन्ना केणप्पगारेण रागदोसणाती भविस्सति ? अहवा सव्वे पाणा ण हंतव्वा जाव ण उद्वेघव्वा, जस्स वा णाती णत्थि तस्सण्णआरंभपरिग्गहपवित्तेसु पासंडेसु णाती कतो सित्ता ? जीवाजीवाति पदत्थे ण याणति सो किं अण्णं जाणिस्सतीति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १६३ : यस्य मुमुक्षोरषा जातिः—लोकैषणाबुद्धिः ‘नास्ति’ न विद्यते, तस्यान्या सावहारम्भप्रवृत्तिः कुतः स्यात् ? इदमुक्तं भवति—भोगेच्छारूपां लोकैषणां परिजिहीर्षोः नैव सावहारानुष्ठानप्रवृत्तिरुपजायते, तवर्धत्वात् तस्या इति, यदि वा ‘इमा’ अनन्तरोक्तत्वात् प्रत्यक्षा सम्यक्त्व-ज्ञातिः प्राणिनो न हन्तव्या इति वा यस्य न विद्यते तस्यान्या विवेकिनो बुद्धिः कुमार्गसावहारानुष्ठान-परिहारद्वारेण कुतः स्यात् ?

चूणिकारेण ६-८ सूत्राणां वैकल्पिकोर्थः कृतोस्ति—अहवा ‘दिट्ठेहि णिव्वेगं गच्छिज्जा’ विट्ठा णाम पुव्वावरसंयुता बंधवा जहेते इहंपि णो जणवयाति-दुक्खपरित्ताणाए किं पुण परलोए ? एवं तेसु णिव्वेगं गच्छे. ‘णो य लोणेसणं’ लोणो णाम सयणो, अहवा लोण इव लोणो ण णिच्छयतो कोयि सयणो, भणियं च—‘पुत्तोपि अभिप्पायं पिउणो एस भग्गए वा तु’ सो सयणलोणो जइ इच्छति उप्पव्वावेतुं तं तस्स एसणं ण चरे, तत्थ आलंभणं ‘जस्स णत्थि इसा णाति’ अस्स इहलोगे बंधवा ण भवति दुक्खपरित्ताणाए अस्स अण्णेषु जातिसु क्हं दुक्खं अवणेस्सति ।

(आ० चू० पृष्ठ १३६)

३. आचारांग चूणि, पृष्ठ १३५ : केवलदरिसणेण विट्ठं, सुत्तं दुबालसंगं गणिपिडगं तं, आयरियाओ सुत्तमेत्तं णाम जह मम दुक्खमसात्तं तहा अण्णेसि मत्तं, विविहं विसिदंत्तं वा णाणं विण्णाणं, परतो सुणित्ता सयं वा चिन्तिता एवं विण्णाणं ‘जह मम ण पियं दुक्खं जाणिय एमेव ।’

दृष्टम्—केवलदर्शनेन प्रत्यक्षीकृतम् ।

श्रुतम्—केवलदर्शिनः सकाशाद् निशान्तम् ।

मतम्—सुचिन्तितम् ।

विज्ञातम्—विवेकविषयीकृतम् ।<sup>१</sup>

दृष्ट का अर्थ है—केवलदर्शन (प्रत्यक्ष ज्ञान) से साक्षात् किया हुआ ।

श्रुत का अर्थ है—केवलदर्शनी (प्रत्यक्षज्ञानी) के पास सुना हुआ ।

मत का अर्थ है—सुचिन्तित ।

विज्ञात का अर्थ है—विवेक का विषय किया हुआ ।

### १०. समेमाणा पलेमाणा, पुणो-पुणो जातिं पकप्पेति ।

सं०—समायन्तः पर्यायन्तः, पुनः पुनः जातिं प्रकल्पयन्ति ।

हिंसा में जाने वाले और लीन रहने वाले मनुष्य बार-बार जन्म लेते हैं ।

भाष्यम् १०—यथा शकुनयः समागताः रात्रौ पादपे वसन्ति, सति प्रभाते पुनः प्रव्रजन्ति, एवं मनुष्या नाना-जातिभ्यः समागच्छन्ति, किञ्चित् कालं सह वसन्ति, सति आयुषि पूर्णं पुनः नानाविधासु जातिषु प्रव्रजन्ति, पुनः पुनर्जातिं प्रकल्पयन्ति—विभिन्नासु एकेन्द्रियादि-जातिषु जन्ममरणचक्रमनुभवन्ति ।<sup>२</sup>

जैसे पक्षी विभिन्न स्थानों से आकर रात्री में एक वृक्ष पर निवास करते हैं और प्रभात होने पर पुनः वहाँ से विभिन्न दिशाओं में चले जाते हैं । इसी प्रकार मनुष्य भी एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियों से वहाँ आते हैं, कुछ काल तक साथ रहते हैं और आयुष्य पूर्ण होने पर पुनः विभिन्न जातियों में जाकर जन्म लेते हैं । पुनः पुनः जन्म लेने का तात्पर्य है कि वे एकेन्द्रिय आदि विभिन्न जातियों में जन्म-मरण के चक्र का अनुभव करते हैं ।

### ११. अहो य राओ य जयमाणे, वीरे सया आगयपण्णाणे । पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि ।

—त्ति वेमि ।

सं०—अहनि च रात्रौ च यतमानः, वीरः सदा आगतप्रज्ञानः । प्रमत्तान् बहिर्दृष्ट्वा, अप्रमत्तः सदा पराक्रमेत । — इति ब्रवीमि ।

दिन-रात यत्न करने वाला और सदा लक्ष्यप्रज्ञ वीर साधक देखता है कि जो प्रमत्त हैं, वे धर्म से बाहर हैं । इसलिए वह अप्रमत्त होकर सदा पराक्रम करे । — ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ११—एवं प्रमादकृतान् दोषान् अवेक्ष्य प्राप्त-प्रज्ञः वीरः पुरुषः अहोरात्रम् -अविश्रामं यतमानो भवेत् । विषयकषायादिप्रमत्तान् अहिंसाधर्मतः बहिर्दृष्ट्वा सदा अप्रमत्तः पराक्रमेत ।<sup>३</sup> यत्र प्रमादस्तत्र हिंसा, यत्र अप्रमादस्तत्र अहिंसा इति फलश्रुतिः ।

इस प्रकार प्रमाद के द्वारा किए हुए दोषों को देख कर प्रज्ञावान् वीर पुरुष दिन-रात निरंतर यत्न करने वाला हो । जो पुरुष विषय, कषाय आदि से प्रमत्त हैं, वे अहिंसा-धर्म से बाहर हैं, यह देख कर वह सदा अप्रमत्त होकर पराक्रम करे । जहाँ प्रमाद है वहाँ हिंसा है और जहाँ अप्रमाद है वहाँ अहिंसा है, यह इसकी फलश्रुति है ।

१. भगवान् महावीर ने प्रत्येक आत्मा में स्वतंत्र चैतन्य की क्षमता प्रतिपादित की । इस सिद्धांत के आधार पर उन्होंने कहा—तुम स्वयं सत्य की खोज करो ।

उन्होंने नहीं कहा कि 'मैं कहता हूँ, इसलिए अहिंसा-धर्म को स्वीकार करो ।' उन्होंने कहा—'अहिंसा-धर्म के बारे में मैं जो कह रहा हूँ, वह प्रत्यक्षज्ञानी के द्वारा दृष्ट है, आचार्यों से श्रुत है, मनन द्वारा मत और चिन्तन द्वारा विज्ञात है ।'

किसी प्रत्यक्षज्ञानी का दर्शन (दृष्ट-सत्य) भी भ्रवण, मनन और विज्ञान के द्वारा ही स्वीकृत होता है । इसमें भ्रटा का आरोपण नहीं, यह ज्ञान के विकास का उपक्रम है ।

२. वृत्तौ श्याख्याभेदो वर्तते—तस्मिन्नेव मनुष्यादिजन्मनि 'शाम्यन्ते' गार्ह्येनात्यर्थभासेवां कुर्वन्तः, तथा 'प्रलीयमानाः' मनोज्ञेन्द्रियार्थेषु पौनःपुन्येनैकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिकां जातिं प्रकल्पयन्ति । (आचारांग वृत्तिः पत्र १६३)

३. अत्र चूर्णा (पृष्ठ १३७) तैलस्थालपुरुषस्य दृष्टान्तेन अप्रमादो व्याख्यातः—कहं णाम रागादिदोसेसु लंछणा ण होज्जा ? पराणां परक्कमे, एत्थ तैलस्थालपुरिसेण दिट्ठंतो, जहा सो अप्पमायगुणा मरणं ण पत्तो एवं साहूवि सिज्जिस्सइ ।



## बोओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

१२. जे आसवा ते परिस्रवा, जे परिस्रवा ते आसवा, जे अनासवा ते अपरिस्रवा, जे अपरिस्रवा ते अनासवा—एए पए संबुज्जमाणे, लोयं च आणाए अभिसमेच्चा पुढो पवेइयं ।

सं०—ये आसवाः ते परिस्रवाः, ये परिस्रवाः ते आसवाः, ये अनासवाः ते अपरिस्रवाः, ये अपरिस्रवाः ते अनासवाः—एतानि पदानि संबुध्यमानः, लोकं च आणाया अभिसमेत्थ पृथक् प्रवेदितम् ।

जो आसव हैं, वे ही परिस्रव हैं । जो परिस्रव हैं, वे ही आसव हैं । जो अनासव हैं, वे ही अपरिस्रव हैं । जो अपरिस्रव हैं, वे ही अनासव हैं । इन पदों (भंगों) को समझने बासा विस्तार से प्रातपादित जीव-लोक को आशा से जान कर आसव न करे ।

भाष्यम् १२—कर्माकर्षणहेतुरात्माध्यवसायः आसवः । कर्मनिर्जरणहेतुरात्माध्यवसायः परिस्रवः । तद्विपरीतः अपरिस्रवः । आस्रवः कर्मबन्धस्थानम् । परिस्रवः कर्म-निर्जरास्थानम् ।

आस्रवकः आस्रवः, परिस्रवकः परिस्रवः इति व्युत्पत्तौ आस्रवः—कर्माकर्षकः, परिस्रवः—कर्मनिर्जरकः । अत्र चतुर्भङ्गी भवति—

१. ये आस्रवाः ते परिस्रवाः ।  
ये परिस्रवाः ते आस्रवाः ।

२. ये आस्रवाः ते अपरिस्रवाः ।  
ये अपरिस्रवाः ते आस्रवाः ।

३. ये अनास्रवाः ते परिस्रवाः ।  
ये परिस्रवाः ते अनास्रवाः ।

४. ये अनास्रवाः ते अपरिस्रवाः ।  
ये अपरिस्रवाः ते अनास्रवाः ।

सूत्रे प्रथमश्चतुर्थश्च भङ्गः साक्षाद्दर्शितः । शेषभङ्गी गम्यी ।

कर्मणां बन्धो भवतीति तथ्यं, बद्धानि कर्माणि सावधिकानि भवन्ति, अतस्तेषां निर्जरा जायते इत्यपि तथ्यम् । यत्र न कर्मबन्धस्तत्र न निर्जरा इति स्वाभाविकम् ।

कर्म को आकृष्ट करने का हेतुभूत आत्मा का अध्यवसाय आस्रव कहलाता है । कर्म-निर्जरण का हेतुभूत आत्मा का अध्यवसाय परिस्रव कहलाता है । परिस्रव का प्रतिपक्षी है अपरिस्रव । आस्रव कर्मबन्ध का कारण है और परिस्रव कर्म-निर्जरा का हेतु है ।

जो आस्रवक है वह आस्रव है । जो परिस्रवक है, वह परिस्रव है । इस व्युत्पत्ति के आधार पर आस्रव का अर्थ है—कर्म को आकृष्ट करने वाला और परिस्रव का अर्थ है—कर्म का निर्जरण करने वाला । उसकी चतुर्भङ्गी इस प्रकार होती है—

१. जो आस्रव हैं—कर्म का बन्ध करते हैं,  
वे ही परिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष करते हैं ।  
जो परिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष करते हैं,  
वे ही आस्रव हैं—कर्म का बन्ध करते हैं ।
२. जो आस्रव हैं—कर्म का बन्ध करते हैं,  
वे ही अपरिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष नहीं करते ।  
जो अपरिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष नहीं करते,  
वे ही आस्रव हैं—कर्म का बन्ध करते हैं ।
३. जो अनास्रव हैं—कर्म का बन्ध नहीं करते,  
वे ही परिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष करते हैं ।  
जो परिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष करते हैं,  
वे ही अनास्रव हैं—कर्म का बन्ध नहीं करते ।
४. जो अनास्रव हैं—कर्म का बन्ध नहीं करते,  
वे ही अपरिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष नहीं करते ।  
जो अपरिस्रव हैं—कर्म का मोक्ष नहीं करते,  
वे ही अनास्रव हैं—कर्म का बन्ध नहीं करते ।

प्रस्तुत आलापक में पहला और चौथा विकल्प साक्षात् प्रातिपादित है, शेष दो विकल्प स्वयंगम्य हैं ।

कर्म का बन्ध होता है, यह सच है । बंधे हुए कर्म सावधिक होते हैं इसलिए उनका निर्जरण होता है, यह भी सच है । जहां कर्म-बन्ध नहीं है, वहां निर्जरा भी नहीं है, यह स्वाभाविक है ।

१. आचारांग इति, पत्र १६५ : यदि वा आस्रवन्तीत्यास्रवाः, पचासच् एवं परिस्रवन्तीति परिस्रवाः ।

शैलेश्यवस्थायां केवलं परिस्त्रवो भवति, न पुनर्बन्धो भवति ।

एतानि पदानि संबुध्यमानः पृथक् प्रवेदितं आस्रवलोकं परिस्त्रवलोकं च आज्ञया—अतीन्द्रियज्ञानि-निर्दिष्टमार्गेण अभिसमेत्य किं कुर्यादिति अग्रिमसूत्रे प्रदर्शयिष्यते ।

एते भङ्गाः परिमाणतः क्रियाविशेषतः उपचया-पचयतः व्याख्येयाः ।

परिमाणतः—असंबुद्धस्य यावन्तः आस्रवहेतवः संबुद्धस्य तावन्तः निर्जराहेतवः ।<sup>१</sup>

क्रियाविशेषतः—असंयतस्य या स्थानादिक्रिया आस्रवाय भवति संयतस्य सा चैव निर्जरायै भवति ।

उपचयापचयतः—‘ये आस्रवास्ते परिस्त्रवाः’ साम्परायिकक्रियामपेक्ष्य असौ भङ्गः ।

ये आस्रवास्ते अपरिस्त्रवाः—असौ भङ्गः अवस्तु ।

ये अनास्रवास्ते परिस्त्रवाः—असौ भङ्गः शैलेश्य-वस्थामपेक्ष्य ।

ये अनास्रवास्ते अपरिस्त्रवाः—असौ भङ्गः सिद्धानपेक्ष्य ।

प्रस्तुतसूत्रे बन्धनिर्जरयोः रहस्यानि संकेतितानि । कर्मवादस्य रहस्यानि विज्ञाय पुरुषः हिंसातो विरतो भवति अथवा अहिंसां प्रपद्यते अथवा आत्मविकासस्य प्रक्रियां परिजानातीति हृदयम् ।

शैलेशी अवस्था में केवल निर्जरण होता है, पुनः बंध नहीं होता ।

इन सारे विकल्पों को समझने वाला पुरुष विस्तार से प्रति-पादित आस्रवलोक और परिस्त्रवलोक को आज्ञा—अतीन्द्रियज्ञानी द्वारा निर्विष्ट मार्ग से जान कर क्या करे, इसका निर्देश अग्रिम सूत्र में किया गया है ।

उपर्युक्त विकल्पों की व्याख्या तीन तथ्यों—परिमाण, क्रिया-विशेष तथा उपचयापचय के आधार पर करनी चाहिए—

१. परिमाण के आधार पर—असंबुद्ध पुरुष के जितने आस्रव के हेतु हैं, सम्बुद्ध पुरुष के उतने ही निर्जरा के हेतु हैं ।

२. क्रियाविशेष के आधार पर—असंयत व्यक्ति की उठने-बैठने की जो क्रिया आस्रव के लिए होती है, संयत व्यक्ति की वही क्रिया निर्जरा के लिए होती है ।

३. उपचय-अपचय के आधार पर—

जो आस्रव हैं वे ही परिस्त्रव हैं—यह विकल्प साम्परायिक क्रिया की अपेक्षा से है ।

जो आस्रव हैं वे अपरिस्त्रव हैं—यह विकल्प ‘शून्य’ है ।

जो अनास्रव हैं वे परिस्त्रव हैं—यह विकल्प शैलेशी अवस्था की अपेक्षा से है ।

जो अनास्रव हैं वे अपरिस्त्रव हैं—यह विकल्प सिद्धों की अपेक्षा से है ।

प्रस्तुत सूत्र में बन्ध तथा निर्जरा के कुछेक रहस्य संकेतित हैं । कर्मवाद के रहस्यों को जानकर पुरुष हिंसा से विरत होता है, अथवा अहिंसा को स्वीकार करता है, अथवा आत्म-विकास की प्रक्रिया को जान लेता है, यही इसका तात्पर्य है ।

१३. आघाड णाणी इह माणवानं संसारपडिवन्नाणं संबुज्जमाणाणं विण्णाणपत्ताणं ।

सं०—आख्याति ज्ञानी इह मानवानां संसारप्रतिपन्नानां संबुद्धचमानानां विज्ञानप्राप्तानाम् ।

जो संसार-स्थित हैं, सम्बोधि पाने को उन्मुख हैं, विवेकी हैं, उन मनुष्यों को ज्ञानी धर्म का बोध देते हैं ।

भाष्यम् १३—ज्ञानी पुरुषः बन्धनिर्जरयोः रहस्यं विज्ञाय इह मानवानां तदाख्याति, ये सन्ति संसार-प्रतिपन्नाः—आरम्भस्थिताः, ये च सन्ति संबुध्यमानाः—दुःखादुद्वेजकाः सुखस्य एषकाः धर्मश्रवणगवेषकाश्च, ये च सन्ति विज्ञानप्राप्ताः—उदितविवेकाः ।

ज्ञानी पुरुष बन्ध और निर्जरा के रहस्यों को जानकर उन मनुष्यों को धर्म का उपदेश देते हैं १. जो संसार-स्थित हैं—हिंसा में स्थित हैं, २. जो संबोधि पाने को उन्मुख हैं अर्थात् जो दुःखों से उद्विग्न हैं और सुख के खोजी तथा धर्मश्रवण के गवेषक हैं, तथा

३. जो विज्ञान-प्राप्त हैं अर्थात् जिनका विवेक उदित हो चुका है ।

१४. अट्टा वि संता अदुआ पमत्ता ।

सं०—आर्त्ताः अपि सन्तः अथवा प्रमत्ताः ।

आर्त्त मनुष्य भी धर्म को स्वीकार करते हैं और प्रमत्त मनुष्य भी ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १३८ : जं भणितं—जत्तियाइं  
असंजमट्टाणाइं तत्तियाइं संजमट्टाणाइं, भणियं च—

यथा प्रकारा यावन्तः, संसारान्नेसहेतवः ।

तावन्तस्तद्विपर्यासाः, निर्वाणसुखहेतवः ॥

भाष्यम् १४—'हिंसा च कर्मबन्धस्थानं, अहिंसा च निर्जरास्थानम्' इति ज्ञानिनः सकाशाद् अभिसमेत्य आर्त्ता अपि अहिंसां प्रतिपद्यन्ते<sup>१</sup> प्रमत्ता अपि च, किं पुनः अपरे विषयेभ्योऽनासक्तिमुपगताः ?

आर्त्ता द्विविधः—द्रव्यार्त्तः—अभावग्रस्तः रोगाद्यभिभूतो दुःखितो वा । भावात्तः—हिंसात्मकभावैः पीडितः । प्रमत्तः विषयमद्यादिप्रमादाभिभूतः, सुखितो वा ।

'हिंसा कर्म-बन्ध का कारण है और अहिंसा निर्जरा का कारण है'—ज्ञानी पुरुषों से यह सम्यग् रूप से जान कर आर्त्त व्यक्ति भी अहिंसा को स्वीकार कर लेते हैं और प्रमत्त व्यक्ति भी । जो पुरुष विषयों के प्रति अनासक्त हो चुके हैं, उनकी तो बात ही क्या ?

आर्त्त दो प्रकार के होते हैं—

१. द्रव्य आर्त्त - जो अभावग्रस्त है, रोग आदि से अभिभूत है अथवा दुःखी है ।
२. भाव आर्त्त—जो हिंसात्मक भावों से पीडित है । प्रमत्त का अर्थ है वह पुरुष जो विषय, मद्य आदि प्रमादों से अभिभूत है अथवा जो सुखार्थी है ।

### १५. अहासच्चमिणं ति बेमि ।

सं० —यथासत्यमिदं इति ब्रवीमि ।

यह वास्तविक सत्य है—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १५—इदं सत्यमस्ति—मनुष्या आर्त्ता अपि सन्ति, प्रमत्ता अपि सन्ति । इदमपि सत्यं, केचित् आर्त्ताः सन्तोऽपि अर्त्तिप्रहाणाय समुद्यताः भवन्ति । केचित्च प्रमत्ताः सन्तोऽपि किञ्चिन्नमित्तमासाद्य जागरूकदशां प्रतिपद्यन्ते । इदं भावपरिवर्तनं यथासत्यं—यथार्थमस्तीति सूत्रस्य तात्पर्यम् ।

यह सत्य है कि मनुष्य आर्त्त भी होते हैं और प्रमत्त भी होते हैं । यह भी सत्य है कि कुछ मनुष्य आर्त्त होते हुए भी अर्त्ति को क्षीण करने के लिए समुद्यत होते हैं, संयम-ग्रहण के प्रति तत्पर होते हैं और कुछ मनुष्य प्रमत्त होते हुए भी, किसी निमित्त को पाकर जागरूक बन जाते हैं । यह भाव-परिवर्तन यथार्थ है, यही इस सूत्र का तात्पर्य है ।

### १६. नाणागमो मन्त्रमुहस्य अस्थि, इच्छापणीया वंकाणिकेया । कालगहीआ णिचए णिविट्ठा, पुढो-पुढो जाइं पकप्पयंति ।

सं० —नानागमो मृत्युमुखस्य अस्ति, इच्छाप्रणीताः वकनिकेताः, गृहीतकालाः निचये निविष्टाः, पृथक् पृथक् जाति प्रकल्पयन्ति ।

मौत का मुंह नाना मार्गों से दिख जाता है । फिर भी कुछ लोग इच्छा द्वारा संशालित और माया के निकेतन बने रहते हैं । वे धर्माधना के लिए काल-प्रतिबद्ध होकर अर्थ-संग्रह में जुटे रहते हैं । इस प्रकार के लोग नाना प्रकार की जीव-योनियों में जन्म धारण करते हैं ।

भाष्यम् १६—इदानीं संबोधेरालम्बनानि व्याख्यायन्ते । मृत्युमुखस्य न अनागमोऽस्ति तत् कुतोपि विस्फारितं भूत्वा प्राणिनं ग्रसते अथवा मृत्युमुखस्य नानादिक्षु आगमोस्ति ।<sup>१</sup> मरणधर्माणः सर्वे जीवाः, नास्ति कोपि

प्रस्तुत आलापक में संबोधि के आलंबन-सूत्र व्याख्यात है ।

पहला आलंबन-सूत्र है—

मौत के लिए कोई भी अनागम नहीं है—मौत का मुंह नाना मार्गों से दिख जाता है । मौत किसी भी मार्ग से प्रकट होकर प्राणी

१. (क) इस सूत्र का चूर्ण के आधार पर वंकाणिक अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—जो धर्म को स्वीकार नहीं करते, वे आर्त्त होते हैं या प्रमत्त ।

आचारंग चूर्ण पृष्ठ १३९ : 'पडिबज्जंति वक्कसेसं.....अहवा तं एवं अक्खातं धम्मं अक्खिज्जमाणा अट्टा रागवोत्तेहि पमत्ता विसएहि अण्णउत्थियणिहत्था पासत्थावओ वा संसारमेव विसंति ।

अथवा ऐसा अनुवाद भी हो सकता है—आर्त्त

मनुष्य भी धर्म को स्वीकार नहीं करते और प्रमत्त-विस्वासी मनुष्य भी ।

(ख) तुलना—गीता ७।१६ :

चतुर्विधा भजन्ते मां, जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्त्ता जिज्ञासुरर्थायी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥

२. 'नाणागमो' एवं 'नानागमो', न अनागमो—इति द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां व्याख्यातुं शक्यः । चूर्णो (पृष्ठ १४०) 'नाणागमो' मृत्युमुखस्य, वृत्ती (पत्र १६६) न हि अनागमो मृत्योर्मुखस्य इति ।

अमर्त्यः इति प्रथममालम्बनम् ।

इच्छाप्रणीताः — इच्छा — इन्द्रियमनोविषयानु-  
कूलाप्रवृत्तिः तां प्रणीताः । वक्रनिकेताः—मायाया  
आश्रयभूताः । गृहीतकालाः<sup>१</sup>—मध्यमे अंतिमे वा वयसि  
धर्मं चरिष्यामः इत्यभिसंधिमन्तः । निचये—अर्थसंग्रहे  
निविष्टाः । एतादृशाः पुरुषाः पृथक् पृथक् जातिं  
प्रकल्पयन्ति—एकेन्द्रियादिषु विभिन्नासु जातिषु उत्पद्यन्ते  
इति द्वितीयमालम्बनम् ।

१७. इहमेगोसि तत्थ-तत्थ संथवो भवति । अहोववाइए फासे पडिसंवेदयंति ।

सं०—इहैकेषां तत्र तत्र संस्तवो भवति । अधोपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति ।

कुछ लोगों का विभिन्न मतों से परिचय होता है । वे आलव का सेवन कर अधोलोक में होने वाले स्पर्शों का संवेदन करते हैं ।

भाष्यम् १७—संस्तवः—परिचयः, निर्देशः,  
समागमो वा ।<sup>१</sup> इह एकेषां मनुष्याणां मिथ्यात्वकषाय-  
विषयाभिभूतैर्दर्शनैः परिचयो भवति । तेन ते सावद्या-  
चरणे उन्मुक्ता जायन्ते । ततश्च तेषां तत्र तत्र जातिषु  
समागमो भवति । तत्र अधोपपातिकान् स्पर्शान्—  
कष्टानि प्रतिसंवेदयन्ति ।

संस्तव के तीन अर्थ हैं— परिचय, निर्देश अथवा समागम ।  
संसार में कुछ मनुष्यों का मिथ्यात्व, कषाय और विषयों से अभिभूत  
दार्शनिक विचारों से परिचय होता है । उस परिचय के कारण वे  
सावद्य प्रवृत्ति करने के लिए उन्मुक्त हो जाते हैं । परिणाम स्वरूप  
उनका उन-उन जीव योनियों में समागम होता है । वे वहाँ अधोलोक  
में होने वाले स्पर्शों—कष्टों का बार-बार संवेदन करते हैं ।

१८. चिट्ठं कूरेह कम्मोहं, चिट्ठं परिचिट्ठति । अचिट्ठं कूरेह कम्मोहं, णो चिट्ठं परिचिट्ठति ।

सं०—गाढं क्रूरेषु कर्मसु, गाढं परित्तिष्ठति । अगाढं क्रूरेषु कर्मसु, नो गाढं परित्तिष्ठति ।

जिस पुरुष के अध्यवसाय प्रगाढ क्रूरकर्म में प्रवृत्त होते हैं, वह प्रगाढ वेदना वाले स्थान में उत्पन्न होता है । जिसके अध्यवसाय  
प्रगाढ क्रूरकर्म में प्रवृत्त नहीं होते, वह प्रगाढ वेदना वाले स्थान में उत्पन्न नहीं होता ।

भाष्यम् १८—शिष्यः पृच्छति—भगवन् ! अध-  
ओपपातिकान् स्पर्शान् वेदयमानाः सर्वे समवेदना  
भवन्ति ? नायमर्थः समर्थः । कथम् ? इति  
प्रतिप्रश्ने उत्तरम्—यः क्रूरेषु कर्मसु प्रवर्तते स  
नरकाद्यशुभस्थानेषु उपपातमासाद्य गाढं परित्तिष्ठति<sup>१</sup>  
—तीव्रवेदनो भवति । यश्च क्रूरेषु कर्मसु अगाढं प्रवर्तते  
स नरकाद्यशुभस्थानेषु उपपातमासाद्यापि अल्पवेदनो  
भवति । अत्र तीव्राध्यवसायमन्दाध्यवसाययोश्च  
विपाकभेदः प्रदर्शितः । शुभकर्मविषयेऽपि एवं वाच्यम् ।

शिष्य ने पूछा—भगवन् ! अधोलोक में होने वाले कष्टों की  
वेदना क्या सभी जीवों के समान होती है ? भगवान् ने कहा—‘नहीं,  
ऐसा नहीं होता ।’ क्यों ? इस प्रतिप्रश्न का उत्तर है—जो क्रूर  
कर्म में प्रवृत्त होता है वह नरक आदि अशुभ स्थानों में उत्पन्न होकर  
तीव्र वेदना का अनुभव करता है । जो प्रगाढ क्रूर कर्म में प्रवृत्त नहीं  
होता, वह नरक आदि अशुभ स्थानों में उत्पन्न होकर भी अल्प वेदना  
का अनुभव करता है । इस आलापक में तीव्र अध्यवसाय तथा मंद  
अध्यवसाय का विपाकभेद दिखाया गया है । शुभ कर्म के विषय में  
भी ऐसा ही ज्ञान लेना चाहिए ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र १६६ : कालगृहीताः, अर्हिताग्नि-  
दर्शनाद् आर्षत्वाद् वा निष्ठास्तस्य परनिपातः ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १४१ : इह संसारे संयुति संथवो,  
अप्पसत्थो नेरइओ नेरइयत्तेण, संयुधति णाम् निहि-  
सिज्जति एवमादि, पसत्थं तुं देवो देवत्तेण, अहवा समागमो  
संथवो ।

३. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १४१ : अध इति अणंतरे,

अह ते सकम्मनिहिट्ठं अण्णतरं गतिं गया, उववाते  
जाता उववाइया फुसंति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १६७ : अधोपपातिकान्  
नरकादिभवान् ‘स्पर्शान्’ दुःखानुभवान् प्रतिसंवेद-  
यन्ति ।

४. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १४१ : चिट्ठंति वा गाढंति वा  
एमट्ठा ।

१६. एगे वयंति अदुवा वि णाणो, णाणो वयंति अदुवा वि एगे ।

सं० —एके वदन्ति अथवा अपि ज्ञानिनः, ज्ञानिनः वदन्ति अथवा अपि एके ?

यह बात अन्य दार्शनिक कहते हैं या ज्ञानी भी कहते हैं ? यह ज्ञानी कहते हैं या अन्य दार्शनिक भी कहते हैं ?

भाष्यम् १९—पूर्वस्मिन् सूत्रे हिंसायाः फलं प्रतिपादितम् । तत् सर्वेषां दार्शनिकानां सम्मतमस्ति अथवा नास्ति, इति जिज्ञासां अभिव्यक्त्यै प्रस्तुतसूत्रम्—एके दार्शनिकाः पूर्वोक्तं हिंसाफलं वदन्ति अथवा ज्ञानिनो वदन्ति ? अस्याः समाधानं उत्तरवर्तिसूत्रेषु (२०-२६) समुपलभ्यते ।

इससे पूर्व के सूत्र में हिंसा के फल का प्रतिपादन हुआ है । यह तथ्य सभी दार्शनिकों को सम्मत है या नहीं, यह जिज्ञासा प्रस्तुत सूत्र में अभिव्यक्त है—कुछ दार्शनिक पूर्वोक्त हिंसाफल की बात कहते हैं अथवा ज्ञानी ऐसा कहते हैं । इस प्रश्न का समाधान उत्तरवर्ती (२०-२६) सूत्रों में प्राप्त है ।

एके इति केचिद् दार्शनिकाः, ज्ञानिन इति सम्यग्दर्शनमापन्नाः ।

एके का अर्थ है कुछ दार्शनिक । ज्ञानी का अर्थ है—सम्यग्दर्शन को प्राप्त व्यक्ति ।

गतप्रत्यागतक्रमेण एवं वाच्यम्—ज्ञानिनो वदन्ति अथवा एके वदन्ति ?

गतप्रत्यागत क्रम से इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है—ज्ञानी ऐसा कहते हैं अथवा कुछ दार्शनिक ?

२०. आर्वन्ति केआर्वन्ति लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवादं वदन्ति—से दिट्ठं च णे, सुयं च णे, मयं च णे विण्णायं च णे, उड्ढं अहं तिरियं दिशासु सव्वतो सुपडिलेहियं च णे—‘सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा, परियावेयव्वा, उद्दवेयव्वा । एत्थ वि जाणह णत्थित्थ बोसो ।’

सं०—यावन्तः केचन लोके श्रमणाश्च माहनाश्च पृथक् विवादं वदन्ति—तद् दृष्टं च नः, श्रुतं च नः, मतं च नः, विज्ञातं च नः, ऊर्ध्वं अधः तिर्यग् दिशासु सर्वतः सुप्रतिलिखितं च नः—सर्वे प्राणाः, सर्वे भूताः, सर्वे जीवाः, सर्वे सत्त्वाः हन्तव्याः आज्ञापयितव्याः परिगृहीतव्याः परितापयितव्याः, उद्घोतव्याः । अत्रापि जानीथ नास्ति अत्र दोषः ।

दार्शनिक जगत् में कुछ श्रमण और ब्राह्मण परस्पर-विरोधी मतवाद का निरूपण करते हैं । कुछ कहते हैं—‘हमने देखा है, सुना है, मनन किया है और भली-भांति समझा है, ऊंची, नीची और तिरछी—सभी दिशाओं में सब प्रकार से इसका निरीक्षण किया है कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन किया जा सकता है, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें बास बनाया जा सकता है, उन्हें परिताप दिया जा सकता है, उनका प्राण-वियोजन किया जा सकता है । इसमें भी तुम जानो कि इसमें कोई दोष नहीं है ।’

भाष्यम् २०—केचन श्रमणा माहनाश्च परस्परं विवादं कुर्वन्ति—अस्माकं एतद् दृष्टं, श्रुतं, मतं, विज्ञातं, सर्वतः सुप्रेक्षितमस्ति—प्राणिनां वधं नास्ति दोषः ।

कुछ श्रमण और ब्राह्मण परस्पर-विरोधी मतवाद का निरूपण करते हैं । वे कहते हैं—‘हमने देखा है, सुना है, मनन किया है, भलीभांति समझा है और चारों ओर से इसका निरीक्षण किया है कि ‘प्राणियों’ के वध में कोई दोष नहीं है ।’

किमेतादृशं हिंसायाः समर्थनं कुर्वाणाः श्रमणाः ब्राह्मणा अपि आसन् इति साश्चर्यं जिज्ञासा जायते । नात्र विस्मरणीयं, अहिंसायाः यादृशी प्रतिष्ठा अद्य विद्यते तादृशी भगवतो महावीरस्य युगे नासीत् । तदानीं धर्मार्थमपि याज्ञिकी हिंसा प्रचलिता आसीत् । मांसाहारस्य हेतवेऽपि हिंसायाः समर्थनं संजायमानमासीत् । तेषां हिंसां समर्थयतां विदुषां अभिमतमस्ति इह सूत्रे प्रदर्शितम् ।

इस प्रसंग में आश्चर्य के साथ यह जिज्ञासा होती है कि क्या हिंसा का इस प्रकार समर्थन करने वाले श्रमण और ब्राह्मण भी थे ? हमें यह विस्मृत नहीं करना चाहिए कि अहिंसा की जैसी प्रतिष्ठा आज है वैसी प्रतिष्ठा भगवान् महावीर के युग में नहीं थी । उस समय धर्म के लिए भी याज्ञिकी हिंसा प्रचलित थी । मांसाहार के लिए भी हिंसा का समर्थन किया जाता था । हिंसा का समर्थन करने वाले उन विद्वानों का अभिमत प्रस्तुत सूत्र में उल्लिखित है ।

## २१. अणारियवचनमेयं ।

सं०—अनार्यवचनमेतत् ।

यह अनार्यवचन है ।

भाष्यम् २१—अस्मिन् पूर्वोक्तपक्षे स्थापिते सूत्रकारो वक्ति—एतद् हिंसायाः प्रवर्तकं, अतः अनार्यवचनमस्ति ।

प्राचीनतरकाले आर्यः अनार्यः इति शब्दौ वर्गविशेष-वाचकौ आस्ताम् । भगवतो महावीरस्य युगे तौ लाक्षणिकी संजातौ । आर्यः श्रेष्ठः, अनार्यः अश्रेष्ठः । सूत्रकृतांगे 'आर्यमार्गस्य' उल्लेखो दृश्यते—'जे तत्थ आरियं मग्गं' [१।३।६६] । बौद्धानां आर्यसत्यं सुप्रतीत-मस्ति । प्रस्तुतप्रकरणे अनार्यपदस्य अयं अर्थः संगच्छते—यः अहिंसाधर्मं न वेत्ति स अनार्यः । अस्य प्रतिपक्षी—यः अहिंसाधर्मं वेत्ति स आर्यः ।

इस पूर्वोक्त पक्ष की स्थापना के विषय में सूत्रकार कहते हैं— यह हिंसा का प्रवर्तक है, इसलिए अनार्य-वचन है ।

प्राचीनतर काल में 'आर्य' तथा 'अनार्य'—ये दोनों शब्द वर्गविशेष के वाचक थे । भगवान् महावीर के युग में उनका लाक्षणिक प्रयोग होने लगा । आर्य अर्थात् श्रेष्ठ और अनार्य अर्थात् अश्रेष्ठ । सूत्रकृतांग आगम में 'आर्यमार्ग' का प्रयोग मिलता है । बौद्धों में 'आर्यसत्य' प्रसिद्ध है । प्रस्तुत प्रकरण में अनार्य शब्द का यही अर्थ संगत है कि जो अहिंसा धर्म को नहीं जानता वह अनार्य है । इसका प्रतिपक्षी है आर्य । जो अहिंसा धर्म को जानता है वह आर्य है ।

२२. तत्थ जे ते आरिया, ते एवमवयासी—से दुद्धिट्ठं च भे, दुस्सुयं च भे, दुम्मयं च भे, दुव्विण्णायं च भे, उड्ढं अहंतिरियं विसासु सव्वतो दुप्पडिल्लेहियं च भे, जण्णं तुब्भे एवमाइक्खह, एवं भासह, एवं परूवेह, एवं पण्णवेह—'सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा, परिघेतव्वा, परिघावेयव्वा, उद्दवेयव्वा । एत्थ वि जाणह णत्थित्थ दोसो ।'

सं०—तत्र ये ते आर्याः ते एवमवादिषुः—तद् दुद्धिट्ठं च युष्माकं, दुःश्रुतं च युष्माकं, दुर्मतं च युष्माकं, दुविज्ञातं च युष्माकं, ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिक्षु सर्वतः दुष्प्रतिलिखितं च युष्माकं, यद् यूयं एवमाचक्षीध्वं, एवं भाषेध्वं, एवं प्ररूपयेत, एवं प्रज्ञापयेत, सर्वे प्राणाः सर्वे भूताः सर्वे जीवाः सर्वे सत्त्वाः हन्तव्याः आज्ञापयितव्याः परिगृहीतव्याः परितापयितव्याः उद्द्रोतव्याः । अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः ।

जो वे आर्य हैं, उन्होंने ऐसा कहा है—'हिंसावादियो ! आपने बोध-पूर्ण देखा है, बोध-पूर्ण सुना है, बोध-पूर्ण मनन किया है, बोध-पूर्ण समझा है, ऊंची-नीची और तिरछो सब दिशाओं में बोध-पूर्ण निरीक्षण किया है, जो आप ऐसा आख्यान करते हैं, भाषण करते हैं, प्ररूपण करते हैं एवं प्रज्ञापन करते हैं कि किसी भी प्राणी, भूत जीव और सत्त्व का हनन किया जा सकता है, उन पर शासन किया जा सकता है, उन्हें दास बनाया जा सकता है, उन्हें परिताप दिया जा सकता है, उनका प्राण-वियोजन किया जा सकता है । इसमें भी तुम जानो कि हिंसा में कोई दोष नहीं है ।'

भाष्यम् २२—अस्मिन् विषये आर्या एवं वदन्ति—यदुक्तं भवद्भिः तद् दुद्धिट्ठमस्ति ।

आर्यः अहिंसाधर्मवित् ।

इस विषय में आर्य ऐसा कहते हैं—जो आपने कहा वह दोष-पूर्ण देखा हुआ है ।

आर्य वह होता है जो अहिंसा धर्म को जानता है ।

२३. वयं पुण एवमाइक्खामो, एवं भासामो, एवं परूवेमो, एवं पण्णवेमो—'सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परिघावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा । एत्थ वि जाणह णत्थित्थ दोसो ।'

सं०—वयं पुनरेवं आचक्षमहे, एवं भाषामहे, एवं प्ररूपयामः, एवं प्रज्ञापयामः—सर्वे प्राणाः, सर्वे भूताः, सर्वे जीवाः, सर्वे सत्त्वाः न हन्तव्याः, न आज्ञापयितव्याः, न परिगृहीतव्याः, न परितापयितव्याः, न उद्द्रोतव्याः । अत्रापि जानीथ नास्त्यत्र दोषः ।

'हम इस प्रकार आख्यान करते हैं, भाषण करते हैं, प्ररूपणा करते हैं एवं प्रज्ञापन करते हैं कि किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए । इसमें भी तुम जानो कि अहिंसा (सर्वथा) निर्दोष है ।'

भाष्यम् २३—वयमेवं वदामः—कस्यापि प्राणिनो वधो न कार्यः ।

हम इस प्रकार कहते हैं—किसी भी प्राणी का वध नहीं करना चाहिए ।

२४. आरियवयणमेयं ।

सं०—आर्यवचनमेतत् ।

यह आर्यवचन है ।

भाष्यम् २४—सूत्रकारो वक्ति—एतद् अहिंसायाः प्रवर्तकं आर्यवचनमस्ति ।<sup>१</sup>

सूत्रकार कहते हैं—यह अहिंसा का प्रवर्तक आर्यवचन है ।

२५. पुष्पं निकाय समयं पत्तेयं पुच्छिस्सामो—हंभो प्रावादुया ! किं भे सार्यं दुखं उदाहु असायं ?

सं०—पूर्व निकाय समयं प्रत्येकं प्रक्ष्यामः हंभो प्रावादुका ! किं युष्माकं सातं दुःखं उताहो असातम् ?

सर्वप्रथम दार्शनिकों को अपने-अपने सिद्धान्तों में स्थापित कर हम पूछेंगे—हे दार्शनिको ! क्या आपको दुःख प्रिय है या अप्रिय ?

भाष्यम् २५—अहिंसायाः सिद्धान्ते प्रतिपादितेऽपि यदि अविद्वांसः पुरुषाः तं न सम्यक् प्रतिपद्येरन् तदा तत्र उपेक्षा कर्तव्या । यदि विद्वत्परिषत् स्यात्तदा वादः स्थापनीयः । तस्यायं क्रमः—पूर्वं प्रतिवादिनः समयं निकायं—युष्माभिः सद्भावः आख्यातव्यः, न तु असद्भावः इति शपथं कारयित्वा अथवा प्रतिवादिनः स्वाभिमते सिद्धान्ते स्थापयित्वा प्रश्नः उपस्थापनीयः—हंभो ! प्रावादुका ! किं युष्माकं दुःखं प्रियं<sup>२</sup> अथवा अप्रियम्<sup>३</sup> ? एवं पृष्टाः प्रावादुकाः ब्रूयुः—अस्माकं दुःखं प्रियं, ततः प्रत्यक्षागमलोकबाधाभिः सिद्धान्तोऽयं निरसनीयः । यदि ते वदेयुः—‘अस्माकं दुःखमप्रियं’ तदा—

अहिंसा के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने पर भी यदि अविद्वान् व्यक्ति उसको सम्यक् प्रकार से स्वीकार नहीं करते हैं तो वहाँ उपेक्षा करनी चाहिए । यदि विद्वत् परिषद् हो तो वहाँ ‘वाद’ की स्थापना करनी चाहिए । उसका क्रम यह है—पहले प्रतिवादी दार्शनिकों को यह शपथ दिला कर कि ‘आप यथार्थ कहेंगे, अयथार्थ नहीं’, अथवा उनको अपने-अपने सिद्धान्तों में स्थापित कर प्रश्न उपस्थित करना चाहिए—हे दार्शनिको ! क्या आपको दुःख प्रिय है या अप्रिय ? ऐसा पूछने पर यदि वे दार्शनिक कहें कि हमें दुःख प्रिय है तो उनके सिद्धान्त का निरसन यह कह कर कर दिया जाए कि आपकी बात प्रत्यक्ष ही आगम-विरुद्ध है, लोक विरुद्ध है । यदि वे कहें—‘हमें दुःख अप्रिय है’ तब—

२६. समिया पडिवन्ने याबि एवं ब्रूया—सर्वेषां पाणाणं सर्वेषां भूयाणं सर्वेषां जीवाणं सर्वेषां सत्त्वाणं असायं अपरिणिव्वाणं महाभयं दुखं ।—त्ति वेमि ।

सं०—सम्यक् प्रतिपन्नाश्चापि एवं ब्रूयात्—सर्वेषां प्राणानां, सर्वेषां भूतानां, सर्वेषां जीवानां, सर्वेषां सत्त्वानां असातं अपरिनिर्वाणं महाभयं दुःखम् ।—इति ब्रवीमि ।

यदि आप कहें, हमें दुःख प्रिय नहीं है, तो आपका सिद्धान्त सम्यग् है । हम आपसे कहना चाहते हैं कि जैसे आपको दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए दुःख अप्रिय, अशान्तिजनक और महाभयंकर है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् २६—तान् सम्यक् प्रतिपन्नाश्चापि अहिंसा-परायणः साधुरेवं ब्रूयात्—न केवलं युष्माकं दुःखमप्रियं किन्तु सर्वेषां प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानां तद् अप्रियं अपरिनिर्वाणं महाभयं च वर्तते ।

‘हमें दुःख अप्रिय है’ इस सम्यक् सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले प्रतिवादियों को अहिंसा-परायण साधु इस प्रकार कहे—आपको ही दुःख अप्रिय नहीं है, किन्तु सभी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को दुःख अप्रिय, अशान्तिजनक और महाभयंकर है ।

१. इष्टव्यम्—४।२१ सूत्रस्य भाष्यम् ।

२. अनयोर्मूलमस्ति सातमसातं च । तत्र सातं पियं अस्सातं अपियं इति (चूणि, पृष्ठ १४३) ।

३. सातं मनआद्वावकारि, असातं मनःप्रतिकूलम् इति (बुत्ति, पत्र १६९) ।

अपरिनिर्वाणम्—अशान्तिः । ततः सिद्धान्तोऽयं फलति—‘सर्वे प्राणिनो न हंतव्याः ।’

अपरिनिर्वाण का अर्थ है—अशान्ति । इसलिए यह सिद्धान्त फलित होता है—किसी भी प्राणी का हनन नहीं करना चाहिए । (सभी प्राणी अवध्य हैं) ।

### तइओ उद्देशो : तीसरा उद्देशक

२७. उवेह एणं बहिया य लोयं, से सव्वलोगंसि जे केइ विण्णु । अणुधीइ पास णिक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पल्लिय चयंति ।

सं०—उपेक्षस्व एतं बहिष्च लोकं, ते सर्वलोके ये केचित् विज्ञाः । अनुवीचि पश्य निक्षिप्तदण्डाः ये केचित् सत्त्वाः पलितं त्यजन्ति ।

अहिंसा से विमुख इस जगत् की तू उपेक्षा कर । जो ऐसा करता है, वह समूचे जगत् में विज्ञ होता है । तू अनुचिन्तन कर देख, हिंसा को छोड़ने वाले मनुष्य ही कर्म को क्षीण करते हैं ।

भाष्यम् २७—एतं बाह्यं जीवलोकं उपेक्षस्व । उपेक्षा द्विविधा भवति । उप—सामीप्येन ईक्षणम् उपेक्षा, अथवा अव्यापाररूपा उपेक्षा ।\* अहिंसापराङ्मुखान् सिद्धान्तान् उपेक्षस्व । यः कश्चित् सर्वजीवान् सामीप्येन ईक्षते स सर्वलोके विज्ञो भवति ।

तू इस बाह्य जीवलोक—अहिंसा से विमुख दार्शनिक जगत्—की उपेक्षा कर । उपेक्षा के दो प्रकार हैं—

१. समीप से देखना उपेक्षा ।

२. अप्रवृत्तिरूप उपेक्षा ।

तू अहिंसा से परांगमुख सिद्धान्तों की उपेक्षा कर । जो कोई व्यक्ति सभी जीवों को निकटता से देखता है, वह समूचे जगत् में विज्ञ होता है ।

तू अनुचिन्तन कर देख, जो प्राणी निक्षिप्तदण्ड—हिंसा को छोड़ने वाले होते हैं वे ही पलित—कर्म को क्षीण करते हैं ।

अनुवीचि—अनुचिन्तनपूर्वकं पश्य, ये केचित् सत्त्वाः निक्षिप्तदण्डाः भवन्ति ते पलितं त्यजन्ति ।

निक्षिप्तदण्डः—दण्डो—घातः । तत्र द्रव्यदण्डः—शस्त्रादिः, भावदण्डः—दुष्प्रयुक्तं मनः । पलितम्—कर्म इत्यर्थं देश्यशब्दः ।

निक्षिप्तदण्ड—दण्ड का अर्थ है घात । द्रव्य दण्ड है—शस्त्र आदि । भावदण्ड है—दुष्प्रयुक्त मन । ‘पलित’ शब्द कर्म के अर्थ में देश्य है ।

२८. नरा मुयच्छा धम्मविदु त्ति अंजू ।

सं०—नराः मृतार्चाः धर्मविद इति ऋजवः ।

देह के प्रति अनासक्त मनुष्य ही धर्म को जान पाते हैं और धर्म को जानने वाले ही ऋजु होते हैं ।

भाष्यम् २८—अहिंसाधर्मं त एव विदन्ति ये मृतार्चाः—देहं प्रति अनासक्ताः भवन्ति, त एव ऋजवो भवन्ति ।

अहिंसा धर्म को वे ही जानते हैं जो मृतार्च—देह के प्रति अनासक्त होते हैं । वे ही ऋजु होते हैं ।

स्थानांगे परिग्रहस्य त्रैविध्यमुक्तम् । तत्र प्रथमः प्रकारः देहः । देहं प्रति आसक्ताः मनुष्याः नानाविधयां

स्थानांग सूत्र में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाए हैं । उनमें पहला प्रकार है—शरीर । शरीर में आसक्त मनुष्य त्रैविध्य प्रकार की

१. आचारंग सूत्र, पृष्ठ १४४ : उव सामिप्ये इक्ख वरिसणे ।

२. वही, पृष्ठ १४४ : अहवा उवेहा अब्बावारउवेहा ।

३. वही, पृष्ठ १४४ : अक्कीयते तमिति अक्का तं च शरीरं, ऋयंति सबकारं प्रति मुता इव जस्स अक्का स भवति मुतक्का, अहवा अक्की सेस्सा सामता ।



हिंसायां प्रवर्तन्ते । अत एव भगवता महावीरेण एतत् रहस्यमुद्घाटितं—यावद् मनुष्यो मृतार्चो न भवति तावद् वस्तुतः धर्मविद् न भवति । धर्मं शृण्वन् पठन्तपि तं नाचरतीति तात्पर्यम् ।

धर्मविद् ऋजुः भवति अथवा यः ऋजुः स धर्मविद् भवति इति उभयथापि वक्तुं शक्यम् । उक्तं च उत्तराध्ययने—‘सोही उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिद्धइ ।’

हिंसा में प्रवृत्त होते हैं । इसीलिए भगवान् महावीर ने इस रहस्य का उद्घाटन किया कि जब तक मनुष्य मृतार्च नहीं होता, तब तक यथार्थ में वह धर्म का ज्ञाता नहीं होता । इसका तात्पर्य यह है कि वह धर्म को सुनता हुआ, पढ़ता हुआ भी उसका आचरण नहीं करता ।

धर्मविद् ऋजु होता है अथवा जो ऋजु होता है वह धर्मविद् होता है—ऐसा दोनों प्रकार से कहा जा सकता है । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—‘जो ऋजु होता है उसकी विशुद्धि होती है । धर्म शुद्ध व्यक्ति में ही अवस्थित होता है ।’

२६. आरंभजं दुःखमिणंति णच्चा, एवमाहु समत्वंसिणो ।

सं०—आरम्भजं दुःखमिणं इति ज्ञात्वा एवमाहुः समत्वदर्शिनः ।

दुःख हिंसा से उत्पन्न है—यह जान कर मनुष्य हिंसा का परित्याग करे । समत्वदर्शी प्रवचनकारों ने ऐसा कहा है ।

भाष्यम् २९—आरम्भः—हिंसा । यदिदं दुःखमस्ति तद् आरम्भाज्जातमस्ति इति ज्ञात्वा पुरुषः हिंसातो निवर्तेत । समत्वदर्शिनः<sup>१</sup> एवं उक्तवन्तः ।

आरंभ का अर्थ है हिंसा । जो यह दुःख है वह हिंसा से प्रसूत है, ऐसा जानकर पुरुष हिंसा से निर्वातित हो जाए । समत्वदर्शी प्रवचनकारों ने ऐसा कहा है ।

३०. ते सर्वे प्रावादिका दुःखस्य कुशला परिणामुदाहरन्ति ।

सं०—ते सर्वे प्रावादिकाः दुःखस्य कुशलाः परिज्ञामुदाहरन्ति ।

वे सब कुशल प्रवचनकार दुःख की परिज्ञा का प्रतिपादन करते हैं ।

भाष्यम् ३०—ते सर्वे कुशलाः प्रावादिकाः दुःखक्षयार्थं परिज्ञाम्—विवेकं उदाहरन्ति । हिंसायाः प्रत्याख्यानं अकृत्वा न कश्चिद् दुःखक्षयं कर्तुं प्रत्यलो भवति इति तात्पर्यम् ।

वे सभी कुशल प्रवचनकार दुःखमुक्ति के लिए परिज्ञा—विवेक का प्रतिपादन करते हैं । हिंसा का प्रत्याख्यान किए बिना कोई भी पुरुष दुःख को नष्ट करने में समर्थ नहीं होता, यही इसका तात्पर्य है ।

३१. इति कम्म परिणाय सन्वसो ।

सं०—इति कर्म परिणाय सर्वशः ।

इसलिए मुमुक्षु पुरुष कर्म को सब प्रकार से जान कर उसका परित्याग करे ।

भाष्यम् ३१—सर्वकर्मक्षयो मोक्षः । बन्धे अपरिज्ञाते नहि मोक्षः परिज्ञातो भवति इति सर्वशः कर्म परिज्ञाय तत्क्षयार्थं प्रयतनीयम् । दुःखस्य हेतुकर्म, तस्य क्षयाय कर्मविवेकः करणीयः इति हृदयम् ।

समस्त कर्मों का क्षय ही मोक्ष है । बन्ध को जाने बिना मोक्ष परिज्ञात नहीं होता, इसलिए कर्म को सब प्रकार से जान कर उसको क्षीण करने का प्रयत्न करना चाहिए । दुःख का हेतु है कर्म । दुःख का क्षय करने के लिए कर्म-विवेक—यह दुःख किस कर्म का फलित है, ऐसा विवेक करना चाहिए, यही इसका हार्द है ।

३२. इह आणाकंखी पंडिण्ण अणिहे एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं, जरेहि अप्पाणं ।

सं०—इह आजाकांखी पण्डितः अनिहतः एकमात्मानं संप्रेक्ष्य धुनीयाच्छरीरं, कशंयेद्<sup>२</sup> आत्मानं जरयेद् आत्मानम् ।

जिनशासन में आज्ञाप्रिय पण्डित एक आत्मा की संप्रेक्षा करता हुआ कषाय भावि से प्रताड़ित न हो । वह कर्म-शरीर को प्रकम्पित करे और कषाय-आत्मा को क्रुश करे, जीर्ण करे ।

१. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १४५ : सम्मत्तं पस्सतीति सम्मदंसी ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १७१ : समत्वदर्शिनः सम्यक्त्व-

दर्शिनः समस्तदर्शिनो वा ।

२. कशच् तनूकरणे इति घातुः । अत्र स्वार्थिकञ्जि ।

भाष्यम् ३२—इदानीं कर्मविवेकस्य उपायः प्रदर्शयते । साधारणो जनः रागद्वेषनिहतो भवति । यः अतीन्द्रियदर्शिनं आज्ञाम्—निर्देशं काङ्क्षति स पण्डितः विरतिमान् भवति । तादृश एव पुरुषः रागद्वेषमोहेः विषयकषायैर्वा अनिहतो<sup>१</sup> भवति । स आत्मानमेकं संप्रेक्ष्य शरीरं<sup>२</sup> धुनोयात् । अयं आत्मा एक एव—शरीराद् अन्य एव वर्तते इति अन्यत्वानुप्रेक्षायाः प्रयोगः ।

अथवा अयं आत्मा एकः—असहायो वर्तते । अयं एकत्वानुप्रेक्षायाः प्रयोगः ।<sup>३</sup> आभ्यां प्रयोगाभ्यां कर्म-शरीरस्य धुननं<sup>४</sup>—कर्मपिकर्षणं जायते इति तात्पर्यम् ।

कषायात्मानं कृशं कुर्यात् जीर्णञ्च कुर्यात् । धुननं कृशीकरणं निर्जरणञ्च कर्मापकर्षणस्य क्रमः ।

प्रस्तुत आलापक में कर्म-विवेक (कर्म-क्षय) का उपाय बताया गया है । सामान्य व्यक्ति राग-द्वेष से प्रताड़ित होता है । जो अतीन्द्रियदर्शी पुरुषों के निर्देश की आकांक्षा करता है वह पंडित पुरुष विरतिमान् होता है । वैसा पुरुष ही राग-द्वेष, मोह, अथवा विषय, कषाय आदि से प्रताड़ित नहीं होता । वह एक आत्मा की संप्रेक्षा कर कर्म-शरीर को प्रकंपित करे । यह आत्मा अकेला ही है (या एक ही है)—यह शरीर से भिन्न ही है, यह अन्यत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोग है ।

अथवा यह आत्मा अकेला है—असहाय है, यह एकत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोग है । अनुप्रेक्षा के इन दोनों प्रयोगों से कर्म-शरीर का धुनन अर्थात् कर्मों का अपकर्षण होता है, यह इसका तात्पर्य है ।

पुरुष कषाय-आत्मा को कृश करे, जीर्ण करे । कर्मों के अपकर्षण का क्रम यह है—धुनन, कृशीकरण और निर्जरण ।

३३. जहा जुष्णाहं कट्वाहं, हव्यवाहो पमत्थति, एवं अत्तसमाहि ए अणिहे ।

सं०—यथा जीर्णानि काष्ठानि हव्यवाहः प्रमथ्नाति, एवं समाहितात्मा अनिहतः ।

जैसे अग्नि जीर्ण-काष्ठ को शीघ्र जला देती है, वैसे ही समाहित आत्मावाला तथा कषायों से अप्रताड़ित पुरुष कर्म-शरीर को प्रकंपित, कृश और जीर्ण कर देता है ।

१. प्रस्तुतागमे 'गिह' पदस्य प्रयोगः द्विविद्यते—(२।७४, १८६), द्विरथ (२।११६; ४।५) धातुपदप्रयोगः । 'अणिह' पदस्य प्रयोगः चतुर्वारं (४।३२, ३३; ५।४४; ६।१०६) विद्यते । अस्य संस्कृतरूपाणि एतानि संभवन्ति—१. स्निहः, २. निहतः, ३. गि+घा, ४ अस्निहः, ५. अनिमः, ६. अनिहितः । अत्र चूर्णो<sup>५</sup> अणिहपवस्य व्याख्या एवं विद्यते—अणिहो रागदोसमोहे, अणिहेता विसयकसाय-मत्लेहि वा, अहवा पडिलोमअणुलोमेहि परीसहउवसग्मेहि रंगमत्लच्छसंगासा (आ० चू० पृष्ठ १४५) ।

वृत्ती च—स्निह्यते—श्लिष्यतेऽष्टप्रकारेण कर्मणोति स्निहो, न स्निहोऽस्निहः, यच्च वा स्निह्यतीति स्निहो—रागवान्, यो न तथा सोऽस्निहः, उपलक्षणार्थत्वाच्चास्य रागद्वेषरहित इत्यर्थः, अथवा निश्चयेन हन्यत इति निहतः भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्मभिः यो न तथा सोऽनिहतः । (आ० वृ० पत्र १७३) ।

२. अत्र कर्मशरीरं विवक्षितमस्ति । 'धुने कम्मशरीरयं' (५।५९) अत्रेन अस्य पुष्टिर्जायते ; तथा आत्मनः संप्रेक्षा औदारिक-शरीरधुननस्य उपायो नास्ति, स उपायोऽस्ति कर्मशरीर-धुननस्य ।

३. चूर्णिकार ने 'एगमप्पाणं सपेहाए' इस पद की एकत्व और अन्यत्व भावनापरक व्याख्या की है । उनके अनुसार—

'एकः प्रकुरुते कम्मं, भुङ्क्ते एकश्च तत्फलम् ।  
जायत्येको त्रियत्येको, एको याति भवान्तरम् ॥'

आत्मा अकेला कर्म करता है, अकेला ही उसका फल भोगता है, अकेला उत्पन्न होता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही जन्मान्तर में जाता है । यह एकत्व भावना है ।

शरीर भिन्न है और आत्मा भिन्न है—यह अन्यत्व भावना है—अहवा शरीरातोऽत्रि अण्णो अहं (चूर्ण, पृष्ठ १४६) ।

वृत्तिकार ने केवल एकत्व भावनापरक कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं—

१. 'सदेकोऽहं न मे कश्चित्,

नाहमन्यस्य कस्यचित् ।

न तं पश्यामि यस्याहं,

नासो भावीति यो मम ॥'

२. 'संसार एवायमनर्थसारः,

कः कस्य कोऽत्र स्वजनः परो वा ।

सर्वे भ्रमन्तः स्वजनाः परे च,

भवन्ति भूत्वा न भवन्ति भूयः ॥'

३. 'विचिन्त्यमेतद् भवताऽहमेको,

न मेऽस्ति कश्चित् पुरतो न पश्चात् ।

स्वकर्मभिर्घ्नितिरियं ममैव,

अहं पुरस्तादहमेव पश्चात् ॥'

(आ० वृ० पत्र १७३)

४. आचारांग चूर्ण पृष्ठ १४६ : 'धुणयति वा करीसणति वा एगट्ठा ।'

भाष्यम् ३३—अत्र धुननकृशीकरणजरणविषये असौ दृष्टांतः, यथा—अग्निः जीर्णानि काष्ठानि प्रमथ्नाति एवं समाहितात्मा<sup>१</sup> अनिहतः पुरुषः कर्माणि प्रमथ्नाति ।<sup>२</sup>

धुनन, कृशीकरण और जीर्ण करने के विषय में यह दृष्टांत है, जैसे—अग्नि जीर्ण काष्ठ को शीघ्र जला डालती है, वैसे ही समाहित आत्मा वाला तथा कषायों से अप्रताडित पुरुष कर्मों को नष्ट कर देता है ।

३४. विगिञ्च क्रोधं अविकम्पमाने, इमं निरुद्धाद्युष्कं संप्रेहाए ।

सं०—विगिञ्च क्रोधं अविकम्पमानः इमं निरुद्धाद्युष्कं संप्रेक्ष्य ।

क्रोध की कालावधि सीमित है—यह संप्रेक्षा करता हुआ अकम्पित रह कर क्रोध का विवेक कर ।

भाष्यम् ३४—क्रोधस्य विवेकं कुरु । आत्मप्रदेशानां प्रकम्पनावस्थायां क्रोधः समुत्पद्यते । अतो निर्दिष्टम्—अविकम्पमानः क्रोधस्य विवेकं कुरु । अप्रकम्पनावस्थायां क्रोधः स्वयं प्रशाम्यति । इदं आयुष्कं निरुद्धं संप्रेक्ष्य क्रोधं व्यपनय इति आलम्बनसूत्रम् । एषा चूर्णवृत्ति-सम्पत्ता व्याख्या । इमं क्रोधं निरुद्धाद्युष्कं संप्रेक्ष्य इति व्याख्या अधिकं संगच्छते । अत्र मनुष्यस्य आयुषः प्रसङ्गः अध्याहृतो भवति, न तु प्रकरणगतः । क्रोधस्य प्रसङ्गः प्रकृतोऽस्ति । क्रोधः न शाश्वतोऽस्ति, सोऽस्ति क्षणिकः, तेन तस्य विवेकः कर्तुं शक्यः ।<sup>३</sup>

क्रोध का विवेक कर । जब आत्म-प्रदेश प्रकम्पित होते हैं तब क्रोध उत्पन्न होता है, इसलिए कहा है—अकम्पित रह कर क्रोध का विवेक कर । अप्रकम्प अवस्था में क्रोध स्वयं उपशांत हो जाता है । 'यह आयु सीमित है'—यह संप्रेक्षा कर क्रोध को दूर कर, यह आलम्बन सूत्र है । यह व्याख्या चूर्ण और वृत्ति द्वारा सम्मत है । 'इस क्रोध की कालावधि सीमित है—यह संप्रेक्षा कर'—यह व्याख्या अधिक संगत लगती है । यहां मनुष्य के आयुष्य का प्रसंग प्रकरणगत नहीं है, वह अध्याहृत है । क्रोध का प्रसंग चल रहा है । क्रोध शाश्वत नहीं है, वह क्षणिक है । इसलिए उसका अपनयन किया जा सकता है ।

निरुद्धम्—परिमितं अल्पकालिकं वा ।

निरुद्ध का अर्थ है—परिमित अथवा अल्पकालिक ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १४६, १४७ : अप्पा समाहितो जस्स नाणाविमु अप्पए वा जस्स समाहिताणि णाणातीणि सो भवति, सुविसुद्धासु वा सिस्सासु आता जस्स आहितो, अं भणितं आरोवितो, एवं वा अत्तसमाहितो ।

२. इस उपमा-पव में कर्म-शरीर को प्रकम्पित करने के दो साधन निर्दिष्ट हैं—समाधि (शुद्ध चैतन्य में एकाग्रता) और अनासक्ति । इन साधनों के निर्देश से भी यह स्पष्ट है कि इस प्रकरण में शरीर से तात्पर्य 'कर्म-शरीर' है ।

इस औदारिक (स्थूल) शरीर की कृशता यहां विवक्षित नहीं है । एक साधु ने उपवास के द्वारा शरीर को कृश कर लिया । उसका अहं कृश नहीं हुआ था । वह स्थान-स्थान पर अपनी तपस्या का प्रदर्शन करता और प्रशंसा चाहता था । एक अनुभवी साधु ने उसकी भावना को समझते हुए कहा—'हे साधो ! तुम इन्द्रियों, कषायों और गौरव (अहंभाव) को कृश करो । इस शरीर को कृश कर लिया, तो क्या हुआ ? हम तुम्हारे इस कृश शरीर की प्रशंसा नहीं करेंगे'—

इंदियाणि कप्पाए य, गारवे य किसे कुरु ।

णो वयं ते पसंसामो, किसं साहुसरीरयं ॥

(निशोथ भाष्य, गा० ३८५८)

भगवान् महाबीर ने कर्म-शरीर को कृश करने की बात कही है । स्थूल शरीर कृश हो या न हो, यह गौण बात है ।

३. चूर्णकारेण अस्य व्याख्या एवं कृतास्ति—'इयं' ति भाणुस्संगं, निरुद्धं णाम वरिससयाओ उद्धं न जीविज्जति, 'सम्मं पेहाए' सपेहाए, कि सम्मं पेक्खति ? जइ ताव नेरइयस्स जंतुणो, अहवा चरिमसरीरस्स ण पुणो आउणं भवतीति, तं पि समए समए णिज्जरमाणोहि निरुद्धमित्थिकाउं केचिरं एतं तवचरणवुक्खं भविस्सति ? अहवा सग्वासासव-निरोहो निरुद्धं काउं, अहवा संजयाणं इमेण निरुद्धेण आउएण, जं भणियं परिमितेण ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १४७)

वृत्तिकारेण एवं व्याख्यातम्—'इदं' मनुष्यत्वं 'निरुद्धा-युष्कं' निरुद्धम्—परिमितमायुष्कं (यत्र तत्) 'संप्रेक्ष्य' पर्यालोच्य क्रोधादिरित्यागं विदध्यात् ।

(आचारांग वृत्ति, पत्र १७३)

४. स्थानाङ्गे (४११,२) दीर्घस्य प्रतिपक्षे निरुद्धपदस्य प्रयोगो दृश्यते—'दीर्घेण परियाएणं...निरुद्धेण परियाएणं ।'

## ३५. दुःखं च जाण अदुवागमेस्सं ।

सं०—दुःखं च जानीहि अथवा आगमिष्यत् ।

क्रोध के द्वारा वर्तमान अथवा भविष्य में होने वाले दुःखों को जान ।

भाष्यम् ३५—क्रोधेन संज्वलतः मानसं दुःखमुत्पद्यते, तद् दुःखं जानीहि । अथवा क्रोधेन क्रोधस्य संस्कारो निर्मितः पुष्टश्च भवति । स च भविष्यति दुःखसृष्टिं करोति तथा क्रोधजनितं कर्म विपाकापादितं चागमि-दुःखं जानीहि, एतद् ज्ञानमपि क्रोधविवेकस्य आलम्बनं भवति ।

क्रोध से जलते हुए व्यक्ति के मानसिक दुःख उत्पन्न होता है, उस दुःख को तू जान । अथवा क्रोध से क्रोध का संस्कार निर्मित होता है, पुष्ट होता है । वह भविष्य में दुःख की सृष्टि करता है तथा क्रोध से अर्जित कर्म विपाक अवस्था में आकर भविष्य का दुःख बन जाता है, यह जान । यह अवबोध भी क्रोध-विवेक का आलम्बन-सूत्र बनता है ।

## ३६. पुढो फासाइं च फासे ।

सं०—पृथक् स्पर्शान् च स्पृशति ।

क्रोधी मनुष्य नाना प्रकार के दुःखों और रोगों को भोगता है ।

भाष्यम् ३६—क्रोधी मनुष्यः नानाप्रकारान् स्पर्शान्—शीतोष्णादिस्पर्शान् रोगस्पर्शान् वा स्पृशति—वेदय-तीत्यर्थः ।

क्रोधी मनुष्य नाना प्रकार के शीत-उष्ण आदि स्पर्शों—कष्टों तथा रोगों के कष्टों को भोगता है ।

शीतोष्णस्पर्शाः—क्रोधाविष्टः मनुष्यः शीतताविपि वासांसि परित्यज्य प्रायो निर्वसनशरीरः तिष्ठति । हिमकणान् आश्लिष्यति तुषिरवाते वाति अर्धरजन्यां मुक्ताकाशेषि तिष्ठति ।

शीतोष्णस्पर्शाः—जब मनुष्य क्रोध के गहरे आवेश से ग्रस्त होता है तब वह शीत ऋतु में भी सारे वस्त्र छोड़कर प्रायः निर्वस्त्र होकर बैठ जाता है । जब ठिठुराने वाली बर्फीली हवाएं चलती हैं तब भी वह आधी रात में खुले आकाश में आकर बैठ जाता है ।

सति क्रोधावेशे मनुष्यः तपति मध्याह्नवृत्तिनि दिनमणौ, प्रतपति शिलापट्टेष्वपि प्रज्वलिते अग्नावपि स्वं निपातयति ।

जब क्रोध का आवेश तीव्र होता है तब मनुष्य मध्याह्न की चिलचिलाती धूप में, अत्यन्त गर्म शिलापट्ट पर तथा प्रज्वलित अग्नि में स्वयं को जला डालता है ।

रोगस्पर्शाः—क्रोधावेशावस्थायां हृद्दौर्बल्यं पित्त-प्रकोपादयः रोगाः प्रादुर्भवन्ति । वृत्तिकृता पारलौकिका-नामपि दुःखानां उल्लेखः कृतोऽस्ति ।<sup>१</sup>

रोगस्पर्शाः—क्रोध के आवेश में हृदय की दुर्बलता, पित्त का प्रकोप आदि रोग उत्पन्न होते हैं । वृत्तिकार ने इस प्रसंग में पार-लौकिक दुःखों का भी उल्लेख किया है ।

## ३७. लोयं च पास विष्फंदमाणं ।

सं०—लोकं च पश्य विस्पन्दमानम् ।

तू देख ! यह लोक क्रोध से चारों ओर प्रकम्पित हो रहा है ।

भाष्यम् ३७—अयं मनुष्यलोकः क्रोधेन विस्पन्द-मानोऽस्ति । यत् क्रोधजनितं शारीरं मानसं वा दुःखमस्ति तस्य प्रतिकाराय इतस्ततः परिभ्रमन्नस्ति । एतत् त्वं विवेकचक्षुषा पश्य ।

यह मनुष्य-लोक क्रोध से प्रकम्पित हो रहा है । क्रोध द्वारा उत्पन्न जो शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, उसके प्रतिकार के लिए मनुष्य इधर-उधर चक्कर लगा रहा है । इसे तू विवेक-चक्षु से देख ।

## ३८. जे णिव्वुडा पार्वेहि कम्मोहि, अणिदाणा ते धियाहिया ।

सं०—ये निर्वृताः पापेषु कर्मसु, अनिदानाः ते व्याहृताः ।

जो पुण्य क्रोधात्मक पाप-कर्मों को शांत कर देते हैं, वे अनिदान कहलाते हैं ।

१ आचारांग वृत्ति, पत्र १७४ : पृथक् सप्तनरकपृथिवीसम्भवशीतोष्णवेदनाकुम्भीपाकाविद्यातनास्थानेषु 'स्पर्शान्' दुःखानि ।

भाष्यम् ३८—ये क्रोधात्मकेषु पापेषु कर्मसु निर्वृताः—शीतीभूताः वर्तन्ते ते अनिदानाः भवन्ति इति भगवता व्याहृतम् । निदानम्—बन्धनम् ।

भगवान् ने कहा है—जो पुरुष क्रोधात्मक पापकर्मों से निर्वृत—शांत हो गए हैं, वे अनिदान—बन्धन-मुक्त होते हैं । निदान का अर्थ है—बन्धन ।

ये उपशान्तक्रोधाः वर्तन्ते तेषां क्रोधात्मकं अथवा क्रोधपरिणामोत्पन्नं बन्धनं नास्ति । अत एव ते अनिदानाः भवन्ति ।

जिनका क्रोध उपशांत होता है उनके क्रोधात्मक अथवा क्रोध के परिणाम से उत्पन्न बंधन नहीं होता । इसीलिए वे अनिदान होते हैं ।

३६. तम्हा तिविज्जो णो पडिसंजलिज्जासि । —त्ति वेमि ।

सं० —तस्मात् त्रिविद्यः नो प्रतिसंज्वलेत् । —इति ब्रवीमि ।

इसलिए त्रिविद्य पुरुष प्रतिसंज्वलन न करे—क्रोध का निमित्त मिलने पर भी क्रोध न करे ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ३९—क्रोधाद् नानाविधानां कष्टानां सम्प्राप्तिर्भवति, तस्मात् त्रिविद्यः<sup>१</sup> पुरुषः न प्रति-संज्वलेत्—न रुष्येत्, न च क्रोधं प्रति क्रोधं कुर्यात् ।

क्रोध से नाना प्रकार के कष्टों की सम्प्राप्ति होती है, इसलिए त्रिविद्य पुरुष स्वयं को क्रोध से प्रवृत्तित न करे तथा क्रोध करने वाले के प्रति भी क्रोध न करे ।

### चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

४०. आपीलए पवीलए निष्पीलए जहिता पुव्वसंजोगं, हिच्छा उवसमं ।

सं०—आपीडयेत् प्रपीडयेत् निष्पीडयेत् हित्वा पूर्वसंयोगं हित्वा<sup>१</sup> उपशमं ।

मुनि पहले पूर्व सम्बन्धों को त्याग कर, इन्द्रिय और मन को शांत कर आपीडन, फिर प्रपीडन और फिर निष्पीडन करे ।

भाष्यम् ४०—कश्चिद् भव्यो मनुष्यः धर्मश्रवणपूर्वकं पूर्वसंयोगं हित्वा, इन्द्रियमनसोरुपशमं प्राप्य प्रव्रजितो भवति । प्रव्रज्यानन्तरं स किं कुर्यादिति जिज्ञासायां सन्ति तिस्रो भूमिकाः प्रतिपादिताः—

कोई भव्य पुरुष धर्म को सुनकर, पूर्व संयोगों का परिहार कर, इन्द्रिय और मन का उपशमन कर प्रव्रजित होता है । प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् वह क्या करे इस जिज्ञासा के समाधान में तीन भूमिकाओं का प्रतिपादन किया गया है—

प्रथमा आपीडनभूमिका, द्वितीया प्रपीडनभूमिका, तृतीया निष्पीडनभूमिका । पीडनं शरीरस्य कर्मणश्च । तस्य द्वावुपायौ—श्रुतं तपश्च ।

पहली है—आपीडन भूमिका, दूसरी है—प्रपीडन भूमिका तथा तीसरी है—निष्पीडन भूमिका । शरीर और कर्म का पीडन किया जाता है । उसके दो उपाय हैं—श्रुत और तप ।

प्रथमभूमिकायां श्रुताध्ययनश्रमेण श्रुतोपयोगितपः समाचरणेन च आपीडनं भवति ।<sup>३</sup>

प्रथम भूमिका में श्रुत के अध्ययन के श्रम से तथा श्रुतोपयोगी तप के आचरण से आपीडन होता है ।

द्वितीयभूमिकायां अनियतवासकाले, यात्रायां,

दूसरी भूमिका में अनियत निवास-काल के कारण तथा यात्रा

१. द्रष्टव्यम् ३।२८ सूत्रस्य पाठटिप्पणम् ।

चूणिव्याख्या—इति कारणा इति आमंतण एवं जाणंतो सहहंतो य विज्जं भवति हे विद्वन् !

(आ० चू० पृष्ठ १४८)

तस्मादतिविद्वान्— विदितगमसद्भावः ।

(आ० चू० पत्र १७४)

गीतायामपि (९.२०) त्रैविद्यपदस्य प्रयोगो दृश्यते ।

२. हित् गतिवृद्धयोः ।

३. आचारांग चूणि, पृष्ठ १४८, १४९ । आचारांग निर्युक्ति गाथा २६७ । बृहत्कल्पभाष्य, गाथा १४४६, ११३२-१२५३ । निशीथ भाष्य, गाथा ३८१३ चूणि ।

धर्मोपदेशकरणे, शिष्यसंवर्धने, अध्यापने, तपःसमाचरणे च प्रकृष्टं पीडनं भवति ।

तृतीयभूमिकायां संलेखनाकरणे ततोऽप्यधिकं पीडनं भवति ।<sup>१</sup>

प्रथमभूमिकायाः कालः चतुर्विंशतिवर्षीयः—द्वादश-वर्षाणि सूत्रग्रहणस्थ, तावन्ति एव अर्थग्रहणस्थ । द्वितीयतृतीयभूमिकयोः कालः प्रत्येकं द्वादशवर्षाणि ।

४१. तम्हा अविमणे वीरे सारए समिए सहिते सया जए ।

सं०—तस्माद् अविमनाः वीरः शारदः समितः सहितः सदा यतेत ।

इसलिए प्रसन्नमना, वीर, विशारद, सम्यक् प्रवृत्त और सहिष्णु मुनि सदा संयम करे ।

भाष्यम् ४१—उपशान्तस्य अचिरात् कर्मक्षयो भवति । तस्माद् उपशांतः पुरुषः सदा इति यावज्जीवं आत्मार्थं यतेत । अविमनाः<sup>१</sup>—प्रसन्नमनाः । वीरः—पराक्रमी । शारदः<sup>२</sup>—अर्थग्रहणपटुः । समितः—सम्यक् प्रवृत्तः ।

तथा चोक्तमुत्तराध्ययने—‘पाणे य नाइवाएज्जा, से समिए ति वुच्चई ताई ।’<sup>३</sup> सहितः—सहिष्णुः ।

४२. दुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं ।

सं०—दुरनुचरः मार्गः वीराणां अनिवर्तगामिनाम् ।

जीवन-पर्यन्त संयम-यात्रा में चलने वाले वीर मुनियों का मार्ग दुरनुचर होता है—उस पर चलना कठिन होता है ।

भाष्यम् ४२—भगवता महावीरेण आजीवनसंयमस्य विधानं कृतम् । विषयान् विहाय जीवनपर्यन्तं तेषामा-

धर्म का उपदेश देने में, शिष्यों के संवर्धन में, अध्यापन में तथा तप के आचरण में प्रकृष्ट पीडन होता है ।

तीसरी भूमिका में संलेखना करने की अवस्था में उससे भी अधिक पीडन होता है ।

पहली भूमिका का कालमान है— चौबीस वर्षों का—बारह वर्ष तक सूत्र का ग्रहण और बारह वर्ष तक अर्थ का ग्रहण । दूसरी और तीसरी भूमिका में प्रत्येक का कालमान है— बारह-बारह वर्ष ।

जिसके इन्द्रिय और मन शांत होते हैं, उस उपशांत पुरुष के कर्मक्षय शीघ्र हो जाता है, इसलिए उपशांत पुरुष सदा— यावज्जीवन आत्मा के लिए प्रयत्नशील रहे । प्रस्तुत आलापक में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ—

अविमना प्रसन्न मन वाला । वीर—पराक्रमी । शारद— अर्थ-ग्रहण करने में निपुण । समित—सम्यक् प्रवृत्ति करने वाला ।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—‘जो प्राणों का अतिपात (जीव-हिंसा) नहीं करता उसे समित (सम्यक् प्रवृत्त) कहा जाता है ।’ सहित का अर्थ है—सहिष्णु ।

१. तीसरी भूमिका शरीर-त्याग की है । जब मुनि आत्म-हित के साथ-साथ संघहित कर चुकता है, तब वह समाधि-मरण के लिए शरीर-त्याग की तैयारी में लग जाता है । उस समय वह दीर्घकालीन ध्यान और दीर्घकालीन तप (पाक्षिक, मासिक आदि) की साधना करता है ।

ध्यान और तप की साधना के औचित्य और क्षमता के अनुपात में ही स्थूल शरीर के आपीडन, प्रपीडन और निष्पीडन का निर्देश दिया गया है । कर्म-शरीर का प्रपीडन और निष्पीडन इसी के अनुरूप होगा । शरीर से चेतना के भेदकरण की भी ये तीन भूमिकाएँ हैं ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १४९ : विगतो मणो जस्स स भवति विगतमणो, जं भणितं—अरतिसोगभयं समावण्णो, ण विमणो अविमणो ।

भगवान् महावीर ने आजीवन-संयम (दीक्षा) ग्रहण करने का विधान किया । जो विषयों का परित्याग कर जीवन-पर्यन्त उनकी

३. शारदशब्दस्य चत्वारि संस्कृतरूपाणि संभवन्ति—

१. स्वारतः, २. सारकः, ३. स्मारकः, ४. शारदः । चूर्णा वृत्तौ च स्वारतः इति लभ्यते—अञ्चत्थं रतो सुआरतो, सारतो (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १४९) ।

‘सारए’ इत्यादि मुष्ठु आ—जीवनमर्धादिया संयमानुष्ठाने रतः स्वारतः । (आचारांग वृत्ति, पत्र १७५)

डाक्टरहर्मनजेकोबीमहोदयेन अस्य अनुवादः सारकः— (A person of pith) सारवान् इति कृतोऽस्ति ।

सूत्रकृतांगे त्रिषु स्थलेषु (१।३।१०; १।१३।१३; १।१४।१७) विशारदपदस्य प्रयोगो दृश्यते । तदाघारेणात्र सारपपदस्य शारदः इति संस्कृतरूपं संगतं प्रतीयते । योऽर्थग्रहणे पटुर्भवति स शारदः विशारदो वा कथ्यते ।

४. उत्तरज्ज्ञयणाणि, ८।९ ।

काङ्क्षां न कुर्वन्ति ते वस्तुतो वीरा एव । तेषां मार्गो दुरनुचरो वर्तते । अस्मिन् मार्गे वीरा एव गन्तुं प्रभवन्ति, न च पराक्रमशून्याः मनुष्याः ।

आकांक्षा नहीं करते वे वस्तुतः वीर ही होते हैं । उनका मार्ग दुरनुचर होता है—उस पर चलना कठिन होता है । इस मार्ग पर वीर पुरुष ही चलने में समर्थ होते हैं । पराक्रमशून्य व्यक्ति इस पर चल नहीं सकते ।

### ४३. विगिञ्च मांस-सोणितम् ।

सं० —विगिञ्च मांसशोणितम् ।

मांस और रक्त का विवेक कर, अपचय कर ।

भाष्यम् ४३—संयमानुपालनस्य मुख्या बाधास्ति कामासक्तिः । तेन तस्याः प्रतिकारः निर्दिश्यते । मांसशोणितोपचयः कामसंज्ञायाः उत्पत्तेरेकं कारणमस्ति । तेन मांसशोणितयोरपचयं कुरु इति निर्दिष्टम् ।

संयम के पालन में मुख्य बाधा है—कामासक्ति । इसलिए कामासक्ति के प्रतिकार की बात बताई जा रही है । कामसंज्ञा की उत्पत्ति का एक कारण है मांस और रक्त का उपचय । इसलिए मांस और रक्त का अपचय करो—ऐसा निर्देश है ।

शरीरं धर्मस्य आधारभूतम् । तदाधारभूतश्च मांसशोणितयोरपचयः, तदा तयोरपचयः किमर्थं कार्यः ? अस्य तात्पर्यमिदम्—तावानपचयः कार्यः येन मांसशोणिते कामसंज्ञायाः उत्पत्तेर्हेतुतां न प्रपद्येताम् ।

धर्म के आचरण का आधार है—शरीर । उस शरीर का आधारभूत तत्त्व है—मांस और रक्त का उपचय । तब प्रश्न होता है कि उनका अपचय क्यों करना चाहिए ? इसका तात्पर्य यह है कि उतना ही अपचय करना चाहिए जिससे कि मांस और रक्त कामसंज्ञा की उत्पत्ति के हेतु न बने ।

निर्वलाहारेण रक्तस्योपचयो न जायते, तेन विना मांसमेदोऽस्थिमज्जावीर्यादिधातूनामुपचयो न भवति, एवमनायासं आपीडनं साधितं भवति ।

अपौष्टिक आहार करने से रक्त का उपचय नहीं होता । रक्त के बिना मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य आदि धातुओं का उपचय नहीं होता । इससे अनायास ही आपीडन सध जाता है ।

### ४४. एष पुरिसे दविए वीरे, आयाणिञ्जे वियाहिए । जे धुणाइ समुस्सयं, वसित्ता बंभचेरंसि ।

सं० —एष पुरुषः द्रव्यः वीरः आदानीयो व्याहृतः । यः धुनाति समुच्छ्रयं उषित्वा ब्रह्मचर्ये ।

वह पुष्य राग-द्वेष मुक्त, पराक्रमी और अनुकरणीय होता है । वह ब्रह्मचर्य में रहकर शरीर और कर्म-शरीर को कृश कर देता है ।

भाष्यम् ४४—एष मांसशोणितयोरपचयकारकः पुरुषः द्रव्यः—रागद्वेषमुक्तो भवति । स पराक्रमं प्रयुञ्जानः अन्येषां आदानीयः—अनुकरणीयो वा व्याहृतः ।

जो मांस और रक्त का अपचय करता है वह पुरुष द्रव्य अर्थात् राग-द्वेष से मुक्त होता है । वह अपनी शक्ति का प्रयोग कर दूसरों के लिए आदानीय—अनुकरणीय होता है ।

समुच्छ्रयः द्विविधः—द्रव्यसमुच्छ्रयः—शरीरम्, भाव-समुच्छ्रयः—क्रोधमानमायालोभाः सर्वो वा मोहः । तं धुनाति ब्रह्मचर्ये वासं कृत्वा ।

समुच्छ्रय दो प्रकार का है द्रव्य समुच्छ्रय—शरीर और भाव समुच्छ्रय—क्रोध, मान, माया और लोभ अथवा सम्पूर्ण मोहनीय कर्म (मोहनीय कर्म की सारी प्रकृतियाँ) । वह ब्रह्मचर्य में रहकर शरीर और कर्म-शरीर को कृश कर देता है ।

ब्रह्मचर्यस्य त्रयोऽर्थाः भवन्ति—आचारः मैथुनविरतिः गुरुकुलवासश्च । अत्र मैथुनविरमणं प्रासङ्गिकम् ।

ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ होते हैं आचार, मैथुन-विरति और गुरुकुलवास । प्रस्तुत प्रकरण में ब्रह्मचर्य का अर्थ मैथुन-विरमण प्रासंगिक है ।

४५. णेत्तेहि पलिच्छिन्नेहि, आयाणसोय-गटिए बाले । अव्वोच्छिन्नबन्धणे, अणभिककंतसंजोए । तमसि अविजाणओ आणाए लंभो णत्थि स्ति बेमि ।

सं० नेत्रेषु परिच्छिन्नेषु आदानस्रोतोयथितः बालः अव्यवच्छिन्नबन्धनः अनभिक्रान्तसंयोगः तमसि अविजानत आज्ञायाः लम्भो नास्ति इति ब्रवीमि ।

इन्द्रिय-जय की साधना करते हुए भी जो अज्ञानी इन्द्रिय-विषयों में आसक्त हो जाता है और जो पारिवारिक बन्धन एवं आर्थिक अनुबंध को तोड़ नहीं पाता, वह आसक्ति के अंधकार में प्रविष्ट होकर विषय-लोलुपता के दोषों से अनभिज्ञ हो जाता है। ऐसा साधक आज्ञा का लाभ नहीं उठा पाता, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ४५—नयन्तीति नेत्राणि—इन्द्रियाणि । चक्षुर्वर्जानि इन्द्रियाणि कथं नेत्राणि ? श्रोत्रादीन्यपि इन्द्रियाणि स्वं स्वं विषयं नयन्ति तेन नेत्राणि भवन्त्येव । परिच्छिन्नम्—जितम् । इन्द्रियेषु जितेषु कश्चिद् बालः आदानस्रोतसि ग्रथितो भवति । स अव्यवच्छिन्नबन्धनः अनभिक्रान्तसंयोगो भवति, पुनरपि गृहे आवसति । तादृशस्य तमसि गतस्य कामासक्तेरपायान् अविजानतः आज्ञायाः लम्भो नास्ति ।

जो विषयों को प्राप्त कराती हैं वे नेत्र हैं अर्थात् इन्द्रिया हैं । प्रश्न होता है कि चक्षु को छोड़कर शेष इन्द्रियां प्राप्त कराने वाली कैसे हैं ? श्रोत्र आदि इन्द्रियां भी अपने-अपने विषय को प्राप्त कराती हैं इसलिए वे भी नेत्र हैं । परिच्छिन्न का अर्थ है—विजित । इन्द्रिय-जय की साधना करते हुए भी कोई अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय-विषयों में आसक्त हो जाता है और वह पारिवारिक बन्धन एवं आर्थिक अनुबंध को तोड़ नहीं पाता, तब वह पुनः गृहवासी बन जाता है । आसक्ति के अंधकार में प्रविष्ट तथा कामासक्ति (विषय-लोलुपता) के दोषों से अनभिज्ञ वैसे व्यक्ति के आज्ञा का लाभ नहीं होता ।

आज्ञा—श्रुतम् । तस्य सारमस्ति आचारः । तस्य सारमस्ति कर्मनिर्जरा । विषयलोलुपः पुरुषः सम्यगाचरणं कर्मनिर्जरां प्रति च न गतिमान् भवति ।

आज्ञा का अर्थ है—श्रुत । उसका सार है—आचार । आचार का सार है—कर्म-निर्जरा । विषय-लोलुप व्यक्ति सम्यग् आचरण और कर्म-निर्जरा के प्रति गतिशील नहीं होता ।

४६. जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्जे तस्स कओ सिया ?

सं०—यस्य नास्ति पुरा पश्चात् मध्ये तस्य कुतः स्यात् ?  
जिसका आवि-अंत नहीं है, उसका मध्य कहां से होगा ?

भाष्यम् ४६—पुरा—अतीतकालः । पश्चात्—भविष्यकालः । यस्य भुक्तविषयाणामनुस्मरणं तथा अनागतकालभाविनी विषयाशंसा नास्ति तस्य परम-निरुद्धत्वात् मध्ये इति वर्तमानकाले सा कुतः स्यात् ? न स्यादिति वाक्यावशेषः ।

पुरा का अर्थ है—अतीतकाल और पश्चात् का अर्थ है—भविष्यकाल । जिस व्यक्ति में भुक्त विषयों की अनुस्मृति तथा भविष्य की विषयाशंसा नहीं होती, उस व्यक्ति में परम निरोध के कारण मध्य अर्थात् वर्तमानकाल में वह विषयाशंसा कहां से हो सकती है ? कभी नहीं हो सकती ।

प्रस्तुतसूत्रस्य दार्शनिकदृष्ट्यापि व्याख्यानं क्रियते—  
यस्य पूर्वमस्तित्वं नास्ति, भविष्यत्यपि अस्तित्वं नास्ति,  
तस्य वर्तमाने अस्तित्वं कुतः स्यात् ? पूर्वजन्मपुनर्जन्म-

प्रस्तुत सूत्र की दार्शनिक दृष्टि से भी व्याख्या की जाती है—  
जिसका अतीत में अस्तित्व नहीं है, भविष्य में भी अस्तित्व नहीं है  
तो उसका वर्तमान में अस्तित्व कहां से होगा ? इसका तात्पर्य है कि

१. (क) तुलना—सांख्यकारिका २।६ :  
'आदावन्ते च यन्नास्ति, वर्तमानेऽपि तत्तथा ।'  
माध्यमिक कारिका ११।२ :  
'नैवाद्यं नावरं यस्य, तस्य मध्यं कुतो भवेत् ।'

(ख) भोगेच्छा के संस्कार का उन्मूलन नहीं होता, तब तक वह साधना-काल में भी समय-समय पर उभर आता है । अत एव कभी-कभी जितेन्द्रिय साधक भी अजितेन्द्रिय बन जाता है । किन्तु साधना के द्वारा

जब भोगेच्छा का संस्कार उन्मूलित हो जाता है, क्षीण हो जाता है, तब भोगेच्छा की त्रैकालिक निवृत्ति हो जाती है । फिर न वह पहले होती, न पीछे होती और न मध्य में होती—कभी भी नहीं होती । अतीत का संस्कार नहीं होता तो भविष्य की कल्पना नहीं होती तथा संस्कार और कल्पना के बिना वर्तमान का चिन्तन नहीं होता ।



नोरस्तित्वे सस्येव वर्तमानजन्मनोऽस्तित्वं संपद्यते इति तात्पर्यम् ।

यस्य नास्ति अतीतानागतजन्मविषये संशयः स एव वर्तमानक्षणे विषयाशंसानिरोधं कर्तुं प्रयतते ।

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म— इन दोनों का अस्तित्व होने पर ही वर्तमान जन्म का अस्तित्व हो सकता है ।

जिस पुरुष में अतीत और अनागत जन्म विषयक संशय नहीं है वही वर्तमान क्षण में विषयों की आशंसा का निरोध करने का प्रयत्न करता है ।

४७. से ह्यपण्णामंते बुद्धे आरंभोवरए ।

सं०—स खलु प्रज्ञानवान् बुद्धः आरम्भोपरतः ।

वही प्रज्ञानवान् और बुद्ध पुरुष आरम्भ से उपरत होता है ।

भाष्यम् ४७—स विषयाशंसाविमुक्तः प्रज्ञानवान्, बुद्धः पुरुषः आरम्भादुपरतो भवति । मनुष्यः विषय-कषायनिमित्तं आरम्भे प्रवर्तते । यस्य विषयाशंसा निवर्तते स तस्मान्निवर्तते ।

वह विषयाशंसा से मुक्त प्रज्ञानवान् तथा बुद्ध पुरुष ही हिंसा से उपरत होता है । मनुष्य विषय और कषाय के कारण ही हिंसा में प्रवृत्त होता है । जिसकी विषयाशंसा— भोगेच्छा निवृत्त हो जाती है, वह आरंभ से निवृत्त हो जाता है ।

प्रज्ञानं—निश्चयनयः । बुद्धः—विवेकसंपन्नः । आरंभः—पृथिव्यादिजीवानां उपघातः, सावधानुष्ठानं, द्रव्योत्पादनव्यापारः असंयमो वा ।

प्रज्ञान का अर्थ है—निश्चय दृष्टिकोण । बुद्ध का अर्थ है—विवेक से संपन्न । आरंभ के चार अर्थ हैं—पृथिवी आदि जीवों का उपघात, सावध प्रवृत्ति, द्रव्यों का उत्पादक व्यापार— व्यवसाय तथा असंयम ।

४८. सम्ममेयंति पासह ।

सं०—सम्यग् एतदिति पश्यत ।

यह सत्य है, इसे तुम देखो ।

भाष्यम् ४८—विषयाशंसायां निवृत्तायामेव हिंसायाः निवृत्तिर्भवति । एतद् सत्यम् इति यूयं पश्यत ।

विषयाशंसा की निवृत्ति होने पर ही हिंसा की निवृत्ति होती है । यह सत्य है, इसे तुम देखो ।

४९. जेण बंधं वहं घोरं, परितापं च दारुणं ।

सं०—येन बन्धं वधं घोरं परितापं च दारुणम् ।

भोगेच्छा से प्रेरित पुरुष घोर बन्ध, वध तथा दारुण परिताप का प्रयोग करता है ।

भाष्यम् ४९—विषयाशंसया प्रेरितः मनुष्यः घोरं बन्धं वधं दारुणं च परितापं करोति । बन्धः वधश्च शारीरिकः, परितापश्च मानसिकः । घोरं दारुणमिति निरपेक्षम् ।

विषयाशंसा से प्रेरित मनुष्य घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप का प्रयोग करता है । बंध और वध शारीरिक होता है और परिताप मानसिक । घोर और दारुण—ये दोनों विशेषण निरपेक्षभाव अथवा अत्यन्त क्रूरता के सूचक हैं ।

५०. परिच्छिद्य बाहिरगं च सोयं, णिककम्मदंसी इह मच्चिण्हि ।

सं०—परिच्छिद्य बाह्यकं च स्रोतः निष्कर्मदर्शी इह मर्त्येषु ।

इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को रोककर इस मरणधर्मा जगत् में तुम निष्कर्मदर्शी बनो ।

भाष्यम् ५०—स्रोतो द्विविधम्—बाह्यमाभ्यन्तरं च । तत्र बाह्यम्—इन्द्रियाणि, आभ्यन्तरम्—रागादि । बाह्य-स्रोतस उच्छृंखलता एव आभ्यन्तरस्रोतसोऽभिवृद्धये भवति । तेनोक्तम्—बाह्यस्रोतः परिच्छिद्य मनुष्य इह

स्रोत दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर । बाह्य स्रोत है—इन्द्रियां और आभ्यन्तर स्रोत है—राग आदि । बाह्य स्रोत की उच्छृंखलता ही आभ्यन्तर स्रोत की अभिवृद्धि करती है । इसीलिए कहा है—बाह्य स्रोत को रोक कर अर्थात् इन्द्रियों की बहिर्मुखी

मर्त्येषु निष्कर्मदर्शी भवेत् । निष्कर्मा—मोक्षः आत्मा संवरो वा । यः मर्त्येषु अमृतत्वमिच्छति स निष्कर्माणमेव पश्यति न तमन्तरेण किञ्चिदन्यत् पश्यति । स तच्चित्तस्तन्मनास्तल्लेश्यो भवति, शेषं पश्यन्नपि न पश्यति ।<sup>१</sup>

कर्म त्रिविधम्—मानसिकं वाचिकं कायिकं च । आत्मनः स्वरूपमस्ति चैतन्यं, तस्यानुभवः संवरः । एष संवर एव नैष्कर्म्यसाधनायाः रहस्यम् । उक्तं चामृतचन्द्राचार्येण<sup>१</sup>—

कृतकारितानुमननेस्त्रिकालविषयं मनोवचनकार्यैः ।  
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥

मोहाद्यहमकार्यं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।  
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मेणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

मोहविलासविजृम्भितमिदमुद्यत्कर्म सकलमालोच्य ।  
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मेणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

५१. कम्मुणा सफलं दृष्टुं, ततो णिज्जाइ वेयवी ।

सं०—कर्मणां सफलत्वं दृष्ट्वा ततः निर्याति वेदविद् ।

कर्म अपना फल देते हैं, यह देखकर जानी मनुष्य उनके संख्य से निवृत्त हो जाता है ।

भाष्यम् ५१—कर्मणि फलवन्ति भवन्ति, अवन्ध्यं अवश्यं भोक्तव्यमिति यावत् । यथा उत्तराध्ययने—  
'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'<sup>२</sup> अथवा सुचीर्णानां कर्मणां शुभं फलं, दुष्चीर्णानां कर्मणामशुभं फलं भवति तेन वेदविद् पुरुषः ततो निर्याति—विरमति । वेदः—शास्त्रं, तद् वेत्तीति वेदविद् ।

१. जिसकी इन्द्रियों का प्रवाह नश्वर विषयों की ओर होता है, वह अमृत को प्राप्त नहीं हो सकता । उसकी प्राप्ति के लिए इन्द्रिय-प्रवाह को भोड़ना आवश्यक होता है । जिसकी सारी इन्द्रियां अमृत के दर्शन में लग जाती हैं, वह स्वयं अमृतमय बन जाता है । निष्कर्म के पांच अर्थ किए जा सकते हैं—शाश्वत, अमृत, मोक्ष, संवर और आत्मा । कर्म को देखने वाला निष्कर्म को प्राप्त होता है । निष्कर्म-दर्शन योग-साधना का बहुत बड़ा सूत्र है ।

निष्कर्म का दर्शन चित्त की सारी वृत्तियों को एकाग्र कर करना चाहिए । उस समय केवल आत्मा या आत्मोप-

प्रवृत्ति को रोक कर मनुष्य इस मरण-धर्मा जगत् में निष्कर्मदर्शी (मोक्षदर्शी) बने । निष्कर्मा के तीन अर्थ हैं—मोक्ष, आत्मा अथवा संवर । जो मरण-धर्मा जगत् में अमृतत्व की इच्छा करता है वह निष्कर्मा—मोक्ष अथवा आत्मा को ही देखता है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं देखता । वह उसी में चित्त, मन और लेश्या—अध्यवसाय को नियोजित कर देता है, इसलिए अन्य सब कुछ देखता हुआ भी वह नहीं देखता ।

प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है—मानसिक, वाचिक और कायिक । आत्मा का स्वरूप है—चैतन्य । उसका अनुभव करना संवर है । यह संवर ही निष्कर्म की साधना का रहस्य है । आचार्य अमृतचंद्र ने कहा है—

‘मैं मानसिक, वाचिक और कायिक कृत, कारित और अनुमति रूप सारी त्रैकालिक प्रवृत्तियों का परिहार कर परम नैष्कर्म्य का अवलम्बन लेता हूँ ।’

‘मैंने मोह के वशीभूत होकर सारी प्रवृत्तियां की हैं, उनका प्रतिक्रमण कर अब मैं सदा चैतन्य स्वभाव वाली निष्कर्म आत्मा में आत्मा के द्वारा रह रहा हूँ ।’

‘मोह से विजृम्भित उदीयमान सारे कर्मों की आलोचना कर अब मैं सदा चैतन्य स्वभाव वाली निष्कर्म आत्मा में आत्मा के द्वारा रह रहा हूँ ।’

कर्म फलवान् होते हैं । वे अवन्ध्य होते हैं । उन्हें अवश्य भोगना होता है । उत्तराध्ययन में कहा है—‘किए हुए कर्मों का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं होता ।’ अथवा अच्छे आचरण से अर्जित कर्मों का फल शुभ होता है, और बुरे आचरण से अर्जित कर्मों का फल अशुभ होता है, इसलिए जानी पुरुष कर्मों से विरत होता है । वेद का अर्थ है—शास्त्र । जो वेद को जानता है वह वेदविद् अर्थात् शास्त्रज्ञ होता है ।

लब्धि के साधन को ही देखना चाहिए । अन्य किसी वस्तु पर मन नहीं जाना चाहिए ।

२. (क) समयसार, अमृतचन्द्राचार्यकृत आत्मव्याप्ति टीका, श्लोक २२५-२२७ ।

(ख) तुलना—भगवद्गीता ३।४; १८।४९ :

‘न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥’

‘असत्तुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥’

३. उत्तराध्ययणाणि ४।३ ।

कर्मपद द्वयर्थकं विद्यते—

१. मनोवाक्कायानां प्रवृत्तिः कर्म ।
२. प्रवृत्त्या आकृष्टाः शुभाशुभहेतुभूताः पुद्गलाः कर्म ।

कर्मविषये तिस्रो धारणा उद्भवन्ति—

१. आसक्तिपूर्वकपरित्यागः ।
२. कर्मफलत्यागः ।
३. कर्मपरित्यागः ।

अस्मिन् विषये प्रस्तुतागमस्य हृदयमिदं—आसक्त्या कर्म न करणीयम् । कर्मणः फलाशांसा न कर्त्तव्या । कर्म-परित्यागः कार्यः । एष एव कर्मणो निर्याणं नैष्कर्म्यं वा । नास्य तात्पर्यम्—सर्वथा कर्म न करणीयं, किन्तु कर्मणां निरोधः कार्यः, स च संवरः समाधिरित्युच्यते, अथवा यदावश्यकं कर्म करणीयं तत्समतया करणीयं, येन कर्मणां सफलत्वं बन्धनं वा प्रतनुतां गच्छेत् । यानि कर्माणि मन्दफलानि भवन्ति तान्यपि निष्कर्मसंज्ञां लभन्ते ।<sup>१</sup>

कर्म शब्द के दो अर्थ हैं—

१. मन, वचन और काया की प्रवृत्ति है कर्म ।
२. प्रवृत्ति से आकृष्ट शुभ-अशुभ के हेतुभूत पुद्गल है कर्म ।

कर्म विषयक तीन धारणाएं उत्पन्न होती हैं—

१. आसक्तिपूर्वक किए जाने वाले कर्मों का परित्याग ।
२. कर्म-फल का त्याग ।
३. कर्म मात्र का परित्याग ।

इस विषय में प्रस्तुत आगम का हार्द यह है—आसक्ति-पूर्वक कर्म नहीं करना चाहिए । कर्म-फल की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए । कर्म का परित्याग करना चाहिए । यही कर्म से विरमण है अथवा यही नैष्कर्म्य है । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि कर्म सर्वथा अकरणीय है, किन्तु कर्म का निरोध करना चाहिए । उसे संवर या समाधि कहा जाता है । अथवा जो आवश्यक कर्म करणीय है उसे समतापूर्वक करना चाहिए, जिससे कि कर्मों का फल और बंधन कुछ हो जाए । जो कर्म मन्दफल वाले होते हैं उन्हें भी निष्कर्म कह दिया जाता है ।

५२. जे खलु भो ! वीरा समिता सहिता सदा जया संघडदंसिणो आतोवरया अहा-तहा लोगमुवेहमाणा, पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं इति सच्चंसि परिचिंदिसु, साहिस्सामो णाणं वीराणं समिताणं सहिताणं सदा जयाणं संघडदंसिणं आतोवरयाणं अहा-तहा लोगमुवेहमाणाणं ।

सं०—ये खलु भोः ! वीराः समिताः सहिताः सदा यताः संघडदंसिणः आत्मोपरताः यथातथा लोकमुपेक्षमाणाः प्राचीनं प्रतीचीनं दक्षिणं उदीचीनं इति सत्ये परितस्थुः, कथयिष्यामः<sup>२</sup> ज्ञानं वीराणां समितानां सहितानां सदा यतानां संघडदंसिणां आत्मोपरतानां यथातथा लोकमुपेक्षमाणानाम् ।

हे आर्यों ! जो मुनि वीर, सम्यक्-प्रवृत्त, सहिष्णु, सतत इन्द्रिय-जयी, प्रतिपल जागरूक, स्वतः उपरत, जो लोक जैसा है उसे वैसा ही देखने वाले, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर—सभी दिशाओं में सत्य में स्थित हुए हैं, उन पूर्व-विशेषणों से विशेषित मुनियों के सम्यग् ज्ञान का हम निरूपण करेंगे ।

भाष्यम् ५२—उक्तं सम्यक्त्वम् । इदानीं तत्फल-मुच्यते । 'भो' इति आमन्त्रणे । ये खलु वीराः—तपसि कृतपराक्रमाः, समिताः—सम्यक्प्रवृत्ताः, सहिताः—सहिष्णवः, सदा यताः—सर्वकालं संयतवृत्तयः, संघडदंसिणः<sup>३</sup>—नित्यकालोपयुक्ताः, सततजागरूका इति यावत्, आत्मोपरताः<sup>४</sup>—आत्मना स्वत एव पापकर्मभ्यो विरता न तु पराभियोगेन, यथावस्थितोऽयं कर्मलोकः भवलोको वा तथा तमुपेक्षमाणाः सर्वासु दिक्षु ये सत्ये

सम्यक्त्व का प्रतिपादन किया जा चुका है । अब उसके फल का प्रतिपादन कर रहे हैं । 'भो' संबोधनवाची है । जो वीर हैं अर्थात् तपस्या में पराक्रमशील हैं, समित हैं—सम्यक् प्रवृत्त हैं, सहित हैं—सहनशील हैं, जो सदा यत हैं—सर्वकाल में संयतवृत्ति वाले हैं, संघडदंसिणः जो प्रतिक्षण (संयम में) उपयुक्त हैं, सतत जागरूक हैं, आत्मोपरत हैं—स्वतः पापकर्मों से विरत हैं, न कि दूसरों के प्रशासन या आज्ञा से विरत हैं, यह कर्मलोक अथवा भवलोक जैसा अवस्थित है उसे वैसा ही देखने वाले हैं तथा सभी दिशाओं में जो सत्य में

१. योगशाश्वत, ६-१-८७-१८ :

वासनामात्रसारत्वात्, अज्ञस्य सफलाः क्रियाः ।

सर्वा एवाफला जस्य, वासनामात्रसंक्षयात् ॥

२. प्राकृत व्याकरण (हेमचन्द्र) ४।२, कथेर्वज्जर-पज्जरोपास-पिसुण-संघ-बोत्त-चव-जम्प-सीस-साहाः ।

३. आचारंग सूत्र, पृष्ठ १५३ : संयवं णाम संघडं जं भणितं

—निरंतरं, नित्यकालोपयुक्ता, पुष्पावरवित्थरदंसणा वा संघडदंसिणो ।

४. आचारंग सूत्र, पृष्ठ १५३ : अण्णया उवरता पावकम्भेहि आतोवरता, जं भणितं न पराभियोगेणं ण वा इस्सरपुरिस-वसा ।

स्थितवन्तः, सत्यम्<sup>१</sup>—सम्यक्त्वं संयमो वा, तस्याराधकाः  
सर्वास्वपि दिक्षु वर्तन्ते इति तात्पर्यम् । तेषां पूर्वविशेषण-  
विशिष्टानां ज्ञानं<sup>१</sup> साधयिष्यामः<sup>२</sup>—कथयिष्यामः  
श्लाघिष्यामहे वा ।

अवस्थित हैं । इसका तात्पर्य है कि सत्य अर्थात् सम्यक्त्व या संयम के  
आराधक सभी दिशाओं में हैं । उन पूर्व निर्दिष्ट विशेषणों से विशिष्ट  
पुरुषों के ज्ञान का हम कथन करेंगे, उसकी श्लाघा करेंगे ।

५३. किमतिथ उपाधो पासगस्स ण विज्जति ?  
णत्थि । —त्ति वेमि ।

सं०—किमस्ति उपाधिः पश्यकस्य न विद्यते ?  
नास्ति । —इति ब्रवीमि ।

क्या द्रष्टा के कोई उपाधि होती है या नहीं होती ?  
नहीं होती । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ५३—द्रष्टव्यम्—३।८७ भाष्यम् ।

देखें—३।८७ का भाष्य ।

१. (क) आचारांग सूत्रि, पृष्ठ १५३ : अणिययस्यणं सच्चं,  
अहवा सच्चोत्ति संयमो वुत्तो, तित्थगरमासियं वा  
सम्मसं वा सचे सच्चं ।

(ख) आचारांग सूत्रि, पत्र १७७ : सत्यमिति ऋतं तथा  
संयमो वा ।

२. आचारांग सूत्रि, पृष्ठ १५३ : न सम्महंसणं मुहस्ता अन्नं  
सोरोऽपि कण्ठं निच्चं अत्थि, सम्मं नाणं च तवसंजमे  
विरायति ।

३. वही, पृष्ठ १५३ : साहिस्सामो जं भणितं अक्खाइस्सामो,  
अहवा साहिस्सामि पसंसिस्सामि पव्विस्सामि ।

पंचमं अज्झयणं  
लोगसारो

पांचवां अधययन  
लोकसार

[उद्देशक ६ : सूत्र १४०]



## आमुखम्

प्रस्तुताध्ययनस्य नामास्ति 'लोकसारः' । इदं नाम गौणमस्ति । आदानपदेनास्य नाम भवति 'आवंती' । अस्य षड् उद्देशकाः वर्तन्ते । तेषां विषयनिर्देश एवमस्ति—

१. हिंसकः विषयारम्भकः एकचरश्च मुनिः न भवति ।
२. स एव मुनिर्भवति योऽस्ति विरतः । योऽस्ति अविरतवादी स परिग्रहवान् भवतीति ।
३. यो विरतो भवति स एव अपरिग्रहः निर्विण्ण-कामभोगश्च भवति ।
४. अव्यक्तस्य—सूत्रार्थापरिनिष्ठितस्य जायमानानां प्रत्यपायानां निदर्शनम् ।
५. साधुना हृदोपमेन भाव्यम् । यथा जलपरिपूर्णः हृदः प्रशस्यो भवति तथा ज्ञानदर्शनचारित्र्य-परिपूर्णो मुनिरपि प्रशस्यो भवति । तस्यैव तपः-संयमगुप्तयो निःसंगता च ।
६. उन्मार्गः वर्जनीयः तथा रागद्वेषौ च त्याज्यौ ।

उद्देशकानां अर्थाधिकारेभ्य एव सारपदस्य फलितं लभ्यते । प्रश्नोऽस्ति अस्मिन्सारे लोके किमस्ति सारम् ? अस्य अनेकानि उत्तराणि । लौकिकानामुत्तर-मस्ति—

- 'अस्मिन्सारे संसारे सारं सारंगलोचना ।'  
 'अस्मिन्सारे संसारे सारं वित्तस्य संग्रहः ।'  
 'अस्मिन्सारे संसारे सारं मिष्टान्नभोजनम् ।'  
 यस्मै यद् रोचते तदेव तस्य सारम् । यथा श्रूयते—

'दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा च शर्करा मधुरा ।  
 तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम् ॥'

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है 'लोकसार' । यह नाम गौण है । आदानपद के अनुसार इसका नाम होता है 'आवंती' । इसके छह उद्देशक हैं । उनका विषय-निर्देश इस प्रकार है—

१. हिंसक, विषयों के लिए आरंभ करने वाला तथा एकचर (अकेला विचरण करने वाला) मुनि नहीं होता ।
२. मुनि वही होता है जो विरत है । जो अविरतवादी है वह परिग्रही होता है ।
३. जो विरत होता है वही अपरिग्रही और कामभोगों से उदासीन होता है ।
४. अव्यक्त—सूत्र और अर्थ से अनभिज्ञ मुनि के साधनाकाल में उत्पन्न होने वाले दोषों का निदर्शन ।
५. साधु को हृद के समान होना चाहिए । जैसे जल से परिपूर्ण हृद प्रशस्य होता है वैसे ही ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य से परिपूर्ण मुनि भी प्रशस्य होता है । उसी के तप, संयम, गुप्त तथा निःसंगता होती है ।
६. उन्मार्ग का वर्जन तथा राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए ।

इन छह उद्देशकों के विषय-निर्देश से ही सारपद का फलित प्राप्त होता है । प्रश्न होता है कि इस असार संसार में 'सार' क्या है ? इस प्रश्न के अनेक उत्तर हैं । लौकिक व्यक्तियों का उत्तर है—

- इस असार संसार में सार है—स्त्री ।
- इस असार संसार में सार है—धन का संग्रह ।
- इस असार संसार में सार है—मिष्टान्न भोजन ।

जिसको जो रुचिकर लगता है, वही उसके लिए सार है । जैसे सुना जाता है—

वही मीठा होता है । मधु मीठा होता है । दाख और शर्करा भी मीठी होती है । उस व्यक्ति के लिए वही मधुर या मीठी है, जिसका मन जिसमें लग जाता है ।

१. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २३८ :

'आयाणपण्यावंति गोष्णनामेण लोगसार्हसि ।'...

वृत्ति, पत्र १७८ : आदीयते—प्रथममेव गृह्यत इत्यादानं तच्च तत्पदं च आदानपदं तेन करणभूतेनावन्तीत्येतन्नाम, अध्ययनादावावन्तीशब्दस्योच्चारणाद्, गुणनिष्पन्नं गौणं तच्च तन्नाम च गौणनाम तेन हेतुना लोकसार इति ।

२. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २३५-२३७ :

हिंसगविसयारंभग एगचरत्ति न मुणी पढमगंमि ।  
 विरओ मुणित्ति बिइए अविरयवाई परिगमहिओ ॥  
 तईए एसो अपरिग्रहो य निविण्णकामभोगो य ।  
 अश्वत्तस्तेगचरस्स पच्चवाया चउत्थंमि ॥  
 हरउवमो तवसंयमगुत्ती निस्संगया य पंचमए ।  
 उम्मगावज्जणा छुट्टुगंमि तह रागदोसे य ॥

ये मनोभूमिकायां विचरन्ति तेषां दृष्टि सारमस्ति पदार्थानां संग्रहो भोगश्च । प्रस्तुताध्ययने यत् सारं वर्णितमस्ति तदस्ति मनोभूमिकायाः पारंगतानां, अन्तर्दृशां, आत्मानं अनुभूय विहरमाणानाम् । तत् सारमस्ति षडङ्ग—अहिंसा, विरतिः, अपरिग्रहः, स्वाध्यायः, गुप्तिः, उन्मार्गवर्जनम् ।

अध्यात्मचिन्तायां अमृतत्वमस्ति सारम् । तत्र जन्म-मरणपरम्परा सारं नास्ति । तस्याः कारणमस्ति मोहः । 'मोहेण गढं मरणाति एति ।' तृतीयाध्ययनेऽपि उक्तम्—'माई पमाई पुषरेइ गढं ।' आत्मानुभूतेः सार-मस्ति जन्ममरणपरम्पराया विच्छेदः ।<sup>१</sup>

अस्मिन् रहस्यवादस्य प्राचुर्यं वर्तते ।<sup>२</sup> ध्यानसूत्राणा-मपि अस्ति प्राचुर्यम् ।<sup>३</sup>

अस्मिन् युद्धस्यापि निर्देशः समुपलभ्यते ।<sup>४</sup> युद्धं मनुष्यस्य मौलिकी मनोवृत्तिरस्ति । तस्य हिंसात्मकस्य युद्धस्य आध्यात्मिकीकरणमस्ति पराक्रमस्य प्रतिष्ठापनम् । ब्रह्मचर्यस्य न केवलमुपदेशः किन्तु तस्य साधनायै प्रयोगा अपि सन्ति समुपदिष्टाः ।<sup>५</sup> तैराहार-संबंधी दृष्टिकोणः सुस्पष्टो भवति, आसनानां माहात्म्यमपि हृदयंगमी भवति । तानि आसनानि न केवलं शरीरसौष्ठवाय, तेभ्यः कामादिवृत्तीनामपि परिष्कारो जायते ।

अस्मिन् आत्मनो लक्षणं प्रतिपादितमस्ति तथा तस्य अमूर्तत्वं स्वराविभिरप्राह्यत्वमपि विस्तरेण निरूपित-मस्ति । तत्र औपनिषदिकः 'नेति नेति' वादस्य प्रयोगः पुनः पुनश्चकास्ति ।

'अपदस्य पदं नास्ति' इति सूचयति 'आत्मा' इति संज्ञापि अस्माभिः प्रकल्पितास्ति । तदस्ति केवलं चैतन्यमयी अरूपिसत्ता ।

अस्मिन् प्रकरणे आत्मनः तर्कगम्यत्वं निरूप्य सूत्रकारेण द्विविधाः पदार्थाः तर्कगम्या अतर्कगम्या इति ज्ञेयस्य द्वैविध्यं सहजं निरूपितम् ।

जो मनोभूमिका में विचरण करते हैं उनकी दृष्टि में सार है—पदार्थों का संग्रह और उनका उपभोग । प्रस्तुत अध्ययन में जिस 'सार' का वर्णन किया गया है वह उन व्यक्तियों की दृष्टि से है जो मनोभूमिका से पार पहुँच चुके हैं, जो आन्तरिक दृष्टि के धनी हैं और जो आत्मा का अनुभव कर विहरण कर रहे हैं । उस 'सार' के छह अंग हैं—अहिंसा, विरति, अपरिग्रह, स्वाध्याय, गुप्ति तथा उन्मार्ग वर्जन ।

अध्यात्म-चिन्तन में सार तत्त्व है 'अमृतत्व' । उसके अनुसार जन्म-मरण की परंपरा सार नहीं है । जन्म-मरण का कारण है-मोह । 'व्यक्ति मोह के कारण जन्म-मरण को प्राप्त होता है ।' तीसरे अध्ययन में भी कहा है—'मायी और प्रमायी व्यक्ति बार-बार जन्म लेता है ।' आत्मानुभूति का सार है—जन्म-मरण की परंपरा का विच्छेद ।

इस अध्ययन में रहस्यवाद का प्राचुर्य है । इसमें ध्यान सूत्रों का भी प्राचुर्य है ।

प्रस्तुत अध्ययन में युद्ध का भी निर्देश प्राप्त होता है । युद्ध मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति है । उस हिंसात्मक युद्ध का आध्यात्मिकीकरण है पराक्रम का प्रतिष्ठापन/नियोजन । ब्रह्मचर्य का केवल उपदेश ही नहीं, किन्तु उसकी साधना के प्रयोग भी इसमें निर्दिष्ट हैं । उन प्रयोगों से आहार संबंधी दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट हो जाता है तथा आसनों का महत्व भी हृदयंगम हो जाता है । वे आसन केवल शारीरिक सौन्दर्य या स्वास्थ्य के लिए ही नहीं, उनसे काम आदि वृत्तियों का भी परिष्कार होता है ।

प्रस्तुत अध्ययन में आत्मा का लक्षण प्रतिपादित है । साथ ही साथ 'आत्मा अमूर्त है', वह स्वर आदि के द्वारा अप्राह्य है—यह भी विस्तार से निरूपित है । इस प्रसंग में औपनिषदिक 'नेति नेति' वाद का बार-बार प्रयोग हुआ है ।

'वह अपद है—उसका बोध करने के लिए कोई पद नहीं है'—यह सूक्त इस तथ्य को सूचित करता है कि 'आत्मा'—यह संज्ञा भी हमारे द्वारा प्रकल्पित है । वह 'अपद' तो केवल चैतन्यमयी अरूपी सत्ता है ।

इस प्रकरण में आत्मा को तर्क से अगम्य निरूपित कर सूत्रकार ने ज्ञेय की द्विविधता का सहज निरूपण करते हुए दो प्रकार के पदार्थ बतलाए हैं—तर्कगम्य तथा अतर्कगम्य ।

१. आयारो, ५।७ ।

२. वही, ३।१४ ।

३. वही, ५।१२२ ।

४. वही, ५।३,४ ।

५. वही, ५।२१,३०,६५,११८,१२० ।

६. वही, ५।४५,४६ ।

७. वही, ५।७५-८८ ।



अधीयमानेऽस्मिन्नध्ययने इदं सूक्तं सार्थकं भवति—  
 'वेदान्यशास्त्रवित् क्लेशं, रसमध्यात्मशास्त्रवित् ।  
 भाग्यश्रुद् भोगमाप्नोति, वहति चम्बलं खरः ॥'

पूज्यपादस्य एषा श्लोकद्वयो चापि अत्र सुसंगता<sup>१</sup>—  
 'यत् परं प्रतिपाद्योऽहं यत् परान् प्रतिपादये ।  
 उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः ॥'  
 'यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।  
 जानाति सर्वथा सर्वं तत् स्वसंवेद्यमस्यहम् ॥'

इस अध्ययन को पढ़ने पर यह सूक्त सार्थक प्रतीत होता है—  
 'जो व्यक्ति अन्यान्य शास्त्रों का ज्ञाता है, वह केवल क्लेश को भोगता है। जो अध्यात्म शास्त्र का ज्ञाता है, वही शास्त्र के रस को भोगता है। गधा चन्दन के भार को ढोता है, पर उसकी सुगंध का उपभोग कोई भाग्यशाली ही कर पाता है।

पूज्यपाद द्वारा रचित ये दो श्लोक भी यहाँ सुसंगत हैं—  
 'दूसरे मेरा प्रतिपादन करते हैं, मैं दूसरों का प्रतिपादन करता हूँ। यह मेरी उन्मत्त चेष्टा है। क्योंकि मैं (आत्मा) निर्विकल्प हूँ।'  
 'जो राग-द्वेष आदि अग्राह्य हैं, हेय हैं, उन्हें ग्रहण नहीं करता और जो स्वभाव है उसे नहीं छोड़ता तथा जो सर्वथा सब कुछ जानता है, वह स्वसंवेद्य मैं हूँ।'

१. समाधिशातक, श्लोक १९-२० ।



## पंचमं अज्झयणं : लोगसारो

### पांचवां अध्ययन : लोकसार

#### पहमो उद्देशो : पहला उद्देशक

१. आवांती केआवांती लोयंसि विप्परामुसंति, अट्टाए अणट्टाए वा, एएसु चेव विप्परामुसंति ।

सं०—यावन्तः केचन लोके विपरामृशन्ति अर्थात् अनर्थात् वा, एतेषु चैव विपरामृशन्ति ।

इस जगत् में जो मनुष्य प्रयोजनवश या निष्प्रयोजन जीव-बध करते हैं, वे इन छह जीव-निकायों में से किसी भी जीव-निकाय का बध कर देते हैं ।

भाष्यम् १—साधकेन रागद्वेषविमुक्तेन भाव्यम् । रागद्वेषयोर्विमुक्तिरेव साधनायाः सारम् । तयोः प्रवृत्तः पुरुषः किं किमाचरतीति जिज्ञासायां सूत्रकारो वक्ति—यावन्तः कियन्तो मनुष्याः रागद्वेषवशां वदन्ते, ते लोके विपरामृशन्ति<sup>१</sup>—हिंसाचरणे प्रवर्तन्ते । तेषु केचन अर्थम्<sup>२</sup>—प्रयोजनमासाद्य हिंसां कुर्वन्ति, केचिच्च अनर्थ-मेव<sup>३</sup> हिंसां कुर्वन्ति । हिंसाया द्रव्यं विषयो वा—षड्जीवनिकायः । तेनोक्तम्—एतेषु षट्सु जीवनिकायेषु विपरामृशन्ति ।

साधक को रागद्वेष से मुक्त रहना चाहिए । राग-द्वेष से विमुक्ति ही साधना का सार है । राग-द्वेष में प्रवृत्त व्यक्ति क्या-क्या आचरण करता है, इस जिज्ञासा के प्रसंग में सूत्रकार कहते हैं—जितने मनुष्य राग-द्वेष के वशवर्ती हैं, वे लोक में हिंसा का आचरण करते हैं । उनमें से कुछेक लोग प्रयोजनवश हिंसा करते हैं और कुछ बिना प्रयोजन ही हिंसा करते हैं । हिंसा का द्रव्य या विषय है—षड्जीवनिकाय । इसीलिए कहा है—वे लोग इन छह जीवनिकायों की हिंसा में प्रवृत्त होते हैं ।

२. गुरु से कामा ।

सं०—गुरवः तस्य कामाः ।

उनकी कामनाएं विशाल होती हैं ।

भाष्यम् २—हिंसायाः त्रीणि प्रयोजनानि कामार्थ-धर्मरूपाणि निरूपितानि । अत्र कामोऽस्ति विवक्षितः । यस्य कामा गुरवः<sup>४</sup>—दुस्त्यजा अनतिक्रमणीया वा भवन्ति, स तत्पूर्तिनिमित्तं हिंसायां प्रवर्तते ।

हिंसा के तीन प्रयोजन निरूपित हैं—काम, अर्थ और धर्म । प्रस्तुत प्रकरण में 'काम' की विवक्षा है । जिस पुरुष के काम गुरु—दुस्त्यज अथवा अनतिक्रमणीय होते हैं, वह उनकी संपूर्ति के लिए हिंसा में प्रवृत्त होता है ।

पूर्वमेव प्रतिपादितं 'कामा दुरतिक्रमा' (२।१२१) । पुरुषार्थचतुष्टय्यां कामः अर्थश्च इति पुरुषार्थद्वयी इन्द्रियचेतनां अनुबध्नाति । धर्मो मोक्षश्च अनुबध्नाति अतीन्द्रियचेतनाम् । इन्द्रियचेतनाजगति रागद्वेषौ प्रवर्तते । अतीन्द्रियचेतनाजगति वीतरागता

इससे पूर्व (२।१२१) में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि 'काम दुर्लभ्यं है' । पुरुषार्थ चतुष्टयी में काम और अर्थ—ये दो पुरुषार्थ इन्द्रिय-चेतना से अनुबधित हैं और धर्म तथा मोक्ष—ये दो पुरुषार्थ अतीन्द्रिय-चेतना से अनुबधित हैं । इन्द्रिय-चेतना के जगत् में राग-द्वेष प्रवर्तित होते हैं । अतीन्द्रिय-चेतना के जगत् में वीतरागता

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १५७ : विविहं परामुसंति, जं भणितं—घातंति, अहवा परामुसणं आरंभो, जं भणियं—एतेसु चैव आरभति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १७९ : विविधम्—अनेकप्रकारं विषयाभिलाषितया 'परामृशन्ति' उपतापयन्ति, वण्ड-

कशताडनादिभिर्घातयन्तीत्यर्थः ।

२-३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १५७ : अट्टाए वा अर्थधम्म-कामनिमित्तं । आतपरउभयहेतुं अट्टा, सेसं अणट्टाए ।

४. वही, पृष्ठ १५७ : जो जस्स अणतिक्रमणिज्जो सो तस्स गुरु, भारियाउत्ति वा सुव्वति ।

समुच्छ्वसिता भवति । यावत् अतीन्द्रियचेतनायाः जागरणं न स्यात् तावत् कामा एव गुरुवः—मूल्यवन्तः सारभूताः वा इति मतिरुत्पद्यते । तत्र हिंसायाः सहजं अवकाशो भवति ।

उच्छ्वसित होती है । जब तक अतीन्द्रिय-चेतना का जागरण नहीं होता तब तक 'काम' ही गुरु हैं—मूल्यवान् अथवा सारभूत हैं—ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है । उस स्थिति में हिंसा को सहज अवकाश मिल जाता है ।

३. तओ से मारस्स अंतो, जओ से मारस्स अंतो, तओ से दूरे ।

सं०—ततः स मारस्य अन्तः, यतः स मारस्य अन्तः ततः स दूरे ।

कामना प्रधान पुरुष मदनकाम के प्रभाव-क्षेत्र में चला जाता है । मदनकाम से प्रभावित होने के कारण वह वास्तविक सुख से दूर हो जाता है ।

भाष्यम् ३—यस्य कामाः गुरुवो भवन्ति स काम-गुरुत्वात् मारस्य अन्तर्—मध्ये प्रभावक्षेत्रे वा वर्तते । यतः स मारस्य अन्तर् वर्तते ततः स भयशोकादि-मोहात्मकभावाभिभूतत्वाद् वस्तुतः सुखाद् दूरे वर्तते । तात्पर्यमिदं इच्छाकामः पुरुषं मदनकामं प्रति प्रेरयति । मदनकामासेवायां आसक्तः पुरुषः तृप्त्यात्मकं सुखं नाप्नोति । ततः स अमृताद् निर्वाणाद् निर्वाणोपायाद् वा दूरे वर्तते ।

जिसके काम गुरु होते हैं, वह व्यक्ति काम की गुरुता के कारण मार के मध्य या प्रभाव-क्षेत्र में होता है । जब वह मार के प्रभाव-क्षेत्र में होता है तब वह भय, शोक आदि मोहात्मक भावों से अभिभूत होने के कारण वास्तविक सुख से दूर होता है । इसका तात्पर्य यह है—इच्छाकाम पुरुष को मदनकाम के प्रति प्रेरित करता है । मदनकाम के आसेवन में आसक्त पुरुष कभी तृप्ति का सुख नहीं पा सकता । इसलिए वह अमृत, निर्वाण और निर्वाण प्राप्ति के उपायों से दूर हो जाता है ।

मारः—मदनकामः । चूर्णो अस्य पदस्य कर्म, भवः इति अर्थद्वयं लभ्यते । वृत्तौ च आयुषः क्षयः इति व्याख्यातमस्ति ।<sup>१</sup>

मार का अर्थ है—मदनकाम । चूर्ण में मार के दो अर्थ प्राप्त हैं—कर्म और भव । वृत्ति में इसका अर्थ आयुष्य का क्षय किया है ।

४. णेव से अंतो, णेव से दूरे ।

सं०—नैव सोऽन्तः, नैव स दूरे ।

वह इन्द्रिय-विषयों के निकट भी नहीं है और उनसे दूर भी नहीं है ।

भाष्यम् ४—कश्चित् पुरुषः मदनकामस्य संक्लेश-करणं विपाकान् ज्ञात्वा इन्द्रियविषयान् जिहासति, किन्तु वैराग्यभावनायाः अपरिपक्वदशायां तस्य जिहासा न सफलतामालिङ्गति । सूत्रकारेण तादृशस्य पुरुषस्य मनोदशायाः चित्रणं इह कृतम्—येन विषयाः त्यक्ताः अतः स तेषामन्तर्नैव वर्तते, तेषां कामनाः न त्यक्ताः अतः तेष्यो दूरमपि न वर्तते ।

कोई पुरुष मदनकाम के संक्लेश विपाकों को जानकर इन्द्रिय-विषयों को त्यागना चाहता है, किन्तु वैराग्य-भावना की अपरिपक्वदशा में उसके त्याग की चाह सफल नहीं होती । सूत्रकार ने वैसे व्यक्ति की मनोदशा का चित्रण प्रस्तुत सूत्र में किया है—जिसने विषयों को छोड़ दिया, वह उनके बीच नहीं है, किन्तु उसने उन विषयों की कामनाओं को नहीं छोड़ा अतः वह उनसे दूर भी नहीं है ।

५. से पासति फुसियमिव, कुसग्गे पणुन्नं णिवतितं वातेरितं । एवं बालस्स जीवियं, मंदस्स अविजाणओ ।

सं०—स पश्यति पृषतमिव कुशाग्रे प्रणुन्नं निपतितं वातेरितम् । एवं बालस्य जीवितं मंदस्य अविजानतः ।

वह जीवन को कुश की नोक पर टिके हुए अस्थिर एवं बाधु से प्रकम्पित होकर गिरे हुए जल-कण की भांति देखता है । बाल, मन्द और अज्ञानी का जीवन भी ऐसा ही अनित्य होता है ।

१. (क) आचारांग चूर्ण १५८ : मारयते यस्मान्ममारि-भूतश्च मारयति वाऽन्तो अनुसमयं मरणादपि कर्म भवो वा भवेन्मारः ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १८० : मरणं मारः—आयुषः क्षयः ।

भाष्यम् ५—स कामासक्तो मनुष्यः कुशाग्रे प्रणुन्नं—  
प्रलम्बितं प्रकम्पितं वा, वातेरितं निपतितं जलबिन्दुमिव  
जीवितं पश्यत्येव,<sup>१</sup> किन्तु तस्य बालस्य—अज्ञस्य, बुद्ध्या  
मन्दस्य,<sup>२</sup> वस्तुतो जीवनस्य अनित्यतामविजानतः जीवितं  
सफलं न भवति ।

वह कामासक्त मनुष्य कुश के अग्रभाग पर टिकी हुई, अस्थिर  
तथा वायु से प्रकंपित होकर भूमी पर गिरी हुई जल-बिन्दु की भांति  
जीवन को देखता है, किन्तु वह अज्ञ और बुद्धि से मंद व्यक्ति वस्तुतः  
जीवन की अनित्यता को नहीं जानता। उसका जीवन सफल नहीं  
होता।

६. क्रूराणि कर्माणि बाले पकुवमाणे, तेण दुक्खेण मूढे विपरियासुवेइ ।

सं०—क्रूराणि कर्माणि बालः प्रकुर्वाणः तेन दुःखेन मूढः विपर्यासमुपैति ।

अज्ञानी मनुष्य क्रूर कर्म करता हुआ दुःख का सृजन करता है। वह उस दुःख से मूढ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है—सुख का  
अर्थां होकर दुःख को प्राप्त होता है।

भाष्यम् ६—स बालः जीवितमनित्यं जानन्नपि मोह-  
मूर्च्छितः सन् परमार्थतो न जानाति, अत एव क्रूराणि  
कर्माणि प्रकुरुते। शेषं (२।६९) सूत्रस्य भाष्यं द्रष्टव्यम् ।

वह अज्ञानी जीवन को अनित्य जानता हुआ भी मोह से  
मूर्च्छित होने के कारण वस्तुतः उसे नहीं जानता, इसीलिए वह क्रूर  
कर्म करता है। शेष २।६९ का भाष्य द्रष्टव्य है।

७. मोहेण गर्भं मरणाति एति ।

सं०—मोहेन गर्भं मरणादि एति ।

वह मोह के कारण बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है।

भाष्यम् ७—पूर्वं ३।१४ सूत्रे उक्तम्—मायी प्रमादी पुनः  
गर्भमेति । अत्रोच्यते मोहेन मूढः मनुष्यः गर्भं मरणादि  
एति । आत्मनः अस्तित्वं नास्ति पुनर्जन्महेतुः, किन्तु  
तस्य हेतुरस्ति मोहः ।

पहले ३।१४ सूत्र में कहा है—मायी और प्रमादी व्यक्ति  
बार-बार जन्म लेता है। यहाँ कहा है—मोह से मूढ मनुष्य बार-बार  
जन्म-मरण को प्राप्त होता है। आत्मा का अस्तित्व जन्म-मरण का  
हेतु नहीं है। जन्म-मरण का हेतु है—मोह।

८. एत्थ मोहे पुणो-पुणो ।

सं०—अत्र मोहः पुनः पुनः ।

इस भवचक्र में बार-बार मोह उत्पन्न होता है।

भाष्यम् ८—अत्र जन्ममरणचक्रे पुनः पुनर्मोहः  
उत्पद्यते । अस्य परम्परा ३।८३ सूत्रे द्रष्टव्या ।

इस जन्म-मरण के चक्र में बार-बार मोह उत्पन्न होता है।  
मोह की परम्परा के लिए द्रष्टव्य है—३।८३ का सूत्र।

९. संशयं परिजाणतो, संसारे परिण्णाते भवति, संशयं अपरिजाणतो, संसारे अपरिण्णाते भवति ।

सं०—संशयं परिजानतः संसारः परिज्ञातो भवति, संशयं अपरिजानतः संसारः अपरिज्ञातो भवति ।

जो संशय को जानता है, वह संसार को जान लेता है—ज्ञेय का ज्ञान और हेय का परित्याग कर देता है। जो संशय को नहीं  
जानता, वह संसार को नहीं जान पाता।

भाष्यम् ९—परिज्ञा द्विविधा अस्ति—ज्ञपरिज्ञा—  
हेयोपादेयज्ञानम्, प्रत्याख्यानपरिज्ञा—हेयस्य परित्यागः ।  
मोहेन संशयः समुत्पद्यते । पुनर्जन्म विद्यते अथवा न  
इति उभयांशावलंबः प्रत्ययः संशयः । यस्य पुनर्जन्मनि

परिज्ञा दो प्रकार की है—

१. ज्ञपरिज्ञा—हेय और उपादेय का ज्ञान ।

२. प्रत्याख्यानपरिज्ञा—हेय का परित्याग ।

मोह से संशय पैदा होता है। पुनर्जन्म है अथवा नहीं—इस

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १५८ : एवमवधारणे ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १८० : एवमिति यथा ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १५९ : संबो सरोरे बुद्धीए य,

एककेवको उवचये अवचये य, इह तु भावमंबोऽवचये  
द्रष्टव्यः ।

संशयो नास्ति स संसारम्—जन्ममरणचक्रं हेयबुद्ध्या परित्यक्तुमर्हति, येन येन कारणेन संसारो वर्धते तस्य तस्य परित्यागं कर्तुमर्हति । यस्य पुनर्जन्मनि संशयो विद्यते तस्य संसारः अपरिज्ञातो भवति । न तादृशस्य संसारपरित्यागाय आत्मस्वरूपोपलब्धये वा मतिरपि प्रवर्तते ।<sup>१</sup>

प्रकार दोनों अंशों का अवलंबन लेने वाला प्रत्यय संशय है । जिस पुरुष के मन में पुनर्जन्म के विषय में संशय नहीं होता, वह संसार को हेय समझ कर उसे छोड़ने में समर्थ होता है । संसार का अर्थ है—जन्म-मरण का चक्र । जिस जिस कारण से संसार बढ़ता है, उस-उस का वह परित्याग कर सकता है । जिसके मन में पुनर्जन्म के प्रति संशय है, उसके लिए संसार अपरिज्ञात होता है, वह संसार को हेय समझ कर छोड़ नहीं सकता । वैसे व्यक्ति में संसार को छोड़ने अथवा आत्मस्वरूप की उपलब्धि करने की बुद्धि भी नहीं जागती ।

### १०. जे छेए से सागारियं ण सेवए ।

सं०—यः छेकः स सागारिकं न सेवते ।

जो इन्द्रियजयी है, वह मैथुन का सेवन नहीं करता ।

भाष्यम् १०—संसारस्य हेतुरस्ति आश्रवः । तस्य मुख्यं कारणमस्ति रागः । मैथुनं च भवति रागात्मकं, तेन निर्दिष्टं यश्छेकः स सागारिकं न सेवते । प्रायः तन्निमित्तं हिंसाऽसत्यस्तेयपरिग्रहाद्याश्रवेषु मनुष्यः प्रवर्तते । चणौ छेकः—अनुपहृतः, नास्ति तस्य किञ्चिद् वचनायम् ।<sup>२</sup> वृत्तौ छेकः—निपुण उपलब्धपुण्यपापः ।<sup>३</sup> सागारिकम्—मैथुनम् ।<sup>४</sup>

संसार का हेतु है—आश्रव । उसका मुख्य कारण है—राग । मैथुन रागात्मक होता है, इसलिए कहा है—जो छेक—इन्द्रियजयी है वह मैथुन का सेवन नहीं करता । प्रायः काम-सेवन के लिए मनुष्य हिंसा, असत्य, स्तेय, परिग्रह आदि आश्रवों में प्रवृत्त होता है । चूर्णि में छेक का अर्थ है—अनुपहृत, इन्द्रियजयी, जिसका कोई अपवाद नहीं है । वृत्ति में छेक का अर्थ है—निपुण, पुण्य-पाप को जानने वाला । सागारिक का अर्थ है—मैथुन ।

### ११. कट्टु एवं अविजाणओ, बितिया मंदस्स बालया ।

सं०—कृत्वा एवं अविजानतः द्वितीया मन्दस्य बालता ।

जो मैथुन का सेवन कर लेता है और पूछने पर 'मैं नहीं जानता' यह कह कर उसे अस्वीकार कर देता है, यह उस मन्दमति की दोहरी मूर्खता है ।

भाष्यम् ११—कश्चित् पुरुषः रहसि मैथुनप्रसंगं कृत्वा परेण पृष्ठः सन् न जानामीति ब्रूते, तस्य अपलापं कुर्वते । एवमविजानतस्तस्य मन्दस्य एषा द्वितीया बालता

कोई मनुष्य एकांत में मैथुन का सेवन करता है । दूसरे के पूछने पर कहता है—मैं नहीं जानता । उसका अपलाप करता है । इस प्रकार अस्वीकार करने वाले उस मंदमति की यह दोहरी मूर्खता है ।

१. संशय दर्शन का मूल है—यही तथ्य प्रस्तुत सूत्र में प्रतिपादित है । जिसके मन में संशय नहीं होता, जिज्ञासा नहीं होती, वह सत्य को प्राप्त नहीं कर सकता । भगवान् महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम के मन में जब-जब संशय होता, तब वे भगवान् के पास जाकर उसका समाधान लेते ।

'संशयात्मा विनश्यति'—संशयालु नष्ट होता है । इस पद में 'संशय' का अर्थ सन्देह है । प्रस्तुत आगम के ५।९३ सूत्र में कहा है कि सन्देहशील मनुष्य समाधि को प्राप्त नहीं होता ।

'न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'—संशय का सहारा लिए बिना मनुष्य कल्याण को नहीं देखता । इस अर्थश्लोक में प्रस्तुत सूत्र ही प्रतिष्वनि है ।

संसार का अर्थ है—जन्म-मरण की परंपरा । जब तक

उसके प्रति मन में संशय नहीं होता, वह सुखद है या दुःखद है—ऐसा विकल्प उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह चलता रहेगा । उसके प्रति संशय उत्पन्न होना ही उसकी जड़ में प्रहार करना है ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १६० : छेओ अणुवहओ, णत्थि से किञ्चि वयणिज्जं ।

३. आचारांग वृत्ति, पत्र १८१ ।

४. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १६० : अगारेहि सह भवतीति सागारियं—मेहुणं । इवं देशीपदं प्रतीयते सामयिकी संज्ञा वा ।

५. चूर्णिश्रुता 'अवजानतः' इति पाठो मूले व्याख्यातः—अव परिचर्जने, अवयाणति, जं भणितं—श्रुवति, तं कर्हं तुमं एवं करेसिति चोदितो परेणं ण अहं एवं करोमि अवयाणति अवयाणति वा वुच्चति । (पृष्ठ १६१)

भवति । प्रथमा चतुर्थमहाव्रतस्य भङ्गः कृतः, द्वितीया पहली मूर्खता है—चौथे महाव्रत का भंग करना और दूसरी मूर्खता च सत्यमहाव्रतस्य भङ्गः कृतः । है—सत्य महाव्रत का भंग करना ।

१२. लब्धा हुरत्था पडिलेहाए आगमिन्ना आणविज्जा अणासेवणयाए—ति बेमि ।

सं० लब्धान् 'हुरत्था' प्रतिलिख्य आगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनाय—इति ब्रवीमि ।

प्राप्त काम-भोग 'बाह्य' हैं, यह पर्यालोचनापूर्वक जान कर उनके अनासेवन की आशा दे—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १२—संयतपुरुषेण न केवलं अलब्धाः भोगा अनासेवनीयाः, किन्तु ये लब्धाः सन्ति तेषां न सेवनीयाः । एते हुरत्था—धर्मस्य बहिर्वर्तन्ते इति प्रतिलिख्य—पर्यालोच्य, आगम्य ज्ञात्वा च तेषां अनासेवनाय आज्ञापयेत्—तेषां भुक्तभोगानां परिणामः सुन्दरो न भवतीति शिष्यान् प्रतिबोधयेत्—इति ब्रवीमि ।

संयमी पुरुष के लिए केवल अप्राप्त भोग ही अनासेवनीय नहीं हैं, किन्तु जो प्राप्त हैं, वे भी अनासेवनीय हैं । ये कामभोग धर्म के बाहिर हैं, ऐसा पर्यालोचनापूर्वक जानकर उनके अनासेवन के लिए आज्ञा दे—भोगे हुए उन काम-भोगों का परिणाम सुन्दर नहीं होता—इस प्रकार शिष्यों को प्रतिबोध दे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

१३. पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिणज्जमाणे ।

सं०—पश्यत एकान रूपेषु गृह्णान् परिणीयमानान् ।

तुम देखो ! जो मनुष्य शरीर में आसक्त हैं, वे विषयों से खिंचे जा रहे हैं ।

भाष्यम् १३—यूयं पश्यत, एके केचिज्जनाः रूपेषु—पदार्थेषु शरीरेषु वा गृह्णाः—मूर्च्छिताः सन्ति परिणीयमानाः—रागद्वेषाभ्यां बद्धाः, तत्रैव तत्रैव परिणीयमानाः अथवा विषयस्रोतसि उह्यमानाः अथवा इन्द्रियैः विषयाभिमुखं परिणीयमानाः सन्ति ।

तुम देखो, कुछेक मनुष्य रूपों—पदार्थों अथवा शरीरों में मूर्च्छित हैं । वे राग-द्वेष से बद्ध होकर विषयों के प्रति खिंचे जा रहे हैं अथवा वे विषयों के प्रवाह में बहे जा रहे हैं अथवा वे इन्द्रियों के द्वारा विषयों की ओर उन्मुख किए जा रहे हैं ।

१४. एत्थ फासे पुणो-पुणो ।

सं०—अत्र स्पर्शः पुनः पुनः ।

इसमें वे बार-बार दुःख को प्राप्त होते हैं ।

भाष्यम् १४—अस्मिन्नासक्तिचक्रे पुनः पुनः स्पर्शः—कष्टं भवति ।

इस आसक्ति के चक्र में बार-बार कष्ट होता है ।

आसक्तो मनुष्यः—

- ० पदार्थसंग्रहं प्रति चेष्टते ।
- ० तस्य रक्षणं नियोगे च चिन्तां वितनोति ।
- ० व्यये वियोगे च दुःखमनुभवति ।

आसक्त मनुष्यः—

- ० पदार्थ-संग्रह के प्रति सचेष्ट रहता है ।
- ० पदार्थ के संरक्षण और उपयोग की चिन्ता करता रहता है ।
- ० उसके व्यय और वियोग में दुःख का अनुभव करता है ।

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १६१ : हुरत्था नाम देसीमासातो बहिद्धा ।

२. वही, पृष्ठ १६१ : धम्मस्स, णवि तं आमेवंतस्स धम्मो भवति, तेण एते धम्मोवरोधगतिकाडं साहू चरित्तातो चित्तातो वा भाहि कुज्जा ।

३. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १६१ : रुवग्गहणा सेत्तियि-गाण गहणं, रुव तत्थ पहाणं हारितं च तेण तग्गहणं,

अहवा रुव इति सध्वविसयाणं मुत्तिमत्तं अक्खातं भवति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १८२ : 'रूपेषु' रूपादिषु इन्द्रियविषयेषु ।

(ग) चूर्णी वृत्तौ च रूपशब्देन इन्द्रियविषयग्रहणं कृतम् । किन्तु सर्वत्र अस्य प्रयोगः इन्द्रियविषयेषु नैव दृश्यते । द्रष्टव्यम्—३:५७; ५:२९ ।

- ० तस्य भोगे अतृप्तिजनितां वेदनां आप्नोति ।
- ० अतृप्तिदोषेण दुःखी सन् लोभाविलो भूत्वा परस्य अदत्तं आदत्ते ।

एवं दुःखस्य चक्रं न क्वापि विरामं गच्छति ।

- ० पदार्थ के भोग से अतृप्ति की वेदना को प्राप्त होता है ।
- ० वह अतृप्ति के दोष से दुःखी होकर लोभ से आकुल हो जाता है और तब दूसरे के पदार्थों की चोरी करता है ।

इस प्रकार दुःख का चक्र कहीं भी विराम नहीं लेता ।

### १५. आबन्ती केआबन्ती लोर्यसि आरंभजीवी, एएसु चैव आरंभजीवो ।

सं०—यावन्तः केचन लोके आरंभजीविनः, एतेषु चैव आरंभजीविनः ।

इस जगत् में जितने मनुष्य आरंभजीवी हैं, वे इन विषयों में आसक्त होने के कारण ही आरंभजीवी हैं ।

भाष्यम् १५—अस्ति मनुष्येषु कामः । कामपूर्तेः साधनं अर्थः । तदर्थं मनुष्यः आरंभे प्रवर्तते, अत उक्तम्—यावन्तः कियन्तः लोके आरंभजीविनः सन्ति ते एतेषु विषयेषु आसक्ति आसाद्यैव आरंभजीविनो वर्तन्ते । आरंभजीविनां कोटिद्वयं विद्यते । केचिद् भवन्ति अल्पेच्छाः केचिच्च महेच्छाः । अल्पेच्छाः मनुष्याः आवश्यकतापूर्तिमात्रे आरंभे प्रवर्तन्ते । महेच्छानां यथा लाभः तथा लोभः प्रवर्धते । ते न क्वापि विश्राम्यन्ति । एका तृतीया कोटिः विद्यते इच्छाविरहितानाम् । ते विषयेषु आसक्तिमपहाय जीवनयात्रायां प्रवर्तन्ते, अतस्ते आरंभजीविनो भवन्ति ।

आरंभः—प्रवृत्तिः जीवोपमर्दो वा ।

मनुष्यों में 'काम' है । कामपूर्ति का साधन है—अर्थ । अर्थ के लिए मनुष्य आरंभ में प्रवृत्त होता है । इसीलिए कहा है— इस जगत् में जितने मनुष्य हिंसाजीवी हैं, वे इन्हीं विषयों में आसक्त होकर ही हिंसाजीवी होते हैं । आरंभजीवी व्यक्तियों की दो श्रेणियां होती हैं । कुछ व्यक्ति अल्प इच्छावाले होते हैं और कुछ व्यक्ति महान् इच्छावाले । अल्प इच्छावाले मनुष्य आवश्यकतापूर्ति मात्र के लिए आरंभ में प्रवृत्त होते हैं । महान् इच्छावाले मनुष्यों के जैसे-जैसे लाभ होता है, वैसे-वैसे लोभ बढ़ता है । वे कहीं भी विश्राम नहीं लेते । एक तीसरी श्रेणी है । इस श्रेणी में वे मनुष्य आते हैं जो इच्छाओं से रहित हैं । वे विषयों में होनेवाली आसक्ति को छोड़कर जीवनयात्रा के निर्वाह में प्रवृत्त होते हैं, इसलिए वे आरंभजीवी नहीं होते ।

आरंभ का अर्थ है—प्रवृत्ति अथवा हिंसा ।

### १६. एत्थ वि बाले परिपच्यमाणे रमति पावोहं कर्मोहं, असरणे सरणं ति मण्णमाणे ।

सं०—अत्रापि बालः परिपच्यमानो रमते पापेषु कर्मसु, अशरणान् शरणं इति मन्यमानः ।

अज्ञानी साधक संयम जीवन में भी विषयाकांक्षा से छटपटाता हुआ अशरण को शरण मानता हुआ पापकर्मों में रमण करता है ।

भाष्यम् १६—अज्ञानी पुरुषः अत्र संयमेऽपि विषया-कांक्षया परिपच्यमानः पापेषु कर्मसु रमते । अनित्या अमी पदार्थाः । नैते शरणं भवन्ति । तथापि मूर्च्छां प्राप्तः पुरुषः तान् शरणं मन्यमानः पापेषु कर्मसु रमते ।

अज्ञानी पुरुष संयम जीवन में भी विषयों की आकांक्षा से छटपटाता हुआ पापकर्मों में रमण करता है । संसार के सारे पदार्थ अनित्य हैं । वे शरण नहीं दे सकते । फिर भी मनुष्य मूर्च्छा के कारण उन पदार्थों को शरण मानता हुआ पापकर्मों में रमण करता है ।

### १७. इहमेगोसि एगचरिया भवति—से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए बहुलोहे बहुरए बहुनडे बहुसडे बहुसंकप्ये, आसवसक्की पलिउच्छन्ने, उट्टियवायं पवयमाणे मा मे केइ अदक्खू अण्णण-पमाय-दोसेणं, सययं मूढे धम्मं णाभिजाणह ।

सं०—इहैकेषां एकचर्या भवति—स बहुक्रोधः, बहुमानः बहुमायः, बहुलोभः, बहुरतः, बहुनटः, बहुशठः, बहुसंकल्पः, आश्रवसक्ती, पलितावच्छन्नः उत्थितवादं प्रवदन् मा मां केचित् अद्राक्षुः अज्ञानप्रमाददोषेण सततं मूढः धर्मं नाभिजानाति ।

कुछ साधु अकेले रह कर साधना करते हैं । किन्तु कोई भी एकचारी साधु जो अति क्रोधी, अति मानी, अति मायी, अति लोभी, अति आसक्त, नट की भांति बहुत रूप बदलने वाला, नाना प्रकार की शठता और संकल्प करने वाला, आसक्तों में आसक्त और कर्म से आच्छन्न होता है 'मैं (धर्म करने के लिए) उद्यत हुआ हूँ', ऐसी घोषणा करने वाला 'कोई देख न ले', (इस आसंका से छिप कर अनाचरण करता है) वह अज्ञान और प्रमाद के दोष से सतत मूढ बना हुआ एकचारी होकर भी धर्म को नहीं जानता ।

भाष्यम् १७—इह एकेषां एकचर्या भवति । एकल-विहारो नास्ति सर्वथा असम्मतः, किन्तु तादृशस्य नास्ति

कुछ साधु एकचारी होते हैं, अकेले रह कर साधना करते हैं । एकलविहार सर्वथा असम्मत नहीं है, किन्तु वैसे व्यक्ति के लिए वह



सम्मतोऽपि यस्य क्रोधमानमायालोभात्मकस्य कषायस्य प्रबलता भवति, यश्च कामभोगान् प्रति आसक्तो भवति, यश्च नटवद्भवति—बहुविधान् अभिनयान् करोति, बहु-विधानि शठाचरणानि करोति, बहुविधान् संकल्पान् करोति—आहारादीन् पदार्थान् प्रार्थयति, आस्रवे वा आसक्तो भवति, पलितैः—कर्मभिरवच्छन्नः अहमुत्थितोऽस्मि—प्रव्रजितोऽस्मि इति वादं प्रवदन् प्रतिषिद्धमाचरणं करोति, किन्तु तादृशमाचरणं कुर्वाणं मां कश्चिन्न पश्येदिति सततमुद्विग्नो भवति । एवं अज्ञानप्रमाददोषेन सततं मूढः कर्मक्षयकारणं श्रुतधर्मं चारित्रधर्मं च नाभिजानाति ।

सम्मत भी नहीं है जिसमें क्रोध, मान, माया और लोभ रूपी कषाय की प्रबलता होती है, जो कामभोगों के प्रति आसक्त होता है, जो नट की भांति नाना प्रकार के अभिनय करता है—रूप बदलता है, नाना प्रकार की शठता का आचरण करता है, बहुविध संकल्प करता है—आहार आदि पदार्थों की आकांक्षा करता है, आस्रव में आसक्त होता है, कर्मों से आच्छन्न होता है, 'मैं प्रव्रजित हूँ' ऐसा कहता हुआ प्रतिषिद्ध आचरण करता है, किन्तु वैसा आचरण करते हुए मुझे कोई देख न ले इस आशंका से सतत उद्विग्न रहता है । इस प्रकार अज्ञान और प्रमाद के दोष से सतत मूढ बना हुआ वह कर्मक्षय के हेतुभूत श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को नहीं जानता ।

१८. अट्टा पया माणव ! कम्मकोविया जे अणुवरया, अविज्जाए पल्लिमोक्खमाहु, आवट्ठं अणुपरियट्ठंति ।—त्ति वेमि ।

सं०—आर्त्ताः प्रजाः मानव ! कर्मकोविदाः ये अनुपरताः अविद्या परिमोक्षमाहुः आवर्त्तं अनुपरिवर्तन्ते । —इति ब्रवीमि ।

हे मानव ! जो लोग (विषयों से) पीड़ित हैं, प्रवृत्ति-कुशल हैं, आस्रवों से विरत नहीं हैं और जो अविद्या से मोक्ष होना बतलाते हैं, वे संसार के भंवर-जाल में चक्कर लगाते रहते हैं । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १८—दरिद्रतया बाधितः मानसिकसंताप-संतप्तः विषयकषायैः पीडितश्च मनुष्यः आर्त्तं इत्युच्यते । हे मनुष्य ! एषा प्रजा आर्त्ता—विषयकषायैः पीडिता विद्यते । सा अर्त्तरपनयनाय नानाविधेषु कर्मसु प्रवर्तते, फलतः कर्मसु कुशला भवति । अर्त्तरपनयनस्य उपायोऽस्ति विषयकषायेभ्यः उपरतिः विद्या च । ये तत्त्वं अजानानाः, आस्रवेभ्यः अनुपरताः, अविद्यायां परिमोक्षं वदन्ति ते भवावर्त्तं अनुपरिवर्तन्ते । —इति ब्रवीमि ।

जो मनुष्य दरिद्रता से बाधित, मानसिक संताप से संतप्त और विषय तथा कषायों से पीड़ित है, वह आर्त्तं कहलाता है । हे मनुष्य ! यह प्रजा आर्त्तं—विषय तथा कषायों से पीड़ित है । वह अर्त्ति को दूर करने के लिए अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां करती है । फलस्वरूप वह कर्म—प्रवृत्ति में कुशल हो जाती है । अर्त्ति को दूर करने के दो उपाय हैं—विषय और कषायों से उपरति और विद्या । जो व्यक्ति तत्त्व को नहीं जानते, जो आस्रवों से अनुपरत हैं, अविद्या से मोक्ष होना बतलाते हैं, वे जन्म-मरण के आवर्त्त में घूमते रहते हैं ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

## बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

१९. आवंती केआवंती लोयंसि अणारंभजीवी, एतेसु चैव मणारंभजीवी ।

सं०—यावन्तः केचन लोके अनारंभजीविनः एतेषु चैव अनारंभजीविनः ।

इस जगत् में जितने मनुष्य अनारंभजीवी हैं, वे इन विषयों में अनासक्त होने के कारण ही अनारंभजीवी हैं ।

भाष्यम् १९—अत्र अनारंभपदेन संयमः अप्रमादो वा विवक्षितोऽस्ति । यः इन्द्रियविषयकषायेषु प्रवृत्तिं न करोति स अनारंभजीवी भवति । अस्मिन् लोके

प्रस्तुत आलापक में 'अनारंभ' पद से संयम अथवा अप्रमाद विवक्षित है । जो इन्द्रिय-विषयों तथा कषायों में प्रवृत्त नहीं होता, वह अनारंभजीवी—अहिंसाजीवी होता है, संयमी होता है । इस जगत्

१. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ १६५ : 'कम्मअकोविता' कहं कम्मं वज्जति मुच्चति वा ?

२. अत्र चूर्णकारसम्मतः 'विज्जाए' इति पाठः अधिकं ध्यानसाकर्षति—'विज्जा पल्लिमोक्खमाहु' परि समंता लयो

एकत्ता पल्लिमोक्खो भवति, आहु—भणंति, संतेहि विसणिग्घातविट्ठंता विज्जाये पल्लिमोक्खं इच्छंति, जहा संखाति, तं किं सच्चं ? ण सच्चं ।

(आचारंग चूर्ण, पृष्ठ १६५)

यावन्तः केचन अनारम्भजीविनः सन्ति, ते इन्द्रियविषय-  
कषायेषु अप्रवर्तमानत्वादेव अनारम्भजीविनः सन्ति ।<sup>१</sup>

में जो कोई अनारम्भजीवी हैं, वे अनारम्भजीवी इसीलिए हैं कि वे  
इन्द्रिय-विषयों तथा कषायों में प्रवृत्त नहीं होते ।

२०. एत्थोवरए तं भोसमाणे अयं संधिो ति अदक्खु ।

सं०—अत्रोपरतः तं जोषयन् 'अयं संधिः' इति अद्राक्षीत् ।

जो आरंभ से उपरत है, उसने अनारंभ की साधना करते हुए 'यह संधि है' ऐसा देखा है ।

भाष्यम् २०—अत्र अनारम्भजीवने य आरम्भाद्—  
असंयमात् प्रमादाद् वा उपरतो भवति, तमिति अनारम्भं  
जोषयन्—अन्वेषयन् आसेवमानो वा अयं सन्धिरिति  
अद्राक्षीत् । अत्र सन्धिपदस्य द्वावर्थौ प्रासङ्गिकौ स्तः—

(१) अतीन्द्रियचैतन्योदयहेतुभूतं कर्मविवरम् ।

(२) अप्रमादाध्यवसायसन्धानभूतं शरीरवर्तिकरणं  
चैतन्यकेन्द्रं चक्रमिति यावत् ।

अनारम्भ जीवन जीने वाला व्यक्ति आरंभ—असंयम अथवा  
प्रमाद से उपरत रहता है । अनारंभ की खोज या साधना करते हुए  
उसने 'यह संधि है' ऐसा देखा है । 'संधि' शब्द के दो अर्थ हैं—

(१) अतीन्द्रिय चेतना के उदय में हेतुभूत कर्म-विवर ।

(२) अप्रमाद के अध्यवसाय को जोड़ने वाला शरीरवर्ती साधन  
जिसे चैतन्यकेन्द्र या चक्र कहा जाता है ।

प्राचीनग्रन्थेषु सन्धि-विवर-रन्ध्र-चक्र-कमल-करणा-  
दीनां समानार्थकः प्रयोगो दृश्यते । सन्धिः—सुषुम्णा<sup>१</sup> ।  
सन्धिः—विवरम्<sup>२</sup> । सुषुम्णायाः कृते यथा सन्धिपदं  
व्यवहृतं, तथा विवरपदमपि व्यवहृतमस्ति<sup>३</sup> ।

प्राचीन ग्रन्थों में संधि, विवर, रन्ध्र, चक्र, कमल, करण  
आदि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में देखा जाता है । संधि अर्थात्  
सुषुम्ना, संधि अर्थात् विवर । सुषुम्ना के लिए जैसे 'संधि' पद व्यवहृत  
हुआ है वैसे ही 'विवर' पद भी व्यवहृत हुआ है ।

विवर-रन्ध्र-कमलानां समानार्थकता शिवसंहिताया-  
मित्थं दृश्यते—

शिवसंहिता में विवर, रन्ध्र और कमल—इन शब्दों की  
एकाधिकता प्रतिपादित है—

तस्य मध्ये सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ।

(सहस्रार पद्म के कन्द में जो योनि है) उसके मध्य में सुषुम्ना  
का विवर सहित मूल स्थित है । उसे ही ब्रह्मरन्ध्र कहा गया गया है  
और वही मूलाधार कमल कहलाता है ।

ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तमामूलाधारपङ्कजम् ॥<sup>४</sup>

कर्मविवरादेव अतीन्द्रियज्ञानस्य रश्मिनां  
विनिर्गमो भवति । नन्दीचूर्णामिदमुल्लिखितमस्ति—  
'जहा जलंतं वर्णतं पव्वतंतं, अविसिट्ठो अंतसट्ठो ।

कर्म-विवर (चैतन्य-केन्द्र) से ही अतीन्द्रिय ज्ञान की रश्मियां  
बाहर निकलती हैं । नन्दी चूर्ण में ऐसा उल्लेख है—जैसे जल का  
अन्त जलांत, वन का अन्त वनांत और पर्वत का अन्त पर्वतान्त होता

१. (क) आचारंग चूणि, पृष्ठ १६५ : अणारंभो णाम  
संजमो, अणारंभजीवणसीला, एतेसु चैव छक्काएसु  
आरंभेण ण जीवंति, अह्वा इदियविसयकसाएसु  
आरंभजीवी, तत्त्विवरीयजीवणसीला अणारंभजीवी,  
जं भणितं—संजता ।

३. शिवस्वरोदय, १३६, १३८ :

(क) अनादिबिषमः सन्धिनिराहारो निराकुलः ।

परे सूक्ष्मे विलीयेत सा संध्या सद्भिरुच्यते ॥

न संध्या सन्धिरित्याहुः संध्या सन्धिनिगद्यते ।

बिषमः सन्धिगः प्राणः स सन्धिः सन्धिरुच्यते ॥

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र १८५ : आरम्भः—सावखानु-  
ठानं प्रमत्तयोगो वा, उक्तं च—

(ख) शिवसंहिता, ५।७७ :

मुप्ला नागोपमा ह्येषा, स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।

अहिवत् संधिसंस्थाना, वाग्देवी बीजसंज्ञिका ॥

'आदाने निवसेवे भासुस्सगो अ ठाणमणार्ई ।

सख्खो पमत्तजोगो समणस्सऽवि होइ आरंभो ॥'

तद्विपर्ययेण त्वनारम्भस्तेन जीवितुं शीलं येषां

इत्यनारम्भजीविनो यतयः समस्तारम्भनिवृत्ताः ।<sup>५</sup>

४. (क) आचारंग चूणि, पृष्ठ १६५ : भावसंधी कम्मविवरं  
..... ।

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र १८५ : .....सम्यक्त्वा-  
वाप्तिहेतुभूतकर्मविधरलक्षणः सन्धिः ।

२. आण्डे, जुष् (जोवति, जोषयति—ते)=To Investigate,  
examine; जुष् (जुषते)- to devote or attach one-  
self to.

५. शिवसंहिता, ५।७६ :

सवेष्ट्य सकला नाडीः सार्द्धत्रिकुटिलाकृतिः ।

मुखे निवेश्य सा पुच्छं, सुषुम्णाविवरे स्थिता ॥

६. शिवसंहिता ५।१५३ ।

एवं ओरालियसरीरंते ठितं गतं ति एगट्ठं, तं च आतप्पदेसफहुगावहि, एगदिसोवर्लभाओ य अंतगत-मोधिण्णाणं भण्णति । अहवा सव्वातप्पदेसविसुद्धेसु वि ओरालियसरीरेगंतेण एगदिसिपासणगतं ति अंतगतं भण्णति ।<sup>१</sup>

एतत्संवादी सिद्धान्तोऽन्यत्रापि लभ्यते ।<sup>२</sup>

अवधिज्ञानप्रसंगे करणपदस्यार्थो भवति शरीरावयवः शरीरैकदेशो वा, यस्माद् अवधिज्ञानी विषयं जानाति ।<sup>३</sup> करणानि नानाकाराणि भवन्ति ।<sup>४</sup>

सुश्रुतसंहितायां<sup>५</sup> द्वे दशोत्तरे संधिशते सप्तोत्तरं मर्मशतमिति उपलभ्यते । अस्थिपेशीस्नायुनां संयोगस्थलं सन्धिः ।<sup>६</sup> एतेऽष्टविधाः सन्ति ।<sup>७</sup> मर्मस्थानेषु प्राणस्य बाहुल्यमस्ति ।<sup>८</sup> मल्लिषेणस्य मतमिदम्—बहुभिरात्मप्रदेशैरधिष्ठिता देहावयवाः मर्माणि ।<sup>९</sup> यानि चैतन्यकेन्द्राणि तानि मर्मस्थानवर्तीन्येव ।<sup>१०</sup> प्राणचैतन्य-

है—इनमें अन्त शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त नहीं है । इसी प्रकार औदारिक शरीर के अंत में स्थित 'अन्तगत' कहलाता है । स्थित और गत—दोनों एकार्थवाची हैं । शरीर के अन्तर्वर्ती आत्मप्रदेशगत स्पर्धकों की विशुद्धि किसी एक दिशा में उपलब्ध होती है; इसलिए उस विशुद्धि से होने वाला अवधिज्ञान अन्तगत कहलाता है । अथवा सर्व आत्मप्रदेशों की विशुद्धि होने पर भी औदारिक शरीर के एक अन्त (छोर) द्वारा एक दिशा में बोध करने वाला अवधिज्ञान अन्तगत कहलाता है ।

इसका संवादी सिद्धांत अन्यान्य ग्रंथों में भी मिलता है ।

अवधिज्ञान के प्रसंग में 'करण' शब्द का अर्थ है—शरीर का अवयव, शरीर का एक भाग, जिसके माध्यम से अवधिज्ञानी पुरुष विषय का अवबोध करता है । 'करण' अनेक आकार वाले होते हैं ।

सुश्रुतसंहिता में २१० संधियां और १०७ मर्म-स्थानों का उल्लेख प्राप्त है । अस्थि, पेशी और स्नायुओं का संयोगस्थल 'संधि' कहलाता है । ये आठ प्रकार के हैं । मर्म-स्थानों में प्राण की बहुलता होती है । आचार्य मल्लिषेण का अभिमत है—शरीर के वे अवयव जहां आत्म-प्रदेशों की बहुलता होती है, मर्म-स्थान कहलाते हैं । जो चैतन्य-केन्द्र हैं वे इन्हीं मर्म-स्थानों के भीतर हैं । हठयोग में भी प्राण

१. (क) नन्वी चूर्ण, पृष्ठ १६ ।

(ख) वही, पृष्ठ १५ : सो य खयोवसमो गुणमंतरेण गुणपड्वत्तितो वा भवति । गुणमंतरेण जहा गगणमच्छाविते अहापवत्तितो छिद्देणं विणकर-किरणं भव विणिस्सिता दव्वमुज्जोवति तहाऽवधि-आवरणखयोवसमे अवधिलंभो अधापवत्तितो विणोत्तो ।

२. (क) शिवसंहिता, ५।६० :

शिरः कपाले रुद्राक्षविद्वरं चिन्तयेद् यदा ।

तदा ज्योतिःप्रकाशः स्याद् विद्युत्पुञ्जसमप्रभः ॥

(ख) विज्ञानानुसारेणापि पीयूषप्रन्थिः (पिन्धूदरी) विदरे स्थित इति सम्मतम् ।

३. धवला, पुस्तक संख्या-१३, खण्ड सं० ५, भाग ५, सूत्र ५६ पृ० २९६ : ओहिणाणं अणेयसेत्तं चेव, सव्वजीवपदेसेसु अवकमेण खओवसमं गदेसु सरीरेगदेसेणेव बज्जट्ठावगमाणु-ववत्तीदी । ण, अण्णस्य करणामावेण करणसरूवेण परिणद-सरीरेगदेसेण तदवगमस्स विरहाभावादी ।

४. षट्खण्डागम, पुस्तक १३, खण्ड सं० ५, भाग ५, सूत्र ५७, ५८, पृ० २९६ : सेत्तदी ताव अणेयसंठाणसंठिवा ॥५७॥ सिरिवच्छ-कलस-संख-सोत्थिय-णंदावत्तादीणि संठाणाणि णादव्वाणि भवन्ति ॥५८॥

५. सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानम्, ५।२६; ६।३१ ।

६. (क) सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानम्, ५।२४ : अत्रिदेवकृत अनुवाद, पं० श्री सातलचन्द्र वैद्यकृत विशेष मन्तव्य पृष्ठ ३२० : 'अस्थियों के संयोग-स्थल का नाम 'सन्धि' है । यद्यपि वे परस्पर सर्वथा मिली या जुड़ी नहीं होतीं, उनके मध्य में श्लेषण नामक कफ विद्यमान रहता है । .....सन्धि को सन्धान एवं श्लेष भी कहते हैं ।

(ख) सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानम्, ५।२८ :

अस्थनां तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्त्तिताः ।

पेशीस्नायुसिराणां तु सन्धिसंख्या न विद्यते ॥

७. सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानम्, ५।२७ : त एते सन्धयोऽष्ट-विधाः—कोर-उबूखल-सामुद्ग-प्रतर-तुन्नसेवदी-दायस-तुण्ड-मण्डल-शङ्खावर्ताः ।

एतैः सह करणसंस्थानानि तुलनीयानि ।

८. वही, शारीरस्थानम्, ६।१६ ।

९. स्याद्वादादमंजरी, पृष्ठ ७७ ।

१०. (क) सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानम्, ६।३-४ : तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि भवन्ति, तद्यथा—मांसमर्माणि, सिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, सन्धि-मर्माणि चेति । ..... तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत् सिरामर्माणि, सप्तविंशतिः स्नायु-मर्माणि, अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः सन्धिमर्माणि चेति । तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम् ।

प्रदेशानां संहतिस्थानानि हृद्योगादावपि ध्यानाधार-  
रूपेण सन्ति सम्मतानि ।

और चैतन्य प्रदेशों की सचनता के स्थल ध्यान के आधार रूप में सम्मत हैं ।

२१. जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणे त्ति मन्नेसी ।

सं०—यः अस्य विग्रहस्य अयं क्षणः इति अन्वेषी ।

‘इस शरीर का यह वर्तमान क्षण है’, इस प्रकार अन्वेषण करने वाला अप्रमत्त होता है ।

भाष्यम् २१—इदमस्ति ध्यानसूत्रम् । यः अस्य शरीरस्य अयं क्षणः इति अन्वेषयति—प्रतिक्षणं जायमानं सुखदुःखादिसंवेदनं प्रति जागर्ति, स संयतो वा अप्रमत्तो

प्रस्तुत आलापक ध्यान-सूत्र है । जो साधक ‘इस शरीर का यह वर्तमान क्षण है’—इस प्रकार जो अन्वेषण करता है—प्रतिक्षण शरीर के भीतर होने वाले सुख-दुःख आदि संवेदनों के

(ख) सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानम्, ६।८ : तान्येतानि पञ्चबिकल्पानि भवन्ति, तद्यथा—सद्यःप्राणहराणि, कालान्तरप्राणहराणि, विशल्यघ्नानि, वैकल्यकराणि, रुजाकराणि चेति ।

(ग) वही, शारीरस्थानम्, ६।९ :

शृंगाटकान्यधिपतिः, शंखी कंठसिरा गुदम् ।  
हृदयं वस्तिनाभी च, घ्नन्ति सद्यो हतानि तु ॥

(घ) वही, शारीरस्थानम्, ६।१५ : सर्माणि नाम मांस-सिरास्नायवस्थिसन्धिस्निपाताः, तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति, तस्मान्मर्मस्वमिहतास्ता-स्तान् भावानापद्यन्ते ।

(ङ) वही, शारीरस्थानम्, ६।२५ : तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्प्रतिबद्धं गुवं नाम मर्मम् । ..... अल्पमांस-शोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां सूत्राशयो वस्तिः । ..... पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवो नाभिः । ..... स्तनयोः मध्यमधिष्ठायोरेत्यामाशयद्वारं सत्त्व-रजस्तमसामधिष्ठानं हृदयम् । .....

(च) वही, शारीरस्थानम्, ६।२७ : तत्र कण्ठनाडीमुमय-तश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये .....। कर्णपृष्ठतोऽधः संभ्रिते विधुरे .....। घ्राणमार्गमु-भयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे .....। भ्रुपुच्छान्तयोरेधोऽक्ष्णोः बाह्यतोऽपाङ्गी .....। भ्रुवोरन्तयोरेपरि कर्णसलाहयोर्मध्ये शङ्खी, ..... घ्राणभ्रोत्राक्षिजिह्वासंतर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्धिपात शृंगाटकानि, तानि चत्वारि सर्माणि .....। मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्ठात् सिरासन्धि-सन्धिपातो रोमावर्तोऽधिपतिः ।

(छ) सुश्रुतसंहिता शारीरस्थानम्, ६।२७, पृष्ठ ३३१, सं० लालचन्द्र वैद्यकृत विशेष मन्तव्य—अधिपतिमर्म—यह शिर के भी सबसे ऊपर शिखर पर का मर्म है । इसका सूचक शिर पर बाहर रोमावर्त (भौरी, बालों का आवर्त) होता

है । इसमें आने वाली एक सिरा अवेध्य मानी गई है । इसके ऊपर की अस्थि में छिद्र रहता है, जो ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है । परंतु यह एक वर्ष व्यतीत होने पर बाल्यावस्था में ही पूर्ण हो जाता है । सद्योजात शिशु के शिर पर हाथ रखने से इसमें सिरा (धमनी) का स्पन्दन (घमन) प्रतीत होता है । इसका अर्थ है—‘अधिकृत्य पाति रक्षति इति अधिपतिः ।’ इस अबयव को अधिकृत्य करके आत्मा शरीर का रक्षण करता है । यही पुराणों का ब्रह्म-लोक, वैष्णव पुराणों का विष्णुलोक या बंक्रुण्ड तथा शंखपुराण-ग्रन्थोक्त शिवलोक या कैलाश है और गीता का ऊर्ध्वमूल है, अधःशाख शरीर का ऊपर की ओर वर्तमान मूल—जड जीवन हेतु है । योगशास्त्र में शिर के पिछले कपाल के अन्दर में स्थित केन्द्र को शिवरन्ध्र माना है । परंतु यह शंखों का विचार है, वे उसी को जीवन का केन्द्र मानते हैं । इन २३ मर्मों से युक्त समस्त शिर को ही मर्म समझना चाहिए । शिर का पर्याय उत्तमांग है, उसके लिए भगवान् पुनर्वसु ने लिखा है :

प्राणाः प्राणभृतां यत्र, स्थिताः सर्वेन्द्रियाणि च ।

तदुत्तमांगमगानां, शिरस्तदभिधीयते ॥

(ज) चरक (च० सि. अ. १।६) में लिखा है—१०७ मर्म होते हैं । उनका पीडन—अभिहनन होने से प्राणी को बहुत अधिक पीडा का (अन्य स्थलों की अपेक्षा अधिक) अनुभव होता है क्योंकि उन मर्मों में प्राणों का विशेष रूप से अनुबन्ध-सम्बन्ध होता है । शाखाश्रित मर्मों की अपेक्षा स्कंध अर्थात् अंतराधि के मर्म विशेष महत्त्व रखते हैं । उनमें भी हृदय, वस्ति तथा सिर (श्रीवा समेत शिर-२३ मर्मों का अधिष्ठान) अत्यंत महत्त्व रखते हैं, क्योंकि समस्त शरीर इन्हीं तीनों के अधीन है ।

१. याज्ञवल्क्य गीता.....।

भवितुमर्हति ।<sup>१</sup> क्षणशब्दः मध्यार्थकोऽपि वर्तते ।<sup>२</sup> यः अस्य शरीरस्य 'मध्य' मध्यवर्ति चैतन्यकेन्द्रं वा पश्यति, स संयतो वा अप्रमत्तो वा भवितुमर्हति ।<sup>३</sup>

प्रति जागरूक रहता है, वह संयत अथवा अप्रमत्त हो सकता है। 'क्षण' शब्द का अर्थ 'मध्य' भी है। जो इस शरीर के 'मध्य' को अथवा मध्यवर्ती चैतन्यकेन्द्र को देखता है, वह संयत अथवा अप्रमत्त हो सकता है।

२२. एस मग्गे आरिर्एहि पवेदिते ।

सं०—एषः मार्गः आर्यैः प्रवेदितः ।

यह मार्ग तीर्थंकरों ने बताया है।

भाष्यम् २२—एषः अप्रमादमार्गः आर्यैः प्रवेदितः ।<sup>४</sup>

यह अप्रमाद का मार्ग तीर्थंकरों ने बताया है।

२३. उट्ठिए णो पमायए ।

सं०—उत्थितः नो प्रमाद्येत् ।

पुरुष उत्थित होकर प्रमाद न करे।

भाष्यम् २३—अप्रमादस्य साधनायां उत्थितः पुरुषः न प्रमाद्येत् । उत्थितोऽपि पुरुषः तदनुरूपपुरुषकारपराक्रमाऽभावे पुनः अनुत्थितो भवति । तेन अत्यन्तं उपयोगी एष उपदेशः । यावद् मोहकर्मणः क्षयोपशमो विद्यते तावद् अप्रमादः स्थितिं नाप्नोति । तस्य उदय-विलययोः क्रमः प्रवर्तते । सरितः सलिलतलमवगाहमानः पुरुषः कराभ्यां जलकुम्भीं प्रेरयति तदा भवति आकाश-दर्शनम् । विश्रान्तयोः करयोः पुनः जलकुम्भीं प्रसूमरा भवति अवरुद्धं च आकाशदर्शनम् । अनया प्रणाल्या अप्रमाददशायां मोहकर्मणः क्षयोपशमः सक्रियो भवति, संभवति च आत्मदर्शनम् । प्रमाददशायां तु स जायते निष्क्रियः, अविरोधमुपैति च आत्मदर्शनम् ।

अप्रमाद की साधना में उत्थित होकर पुरुष प्रमाद न करे। उत्थित होकर भी पुरुष उसके अनुरूप पुरुषकार और पराक्रम के अभाव में पुनः अनुत्थित हो जाता है। इसलिए यह उपदेश अत्यंत उपयोगी है। जब तक मोहकर्म का क्षयोपशम विद्यमान रहता है तब तक अप्रमाद स्थिरता को प्राप्त नहीं होता। उसके उदय और अनुदय का क्रम चलता रहता है। नदी के पानी में अवगाहन करने वाला पुरुष जब अपने हाथों से शैवाल को इधर-उधर हटाता रहता है तब उसे आकाश दिखाई देता है। जब वह हाथों को विश्राम देता है तब शैवाल पुनः पानी पर छा जाती है और आकाश का दिखना बंद हो जाता है। इसी प्रणाली से अप्रमाद दशा में मोहकर्म का क्षयोपशम सक्रिय होता है तब आत्म-दर्शन संभव होता है। प्रमाद दशा में वह क्षयोपशम निष्क्रिय हो जाता है, तब आत्म-दर्शन अवरुद्ध हो जाता है।

'यत्र प्रमादः तत्र भयम्'—इति व्याप्तिः । 'सर्व्वओ पमत्तस्स भयं' इत्युक्तमस्ति भगवता । तेन प्रमादो

'जहां प्रमाद है वहां भय है'—यह व्याप्ति है। भगवान् ने कहा है—प्रमादी पुरुष को सर्वतः भय रहता है। इसलिए प्रमाद का

१. आचारंग वृत्ति, पत्र १८५ : विग्रहः—औदारिकं शरीरं तस्य अयं वार्त्तमानिकक्षणः एवम्भूतः सुखदुःखान्यतररूपश्च गतः एवम्भूतश्च भावीत्येवं यः क्षणान्वेषणशीलः सोऽन्वेषी सदाऽप्रमत्तः स्यादिति ।

२. भाष्ये, क्षणः Center, middle.

३. महावीर की साधना का मौलिक स्वरूप अप्रमाद है। अप्रमत्त रहने के लिए जो उपाय निर्दिष्ट हैं, उनमें शरीर की क्रिया और संवेदना को देखना मुख्य उपाय है। जो साधक वर्तमान क्षण में शरीर में घटित होने वाली सुख-दुःख की वेदना को देखता है, वर्तमान क्षण का अन्वेषण करता है, वह अप्रमत्त हो जाता है।

यह शरीर-दर्शन की प्रक्रिया अंतर्मुख होने की प्रक्रिया है। सामान्यतः बाहर की ओर प्रवाहित होने

वाली चैतन्य की धारा को अंतर की ओर प्रवाहित करने का प्रथम साधन स्थूल शरीर है। इस स्थूल शरीर के भीतर तैजस और कर्म—ये दो सूक्ष्म शरीर हैं। उनके भीतर आत्मा है। स्थूल शरीर की क्रियाओं और संवेदनों को देखने का अभ्यास करने वाला क्रमशः तैजस और कर्म-शरीर को देखने लग जाता है। शरीर-दर्शन का दृढ़ अभ्यास और मन के सुशिक्षित होने पर शरीर में प्रवाहित होने वाली चैतन्य की धारा का साक्षात्कार होने लग जाता है। जैसे-जैसे साधक स्थूल से सूक्ष्म दर्शन की ओर आगे बढ़ता है, वैसे-वैसे उसका अप्रमाद बढ़ता जाता है।

४. द्रष्टव्यम्—आचारो, २।४७, ११९ ।

नासेवनीयः। यदा धर्माचरणं प्रति अनुत्साहात्मकः प्रमादो जागर्ति तदा अशुभयोगस्य प्राबल्ये उदीरणा-संक्रमणप्रयोगोऽपि जायते। तेन शुभकर्मणो विलयः अशुभे परिवर्तनं चापि संभवति। तेनेति सत्यं यत्र प्रमादः तत्र भयम्। अप्रमाददशायां अस्य विपर्ययो भवति—अशुभकर्मणः उदीरणाकरणेन क्षयः तथा संक्रमेण अशुभस्य शुभे च परिवर्तनम्।

आसेवन नहीं करना चाहिए। जब धर्माचरण के प्रति अनुत्साहात्मक प्रमाद जागता है तब अशुभयोग की प्रबलता में उदीरणा तथा संक्रमण का प्रयोग भी होता है। उदीरणा से शुभ कर्मों का विलय और संक्रमण से शुभ का अशुभ के रूप में परिवर्तन भी हो सकता है। इसलिए यह सच है कि जहां प्रमाद है वहां भय है। अप्रमाद दशा में इसका विपर्यय होता है—उदीरणा से अशुभ कर्म का क्षय तथा संक्रमण से अशुभ का शुभ-रूप में परिवर्तन।

### २४. जाणित्तु दुःखं प्रत्येकं सात्थं।

सं०—जात्वा दुःखं प्रत्येकं सात्थम्।

दुःख और सुख व्यक्ति का अपना-अपना होता है—यह जान कर प्रमाद न करे।

भाष्यम् २४—दुःखं सुखं च प्रत्येकं भवति, न च कश्चित् सुखं दुःखं वा आदातुं समर्थो भवति इति ज्ञात्वा प्रमादं न कुर्यात्।<sup>१</sup>

दुःख और सुख व्यक्ति का अपना-अपना होता है। कोई किसी के सुख या दुःख को बंटाने नहीं सकता, यह जानकर व्यक्ति प्रमाद न करे।

### २५. पुढोच्छंदा इह माणवा, पुढो दुःखं प्रवेदितं।

सं०—पृथक्छंदाः इह मानवाः, पृथक् दुःखं प्रवेदितम्।

इस जगत् में मनुष्य नाना प्रकार के अध्यवसाय वाले होते हैं। उनका दुःख भी नाना प्रकार का होता है।

भाष्यम् २५—प्राणिनां दुःखं सात्थं च प्रत्येकं भवति, अस्य हेतुरस्ति तदुपादानभूतस्य अध्यवसायस्य प्रत्येकत्वं, इति वस्तुसत्यमिह प्रतिपादितमस्ति। इह मानवाः पृथक्छंदाः—नानाध्यवसायाः वर्तन्ते, अतस्तेषां दुःखं सात्थमपि च नानारूपेण संकल्पितमस्ति। केचिद् आरम्भं सुखं मन्यन्ते केचिच्च दुःखम्। केचित् अनारम्भं दुःखं मन्यन्ते केचिच्च सुखम्। एवं दुःखसुखयोः संकल्पः एकविधो नास्ति। तेन उत्थितः पुरुषः दुःखं सुखं च प्रत्येकं ज्ञात्वा अनारम्भजीवी भवेत्।

प्राणियों का दुःख और सुख अपना-अपना होता है। इसका कारण यह है कि सुख और दुःख के उपादानभूत अध्यवसाय अपने-अपने होते हैं—यह वस्तुसत्य प्रस्तुत आलापक में प्रतिपादित है। इस जगत् में मनुष्य नाना अध्यवसाय वाले हैं, इसलिए उनका दुःख और सुख भी नानारूप वाला होता है। कुछ मनुष्य आरंभ—हिंसा को सुख मानते हैं और कुछ दुःख। कुछ व्यक्ति अनारंभ—अहिंसा को दुःख मानते हैं और कुछ सुख। इस प्रकार दुःख और सुख की कल्पना एक प्रकार की नहीं होती, इसलिए जो व्यक्ति साधना के लिए उत्थित हो चुका है वह दुःख और सुख को व्यक्ति-व्यक्ति का जानकर अनारंभजीवी—अहिंसाजीवी बने।

छन्दः—इच्छा अध्यवसायः संकल्पश्च।

छन्द का अर्थ है—इच्छा, अध्यवसाय, संकल्प।

### २६. से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुढो फासे विप्पणोल्लए।

सं०—स अविहिंसन् अनपवदमानः स्पृष्टः स्पर्शान् विप्रणोदयेत्।

वह उत्थित पुरुष किसी की हिंसा न करे, सूक्ष्म जीवों के अस्तित्व को अस्वीकार न करे। जो कष्ट प्राप्त हों, उन्हें समभाव से सहन करे।

भाष्यम् २६—आरम्भजीवी पुरुषः हिंसायां प्रवर्तते। येन अनारम्भजीवित्वस्य संकल्पः कृतः स उत्थितः पुरुषः न प्राणिनो हिंस्यात्। जीवल्लोको द्विविधः—सूक्ष्मः स्थूलश्च। तत्र स्थूलजीवल्लोकस्य हिंसायाः परिहारः

आरंभजीवी मनुष्य हिंसा में प्रवृत्त होता है। जिसने अनारंभजीवन जीने का संकल्प किया है वह साधना के लिए उत्थित पुरुष प्राणियों की हिंसा न करे। जीवल्लोक दो प्रकार का है—सूक्ष्म और स्थूल। स्थूल जीवों की हिंसा का परिहार करना उतना दुःसाध्य

१. द्रष्टव्यम्—आयारो, २।२२।

२. आचारांग वृत्ति, पत्र १८६ : पस्य वत्वं तस्यापि प्राकृतत्वाद् धार्यत्वाद् वा लोपः।

नास्ति तादृक् दुःशकः यादृगस्ति सूक्ष्मजीवलोकस्य हिंसायाः परिहारः । अनारम्भजीवित्वस्य संकल्पः अतिकठिनोस्ति । तेन कदाचित् एतादृशो विकल्पोऽपि संभवेत्—क्व सूक्ष्माः जीवाः ? इति विकल्पस्य प्रसंगं लक्ष्यीकृत्य सूत्रकारेण निर्दिष्टं, अनारम्भजीवी सूक्ष्मलोकस्य अपवादं न कुर्यात्, स नास्तीति मृषा न वदेत् । अस्यां स्थितौ जीवनयात्रां परिचालयन् कदाचित् कष्टः स्पृष्टः स्यात् तदा स्पर्शान्—कष्टानि विप्रणोदयेत्, न तु तैरभिभूतः स्यात् ।

नहीं है, जितना दुःसाध्य है सूक्ष्मजीवों की हिंसा का परिहार करना । अनारम्भ जीवन जीने का संकल्प अत्यन्त कठिन है । इसलिए कभी साधक के मन में ऐसा विकल्प भी उत्पन्न हो सकता है कि सूक्ष्म जीवों का अस्तित्व है कहां ? इस विकल्प के प्रसंग को लक्ष्य कर सूत्रकार ने यह निर्देश दिया है कि अनारम्भजीवी साधक सूक्ष्मजीवलोक का अपवाद न करे, उसका अस्तित्व नहीं है—इस प्रकार मृषा न बोले । इस स्थिति में वह जीवनयात्रा को चलाता हुआ कभी कष्टों से स्पृष्ट हो जाए तो उन कष्टों को समभाव से सहन करे, उनसे पराजित न हो ।

### २७. एष समिया-परियाए बियाहिते ।

सं०—एष सम्यक्पर्यायः व्याहृतः ।

यह सम्यक् पर्याय वाला कहलाता है ।

भाष्यम् २७—एषः अहिंसकः कष्टसहिष्णुश्च पुरुषः सम्यक्पर्यायः—समतायाः पारगामी व्याहृतो भगवता ।

भगवान् ने ऐसे अहिंसक और कष्ट-सहिष्णु पुरुष को सम्यक् पर्याय—समता का पारगामी कहा है ।

### २८. जे असत्ता पार्वोहि कर्मेहि, उदाहु ते आयंका फुसंति । इति उदाहु वीरे ते फासे पुट्टा हियासए ।

सं०—ये असत्ताः पापेषु कर्मसु उताहो तान् आतङ्काः स्पृशन्ति । इति उदाहु वीरः तान् स्पर्शान् स्पृष्टः अधिसहेत ।

जो मुनि पाप-कर्म में आसक्त नहीं हैं, उन्हें भी कमी-कमी शीघ्रघाती रोग पीड़ित कर देते हैं । इस संदर्भ में भगवान् महावीर ने ऐसा कहा—‘उन शीघ्रघाती रोगों के उत्पन्न होने पर मुनि उन्हें सहन करे ।’

भाष्यम् २८—एकदा भगवतो महावीरस्य समीपे केचिन्मुनयः समागताः, जिज्ञासितं च तैः—‘भगवन् ! ये अनासक्ताः पुरुषाः सन्ति तपस्विनः संयमिनः ब्रह्मचारिणश्च तेषु रोगैराक्रान्ता भवन्ति, कथमिदम् ?’

एक बार भगवान् महावीर के पास कुछ मुनि आए, उन्होंने जिज्ञासा की—‘भगवन् ! जो पुरुष अनासक्त, तपस्वी, संयमी और ब्रह्मचारी हैं, वे भी रोगों से आक्रान्त होते हैं, यह क्यों ?’

भगवता प्रोक्तम्—आर्याः ! ज्ञातव्यं युष्माभिः रोगसंयमयोश्च भिन्नोऽस्ति हेतुः ।

भगवान् ने कहा—आर्यों ! तुम्हें ज्ञात होना चाहिए कि रोग और संयम का हेतु भिन्न-भिन्न है ।

तज्जिज्ञासामो भगवन् !

मुनि बोले—‘हम उन हेतुओं को जानना चाहते हैं, भगवन् !’

भगवान् प्राह—संयमस्य हेतुरस्ति चारित्रमोहस्य क्षयोपशमः, रोगस्य च हेतुरस्ति वेदनीयस्योदयः, स च केवलिनोऽपि भवति ।

भगवान् बोले—संयम का हेतु है—चारित्र मोहनीय कर्म का क्षयोपशम और रोग का हेतु है—वेदनीय कर्म का उदय । वह केवलियों के भी होता है ।

प्रोक्तं भगवता—तैः रोगातंकैः स्पृष्टस्तान् स्पर्शान् सम्यक् सहेत ।

भगवान् ने कहा—साधक उन रोग और आतंकों से स्पृष्ट होने पर उनको समभाव से सहन करे ।

### २९. से पुवं पेयं पच्छा पेयं भेउर-धम्मं, विद्धंसण-धम्मं, अधुवं, अणितियं, असासयं, चयावच्चइयं, विपरिणाम-धम्मं, पासह एयं रूवं ।

सं०—अथ पूर्वं अप्येतत् पश्चादप्येतत् भिदुरधर्मं, विध्वंसनधर्मं, अध्रुवं, अनित्यं, अशाश्वतं, चयापचयिकं, विपरिणामधर्मं, पश्यत एतद् रूपम् ।

तुम इस शरीर को देखो । यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य ही नष्ट होने वाला है । विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है । यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है । इसका उपचय और अपचय होता है । इसकी विविध अवस्थाएं होती हैं ।

१ (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १६७ : समगमणं समिया, पारगमणं परिघाए ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १८६ : स सम्यक्पर्यायः शमित्ता-पर्यायो वा व्याख्यातः ।

भाष्यम् २९—आलम्बनसूत्रमिदम् । अनेन आलम्ब-  
नेन रोगातंकजनितं कष्टं सोढव्यम् । यूयं पश्यत, एतद्  
रूपं अथ<sup>१</sup> पूर्वमपि<sup>२</sup> एतत् पश्चादपि भिदुरधर्मं भिद्यते,  
स्वयमेव भिद्यते इति तात्पर्यम् । तथा एतच्छरीरं जीर्ण-  
शकटमिव विध्वंसनधर्मं, अध्रुवं<sup>३</sup>, अनित्यं<sup>४</sup>, अशाश्वतं<sup>५</sup>,  
चयापचयिकं विपरिणामधर्मं च वर्तते । एतद् इष्टाहारेण  
चीयते तदभावाद् अपचीयते । तथा चत्वारिंशद्वर्ष-  
पर्यन्तं चीयते ततः परं अपचीयते, अतः चयापचयिकम् ।  
गर्भकौमारयौवनादिभिर्विविधैः परिणामैः परिणतो  
भवति, अतो विपरिणामधर्मम् ।

रूपम्<sup>१</sup>—शरीरम् ।

३०. संधि समुत्प्रेहमाणस्त एकायतन-रयस्त इह विप्रमुक्तस्त, जस्थि मग्ने विरयस्त त्ति वेमि ।

सं० —संधि समुत्प्रेहमाणस्य एकायतनरतस्य इह विप्रमुक्तस्य नास्ति मार्गः विरतस्य इति ब्रवीमि ।

जो कर्म-विषय को देखता है, एक आयतन (वीतरागता) में लीन है, ऐहिक ममत्व से मुक्त है, हिंसा से विरत है, उसके लिए कोई  
मार्ग नहीं है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ३०—यो रूपस्य—शरीरस्य संधि समुत्प्रेह-  
माणः एकस्मिन् आयतने—देहातीते चैतन्ये रतो भवति,  
शरीरविषयकममत्वविप्रमुक्तश्च तस्य विरतस्य नास्ति  
मार्गः ।

अस्य तात्पर्यम्—यः सन्धिदर्शनेन चैतन्यानुभवं  
प्रतिपन्नवान्, यस्य विरतिः सहजा जाता, तस्य कृते  
साधनायाः पद्धतेः ध्यानमार्गस्य वा नास्ति कश्चिद्  
निर्देशः । यो लक्ष्यमुपलब्धवान् तस्य कृते को मार्गः ?  
उक्तमपि च—‘उद्देशो पासगस्त जस्थि ।’<sup>१</sup> साधनायाः  
नास्ति कश्चिद् एक एव मार्गः । येन येन उपायेन  
वीतरागताया अनुभवो भवति, ते सर्वेऽपि मार्गा एव ।

जो शरीर की संधि को देखता है वह एक आयतन—देहातीत  
चैतन्य में लीन होता है । वह शरीर के ममत्व से मुक्त होता है । उस  
विरत व्यक्ति के लिए कोई मार्ग नहीं है ।

इसका तात्पर्य यह है—जो साधक संधि को देखने से चैतन्य  
के अनुभव को प्राप्त कर लेता है, जिसके सहज विरति होती है उस  
व्यक्ति के लिए साधना की पद्धति अथवा ध्यान मार्ग का कोई निर्देश  
नहीं होता । जो लक्ष्य को प्राप्त कर चुका है उसके लिए कौनसा  
मार्ग ? (अथवा उसके लिए कैसा मार्ग ?) इसी आगम में कहा है—  
‘द्रष्टा के लिए कोई व्यपदेश नहीं होता ।’ साधना का कोई एक ही  
मार्ग नहीं है । जिन-जिन उपायों से वीतरागता का अनुभव होता है,  
वे सभी मार्ग ही हैं ।

१. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १६७ : से इति णिहेसे ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १८६ ।

२. अस्य व्याख्या ‘पुंश्व वा पच्छा वा अवस्तविप्पजहियम्भं  
भविस्सइ’ (अगवई ९।१७२) इति पाठस्य संदर्भं  
संगच्छते । चूणिकारेण अत्र चत्वारः विकल्पाः प्रस्तुताः ।  
तत्र चतुर्थो विकल्पः संगतोस्ति—तथा पुंश्वे पच्छिने वा  
वये (चूणि, पृष्ठ १६७) ।

वृत्तिकृता भिन्नरूपेण व्याख्या कृतास्ति—से  
पुंश्वमित्यादि, स स्पृष्टः पीडितः आशुकारिभिरातंकैरेतद्

भाष्येद्—असातावेदनीयविपाकजनितं दुःखं मयंश्व सोढव्यं,  
पश्चादप्येतन्नयंश्व सहनीयम् (वृत्ति, पत्र १८६) ।

३,४,५. आटे, ध्रुवं—Unchangable, नित्यं—Conti-  
nual, शाश्वतं—Eternal.

६. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १६८ : रूपमिति सर्व्वेदिया-  
वद्गुणं शरीरं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १८७ ।

७. आयारी, २।७३ ।



३१. आवन्ती केआवन्ती लोगसि परिग्रहावन्ती—से अल्पं वा, बहुं वा, अणुं वा, स्थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा, एतेषु चैव परिग्रहावन्ती ।

सं०—यावन्तः केचन लोके परिग्रहवन्तः—ते अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा चित्तवन्तं वा अचित्तवन्तं वा एतेषु चैव परिग्रहवन्तः ।

इस जगत् में जितने मनुष्य परिग्रही हैं, वे अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त वस्तु का परिग्रहण करते हैं । वे इन वस्तुओं में मूर्च्छा रखने के कारण ही परिग्रही हैं ।

भाष्यम् ३१—यावन्तः केचन लोके परिग्रहिणः सन्ति ते अल्पं वा बहुं वा अणुं वा स्थूलं वा सचित्तं वा अचित्तं वा परिग्रहमादाय एतेषु षड्भेदभिन्नेषु चैव मूर्च्छनात् परिग्रहिणो भवन्ति ।

पदार्थः पुद्गलद्रव्यनिष्पन्नः, स नास्ति परिग्रहः । मनुष्येण मूर्च्छापूर्वकं परिग्रहीतः परिग्रहो भवति । 'मूर्च्छा परिग्रहः', इत्यपि सम्मतम् । किन्तु प्रस्तुतसूत्रे पदार्थं लक्ष्योक्तस्यैव परिग्रहस्य स्वरूपमस्ति प्रतिपादितम् ।

इस जगत् में जितने मनुष्य परिग्रही हैं, वे अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त वस्तु का परिग्रह करते हैं । वे इन छह प्रकार के परिग्रहों में मूर्च्छित होने के कारण ही परिग्रही होते हैं ।

पदार्थं पौद्गलिक है । वह परिग्रह नहीं है । मनुष्य के द्वारा मूर्च्छापूर्वक परिग्रहीत पदार्थ ही परिग्रह बनता है । 'मूर्च्छा परिग्रह है' यह भी सम्मत है । किन्तु प्रस्तुत सूत्र में पदार्थ को लक्ष्य कर परिग्रह के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है ।

३२. एतदेवेगेसि महाभयं भवति, लोगवित्तं च णं उवेहाए ।

सं०—एतदेवैकेषां महाभयं भवति, लोकवृत्तं च उपेक्ष्य ।

यह परिग्रह ही परिग्रही के लिए महाभय का हेतु होता है । तुम लोकवृत्त को देखो ।

भाष्यम् ३२—परिग्रहस्त्रिविधः शरीरकर्मपदार्थ-भेदात् । केचित् पदार्थं परित्यज्य विहरन्ति, किन्तु शरीरं प्रति मूर्च्छावन्तः सन्ति, तेषामेतदेव शरीरं महाभयं भवति । लोकस्य वृत्तं—चरित्रं उपेक्ष्य । यथा—लोकः धनधान्यादिपदार्थमूर्च्छितः महाभयं जनयति तथा शरीरमूर्च्छापि, यथा वा लोकस्य वित्तं—धनधान्यादि महाभयं जनयति तथा शरीरस्य मूर्च्छापि ।\*

परिग्रह तीन प्रकार का है—शरीर का परिग्रह, कर्म का परिग्रह और पदार्थ का परिग्रह । कुछ व्यक्ति पदार्थों का परित्याग कर देते हैं, किन्तु शरीर के प्रति मूर्च्छा रखते हैं, उनके लिए यही शरीर महाभय का कारण बन जाता है । तुम लोक के वृत्त—चरित्र को देखो । जैसे मनुष्य धन, धान्य आदि पदार्थों में मूर्च्छित होकर महाभय को पैदा करता है वैसे ही शरीर के प्रति मूर्च्छा भी महाभय को पैदा करती है । अथवा लोक का वित्त—धन-धान्य आदि पदार्थ महाभय पैदा करता है, वैसे ही शरीर की मूर्च्छा भी महाभयजनक होती है ।

३३. एए संगे अविजाणतो ।

सं०—एते सङ्गाः अविजानतः ।

अज्ञानी के लिए ये पदार्थ संग होते हैं ।

१. इसवेआलियं ६।२० ।

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १६९ : लोगे वित्तं च णं लोगचरित्तं, जहा लोगो धणआहारसरीरात्तिमुच्छितो तथा उद्दंङ्गातीवि सरीरमुच्छातो तच्चित्तं..... । तस्य लोगो—गिहीणो, तेसि वित्तं—धणधन्नाइ चणमिति पूरणे तं उक्खिख, किमिति ? जहा लोगस्स

मुच्छापरिग्रहाइ वित्तं महाभयं, तथा.....सरीरमेव महाभयं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १८८ : लोकस्य—असंयत-लोकस्य वित्तं—द्रव्यमरूपादिविशेषणविशिष्टं..... लोकवित्तं लोकवृत्तं वा आहारभयमैथुनपरिग्रहोत्कट-संज्ञात्मकं महते जयाय ।

भाष्यम् ३३—एते पदार्थाः शरीरं च अज्ञानवतः<sup>१</sup> संगो<sup>२</sup> भवन्ति, आसक्तिकारणमिति यावत् । अत्र सूत्रकारेण स्पष्टीकृतम्—पदार्थः सङ्गस्य जनको नास्ति । अज्ञानिनः स सङ्गाय भवति, ज्ञानिनः पुनर्न भवति सङ्गाय ।<sup>३</sup>

ये पदार्थ और शरीर अज्ञानी व्यक्ति के लिए संग होते हैं, आसक्ति के हेतु बनते हैं । सूत्रकार ने स्पष्ट करते हुए कहा है—पदार्थ आसक्ति का जनक नहीं है । अज्ञानी के लिए वह आसक्ति का कारण बनता है । ज्ञानी के लिए वह आसक्ति-जनक नहीं होता ।

३४. से सुपडिबुद्धं सूवणीयं ति णच्चा, पुरिसा ! परमचक्षू ! विपरक्कमा ।

सं०—तत् सुप्रतिबुद्धं सूपनीतं इति ज्ञात्वा पुरुष ! परमचक्षुः ! विपराक्राम ।

परिग्रह महाभय का हेतु है—यह सम्यक् प्रकार से ज्ञात और उपदर्शित है । परमचक्षुष्मान् पुरुष ! तू परिग्रह-संयम के लिए पराक्रम कर ।

भाष्यम् ३४—परिग्रहः महाभयस्य कारणमस्ति इति सुप्रतिबुद्धं प्रत्यक्षज्ञानिभिः सूपनीतं च—सुदृष्टैर्हेतुभिः शिष्याणामुपदर्शितमिति ज्ञात्वा परमचक्षुष्मान् पुरुष ! विपराक्राम—अपरिग्रहसिद्धये विविधं विशिष्टं वा यतस्व ।

‘परिग्रह महाभय का हेतु है’—यह प्रत्यक्षज्ञानियों के द्वारा सम्यक् प्रकार से ज्ञात और उपनीत है—‘सुदृष्ट हेतुओं के द्वारा शिष्यों के लिए उपदर्शित है’ यह जानकर परमचक्षुष्मान् पुरुष ! तू पराक्रम कर—अपरिग्रह की सिद्धि के लिए विविध प्रकार से अथवा विशिष्ट प्रकार से प्रयत्न कर ।

३५. एतेषु चैव बंभचेरं ति बेमि ।

सं०—एतेषु चैव ब्रह्मचर्यं इति ब्रवीमि ।

परिग्रह का संयम करने वालों में ही ब्रह्मचर्य होता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ३५—एतेषु अपरिग्रहिषु पुरुषेष्वेव ब्रह्मचर्यं भवतीति ब्रवीमि । ब्रह्मचर्यम्—आत्मरमणं, उपस्थसंयमः, गुरुकुलवासश्च ।\* पदार्थप्रतिष्ठः पुरुषः नात्मनि रमणमर्हति । पदार्थं प्रति आकर्षणमावहतः पुरुषस्य ब्रह्मचर्यं न भवति सुकरम् । पदार्थं प्रति असंयतस्य पुरुषस्य न हि सुशको भवति गुरुकुलवासः । तात्पर्यार्थमिदं—अपरिग्रही पुरुष एव ब्रह्मचर्यसाधनां कर्तुं प्रभवति ।

इन अपरिग्रही पुरुषों में ही ब्रह्मचर्य होता है, ऐसा मैं कहता हूँ । ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं—आत्म-रमण, उपस्थसंयम—मैथुनविरति तथा गुरुकुलवास । पदार्थों के प्रति आसक्त व्यक्ति आत्म-रमण नहीं कर सकता । जिस व्यक्ति का पदार्थ के प्रति आकर्षण होता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन सुकर नहीं होता । जो व्यक्ति पदार्थ के प्रति असंयत होता है, उसका गुरुकुल में रहना सुशक्य नहीं होता । इसका तात्पर्य है कि अपरिग्रही पुरुष ही ब्रह्मचर्य की साधना करने में समर्थ होता है ।

३६. से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे, बंध-पमोक्खो तुज्झ अज्झत्थेव ।

सं०—अथ श्रुतं च मम आध्यात्मिकं च मम, बंधप्रमोक्षः तव अध्यात्म एव ।

मैंने सुना है, मैंने अनुभव किया है—बंध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा में ही है ।

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ १७० : कस्स सो संगो ?—अवियानतो धम्मोवायं च ।

२. वही, पृष्ठ १७० : संगोत्ति वा विग्घोत्ति वा वक्खोडित्ति वा एग्घा ।

३. वृत्तिकृता एतत् सूत्रं भिन्नरूपेण व्याख्यातम्—एतान् अल्पादिद्रव्यपरिग्रहसङ्गान् शरीराहाराविसङ्गान् वा अविजानतः अकुर्वाणस्य वा तत्परिग्रहजनितं महाभयं न स्यात् । (वृत्ति, पत्र १८८) ।

४. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १७० : उवत्थसंजमो गुरुकुल-वासं वा बंभचेरं, अहवा एतेषु चैव आरंभपरिग्रहेषु चावओ विप्पमुक्कं बंभचेरंति ।

(ख) ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं—वस्ति-संयम, गुरुकुलवास और आत्मरमण । शरीर भी परिग्रह है । जिसके शरीर में आसक्ति होती है, वह वस्ति-संयम नहीं कर सकता । जिसके शरीर और वस्तुओं में आसक्ति होती है, वह न गुरुकुलवास (साधु-संघ) में रह सकता है और न आत्म-रमण के आधारभूत अहिंसा आदि चारित्र्यधर्म का पालन ही कर सकता है । यहां ये तीनों अर्थ घटित हो सकते हैं, फिर भी तीसरा अर्थ अधिक प्रासंगिक है ।

भाष्यम् ३६—सूत्रकारो वक्ति—बंधः तव अन्तरात्मन्येव वर्तते । प्रमोक्षोऽपि तव अन्तरात्मन्येव ।<sup>१</sup> बंधस्य हेतुरस्ति पदार्थ प्रति रागः । प्रमोक्षस्य हेतुरस्ति पदार्थ प्रति विरागः । एतद् मया भगवतः सकाशात् श्रुतं तथा एतन्मया चिन्तितं अनुभूतमपि च ।<sup>२</sup>

आत्मा एव कर्मणः कर्ता, तेन आत्मकृतो बन्धः । स एव कर्मणो विकर्ता, तेन आत्मकृत एव प्रमोक्षः । तात्पर्यार्थे सम्मतं आत्मकर्तृत्वम् । यदि ईश्वरकर्तृत्वं स्यात् तत् किं प्रयोजनं कर्मणः बन्धप्रमोक्षयोर्वा ? पूर्वं बन्धकरणं पश्चात् तत्प्रमोक्षकरणं इति नास्ति प्रेक्षापूर्विका प्रवृत्तिः ।

आत्मा प्रमत्तः सन् स्वकीयाऽशुभेन उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रमेण कर्मप्रायोग्यपुद्गलान् गृहीत्वा बद्धो भवति । अप्रमत्तः सन् शुभेन उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार-पराक्रमेण कर्मपुद्गलानां निर्जरणं कृत्वा प्रमुक्तो भवति । उदीरणासंक्रमणादिप्रयोगेण कर्मणः परिवर्तनमपि कर्तुं शक्नोति । तेन सिद्धमिदं, बन्धः प्रमोक्षश्च आत्मन्येव ।

३७. एत्थ विरते अनगारे, दीर्घरात्रं तितिक्षेत् । प्रमत्तो बहिया पास, अप्रमत्तो परिव्रजे ।

सं०—अत्र विरतः अनगारः दीर्घरात्रं तितिक्षेत् । प्रमत्तान् बहिः पश्य अप्रमत्तः परिव्रजेः ।

परिग्रह से विरत अनगार परीषहों को जीवन-पर्यन्त सहन करे । तू देख ! जो प्रमत्त है, वे साधुत्व से परे हैं । इसलिए तू अप्रमत्त होकर परिव्रजन कर ।

भाष्यम् ३७—अत्र परिग्रहाद् विरतः अनगारः अपरिग्रहजनितान् परीषहान् दीर्घरात्रं—आजीवनं सहेत् । ये परिग्रहे प्रमत्ताः पदार्थान् प्राप्य हृष्यन्ति ते आत्मानुभूतेः बहिःस्थिता वर्तन्ते इति त्वं पश्य । प्रमत्तो न सिद्धयति अप्रमत्तश्च सिद्धयति इति बुद्ध्वा अप्रमत्तावस्थायां परिव्रजनं कुरु ।

अप्रमत्तः—संयमसाधनायां प्रवृत्तः ।

३८. एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि ।—त्ति वेमि ।

सं०—एतद् मौनं सम्यग् अनुवासयेः ।—इति ब्रवीमि ।

इस मौन का तू सम्यक् पालन कर ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ३८—परिग्रही आत्मानुभूतेः बहिःस्थितः ।

१-२. 'अज्झत्थियं' तथा 'अज्झत्थय' एते द्वे अपि पदे विशिष्टं प्रयुक्ते स्तः । संस्कृतसमन्वेन 'अज्झत्थियं' तथा 'अज्झत्तं' इति प्रयोगः संगतः स्यात् । प्राचीनप्राकृते त्यकारस्य प्रयोगः स्यादनुमतः । "अज्झत्थितं ऊहितं गुणितं चित्तितंति एगट्ठा । (आचारांग चूणि, पृष्ठ १७१)

सूत्रकार कहते हैं—बंध तुम्हारी अन्तर आत्मा में ही है और मोक्ष भी तुम्हारी अन्तर आत्मा में ही है । बंध का हेतु है—पदार्थों के प्रति राग और प्रमोक्ष का हेतु है—पदार्थों के प्रति विराग । यह मैंने भगवान् के पास सुना है, ऐसा ही मैंने चिन्तन किया है और ऐसा ही मैंने अनुभव भी किया है ।

आत्मा ही कर्मों की कर्ता है, इसलिए बंध आत्मकृत है । आत्मा ही कर्मों की विकर्ता है, इसलिए प्रमोक्ष भी आत्मकृत है । तात्पर्य में आत्मकर्तृत्व सम्मत है । यदि ईश्वरकर्तृत्व को स्वीकार किया जाए तो कर्मों के बंध और प्रमोक्ष का प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? पहले तो बंध करना फिर उसका प्रमोक्ष करना—इसे बुद्धिमत्तापूर्वक प्रवृत्ति नहीं कहा जा सकता ।

आत्मा प्रमत्तदशा में अपने अशुभ उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार तथा पराक्रम से कर्मप्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर कर्मों से बद्ध हो जाती है । वह अप्रमत्त अवस्था में शुभ उत्थान-कर्म-बल-वीर्य-पुरुषकार तथा पराक्रम से कर्म पुद्गलों का निर्जरण कर मुक्त हो जाती है । आत्मा उदीरणा और संक्रमण आदि प्रयोगों के द्वारा कर्मों का परिवर्तन भी कर सकती है । इसलिए यह सिद्ध होता है कि बंध और प्रमोक्ष आत्मा में ही है ।

परिग्रह से विरत अनगार अपरिग्रह के कारण उत्पन्न होने वाले परीषहों को जीवन-पर्यन्त सहन करे । जो परिग्रह में प्रमत्त है, वे पदार्थों को पाकर प्रसन्न होते हैं, वे आत्मानुभूति से बाहर हैं, ऐसा तू देख । प्रमत्त मुक्त नहीं होता, अप्रमत्त मुक्त हो जाता है—यह जानकर तू अप्रमत्तावस्था में परिव्रजन कर ।

अप्रमत्त का अर्थ है—संयम की साधना में प्रवृत्त ।

परिग्रही व्यक्ति को आत्मानुभूति नहीं होती । इस सूत्र के रहस्य

३. आचारांग चूणि, पृष्ठ १७१ : अप्पमाओ संजमअणुपाल-णत्थं पयत्तो, अह्वा पंचविहपमायवइरित्तो अप्पमत्तो, अह्वा जतणअप्पमत्तो य कसायअप्पमत्तो य, जयण-अप्पमत्तो संजमअणुपालणट्ठाए ईरियातिउवजत्तो, कसाय-अप्पमत्तो जस्स कसाया खीणा उवसंता वा ।

अस्य सूत्रस्य ऐदंपर्यायं बोद्धुं मननं अस्ति आवश्यकम् । केवलं श्रवणमात्रेण न तस्य मर्मं हृदयंगमं भवति । श्रुतः पठितो वा विषयः यावद् नानुवासितो भवति तावद् न तदनुरूपस्य आचरणस्य कल्पना कर्तुं शक्या । एतत् सत्यं हृदि निधाय सूत्रकारः निगमनवाक्येन उपदिशति, एतद् मौनं त्वं सम्यक् अनुवासये—प्रतिपालयेः ।  
मौनम्—अपरिग्रहस्य ज्ञानं, संयमानुष्ठानं वा ।

को जानने के लिए मनन आवश्यक है । केवल सुनने मात्र से उसका मर्म हृदयंगम नहीं होता । जब तक सुने हुए और पढ़े हुए विषय का बार-बार अभ्यास कर मन को उससे भावित नहीं किया जाता तब तक उसके अनुरूप आचरण की कल्पना भी नहीं की जा सकती । इस सत्य को हृदय में स्थापित कर सूत्रकार उपसंहार करते हुए उपदेश देते हैं—इस मौन का तू सम्यक् परिपालन कर ।

मौन का अर्थ है—अपरिग्रह का ज्ञान अथवा संयम का अनुष्ठान ।

### तद्ग्रहो उद्देशो : तीसरा उद्देशक

३९. आवन्ती केआवन्ती लोयंसि अपरिग्रहावन्ती, एएसु चैव अपरिग्रहावन्ती ।

सं०—यावन्तः केचन लोके अपरिग्रहवन्तः, एतेषु चैव अपरिग्रहवन्तः ।

इस जगत् में जितने मनुष्य अपरिग्रही हैं, वे इन वस्तुओं में मूर्च्छा न रखने के कारण ही अपरिग्रही हैं ।

भाष्यम् ३९—यावन्तः केचन लोके अपरिग्रहिणः ते एतेषु पदार्थेषु चैव निर्ममत्वाद् अपरिग्रहवन्तः । अपरिग्रहस्य तत्त्वमासाद्य जीवनदिशापरिवर्तनं कर्तुं शक्यम् । पदार्थं प्रति मूर्च्छा नापसरति तावद् हिंसायाः असत्यस्य च अपसरणं भवति दुःशकम् । तेन सूक्तमिदं—ये पदार्थं नैव संगृह्णन्ति न तेषु मूर्च्छां कुर्वन्ति त एव अपरिग्रहिणो भवितुमर्हन्ति ।

इस संसार में जितने मनुष्य अपरिग्रही हैं वे इन पदार्थों में ममत्व न करने (और इनका संग्रह न करने) के कारण ही अपरिग्रही हैं । अपरिग्रह के तत्त्व को प्राप्त कर व्यक्ति अपनी जीवनदिशा का परिवर्तन कर सकता है । जब तक पदार्थ के प्रति मूर्च्छा का भाव दूर नहीं होता तब तक हिंसा और असत्य का भाव भी दूर नहीं हो सकता । इसलिए यह ठीक कहा है—जो न पदार्थ का संग्रहण करते हैं और न उनमें मूर्च्छा भाव रखते हैं, वे ही अपरिग्रही बन सकते हैं ।

४०. सोच्चा वई मेधावी, पंडितानां णिसामिया । समियाए' धम्मे, आरिएहिं पवेदिते ।

सं०—श्रुत्वा वाचं मेधावी, पंडितानां निश्चयम् । समतायां धर्मः आर्यैः प्रवेदितः ।

'तीर्थंकरों ने समता में धर्म कहा है'—आचार्य की यह वाणी सुन कर, मेधावी साधक उसे हृदयंगम करे ।

भाष्यम् ४०—'आर्यैः समतायां धर्मः प्रवेदितः' मेधावी पण्डितानां इमां वार्तां श्रुत्वा निश्चयम्—अवधार्य च समतामनुपालयेत् ।

तीर्थंकरों ने समता में धर्म कहा है—आचार्य की यह वाणी सुन कर मेधावी साधक उसको हृदयंगम कर समता का अनुपालन करे ।

१. समिया—अस्य पदस्य संस्कृतरूपद्वयं भवति—सम्यक् शमिता च । सम्यक् इति यथार्थम् । शमिता इति कषायस्य उपशमः । चूणिकारेण 'सम्यक्' अर्थः स्वीकृतः—सम्मं केवलनाणेण बढ्ठुं (पृष्ठ १७२) । वृत्तिकारेण अस्य पदस्य अर्थः समता इति विहितः—समयं चि समता समशत्रुमित्रता तथा आर्यैः धर्मः प्रवेदित इति (पत्र १८९) । पाठान्तरे 'समया' इति रूपं लभ्यते । अस्य सम्यक्, शमिता,

समता—त्रयोऽपि अर्थाः संगताः सन्ति । तथापि 'समता' इति मुख्यत्वेन भाष्ये व्याख्यातम् ।

२. आचारांग चूणि, पृष्ठ १७२ : णिसामिया गाम सुजित्ता, सोच्चाणिसामणाणं को वित्तेसो ? सोच्चा किंचि केवलं सुत्तमेव, ण पुच्चावरेण ऊहित्ता हितपट्टवियं, इमं पुण सोच्चा हितपट्टवित्तम् ।

सर्वभूतेषु समता<sup>१</sup>, लाभालाभेषु समता<sup>२</sup>, प्रियाप्रिययोः समता—ईदृशीं समतां उपसंपद्यमानस्य संकल्पविकल्पयोः नाशो जायते ।<sup>३</sup> अहिंसादयः सर्वे धर्माः सन्ति समतायां प्रतिष्ठिताः ।

सम्यक्त्वसामायिकं, श्रुतसामायिकं चारित्र-सामायिकं—अस्य त्रिविधस्यापि सामायिकस्य समतायां अनुप्रवेशः ।<sup>४</sup>

सभी प्राणियों के प्रति समता, लाभ और अलाभ में समता, प्रिय और अप्रिय स्थिति में समता—इस प्रकार की समता को जो व्यक्ति स्वीकार करता है, उसके संकल्प-विकल्प का नाश हो जाता है। अहिंसा आदि सभी धर्म समता में प्रतिष्ठित हैं।

सामायिक के तीन प्रकार हैं—सम्यक्त्वसामायिक, श्रुत-सामायिक तथा चारित्रसामायिक। इन तीनों का समावेश 'समता' में होता है।

४१. जहेत्थ मए संधी शोसिए, एवमणत्थ संधी दुज्जोसिए भवति, तम्हा वेमि—णो णिहेज्ज वीरियं ।

सं०—यथात्र मया संधिः जोषितः, एवमन्यत्र संधिः दुर्जोष्यो भवति । तस्माद् ब्रवीमि—नो निहन्यात् वीर्यम् ।

भगवान् महावीर ने कहा—'जैसे मैंने ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्वित आराधना यहां की है, वैसे आराधना अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए मैं कहता हूँ कि शक्ति का गोपन मत करो।'

भाष्यम् ४१—सन्धिविवरम् । तच्च शरीरगतं चैतन्य-केन्द्रम् । ज्ञानदर्शनचारित्रात्मको वा भावसन्धिः । भगवान् महावीरः शिष्यान् प्रेरयन् स्वयं प्रवक्ति—यथा अत्र—अनेकान्तदृष्टेः अपरिग्रहस्य समताया वा साध-नायां मया महता वीर्येण सन्धिरन्विष्टः आसेवितश्च, एवं अन्यत्र—एकांतदृष्टौ परिग्रहवैषम्यान्वित-साधनायां तस्य अन्वेषणं आसेवनञ्च दुष्करमस्ति । तस्माद् ब्रवीमि—नो निहन्यात्—न निगूहेत्<sup>५</sup> वीर्यम् । परिग्रहवैषम्यान्विते मार्गे सन्धेरासेवनायायासं कृत्वा वीर्यं निहतं न कुर्यात् तथा अपरिग्रहसमतान्विते मार्गे सन्धेरासेवनायां वीर्यस्य निगूहनं न कुर्यात् ।

संधि का अर्थ है—विवर । शरीरगत विवर चैतन्यकेन्द्र कहलाता है। यह द्रव्य संधि है। भाव सन्धि है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र। भगवान् महावीर शिष्यों को प्रेरित करते हुए स्वयं कहते हैं, जैसे मैंने यहां—अनेकान्तदृष्टि, अपरिग्रह और समता की साधना में महान् पराक्रम के द्वारा सन्धि—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की समन्वित आराधना का अन्वेषण किया है और उसका पालन किया है, वैसे अन्यत्र अर्थात् एकांतदृष्टि, परिग्रह और विषमता की साधना में संधि का अन्वेषण और परिपालन दुष्कर है। इसलिए मैं कहता हूँ—शक्ति का गोपन मत करो। परिग्रह और विषमतायुक्त मार्ग में सन्धि के अनुपालन का आयास कर अपनी शक्ति को मत गंवाओ तथा अपरिग्रह और समतायुक्त मार्ग में सन्धि की आराधना करने में शक्ति का गोपन मत करो।

प्रस्तुतवक्तव्यस्य संवादित्वं सम्पूर्णे नवमाध्ययने लभ्यते ।

प्रस्तुत वक्तव्य की संवादिता पूरे नौवें अध्ययन में प्राप्त होती है।

४२. जे पुब्बुट्ठाई, णो पच्छा-णिवाई । जे पुब्बुट्ठाई, पच्छा-णिवाई । जे णो पुब्बुट्ठाई, णो पच्छा-णिवाई ।

सं०—यः पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती, यः पूर्वोत्थायी पश्चान्निपाती, यः नो पूर्वोत्थायी नो पश्चान्निपाती ।

कोई पुरुष पहले उठता है और जीवन-पर्यन्त उत्थित ही रहता है—कभी नहीं गिरता। कोई पुरुष पहले उठता है और बाद में गिर जाता है। कोई पुरुष न पहले उठता है और न बाद में गिरता है।

भाष्यम् ४२—परिणामवैचित्र्यात् सर्वे पुरुषाः न सदृशवीर्या भवन्ति । तेषां नानात्वमिह दर्शितम् । केचिन्महावीर्या भवन्ति । ते पूर्वमुत्थाय नो पश्चा-

परिणामों की भिन्नता के कारण सभी मनुष्य समान शक्ति वाले नहीं होते। प्रस्तुत आलापक में उन मनुष्यों का नानात्व बताया गया है। कुछ व्यक्ति महान् शक्ति-सम्पन्न होते हैं। वे पहले उठते

१. उत्तरउत्तराणि, १९।२५ ।

२. वही, १९।१० ।

३. वही, ३२।१०६, १०७ ।

४. विशेषावश्यकभाष्य, माथा २६७३ :

साम्नाइयं च तिविहं सम्मत्त सुयं तथा चरित्तं च ।

वृत्तिः—त्रिविधं च त्रिभेवं सामायिकम्, अनुस्वारलोपात् सम्यक्त्वं सम्यक्त्वसामायिकम्, श्रुतं श्रुतसामायिकम्, तथा चारित्रं चारित्रसामायिकम् ।

५. आचारांग घृणि, पृष्ठ १७३ : णिहणंति वा गूहणंति वा छायणंति वा एगट्ठा ।

निपातिनो भवन्ति, आजीवनं स्वीकृतं धर्ममनुपालयन्ति । केचित् स्वल्पवीर्या भवन्ति, ये पूर्वमुत्थाय पश्चान्निपतन्ति, न स्वीकृतधर्मस्य निर्वाहं कुर्वन्ति । केचित् पुरुषाः अहिंसाधर्मं प्रति अवीर्या भवन्ति । ते न पूर्वं उत्तिष्ठन्ते न च पश्चान्निपतन्ति । ते गृह एव तिष्ठन्ति ।<sup>१</sup>

हैं और पश्चात् नहीं गिरते, जीवन-पर्यन्त स्वीकृत धर्म का अनुपालन करते हैं । कुछ व्यक्ति स्वल्प शक्ति वाले होते हैं, वे पहले उठते हैं और बाद में गिर जाते हैं । वे स्वीकृत धर्म का निर्वाह नहीं कर पाते । कुछ पुरुष अहिंसा धर्म की प्रतिपालना में शक्तिशून्य होते हैं । वे न पहले उठते हैं और न फिर गिरते हैं । वे घर में ही रहते हैं ।

४३. सेवि तारिसए सिया, जे परिणाय लोमणुस्सिओ ।

सं० — सोऽपि तादृशः स्यात् यः परिजाय लोकमनुश्रितः ।

जो भिक्षु लोक—परिग्रह का त्याग कर, फिर उसका आश्रय लेता है, वह भी वंसा—गृहवासी जंसा हो जाता है ।

भाष्यम् ४३ - स भिक्षुरपि तादृशः—गृहवासिसदृशः स्यात् यः परिग्रहं परिजाय—प्रत्याख्याय पुनरपि तस्य आश्रयणं करोति । भिक्षोः लक्षणत्रयं विद्यते—संयोगविप्रमुक्तत्वं अनगारत्वं भिक्षणशीलत्वं च । गृहस्थस्यापि प्रतिपक्षरूपा लक्षणत्रयी लभ्यते—संयोगकरणं, गृहवासः रसवती च । सति परिग्रहे संयोगादयो भवन्ति । भिक्षुरपि यदि परिग्रही स्यात् तदा तस्य गृहस्थसंबंधेषु त्रिष्वपि लक्षणेषु प्रवृत्तिः संजायते । भिक्षुगृहस्थयोर्मध्ये एषा भेदरेखा—यः अपरिग्रही स एव भिक्षुः, यश्च परिग्रही स साधुवेपेऽपि गृहस्थ एव ।

वह भिक्षु भी गृहवासी के समान है जो परिग्रह का प्रत्याख्यान कर पुनः उसका आश्रय लेता है । भिक्षु के तीन लक्षण हैं—(१) संयोग से विप्रमुक्त (२) अनगारता (३) भिक्षणशीलता । गृहस्थ के भी इसके प्रतिपक्ष रूप तीन लक्षण हैं—(१) संयोग-करण (२) गृहवास (३) भोजन पकाना । परिग्रह होने पर ये तीनों होते हैं । भिक्षु भी यदि परिग्रही होता है तो गृहस्थ-सम्बन्धी इन तीनों लक्षणों में उसकी प्रवृत्ति होती है । भिक्षु और गृहस्थ के बीच यह भेदरेखा है— जो अपरिग्रही है वही भिक्षु है । जो परिग्रही है वह साधुवेश में भी गृहस्थ ही है ।

४४. एयं गियाय मुणिणा पवेदितं—इह आणाकांखी पंडिए अनिहे, पुग्वावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए, सुणिया भवे अकामे अभंभे ।

सं०—एतद् निदाय मुनिना प्रवेदितम्—इह आज्ञाकांक्षी पंडितः अनिहतः पूर्वापररात्रं यतमानः सदा शीलं संप्रेक्ष्य श्रुत्वा भवेद् अकामः अभंभः ।

इस को जान कर भगवान् ने कहा—जिनशासन में प्रव्रजित पंडित मुनि आज्ञा में रुचि रखे, कषाय से आहत न हो, रात्रि के प्रथम और अन्तिम भाग में स्वाध्याय और ध्यान करे, सदा शील का अनुपालन करे, (सोक में सारभूत) तत्त्व को सुन कर काम और कलह से मुक्त बन जाए ।

भाष्यम् ४४—एतत् परिणामवैचित्र्यं निदाय—ज्ञात्वा मुनिना प्रवेदितम्, इह—जिनप्रवचने शरीरविषयेषु अरक्तः सन् आज्ञां काङ्क्षेत् । पण्डितः—पापाद् विरती विषयकषायैरनिहतः\* अस्नेहो वा भवेत् । स पूर्वरत्र-

परिणामों की इस विचित्रता—विभिन्नता को जानकर भगवान् ने कहा—जैन शासन में दीक्षित मुनि शरीर और विषयों के प्रति अनासक्त रह कर आज्ञा की आकांक्षा करे । वह पंडित मुनि पापों से विरत और विषय-कषायों से अनिहत—अपराजित हो अथवा स्नेहमुक्त

१. कोई साधक सिंहवृत्ति से निष्क्रमण करता है और उसी वृत्ति से साधना करता है तथा कोई साधक सिंहवृत्ति से निष्क्रमण करता है और शृगालवृत्ति वाला हो जाता है । ये दो विकल्प अभिनिष्क्रमण के हैं ।

धन्य और शालिभद्र भगवान् महावीर के पास दीक्षित हुए । उन्होंने स्वाध्याय, ध्यान और तपस्या में साधु जीवन बिताया और अन्त में समाधि-मृत्यु का वरण किया । यह उत्थित जीवन का निदर्शन है ।

पुण्डरीक और कुण्डरीक दो भाई थे । कुण्डरीक दीक्षित हुआ । वह रुग्ण हो गया । महाराज पुण्डरीक ने उसकी चिकित्सा करवाई । वह स्वस्थ हो गया और साथ-साथ शिथिल भी । उसने साधुत्व को छोड़ दिया । यह उत्थित होने के बाद पतित होने का निदर्शन है ।

(नायाधम्मकहाओ १।१९) ।

तीसरा विकल्प गृहवासी का है ।

२. द्रष्टव्यम्—४।३२ सूत्रस्थ टिप्पणम् ।

मपररात्रं च यतमानो भवेत् ।<sup>१</sup>

यतमानपदेन<sup>१</sup> धर्मजागरिकया जागरणस्य, आत्मना आत्मनः संप्रेक्षायाः विषयनिवृत्तेः संकल्पाभ्यासस्य च निर्देशाः अवगम्यन्ते । सदा शीलं संप्रेक्षेत । चूर्णो शीलपदस्य अनेके अर्था उपलभ्यन्ते—स्वभावः, अष्टादश-शीलांगसहस्राणि, महाव्रतं, समाधिः, इन्द्रियसंवरः, मनोवाक्कायदण्डविरतिः कषायनिग्रहश्च ।<sup>२</sup>

लोकसारं<sup>३</sup>—अपरिग्रहधर्मं श्रुत्वा अकामः अक्षमश्च भवेत् । अकामः—अलुब्धः इच्छाकाममुक्त इति यावत् । अक्षमः—कलहमुक्तः । सति अकामभाव-सिद्धौ कलहः क्रोधो वा स्वत एव शाम्यति । काममूलः क्रोधः इति तथ्यम् ।<sup>४</sup>

४५. इमेणं चैव जुञ्ज्याहि, किं ते जुञ्ज्णेण ब्रह्मभो ?

सं०—अनेन चैव युध्यस्व, किं ते युद्धेन बाह्यतः ।

इस कर्म-शरीर के साथ युद्ध कर, दूसरों के साथ युद्ध करने से तुझे क्या लाभ ?

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १७५ : अत्र चूर्णिकारेण पूर्व-परम्परायाः निर्देशः कृतः—तत्थ थेरकप्पं पति पुव्वरायं एयजामं जग्गति पच्छिमे रत्तेवि एणं, मज्जे दो यामे सुयति, तत्थवि सत्तितो जागरति, सुयंतोऽवि जयणाए सुयति, णिक्खमपवेसेसु य जयणं करेति, जो एवं अचक्खुविसएवि जतणं करेति सो दिवसओ पुक्खण्हअवरण्हमज्जणहेसु परे च जयति, जिणकप्पिया तत्थियजामे सोतुं सत्तसु जामेसु जयति, एवभवधारणे, अवहितमेव जयति, जं भणितं—सुयंतावि जच्चसा जत्तेति ।

२. पातञ्जलयोग दर्शन (१।१५) की टीका में वैराग्य की तीन अवस्थाएं बतलाई गई हैं—वशीकार एक बार में ही सिद्ध नहीं हो जाता है । उससे पहले वैराग्य की तीन अवस्थाएं हैं—(१) यतमान (२) व्यतिरेक और (३) एकेन्द्रिय । इन तीन अवस्थाओं के बाद वशीकार सिद्ध होता है । विषयों की ओर इन्द्रियों को प्रवृत्त नहीं कराऊंगा । इस प्रकार की चेष्टा करते रहना 'यतमान वैराग्य' है । यतमान वैराग्य स्वल्पाधिक मात्रा में सिद्ध हो जाने पर जब किसी-किसी विषय से राग हट जाता है और किसी-किसी में क्षीण होता रहता है तब व्यतिरेक के साथ अथवा पृथक् करके कहीं-कहीं वैराग्यावस्था बृद्ध करने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है; यह 'व्यतिरेक वैराग्य' कहलाता है । अभ्यास के द्वारा इसको अधीन करने पर जब सभी इन्द्रियां बाह्य विषयों से भली-भांति निवृत्त हो जाती हैं, पर उत्सुकता के रूप में मन में कुछ अनुराग अवशिष्ट रहता है तब उस अवस्था को 'एकेन्द्रिय वैराग्य' कहा जाता है, क्योंकि वह केवल मनोरूप एक ही इन्द्रिय में रहता है ।

हो । वह रात्री के प्रथम और अन्तिम भाग में यतमान रहे ।

'यतमान' पद से धर्म-जागरिका से जागृत रहने, आत्मा की आत्मा से संप्रेक्षा करने, विषयों से निवृत्त होने तथा संकल्प का अभ्यास करने के निर्देश प्राप्त होते हैं । मुनि सदा शील की अनुपालना करे । चूर्ण में 'शील' शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं—स्वभाव, अठारह हजार शीलांग, महाव्रत, समाधि, इन्द्रिय-संवर, मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा से विरति और कषाय-निग्रह ।

'लोकसार'—अपरिग्रह धर्म को सुन कर मुनि अकाम और अक्षम बन जाए । अकाम का अर्थ है अलुब्ध, इच्छाकाम से मुक्त । अक्षम का अर्थ है—कलह से मुक्त । अकाम की सिद्धि होने पर कलह और क्रोध स्वतः ही शांत हो जाते हैं । क्रोध का मूल है—काम, यह तथ्य है ।

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १७५ : तत्थ शीलं सभावो, अट्टारस वा शीलंगसहस्राणि शीलं, सो साहुसहावो । अहवा—

महाव्रतसमाधानं तथैवेन्द्रियसंवरः ।

त्रिदंडविरतित्वं च, कषायानां च निग्रहः ॥

४. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १७५ : णिसामियति अहिंमारो अणयत्तति, एवं पुव्वरत्तअवरत्तसमएसु लोगसारं जोसिज्जासि ।

५. प्रस्तुत सूत्र (४४) में साधु-जीवन की स्थिरता के सात सूत्रों का प्रतिपादन किया गया है । संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

१. आज्ञाप्रियता—आज्ञा शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं—ज्ञान और उपदेश ।

२. विषय-कषाय से अपराजेयता अथवा स्नेहमुक्ति ।

३. पूर्वरात्र और अपररात्र में यतना—रात्री के प्रथम दो प्रहर पूर्वरात्र और शेष दो प्रहर अपररात्र कहलाते हैं । रात्री-जागरण की दो परम्पराएं रही हैं—

१. केवल तीसरे प्रहर में सोना, शेष तीन प्रहर में जागना ।

२. प्रथम और अन्तिम प्रहर में जागना और बीच के दो प्रहरों में सोना ।

रात्री के दो या तीन प्रहरों में जागृत रहकर ध्यान और स्वाध्याय करना, अप्रमत्त रहना 'यतना' है ।

४. शील-संप्रेक्षा—महाव्रतों का अनुशीलन, इन्द्रिय का संयम, मन, वाणी और काया की स्थिरता, क्रोध, मान, माया और लोभ का निग्रह—यह शील है । इसका सतत दर्शन 'शील-संप्रेक्षा' है ।

५. लोकसार का श्रवण—लोक में सारभूत तत्त्व-ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का श्रवण ।

६. कामना का परित्याग ।

७. कलह का परित्याग ।

भाष्यम् ४५ - शिष्याः प्रोचुः—भगवन् ! 'णो निहेञ्ज श्रीरिव' इति निर्देशमवलम्ब्य अनिगूहितबलवीर्याः पराक्रममाणाः स्मः तथापि मोहं समूलमुन्मूलयित् न शक्नुमः, तेन सारपदस्य प्राप्तये किञ्चिदन्यत् श्रोतुमिच्छामः । अस्माकं मनसि सारपदस्य प्राप्तेः प्रबला उत्कण्ठा विद्यते । तदर्थं वयं अशक्यमपि कर्तु-मुत्सहामहे । अपि वयं सिंहेनापि युष्यामहे, शरीरत्याग-मपि कुर्महे ।' एतत् श्रुत्वा भगवता प्रोक्तं—'क्रियमाणं कृतम्' इति सिद्धान्तानुसारं युष्माभिः कथ्यते तत् कृतमेव, परन्तु सारपदस्य प्राप्तये न सिंहेन सह योद्धव्यं, योद्धव्यमस्ति आत्मना । तदानीं भगवता आत्मयुद्धस्य प्रवचनं कृतम्—अनेन इन्द्रियमानसात्मकेन औदारिक-शरीरेण कर्मशरीरेण च युध्यस्व । बाह्ययुद्धेन—सिंहादिना युद्धकरणेन तव किं सेत्स्यति ? यदि भणत 'निर्वाणार्थं वयं प्राणानपि परित्यजामः' तद् एतद् बोद्धव्यम्—

४६. जुद्धारिहं खलु दुर्लभं ।

सं० - युद्धार्हं खलु दुर्लभम् ।

युद्ध के योग्य सामग्री निश्चित ही दुर्लभ है ।

भाष्यम् ४६—युद्धार्हं एतद् औदारिकं शरीरं निश्चितं दुर्लभं वर्तते । अतः यावज्जरा न बाधते, व्याधिर्न वर्धते, इन्द्रियाणि न हीनानि भवन्ति तावद् युध्यस्व ।

४७. जहेत्थ कुसर्लोहं परिष्णा-विवेगे भासिए ।

सं० --यथात्र कुशलैः परिज्ञाविवेकौ भाषितौ ।

भगवान् ने युद्ध के प्रसंग में परिज्ञा और विवेक का प्रतिपादन किया ।

भाष्यम् ४७—अस्मिन् प्रसङ्गे भगवता परिज्ञाविवेकौ प्रतिपादितौ । आत्मयुद्धे परिज्ञाविवेकनाम्नी शस्त्रे प्रयोक्तव्ये ।<sup>१</sup> अनेन सारपदस्य विशिष्टा उपलब्धिः भविष्यति । यूयं पूर्वं आत्मशरीरयोः परिज्ञां कुरुत, तयोर्यथार्थं स्वरूपं जानीत, ततो विवेकं कुरुत । विवेकः निर्ममत्वम् । इदं शरीरं मम नास्ति इति अनुप्रेक्षध्वम् । अनेन विवेकेन—भेदविज्ञानेन मोहसंस्काराः क्षीणाः भविष्यन्ति । इन्द्रियमनोविषयपूर्तिकरणेन शरीरेण

शिष्यों ने कहा—'भगवन् ! शक्ति का गोपन मत करो'— इस निर्देश को मान कर हम अपने बल और शक्ति का गोपन नहीं करते हुए संयम-साधना में पराक्रम कर रहे हैं, फिर भी हम मोह का सम्पूर्ण उन्मूलन नहीं कर पा रहे हैं, इसलिए सारपद (ज्ञान, दर्शन आदि) की प्राप्ति के लिए कुछ और सुनना चाहते हैं । हमारे मन में सारपद की प्राप्ति की प्रबल उत्कंठा है । उसकी प्राप्ति के लिए हम अशक्य कार्य करने के लिए भी उत्साहित हैं । और तो क्या, हम सिंह के साथ भी युद्ध करने और शरीर का त्याग भी करने के लिए तैयार हैं । यह सुन कर भगवान् बोले—'क्रियमाणं कृतं'—इस सिद्धांत के अनुसार तुम जो कह रहे हो, वह तुमने कर डाला । किन्तु सारपद की प्राप्ति के लिए सिंह के साथ युद्ध नहीं करना है । युद्ध करना है अपनी आत्मा के साथ । तब भगवान् ने आत्म-युद्ध के विषय में प्रवचन किया कि तुम इस इन्द्रिय और मानसात्मक औदारिक शरीर और कर्मशरीर के साथ युद्ध करो । सिंह आदि के साथ किए जाने वाले बाह्य युद्ध से तुम्हें क्या सिद्धि मिलेगी ? यदि तुम कहो कि निर्वाण के लिए हम प्राणों का बलिदान भी कर सकते हैं, तो तुम्हें यह जानना चाहिए—

युद्ध के लिए समर्थ इस औदारिक शरीर की प्राप्ति निश्चित ही दुर्लभ है, इसलिए जब तक बुढ़ापा न सताए, व्याधि न बढ़े, इन्द्रियां कमजोर न हों, तब तक युद्ध करते रहो ।

इस प्रसंग में भगवान् ने परिज्ञा और विवेक का प्रतिपादन किया है । आत्म-युद्ध में परिज्ञा और विवेक—इन दो शस्त्रों का प्रयोग किया जाए । इससे सारपद की विशिष्ट उपलब्धि होगी । तुम सबसे पहले आत्मा और शरीर की परिज्ञा करो, उनके यथार्थ स्वरूप को जानो और फिर दोनों का विवेक करो । विवेक का अर्थ है—निर्ममत्व । 'यह शरीर मेरा नहीं है'—इस प्रकार अनुप्रेक्षा करो । इस विवेक-भेदविज्ञान से मोह के संस्कार क्षीण होंगे । इन्द्रियों के तथा मन के विषयों की सम्पूर्ति करने में शरीर से जितना-जितना सहयोग

१. आत्म-युद्ध कर्म को क्षीण करने का युद्ध है । इस युद्ध के दो मुख्य शस्त्र हैं—परिज्ञा और विवेक—जानो और असहयोग करो । विवेक कई प्रकार का होता है । परिग्रह-विवेक—धन, धान्य, परिवार आदि से पृथक्त्व की

अनुभूति । शरीर-विवेक—शरीर से भिन्नता की अनुभूति । भाव-विवेक—निर्ममत्व की अनुभूति । कर्म-विवेक—कर्म से पृथक्त्व की अनुभूति ।



यावान् यावान् सहयोगः तावान् तावान् मोहस्योपचयः,  
यावान् यावान् असहयोगः तावान् तावान् मोहस्यापचयः ।  
तेन यूयं विवेकाभ्यासं कुरुत ।

प्राप्त होता है, उतनी ही मात्रा में मोह का उपचय होता है और  
जितना-जितना असहयोग प्राप्त होता है, उतनी ही मात्रा में मोह  
का अपचय होता है। इसलिए साधको! तुम विवेक—भेदज्ञान  
का अभ्यास करो।

४८. च्युए ह बाले गन्माइसु रज्जइ ।

सं०—च्युतः खलु बालः गर्भादिषु रज्यति ।

धर्म से च्युत होने वाला अज्ञानी साधक गर्भ आदि में फंस जाता है ।

भाष्यम् ४८—यो मुनिः एवं सुदुर्लभं लोकसारं—विवेकं  
लब्ध्वा प्रमाद्यति न तु आत्मयुद्धे प्रवृत्तो भवति स धर्मात्  
च्युतः गर्भादिषु रज्यति ।<sup>१</sup> 'आदि'शब्दात् जन्ममरण-  
दुःखानां परिग्रहः ।

जो मुनि इस प्रकार सुदुर्लभ लोकसार—विवेक को प्राप्त कर  
प्रमाद करता है, आत्मयुद्ध में प्रवृत्त नहीं होता, वह धर्म से च्युत  
होकर गर्भ आदि में फंस जाता है। आदि शब्द से जन्म-मरण तथा  
दुःखों का ग्रहण किया गया है।

४९. अस्मिं चेत्यं पन्वुच्चति, रुवंसि वा छणंसि वा ।

सं०—अस्मिन् चेतत् प्रोच्यते, रूपे वा क्षणे वा ।

इस अर्हत् शासन में यह बलपूर्वक कहा जाता है—रूप और हिंसा में आसक्त होने वाला च्युत हो जाता है ।

भाष्यम् ४९—अस्मिन् प्रवचने प्रोच्यते—रूपे वा क्षणे  
वा यो रज्यति स धर्मात् च्युतः गर्भादिषु पर्यटनं  
करोति ।

इस अर्हत् शासन में कहा जाता है—जो रूप और क्षण—  
हिंसा में आसक्त होता है वह धर्म से च्युत होकर गर्भ आदि में पर्यटन  
करता है।

रूपम्—चक्षुरिन्द्रियस्य विषयः इन्द्रियविषयः पदार्थो  
वा ।<sup>२</sup> क्षणम्—हिंसा ।

रूप का अर्थ है—चक्षुइन्द्रिय का विषय, इन्द्रिय-विषय  
अथवा पदार्थ । क्षण का अर्थ है—हिंसा ।

५०. से ह एगे संविद्धपहे मुणी, अण्णहा लोगमुवेहमाणे ।

सं०—स खलु एकः संविद्धपथः मुनिः अन्यथा लोकमुपेक्षमाणः ।

केवल वही मुनि अपने पथ पर आरूढ़ रहता है, जो लोक को भिन्न दृष्टि से देखता है ।

भाष्यम् ५०—रूपासक्तो मनुष्यो जगति रूपमेव सारं  
मन्यते, हिंसासक्तो मनुष्यश्च हिंसामेव समस्यायाः  
समाधानं मन्यते । मुनेः दृष्टिकोणः परिवर्तितो भवति,  
तेन स तं विषयलोकं हिंसालोकं च अन्यथा उपेक्षते । स  
रूपे अनासक्तः सन् मन्यते क्षणभंगुरमिदं परिणामकाले  
दुःखदं च । तथा स मन्यते हिंसास्ति सर्वासाम् समस्यानां  
मूलम् । हिंसाप्रसूतानि सर्वाणि दुःखानि च । य एवं मन्यते  
स एव एको मुनिः संविद्धपथो भवति, स्वीकृतात् मार्गत्  
च अच्युतः इति तात्पर्यम् ।

जो मनुष्य रूप से आसक्त होता है वह जगत् में रूप को ही  
सार मानता है और हिंसा में आसक्त मनुष्य हिंसा को ही समस्या का  
समाधान मानता है । मुनि का दृष्टिकोण भिन्न होता है, इसलिए वह  
उस विषयलोक और हिंसालोक को अन्यथा देखता है, भिन्नदृष्टि  
से देखता है । वह रूप में अनासक्त रह कर यह मानता है कि यह  
रूप क्षणभंगुर है, परिणाम-काल में दुःख देने वाला है । वह यह भी  
मानता है कि हिंसा सभी समस्याओं का मूल है । सभी दुःख हिंसा से  
उत्पन्न होते हैं । जो ऐसा मानता है केवल वही मुनि अपने पथ पर  
आरूढ़ रहता है । इसका तात्पर्य है कि वह अपने स्वीकृत मार्ग से  
च्युत नहीं होता ।

१. आचारारं चूर्णि, पृष्ठ १७६ : गन्मातिसु दुक्खविसेसेसु, ते  
य गन्माति पसवकोमारजोव्वणमज्झिममरणणरगदुक्खावसाणे  
संसारपबंधो, अहंवा गन्मज्झममरणणरगदुक्खेसुत्ति एतेसु  
गर्भाविसु देहविगप्पेसु संसारविगप्पेसु वा ।

२. वही, पृष्ठ १७६ : रज्जति वा पन्वुच्चति वा उज्जति वा एगट्टा ।

३. वही, पृष्ठ १७६ : 'रुवंसि वा', रुधप्रधानविषयाः तेण  
तण्हणं, उवसं च—

'चाक्षुषा चक्षुषा येन, विषया रूपिणिस्सिता ।

रूपप्रेठारच सर्वेपि, रूपस्य प्रहणं ततः ।'

५१. इति कर्मं परिणय, सव्वसो से ण हिंसति । संजमति णो पगग्भति ।

सं०—इति कर्म परिज्ञाय सर्वशः स न हिंसति । संयच्छते नो प्रगल्भते ।

इस प्रकार कर्म को पूर्ण रूप से जान कर वह किसी की हिंसा नहीं करता । वह इन्द्रियों का संयम करता है, उनका उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता ।

भाष्यम् ५१—एवं कर्म तस्य बन्धहेतुं च परिज्ञाय सर्वशः स प्राणिनो न हिनस्ति । अहिंसाया मूलमस्ति संयमः, अतः स इन्द्रियाणां मनसः प्रवृत्तीनां च संयमं करोति । संयमस्य मूलमस्ति लज्जा आत्मानुशासनं वा । लज्जावान् पुरुषः रहस्यमपि अनाचरणीयं नाचरति, न घृष्टतामवलम्बते ।

इस प्रकार वह कर्म और उसके बंध-हेतु को पूर्ण रूप से जान कर प्राणियों की हिंसा नहीं करता । अहिंसा का मूल है संयम, इसलिए वह इन्द्रियों और मन की प्रवृत्तियों का संयमन करता है । संयम का मूल है—लज्जा अथवा आत्मानुशासन । लज्जावान् पुरुष एकांत में भी अनाचरणीय का आचरण नहीं करता । वह उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता ।

५२. उवेहमाणो पत्तेयं सायं ।

सं०—उपेक्षमाणः प्रत्येकं सातम् ।

सुख अपना-अपना होता है—साधक इसको निकटता से देखे ।

भाष्यम् ५२—सुखं दुःखं च प्रत्येकं अस्ति, एतद् आलम्बनसूत्रं बहुधा गीतमस्ति प्रस्तुतागमे । 'प्रत्येकं सातम्'—एतद् अहिंसायाः संयमस्य च आलम्बनं भवति ।

'सुख और दुःख अपना-अपना होता है'—यह आलम्बनसूत्र प्रस्तुत अगम में अनेक बार बताया जा चुका है । 'सुख अपना-अपना होता है'—यह अहिंसा और संयम का आलम्बन बनता है ।

५३. वण्णएसो णारभे कंचणं सव्वलोए ।

सं०—वर्णदेशी नारभेत कञ्चन सर्वलोके ।

मुनि यश का इच्छुक होकर किसी भी क्षेत्र में कुछ भी न करे ।

भाष्यम् ५३—वर्णः<sup>२</sup>—यशः । तदादिश्य सर्वलोके किञ्चिदपि नारभेत । यथा दशवैकालिके—  
नो कित्तिवण्णसद्दिसिलोगड्डयाए तवमहिट्ठेज्जा ।<sup>३</sup>

वर्णः—रूपम् । तदर्थं वमनविरेचनस्नेहपानादीनां प्रयोगो न कर्त्तव्यः, हस्तपादादीनां प्रक्षालनं वा ।

लोकः<sup>४</sup>—जगत् शरीरं वा ।

वर्ण का अर्थ है—यश । अनगर यश का इच्छुक होकर किसी भी क्षेत्र में कुछ भी न करे । दशवैकालिक सूत्र में कहा है—मुनि कीर्ति, वर्ण, शब्द तथा श्लोक के लिए तप न करे ।

वर्ण का दूसरा अर्थ है—रूप । मुनि अपने सौन्दर्य की अभिवृद्धि के लिए वमन, विरेचन, स्नेहपान आदि का प्रयोग न करे, हाथ-पैर आदि का प्रक्षालन न करे ।

लोक का अर्थ है—जगत् अथवा शरीर ।

५४. एगप्पमुहे विदिमप्पइण्णे, निविण्णचारो अरए पयासु ।

सं०—एकात्ममुखः विदिशाप्रतीर्णः निविण्णचारी अरतः प्रजासु ।

मुनि अपने लक्ष्य की ओर मुझ किए चले, वह विरोधी दिशाओं का धार पा जाए, विरक्त रहे, स्त्रियों में रत न बने ।

१. द्रष्टव्यम्—१।१२१, १२२; २।२२, २।७८; ५।२४ ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १७८ : वण्णिज्जति जेण वण्णो, जं भणितं—तवसोयसंजमो एव आयजसा ।

३. दसवेअलियं १।४ सूत्र ६ ।

४. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १७८ : लोको निविहो—उड्डाइ, कायलोगो वा ।

भाष्यम् ५४—साधकः पुरुषः एकात्ममुखो भवेत् । तस्य चित्तं अभिमुखता वा केवलं आत्मानं प्रति स्यात् न तु पदार्थं प्रति । सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्याणि दिशाः, तद्व्यतिरिक्ताः विदिशाः, यथा—एकांताग्रहात्मकः दृष्टिकोणः सम्यक्त्वस्य विदिशा, हिंसासमर्थकानि शास्त्राणि ज्ञानस्य विदिशाः, विषयकषायाश्चारित्र्यस्य विदिशाः । एताः विदिशाः आत्मना तीर्णाः प्रतीर्णा वा भवेयुः । स निर्विण्णचारी भवेत्—पदार्थं स्वजनं शरीरं प्रति च निर्वेदं कुर्यात् । प्रजाः—स्त्रियः । तासु रतिं न कुर्यात् ।

साधक पुरुष एकात्ममुख हो । उसका चित्त अथवा उसकी अभिमुखता केवल आत्मा के प्रति रहे, पदार्थ के प्रति नहीं । सम्यक्त्व, ज्ञान और चारित्र्य—ये दिशाएं हैं । उनसे व्यतिरिक्त सभी विदिशाएं हैं । जैसे—एकांत आग्रही दृष्टिकोण सम्यक्त्व की विदिशा है । हिंसा के समर्थक शास्त्र ज्ञान की विदिशाएं हैं । विषय और कषाय चारित्र्य की विदिशाएं हैं । मुनि इन विदिशाओं को आत्मा के द्वारा तैर जाए, उनका पार पा जाए । वह निर्विण्णचारी हो—पदार्थ, स्वजन और शरीर के प्रति विरक्त रहे । प्रजा का अर्थ है—स्त्री । वह उनमें रत न बने ।

५५. से वसुमं सव्व-समन्नागय-पण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्जं पावं कम्मं ।

सं०—स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना अकरणीयं पापं कर्म ।

संयमी साधक के लिए पूर्ण सत्य-प्रज्ञ अन्तःकरण से पाप-कर्म अकरणीय है ।

भाष्यम् ५५—वसुमान्—संयमी । तादृशस्य साधकस्य सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना पापं कर्म अकरणीयं भवति । यस्मिन् सर्वविषयग्राहिणी सत्य-विषयग्राहिणी वा प्रज्ञा उदिता भवति स एव पापकर्म अकरणीयं मन्यते ।

वसुमान् का अर्थ है—संयमी । ऐसे संयमी साधक के लिए पूर्ण सत्यप्रज्ञ अन्तःकरण से पाप-कर्म अकरणीय होता है । जिस साधक में सभी विषयों को ग्रहण करने वाली अथवा सत्य विषयग्राहिणी प्रज्ञा का उदय हो जाता है, वही पापकर्म को अकरणीय मानता है ।

५६. तं णो अन्नेसि ।

सं०—तन्नो अन्वेषयेत् ।

साधक उसका अन्वेषण न करे ।

भाष्यम् ५६—प्रज्ञावतः पापं कर्म अकरणीयं, तस्मात् तस्य अन्वेषणं न कुर्यात्, तस्य सम्मुखमपि न पश्येत् ।

प्रज्ञावान् साधक के लिए पापकर्म अकरणीय होता है, इसलिए वह उसका अन्वेषण न करे, उसके सामने भी न देखे ।

५७. जं सम्मं ति पासहा, तं मोणं ति पासहा । जं मोणं ति पासहा, तं सम्मं ति पासहा ।

सं०—यत् सम्यगिति पश्यत, तत् मोनं इति पश्यत । यत् मोनं इति पश्यत, तत् सम्यगिति पश्यत ।

तुम देखो—जो सम्यक् है, वह ज्ञान है । जो ज्ञान है, वह सम्यक् है ।

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १७८ : 'एगप्पमुहे' एगं अस्स मुहं एगचित्ती—एगमणो सारपदाभिमुहो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १९२ : एको मोक्षोऽशेषमल-कलंकरहितत्वात् संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात् तत्र प्रगतं मुखं यस्य स तथा, मोक्षे तदुपाये वा वत्तं-दृष्टिर्न कञ्चन पापारम्भमारभेत इति ।

(ग) जिसका मुख लक्ष्य की ओर होता है, वही विदिशाओं का पार पा सकता है । विदिशाओं का पार पाने के सकल्प-सूत्र हैं—

१. मैं अज्ञान को छोड़ता हूँ, ज्ञान (आत्मानुभव) को स्वीकार करता हूँ ।

२. मैं मिथ्यात्व को छोड़ता हूँ, सम्यक्त्व को स्वीकार करता हूँ ।

३. मैं अचारित्र्य को छोड़ता हूँ, चारित्र्य को स्वीकार करता हूँ ।

आसक्ति और रति—ये दोनों लक्ष्य से भटकाने वाले हैं । विदिशाओं का पार पाने वाला इन दोनों के भटकाव से मुक्त होता है ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १७९ : वसति तंमि गुणा इति वसु, तं च वसुं धणं भावे संजमो जस्स अत्थि सो वसुमं ।

३. चूर्णिकृता 'अण्णेसि' इति पवस्य 'अण्णेसां' इति ध्याख्यानं कृतम्—'तण्णो अण्णेसि सयाणं करिज्जा' (चूर्णि, पृष्ठ १७९)।

भाष्यम् ५७—मौनं—संयमः । सम्यक्—सम्यक्त्वम् । निश्चयनयानुसारं यः संयमी स एव सम्यग्दृष्टिर्भवति, तेन सम्यक्त्वसंयमयोरविनाभावोऽत्र दर्शितः । अत्र सम्यक्पदेन ज्ञानसम्यक्त्वयोर्द्वयोरपि ग्रहणं जायते । उक्तं च चूर्णौ—‘जं सम्मत्तं तत्प गियमा णाणं, जत्थ णाणं तत्प गियमा सम्मत्तं, अतो तद्दुमवमवि सम्मत्तं ।’<sup>२</sup> मौनं ज्ञानमित्यपि सम्मतम् ।

मौन का अर्थ है—संयम और सम्यक् का अर्थ है—सम्यक्त्व । निश्चयनय के अनुसार जो संयमी होता है वही सम्यग्दृष्टि होता है । प्रस्तुत आलापक में सम्यक्त्व और संयम का अविनाभाव बताया गया है । यहां ‘सम्यक्’ शब्द से ज्ञान और सम्यक्त्व दोनों का ग्रहण किया गया है । चूर्ण में कहा है—जहां सम्यक्त्व है वहां निश्चितरूप से ज्ञान है और जहां ज्ञान है वहां निश्चित रूप से सम्यक्त्व है । इसलिए दोनों सम्यक्त्व हैं । मौन का अर्थ ज्ञान भी सम्मत है ।

५८. ण इमं सककं सिद्धिलेहि अद्दिज्जमाणेहि गुणासाएहि बंकसमायारेहि पमत्तेहि गारमावसंतेहि ।

सं० —न इदं शक्यं शिथिलैः आर्द्रियमाणैः गुणास्वादैः वक्रसमाचारैः प्रमत्तैः अगारमावसद्भिः ।

जिनकी धृति मन्व है, जो स्नेहार्द्र हैं, विषयलोलुप हैं, मायापूर्ण आचार वाले हैं, प्रमत्त हैं और जो गृहवासी हैं, उनके लिए यह ज्ञान शक्य नहीं है ।

भाष्यम् ५८—इदं मौनं तेषां शक्यं नास्ति ये तपसि संयमे च शिथिलाः सन्ति, न सन्ति च धृतिमन्तः, ये सन्ति स्नेहार्द्राः—स्वजने ममत्ववन्तः उपकरणे च आसक्ताः, ये गुणेषु—शब्दादिविषयेषु स्वदन्ते अथवा सातं मन्यन्ते, ये सन्ति वक्रसमाचाराः—अकृत्यस्थान-मासेव्य नालोचनां कुर्वन्ति, ये सन्ति प्रमत्ताः—धर्म-साधनां प्रति अनुत्साहवन्तः, ये सन्ति अगारमावसन्तः—येषां एवंविधा चिंता भवति—न गृहस्थतुल्यः आश्रमोस्तीति ।

यह मौन की आराधना उनके लिए शक्य नहीं है जो तप और संयम में शिथिल हैं, जो धृतिमान् नहीं हैं, जो स्नेहार्द्र हैं—स्वजनों के प्रति ममत्व रखने वाले और उपकरणों में आसक्त हैं, जो गुणों शब्द आदि विषयों में लोलुप हैं अथवा जो सुख-स्वादु हैं, जो मायापूर्ण आचार वाले हैं—अकरणीय का आचरण कर आलोचना नहीं करते, जो प्रमत्त हैं—धर्म की साधना के प्रति अनुत्साहित हैं, जो गृहवासी हैं—जो ऐसा चिंतन करते हैं कि गृहस्थ-तुल्य कोई आश्रम नहीं है ।

इदं तेषामेव शक्यं ये सन्ति धृतिमन्तः, अपरिग्रहाः, विषयविरताः, ऋजवः, अप्रमत्ताः, गृहं त्यक्तुं समर्थाश्च ।

यह मौन की साधना उनके लिए ही शक्य है जो धृतिमान् हैं, अपरिग्रही हैं, विषयों से विरत हैं, ऋजु हैं, अप्रमत्त हैं और जो गृहवास को छोड़ने में समर्थ हैं ।

५९. मुणी मोणं समायाए, धुणे कम्म-सरीरगं ।

सं० —मुनिः मौनं समादाय धुनीयात् कर्मशरीरकम् ।

मुनि ज्ञान को प्राप्त कर कर्म-शरीर को प्रकम्पित करे ।

१. आचारांग चूर्ण, १७९ : णिच्छयणयस्स जो चरिती सो सम्मविट्ठी ।

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १७९ ।

(ख) व्यवहारनय की दृष्टि से ज्ञान और आचार में दूरी मानी जाती है । निश्चयनय के अनुसार उनमें कोई दूरी नहीं होती । सम्यग् दर्शन और सम्यग् ज्ञान की परिणति सम्यक् चारित्र्य है । प्रस्तुत सूत्र का प्रतिपाद्य है—ज्ञान का सार आचार है । आचार-शून्य ज्ञान अन्ततः समीचीन कैसे बना रह सकता है ? सूत्रकार को सम्यग् ज्ञान और सम्यग् आचरण की एकता

इष्ट है । उनके अनुसार सम्यग् ज्ञान सम्यग् आचरण होने की सूचना देता है और सम्यग् आचार सम्यग् ज्ञान होने की सूचना देता है । एक को देखकर दूसरे को सहज ही देखा जा सकता है ।

‘सम्म’ शब्द का संस्कृत रूप साम्य भी किया जा सकता है । यहां साम्य का अर्थ प्रासंगिक भी है । उसके सन्दर्भ में प्रस्तुत सूत्र का अनुवाद इस प्रकार होगा—

तुम देखो, जो साम्य है, वह साधुत्व है ।  
जो साधुत्व है, वह साम्य है ।

६०. पतं लूहं सेवन्ति, वीरा समत्तर्वासिणो ।

सं०—प्रान्तं रूक्षं सेवन्ते वीराः समत्वदर्शिनः ।

समस्वदशां वीर प्रान्त—नीरस और रूक्ष आहार का सेवन करते हैं ।

६१. एस ओहंतरे मुणो, तिण्णे मुत्ते विरए विद्याहिए ।—त्ति बेमि ।

सं०—एष ओषन्तरः मुनिः तीर्णः मुक्तः विरतः व्याहृतः । —इति ब्रवीमि ।

जन्म-मृत्यु के प्रवाह को तरने वाला यह मुनि तीर्ण, मुक्त और विरत कहलाता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ५९-६१—द्रष्टव्यं २/१६३, १६४, १६५ क्रमशः  
सूत्राणां भाष्यम् ।

इन तीन सूत्रों ५९, ६०, ६१ की व्याख्या के लिए देखें—क्रमशः  
२।१६३, १६४ और १६५ सूत्रों का भाष्य ।

### चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

६२. ग्रामानुग्राम दूइज्जमाणस्स दुज्जातं दुप्परकान्तं भवति अव्यक्तस्स भिक्षुणो ।

सं०—ग्रामानुग्रामं दूयमानस्य दुर्यातं दुष्पराक्रान्तं भवति अव्यक्तस्य भिक्षोः ।

जो भिक्षु अव्यक्त अवस्था में अकेला ग्रामानुग्राम विहार करता है, वह उपद्रवों से अभिभूत होता है और अबांछनीय पराक्रम करता है ।

भाष्यम् ६२—इदानीं अव्यक्तस्य एकलविहारे जायमानान् अपायान् दर्शयति सूत्रकारः । अव्यक्तः श्रुतेन वयसा च भवति । येन आचारप्रकल्पः अधीतः—अर्थतोऽधिगतः अथवा येन पठितेन एकलविहारप्रतिमा-योग्यो भवति स श्रुतेन व्यक्तः । येन आचारप्रकल्पो नाधीतः स श्रुतेन अव्यक्तः । षोडशवर्षादधो विद्यमानः वयसा अव्यक्तः । तस्य भिक्षोः ग्रामानुग्रामं दूयमानस्य<sup>१</sup> दुर्यातं दुष्पराक्रान्तं भवति ।

अनुग्रामः—विह्रियमाणग्रामादन्यः ग्रामः । दुर्यातं दुष्पराक्रान्तम्—अव्यक्तस्य भिक्षोः एकलविहाराय गमनं उपद्रवैरभिभूतं भवति तथा तस्य पराक्रमोऽपि साधना-पथात् प्रतिकूले मार्गे प्रवर्तते ।<sup>२</sup>

प्रस्तुत आलापक में सूत्रकार अव्यक्त—अगीतार्थ साधक के एकलविहार में होने वाले दोषों का दिग्दर्शन कराते हैं । साधक श्रुत-ज्ञान तथा अवस्था से अव्यक्त होता है । जिसने आचारप्रकल्प (निशीथ सूत्र) को पढ लिया है, उसके अर्थ को अधिगत कर लिया है अथवा जिसके पढने से एकल-विहार-प्रतिमा की योग्यता सम्पादित कर ली है, वह ज्ञान से व्यक्त है । जिसने आचार-प्रकल्प नहीं पढा, वह ज्ञान से अव्यक्त है । जो सोलह वर्ष से कम है, वह अवस्था से अव्यक्त है । उस भिक्षु का ग्रामानुग्राम विहरण करना दुर्यात और दुष्पराक्रान्त होता है ।

अनुग्राम का अर्थ है विहरण किए जाने वाले ग्राम से दूसरा ग्राम । दुर्यात और दुष्पराक्रान्त का अर्थ है—अव्यक्त भिक्षु का अकेले विहरण करना उपद्रवों से अभिभूत होना है और उसका पराक्रम भी साधना मार्ग से प्रतिकूल मार्ग में ही लगता है ।

१. 'दूइ-च'—परितापे इति विवाविगणस्थस्य धातोः 'दूयमान' इति शानप्रत्ययरूपं निष्पद्यते, न तु 'दुं गतौ' इति धातोः । अस्मिन् विषये वृत्तिकारस्य मतमिदम्—'दूयमानस्य' अनेकार्थत्वाद् धातूनां विहरतः ।' (वृ० प० १९३)

चूणिकारेण इदं मतं अन्यथा व्याख्यातम्—'हेमंतगिम्हासु वोलु रिज्जति, जति बोहि वा पावेहि रिज्जति दूइज्जति दूइज्जं ।' (चूणि, पृष्ठ १८१)

२. शिष्य ने पूछा—'भंते ! अव्यक्त कौन होता है ?'  
आचार्य ने कहा—

कुछ व्यक्ति ज्ञान और अवस्था—दोनों से अव्यक्त होते हैं ।  
कुछ व्यक्ति ज्ञान से अव्यक्त और अवस्था से व्यक्त होते हैं ।  
कुछ व्यक्ति ज्ञान से व्यक्त और अवस्था से अव्यक्त होते हैं ।  
कुछ व्यक्ति ज्ञान और अवस्था—दोनों से व्यक्त होते हैं ।  
सोलह वर्ष की अवस्था से ऊपर का व्यक्ति अवस्था से व्यक्त होता है और नौवें पूर्व की तीसरी आचार-वस्तु तक को जानने वाला ज्ञान से व्यक्त होता है ।

जो मुनि ज्ञान और अवस्था—दोनों से व्यक्त होता है वह प्रयोजनवश अकेला विहार कर सकता है ।

६३. वयसा वि एग्रे बुद्ध्या कुप्यन्ति मानवाः ।

सं०—वचसाऽपि एके उक्ताः कुप्यन्ति मानवाः ।

अव्यक्त मनुष्य थोड़े-से प्रतिकूल वचन से भी कुपित हो जाते हैं ।

भाष्यम् ६३—एके केचिद् अव्यक्ता मानवाः अप्रियेण वचसा संबोधिताः अपि कुप्यन्ति, प्रतिकूलां वाचमाकर्ण्य आवेशाभिभूता भवन्ति । एष साधनायामुपद्रवः ।

कुछ एक अव्यक्त मनुष्य अप्रिय वचन से संबोधित होने पर भी कुपित हो जाते हैं । वे प्रतिकूल वचन को सुन कर आवेश से अभिभूत हो जाते हैं । यह साधना में उपद्रव है ।

६४. उन्नयमाणे य णरे, महता मोहेण मुञ्जति ।

सं०—उन्नयमानश्च नरः महता मोहेन मुह्यति ।

अव्यक्त मनुष्य अहंकारग्रस्त होकर महान् मोह से मूढ हो जाता है ।

भाष्यम् ६४—अव्यक्तो नरः लोकैः कृतां प्रशंसामाकर्ण्य उन्नयमानः—अहंकाराभिभूतः महता मोहेन मुह्यति । एषोऽपि साधनायामुपद्रवः । अव्यक्तः प्रशंसा-पराजितः कदाचित् दर्शनमोहेन मूढो भवति कदाचिच्च चारित्रमोहेन ।

अव्यक्त पुरुष लोकों द्वारा की गई प्रशंसा को सुनकर अहंकार से पराभूत हो महान् मोह से मूढ हो जाता है । यह भी साधना में उपद्रव है । अव्यक्त मनुष्य प्रशंसा से पराजित होकर कभी दर्शनमोह से मूढ होता है और कभी चारित्रमोह से मूढ होता है ।

६५. संवाहा बहवे भुञ्जो-भुञ्जो दुरतिक्रमा अजानतो अपासतो ।

सं०—सम्बाधाः बहवः भूयो भूयो दुरतिक्रमाः अजानतः अपश्यतः ।

अज्ञानी और अद्रष्टा मनुष्य बार-बार आने वाली बहुत सारी बाधाओं का पार नहीं पा सकता ।

भाष्यम् ६५—तस्य अजानतः अपश्यतः अव्यक्तस्य बहवः संवाधाः—परीषहोपसर्गाः पुनः पुनः अवतरन्ति । स न जानाति न पश्यति एते परीषहोपसर्गाः कथं सोढव्याः भवन्ति, एतेषां सहने को नाम लाभः असहने च को नाम दोषः ? तेन तस्य ते दुरतिक्रमाः भवन्ति ।

उस अज्ञानी, अद्रष्टा और अव्यक्त पुरुष के समक्ष अनेक बाधाएं—परीषह और उपसर्ग बार-बार अवतरित होते रहते हैं । वह नहीं जानता-देखता कि इन परीषहों और उपसर्गों को कैसे सहा जाये और इनको सहने से क्या लाभ होता है और न सहने से क्या हानि होती है ? इसलिए उस व्यक्ति के लिए वे परीषह और उपसर्ग दुरतिक्रम हो जाते हैं ।

६६. एयं ते मा होउ ।

सं०—एतत् तव मा भवतु ।

‘मैं अव्यक्त अवस्था में अकेला विहार करूँ’—यह तुम्हारे मन में न हो ।

भाष्यम् ६६—अव्यक्तावस्थायां ‘अहमेकाकी विहरामि’ एतादृशः संकल्पः तव मनसि मा भवतु, एष शिष्यं प्रति गुरोरुपदेशः ।

गुरु शिष्य को उपदेश देते हैं—‘शिष्य ! अव्यक्त अवस्था में तेरे मन में यह संकल्प न हो कि मैं अकेला विहरण करूँ ।’

यदि अव्यक्तः एकाकिविहारं कर्तुमिच्छेत् तदा आचारव्यवस्थाया विघटनं जायते । अहंछासने सामुदायिकसाधनापद्धतिः निर्विकल्पा नास्ति । एकाकि-साधनाऽपि सम्मताऽस्ति, किन्तु तस्याः अहंता अस्ति निर्दिष्टा । अहंः पुरुषः एकाकिविहारस्य संकल्पं कर्तुमर्हति । अनहं लक्ष्यीकृत्यैव एष निषेधो वर्तते ।

यदि अव्यक्त अवस्था में मुनि अकेला विहरण करने की इच्छा करता है तब आचार-व्यवस्था का विघटन हो जाता है । अहंत् शसन में सामुदायिक साधना-पद्धति ही मान्य नहीं है, ‘एकाकी’ साधना भी सम्मत है । किन्तु वहाँ ‘एकाकी’ साधना की अहंता निर्दिष्ट है । एकाकी साधना के लिए योग्य व्यक्ति ही ‘एकाकी विहार’ का संकल्प कर सकता है । जो एकाकी साधना के योग्य नहीं है, उसी को लक्ष्य कर यह निषेध किया गया है ।

## ६७. एयं कुशलस्स दंसणं ।

सं०—एतत् कुशलस्य दर्शनम् ।

यह महावीर का दर्शन है ।

भाष्यम् ६७—अव्यक्तस्य एकाकिविहारं कुर्वतः ये दोषा उपदिष्टाः, तदेतत् कुशलस्य—भगवतो महावीरस्य दर्शनमस्ति ।

एकाकी विहार करने वाले अव्यक्त पुरुष के जो दोष उपदिष्ट हैं, वही दर्शन कुशल—भगवान् महावीर का है ।

## ६८. तद्दृष्टीए तम्मोत्तीए तत्पुरक्कारे, तस्सण्णी तन्निवेशणे ।

सं०—तद्दृष्टिकः तन्मूतिकः तत्पुरस्कारः तत्संज्ञी तन्निवेशनः ।

मुनि महावीर के दर्शन में दृष्टि नियोजित करे, उसमें तन्मय हो, उसे प्रमुख बनाए, उसकी स्मृति में एक रस हो और उसमें तन्निष्ठ हो जाए ।

भाष्यम् ६८—साधकपुरुषः तस्मिन् कुशलदर्शने दृष्टि नियोज्य विहरेत्—तद्दृष्टिको भवेत् । यदुपदिष्टं तस्य अनुपालनं कर्तुं तन्मयः तन्मूतिको वा भवेत् । उपदिष्टं निरन्तरं सम्मुखीकृत्य तत्पुरस्कारः स्यात् । तस्य स्मृतौ एकरसो भूत्वा तत्संज्ञी भवेत् तथा तस्मिन् चित्तस्य निवेशनं कृत्वा तन्निवेशनः स्यात् ।<sup>१</sup>

साधक पुरुष महावीर के उस दर्शन में दृष्टि नियोजित कर तद्दृष्टिक बन जाए । जो उपदिष्ट है उसकी अनुपालना करने के लिए तन्मय अथवा तन्मूतिक बन जाए । उस उपदेश को सदा सामने रख कर तत्पुरस्कार—उसे प्रमुख बना कर चले । उसकी स्मृति में एकरस होकर तत्संज्ञी बन जाए और उसमें दत्तचित्त होकर तन्निष्ठ हो जाए ।

## ६९. जयंविहारी चित्तनिपाती पथनिद्ध्यायी पलीवाहरे, पासिय पाणे गच्छेज्जा ।

सं०—यत् विहारी चित्तनिपाती पथनिद्ध्यायी 'पलीवाहरे' दृष्ट्वा प्राणान् गच्छेत् ।

मुनि संयमपूर्वक चित्त को गति में एकाग्र कर पथ पर दृष्टि टिका कर चले । जीव-जन्तु को देख कर पंर को संकुचित कर ले और मार्ग में आने वाले प्राणियों को देख कर चले ।

भाष्यम् ६९—इदानीं ईर्यापथविधिं निर्दिशति सूत्रकारः । मुमुक्षुः पुरुषः संयमपूर्वकं विहरणं कुर्यात्, तस्य चित्तं गमन एव निपतितं स्यात्, अहं गच्छामि इति क्रियायामेव स्मृतिं नियोजयेत्, तस्य दृष्टिः गमनपथ एव निबद्धा स्यात्, प्रतिपदं पन्थानं दृष्ट्वा व्रजेत् । अभिमुख-मागच्छतः प्राणिनो दृष्ट्वा स्वपादयोः संकोचं कुर्यात् ।<sup>२</sup> पथि विहरतः प्राणिनो दृष्ट्वा गच्छेत् ।

प्रस्तुत आलापक में सूत्रकार ईर्यापथविधि का निदर्शन करते हैं । मुमुक्षु पुरुष संयमपूर्वक विहरण करे । उसका चित्त गमन में ही लीन हो जाए । 'मैं चल रहा हूँ' इस गमन-क्रिया में ही वह स्मृति का नियोजन करे । उसकी दृष्टि गमन-मार्ग पर ही लगी रहे । वह पग-पग पर मार्ग को देखता हुआ चले । चलते समय मार्ग में सामने आने वाले प्राणियों को देख कर अपने पैरों को संकुचित कर ले, वहीं रोक ले । मार्ग में आने वाले प्राणियों को देख कर चले । ईर्यापथ के विषय

१. चूणिकार ने ६८ वें सूत्र की व्याख्या आचार्यपरक और ६९वें सूत्र की व्याख्या ईर्यापरक की है । टीकाकार ने दोनों सूत्रों की व्याख्या आचार्यपरक की है । केवल 'पासिय पाणे गच्छेज्जा' इस वाक्य की ईर्यापरक व्याख्या की है । दोनों व्याख्याकारों ने यह बतलाया है कि ६९ वें सूत्र से आचार्य-चूला के ईर्या नामक तीसरे अध्ययन का विकास किया गया है । चूणिकार ने आचार्यचूला के उपोद्घात में लिखा है कि ६२, ६८, ६९ और ७० वें सूत्रों से ईर्या नामक अध्ययन विकसित किया गया है ।

उक्त संदर्भों तथा उत्तराध्ययन २४।८ के 'तन्मुत्ती

तत्पुरक्कारे उक्ते'—इन शब्दों के आधार पर इन दोनों सूत्रों का अनुवाद ईर्यापरक किया जा सकता है, किन्तु हमने ५।१०९ की चूणि के आधार पर सूत्र ६८ का कुशल (महावीर) परक अनुवाद किया है । ५।११० में चूणिकार ने कुशलदर्शनपरक व्याख्या की है और वृत्तिकार ने आचार्यपरक व्याख्या की है । देखें—चूणि, पृष्ठ १९६ तथा वृत्ति, पत्र २०६ ।

२. एव 'पलीवाहरे' इति पदस्य अनुवादो विद्यते—'पलीवाहरे' प्रतीपं आहरे जंतुं दृष्ट्वा संकोचए वेसीभासाए ।  
(आचार्यचूणि, पृष्ठ १८४)

ईर्यापथविषये एते पञ्च निर्देशाः सन्ति ।

में ये पांच निर्देश हैं ।

७०. से अभिक्रममाणे पडिक्कममाणे संकुचेमाणे पसारेमाणे विणियट्टमाणे संपलिमज्जमाणे ।

सं०—स अभिक्रामन् प्रतिक्रामन् संकोचयन् प्रसारयन् विनिवर्तमानः संपरिमृजन् ।

वह पुरुष सामने जाने, वापस आने, संकोच, प्रसार, विनिवर्तन और संपरिभार्जन करने की क्रिया संयमपूर्वक करता है ।

भाष्यम् ७०—स मुमुक्षुः पुरुषः कदाचिदभिक्रामति, कदाचित् प्रतिक्रामति, कदाचिद् हस्तपादादीन् संकोचयति, कदाचित् प्रसारयति, कदाचिद् गमना-गमनाद् विनिवर्तते तथा शरीरविलग्नान् प्राणिनः संयमपूर्वकं संपरिमाष्टि ।

मुमुक्षु पुरुष कभी आगे जाता है, कभी पीछे लौटता है, कभी वह हाथ पैरों को संकुचित करता है, कभी उन्हें फैलाता है, कभी वह गमन और आगमन से निवृत्त हो जाता है और शरीर में लगे प्राणियों का संयमपूर्वक परिभार्जन करता है ।

७१. एगया गुणसमित्यस्स रीयतो कायसंफासमणुचिष्णा एगतिया पाणा उद्धार्यंति ।

सं०—एकदा गुणसमितस्य रीयमाणस्य कायसंस्पर्शमनुचीर्णाः एके प्राणाः अवद्वान्ति ।

किसी समय प्रवृत्ति करते हुए अप्रमत्त मुनि के शरीर का स्पर्श पाकर कुछ प्राणी परितप्त होते हैं या मर जाते हैं ।

भाष्यम् ७१—गुणाः ईर्यासमितिप्रभृतयः, तैर्युक्तः गुणसमितः । स एकदा रीयमाणोऽस्ति तदानीं । तस्य कायसंस्पर्शं संप्राप्य केचित् प्राणाः उपद्रुताः भवन्ति म्रियन्ते वा । अस्यामवस्थायां तस्य कर्मबन्धो भवति न वा ? इति जिज्ञासायामत्र कर्मबन्धविचित्रतायाः सिद्धान्तः अवगन्तव्यः—

शैलेशीदशामुपगतस्य कर्मबन्धो न जायते । सयोगस्य वीतरागस्य द्विसामयिकः ईर्यापथिकः बन्धो भवति । अप्रमत्तसंयतेः जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकस्य उत्कृष्टतः अष्टमुहूर्त्तस्थितिकस्य कर्मणो बन्धो जायते । प्रमत्तसंयतेः नास्ति हिंसाभिमुखता तदानीं जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्तस्थितिकस्य उत्कृष्टतः अष्टसंवत्सरस्थितिकस्य कर्मणो बन्धो जायते । स च तेनैव भवेन क्षीयते इति साक्षात् सूत्रेण निरूप्यते—

ईर्यासमिति आदि गुण हैं । जो इनसे युक्त होता है वह गुण-समित कहलाता है । वह किसी समय विहरण कर रहा है । उस समय उसके शरीर का स्पर्श पाकर कुछ प्राणी परितप्त होते हैं अथवा मर जाते हैं । इस अवस्था में उसके कर्मबन्ध होता है या नहीं ? इस जिज्ञासा के संदर्भ में कर्मबन्ध की विचित्रता का सिद्धान्त जानना चाहिए—

शैलेशी अवस्था को प्राप्त अनगार के कर्मबन्ध नहीं होता । सयोगी वीतराग अनगार के दो समय की स्थिति वाला 'ईर्यापथिक' बन्ध होता है । अप्रमत्त संयती अनगार (सातवें से तेरहवें गुणस्थानवर्ती) के जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाला और उत्कृष्टतः आठ मुहूर्त्त की स्थिति वाला कर्मबन्ध होता है । प्रमत्त संयत (छठे गुणस्थानवर्ती मुनि) के यदि हिंसाभिमुखता नहीं है तो जो कर्मबन्ध होगा वह जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाला और उत्कृष्टतः आठ वर्ष की स्थिति वाला होगा । वह कर्मबन्ध उसी भव में क्षीण हो जाता है, यह तथ्य अगले सूत्र में साक्षात् निरूपित है—

७२. इहलोग-वेयण-वेज्जावडियं ।

सं०—इहलोकवेदनवेद्यापतितम् ।

उसके वर्तमान जीवन में भोगे जाने वाले कर्म का बन्ध होता है ।

भाष्यम् ७२—विधिपूर्वकं प्रवृत्ति कुर्वाणस्य हिंसाभि-मुखतामृते प्रमत्तसंयतेः कायस्पर्शेन कश्चित् प्राणी परितप्तः मृतो वा भवेत्, तदानीं तस्य इहलोक-वेदनवेद्यापतितं—ऐहिकभवानुबन्धि कर्म उपात्तं भवति ।

छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त संयत मुनि विधिपूर्वक प्रवृत्ति कर रहा है । उसमें हिंसा के प्रति अभिमुखता नहीं है । उस मुनि के कायस्पर्श से कोई प्राणी परितप्त हो या मर जाए तो उसके ऐहिकभवानुबन्धि—वर्तमान जीवन में भोगे जाने वाले कर्म का बन्ध होता है । वह अल्प

१. तुलना—पातंजलयोगदर्शन २।१२ : क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टावृष्टजन्मवेदनीयः ।



तद् अल्पस्थितिकत्वेन वर्तमानजन्मन्येव क्षीणं भवति ।' स्थिति वाला होने के कारण उसी भव—जन्म में क्षीण हो जाता है ।

७३. जं आउट्टिकयं कम्मं, तं परिणयाए विवेगमेति ।

सं०—यद् आकुट्टीकृतं कर्म तत्परिज्ञया विवेकमेति ।

अविधिपूर्वक प्रवृत्ति करते हुए जो कर्म-बन्ध होता है, उसका विलय परिज्ञा के द्वारा होता है ।

भाष्यम् ७३—आवृत्तिः—अभिमुखता अथवा आकुट्टी—पीडासंकल्पः । तथा कृतं कर्म आवृत्तिकृतं अथवा आकुट्टीकृतं कर्म उच्यते । प्रमत्तसंयतैः यत् आकुट्टीकृतं कर्म तत् परिज्ञया प्रायश्चित्तेन वा विवेकं—अभावं प्राप्नोति ।\*

'आउट्टी' अर्थात् आवृत्ति या आकुट्टी । आवृत्ति का अर्थ है—अभिमुखता अथवा आकुट्टी का अर्थ है—पीडा का संकल्प । आउट्टीपूर्वक किया हुआ कर्म आवृत्ति अथवा आकुट्टीकृत कर्म कहलाता है । प्रमत्त संयत अनगार के आकुट्टीकृत कर्म का विवेक—विलय परिज्ञा अथवा प्रायश्चित्त के द्वारा होता है ।

१. भाष्ये कर्मबन्धस्थितेः विवेचनं चूर्णमनुसृत्य कृतमस्ति । अन्तर्मुहूर्त्तस्थितिको बन्धः संपरायिको भवति । वृत्तेर्व्याख्या चूर्णव्याख्यात् भिन्ना वर्तते—'शैलेश्यवस्थायां मशकादीनां कायसंस्पर्शेन प्राणत्यागोऽपि बन्धोपादानकारणयोगाभावात्नास्ति बन्धः, उपशांतक्षीणमोहसयोगिकेवल्लिनां स्थितिनिमित्तकषायाभावात् सामयिकः, अप्रमत्तयतेर्जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तसंमुत्कृष्टतरश्चान्तःकोटीकोटीस्थितिरिति, प्रमत्तस्य त्वनाकुट्टिकयाऽनुपेत्यप्रवृत्तस्य क्वचित् पाष्याद्यवयवसंस्पर्शात् प्राण्युपतापनादौ जघन्यतः कर्मबन्ध उरुकृष्टतरश्च प्राक्तन एव विशेषिततरः ।' (वृत्ति, पत्र १९७)

भगवत्यां भावितात्मनः ईर्यासमितौ सोपयोगं गच्छतः पादस्पर्शेन कश्चिद् प्राणो त्रियते तदा तस्य द्विसामयिकः ईर्यापथिको बन्धो भवति—'अनगारस्स णं भंते ! भावियप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोते वा वट्टापोते वा कुल्लिगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स णं भंते ! किं इरियावहिया किरिया कज्जइ ? संपराइया किरिया कज्जइ ?

गोयमा ! अनगारस्स णं भावियप्पणो पुरओ दुहओ जुगमायाए पेहाए रीयं रीयमाणस्स पायस्स अहे कुक्कुडपोते वा वट्टापोते वा कुल्लिगच्छाए वा परियावज्जेज्जा, तस्स णं इरियावहिया किरिया कज्जइ, नो संपराइया किरिया कज्जइ ।' (भगवई १८।१५९)

ओघनिर्युक्तौ अप्रमत्तसंघतेः जातेऽपि प्राणिबधे बन्धस्य सर्वथा निषेधः कृतोऽस्ति—

'उच्छालियमि पाए ईरियासमियस्स संकमट्टाए ।

वावज्जेज्ज कुल्लिगो मरिज्ज तं जोयमासज्ज ॥'

'न य तस्स तन्निमित्तो बंधो मुहुमोवि वेसिओ समए ।

अणवज्जो उ पओगेण सव्वभावेण सो तम्हा ॥'

(ओघनिर्युक्ति, गाय ७४८, ७४९)

कुक्कुडस्वामिनाऽपि समितस्य हिंसामात्रेण बन्धो नास्तीति प्रतिपादितम्—

'अपयसा वा चरिया सयणासणठाणवकमादीसु ।

समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तियत्ति मवा ॥'

मरवु व जोयवु जीवो अयवाचारस्स णिच्छिवा हिंसा ।

पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥'

(प्रवचनसार ३।१६, १७)

प्रस्तुतागमे गुणसमितस्य कायसंस्पर्शजनितप्राणिबधे यः कर्मबन्धो निर्विष्टः स ऐहिकमवानुबन्धी प्रतिपादितः । एतेन ज्ञायते असौ कर्मबन्धः सरागसंयति उपलक्ष्य एव प्रतिपादितः । चूर्णो वृत्तौ च बीतरागस्य चर्चा प्रसंगवशातः एव कृता इति संभाव्यते । चूर्णो 'जो अप्रमत्तो उवह्वेति तस्स जहन्नेण अंतोमुहूर्त्तं उक्कोसेण अट्ट मुहूर्त्ता, जो पुण पमसो ण य आउट्टियाए तस्स जहन्नेण अंतोमुहूर्त्तं उक्कोसेण अट्ट संवच्छराइं, (पृष्ठ १८४, १८५)—इति उल्लेखो दृश्यते । वृत्तौ अप्रमत्ततया गच्छतः गुणसमितस्य कृते एव विधिः मुख्यत्वेन उद्दिष्टः—'गुणसमितस्य गुणयुक्तस्य अप्रमत्ततया यतेः रीयमाणस्य' (पत्र १९६) ।

भगवत्यां भावितात्माऽनगारापेक्षया ऐर्यापथिकः बन्धः निर्विष्टः ।

उत्तरवृत्तिप्रन्थेसु बन्धस्य सर्वथा निषेधः अशुभकर्मबन्धं लक्ष्योक्त्य कृतः इति प्रतीयते ।

अस्मिन् प्रकरणे श्रीमज्जयाचार्यकृता भगवतिव्याख्याऽपि अध्येतव्या ।

ब्रह्मव्यम्—भगवती-जोड़, शतक १८, ढाल ३८२, गाय १-७७ ।

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १८५ : जो पुण आउट्टियाए पाणे उह्वेति तवो वा छेवे वा ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १९७ : यत्तु पुनः कर्माकुट्टया कृतम्—आगमोक्तकारणमन्तरेणोपेत्य प्राण्युपमर्देन विहितं तत्परिज्ञाय तत्परिज्ञया 'विवेकमेति' विविच्यते अनेनेति विवेकः—प्रायश्चित्तं दशविधं तस्यान्यतरं भेदमुपैति, तद्विवेकं वा—अभावाद्यनुपैति, तत्करोति येन कर्मणोऽभावो भवति ।

७४. एवं से अप्पमाएणं, विवेगं किट्टति वेयवी ।

सं०—एवं तस्य अप्रमादेन विवेकं कीर्तयति वेदवित् ।

विलय अप्रमाद से होता है—सूत्रकार ने ऐसा कहा है ।

भाष्यम् ७४—एवं तस्य प्रमादेन कृतस्य कर्मणः अप्रमादेन विवेको जायते इति वेदविदः—शास्त्रज्ञस्य सम्मतम् । उक्तञ्च स्थाने—

‘से णं भंते ! दुक्खे कंहं वेइज्जति ? अप्पमाएणं’ ।

प्रमाद से किए हुए उस कर्मबंध का विलय अप्रमाद से होता है, यह शास्त्रज्ञ द्वारा सम्मत है । स्थानांग सूत्र में कहा है—

‘भंते ! दुःख का वेदन कैसे होता है ? अप्रमाद से ।’

७५. से पभूयदंसी पभूयपरिण्णाणे उवसंते समिए सहिते सया जए दट्ठुं विप्पडिबेवेति अप्पणं—

सं०—स प्रभूतदर्शी प्रभूतपरिज्ञानः उपशांतः समितः सहितः सदा यतः दृष्ट्वा विप्रतिवेदयति आत्मानम् ।

विपुलदर्शी, विपुलज्ञानी, उपशांत, सम्यक् प्रवृत्त, सहिष्णु सदा संयत मुनि स्त्री-जन को देख कर मन में सोचता है—

भाष्यम् ७५—इन्द्रियजयः प्रकृष्टसाधनासाध्योऽस्ति । साधनाया इमे सन्ति हेतवः<sup>२</sup>—

१. प्रभूतदर्शनं—प्रभूतं कर्मविपाकस्य दर्शनम् ।

२. प्रभूतपरिज्ञानं—प्रभूतं बन्धस्य बन्धमुक्तेश्च परिज्ञानम् ।

३. उपशमनं—कषायाणां नो-कषायाणां च उपशमः ।

४. समितिः—सम्यक्प्रवृत्तिः, सततं स्वाध्यायादिषु प्रवर्तनम् ।

५. सहिष्णुता—परीषहाणां विशेषतः कामादीनां मानसिकानां वेगानां सहनम् ।

६. सदा यतः—सदा संयमः । सदा इन्द्रियोद्दीपकेभ्यः विषयेभ्यः विरतिः ।

एतान् उपायान् अनुवर्तमानः स इन्द्रियजयाय प्रवर्तमानः पुरुषः स्त्रीजनं कामलीलायै चेष्टमानं दृष्ट्वा आत्मानं विप्रतिवेदयति—पर्यालोचयति—

७६. किमेस जणो करिस्सति ?

सं०—किमेष जनः करिष्यति ?

यह जन मेरा क्या करेगा ?

भाष्यम् ७६—अहं आत्मनि प्रतिष्ठितोऽस्मि, तेन एष जनः—कामासक्तः स्त्रीजनः मम किं करिष्यति ?

विशेष साधना के द्वारा ही इन्द्रियों पर विजय पाई जा सकती है । साधना के ये हेतु हैं—

१. प्रभूतदर्शन—कर्मों के विपाक को बार-बार अथवा अत्यंत गहराई से देखना ।

२. प्रभूतपरिज्ञान—बंध और बंधमुक्ति का प्रभूत परिज्ञान ।

३. कषायों और नो-कषायों का उपशमन ।

४. सम्यक् प्रवृत्ति करना, सततं स्वाध्याय आदि में प्रवृत्त होना ।

५. परीषहों को सहना, विशेषतः मन में उत्पन्न होने वाले काम आदि के आवेशों को सहन करना ।

६. सदा संयम में रत रहा । इन्द्रियों के उद्दीपक विषयों से सदा विरत रहना ।

इन उपायों का अनुवर्तन करने वाला वह इन्द्रिय-जय के लिए प्रवृत्त मनुष्य कामलीला के लिए उद्यत स्त्रीजन को देखकर मन में पर्यालोचन करता है

‘मैं आत्मा में प्रतिष्ठित हूँ’, इसलिए ये कामासक्त स्त्रियां मेरा क्या करेंगी ?

१. अंगमुत्ताणि १, ठाणं, ३।३३६ ।

२. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १८५ : प्रभूतं—बहुगं वरिसणं प्रभूतपन्नाणं, अहवा प्रभूतं खाइतं वरिसणं, प्रभूतं पण्णाणं खाइयं णाणं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र १९७ : प्रभूतं प्रमादविपाका-

विकसतीतानागतवर्तमानं वा कर्मविपाकं द्रष्टुं शीलमस्येति प्रभूतदर्शी, सांप्रतिकृतया न यत्किञ्चिन्नकारीत्यर्थः, तथा प्रभूतं सत्त्वरक्षणोपाय-परिज्ञानं संसारमोक्षकारणपरिज्ञानं वा यस्य स प्रभूतपरिज्ञानः, यथावस्थितसंसारस्वरूपदर्शीत्यर्थः ॥

७७. एस से परमारामो, जाओ लोगम्मि इत्थीओ ।

सं०—एष स परमारामः याः लोके स्त्रियः ।

इस जगत् में स्त्रियां परम सुख देने वाली हैं ।

भाष्यम् ७७—लोके याः स्त्रियः सन्ति, स एष स्त्रीजनः लोक में जो स्त्रियां हैं, वे परमाराम—परम सुख देने वाली परमं आरमयतीति परमारामः सुखहेतुत्वेन मोहं हैं—सुख के हेतुभूत होकर मोह पैदा करने वाली हैं । जनयति ।

७८. मुणिणा ह एतं प्रवेदितं, उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मोहि—

सं०—मुनिना खलु एतत् प्रवेदितं, उद्बाध्यमानः ग्राम्यधर्मैः—

वासना से पीड़ित मुनि के लिए भगवान् ने यह उपदेश दिया—

७९. अवि णिब्बलासए ।

सं०—अपि निर्बलाशकः ।

वह निर्बल भोजन करे ।

८०. अवि ओमोयरियं कुज्जा ।

सं०—अपि अवमोदर्यं कुर्यात् ।

ऊनोदरिका करे—कम खाए ।

८१. अवि उड्ढंठाणं ठाइज्जा ।

सं०—अपि ऊर्ध्वं स्थानं तिष्ठेत् ।

ऊर्ध्वस्थान (घुटनों को ऊंचा और सिर को नीचा) कर कायोत्सर्ग करें ।

८२. अवि गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।

सं०—अपि ग्रामानुग्रामं द्रवेत् ।

ग्रामानुग्राम विहार करे ।

८३. अवि आहारं वोच्छिद्वेज्जा ।

सं०—अपि आहारं व्यवच्छिन्नाद् ।

आहार का परित्याग (अनशन) करे ।

८४. अवि चए इत्थीसु मणं ।

सं०—अपि त्यजेत् स्त्रीषु मनः ।

स्त्रियों के प्रति दौड़ने वाले मन का त्याग करे ।

भाष्यम् ७८-८४—मुनिना—भगवता महावीरेण एतत् प्रवेदितम्—ग्राम्यधर्मैः—कामाभिलाषैः उद्बाध्यमानो पीड़ित मुनि इन निम्न निर्दिष्ट उपायों का आलम्बन ले—  
भिधुः एतान् निम्ननिर्दिष्टान् उपायान् आलम्बेत—

१. तुलना—तिमिरहरा जई बिट्टी, जगत्स चीवेण जत्थि कादम्बं ।

तद्य सोक्खं सयमावा, विसया किं तत्थ कुब्बन्ति ॥

(आचार्य कुवकुन्द—प्रवचनसार, ६७)

कामोदयो द्विविधो भवति—सनिमित्तः अनिमित्तश्च । यो बाह्यवस्तुहेतुको भवति स सनिमित्तः । य आन्तरिककारणजनितः सोऽनिमित्तः ।

सनिमित्तस्त्रिधा—शब्दश्रवणहेतुकः, रूपदर्शनहेतुकः, पूर्वभुक्तभोगस्मृतिहेतुकश्च । अनिमित्तोऽपि त्रिधा—कर्मोदयप्रत्ययः, आहारोदयप्रत्ययः, शरीरोदयप्रत्ययश्च ।<sup>१</sup>

काम-वासना का उदय दो प्रकार का होता है—सनिमित्तक और अनिमित्तक । जो काम-वासना का उदय बाह्य वस्तुओं के कारण होता है, वह सनिमित्तक है । जो आंतरिक कारणों से होता है, वह अनिमित्तक है ।

सनिमित्तक तीन प्रकार का है—शब्दों के श्रवण से होने वाला, रूपदर्शन से होने वाला और पूर्वभुक्तभोगों की स्मृति से होने वाला । अनिमित्तक भी तीन प्रकार का है—कर्मों के उदय से होने वाला, आहार के कारण होने वाला और शरीर के कारण होने वाला ।

१. निशीयन्नाध्यक्षिणः, गायत्र्या ५१४-५१६, तथा ५७१-५७४ :

‘जं तं तु संकलित्ठं, तं सणिमित्तं च होज्ज अनिमित्तं ।  
जं तं सणिमित्तं पुण, तत्सुपत्ती तिघा होति ॥५१४॥

तत्स संकलित्ठस्स दुबिहा उप्पत्ती—सणिमित्ता अनिमित्ता य । जं सणिमित्तं तत्सुपत्ती बहिरवत्थमवेक्ख भवति ।

णञ् कम्मं चेव तत्स णिमित्तं, किमण्णं बाहिरणिमित्तं घोसिज्जति ?

आचार्यहि—

‘कामं कम्मणिमित्तं उदयो णत्थि उदयो उ तव्वज्जो ।  
तह्वि य बाहिरवत्थुं, होति निमित्तं तिमं तिविधं ॥५१५॥

कर्मणिमित्तो उदय । उदयः कर्मवज्जो न भवतीत्यर्थः । तथापि कश्चिद् बाह्यवस्त्वपेक्षो कर्मोदयो भवतीत्यर्थः । तिविधं बाह्यनिमित्तमुच्यते ॥’

‘सद्’ वा सोऽङ्गं, दट्ठं सरित्तुं व पुञ्चमुत्ताडं ।

सणिमित्तसणिमित्तं पुण उदयाहारे सरीरे य ॥५१६॥

‘गोतावि विसयसद्’ सोऽं, आलिगणातिव्योरुवं वा दट्ठं, पुञ्चकीलियाणि वा सरिडं, एतेहि कारणेहि सणिमित्तो ह्वो । अनिमित्तं पुण कम्मदो आहारणं सरीरोवचया । अनिमित्तस्स तिविहो उदयो—कम्मओ, आहारओ, सरीरो य । तत्थ कम्मोदओ इमो—

‘छायस्स पिवासस्स व, सहाव गेलण्णतो वि किसस्स ।

बाहिरणिमित्तवज्जो, अनिमित्तुदओ ह्वति मोहे ॥५१७॥

‘छाओ’ भुक्खओ, ‘पिवासितो’, तिसित्तो, सहावतो किसो सरीरेण गेलण्णतो वा किसो, एरिसस्स जो मोहोदओ, बाहिरं सद्दवियं णिमित्तं, तेण वज्जितो अनिमित्तो एस मोहोदओ ।

‘आहारउब्भवो पुण, पणीत्तमाहारभोयणा होति ।

वाईकरणाऽऽहरणं.....॥५१८॥

‘आहारपच्चओ मोहुब्भवो, पणीत्तं गलत्तणेहं, आहार्यते इति आहारः प्रणीताहारभोजनाद् मोहोद्भवो भवतीत्यर्थः । कथं ? उच्यते ‘बाजीकरण’ ति । पणीयाहारभोयणाओ रसावि वृद्धी जाव सुक्कति, सुक्कोवचया वायुप्रकोपः,

वायुप्रकोपाच्च प्रजननस्य स्तम्भाकरणं, अतो भण्णति वाई-करणं । अहवा पणीयाहारो बाजीकरणं वक्कारकेत्थयः । ‘मंसोवचया मेदो, मेदाओ अट्टिमिज्जमुक्काणं ।

सुक्कोवचया उदओ, सरीरचयसंभवो मोहे ॥५१९॥

‘आहारातो रसोवचओ । रसोवचयाओ रंहिरोवचओ । रंहिरोवचया मंसोवचओ । मंसोवचया मेदावचओ । एवं कमेण ‘मेदो’ ‘वसा’ ‘अट्टी’ ‘हृडं’, ‘मिज्जं’, ‘मेज्जत्तुउ’ ति वुत्तं भवति, ततो सुक्कोवचओ, सुक्कोवचयाओ मोहोदओ भवति । एवं सरीरोवचयसंभवो मोहोदओ भवतीत्यर्थः ॥

एवं सणिमित्तस्स अनिमित्तस्स मोहुद्वयस्स उप्पण्णस्स क्षाणज्जयणादोहि अहियासणा कायव्वा । अट्टायमाणे— ‘णिवित्तिणिविबले ओमो, तह उदट्टाणमेव उब्भामे । वेयावच्चा हिडण, मंडलि कप्पट्टियाहरणं ॥५१९॥

णिव्धीत्तिमाहारं आहारेति । तह वि अठायमाणे णिव्वलाणि मंडणचणकादो आहारेति । तह वि अठायमाणे ओमोदरियं करेति । तह वि ण ठाति चउत्थादि जाव छम्मासियं तवं करेति, पारणए णिव्वलमाहारमाहारेति । जइ उवसमति तो सुन्दरं । अह णोवसमति ताहे उदट्टाणं महत्तं करेति कायोत्सर्गमित्यर्थः । तह वि अठायमाणे उब्भामे भिख्खायरिए गच्छति ।

अहवा—साहण ‘वोसामणा’ ति वेयावच्चं कराविज्जति । तह वि अठायमाणे वेसहिडगाणं सहाओ दिज्जति । एत्थ हेट्टिल्लपया उवरवरिदट्टव्वा, एवं अगीतत्थस्स । गीत्तयो पुण मुत्तत्थमंडलिं दाविज्जति ।

अहवा—गीत्तत्थस्स वि णिव्वित्तिगावि विभासाए वट्टव्वा ।

नोदक आह—जति ताबागीयत्थस्स निव्वीयावि तव-विसेसा उवसमो ण भवति तो गीयत्थस्स क्हं सीयच्छायाविठियस्स उवसमो भविस्सति ?

आचार्य आह—

‘पेशाचिकमाख्यानं श्रुत्वा गोपायनं च कुलवद्व्याः । संयमयोगैरारम्भा निरन्तरं व्यापृतः कार्यः ॥’

एषां चिकित्सार्थं एते उपायाः सन्ति ।

स्थानांगे कामसंज्ञाया उदयस्य चत्वारि कारणानि सन्ति निर्दिष्टानि । तत्रैकं कारणमस्ति—मांसशोणितस्य चयः ।<sup>१</sup> अत एव प्रस्तुतागमे 'विगिच संसोणियं'<sup>२</sup> इति निर्देशोऽस्ति । कामोदयस्य सम्बन्धः शुक्रोपचयेन, शुक्रोपचयस्य सम्बन्ध आहारेण । तेन कामचिकित्साया उपायानां संज्ञाने आहारविषयका निर्देशा लभ्यन्ते । निशीथस्य भाष्ये चूर्णो च एष विषयः सुस्पष्टं प्रतिपादितोऽस्ति ।

ते उपायाः चामी—

१. निर्बलाहारकरणम् (सू० ७९)
२. अवमौदर्यकरणम् (सू० ८०)
३. ऊर्ध्वस्थानम् (सू० ८१)

ऊर्ध्वस्थानावस्थायां नासाग्रे भृकुट्यां वा नेत्रे सुस्थिरे कार्ये । अथवा वारं वारं सुस्थिरे कार्ये । एतेन अपानवायोः दुर्बलता प्राणवायोश्च प्रबलता जायते । अपानवायोः प्रबलतया कामांगं सक्रियं भवति । प्राणवायोः प्राबल्येन तस्य निष्क्रियता संपद्यते ।<sup>३</sup>

इष्टमन्त्रपूर्वकं समवृत्तिश्वासप्रेक्षायाः पञ्चविंशत्या-वृत्तिकरणेनापि कामः शाम्यति ।

४. ग्रामानुग्रामविहारः (सू० ८२)

यथा द्वेषात्मकप्रकृतेः पुरुषस्य निषीदनं हितावहं तथा रागात्मकप्रकृतेः पुरुषस्य स्थानं गमनं च हितावहम् । अत एव ग्रामानुग्रामविहारः अस्ति ब्रह्मचर्यस्य उपायः ।

५. आहारविच्छेदः (सू० ८३)

'निगंधो धिडमंतो, निगंधो वि न करेज्ज छहिं चैव ।  
ठाणोहि उ इमेहिं, अणइक्कमणा य से होइ ॥'<sup>४</sup>  
'आयंके उवसग्गे, तित्तिक्खया बंभचेरगुत्तीसु ।  
पाणिदया तवहेउं, सरीरवोच्छेयणट्टाए ॥'<sup>५</sup>

१. अंगुत्ताणि १, ठाणं, ४।५८१ : 'चउंहि ठाणोहि मेहुणसण्णा समुपज्जति, तं जहा - चित्तमंससोणिययाए, मोहुणज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मतोए, तवट्टोवओणेणं ।

२. आयारो, ४।४३ ।

३. ऊर्ध्वस्थान रात को अवश्य करना चाहिए । आवश्यकता के अनुसार दिन में भी किया जा सकता है । एक, दो, तीन या चार प्रहर तक ऊर्ध्वस्थान करना वासना-शमन का असाधारण उपाय है । 'ऊर्ध्वस्थान' शब्द भगवती सूत्र

इन सभी प्रकार की कामासक्तियों की चिकित्सा के लिए ये उपाय हैं ।

स्थानांग में कामसंज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण निर्दिष्ट हैं । उनमें से एक कारण है 'मांस और रक्त का उपचय । इसीलिए प्रस्तुत आगम में 'मांस और रक्त का अपचय करो'—यह निर्देश है । काम-वासना के उदय का संबंध वीर्य के उपचय से और वीर्य के उपचय का संबंध आहार से है । इसलिए काम-संज्ञा की चिकित्सा के उपायों की जगनकारी में आहार से संबंधित निर्देश मिलते हैं । निशीथ भाष्य और चूर्ण में यह विषय बहुत स्पष्टता से प्रतिपादित हुआ है ।

काम-चिकित्सा के वे उपाय ये हैं

१. मुनि निर्बल भोजन करे ।
२. ऊनोदरिका करे—कम खाए ।
३. ऊर्ध्वस्थान (घुटनों को ऊंचा और सिर को नीचा) कर कायोत्सर्ग करे ।

ऊर्ध्वस्थान की अवस्था में दोनों नेत्रों को नासाग्र या भृकुटी पर स्थिर करे अथवा बार-बार उन पर स्थिर करे । डग क्रिया से अपानवायु दुर्बल होती है और प्राणवायु प्रबल । अपानवायु की प्रबलता से कामांग सक्रिय होता है और प्राणवायु की प्रबलता से वह निष्क्रिय हो जाता है ।

अपने इष्टमन्त्रपूर्वक समवृत्तिश्वासप्रेक्षा की पचीस आवृत्तियां करने से भी कामवासना उपशांत होती है ।

४. ग्रामानुग्राम विहरण करे ।

जैसे द्वेषात्मक प्रकृति वाले मनुष्य का बैठे रहना हितकारी होता है, वैसे ही रागात्मक प्रकृति वाले मनुष्य का खड़े रहना या गमन करना हितावह होता है । इसलिए ग्रामानुग्राम विहरण करना ब्रह्मचर्य का उपाय है ।

५. आहार का विच्छेद (अन्नशन) करे ।

'धृतिमान् साधु और साध्वी इन छह कारणों से भक्त-पान की मवेषणा न करे, जिससे उनके संयम का अतिक्रमण न हो ।'

'ये छह कारण हैं (१) रोग होने पर, (२) उपसर्ग आने पर, (३) ब्रह्मचर्य गुप्ति की तितिक्षा (सुरक्षा) के लिए (४) प्राणियों की दया के लिए, (५) तप के लिए और (६) शरीर-विच्छेद के लिए ।'

(१।९) में आई हुई उद्धंजाण्, अहोसिरे— इस मुद्रा का सूचक है । हृदयोगप्रदीपिका में भी 'ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुः (३।७९) और 'अधःशिराश्चोर्ध्वपादः (३।८१)—ऐसे प्रयोग मिलते हैं । ऊर्ध्वस्थान मुख्यतः सर्वांगसन और गौण रूप में शीर्षसन, वृक्षासन आदि का सूचक है । इन आसनों से वासना-केन्द्र शांत होते हैं । उनके शांत होने से वासना भी शांत होती है ।

४. उत्तरज्जयणाणि, २६।३३, ३४ ।

अस्मिन् विषये सूत्रस्य अर्थपरम्परागतो विशेषनिर्देशो वर्तते—‘सर्व्वथ णिब्वलासगा ओमोवरियाओ करेत्ति, सर्व्वहा अट्टायंते संलेहणं काउं भत्तं पच्चक्खाइ, एवं ता अबहुसुयस्स मोहतिगिच्छा, बहुसुत्तो पुण वायणं ववाविज्जइ ।’<sup>१</sup>

#### ६. संकल्पाकरणम् (सू० ८४)

‘समाए पेहाए परिब्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा । न सा महं नोधि अहं पि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥’

‘भायावयाही चय सोउमल्लं, कामे कमाही कमियं खु दुक्खं । छिवाहि दोसं विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिस्सि संपराए ॥’<sup>२</sup>

निर्बलाहारः—निष्पावतक्रादीनामाहारः । अथवा येन आहारेण शरीरं निर्बलं भवति तादृशः आहारः ।

अवमौदर्यम्—आचामाम्लकरणं अल्पभोजनं वा ।

ऊर्ध्वस्थानकरणम्—कायोत्सर्गः । स च दीर्घकालिकः । एकद्वित्रिचतुःप्रहरात्मकः ।

संसर्गाभावतः कामाभिलाषः शान्तो भवति । अस्ति चैतन्यकेन्द्रविदां सम्मतमिदम्—कामसंज्ञा शक्तिकेन्द्रं, आहारसंज्ञा स्वास्थ्यकेन्द्रं यशोऽभिलाषा च तैजसकेन्द्रं सक्रियं करोति । अस्यामवस्थायां आनन्दकेन्द्रस्य निष्क्रियता जायते । तेन साधके नात्महितप्रज्ञा जागर्ति न च निर्जराधिताया भावो वर्द्धमानो भवति । अत एव ब्रह्मचर्यस्य आहारसंयमस्य यशोऽभिलाषाविमुक्तस्य<sup>३</sup> भावस्य अभिवृद्धयै मार्गः प्रदर्शितः । आनन्दकेन्द्रस्य सक्रियतायां एताः तिस्रोऽपि संज्ञा विनष्टा भवन्ति ।<sup>४</sup>

इस विषय में सूत्र ८३ का अर्थ-परंपरागत विशेष निर्देश प्राप्त है—‘कामवासना के निवारण के लिए निर्बल भोजन करने वाले साधक बार-बार ऊनोदरी करें । यदि काम शांत न हो तो वे सलेखना कर भक्त-प्रत्याख्यान (अनशन) करें । यह अबहुश्रुत साधक की काम-चिकित्सा का उपाय है । बहुश्रुत मुनि स्वाध्याय आदि में अपने आपको नियोजित करे ।’

६. काम का संकल्प न करे ।

‘समदृष्टिपूर्वक विचरते हुए भी यदि कदाचित् मन संयम से बाहर निकल जाए तो यह विचार कर कि ‘वह मेरी नहीं है और न मैं ही उसका हूँ’, मुमुक्षु उसके प्रति होने वाले विषय-राग को दूर करे ।’

‘अपने को तपा । सुकुमारता का त्याग कर । काम—विषय-वासना का अतिक्रम कर । इससे दुःख अपने-आप अतिक्रान्त होगा । द्वेषभाव को छिन्न कर । रागभाव को दूर कर । ऐसा करने से तू संसार में सुखी होगा ।’

निर्बल आहार का अर्थ है—उडद, छाछ आदि का भोजन । अथवा वैसा भोजन जिससे शरीर निर्बल हो ।

अवमौदर्य का अर्थ है—आयंबिल करना अथवा अल्प भोजन करना ।

ऊर्ध्वस्थानकरण का अर्थ है—कायोत्सर्ग । वह दीर्घकालिक अर्थात् एक-दो-तीन या चार प्रहर का होता है ।

संसर्ग के अभाव में काम की अभिलाषा शांत होती है । चैतन्य-केन्द्र के विशेषज्ञों द्वारा यह मान्य है कि कामसंज्ञा शक्तिकेन्द्र को, आहारसंज्ञा स्वास्थ्यकेन्द्र को और यश की अभिलाषा तैजसकेन्द्र को सक्रिय करती है । इस स्थिति में आनन्दकेन्द्र निष्क्रिय हो जाता है । इसीलिए साधक में आत्महित की प्रज्ञा नहीं जागती और न निर्जराधिता का भाव ही वृद्धिगत होता है । इसीलिए ब्रह्मचर्य, आहार-संयम और यशोभिलाषा से मुक्ति—इन भावों की वृद्धि के लिए मार्ग बताया गया है । आनन्दकेन्द्र की सक्रियता होने पर ये तीनों संज्ञाएं विनष्ट हो जाती हैं ।

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १८६ ।

२. (क) वसवेआलियं, २।४,५ ।

(ख) निशीथभाष्ये (माया ५६७,५७०) चूर्णो च सनिमित्त-कामोदयस्य शमतार्यं अमी उपायाः निदिष्टाः सन्ति—

‘भारो विलिवियमेत्तं सर्व्वे कामा बुहावघा ।

तिविहम्मि वि सट्ठमी, तिविह जतणा मवे कमसो ॥५६७॥

वत्तयादिभूसणसद्दे भूसणसद्दे वा आभरणभारो

त्ति भण्णति । मितमधुरगीतादिभासासद्दे विलिवियंति

भण्णति । प्रवसित्तमृतमर्तंरिगुणानुकीर्तनारोदिनीस्त्रीवत् ।

परियारसद्दे ‘सर्व्वे कामा बुहावघ’ त्ति दुक्खं आवहंतोति

दुक्खावहा दुक्खोपार्जका इत्यर्थः । तिविह भूसणाविसद्दे एस जयणा भणित्ता जहाकमसे ।

‘द्वितीयडिसंहारो, दिट्ठे सरणे विरग्गभावणा भणित्ता ।

जतणा सणिमित्तमी होतणित्ति इभा जतणा ॥५७०॥

‘आलिंगणावतासणाविसु द्वितीयडिसंहारो कज्जति ।

दिट्ठेसु हासवप्परइमाइसु पुव्वभुत्तेसु सवणे वेरग्गमावियासु

भावणासु अप्पाणं भावेति ।’

३. द्रष्टव्यम्—आयारो, ५।५३ ।

४. द्रष्टव्यम्—आचार्यमहाप्रज्ञप्रणीतं चैतन्यकेन्द्रप्रेक्षापुस्तकम् ।

८५. पुर्वं दंडा पच्छा फासा, पुर्वं फासा पच्छा दंडा ।

सं०—पूर्व दण्डाः पश्चात् स्पर्शाः, पूर्व स्पर्शाः पश्चाद् दण्डाः ।

कहीं-कहीं पहले दंड और पीछे स्पर्श—इन्द्रिय-सुख होता है, कहीं-कहीं पहले स्पर्श और पीछे दंड होता है ।

भाष्यम् ८५—इदानीं आलम्बनसूत्रयोः (सूत्र ८५, ८६) निर्देशः । स्पर्शाः—इन्द्रियसुखम्, तस्य दण्डेन व्याप्तिः विद्यते ।

स तदर्थिनं तापं जनयित्वा पूर्वं दण्डयति, तेनोक्तम्—‘पूर्वं दण्डाः पश्चात् स्पर्शाः’ । तस्य आकस्मिके योगे पूर्व स्पर्शाः पश्चात् अतृप्तिप्रतिपादकत्वेन शक्तेः विनाशकत्वेन च दण्डाः भवन्ति । अस्यार्थस्य संवादित्वमस्मिन् श्लोके लभ्यते—

आरम्भे तापकान् प्राप्तो, अतृप्तिप्रतिपादकान् ।

अन्ते सुबुद्ध्यजान् कामान्, कामं कः सेवते सुधीः ॥<sup>१</sup>

प्रस्तुत आलापक में दो आलम्बन सूत्रों (८५, ८६) का निर्देश है । स्पर्श का अर्थ है—इन्द्रिय-सुख । उसकी दंड के साथ व्याप्ति है । जैसे—जहां स्पर्श है, वहां दंड है और जहां दंड है, वहां स्पर्श है ।

जो व्यक्ति स्पर्श का इच्छुक है, स्पर्श उसमें ताप उत्पन्न कर उसको पहले ही दंडित कर देते हैं । इसलिए कहा है—पहले दंड और पीछे स्पर्श । उसका आकस्मिक योग होने पर पहले स्पर्श होते हैं और पीछे अतृप्ति को पैदा करने और शक्ति का विनाश करने के कारण दंड होते हैं । इस अर्थ की संवादिता प्रस्तुत श्लोक में प्राप्त होती है—

‘प्रारंभ में काम की उपलब्धि अत्यन्त संतापकारक होती है । उपलब्धि के पश्चात् उनका सेवन अतृप्ति का कारण बनता है और अंत में उनको छोड़ना बहुत कष्टप्रद हो जाता है । ऐसे ‘काम’ का सेवन कौन विद्वान् व्यक्ति करेगा ?’

८६. इच्छेते कलहासंगकरा भवन्ति । पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि ।

सं०—इत्येते कलहासङ्गकराः भवन्ति । प्रतिलिख्य आगम्य आज्ञापयेद् अनासेवनाय इति ब्रवीमि ।

ये काम कलह और आसक्ति उत्पन्न करने वाले होते हैं । आगम की शिक्षा को ध्यान में रखकर आचार्य उनके अनासेवन की आज्ञा दे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ८६—एते कामाः कलहकरा आसंगकराश्च भवन्ति ।<sup>२</sup> अस्मिन् प्रवृत्तस्य अतो निवृत्तस्य च के दोषा गुणाश्च इति श्रुतज्ञानप्रतिलेखनया आगम्य तेषामनासेवनाय आज्ञापयेत् ।

ये काम कलह और आसक्ति उत्पन्न करने वाले होते हैं । काम में प्रवृत्त और निवृत्त होने वाले मनुष्यों के क्या दोष-गुण होते हैं, इसको श्रुतज्ञान (आगम) के सम्यग् अवबोध से जान कर आचार्य शिष्यों को काम के अनासेवन की ओर प्रेरित करे ।

८७. से णो काहिए णो पासणिए णो संपसारए णो ममाए णो कयकिरिए वइगुत्ते अज्झप्प-संबुडे परिवर्ज्जाए सदा पावं ।

सं०—स नो काथिकः, नो ‘पासणिए’, नो संपसारकः, नो ममायकः, नो कृतक्रियः, वाग्गुप्तः, अध्यात्मसंवृतः, परिवर्जयेत् सदा पापम् ।

ब्रह्मचारी काम-कथा न करे, वासनापूर्ण दृष्टि से न देखे, परस्पर कामुक भावों का प्रसारण न करे, ममत्व न करे, शरीर की साज-सज्जा न करे, मौन करे, मन का संवरण करे, सदा पाप का परिवर्जन करे ।

भाष्यम् ८७—ब्रह्मचारी पुरुषः जातिकुलनेपथ्य-श्रृंगारादिकथां न कुर्यात्, नो ‘पासणिए’<sup>३</sup>—वासनोद्दीपकानां वस्तूनां दर्शको भवेत् । नो संप्रसारको भवेत्—

ब्रह्मचारी पुरुष जाति, कुल, नेपथ्य, श्रृंगार आदि की कथा न करे । वह वासना को उद्दीप्त करने वाले पदार्थों को न देखे । वह संप्रसारक न हो—एकान्त में स्त्रियों के समीप न बैठे और न एकान्त

१. इष्टोपदेश, श्लोक १७ ।

२. आचारांग चूणि, पृष्ठ १८७ : एते कामा इत्थिसंघवा वा कलहकरा जहा सोयाए दोवईए थ, एवमादी कलहकरा, कलह एव संगो, अहवा कलहो—दोसो, संगो—रागो, अहवा संगंति सिगं बुच्चति, सिगमूतं च मोहणिज्जं कम्मं, तस्सवि इत्थीओ सिगभूता ।

३. (क) चूणीं प्राश्निकपर्वं व्याख्यातमस्ति—पासणितत्तं पि ण करेति, कयरा अम्ह सा भवति सुमंडिता वा कलाकुसला वा, आह्दुं सु पासणितत्तं करेइ, सुणिणे वा पुच्छिओ वागरेइ, अण्णतरं वा अट्ठावतं ।

(आचारांग चूणि, पृष्ठ १८७)

एकान्ते स्त्रीणां समीपस्थितो न भवेत्, न चैकान्ते ताभिः वार्तां पर्यालोचनं वा कुर्यात् । ताभिः संबन्धसंस्तवैः ममत्वं न कुर्यात् । नो कृतक्रियो भवेत्—प्रसाधनादिश्रियां न कुर्यात् । कामविषये किञ्चित् पृच्छतः नोत्तरं दद्यात्, किन्तु वाग्मुप्तो भवेत्—मौनं कुर्यादिति । सूत्रे अर्थे वा उपयुक्तः तदर्पितमना भूत्वा अध्यात्मं—चित्तस्य संवरणं कुर्यात् । आभ्यां वाग्मुप्तिचित्तसंवरणभ्यां सदा पापं—कामासक्तिं परिवर्जयेत् ।

८८. एतं मोणं समनुवासिज्जासि ।—त्ति बेमि ।

सं०—एतद् मौनं समनुवासयेः ।—इति ब्रवीमि ।

इस मौन का तू सम्यक् पालन कर ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ८८—मुनेः साधनाया अनेकाः विरतयः सन्ति उपदिष्टाः । तत्र हिंसाविरतिः प्रथमाध्ययने अस्ति विस्तरेण वर्णिता । तथैव असत्यविरतिः, अदत्तविरतिः, कामविरतिः, परिग्रहविरतिश्च अनेकेषु स्थलेषु निर्दिष्टा अस्ति । कामविरतिः अस्मिन् प्रकरणे अस्ति उपदिष्टा । अत्र प्रकरणवशाद् मौनं कामविरतिरूपं आदेयम् । प्रकरणस्य उपसंहारे सूत्रकारेण उपदिष्टम्—एतद् मौनं कामविरतिरूपं समनुवासयेः ।

में उनके साथ बातचीत या विचार-विमर्श करे । वह स्त्रियों के साथ संबंध और परिचय स्थापित कर भ्रमत्व न करे । वह शरीर की साज-सज्जा न करे । 'काम' के विषय में कुछ पूछने पर उत्तर न दे किन्तु वाग्मुप्ति करे, मौन रहे । वह सूत्र और अर्थ में लीन रह कर, उसी में समर्पित होकर अध्यात्म का—चित्त का संवरण करे । वाग्मुप्ति और चित्त का संवरण—इन दोनों से वह सदा पाप—कामासक्ति का परिवर्जन करे ।

मुनि की साधना के लिए अनेक विरतियों का निर्देश दिया गया है । हिंसाविरति का विस्तृत वर्णन पहले अध्ययन में है । उसी प्रकार असत्यविरति, अदत्तविरति, कामविरति तथा परिग्रहविरति का अनेक स्थलों में निर्देश है । प्रस्तुत प्रकरण में कामविरति उपदिष्ट है । यहां प्रकरणवशात् कामविरतिरूप मौन आदेय है । प्रकरण के उपसंहार में सूत्रकार ने कहा है—इस कामविरतिरूप मौन का तू सम्यक् पालन कर ।

### पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

८९. से बेमि—तं जहा, अवि हरए पडिपुण्णे, चिट्ठइ समंसि भोमे । उवसंतरए सारखमाणे, से चिट्ठति सोयमज्झगए ।

सं०—अथ ब्रवीमि—तद् यथा, अपि ह्रदः प्रतिपूर्णः तिष्ठति समे भौमे । उपशान्तरजाः संरक्षन् स तिष्ठति स्रोतोमध्यगतः ।

मैं कहता हूँ, जैसे—एक ब्रह्म है, जो प्रतिपूर्ण है, समभूभाग में स्थित है, पङ्कुरहित है, संरक्षण कर रहा है और स्रोत के मध्य में विद्यमान है ।

भाष्यम् ८९—अथ आचार्यमुद्दिश्य ब्रवीमि, तद्यथा—  
ह्रदश्चतुर्विधो भवति—

मैं आचार्य को उद्दिष्ट कर कहता हूँ—ब्रह्म चार प्रकार के होते हैं—

(ख) वृत्तौ न पश्येदिति व्याख्यातमस्ति तथा तासां नरकवीथीनां स्वर्गपर्वगमार्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिकं न पश्येत् ।  
(आचारांग वृत्ति, पत्र १९९)

अत्र द्वे अपि व्याख्ये सङ्गच्छेते, किन्तु शब्दमीमांसायां प्रारिन्कापेक्षया पश्येदिति पासणिए पदस्यार्थः अधिकं संगच्छेते । 'पासणिअ' पदं देशीभाषागतं वर्तते । तस्यार्थो भवति साक्षी—'पासणिओ पासणिओ अ सक्खिम्मि ।'  
(देशीनाममाला ६।४१)

प्रजापनायां 'पासणया' दर्शनायै विद्यते—कतिविहा णं भंते ! पासणया पण्णत्ता ? 'गोयमा ! बुविहा पासणया पण्णत्ता, तं जहा—साभारपासणया अणागारपासणया ।  
(पण्णवणा, पद ३०)

सूत्रकृताङ्गेपि—

णो काहिंए होज्ज संजए पासणिए ण य संपसारए ।

णच्छा धम्मं अणुत्तरं कयकिरिए य ण यावि मामए ॥

(सूयगडो १।२।५०)



१. एकः परिगलत्स्रोताः नो पर्यागलत्स्रोताश्च ।
२. एकः पर्यागलत्स्रोताः नो परिगलत्स्रोताश्च ।
३. एकः परिगलत्स्रोता अपि पर्यागलत्स्रोता अपि ।

४. एकः नो परिगलत्स्रोताः नो पर्यागलत्स्रोताश्च ।

स कमलैः प्रतिपूर्णः समभूभागे तिष्ठति—सुखावतारः सुखोत्तारश्च । उपशांतरजाः निष्पंक इति यावत्, मत्स्यान् कच्छपांश्च संरक्षति । स तिष्ठति श्रोतोमध्यगतः—यस्मिन् श्रोतांसि आगच्छन्ति यतश्च श्रोतांसि निर्गच्छन्ति । एष दृष्टान्तः ।

अत्रोपनयः—प्रथमे भङ्गे तीर्थकरः, द्वितीये जिनकल्पिकः, तृतीये आचार्यः, चतुर्थे प्रत्येकबुद्धश्च । अत्र तृतीयः आचार्यगुणैः निर्मलज्ञानेन वा प्रतिपूर्णः, समभूम्यां—समत्वपरिणामधारायां स्थितः, रजसः—मोहनीयस्य उपशमनं करोति, जीविकायान् संरक्षन् स श्रुतार्थदानग्रहणसद्भावात् श्रोतोमध्यगतस्तिष्ठति ।

१. एक वह द्रह है जिससे स्रोत निकलता है मिलता नहीं ।
२. एक वह द्रह है जिससे स्रोत मिलता है, निकलता नहीं ।
३. एक वह द्रह है जिससे स्रोत निकलता भी है और मिलता भी है ।
४. एक वह द्रह है जिससे न स्रोत निकलता है और न मिलता है ।

वह द्रह कमलों से परिपूर्ण है । वह समतलभूमी पर स्थित है । उसके भीतर जाना और बाहर आना सहज-सुखकर है । वह पंकरहित है । वह मत्स्यों और कच्छपों का संरक्षण करता है । वह स्रोत के मध्य में है—जिसमें स्रोत मिलते भी हैं और निकलते भी हैं । यह एक दृष्टान्त है ।

इसका उपनय इस प्रकार है—पहले द्रह के समान होते हैं तीर्थकर, दूसरे द्रह के समान होते हैं जिनकल्पिक अनगार, तीसरे द्रह के समान होते हैं आचार्य और चौथे द्रह के समान होते हैं प्रत्येकबुद्ध । यहाँ तीसरे प्रकार के द्रह द्वारा आचार्य का निरूपण किया गया है । आचार्य आचार्योचित गुणों से अथवा निर्मलज्ञान से प्रतिपूर्ण, और समभाव की भूमिका में स्थित होकर मोहनीय को उपशांत करता है । वह जीविकायों का संरक्षण करता हुआ श्रुत और अर्थ को लेता भी है और देता भी है, इस प्रकार वह स्रोत के मध्य में स्थित है ।

९०. से पास सध्वतो गुप्ते, पास लोए महिसिणो, जे य पण्णाणमंता पबुद्धा आरंभोवरया ।

सं०—अथ पश्य सर्वतो गुप्तान् पश्य लोके महर्षीन् । ये च प्रज्ञानवन्तः प्रबुद्धाः आरम्भोपरताः ।

लोक में विद्यमान सर्वतः गुप्त महर्षियों को तू देख, जो प्रज्ञानवान्, प्रबुद्ध और आरम्भ से उपरत हैं ।

भाष्यम् ९०—अथ त्वं लोके सर्वैरिन्द्रियैः गुप्तान् महर्षीन् पश्य, ये प्रज्ञानवन्तः<sup>१</sup>—चतुर्दशपूर्वधराः अथवा आचारांगदिधरा वर्तन्ते, ये प्रबुद्धाः<sup>२</sup>—अवधि-मनःपर्यवज्ञानिनः श्रुतधर्मविशारदा वा वर्तन्ते, ये च आरम्भोपरता<sup>३</sup> वर्तन्ते । आरम्भः—अज्ञानं, कषायः, नोकषायः, असंयमो वा । तस्मादुपरता विरता इति यावत् ।

तू लोक में विद्यमान समस्त इन्द्रियों से गुप्त महर्षियों को देख, जो प्रज्ञानवान् हैं—चौदहपूर्वी हैं अथवा आचारांग आदि के धारक हैं, जो प्रबुद्ध हैं—अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी अथवा श्रुतधर्म—आगम-विशारद हैं, जो आरम्भ से उपरत हैं । आरम्भ का अर्थ है—अज्ञान, कषाय, नोकषाय अथवा असंयम । जो उससे उपरत अर्थात् विरत होते हैं वे आरम्भोपरत हैं ।

९१. सम्ममेयंति पासह ।

सं०—सम्यगेतदिति पश्यत ।

यह सम्यग् है । इसे तुम देखो ।

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १९० : भिसं नाणमंता चोद्दस-पुव्वधरा जे अण्णे गणहरवज्जा परंपरण आगया आयरिया जाव अज्जकालं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २०० : प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानं—स्वपरावभासकरत्वावगमस्तद्वन्तः प्रज्ञानवन्तः आगमस्य वेत्तार इत्यर्थः ।

२. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १९० : बुद्धा ओहिमणपज्जव-नाणिणो सुयधम्मो वा बुद्धा जे जहिं काले ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २०० : प्रबुद्धाः—प्रकर्षेण पर्यव तीर्थकृदाह तथैवावगतत्वाः प्रबुद्धाः ।

३. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १९० : आरंभोवरया सि अण्णाणकसायणोक्साय असंजमो वा आरंभो, उवरया गाम विरता ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २०० : आरम्भः—सावच्छो योगस्तस्मादुपरता आरम्भोपरताः ।

भाष्यम् ९१—ये सर्वतो गुप्ताः प्रज्ञावन्तः प्रबुद्धाः आरम्भोपरताश्च भवन्ति त एव महर्षयो वस्तुत आचार्या भवन्ति, एतद् यूयं सम्यक् पश्यत ।<sup>१</sup>

जो सर्वतः गुप्त, प्रज्ञावान्, प्रबुद्ध और आरंभोपरत होते हैं वे महर्षि ही यथार्थरूप में आचार्य होते हैं। यह सम्यग् है, इसे तुम देखो।

### ६२. कालस्य कांक्षाए परिव्रजन्ति त्ति वेमि ।

सं० — कालस्य कांक्षया परिव्रजन्ति इति ब्रवीमि ।

वे जीवन के अन्तिम क्षण तक संयम में परिव्रजन करते हैं, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ९२—ते आचार्याः कालस्य कांक्षया— समाधिमरणकालपर्यन्तं अनया एव परिपाट्या परिव्रजन्ति<sup>२</sup>, इति ब्रवीमि<sup>३</sup> ।

वे आचार्य काल—समाधिमरणकाल की कांक्षा से अर्थात् समाधिमरणकालपर्यन्त इसी विधि से परिव्रजन करते हैं, ऐसा मैं कहता हूँ ।

### ६३. वित्तिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभति समाधि ।

सं०—विचिकित्सासमापन्नः आत्मा नो लभते समाधिम् ।

शंकाशील आत्मा समाधि को प्राप्त नहीं होता ।

भाष्यम् ९३—इदानीं शिष्यप्रकरणं आरभ्यते । शिष्यः अर्थाधिगमार्थं आचार्यमुपसंपद्यते । अर्था द्विविधा भवन्ति—सुखाधिगमाः दुःखाधिगमाश्च । तत्र अमूर्ताः मूर्ता अपि सूक्ष्माश्च अर्था दुःखाधिगमा भवन्ति । तेषामधिगमावसरे विचिकित्सा उत्पद्यते—अयमर्थ एव अन्यथा वा इति विचारो जायते ।<sup>४</sup>

अब यहाँ से शिष्य का प्रकरण प्रारम्भ होता है। शिष्य आगम-विषयों को जानने के लिए आचार्य के पास उपस्थित होता है। आगम-विषय दो प्रकार के होते हैं—सरलता से ज्ञात होने वाले और कठिनाई से ज्ञात होने वाले। अमूर्त विषय और सूक्ष्म मूर्त विषय भी कठिनाई से जाने जाते हैं। उनको जानते समय विचिकित्सा या शंका पैदा होती है—यह विषय इसी प्रकार है या अन्यथा, ऐसा विचार होता है।

समाधिः—एकाग्र्यं समाधानं वा । यः सूक्ष्मेषु अर्थेषु विचिकित्सासमापन्नो भवति स सन्देहदोलायामान्दो-लायमानः कस्मिन्नपि तत्त्वे नैकाग्र्यं लभते, न च सम्यग्दर्शनसमाधिमपि अधिकरोति ।

समाधि का अर्थ है—मन की एकाग्रता अथवा चित्त का समाधान। जो सूक्ष्म अर्थों के प्रति शंकाशील होता है वह संदेह के भ्रूले में भ्रूलता हुआ किसी भी विषय में एकाग्र नहीं हो पाता और न वह सम्यक् दर्शन की समाधि को ही उपलब्ध कर पाता है।

१. 'पश्यत' का प्रयोग दर्शन या चिन्तन की स्वतन्त्रता का सूचक है। सूत्रकार कहते हैं—'मैंने कहा, इसलिए तू इसे स्वीकार मत कर, किन्तु अपनी कुशाघ्रीयबुद्धि व तटस्वभाव से इस विषय को देख।

२. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १९० : कालो णाम समाधि-मरणकालो ।

(ख) आचारांग वृत्ति पत्र २०० : कालः समाधिकालः ।

३. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १९० : सव्वओ वयंतोत्ति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २०० : परि—समग्ताव् व्रजन्ति परिव्रजन्ति उद्यच्छन्ति ।

४. आचारांग चूणि, पृष्ठ १९० : वेमित्ति करणं अज्जाय-अज्जायणमुयखंधं परिमत्तीए भवति, इह उ पगरण-समत्तीए वट्ठं ।

५. भगवत्यामपि एतत्संवादित्वं दृश्यते—

अत्थि णं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति ?

हंता अत्थि ।

कहण्णं भंते ! समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति ?

गोथमा ! तेहि तेहि नाणंतरेहि, वंसणंतरेहि, चरित्तंतरेहि, लिगंतरेहि, पवयणंतरेहि, पावयणंतरेहि, कप्पंतरेहि, भग्गंतरेहि, मत्तंतरेहि, भंगंतरेहि, णयंतरेहि, नियमंतरेहि, पमाणंतरेहि संकिता कंखिता चित्तिक्खित्ता भेदसमावन्ना कलुससमावन्ना—एवं खलु समणा निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेदंति ।

(अंगमुत्ताणि २, भगवई १।१६९, १७०)

६४. सिया वेगे अणुगच्छन्ति, असिया वेगे अणुगच्छन्ति, अणुगच्छमाणोहि अणुगच्छमाणे कर्हं ण णिविज्जे ?

सं०—सिता: वैके अनुगच्छन्ति, असिता: वैके अनुगच्छन्ति, अनुगच्छत्सु अननुगच्छन् कथं न निविन्दीत ।

कुछ तत्त्वज्ञ शिष्य आचार्य का अनुगमन करते हैं, कुछ अतत्त्वज्ञ शिष्य भी अनुगमन करते हैं। अनुगमन करने वालों में कोई अनुगमन न करने वाला उदासीन कैसे नहीं होगा ?

भाष्यम् ९४—शिष्या द्विविधा भवन्ति—सिता असिताश्च । सिताः—संयुक्ताः तत्त्वज्ञानेन, असिताः—असंयुक्ताः तत्त्वज्ञानेन । केचित् सिता अपि आचार्येण प्रतिपाद्यमानमर्थमनुगच्छन्ति, केचिद् असिता अपि तमनुगच्छन्ति । ते अनुगच्छन्तः कृतज्ञभावं प्रदर्शयन्तो भणन्ति—अहो ! सुभाषितं महाश्रमणैः । तेषु अनुगच्छत्सु कश्चिद् अननुगच्छन्—आचार्योक्तं प्रति विचिकित्सां कुर्वाणः कथं न निविन्दीत ? तादृशः अवश्यमेव सम्यग्दर्शनं प्रति तपः संयमं प्रति वा उदासीनो भवेत् ।\*

शिष्य दो प्रकार के होते हैं सित और असित । सित—तत्त्वज्ञान से युक्त, असित—तत्त्वज्ञान से रहित । कुछ शिष्य तत्त्वज्ञान से युक्त होकर भी आचार्य द्वारा प्रतिपादित अर्थ का अनुगमन करते हैं, कुछ तत्त्वज्ञान से असंयुक्त होकर भी उसका अनुगमन करते हैं । वे आचार्य के अर्थ का अनुगमन करते हुए कृतज्ञभाव को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—अहो ! महाश्रमण ने बहुत ठीक कहा है । अनुगमन करने वाले उन शिष्यों में से कोई एक शिष्य आचार्य के कथन के प्रति विचिकित्सा करता है । वह संयम के प्रति उदासीन कैसे नहीं होगा ? वैसा शिष्य अवश्य ही सम्यग्दर्शन अथवा तप-संयम के प्रति उदासीन हो जाता है ।

६५. तमेव सच्चं णीसकं, जं जिणेहि पवेइयं ।

सं०—तदेव सत्यं निःशङ्कं यत् जिनैः प्रवेदितम् ।

वही सत्य और निःशंक है, जो तीर्थंकरों ने प्रवेदित किया है ।

भाष्यम् ९५—तस्य सूक्ष्मतत्त्वमनवबुद्ध्यमानस्य शिष्यस्य निर्वेदं निरसितुमालम्बनसूत्रमिदम् । यदि त्वं सूक्ष्मतत्त्वं प्रतिपत्तुं नार्हसि तथापि तस्मिन् विचिकित्सां मा कुरु । जिनाः वीतरागा भवन्ति । ते अयथार्थं न प्रतिपादयन्ति, तेन एवं श्रद्धां कुरु—यज्जिनैः प्रवेदितं तत् सत्यमेव तत् निःशङ्कमेव । एतत्संवादिसूत्रं भगवत्यामपि दृश्यते ।<sup>३</sup>

सूक्ष्म तत्त्व के अवबोध से शून्य उस शिष्य की उदासीनता के निरसन के लिए यह आलम्बन सूत्र है । यदि तू सूक्ष्म तत्त्व को जानने में असमर्थ है, फिर भी तू उसमें शंका मत कर । जिन वीतराग होते हैं । वे अयथार्थ का प्रतिपादन नहीं करते, इसलिए अपनी श्रद्धा को तू इस प्रकार दृढ़ कर—वीतराग ने जो कहा है, वह सत्य ही है, वह निःशंक ही है । इसका संवादी-सूत्र भगवती में भी प्राप्त होता है ।

१. आचारारंग चूर्णि, पृष्ठ १९१ : ते पुण सिस्सा बुविहा—

सिता य असिता, तस्य सिता बद्धा, जं भणितं गृहस्या, असिया साह, अबद्धा कलत्तातिपासेहि ।

२. खिलता की स्थिति में जो मनःस्थिति निर्मित होती है, उसका वर्णन प्रज्ञा-परिवह और अज्ञान-परीषह में मिलता है—

से नूनं मए पुव्वं कम्माणाणफला कडा ।  
जेणाहं नाभिजाणामि पुट्ठी केणइ कहुई ।  
अह पच्छा उइज्जन्ति कम्माणाणफला कडा ।  
एवमस्सासि अप्पाणं तच्चा कम्मविवाययं ॥  
निरट्ठगम्मि विरओ भेहुणाओ सुसंबुओ ।  
जो सब्बं नाभिजाणामि धम्मं कल्लाणपावरां ॥  
तवोवहाणमावाय पडिमं पडिवज्जओ ।  
एवं पि विहरओ मे छउमं न नियट्ठई ॥

(उत्तरज्जायणाणि, २।४०-४३)

यह प्रथम दुःखशय्या से तुलनीय है—

चत्तारि दुहसेज्जाओ पण्णसाओ, तं जहा—

तस्य खलु इमा पढमा दुहसेज्जा—से णं मुंके भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए णिग्गंथे पावयणे संकिते कंखिते वित्तिगिच्छिते भेयसभावणे कलुससमावणणे निग्गंथं पावयणं णो सहहति णो पत्तियति णो रोएइ, णिग्गंथं पावयणं असइहमाणे अपत्तियमाणे अरोएमाणे मणं उच्चावयं णियच्छति विणिघात-मावज्जति—पढमा दुहसेज्जा । (ठाणं ४।४५०)

३. अंगमुत्ताणि २, भगवई १।१३१, १३२ : से नूनं भंते !

तमेव सच्चं णीसकं, जं जिणेहि पवेइयं ?

हंता गोयमा ! तमेव सच्चं णीसकं, जं जिणेहि पवेइयं ।

से नूनं भंते ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे, एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ?

हंता गोयमा ! एवं मणं धारेमाणे, एवं पकरेमाणे, एवं चिट्ठेमाणे, एवं संवरेमाणे आणाए आराहए भवति ।

६६. सङ्घित्तस्य समणुजस्य संपन्वयमाणस्य—समियंति मण्णमाणस्य एगया समिया होइ । समियंति मण्णमाणस्य एगया असमिया होइ । असमियंति मण्णमाणस्य एगया समिया होइ । असमियंति मण्णमाणस्य एगया असमिया होइ । समियंति मण्णमाणस्य समिया वा, असमिया वा, समिया होइ उवेहाए । असमियंति मण्णमाणस्य समिया वा, असमिया वा, असमिया होइ उवेहाए ।

सं०—श्रद्धिनः समनुजस्य संप्रव्रजतः—सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति, सम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा सम्यग् भवति, असम्यगिति मन्यमानस्य एकदा असम्यग् भवति, सम्यगिति मन्यमानस्य सम्यक् वा, असम्यक् वा, सम्यग् भवति उपेक्षया । असम्यगिति मन्यमानस्य सम्यक् वा, असम्यक् वा. असम्यग् भवति उपेक्षया ।

श्रद्दालु, सम्यग् अनुज्ञा (या आचार) वाला तथा सम्यग् प्रव्रज्या वाला मुनि—किसी व्यवहार को सम्यग् मानता है और वास्तव में वह सम्यग् है । वह किसी व्यवहार को सम्यग् मानता है और वास्तव में वह असम्यग् है । वह किसी व्यवहार को असम्यग् मानता है और वास्तव में वह सम्यग् है । वह किसी व्यवहार को असम्यग् मानता है और वास्तव में वह असम्यग् है । व्यवहार वास्तव में सम्यग् हो या असम्यग्, किन्तु सम्यग् मानने वाले के मध्यस्थ (राग-द्वेष रहित या निष्पक्ष) भाव के कारण वह सम्यग् होता है । व्यवहार वास्तव में सम्यग् हो या असम्यग्, किन्तु असम्यग् मानने वाले के मध्यस्थ भाव के कारण वह असम्यग् होता है ।

भाष्यम् ९६—कश्चित् श्रद्धावान् तदेव सत्यं निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितं इति श्रद्धानः समनुजः—मुनिपदस्य अर्हतां प्राप्तः संप्रव्रजितो भवति ।

कोई श्रद्दालु पुरुष यह श्रद्धा रखता है कि तीर्थंकरों ने जो कहा है वही सत्य है, वही निःशंक है, वह समनुज - मुनिपद की योग्यता को प्राप्त कर प्रव्रजित होता है ।

- (१) स कश्चित् तत्त्वं आचरणं वा सम्यगिति मन्यते तदानीं तत् सम्यग् भवति ।
- (२) स सम्यगिति मन्यते तदानीं तत् असम्यग् भवति ।
- (३) स असम्यगिति मन्यते तदानीं तत् सम्यग् भवति ।
- (४) स असम्यगिति मन्यते तदानीं तत् असम्यग् भवति ।

१. वह किसी तत्त्व या आचरण को सम्यग् मानता है, तब वह सम्यग् होता है ।
२. वह किसी तत्त्व या आचरण को सम्यग् मानता है, तब वह असम्यग् होता है ।
३. वह किसी तत्त्व या आचरण को असम्यग् मानता है, तब वह सम्यग् होता है ।
४. वह किसी तत्त्व या आचरण को असम्यग् मानता है, तब वह असम्यग् होता है ।

एतेषां चतुर्णां भङ्गानां इदानीं भङ्गद्वये समवतारः क्रियते—

इन चारों विकल्पों का दो विकल्पों में समवतार किया जाता है—

- (१) कश्चित् सम्यगिति मन्यते तदानीं तत् सम्यग् वा असम्यग् वा तस्य उपेक्षया सम्यग् भवति ।
- (२) कश्चित् असम्यगिति मन्यते तदानीं तत् सम्यग् वा असम्यग् वा तस्य उपेक्षया असम्यग् भवति ।<sup>२</sup>

१. कोई व्यक्ति किसी तत्त्व या आचरण को सम्यग् मानता है, वह चाहे आचरण सम्यग् हो या असम्यग् किन्तु उसकी उपेक्षा - मध्यस्थता से वह सम्यग् होता है ।
२. कोई किसी तत्त्व या आचरण को असम्यग् मानता है, वह चाहे आचरण सम्यग् हो या असम्यग् किन्तु उसकी मध्यस्थता के कारण वह असम्यग् होता है ।

१. आप्ते, एकदा—Once, at the same time, simultaneously.

२. सब मुनि प्रत्यक्षदर्शी नहीं होते । सबका ज्ञान भी समान नहीं होता और भावधारा भी समान नहीं होती । परोक्ष-दर्शी किसी व्यवहार का अपनी मध्यस्थदृष्टि से निर्णय करता है । वह व्यवहार वास्तव में सम्यग् है या असम्यग् इसका निर्णय वह नहीं कर सकता । इस स्थिति में सूत्रकार ने यह बताया कि जिसका अध्यवसाय शुद्ध है, जिसकी दृष्टि मध्यस्थ है, वह व्यवहारनय से किसी

व्यवहार की स्थापना करता है, वह व्यवहार उसके लिए सम्यग् है । इसी प्रकार उसके द्वारा स्थापित असम्यग् व्यवहार उसके लिए असम्यग् है, भले फिर वह वास्तव में सम्यग् हो या असम्यग् ।

मध्यस्थ भाव से सम्यग् व्यवहार करने वाला भ्रमण सत्य का आराधक होता है । यही तथ्य प्रस्तुत सूत्र में बर्णित है । पांच व्यवहारों के वर्णन से इसकी पूर्ण संगति है । (देखें—ठाणं ५।१२४)

अत्र निश्चयव्यवहारनययोः अनुषङ्गः । निश्चयनयः अतीन्द्रियविषयः प्रज्ञागम्यो भवति, व्यवहारनयश्च बुद्धिगम्यः । कश्चिद् बुद्धियुक्तः प्रव्रजितः किञ्चित् तत्त्वं स्वबुद्ध्या सम्यग् मन्यते, वस्तुतस्तद् असम्यगस्ति, तथैव किञ्चित् तत्त्वं असम्यग् मन्यते, वस्तुतस्तद् सम्यगस्ति । अत्र निश्चयव्यवहारयोः सत्यपि भेदे सूत्रकारः अभेदं प्रस्थापयति । अभेदप्रस्थापकं तत्त्वमस्ति उपेक्षा—माध्यस्थ्यम् । यदि मन्तुः उपेक्षास्ति तदा निश्चयनयस्य असम्यगपि व्यवहारनये सम्यग् मन्यमानं सम्यग् भवति । एवं निश्चयनयस्य सम्यगपि व्यवहारनये असम्यग् मन्यमानं असम्यग् भवति ।<sup>१</sup>

इस विषय में निश्चयनय और व्यवहारनय का प्रसंग है । निश्चयनय अतीन्द्रियज्ञान का विषय और प्रज्ञागम्य होता है । व्यवहारनय बुद्धिगम्य होता है । कोई बौद्धिक व्यक्ति प्रव्रजित होता है और वह अपनी बुद्धि से किसी तत्त्व को सम्यग् मानता है, वस्तुतः वह तत्त्व असम्यग् है, वैसे ही वह किसी तत्त्व को असम्यग् मानता है वस्तुतः वह सम्यग् है । इस विषय में निश्चय और व्यवहार का भेद होने पर भी सूत्रकार अभेद की प्रस्थापना करते हैं । अभेद की प्रस्थापना का मूल तत्त्व है उपेक्षा—मध्यस्थता । यदि मानने वाले व्यक्ति की मध्यस्थता है तो निश्चयनय के अनुसार असम्यग् तत्त्व भी व्यवहारनय के अनुसार सम्यग् माना जाता हुआ सम्यग् होता है । इसी प्रकार निश्चयनय के अनुसार सम्यग् माने जाने वाला तत्त्व भी व्यवहारनय के अनुसार असम्यग् माना जाता हुआ असम्यग् होता है ।

६७. उवेहमाणो अणुवेहमाणं ब्रूया उवेहाहि समियाए ।

सं०—उपेक्षमाणमनुपेक्षमाणं ब्रूयाद् उपेक्षस्व सम्यचे ।

मध्यस्थ भाव रखने वाला मध्यस्थ भाव न रखने वाले से कहे—‘तुम सत्य के लिए मध्यस्थ भाव का अवलंबन लो ।’

भाष्यम् ९७—उपेक्षमाणः पुरुषः अनुपेक्षमाणं पुरुषं ब्रूयाद्—त्वं सम्यचे—सत्यस्योपलब्धये उपेक्षां कुरुष्व—मध्यस्थभावमवलम्बस्व ।

मध्यस्थ भाव रखने वाला पुरुष मध्यस्थ भाव न रखने वाले पुरुष से कहे—तुम सत्य की उपलब्धि के लिए मध्यस्थ भाव का अवलंबन लो ।

६८. इच्छेवं तत्थ संघी श्रोसितो भवति ।

सं०—इत्येवं तत्र संघिः जुष्टः भवति ।

पूर्वोक्त पद्धति से सन्धि आचीर्ण हो जाती है ।

भाष्यम् ९८—इति एवं उपेक्षमाणस्य तत्र काङ्क्षा-मोहनीय कर्मवेदनहेतुके ज्ञानान्तरादिषु त्रयोदशसु अन्तरेषु<sup>२</sup> सन्धिः जुष्टः<sup>३</sup>—सेवितो भवति । सन्धिरिति

इस प्रकार मध्यस्थभाव का आचरण करने वाले व्यक्ति के काङ्क्षामोहनीय कर्म के वेदन में हेतुभूत ज्ञानान्तर आदि तेरह अन्तरों में सन्धि आचीर्ण हो जाती है । यहाँ सन्धि का अर्थ है—सम्यग्दर्शन का

१. (क) चूर्णकारेण प्रव्रज्यामधिकृत्य एतद् व्याख्यातम्—‘समिधंति मण्णमाणस्स, संविग्गमावितो संविग्गमाणं चेव सगासे पव्वइओ, एगदा कयाइ, अहवा एगभाओ एगता पव्वज्जा, एगता गिहत्थेहि कसाएहि वा असंक्कपो, वित्थियस्स समिधंति मण्णमाणस्स एगया असमिया भवति, सो संविग्गसावओ गिण्हगसगासे पव्वइओ, महुराकुंडइलाण वा, पच्छा णेण णातं, अविक्खोविओ वा उस्सन्नसगासे, पच्छा सो समोसर-णादिषु पंथे वा मेत्तोणो पुच्छिओ वुट्ठते कंतंति, जइ लक्खणा चेव पडिक्कमति तो से सो चेव परिताओ, अह पुण सयं ठाणं गंतुं परेहि वा चोवितो अच्छइ थोवं वा बहुयं वा कालं तो पुण उवट्ठाविज्जइ, तत्थिओ संविग्ग-माविओ चेव असंविग्गमाणं चेवंतेण पव्वयति, संकितो पुण मा हु एते गिण्हगा भवेज्जा, पव्वयामि ताव पच्छा जं भविस्सति, संविग्गोहिं समिलोहामि, एवं पव्वइओ पच्छा य अणेण णातं जहा एया गिण्हगा समोसरणादि सेसेसु

संज्ञेषु संभिज्जभाषे, पण्णवणाए वा आघारेण थं पच्छा आलोयए, पुणो उवट्ठाविज्जइ, चउत्थो भिन्नवंसणोऽभि-संकितचित्तान्ण चेव सगासे पव्वइओ, तं चेव से वत्थितं, एवं दुहतोवि असमिता जाता ओसण्णण वा । (चूर्णि, पृष्ठ १९२)

(ख) वृत्तिकारेण अनेकान्तवृष्ट्या व्याख्यातं सूत्रमिदम्—(वृत्ति, पत्र २०२-२०३)

(ग) जयाचार्येण अस्य महती समीक्षा कृतास्ति—(आचारांग की जोड़ ढाल-४२ गाथा १९-७९)

२. अंगसुत्ताणि २, भगवई १।१६९, १७० ।

३. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ १९३; तत्थ तत्थ नागंतरे वंसणं चरित्तंतरे सिगंतरे वा संघाणं संघी वरिसण-संघिमेव, अयं ‘जुषी प्रीतिसेवनयोः’ अहवा, अहवा पवपावसिलोभागाहावत्तउहसअज्जयणमुयक्खंधअंगसंधि-रिति, जुसितं जं भणितं आसेवितं ।

(ख) आचारांग वृत्ति पत्र २०३; सन्धिः कम्मसन्ततिरूपो ‘शोधितः’—क्षपितो भवति ।

सम्यग्दर्शनस्य सन्धानम् । ज्ञानादीनां विविधेषु भेदेषु मध्यस्थभावेनैव सम्यक्त्वं स्थापयितुं शक्यम् ।

संधान । ज्ञान आदि के अनेक भेद हैं । उनमें मध्यस्थभाव रखने से ही सम्यक्त्व की स्थिरता शक्य हो सकती है ।

६६. उद्विग्नस्य स्थितस्य गतिं समनुपपश्यत ।

सं०—उद्विग्नस्य स्थितस्य गतिं समनुपपश्यत ।

तुम संयम में उद्विग्न और स्थित पुरुष की गति को देखो ।

भाष्यम् ९९—यः सम्यगुत्थानेन उद्विग्नः<sup>१</sup>, गुरुकुले स्थितश्च, तस्य गतिं<sup>२</sup>—प्रतिष्ठां, पदवीं वा यूयं समनुपपश्यत । गुरुकुले निवसतः तस्य श्रुतज्ञानस्य योग्यता, दर्शनस्य स्थैर्यं, चारित्र्यस्य च निष्प्रकम्पता सम्यग् जायते ।

जो पुरुष संयम में उद्विग्न है, गुरुकुल में स्थित है, उसकी गति—प्रतिष्ठा या पदवी को तुम सम्यक् प्रकार से देखो । गुरुकुल में निवास करने वाले मुनि में तीन गुण सम्यक् प्रकार से संपादित होते हैं—(१) श्रुतज्ञान की योग्यता, (२) दर्शन की स्थिरता और (३) चारित्र्य की अप्रकम्पता ।

१००. एत्थवि बालभावे अप्पाणं णो उवदंसेज्जा ।

सं०—अत्रापि बालभावे आत्मानं नो उपदर्शयेत् ।

हिंसा निर्दोष है, इस बालभाव में भी तुम अपने को प्रदर्शित मत करो ।

भाष्यम् १००—अत्र हिंसाया विषये केषाञ्चिद् दार्शनिकानां बालभावो विद्यते । ते मन्यन्ते—यथा आकाशे दाहच्छेदी न भवतः तथा आत्मन्यपि दाहच्छेदी न भवतः । आकाशवद् नित्योऽस्ति आत्मा, तेन नास्ति कश्चित् प्राणातिपातः । एतादृशे बालभावे आत्मानं नोपदर्शयेत्, आत्मनः नित्यत्वमधिगत्य हिंसायाः समर्थनं न कुर्यात्, अपितु हिंसायां प्रवृत्तान् एवं प्रतिबोधयेत्—

हिंसा के विषय में कुछेक दार्शनिकों का बालभाव—अज्ञान है । वे मानते हैं—जैसे आकाश में न दाह होता है और न छेद होता है, वैसे ही आत्मा में भी न दाह होता है और न छेद होता है । आत्मा आकाश की भांति नित्य है, इसलिए कोई प्राणातिपात नहीं होता, हिंसा नहीं होती । ऐसे बालभाव—अज्ञान में मुनि अपने को प्रदर्शित न करे । आत्मा का नित्यत्व जान कर हिंसा का समर्थन न करे, किन्तु हिंसा में प्रवृत्त मनुष्यों को इस प्रकार प्रतिबोध दे—

१०१. तुमंसि नाम सच्चेव जं 'हंतव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'अज्जावेयव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'परित्तावेयव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'परिघेतव्वं' ति मन्नसि, तुमंसि नाम सच्चेव जं 'उद्देयव्वं' ति मन्नसि ।

सं०—त्वमसि नाम स एव यं हन्तव्य इति मन्यसे, त्वमसि नाम स एव यं आज्ञापयितव्य इति मन्यसे, त्वमसि नाम स एव यं परित्तापयितव्य इति मन्यसे, त्वमसि नाम स एव यं परिरिहीतव्य इति मन्यसे, त्वमसि नाम स एव यं उद्द्रोतव्य इति मन्यसे ।

जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू आज्ञा में रखने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू परित्ताप देने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू वास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है ।

१-२. (क) आचारंग चूर्ण, पृष्ठ १९३, उद्विग्नस्य गुरुकुले वसंतो गतिं समनुपपश्यत, किं गतिं गतो ? जहा कोयि रायसेवगो राध्याणं आराहित्तं पट्टबंधं पत्तो, तत्थ सोए वत्तारो भवन्ति—पेह अमुगो कं गतिं गभो ? एवं अन्मितरइस्सरियत्तणेण महाविज्जाए वा, इह हि आयरियकुलावासे वसंतो 'णीयं सेज्जं गतिं ठाणं णियसा (णीयं च आ) सणाणि या' एवं वट्टमाणो 'पूज्जा य से पत्तीयंति, संबुद्धा

पुञ्जसंयुता ।' सो अचिरयकालेण आयरियपदं पावति पट्टबंधाणीयं, अतो बुच्चति—उद्विग्नस्य उद्विग्नस्य, अन्नाओधि रिद्धिओ पावति, सिद्धिगतिं देवलोणं वा ।'

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र २०३, उद्विग्नस्य निःशंकस्य भद्रावतः स्थितस्य गुरुकुले गुरोराज्ञायां वा या गतिर्भवति, या पदवी भवति ।

भाष्यम् १०१—यं त्वं हन्तव्य इति मन्यसे स नाम त्वमेव । अस्मिन् आत्मनः अद्वैतं प्रदर्शितम् । यं त्वं जिघांससि स नास्ति त्वत्तोऽन्यः, तेन तं घातयन् किं नात्मानमेव हन्सि ? अनया अद्वैतानुभूत्या हिंसातः सहजा विरतिर्जायते । यत्र द्वैतानुभूतिः परानुभूतिर्वा तत्र हननादीनां प्रसङ्गः, तेन स्वरूपगतस्य अद्वैतस्य उपदेशः । एवमन्यत्रापि ।

‘जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है ।’ इस वाक्य में आत्मा का अद्वैत प्रतिपादित है । जिसको तू मारना चाहता है, वह तेरे से भिन्न नहीं है । क्या तू उसकी घात करता हुआ स्वयं की घात नहीं कर रहा है ? इस अद्वैत की अनुभूति से हिंसा से सहज विरति हो जाती है । जहां द्वैत की या पर की अनुभूति होती है, वहां हनन आदि का प्रसंग आता है, इसलिए यहाँ आत्मा के स्वरूपगत अद्वैत का उपदेश दिया गया है । इसी प्रकार अन्य आलापकों के विषय में समझ लेना चाहिए ।

१०२. अंजू चैय पडिबुद्ध-जीवी, तस्मात् न हंता न विघातयेत् ।

सं०—ऋजुः चैतत् प्रतिबुद्धजीवी, तस्मात् न हंता न विघातयेत् ।

जानी पुरुष ऋजु तथा समझ कर जीने वाला होता है । इसलिए वह स्वयं हनन नहीं करता और न दूसरों से करवाता है ।

भाष्यम् १०२—अहिंसकः ऋजुर्भवति । स च हन्तव्य-घातकयोरेकतां प्रतिपद्य जीवति, न तु भयेन शठतया वा एतं सिद्धान्तं स्वीकरोति, तस्मात् स न स्वयं प्राणिनो हिनस्ति न चान्येन घातयति ।

अहिंसक व्यक्ति ऋजु होता है । वह हन्तव्य और घातक-दोनों की एकता को स्वीकार कर जीता है । वह भय या शठता से इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं करता, इसलिए वह न स्वयं प्राणियों की हिंसा करता है और न दूसरों से करवाता है ।

१०३. अनुसंवेद्यमप्याणेषां, जं ‘हंतव्यं’ ति नाभिपश्येत् ।

सं०—अनुसंवेदनं आत्मना, यत् हन्तव्य इति नाभिप्रार्थयेत् ।

अपना किया हुआ कर्म अपने को ही भुगतना होता है, इसलिए किसी के हनन की इच्छा मत करो ।

भाष्यम् १०३—त्वया यत् कर्म कृतं तस्य फलं त्वया भोक्तव्यमिति ‘आत्मना अनुसंवेदनम्’ उच्यते । उक्तञ्च चूर्णा—‘जहा तुमो वेदावितो तद्देव वेतितव्यं ।’ यस्मात् कश्चिदपि प्राणी हन्तव्य इति नाभिलषेत् ।

जो कर्म तुमने किया है, उसका फल तुमको ही भुगतना होगा । यह ‘स्वयं का अनुसंवेदन’ कहलाता है । चूर्ण में कहा है—‘जैसे तुमने दूसरों को संवेदित कराया है, वैसा ही तुम्हें संवेदन करना होगा ।’ इसलिए किसी भी प्राणी के हनन की इच्छा न करे ।

१०४. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया । जेण विजाणति से आया ।

सं०—यः आत्मा स विज्ञाता, यो विज्ञाता स आत्मा । येन विजानाति तद् आत्मा ।

जो आत्मा है, वह ज्ञाता है और जो ज्ञाता है, वह आत्मा है । जिस साधन से आत्मा जानती है, वह ज्ञान आत्मा है ।

भाष्यम् १०४—आत्मा द्रव्यम् । ज्ञानं तस्य गुणः । द्रव्याद् गुणः भिन्नः अभिन्नो वा इति जिज्ञासायां निर्दिशति सूत्रकारः—य आत्मा स विज्ञाता । तात्पर्य-मस्य—आत्मा नास्ति ज्ञानविरहितः । यः विज्ञाता स आत्मा । अस्य तात्पर्यम्—ज्ञानं नास्ति आत्मविरहितम् । आह चूर्णिकारः—‘णवि अप्पा नाणविण्णाणविरहितो कोइ, जहा अणुण्हो अग्गी णत्थि, ण य उण्हं अग्गीओ अत्थंतरं, तेण अग्गी वुत्ते उण्हं वुत्तमेव भवति, तद्वा आता इति वुत्ते विण्णाणं भणितमेव भवति, विण्णाणे भणिते अप्पा भणितमेव भवति । एवं गतं गतिपच्चा-गतिलक्खणेणं ।’

आत्मा द्रव्य है । ज्ञान है उसका गुण । द्रव्य से गुण भिन्न है अथवा अभिन्न, इस जिज्ञासा के प्रसंग में सूत्रकार कहते हैं—जो आत्मा है, वह विज्ञाता है । इसका तात्पर्य है कि आत्मा ज्ञान-शून्य नहीं है । जो विज्ञाता है, वह आत्मा है । इसका तात्पर्य है—ज्ञान आत्माशून्य नहीं है । चूर्णिकार कहते हैं—‘कोई भी आत्मा ज्ञान-विज्ञान से रहित नहीं है । जैसे अग्नि अनुष्ण नहीं होती । उष्णता अग्नि से भिन्न पदार्थ नहीं है, इसलिए अग्नि के कथन से उष्णता का कथन स्वयं हो जाता है । उसी प्रकार आत्मा के कथन से विज्ञान का कथन स्वयं हो जाता है और विज्ञान के कथन से आत्मा का कथन स्वयं हो जाता है । इस प्रकार गत-प्रत्यागत लक्षण से इस आलापक का अर्थ किया गया है ।’

भगवत्यामपि आत्मचैतन्ययोरभेदः प्रतिपादितो-  
स्ति—

जीवे णं भंते ! जीवे ? जीवे जीवे ?

गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा  
जीवे ।\*

अस्मिन् प्रतिपादितम्—आत्माऽपि जीवः चैतन्यमपि  
जीवः । येन करणभूतेन आत्मा विजानाति तज्ज्ञानं  
आत्मा ।\*

१०५. तं पञ्च पडिसंख्याए ।

सं०—तत् प्रतीत्य प्रतिसंख्यायते ।

उस ज्ञान की विभिन्न परिणतियों की अपेक्षा से आत्मा का व्यपदेश होता है ।

भाष्यम् १०५—यदि आत्मनः ज्ञानस्य च अभेदः  
सम्मतः तर्हि ज्ञानबहुत्वे सति प्रत्येकमात्मनः बहुत्वं  
भविष्यति । मतिज्ञानादीनां अनन्ताः पर्यवाः सन्ति ।<sup>३</sup>  
तस्यामवस्थायां एक आत्मा अनन्तमात्मत्वं प्राप्स्यति  
इति जिज्ञासायां सूत्रकारः निर्दिशति—अयमात्मा यद्  
यद् ज्ञानं परिणमति तत् तत् प्राप्य तत्पक्षो भवति, तेन  
स तस्य ज्ञानस्यापेक्षया ज्ञायते व्यपदिश्यते वा । यदा स  
घटज्ञानेन उपयुक्तो भवति तदा घटज्ञानो भवति । एवं  
श्रोत्रोपयुक्तः श्रोत्रेन्द्रियः यावत् स्पर्शोपयुक्तः स्पर्शेन्द्रियो  
भवति । घटज्ञाने न पटस्योपयोगः भवति, पटज्ञाने च नैव  
भवति घटस्योपयोगः ।

अत्र त्रिपदी समवतारणीया—

आत्मा उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तः । आत्मनः अस्तित्वं  
ध्रुवं, ज्ञानस्य परिणामाः उत्पद्यन्ते व्ययन्ते च ।

एतां त्रिपदीं प्रतीत्य एक एव आत्मा नानारूपे  
प्रतिसंख्यातो भवति ।\*

१०६. एष आत्मवादी सम्यक्पर्यायः व्याहृतः ।—त्ति बेमि ।

सं० एष आत्मवादी सम्यक्पर्यायः व्याहृतः ।—इति ब्रवीमि ।

यह आत्मवादी सम्यक् पर्याय कहलाता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

१. अंगमुत्ताणि २, भगवई, ६।१७४ ।

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १९५ : अणो मज्जति—कि  
जे आत्मा से विष्णायामा ? जे विष्णायामा से आत्मा ?  
पुच्छा, वागरणं तु जेण विद्याणति से आत्मा, केण  
विद्याणति ? नाणेणं पंचविहेणं विद्याणति, तं च नाणं  
अप्पा चेव, ण ततो अत्थंत्तरं अप्पा ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २०५ : येन मत्यादिना ज्ञानेन  
करणभूतेन क्रियारूपेण वा विविधं—सामान्यविशेषा-

भगवती आत्म में भी आत्मा और चैतन्य का अभेद प्रति-  
पादित है—

गौतम ने पूछा—भंते ! आत्मा जीव है या चैतन्य जीव है ?

भगवान् बोले—गौतम ! आत्मा नियमतः जीव है और  
चैतन्य भी नियमतः जीव है ।\*

इसका प्रतिपाद्य है कि आत्मा भी जीव है और चैतन्य भी  
जीव है । जिस साधन से आत्मा जानती है, वह ज्ञान भी आत्मा है ।

यदि आत्मा और ज्ञान का अभेद सम्मत है तो फिर ज्ञान की  
अनेकता से प्रत्येक आत्मा की भी अनेकता हो जाएगी । मतिज्ञान आदि  
के अनन्त पर्यव हैं, उस स्थिति में एक आत्मा अनन्त आत्माएं बन  
जाएगी । इस जिज्ञासा के प्रसंग में सूत्रकार कहते हैं—यह आत्मा  
जिस-जिस ज्ञान में परिणत होती है, उस उसको प्राप्त कर वह वैसी ही  
बन जाती है, इसलिए वह आत्मा उस ज्ञान की अपेक्षा से जानी जाती  
है या व्यपदिष्ट होती है । जब वह घटज्ञान से उपयुक्त होती है तब  
वह आत्मा 'घटज्ञान' होती है । इस प्रकार श्रोत्र के विषय में उपयुक्त  
होकर श्रोत्रेन्द्रिय, यावत् स्पर्श के विषय में उपयुक्त होकर स्पर्शेन्द्रिय  
हो जाती है । घटज्ञान में पट का उपयोग नहीं होता और न पटज्ञान  
में घट का उपयोग होता है ।

यहां इस त्रिपदी का समवतार करना चाहिए—

आत्मा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्त है ।

आत्मा का अस्तित्व ध्रुव है ।

ज्ञान के परिणाम उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं ।

इस त्रिपदी के आधार पर एक आत्मा का अनेक रूपों में  
व्यपदेश होता है ।

कारतया वस्तु जानाति विजानाति स आत्मा, न  
तस्मिन्वात्मनो भिन्नं ज्ञानं, तथाहि—न करणतया  
भेदः, एकस्यापि कर्तृकर्मकरणभेदेनोपलब्धेः, तथाया--  
देवदत्त आत्मानमात्मना परिच्छिनत्ति ।

३. अंगमुत्ताणि २, भगवई २।१३७ ।

४. चूर्णकारेण एतत् सूत्रं व्यापकदृष्ट्यापि व्याख्यातम् ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १९५)



भाष्यम् १०६—पूर्वोक्तं आत्मवादं अभ्युपगच्छन् एष आत्मवादी सम्यक्पर्यायः व्याहृतः । तस्यैव पर्यायः सम्यग् भवति य आत्मनः यथार्थं स्वरूपं परिच्छिनत्ति ।

पूर्वोक्त आत्मवाद को स्वीकार करने वाला आत्मवादी सम्यक् पर्याय वाला (सत्य का पारगामी) कहलाता है । उसी का ही पर्याय सम्यग् होता है जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है ।

## छट्टो उद्देशो : छठा उद्देशक

१०७. अणाणाए एगे सोपट्टाणा, आणाए एगे निरुपट्टाणा ।

सं०- अनाज्ञायां एके सोपस्थानाः आज्ञायां एके निरुपस्थानाः ।

कुछ पुरुष अनाज्ञा में उद्यमी और आज्ञा में अनुद्यमी होते हैं ।

भाष्यम् १०७—केचित् पर्यायं गृहीत्वापि मोहा-भिभूताः न सम्यक् पर्यायं प्रवर्तन्ते । तान् लक्ष्यीकृत्य आचार्यः शिष्यान् संबोधयति—एके मुनयः अनाज्ञायां सोपस्थानाः—कृतीद्यमाः भवन्ति । एके आज्ञायां निरुपस्थानाः—निरुद्यमा भवन्ति ।

कुछ मनुष्य प्रव्रज्या ग्रहण करके भी मोह से अभिभूत होकर प्रव्रज्या में सम्यक् प्रवर्तित नहीं होते । उन शिष्यों को लक्ष्य कर आचार्य कहते हैं—कुछ मुनि अनाज्ञा में उद्यम करने वाले होते हैं । कुछ मुनि आज्ञा में निरुद्यमी होते हैं, उद्यम करने वाले नहीं होते ।

अनाज्ञा—अनुपदेशः स्वमनीषिकाचरितमाचरण-मिति । तस्यामुद्यमस्य कारणमस्ति इन्द्रियपरवशता, स्वाभिमानप्रदर्शनं, पूर्वाग्रहश्च ।

अनाज्ञा का अर्थ है—तीर्थंकर का अनुपदेश, अपनी बुद्धि से किया हुआ आचरण । उस (अनाज्ञा) में उद्यम करने का मूल हेतु है—इन्द्रियों की परवशता, अपने अहं का प्रदर्शन और पूर्वाग्रह ।

आज्ञा—उपदेशः, तस्यामनुद्यमस्य कारणमस्ति आलस्यं, स्तब्धता, उदासीनता च ।

आज्ञा का अर्थ है—तीर्थंकर का उपदेश । उसमें अनुद्यम का कारण है—आलस्य, अहंकार और उदासीनता ।

१०८. एतं ते मा होउ ।

सं०—एतत् तव मा भवतु ।

यह तुम्हारे मन में न हो ।

भाष्यम् १०८—शिष्यस्योपरि अनुकम्पासलिलकणान् वर्षयन्त इव आचार्या ब्रुवते—एतत् कुमारगवासनावासितान्तःकरणत्वं सन्मार्गावसीदनं च, द्वयमपि मा भूत् ।<sup>१</sup>

शिष्यों पर मानो करुणा के रस-कणों को बरसाते हुए आचार्य कहते हैं—शिष्यो ! दो बातें तुम्हारे में न हों—१. तुम्हारा मन कुमारग की वासना से वासित न हो । २. सन्मार्ग में मन विषादग्रस्त न हो ।

१०९. एयं कुशलस्स दंसणं ।

सं०—एतत् कुशलस्य दर्शनम् ।

यह महावीर का दर्शन है ।

भाष्यम् १०९—अनाज्ञायामुद्यमः आज्ञायामनुद्यमश्च न श्रेयसे भवति, तदेतत् कुशलस्य—भगवतो महावीरस्य दर्शनमस्ति ।<sup>२</sup>

अनाज्ञा में उद्यम तथा आज्ञा में अनुद्यम कल्याण के लिए नहीं होता, यही दर्शन भगवान् महावीर का है ।

## ११०. तद्दृष्टीए तन्मुत्तीए, तप्पुरक्कारे तस्सण्णी तन्निवेशणे ।

सं०—तद्दृष्टिकः तन्मूर्तिकः तत्पुरस्कारः तत्संज्ञी तन्निवेशनः ।

मुनि महावीर के दर्शन में दृष्टि नियोजित करे, उसमें तन्मय हो, उसे प्रमुख बनाए, उसकी स्मृति में एकरस हो और उसमें वसचित्त होकर उसका अनुसरण करे ।

भाष्यम् ११०—द्वष्टव्यम्—५।६८ भाष्यम् ।

देखें—५।६८ का भाष्य ।

## १११. अभिभूय अबक्खू, अणभिभूते पभू निरालंबणयाए ।

सं०—अभिभूय अद्राक्षीत् अनभिभूतः प्रभुः निरालम्बनतार्यं ।

घातिकर्मों को अभिभूत कर महावीर ने देखा कि जो बाधाओं से अभिभूत नहीं होता, वही निरालम्बी होने में समर्थ होता है ।

भाष्यम् १११—चत्वारि घातिकर्माणि अभिभूय भगवान् अद्राक्षीत्—यः अनुकूलप्रतिकूलैः परीषहोपसर्गैः अनभिभूतः स निरालम्बनतार्यं प्रभुर्भवति, आलम्बनानि परित्यक्तुमर्हति । यथा उत्तराध्ययने—संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ । निरालंबणस्स य आययट्टियाजोगा भवंति । सएणं लाभेणं संतुस्सइ परलाभं नो आसाएइ नो तक्केइ नो पीहेइ नो पत्थेइ नो अभिलसइ । परलाभं अणासायमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसमाणे दुच्चं सुहसेज्जं उपसंपज्जित्ताणं विहरइ ।<sup>१</sup>

चार घातिकर्मों को नष्ट कर भगवान् महावीर ने देखा—जो मुनि अनुकूल और प्रतिकूल परीषहों और उपसर्गों से पराजित नहीं होता, वह निरालम्बी होने में समर्थ होता है, वह सभी आलंबनों को छोड़ सकता है । जैसे उत्तराध्ययन में कहा है—शिष्य ने पूछा—भंते ! संभोज-प्रत्याख्यान से जीव क्या प्राप्त करता है ?

आचार्य ने कहा—संभोज-प्रत्याख्यान से मुनि आलम्बन-मुक्त हो जाता है । जो निरालम्ब होता है, उसके सारे प्रयत्न मोक्ष की सिद्धि के लिए होते हैं । स्वयं उसे भिक्षा में जो कुछ मिलता है वह उसी में संतुष्ट हो जाता है । दूसरे मुनियों को मिली हुई भिक्षा में वह आस्वाद नहीं लेता, उसकी ताक नहीं रखता, स्पृहा नहीं करता, प्रार्थना नहीं करता और अभिलाषा नहीं करता । वह दूसरे को मिली हुई भिक्षा में आस्वाद न लेता हुआ, उसकी ताक न रखता हुआ, स्पृहा न करता हुआ, प्रार्थना न करता हुआ और अभिलाषा न करता हुआ दूसरी सुख-शय्या को प्राप्त कर विहरण करता है ।

## ११२. जे महं अबहिमणे ।

सं०—यो महान् अबहिर्मनाः ।

जो मोक्षलक्षी है, वह मन को असंयम में न ले जाए ।

भाष्यम् ११२—यो महान्—पुरस्कृतमोक्षः स अबहिर्मना भवति, न च स संयमात् शासनात् पञ्च-विधाचारपदाद् वा बहिल्लेश्यो भवति ।<sup>२</sup>

जो महान् अर्थात् मोक्षलक्षी होता है, वह अबहिर्मना होता है । वह न संयम से, न धर्म की शासना से और न पांच प्रकार के आचारों के अध्यवसायों से बाहर होता है ।

## ११३. पवाएणं पवार्यं जाणेज्जा ।

सं०—प्रवादेन प्रवादं जानीयात् ।

प्रवाद को प्रवाद से जानना चाहिए ।

१. उत्तरउत्थयणाणि २९।३४ ।

२. चूर्णो 'महं' इति पदं नास्ति श्याख्यातम् । तस्य स्थाने 'अहं' इति पदं दृश्यते । लेश्यामनसोरेकत्वमपि लभ्यते—जे इति णिहेसो, अहमेव सो जो अबहिमणो—ण णिग्गयमणो

संजमाओ सासणाओ वा पंचविहायारपयाओ वा अबहिल्लेसो, जति अण्णउत्थियाणं वेउभिवयाइरिद्धिओ पासति तहावि न बहीमणो भवति, छलवाते वा णिग्गहीतो ण बहिल्लेसो भवति । (चूर्णि, पृष्ठ १९६)

भाष्यम् ११३—प्रवादेन—आत्मीयदर्शनेन प्रवाद—  
अन्यदर्शनं जानीयात्, तं परीक्षेत इति यावत् । तस्य  
परीक्षायां सति मध्यस्थभावे नास्ति कश्चिद् दोषः । यथा  
च चूर्णो—णणु एवं परसिद्धतदोसकहाए रागदोसा ?  
भण्णति, जहा—उप्पहम्मगं दरिसैतस्स ण दोसो भवति,  
जहा अपत्थभोयणातो आतुरं णिदारंतस्स ण दोसो, एवं  
सएणं पवादेणं परवादे दुट्ठे दरिसैतस्स ण रागदोसो  
भवति ।<sup>१</sup>

मुनि अपने दर्शन से दूसरे दर्शन को जाने, उसकी परीक्षा  
करे। मध्यस्थ भाव में स्थित होकर उसकी परीक्षा करने में कोई दोष  
नहीं है। चूर्ण का अभिमत है—क्या अन्य दर्शन के दोष-कथन में  
राग-द्वेष का भाव होता है? उत्तर में कहा गया है—उत्पथ की बात  
बताने में कोई दोष नहीं है। जैसे—रोगी को अपथ्य भोजन करने से  
रोकना दोष नहीं कहलाता। इसी प्रकार स्व-सिद्धांत के आधार पर  
पर-सिद्धांत के दोष दिखाने में कोई राग-द्वेष नहीं माना जा सकता।

११४. सहसम्मइयाए, परवागरणेणं, अण्णेसि वा अंतिए सोच्छा ।

सं०—स्वसंस्मृत्या परव्याकरणेन अन्येषां वा अन्तिके श्रुत्वा ।

स्वस्मृति से, पर—आप्त के निरूपण से अथवा अन्य किसी अतिशयज्ञानी से सुनकर प्रवाद को जाना जा सकता है।

भाष्यम् ११४—अन्य प्रवादानां परीक्षायै एतानि  
त्रीणि साधनानि प्रयोक्तव्यानि—

१. स्वसंस्मृतिः—पूर्वजन्मनः स्मृतिः ।

२. परव्याकरणम्—तीर्थकरव्याकरणम् ।

३. अन्येषामन्तिके श्रवणम्—अतिशयज्ञानिना स्वतः  
एव निरूपितं श्रुत्वा ।

विशेषव्याख्यानाथं द्रष्टव्यम्—आयारो १/१-४  
सूत्राणां भाष्यम् ।

अन्य दर्शनों की परीक्षा करने में इन तीन साधनों का प्रयोग  
करना चाहिए।

१. स्वसंस्मृति—पूर्वजन्म की स्मृति ।

२. परव्याकरण—तीर्थकरों द्वारा व्याख्यात ।

३. अतिशयज्ञानी के द्वारा स्वतः ही निरूपित तथ्य को  
सुनकर ।

विशेष विवरण के लिए देखें—आयारो १/१-४ सूत्रों का  
भाष्य ।

११५. णिहेसं णातिवट्ठेज्जा मेधावी ।

सं०—निर्देशं णातिवर्तेत मेधावी ।

मेधावी निर्देश का अतिक्रमण न करे ।

भाष्यम् ११५—प्रवादं सम्यगवधार्यं मेधावी पुरुषः  
तीर्थकरस्य निर्देशं नातिवर्तेत ।

प्रवाद—स्व-सिद्धांत की सम्यग् अवधारणा कर मेधावी पुद्गल  
तीर्थकर के निर्देश का अतिक्रमण न करे ।

११६. सुप्रतिलिख्य सर्वतो सठवयाए सम्ममेव समभिजाणिया ।

सं०—सुप्रतिलिख्य सर्वतः सर्वतया सम्यगेव समभिजाय ।

सब प्रकार से, सम्पूर्णा रूप से निरीक्षण कर सत्य का ही अनुशीलन करना चाहिए ।

भाष्यम् ११६—स्वसंस्मृत्यादीनां त्रयाणां उपलब्धि-  
कारणानां अन्यतरेण उपलब्धिकारणेन तीर्थकरस्य  
सिद्धांतं सुप्रतिलिख्य सर्वतः इति द्रव्यक्षेत्रकालभावैः

आत्मा को अथवा अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने के तीन साधन  
हैं—स्व-स्मृति, आप्त पुरुष के निरूपण से अथवा आप्त के अतिरिक्त  
अन्य विशिष्ट ज्ञानी के पास सुन कर। इनमें से किसी एक कारण से

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १९६-१९७ ।

(ख) धर्म और दर्शन के क्षेत्र में परीक्षा मान्य रही है।  
किसी भी प्रवाद (दर्शन) को स्वीकार करने वाला  
दूसरे प्रवादों की परीक्षा करना चाहता है। भगवान्  
महावीर ने इस परीक्षा की स्वीकृति दी। उन्होंने  
कहा—मुनि अपने प्रवाद को जानकर दूसरे प्रवादों  
को जाने, उनकी परीक्षा करे। किन्तु उसके पीछे

राग-द्वेष का दृष्टिकोण नहीं होना चाहिए। अपने  
प्रवाद के प्रति राग और दूसरे प्रवादों के प्रति द्वेष  
नहीं होना चाहिए। अपने प्रवाद की विशेषता और  
दूसरे प्रवादों की होनता दिखाने का मनोभाव नहीं  
होना चाहिए। परीक्षा-काल में पूर्ण मध्यस्थभाव  
और समभाव होना चाहिए।

सर्वतया इति बाह्याभ्यन्तरेण कारणेन सम्यगेव समभिज्ञाय निर्देशं नातिवर्तते इत्यनुवर्तते ।

तीर्थंकर के सिद्धांत का संपूर्ण रूप से निरीक्षण कर, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से अर्थात् बाह्य और आभ्यन्तर रूप से उसका पूर्ण अवबोध कर उस निर्देश का अतिक्रमण न करे । यह पूर्व सूत्र से अनुवृत्त है ।

११७. इहारांमं परिणाय, अहलोण-गुत्तो परिष्वए । णिद्वियद्वी वीरे, आगमेण सदा परक्कमेज्जासि त्ति वेमि ।

सं०—इहारांमं परिज्ञाय, आलीनगुप्तः परिष्वजेत् । निष्ठितार्थः वीरः आगमेन सदा पराक्रमेत इति ब्रवीमि ।

इस आत्म-रमण की परिज्ञा कर, आत्म-लीन और जितेन्द्रिय होकर परिव्रजन करे । वैसा कृतार्थ, वीर मुनि सदा आगम के अनुसार पराक्रम करे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ११७—इह आरामं परिजानीयात् । तपो-नियमसंयमे वैराग्ये परीषहोपसर्गविजये च आ समन्ताद् रमणम्—आरामः । तं ज्ञपरिज्ञया विज्ञाय प्रत्याख्यान-परिज्ञया अनारामं प्रत्याख्याय आत्मलीनः इन्द्रियजयी च भवेत् । तादृशः निष्ठितार्थः वीरः आगमेन सदा पराक्रमेत इति ब्रवीमि ।

जिनशासन में साधक 'आराम' की परिज्ञा करे । आराम का अर्थ है—तप, नियम, संयम, वैराग्य, परीषह और उपसर्ग विजय में संपूर्णरूप से रमण करना । उस 'आराम' को ज्ञपरिज्ञा से जानकर तथा प्रत्याख्यान परिज्ञा से अनाराम का प्रत्याख्यान कर साधक आत्मलीन और जितेन्द्रिय हो जाए । वैसा कृतकृत्य वीर साधक सदा आगम के निर्देशानुसार पराक्रम करे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

११८. उड्डं स्रोता अहे स्रोता, तिरियं स्रोता वियाहिया, एते सोया वियक्खाया, जेहि संगंति पासहा ।

सं०—ऊर्ध्वं स्रोतांसि, अधः स्रोतांसि, तिर्यक् स्रोतांसि व्याहृतानि, एतानि स्रोतांसि व्याख्यातानि, यैः संगः इति पश्यत ।

ऊपर स्रोत हैं, नीचे स्रोत हैं, मध्य में स्रोत हैं । ये स्रोत कहे गए हैं । इनके द्वारा मनुष्य आसक्त होता है, यह तुम देखो ।

भाष्यम् ११८—मुखं, कर्णौ, नेत्रे, नासिके—एतानि सप्तस्रोतांसि शरीरस्योर्ध्वभागे वर्तन्ते । शरीरस्य तिर्यग्भागे स्तनद्वयं वर्तते । अधोभागे गुदमेढूरक्तवहानि च ।<sup>१</sup> एतानि स्रोतांसि व्याख्यातानि ।

शरीर के ऊर्ध्व भाग में सात स्रोत हैं—एक मुख, दो कान, दो नेत्र, दो नासिकाएं । शरीर के मध्य भाग में दो स्तन हैं । शरीर के अधो भाग में गुदा, लिंग और रक्तवहा (योनि) है । ये स्रोत कहे गए हैं ।

स्रोतः—इन्द्रियाणि, तद्विषयासेवनप्रयुक्तान्यङ्गानि च । नवमाध्ययने<sup>२</sup> द्विविधं स्रोतः प्रतिपादितमस्ति—आदानस्रोतः अतिपातस्रोतश्च । अत्र आदानस्रोतः प्रस्तुतमस्ति ।<sup>३</sup>

स्रोत का अर्थ है—इन्द्रियां और इन्द्रिय-विषयों के आसेवन में प्रयुक्त शरीर के अंग । प्रस्तुत आगम के नीचे अध्ययन में दो प्रकार के स्रोत प्रतिपादित हैं—आदानस्रोत तथा अतिपातस्रोत । यहां आदान-स्रोत प्रस्तुत है ।

एतैः स्रोतोभिः संगः—रागो<sup>४</sup> भवति इति पश्यत ।

इन स्रोतों से संग—राग होता है, इसे तुम देखो ।

११९. आवट्टं तु उवेहाए, एत्थ विरमेज्ज वेयवी ।

सं०—आवर्त्तं तु उपेक्ष्य, अत्र विरमेत् वेदविद् ।

आवर्त्तं का निरीक्षण कर जानो पुरुष उससे विरत हो जाए ।

भाष्यम् ११९—आवर्त्तः पूर्ववत् ज्ञेयः ।<sup>५</sup> तं उपेक्ष्य—सामीप्येन समबलोक्य वेदविद्—शास्त्रज्ञः एतस्मात् आवर्त्ताद् विरमेत् ।

आवर्त्त की व्याख्या पूर्ववत् है । राग-द्वेष के आवर्त्त का निकटता से निरीक्षण कर शास्त्रज्ञ पुरुष उससे विरत हो जाए ।

१. सुश्रुतसंहिता शरीरस्थानम्, ५।१० : श्वण-नयन-वदन-प्राण-गुद-नेत्राणि न च स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि च त्रीणि—द्वे स्तनयोरधस्ताद् रक्तवहं च ।

२. आयारो, ९।१।१६ ।

३. वही, ४।४५ सूत्रेऽपि आदानस्रोतसः प्रतिपादनमस्ति ।

४. द्रष्टव्यम्—आयारो ३।६ ।

५. द्रष्टव्यम्—आयारो ३।६ ।

१२०. विणएत्तु सोयं णिक्खम्म, एस महं अकम्मा जाणति पासति ।

सं०—विनीय स्रोतः निष्क्रम्य एष महान् अकर्मा जानाति पश्यति ।

इन्द्रिय-विषय का परित्याग कर निष्क्रमण करने वाला वह महान् साधक अकर्मा होकर जानता, देखता है ।

भाष्यम् १२०—गृहाद् अभिनिष्क्रमणं विधाय स्रोतः—  
शब्दादयः इन्द्रियविषयाः, तस्मिन् रागद्वेषयोर्विनयनं  
कृत्वा एष महान् अकर्मा—ध्यानस्थः ज्ञानावरणकर्ममुक्तो  
वा जानाति पश्यति—स्रोतसः साक्षात्कारं करोति ।<sup>१</sup>

प्रव्रज्या के लिए घर से अभिनिष्क्रमण कर शब्द आदि इन्द्रिय-  
विषयों में होने वाले राग-द्वेष का विनयन कर वह महान् साधक अकर्मा  
हो जाता है, ध्यान में लीन अथवा ज्ञानावरण कर्म से मुक्त होकर  
जानता, देखता है—स्रोत का साक्षात्कार कर लेता है ।

१२१. पडिलेहाए नावकांक्षति, इह आगतिं गतिं परिण्णाय ।

सं०—प्रतिलेखया नावकांक्षति इह आगतिं गतिं परिज्ञाय ।

विषय की आसक्ति से जन्म-मरण का चक्र चलता है—इस पर्यालोचन के द्वारा परिज्ञा कर आत्मस्य पुरुष विषयों की आकांक्षा  
नहीं करता ।

भाष्यम् १२१—इन्द्रियविषयाः पुरुषस्य आकांक्षा-  
मासाद्य रागद्वेषयोः हेतवो भवन्ति । अनाकांक्षायां ते  
विषयाः केवलं ज्ञेया एव । ते न विकृतये प्रभवन्ति ।  
रागद्वेषाभिभूतस्य आगतिर्गतिश्च भवति—जन्ममरण-  
परम्परा प्रवर्तते इति परिज्ञाय अभिनिष्क्रान्तः पुरुषः  
प्रतिलेखया तानि स्रोतांसि नावकांक्षति ।<sup>२</sup>

इन्द्रिय-विषय पुरुष की आकांक्षा से युक्त होकर राग-द्वेष के  
हेतु बनते हैं । जब वे विषय आकांक्षा से युक्त नहीं होते तब वे मात्र  
ज्ञेय होते हैं । वे विकृति पैदा नहीं कर सकते । जो राग-द्वेष से अभिभूत  
होता है उस व्यक्ति के आगति और गति होती है—जन्म-मरण की  
परम्परा चलती है—इसकी परिज्ञा कर अभिनिष्क्रान्त पुरुष पर्यालोचन  
के द्वारा उन स्रोतों की आकांक्षा नहीं करता ।

१२२. अच्चेइ जाइ-मरणस्स वट्टमगं वक्खाय-रए ।

सं०—अत्येति जातिमरणस्य वृत्तमार्गं व्याख्यातरतः ।

सूत्र और अर्थ में रत मुनि जन्म और मृत्यु के वृत्त-मार्ग का अतिक्रमण कर देता है ।

भाष्यम् १२२—व्याख्यातम्<sup>३</sup>—सूत्रागमः अर्थागमश्च,  
तस्मिन् रतः मुनिः जन्मनः मरणस्य च वृत्तमार्गं—  
वर्तुलाकारं पन्थानं अतिक्रामति ।

व्याख्यात का अर्थ है—सूत्रागम और अर्थागम । जो मुनि  
इसमें लीन रहता है, वह जन्म-मरण के वर्तुलाकार मार्ग का अतिक्रमण  
कर देता है ।

१२३. सव्वे सरा णियद्वंति ।

सं०—सर्वे स्वराः निवर्तन्ते ।

सब स्वर लौट आते हैं—शब्द के द्वारा आत्मा प्रतिपाद्य नहीं है ।

१२४. तक्का जत्थ ण विज्जइ ।

सं०—तर्कः यत्र न विद्यते ।

वहां कोई तर्क नहीं है—आत्मा तर्कगम्य नहीं है ।

१२५. मई तत्थ ण गाहिया ।

सं०—मतिः तत्र न ग्राहिका ।

वह मति के द्वारा ग्राह्य नहीं है ।

१. तुलना—आयारो २।३७ ।

२. तुलना—आयारो २।३८ ।

३. आचारांग, वृत्ति, पत्र २०८, २०९ : विविध—अनेकप्रकार

प्रधानपुरुषार्थतयाऽऽरब्धशास्त्रार्थतया तपः संयमानुष्ठानार्थ-  
त्वेन (आख्यातो) व्याख्यातो मोक्षः—अशेषकर्मक्षयसक्षणो  
विशिष्टाकाशप्रदेशाख्यो वा तत्र रतो व्याख्यानरतः ।

१२६. ओए अप्पतिट्ठाणस्स खेयन्ने ।

सं०—ओजः अप्रतिष्ठानः<sup>१</sup> क्षेत्रज्ञः ।

वह अकेला, सर्वथा अनालंबन और जाता है ।

१२७. से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्ठे, ण तसे, ण चउरसे, ण परिमंडले ।

सं०—स न दीर्घः, न ह्रस्वः, न वृत्तः, न व्यस्रः, न चतुरस्रः, न परिमण्डलः ।

वह आत्मा न दीर्घ है, न ह्रस्व है, न वृत्त है, न त्रिकोण है, न चतुष्कोण है और न परिमंडल है ।

१२८. ण क्णहे, ण णीले, ण लोहिए, ण हालिहे, ण सुक्किल्ले ।

सं०—न कृष्णः, न नीलः, न लोहितः, न हारिद्रः, न शुक्लः ।

वह न कृष्ण है, न नील है, न लाल है, न पीत है और न शुक्ल है ।

१२९. ण सुभिगंधे, ण दुरभिगंधे ।

सं०—न सुरभिगन्धः, न दुरभिगन्धः ।

वह न सुगन्ध है और न दुर्गन्ध है ।

१३०. ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण अंबिले, ण महुरे ।

सं०—न तित्तः, न कटुकः, न कषायः, नाम्लः, न मधुरः ।

वह न तित्त है, न कटु है, न कषाय है, न अम्ल है और न मधुर है ।

१३१. ण कक्खडं, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सोए, ण उण्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे ।

सं०—न कर्कशः, न मृदुकः, न गुरुकः, न लघुकः, न शीतः, न उष्णः, न स्निग्धः, न रूक्षः ।

वह न कर्कश है, न मृदु है, न गुरु है, न लघु है, न शीत है, न उष्ण है, न स्निग्ध है और न रूक्ष है ।

१३२. ण काऊ ।

सं०—न कायवान् ।

वह शरीरवान् नहीं है ।

१३३. ण ह्हे ।

सं०—न ह्हः ।

वह जन्मधर्मा नहीं है ।

१३४. ण संगे ।

सं०—न संगः ।

वह लेपयुक्त नहीं है ।

१३५. ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णहा ।

सं०—न स्त्री, न पुरुषः, न अन्यथा ।

वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक है ।

१. वृत्तिकृता एतत्पदं षष्ठ्यन्तं व्याख्यातं, तेन अर्थस्य जटिलता जाता । प्राकृतशैल्या एतद् विभक्तिपरिवर्तनपूर्वकं प्रथमान्तं व्याख्यायते, तदा अर्थसारत्वं स्यात् ।

१३६. परिणजे सण्णे ।

सं०—परिज्ञः संज्ञः ।

वह परिज्ञ है, वह संज्ञ है—सर्वतः चैतन्यमय है ।

१३७. उवमा ण विज्जए ।

सं०—उपमा न विद्यते ।

उसके लिए कोई उपमा नहीं है ।

१३८. अरूधी सत्ता ।

सं०—अरूपी सत्ता ।

वह अमूर्त अस्तित्व है ।

१३९. अपयस्स पयं गत्थि ।

सं०—अपदस्य पदं नास्ति ।

वह अपद है—उसका बोध कराने वाला कोई पद नहीं है ।

१४०. से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे, इच्चेताव । —त्ति वेमि ।

सं०—स न शब्दः, न रूपं, न गन्धः, न रसः, न स्पर्शः, इत्येतावत् । —इति ब्रवीमि ।

वह न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है, इतना ही । —ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १२३-१४०—प्रस्तुतागमस्य प्रारम्भः आत्म-सिद्धान्तमधिकृत्य एव जातः । तत्र औपपातिकः<sup>१</sup> आत्मा नानाविधानि शरीराणि दधाति नानारूपासु च योनिषु अनुसंचरति ।<sup>२</sup> असी संसारी इत्युच्यते । कर्मोपाधिसापेक्ष-द्रव्यार्थिकनयमते असी आत्मा शरीराधिष्ठितत्वात् तर्कगम्यः, मतिग्राह्यः, पौद्गलिकगुणैः युक्तः, पुनर्जन्मधर्मा, स्त्रीपुरुषादिलिगान्वितः कथंचिन्मूर्त्तोऽपि भवति ।

कर्मोपाधिनिरपेक्षद्रव्यार्थिकनयमते जीवपारिणामिकभावमाश्रितः आत्मा मुक्तः सिद्धो वा प्रोच्यते । शरीरमुक्तत्वात् असी अमूर्त्तो भवति । ततः स शब्दः तर्केश्च अगम्यो भवति, मत्या अग्राह्यो भवति । पुद्गल-गुणेश्च विविक्तः स्त्रीपुरुषादिलिगभेदमतिक्रान्तः केवलं परिज्ञस्वरूपे अवतिष्ठति । प्रस्तुतालापकेषु (सूत्रम् १२३-१४०) तस्य कर्मोपाधिनिरपेक्षस्य अशरीरस्य आत्मनः स्वरूपं प्रतिपादितमस्ति ।

उपनिषत्सु आत्मप्रतिपादकसूत्राणां साम्यं दृश्यते । आत्मविद्यायाः पुरस्कृतिरः क्षत्रिया आसन् । तेषां

प्रस्तुत आगम का प्रारंभ आत्म-सिद्धान्त के प्रतिपादन से ही हुआ है । औपपातिक आत्मा नानाविध शरीरों को धारण करती है और नानाविध योनियों में अनुसंचरण करती है, बार-बार जन्मती है, मरती है । इसे संसारी आत्मा कहा जाता है । कर्मोपाधिसापेक्ष द्रव्यार्थिकनय के मत में यह आत्मा शरीर में अधिष्ठित होने के कारण तर्कगम्य, बुद्धिग्राह्य, पौद्गलिक गुणों से युक्त, पुनर्जन्मधर्मा, स्त्री-पुरुष आदि लिग से सहित तथा कथंचिद् मूर्त्त भी है ।

कर्मोपाधिनिरपेक्ष द्रव्यार्थिकनय के मत में जीव-पारिणामिक भावयुक्त आत्मा मुक्त अथवा सिद्ध कही जाती है । शरीरमुक्त होने के कारण वह आत्मा अमूर्त्त होती है । इसलिए वह न शब्दगम्य है और न तर्कगम्य है । वह बुद्धि के द्वारा अग्राह्य है । वह आत्मा पुद्गलगुणों से रहित है । उसमें स्त्री-पुरुष आदि लिगभेद नहीं होता । वह केवल परिज्ञस्वरूप—ज्ञाता के स्वरूप में अवस्थित है । प्रस्तुत आलापकों (१२३-१४०) में जिस आत्म-स्वरूप का निरूपण है वह आत्मा है कर्मोपाधिनिरपेक्ष तथा शरीररहित ।

उपनिषदों में आत्मा के प्रतिपादक जो सूत्र हैं, उनका इन सूत्रों के साथ साम्य है । आत्मविद्या के पुरस्कृता ये क्षत्रिय । उनका

१. आपारो, १।४ ।

२. बही, १।८ ।

३.(क) छान्दोग्योपनिषद्, ५।३।१-७० ।

(ख) बृहदारण्यकोपनिषद्, ६।२।८ : यथेयं विद्येतःपूर्वं न कर्त्स्मश्चन ब्राह्मणं उवाच तां त्वहं तुभ्यं ब्रूयामि ।

आत्मसिद्धान्ते आसीत् अधिकारः इति उपनिषत्साक्षी-  
पूर्वकं वक्तुं शक्यम् ।<sup>१</sup> तेन एतत्प्रकरणं उपनिषत्प्रभावितं  
इति प्रतिपादनपरैः पण्डितैः पुनरालोचनीयम् ।

१२३—इदानीं आत्मनः अज्ञेयवादः अनिर्वचनीयस्व-  
रूपं वा निरूप्यते—

आत्मा अमूर्तः सूक्ष्मतमश्च विद्यते, अतः स शब्देन  
नास्ति प्रतिपाद्यः ।

चूर्णो स्वरः प्रवाद इत्युक्तम्—सर्वे पवाया तत्स्थ  
नियदृष्टंति ।<sup>१</sup>

उपनिषदि ब्रह्मणः आनन्दविज्ञानविषये एतादृशं  
सूक्तमुपलभ्यते<sup>२</sup>—

यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह ।

आनन्दः ब्रह्मणो विद्वान्, न विभेति कदाचन ॥

१२४—तर्कः—मीमांसा ।<sup>३</sup> तर्केण परीक्ष्यमाणः  
आत्मा न साक्षादुपलब्धो भवति । स अमूर्तत्वात् सूक्ष्म-  
तमत्वाच्च तर्काग्राह्यः ।

१२५—स मतिग्राह्योपि नास्ति । अमूर्तं तत्त्वं  
शब्दानां तर्कानां मतीनां च अविषयो भवति । यथोक्तं  
उत्तराध्ययने—नो इंबियगोज्ज अमुत्तभावा ।<sup>४</sup>

१२६—स आत्मा ओजः—एकः स्वतन्त्रो वा वर्तते ।  
सामयिक्या संज्ञया ओज इत्येकः । स शरीराद् भिन्न एक  
एव वर्तते, नास्ति कश्चिद् द्वितीयः । स अप्रतिष्ठानः<sup>५</sup>—  
सर्वथा अनालम्बनः । क्षेत्रज्ञः<sup>६</sup>—ज्ञाता ।

१२७—आत्मा नास्ति दीर्घः—लोकव्यापीति यावत् ।  
नास्ति ह्रस्वः—अङ्गुष्ठपरिमाण इति यावत् ।  
उपनिषत्सु आत्मनो ह्रस्वत्वं दीर्घत्वं च समुपलभ्यते ।<sup>७</sup>  
स वृत्तादिसंस्थानैः संस्थितो नास्ति ।

आत्म-सिद्धान्त के विषय में अधिकार था, यह बात उपनिषदों की  
साक्षी से कही जा सकती है । इसलिए आचारांगगत यह प्रकरण  
उपनिषदों से प्रभावित है या यह उसका उपजीवी है, ऐसा प्रतिपादन  
करने वाले पंडितों को पुनः सोचना होगा ।

यहां से आत्मा के अज्ञेयवाद अथवा अनिर्वचनीय स्वरूप का  
निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है—

आत्मा अमूर्त और सूक्ष्मतम है, इसलिए वह शब्द के द्वारा  
प्रतिपाद्य नहीं है ।

चूर्ण में स्वर शब्द के स्थान पर प्रवाद शब्द है—सभी  
प्रवाद आत्मा से लौट आते हैं, उस तक नहीं पहुंच पाते ।

उपनिषद् में ब्रह्मा के आनन्द-विज्ञान के विषय में ऐसा ही  
सूक्त प्राप्त होता है—

वाणी वहां तक पहुंचे बिना ही मन के साथ लौट आती है ।  
जो ब्रह्म के आनन्द को जानता है, उसको कहीं कभी भय नहीं होता ।

तर्क का अर्थ है—मीमांसा । तर्क के द्वारा परीक्षा करने पर  
आत्मा साक्षात् उपलब्ध नहीं होती । वह अमूर्त और सूक्ष्मतम होने के  
कारण तर्क से ग्राह्य नहीं है ।

वह बुद्धिग्राह्य भी नहीं है । अमूर्त तत्त्व शब्दों का, तर्कों का  
और बुद्धि का विषय नहीं बनता । जैसे उत्तराध्ययन में कहा है—  
आत्मा अमूर्त है, इसलिए वह इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता ।

वह आत्मा ओज है—अकेला अथवा स्वतंत्र है । सामयिकी  
संज्ञा से ओज का अर्थ है—अकेला । वह शरीर से भिन्न एक ही है,  
दूसरा कोई नहीं है । वह अप्रतिष्ठान है—सर्वथा अनालम्बन है । वह  
क्षेत्रज्ञ है—ज्ञाता है ।

आत्मा दीर्घ नहीं है—लोकव्यापी नहीं है । वह ह्रस्व नहीं  
है—अङ्गुष्ठ परिमाण भी नहीं है । उपनिषदों में आत्मा का ह्रस्वत्व  
और दीर्घत्व माना गया है । वह वृत्त आदि संस्थानों से संस्थित नहीं  
है ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १९९ ।

२. तैत्तरीय उपनिषद् २।२ ।

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १९९ : तर्कका नाम मीमांसा—  
हेऊमगो ।<sup>१</sup>

४. उत्तराध्ययनाणि, १४।१९ ।

५-६. चूर्णो वृत्तो एवमाख्यातमस्ति—

(क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १९९ : अपडद्वानस्स खेयण्णेति  
सो य अप्पडद्वानो—सिद्धो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २०९ : न विद्यते प्रतिष्ठान-

मौदारिकशरीरादेः कम्मंगो वा यत्र सोऽप्रतिष्ठानो—  
मोक्षस्तस्य 'खेदजो' निपुणो ।

७. (क) छांदोग्य उपनिषद् ३।१।३ : एष मे आत्मान्तर्हृदये  
अणीयान् वीहेवां यवाद् वा सर्वपाद् वा श्यामाकाद्  
वा श्यामाकतण्डुलाद् वा, एष मे आत्मान्तर्हृदये  
ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अन्तरिक्षाद् ज्यायान्  
दिवो ज्यायान्भ्यो लोकेभ्यः ।

(ख) श्वेताश्वतर उपनिषद् ५।८,९ : अङ्गुष्ठमात्रो  
रवितुल्यरूपः ।



१२८—स नास्ति कृष्णादिवर्णवान् ।

वह कृष्ण आदि वर्णों से युक्त नहीं है ।

१२९—स नास्ति गन्धवान् ।

वह गन्धवान् नहीं है ।

१३०—स नास्ति रसवान् ।

वह रसवान् नहीं है ।

१३१—स नास्ति स्पर्शवान् ।

वह स्पर्शवान् नहीं है ।

एतेषु पञ्चसु (१२७-१३१) सूत्रेषु 'नेति नेति' पदेन आत्मा निरूपितः । अत्र निरूपितानि संस्थानानि वर्णादयो गुणाश्च पुद्गलद्रव्ये विद्यमानाः सन्ति । इन्द्रियविषये जगति वयं त्रिभिरायामैरुपलक्षितं जगत् जानीमहे । आत्मास्ति सर्वैरायामैरतीतः, अतः पुद्गलद्रव्यात् तस्य भिन्नत्वप्रतिपादनाय नेतिपदस्य प्रयोगः कृतः । अनेन सिद्धमिदं—यस्मिन् संस्थानादयो भवन्ति तद् द्रव्यं मूर्त्तम् । आत्मनि एते न विद्यन्ते तेन सोऽस्ति अमूर्त्तः ।

इन पांच सूत्रों (१२७-१३१) में नेति-नेति (नहीं है, नहीं है) पद से आत्मा का निरूपण किया गया है । इन में निरूपित संस्थान, वर्ण आदि गुण पुद्गल द्रव्य में पाए जाते हैं । इन्द्रियों का विषयभूत जगत् तीन आयामों—ऊँचा, नीचा और तिरछा है । हम इसे जानते हैं । आत्मा सभी आयामों से अतीत है । इसलिए पौद्गलिक द्रव्य से उसकी भिन्नता प्रतिपादित करने के लिए 'नेति' पद का प्रयोग किया गया है । इससे यह सिद्ध होता है—जिसमें संस्थान आदि होते हैं वह पदार्थ मूर्त्त है । आत्मा में ये सब नहीं होते, इसलिए वह अमूर्त्त है ।

१३२—स नास्ति कायवान्, न च तस्मात् कश्चिदात्मा अवतरति, न च तस्मिन् कश्चिल्लीयते ।

आत्मा अशरीरी है । उससे न कोई आत्मा अवतरित होती है और न कोई आत्मा उसमें लय प्राप्त करती है ।

१३३—स नास्ति रहः अग्निदग्धबीजवत् । दग्धकर्मबीजत्वात् न पुनर्भवांकुरो रोहति ।

वह जन्मधर्मा नहीं है । जैसे अग्नि से दग्ध बीज पुनः अंकुरित नहीं होता, वैसे ही आत्मा के कर्म बीज दग्ध हो जाने के कारण पुनः उसमें जन्म-मरण का अंकुर उत्पन्न नहीं होता ।

१३४—स नास्ति संगः ।<sup>१</sup> यस्य आसक्तेर्लेशोऽपि अवशिष्टः स्यात् स पुनरवतरति । मुक्तात्मा सर्वथा असंगत्वात् न पुनर्भवमेति ।

वह असंग है—लेपमुक्त है । जिसमें आसक्ति का लेशमात्र भी शेष रह जाता है वह पुनः जन्म लेता है, मुक्त आत्मा सर्वथा लेपमुक्त होता है, इसलिए वह पुनः संसार में नहीं आता ।

१३५—लिंगं शरीरमाश्रितं भवति । लिंगस्य वेदः मोहकर्माश्रितो भवति । आत्मस्वरूपस्थितः आत्मा अशरीरः अकर्मा च भवति । तेन सोऽस्ति लिंगातीतः । स नास्ति स्त्री, नास्ति पुरुषः, न च नपुंसकः । स लिंगाद् वेदाद् वा अतीतः ।

लिंग का आश्रय है—शरीर । लिंग से संबंधित वेद मोहकर्म के आधार पर होता है । जो आत्मा अपने मूल स्वरूप में स्थित है वह अशरीरी और अकर्मा होती है, इसलिए वह लिंगातीत होती है । वह न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक । वह लिंग अथवा वेद से अतीत है ।

श्वेताश्वतरोपनिषदि आत्मनः लिंगमुक्तावस्था तदितरा च द्वयमपि अस्ति प्रतिपादितम्—

श्वेताश्वतर उपनिषद् में आत्मा की लिंगमुक्त अवस्था तथा लिंगयुक्त अवस्था—दोनों का प्रतिपादन है । वहाँ कहा है—आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपुंसक । जिस लिंग वाले शरीर को वह प्राप्त होती है, उसी लिंग से वह पहचानी जाती है ।

नेष स्त्री न पुमानेष, न चैवार्थं नपुंसकः ।

यद् यद् शरीरमावसे, तेन तेन स रक्ष्यते ॥<sup>२</sup>

१३६—स परितः समन्ताद् जानातीति परिज्ञः । साधारणो जनः इन्द्रियैरेकदेशेन<sup>३</sup> जानाति, किन्तु निरा-

वह परिज्ञ है—सर्वतः जानता है । साधारण पुरुष इन्द्रियों के एक भाग से जानता है, किन्तु निरावरण आत्मा सर्वतोभाव से जानता

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १९९, न संगे इति जहा आजीवणगे, 'पुणो किङ्गापवोत्तेण से तत्थ अवरज्जति' (सूयगडो १।१।७०) ।

२. श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।१० ।

३. नंदी चूर्ण, पृष्ठ ५६ : सो य अणंतभागे पुढवादिर्णिगदियाण वि पंचण्हं निच्चुग्घाडो, अहथा सव्वजहण्णो अणंतभागे निच्चुग्घाडो पुढविक्काइए, चैतन्यमात्रमात्मनः । तं च उक्कोसथोणिद्विसहितनाणदंसणावरणोदए वि णो

वरणः आत्मा सर्वतोभावेन जानाति । सम्यग् जानातीति संज्ञः ।

चैतन्यलक्षणः आत्मा । मुक्तः संसारी वा कोऽपि आत्मा चैतन्यविरहितो न भवति । जैनदर्शने मुक्तावस्थायामपि ज्ञानं तस्योपयोगश्च अस्ति सम्मतः ।

१३७—आत्मा एव परिज्ञः संज्ञश्च । नान्यः कश्चित् पदार्थः परिज्ञः संज्ञो विद्यते । तेन नात्मनः काचिदुपमा विद्यते । अथवा सांसारिकेण केनापि भावेन आत्मा नोपमातुं शक्यते ।

१३८—सत्ता—अस्तित्वम् । आत्मनः सत्ता विद्यते, किन्तु स अरूपी अस्ति, अतस्तस्य अस्तित्वं केवलं केवलज्ञानप्रत्यक्षं, नास्ति इन्द्रियज्ञानिनां प्रत्यक्षम् ।

१३९—स अपदो विद्यते । नास्ति तस्य वाचकं किञ्चित् पदम् । यथा सांख्यानानां 'तस्य वाचकः प्रणवः इति सम्मतमस्ति तथा मुक्तात्मनां किञ्चिद् वाचकं नास्ति । चूर्णो 'पद' इति पदचिह्नम् । यथा—अपदो हि दोहजाडो तस्स गच्छओ दोहं वट्टं परिमंडलं वा पदं पत्थि ।'

१४०—पदं शब्दात्मकं भवति । स आत्मा नास्ति शब्दः, रूपः, गन्धः, रसः, स्पर्शो वा ।'

—इति ब्रवीमि ।

है । वह संज्ञ है—सम्यग् जानता है ।

आत्मा का लक्षण है—चैतन्य । कोई भी आत्मा, चाहे वह मुक्त हो या संसारी, चैतन्य से रहित नहीं होती । जैन दर्शन के अनुसार मुक्त अवस्था में भी ज्ञान और उसका उपयोग सम्मत है ।

आत्मा ही परिज्ञ है, संज्ञ है । दूसरा कोई भी पदार्थ परिज्ञ या संज्ञ नहीं है । इसलिए आत्मा के लिए कोई उपमा नहीं है । अथवा किसी भी सांसारिक पदार्थ से आत्मा को उपमित नहीं किया जा सकता ।

सत्ता का अर्थ है—अस्तित्व । आत्मा का अस्तित्व है, किन्तु वह अरूपी है, इसलिए उसका अस्तित्व केवल केवलज्ञानी के ही प्रत्यक्ष होता है । इन्द्रियज्ञानी उसको साक्षात् नहीं जान सकते ।

वह अपद है, पदातीत है । उसका बोध कराने वाला कोई पद नहीं है । जैसे सांख्यदर्शन में 'आत्मा का वाचक प्रणव है'—ऐसा सम्मत है । किन्तु मुक्त आत्माओं का कोई वाचक पद नहीं है । चूर्ण के अनुसार 'पद' का अर्थ है—पदचिह्न । जैसे—सर्प अपद होता है । वह जब चलता है तब दीर्घ, वृत्त या परिमंडल—कोई भी पदचिह्न नहीं होता ।

पद शब्दात्मक होता है । वह आत्मा न शब्द है, न रूप है, न गंध है, न रस है और न स्पर्श है ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

आवरिज्जति ।.....ततो य से अश्वत्तं नाणमक्खरं सव्वजहणं भवति । ततो पुढविकाइतेहिंतो आउक्कातियाण अर्णतभागेण विमुद्धतरं नाणमक्खरं, एवं कमेणं तेउ-वाउ-

बणस्सति - वेइंदिय - तेइंदिय - चउरिंदिय-असण्णपंचेइंदिय-सण्णपंचेइंदियाण य विमुद्धतरं भवतोत्थर्थः ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ १९९ ।

छट्ठं अज्झयणं  
धुयं

छठा अध्ययन  
धुत

[उद्देशक ५ : सूत्र ११३]



## आमुखम्

प्रस्तुताध्ययनस्य नामास्ति धृतम् । धृतवादः जैन-बौद्धपरम्परायामस्ति सम्मतः । बौद्धानां विशुद्धिमार्गं त्रयोदश धृतानि सन्ति वर्णितानि । प्रस्तुताध्ययने पञ्च धृतानि सन्ति निरूपितानि । एतेषां अर्थाधिकारः पञ्चसु उद्देशकेषु संनिचितोस्ति—

१. निजकधृतम्—स्वजनममत्वचेतनायाः प्रकम्पनम् ।
२. कर्मधृतम्—कर्मपुद्गलानां प्रकम्पनम् ।
३. शरीरोपकरणधृतम्—शरीरोपकरणयोः ममत्वचेतनायाः प्रकम्पनम् ।
४. गौरवधृतम्—ऋद्धिरससातात्मकस्य गौरवस्य प्रकम्पनम् ।
५. उपसर्गधृतम्—अनुकूलप्रतिकूलभावजनितचेतनायाः प्रकम्पनम् ।<sup>१</sup>

धृतवादोऽस्ति कर्मनिर्जरायाः सिद्धान्तः । यैर्यैर्हेतुभिः कर्मणां निर्जरा जायते ते सर्वेऽपि धृतसंज्ञकानि भवन्ति । कर्मबन्धस्य मुख्यो हेतुरस्ति ममत्वभावः । शरीरं, उपकरणानि स्वजनाश्च ममत्वचेतनां पुष्णन्ति । तात्पर्यार्थे धृतसाधनायाः प्रयोजनमस्ति यत्तेषां संयोगानां परित्यागः यैर्ममत्वचेतना पोषमादधाति । ममत्वचेतनायाः परित्यागः अनीदृशेन ज्ञानेन—आत्मज्ञानेन भवितुं शक्यः ।<sup>२</sup> अनात्मप्रज्ञा अवसादमनुभवन्ति ।<sup>३</sup> धृतस्य प्रथमं कारणमस्ति आत्मप्रज्ञा । आत्मप्रज्ञाने सुस्पष्टे जाते सति शरीरासक्तिः क्षीणा भवति, प्राणशक्तिश्च प्रबला भवति । सत्यामये कोऽपि तस्य प्रतिकारं न कुर्यादिति कल्पनापि दूरवर्तिनी । रोगः सोढव्यः, तं प्रति नाध्यवसायो निवेशनीयः—एतादृशः संकल्पः प्राणशक्तौ प्रबलायां सत्यामेव भवति ।<sup>४</sup>

वाससां परिहारः अस्ति सुदुष्करः । भगवता एष उत्तरवादो व्याहृतः ।<sup>५</sup> एकाकिचर्यापि अस्ति महत्तपः ।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है 'धृत' । जैन और बौद्ध—दोनों परंपराओं में 'धृतवाद' सम्मत है । बौद्धों के विशुद्धिमार्ग ग्रन्थ में तेरह धृतों का वर्णन है । इस अध्ययन में पांच धृतों का निरूपण किया गया है । इनका अर्थाधिकार पांच उद्देशकों में संगृहीत है—

१. निजकधृत—स्वजन के प्रति होने वाली ममत्वचेतना का प्रकंपन ।
२. कर्मधृत—कर्म-पुद्गलों का प्रकंपन ।
३. शरीर-उपकरणधृत—शरीर और उपकरणों के प्रति होने वाली ममत्वचेतना का प्रकंपन ।
४. गौरवधृत—ऋद्धि, रस और साता—इस गौरवत्रयी का प्रकंपन ।
५. उपसर्गधृत—अनुकूल और प्रतिकूल भावों से उत्पन्न चेतना का प्रकंपन ।

'धृतवाद' कर्म-निर्जरा का सिद्धांत है । जिन-जिन हेतुओं से कर्मों की निर्जरा होती है, उन सबकी 'धृत' संज्ञा है । कर्मबंध का प्रमुख हेतु है—ममत्वभाव । शरीर, उपकरण और स्वजन—ये ममत्वचेतना को पुष्ट करते हैं । तात्पर्य की दृष्टि से धृतसाधना का यही प्रयोजन है कि उन संयोगों का परित्याग करना जिनसे ममत्वचेतना पुष्ट होती है । ममत्वचेतना का परित्याग अनीदृशज्ञान—आत्मज्ञान से हो सकता है । जो आत्मप्रज्ञ नहीं हैं वे अवसाद का अनुभव करते हैं । धृत साधना का प्रथम कारण है—आत्मप्रज्ञा का जागरण । आत्मप्रज्ञा सुस्पष्ट होने पर ही शरीर के प्रति होने वाली आसक्ति क्षीण होती है और प्राणशक्ति प्रबल बनती है । रोग होने पर कोई उसका प्रतिकार न करे, ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । 'रोग को सहना चाहिए, उसके प्रति अपनी भावधारा को नहीं जोड़ना चाहिए'—ऐसा संकल्प प्राणशक्ति की प्रबलता होने पर ही होता है ।

वस्त्रों का परिहार करना बहुत कठिन है । भगवान् ने इसे उत्तरवाद—उत्कृष्ट सिद्धांत कहा है । अकेले रहना भी महान् तप

१. आचारंग निर्युक्ति, गाथा २४९, २५० :

पढमे नियगविद्वुण्णा कम्मणां बित्तिणए तइयमंमि ।  
उवगरणसरीराणं चउत्थाए गारवत्तिगस्स ॥  
उवसग्गा सम्माणय विद्वाणि पंचममि उव्वेसे ।  
वव्वधुयं वत्थाई भावधुयं कम्म अट्टविहं ॥

२. आयारो, ६।२ ।

३. वही, ६।५ ।

४. वही, ६।८-२९ ।

५. वही, ६।४०-५९ :

उत्तराध्ययने एकीभावसाधनाया अयं मुख्योपायो निर्दिष्टः । अनेन संयमः संवरः समाधिश्च सिध्यति ।<sup>१</sup>

प्रस्तुताध्ययने धर्मप्रवचनस्य महत्त्वपूर्णा निर्देशा लभ्यन्ते । साम्प्रदायिकतायाः कोलाहलपूर्ण वातावरणे एतत् सूत्रं कियत् सटीकमस्ति—‘अणुव्रीह मिक्षू धम्ममाइक्खमाणे—णो अत्ताणं आसाएज्जा, णो परं आसाएज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा ।’<sup>२</sup>

अस्मिन् धर्मस्य तत्त्वानां समुच्चयो वर्तते । स दशविधस्य श्रमणधर्मस्य आधाररूपः पूर्वरूपो वा वर्तते ।<sup>३</sup>

प्रस्तुताध्ययने ‘वेद्यवी’ इति पदं भगवतो महावीरस्य व्यापकं दृष्टिकोणं परिलक्षयति । तस्मिन् समये वेदविदः अत्यन्तं गौरवपूर्णं स्थानमासीत् । भगवता वेदस्य वेदविदश्च प्रामाण्यं न खलु स्वीकृतं तथापि तौ नावज्ञातौ किन्तु अर्थान्तरन्यासेन तौ प्रतिष्ठितौ ।<sup>४</sup>

तस्मिन् समये अनेके वादाः प्रचलिता आसन् यथा—आत्मवादः, ज्ञानवादः, वेदवादः, धर्मवादः, ब्रह्मवादः, लोकवादः, कर्मवादः, क्रियावादश्च । भगवता एतेषां वादानां समन्वयं कृत्वा अभिनवा दिक् प्रदर्शिता, ते आचाररूपेण परिवर्तिताश्च । यथा अद्वैतवादस्य अहिंसायाः प्रयोगः कृतः—‘तुमसि नाम सच्चेव जं हंतस्व तं मन्सि ।’<sup>५</sup>

अस्मिन् असन्दीनद्वीप<sup>६</sup>-स्वाख्यातधर्म<sup>७</sup>-स्थितात्मा<sup>८</sup>-अबहिल्लेश्य<sup>९</sup>-दृष्टिमान्<sup>१०</sup>-रूक्ष<sup>११</sup>-त्रुट<sup>१२</sup>-फलगावतष्टी<sup>१३</sup>-प्रभृतीनां पदार्थानां विशेषः प्रयोगो दृश्यते ।

अस्मिन् तपसोऽनेके प्रकारा उपदिष्टाः, यैः कर्मणां प्रकम्पनं निर्जरा वा जायते । तैरिति फलितं भवति, यत्र विशिष्टा तितिक्षा लाघवं तपश्च अभिसमन्वागतं भवति तत्रास्ति धृतम् । अवधूतपरम्पराया मूलं धृतवादे अन्वेषणीयमस्ति ।

है । उत्तराध्ययन सूत्र में इस अकेलेपन को एकाकी साधना का मुख्य उपाय बतलाया है । इससे संयम, संवर और समाधि सधती है ।

इस अध्ययन में धर्म-प्रवचन करने के महत्त्वपूर्ण निर्देश प्राप्त होते हैं । साम्प्रदायिकता के कोलाहलपूर्ण वातावरण में यह आलापक कितना सटीक है—‘विवेकपूर्वक धर्म प्रवचन करता हुआ भिक्षु न स्वयं को बाधा पहुंचाता है, न दूसरों को बाधा पहुंचाता है और न अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को बाधा पहुंचाता है ।’

यह अध्ययन धर्म के अनेक तत्त्वों का संग्राहक है । वह तत्त्वसंग्रह दश प्रकार के श्रमण धर्म का आधारभूत अथवा पूर्वरूप है ।

प्रस्तुत अध्ययन में ‘वेद्यवी—वेदविद्’ यह पद भगवान् महावीर के व्यापक दृष्टिकोण को परिलक्षित करता है । उस काल में वेदों को जानने वालों का अत्यंत गौरवपूर्ण स्थान था । भगवान् ने वेद और वेदज्ञों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया, फिर भी दोनों की अवज्ञा न कर, दोनों को भिन्न अर्थ में प्रतिष्ठित किया ।

उस काल में अनेकवाद प्रचलित थे, जैसे—आत्मवाद, ज्ञानवाद, वेदवाद, धर्मवाद, ब्रह्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद । भगवान् महावीर ने इन वादों का समन्वय कर एक नई दिशा प्रदर्शित की और इन वादों को आचाररूप में परिवर्तित कर दिया । जैसे—अद्वैतवाद का अहिंसा के प्रसंग में प्रयोग कर कहा—‘जिसे तू हनन योग्य मानता है, वह तू ही है ।’

इस अध्ययन में असन्दीनद्वीप, स्वाख्यातधर्म, स्थितात्मा, अबहिल्लेश्य, दृष्टिमान्, रूक्ष, त्रुट, फलगावतष्टी आदि पदों का विशेष प्रयोग दृष्टिगोचर होता है ।

इसमें तप के अनेक प्रकार उपदिष्ट हैं, जिनसे कर्मों का प्रकम्पन अथवा निर्जरा होती है । उनसे यह फलित होता है—जहां विशिष्ट तितिक्षा, लाघव और तप ये तीनों सम्यक् प्रकार से प्राप्त हो जाते हैं, वहां धृत की साधना होती है । अवधूत परंपरा का मूल ‘धृतवाद’ में खोजा जा सकता है ।

१. उत्तरज्ज्ञयणाणि, २९:४० ।

२. आचारो, ६:१०४ ।

३. वही, ६:१०२ ।

४. वही, ६:१०१ ।

५. वही, ५:१०१ ।

६. वही, ६:१०५ ।

७. वही, ६:५९ ।

८. वही, ६:१०६ ।

९. वही, ६:१०६ ।

१०. वही, ६:१०७ ।

११. वही, ६:११० ।

१२. वही, ६:११२ ।

१३. वही, ६:११३ ।

## छठं अज्ज्ञयणं : ध्रुयं

### छठा अध्यायन : ध्रुत

#### पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

१. ओबुब्धमाणे इह माणवेसु आघाइ से णरे ।

सं०—अवबुध्यमानः इह मानवेषु आख्याति स नरः ।

वह सम्बुद्ध पुरुष मनुष्यों के बीच में आख्यान करता है ।

भाष्यम् १—बहवो जना भवन्ति अज्ञानिनः, स्वल्पे भवन्ति ज्ञानिनः। तेष्वपि स्वल्पे आख्यातारः। कश्चिन्नरः अवबुध्यमानो भवति, स इह मानवेषु आख्याति। किमाख्याति तस्य निरूपणं अग्रिमसूत्रे क्रियते—

बहुत पुरुष अज्ञानी होते हैं, थोड़े पुरुष ज्ञानी होते हैं और उन ज्ञानी पुरुषों में भी कुछ ही पुरुष आख्यान करने वाले होते हैं। कोई एक पुरुष सम्बुद्ध होता है और वह मनुष्यों में आख्यान करता है। वह क्या आख्यान करता है उसका निर्देश अग्रिम सूत्र में है—

२. जस्सिमाओ जाईओ सब्बओ सुपडिलेहियाओ भवंति, अक्खाइ से णाणमणेत्तिसं ।

सं०—यस्येमाः जातयः सर्वतः सुप्रतिलिखिताः भवन्ति, आख्याति स ज्ञानमनीदृशम् ।

जिसे ये जीव-जातियां सर्वतः ज्ञात होती हैं, वही पुरुष असाधारण ज्ञान का आख्यान करता है ।

भाष्यम् २—यः कश्चिद् आख्याता न भवति। यस्य इमा एकेन्द्रियादयः पञ्च जीवजातयः सर्वतः—द्रव्यक्षेत्र-कालभावादिभेदैः सुदृष्टा भवन्ति स अनीदृशं ज्ञानमाख्याति ।

हर कोई व्यक्ति आख्याता नहीं होता। जिसे ये एकेन्द्रिय आदि पांचों जीव-जातियां द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के विकल्पों से भली-भांति ज्ञात होती हैं, वही पुरुष अनीदृश (अन्तःप्रज्ञागम्य) ज्ञान का आख्यान करता है ।

ईदृशम्—स्थूलदृष्टिगम्यम् । अनीदृशम्—अन्तः-प्रज्ञागम्यम् ।

ईदृश का अर्थ है—स्थूल दृष्टिगम्य और अनीदृश का अर्थ है—अन्तरिक प्रज्ञागम्य ।

आत्मनः मुक्तिमार्गस्य अहिंसादीनां च ज्ञानं अन्तःप्रज्ञाग्राह्यत्वात् अनीदृशं ज्ञानं भवति ।

आत्मा, मोक्षमार्ग तथा अहिंसा आदि का ज्ञान अन्तःप्रज्ञा से ग्राह्य होता है, इसलिए वह अनीदृश ज्ञान कहलाता है ।

३. से किट्टति तेसि समुट्टियाणं णिक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पण्णाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं ।

सं०—स कीर्त्तयति तेषां समुत्थितानां निक्षिप्तदण्डानां समाहितानां प्रज्ञानवतां इह मुक्तिमार्गम् ।

जो मनुष्य समुत्थित है, मन, वाणी और शरीर से संयत हैं, जिनका मन एकाग्र है और जो प्रज्ञावान् हैं, उनके लिए वह सम्बुद्ध पुरुष मुक्तिमार्ग का आख्यान करता है ।

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २०० : णाणांति जहत्थोवल्लं, तं केरिसं ? रत्तोरकत्वे (उच्चल्लंसे कायव्वे) असरिसं, तं च पंचविहं, अहवा असरिसं केवल्लणां तेषां असरिसमेव सुयणां कथेति, वंसणं चरित्तं तवं विणयं च कहेइ ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २११ : ज्ञानं जायन्ते—परिच्छिद्यन्ते जीवावयः पदार्थाः येन तज्ज्ञानं—मत्यादि पञ्चधा, किम्मूतं ज्ञानमाख्याति ? 'अनीदृशं' नान्यत्रेदृशभस्तीत्यनीदृशं, यदि वा सकलसंशयापनयनेन धम्ममाचक्षाण एव स आत्मनो ज्ञानमनन्यसदृशमाख्याति ।

भाष्यम् ३—स तेषां मुक्तिमार्गं ज्ञानदर्शनचारित्र्यात्मकं कीर्तयति, ये सन्ति मुक्तिमार्गस्य आराधनायै समुत्थिताः, ये सन्ति निक्षिप्तदण्डाः<sup>१</sup>—परित्यक्तमनोवाक्कायदण्डाः, ये सन्ति समाहिताः—एकाग्रमनसः, ये सन्ति प्रज्ञानवन्तः—बुद्धिसंपन्नाः प्रज्ञासंपन्ना वा ।

प्रस्तुतसूत्रे मुक्तिमार्गं शुश्रूषूणां चतस्रः अर्हताः सन्ति प्रतिपादिताः—

उत्थिताः उत्थातुकामा<sup>२</sup> वा—एषा प्रथमा अर्हता ।

सिद्धमनोवाक्कायाः मनोवाक्कायसिद्धिं कर्तुकामा वा—एषा द्वितीया अर्हता ।

समाहिता समाधिं प्राप्तुकामा वा—एषा तृतीया अर्हता ।

बुद्धिसंपन्नाः प्रज्ञासंपन्नाः वा—एषा चतुर्थी अर्हता ।

अत्र चूर्णो महत्त्वपूर्ण सूचनमस्ति—‘इतरे मुक्तस्थहानी, न य गिण्हंति’<sup>३</sup>—यदि शिष्याः श्रोतारो वा बुद्धिहीनाः स्युस्तदा सूत्रार्थयोर्हानिर्भवति । ते आचार्यैः प्रतिपाद्यमानं मुक्तिमार्गं नो ग्रहीतुं क्षमन्ते ।

४. एवं येने महावीरा विपरक्रमन्ति ।

सं०—एवमपि एके महावीराः विपराक्रमन्ते ।

इस प्रकार कुछ महावीर पुरुष विशेष पराक्रम करते हैं ।

भाष्यम् ४—एवं एके महावीराः मुक्तिमार्गं श्रुत्वा, अपिशब्दात् केचन प्रत्येकबुद्धा लब्धजातिस्मरणा वा अश्रुत्वापि विपराक्रमन्ते—संयमसाधनायै यतन्ते ।<sup>४</sup> स्थानाङ्गे अस्य संवादित्वं दृश्यते—बोहि ठाणोहि आया केवलिपणत्तं धम्मं सभेज्ज सबणयाए, तं जहा—सोच्चक्खेव, अभिसमेच्चक्खेव ।<sup>५</sup>

५. पासह एगेवसीयमाणे अणत्तपण्णे ।

सं० पश्यत एकान् अवसीदतः अनात्मप्रज्ञान् ।

तुम देखो, जो आत्म-प्रज्ञा से शून्य हैं, वे अवसाद को प्राप्त हो रहे हैं ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २०१ : गिण्हित्तसत्थेसु, सत्थं छुरियादिवावारी, छिद्धणा भिदणा, अहवा गिण्हित्तदंडाणं पंच रायककुहा आरोहिता ।

२. वही, पृष्ठ २०१ : जट्टियाइं उट्ठेउकामाणि वा ।

वह संबुद्ध पुरुष उनके लिए ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यात्मक मुक्ति-मार्ग का प्रतिपादन करता है जो मुक्तिमार्ग की आराधना के लिए समुत्थित हुए हैं, जो निक्षिप्तदंड—मानसिक, वाचिक और कायिक हिंसा से उपरत हैं, जो समाहित—एकाग्रचित्त वाले हैं, जो प्रज्ञानवान्—बुद्धिसंपन्न अथवा प्रज्ञासंपन्न हैं ।

प्रस्तुत आलापक में मुक्तिमार्ग को सुनने अथवा उसकी आराधना करने के इच्छुक व्यक्तियों की चार योग्यताओं का प्रतिपादन किया है—

१. जो मुक्ति-मार्ग के लिए उद्यत हैं अथवा उद्यत होना चाहते हैं—यह पहली योग्यता है ।

२. जो मानसिक, वाचिक तथा कायिक सिद्धि को प्राप्त कर चुके हैं अथवा सिद्धि करना चाहते हैं—यह दूसरी योग्यता है ।

३. जो समाहित हैं अथवा समाधि प्राप्त करना चाहते हैं—यह तीसरी योग्यता है ।

४. जो बुद्धिसंपन्न हैं अथवा प्रज्ञासंपन्न हैं—यह चौथी योग्यता है ।

इस प्रसंग में चूर्ण में महत्त्वपूर्ण सूचना है—यदि शिष्य अथवा श्रोता बुद्धिहीन होते हैं, तब सूत्र और अर्थ की हानि होती है । वे आचार्यों द्वारा प्रतिपादित किए जाने वाले मुक्तिमार्ग को ग्रहण नहीं कर सकते ।

इस प्रकार कुछ महावीर पुरुष मुक्तिमार्ग को सुनकर संयम की साधना के लिए विशेष पराक्रम करते हैं । तथा प्रत्येकबुद्ध अथवा जातिस्मृति ज्ञान से संपन्न व्यक्ति बिना सुने ही संयम की आराधना में तत्पर हो जाते हैं । स्थानांग सूत्र में इसका संवादी कथन प्राप्त होता है—सुनने और जानने—इन दो स्थानों से आत्मा केवलीप्रज्ञप्त धर्म को सुन पाता है ।

३. वही, पृष्ठ २०१ ।

४. वही, पृष्ठ २०१ : अधिसहा असुणित्ताधि पत्तेयबुद्ध-जाइस्सरणादि ।

५. अंगसुत्ताणि १, ठाणं, २।६३ ।



भाष्यम् ५—संयमः प्रज्ञागम्योस्ति । उक्तं चोत्तरा-  
ध्ययने—

‘पण्णा समिखए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छयं ।’

येषां आत्मनि प्रज्ञा नास्ति ते अनात्मप्रज्ञाः यथाकथं-  
चित् संयमं स्वीकृत्यापि अवसीदन्ति, मनस्तापं ब्रजन्ति ।  
अस्य वैकल्पिकोर्थः—यैः प्रज्ञा न प्राप्ता, केवलं बुद्धि-  
विलासे वर्तन्ते, ते संयमं स्वीकृत्यापि अवसीदन्ति—  
प्राप्तेषु उपसर्गेषु विचलिता भवन्ति, प्राणातिपातादिषु  
वा वर्तन्ते । भोगार्थं वा संयमान्निष्क्रमणं कुर्वन्ति, एतद्  
युयं पश्यत ।

संयम प्रज्ञागम्य है । उत्तराध्ययन में कहा है—

‘धर्म, तत्त्व और तत्त्वविनिश्चय की समीक्षा प्रज्ञा से होती है ।’

जिनकी आत्मा में प्रज्ञा नहीं होती वे अनात्मप्रज्ञा व्यक्ति जैसे-  
तैसे संयम स्वीकार करके भी अवसाद को प्राप्त होते हैं, मानसिक  
संताप को प्राप्त होते हैं । इसका वैकल्पिक अर्थ है—जिन्हें प्रज्ञा  
प्राप्त नहीं है, जो केवल बुद्धि के विलास में ही रमण करते हैं, वे  
संयम को स्वीकार करके भी अवसाद को प्राप्त होते हैं—संयम  
जीवन में आने वाले उपसर्गों में विचलित हो जाते हैं अथवा प्राणाति-  
पात आदि में प्रवृत्त हो जाते हैं अथवा वे भोगों की प्राप्ति के लिए  
संयम से बाहर निकल जाते हैं, यह तुम देखो ।

६. से बेमि—से जहा वि कुम्मे हरए विणिविट्ठचित्ते, पच्छन्न-पलासे<sup>३</sup>, उम्मगं से णो लहइ ।

सं०—अथ ब्रवीमि—तद् यथाऽपि कूर्मः हृदे विनिविष्टचित्तः पलाशप्रच्छन्ने उन्मगं स नो लभते ।

में कहता हूँ; जैसे—एक कछुआ है । एक ब्रह्म है । कछुए का चित्त ब्रह्म में लगा हुआ है । वह ब्रह्म पलाश के पत्तों से आच्छन्न है ।  
वह कछुआ मुक्त आकाश को देखने के लिए विवर को प्राप्त नहीं हो रहा है ।

भाष्यम् ६—अत्र उदाहरणम् । अथ ब्रवीमि—यथा  
कूर्मः हृदे निवसति । तस्य चित्तं हृदे परिवारे च  
विनिविष्टमस्ति । स हृदः घनशेवालेन पद्मपत्रैर्वा  
प्रच्छन्नः अस्ति । तस्य एकस्मिन् देशे अकस्मादेकं विवरं  
जातम् । तत्र मुक्तमाकाशं दृष्ट्वा स अतीव हृष्टो  
जातः । तेन चिन्तितं—सकलं परिजनं आनीय एतद्  
दर्शयामि । स गतः । हृदस्य अतिविस्तीर्णतया स तद्  
विवरं अन्वेषयन्नपि नो लभते ।

इस प्रसंग में एक उदाहरण है । मैं उसे कहता हूँ—एक कछुआ  
सरोवर में रहता था । उसका चित्त उस सरोवर और अपने परिवार  
में आसक्त था । वह सरोवर सधन सेवाल और कमल-पत्रों से ढका  
रहता था । एक बार अकस्मात् ही उसके एक भाग में विवर हो गया ।  
वह कछुआ वहाँ था पहुंचा । उसने उस विवर से मुक्त-आकाश को  
देखा और अत्यंत प्रसन्न हुआ । उसने सोचा—मैं अपने सारे परिवार  
को यहाँ लाकर यह अनुपम दृश्य दिखलाऊँ । वह गया । परिवार को  
लेकर आया और विवर की खोज करने लगा । परन्तु उस सरोवर की  
अति विस्तीर्णता के कारण खोजने पर भी वह विवर उसे नहीं मिला ।

अस्योपनयः—कर्म इव जीवः, हृद इव संसारः,  
शेवालमिव कर्म, विवरमिव साधुत्वम् । असौ जीवः  
कथंचिद् तद् लब्ध्वापि पुनः संसारमभ्येति, तदा  
मूच्छ्रिया गहनतया निविण्णोपि पुनः साधुत्वं नो लभते ।

इसका उपनय यह है—कछुए की भांति है जीव । हृद की  
तरह है संसार । सेवाल की तरह है कर्म । विवर की भांति है साधुत्व ।  
वह जीव जैसे-तैसे साधुत्व को प्राप्त करके भी पुनः संसार में आता है  
और विरक्त होने पर भी मूच्छ्रिया की सघनता के कारण पुनः साधुत्व  
को प्राप्त नहीं कर सकता ।

७. भंजगा इव सन्निवेशं णो चर्यति, एवं पेमे—अणेगरूवेहि कुलेहि जाया, रूवेहि सत्ता कलुणं थणंति, णियाणओ ते ण  
लभंति मोक्षं ।

सं०—भञ्जगाः इव सन्निवेशं नो त्यजन्ति एवमपि एके—अनेकरूपेषु कुलेषु जाताः, रूपेषु सक्ताः कर्षणं स्तनन्ति निदानतः ते न  
लभन्ते मोक्षम् ।

जैसे वृक्ष अपने स्थान को नहीं छोड़ते, वैसे ही कुछ लोग गृहवास को नहीं छोड़ते । वे अनेक प्रकार के कुलों में उत्पन्न होकर,  
रूपादि विषयों में आसक्त होकर कर्षण विलाप करते हैं । वे बंधन से मुक्त नहीं हो पाते ।

१. उत्तरज्ज्ञपणाणि २३।२५ ।

२. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ २०१ : जेहि इह अप्पिकता  
पण्णा ते अत्तपण्णा ण अत्तपण्णा अणत्तपण्णा  
अपत्तपण्णा वा, अहवा अत्ता—इट्ठा अम्हत्तेण अप्पणो

हितकरी पण्णा ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २११ : नात्मने हिता प्रज्ञा  
येषां ते अनात्मप्रज्ञाः ।

३. प्राकृतत्वात् व्यत्ययः ।

भाष्यम् ७—भञ्जगाः<sup>१</sup>—वृक्षाः । यथा वृक्षाः शस्त्रैः छिद्यमाना अपि सन्निवेशं न त्यजन्ति, एवं एके दारिद्र्यादिकष्टैरभिभूता अपि गृहवासं न त्यजन्ति । ते अनेकरूपेषु उच्चनीचेषु कुलेषु जाता अपि रूपेषु—शरीरेषु इन्द्रियविषयेषु वा सक्ताः प्राप्तेषु कष्टेषु करुणं विलपन्ति, तथापि ते गृहवासं न त्यजन्ति । ते निदानात्—बन्धनात्<sup>२</sup> मोक्षं न लभन्ते । अथवा मोक्षः—संयमः, ते स्नेहबन्धनं छित्त्वा संयमं न लभन्ते ।

भञ्जग का अर्थ है वृक्ष । जैसे वृक्ष शस्त्रों के द्वारा छेदे जाने पर भी अपने स्थान को नहीं छोड़ते, वैसे ही कुछ लोग दरिद्रता आदि कष्टों से अभिभूत होकर भी गृहवास को नहीं छोड़ते । वे अनेक प्रकार के ऊंच-नीच कुलों में उत्पन्न होकर भी शरीर अथवा इन्द्रियविषयों में आसक्त होकर प्राप्त कष्टों में करुण कन्दन करते हैं, फिर भी वे गृहवास को नहीं छोड़ते । वे बन्धन से मुक्ति नहीं पा सकते । अथवा मोक्ष का अर्थ है—संयम । वे स्नेह के बंधन को तोड़ कर संयम को प्राप्त नहीं कर सकते ।

८. अहं पास तेहि-तेहि कुलोह आयत्ताए जाया—

गंडी अदुवा कोढी, रायंसी अवमारियं । काणियं क्षिमियं चैव, कुणियं खुज्जियं तथा ॥  
उदरिणं पश्य मूकं च, शूनिकं च गिलासिणिं । वेवहं पौडसिपि च, सिलिवयं मधुमेहणिं ॥  
सोलस एते रोगा, अवखाया अणुपुव्वसो । अहं णं फुसंति आयंका, फासा य असमंजसा ॥  
मरणं तेसि संपेहाए, उदवायं चयणं च णच्चा । परिपागं च संपेहाए, तं सुणेह जहा-तहा ॥

सं०—अथ पश्य तेषु-तेषु कुलेषु आत्मत्वेन जाताः—

गण्डी अथवा कुण्ठी, राजयक्ष्मी अपस्मारिकः । काणकः जाडयं चैव, कुणित्वं कुब्जितं तथा ॥  
उदरिणं पश्य मूकं च, शूनिकं च ग्रासिनीं । वेपकिनं पीठसपिणं च, श्लीपदं मधुमेहनितम् ॥  
पौडस एते रोगाः आख्याता अनुपूर्वशः । अथ न स्पृशन्ति आतङ्काः स्पर्शाश्च असमञ्जसाः ॥  
मरणं तेषां संप्रेक्ष्य, उपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा । परिपाकं च संप्रेक्ष्य, तं शृणुत यथा तथा ॥

तू देख, नाना कुलों में आत्म-भाव से उत्पन्न व्यक्ति रोग-ग्रस्त हो जाते हैं । १. गण्डमाला, २. कोढ, ३. राजयक्ष्मा, ४. अपस्मार (मृगी या मूच्छा), ५. काणत्व, ६. जडता—अवयवों का जड़ होना, ७. हाथ या पैर की विकलता (कुणित्व), ८. कुवड़ापन, ९. उदररोग, १०. गंगापन, ११. शोथ, १२. भस्मक रोग, १३. कम्पनवात, १४. पीठसर्पि—पंगुता, १५. श्लीपद—हाथीपगा, १६. मधुमेह—ये सोलह रोग क्रमशः कहे गए हैं । कभी-कभी आतंक और अनिष्ट स्पर्श प्राप्त होते हैं । उन मनुष्यों की मृत्यु का पर्यालोचन कर, उपपात और च्यवन को जान कर तथा कर्म के विपाक का पर्यालोचन कर उसके यथार्थ रूप को सुनो ।

भाष्यम् ८—अथ त्वं पश्य, तेषु तेषु उच्चनीचेषु कुलेषु आत्मत्वेन—स्वस्वकर्मादयेन जाता रोगग्रस्ता भवन्ति, न च गृहवासे वसन्तोऽपि भोगान् भोक्तुं शक्नुवन्ति । प्रासङ्गिकत्वात् सूत्रकारः साक्षाद् रोग-ग्रस्तानां निर्देशं करोति, यथा—

तू देख, नाना ऊंच-नीचे कुलों में अपने-अपने कर्मों के उदय से उत्पन्न व्यक्ति रोगग्रस्त हो जाते हैं । वे गृहवास में रहते हुए भी भोगों का उपभोग नहीं कर सकते । प्रसंगवश सूत्रकार रोगग्रस्त व्यक्तियों का साक्षात् निर्देश करते हैं ।

- (१) गण्डी—गण्डमालया ग्रस्तः ।
- (२) कुण्ठी ।
- (३) राजयक्ष्मी—राजयक्ष्माक्रान्तः ।<sup>३</sup>
- (४) अपस्मारिकः—अपस्माररोगाक्रान्तः ।<sup>४</sup>
- (५) काणकः—एकाक्षः ।
- (६) जडः—सर्वेषु अवयवेषु जडतामापन्नः ।

१. गंडी—गंडमाला रोग से ग्रस्त ।
२. कुण्ठी—कुण्ठ रोग से ग्रस्त ।
३. राजयक्ष्मी—क्षय रोग से ग्रस्त ।
४. अपस्मार—मृगी या मूच्छा रोग से ग्रस्त ।
५. काणत्व से ग्रस्त ।
६. शरीर के अवयवों में जडता से ग्रस्त ।

१. वेशीशब्दोयं प्रतीयते ।

२. आचारंगं चूर्णं, पृष्ठ २०२ : णिवा बंधणे, णिवाणं कम्मं, अहवा कसाया भेहफासा, तेहि णो सन्नति मोक्खं, मोक्खो संजमो ।

३. माधवनिदान, राजयक्ष्मारोगनिदान, श्लोक १ :

वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसार्द्धिषमासनात् ।

त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥

४. माधवनिदान, अपस्माररोगनिदान, श्लोक १ :  
तमःप्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतिः ।  
अपस्मार इति श्रेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥

- (७) कुणिः—गर्भाधानदोषाद् ह्रस्वैकपादो न्यूनैक-  
पाणिर्वा ।  
(८) कुब्जः—कुब्जकः ।<sup>१</sup>  
(९) उदरी<sup>२</sup>—उदररोगाक्रान्तः ।  
(१०) मूकः<sup>३</sup>—अवाक् ।  
(११) शूनिकः<sup>४</sup>—श्वयथुग्रस्तः ।  
(१२) ग्रासिनी<sup>५</sup>—भस्मकव्याधिग्रस्तः ।  
(१३) वेपकी<sup>६</sup>—कम्पनरोगग्रस्तः ।  
(१४) पीठसर्पी<sup>७</sup>—पादरोगाक्रान्तः ।  
(१५) श्लीपदम्<sup>८</sup>—पादादौ काठिन्यम् ।  
(१६) मधुमेहनी<sup>९</sup>—वस्तिरोगाक्रान्तः ।

७. गर्भाधान के दोष के कारण हाथ या पैर की विकलता ।  
८. कुबड़ेपन से ग्रस्त ।  
९. उदर रोग से आक्रान्त ।  
१०. मूकता से ग्रस्त ।  
११. सूजन से ग्रस्त ।  
१२. भस्मक व्याधि से ग्रस्त ।  
१३. कम्पन रोग से ग्रस्त ।  
१४. पीठसर्पी—पंगुता से ग्रस्त ।  
१५. श्लीपद—हाथीपगा रोग से ग्रस्त ।  
१६. मधुमेह रोग से ग्रस्त ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २१३ : कुब्जं पृष्ठादावस्यास्तीति  
कुब्जो, मातापितृशोणितशुक्रदोषेण गर्भस्यदोषोद्भवः  
कुब्जवामनकादयो दोषा भवन्तीति, उक्तं च—

गर्भे वातप्रकोपेन, दौर्हृदे वाऽपमानिते ।

भवेत् कुब्जः कुणिः पंगुमूर्को मन्मन एव वा ॥

२. (क) आचारांग वृत्ति, पत्र २१३ : ते चामी भेदाः—

पृथक् समस्तैरपि चानिलाद्यः,

प्लोहोदरं बद्धगुदं तथैव ।

आगतुकं सप्तममष्टमं तु,

जलोदरं चेति भवन्ति तानि ॥

(ख) माधवनिदान, उदररोगनिदान, श्लोक ४ :

पृथग्दोषैः समस्तैश्च, प्लोहबद्धक्षतोदकैः ।

सम्भवन्त्युदराभ्यष्टौ, तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ॥

३. आचारांग वृत्ति, पत्र २१३ : मूकं मन्मनभाषिणं वा,  
गर्भदोषादेव जातं तदुत्तरकालं च, पञ्चषष्टिर्भूजे रोगाः  
सप्तस्वायतनेषु जायन्ते, तत्राप्यतनानि ओष्ठी दन्तमूलानि  
वन्ता जिह्वा तालु कण्ठः सर्वाणि चेति, तत्राष्टादोषयोः  
पञ्चदश दन्तमूलेषु अष्टौ दन्तेषु, पञ्च जिह्वायां, नव  
तालुनि, सप्तदश कण्ठे, त्रयः सर्वेष्वायतनेष्विति ।

४. (क) आचारांग वृत्ति, पत्र २१३ : शूनत्वं—श्वयथुर्वात-  
पित्तश्लेष्मसन्निपातरक्ताभिघातजोऽयं षोडशेति, उक्तं  
च—

शोकः स्यात् षड्विधो घोरो, दोषैरुत्सेधलक्षणः ।

व्यस्तं समस्तैश्चापीह, तथा रक्ताभिघातजः ॥

(ख) द्रष्टव्यम्—माधवनिदान, शोथनिदानप्रकरणम्,  
श्लोक २ ।

५. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २०२ : गिलासिणी अग्नीउ  
वाही ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २१३ : गिलासिणी ति भस्मको  
व्याधिः स च वातपित्तोत्कटतया श्लेष्मन्मूत्रतयोष-  
जायत इति ।

६. आचारांग वृत्ति, पत्र २१३ : वेवइं ति वातसमुत्थः  
शरीरावयवानां कम्प इति, उक्तं च—

प्रकामं वेपते यस्तु, कम्पमानश्च गच्छति ।

कलापखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिनिबन्धनम् ॥

७. (क) आचारांग चूर्ण, २०३ : पीठसर्पी हृत्पेहि कट्ठे  
घेत्तुं चङ्कमंती ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २१३ : पीठसर्पि च ति  
जन्तुर्गर्भदोषात् पीठसर्पित्वेनोत्पद्यते, जातो वा  
कर्मदोषाद् भवति, स किल पाणिगृहीतकाष्ठः  
प्रसर्प्यतीति ।

८. (क) आचारांग चूर्ण, २०३ : सिलवती पादा सिली-  
भवति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २१३ : सिलिवयं ति श्लीपदं  
—पादादौ काठिन्यं, तद्यथा—प्रकुपितवातपित्त-  
श्लेष्माणोऽधः प्रपन्ना बंक्षोरुजङ्घास्त्वथतिष्ठमानाः  
कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः शनैः शोफमुपजनयन्ति  
तच्छ्लीपदमित्याचक्षते—

पुराणोदकभूमिष्ठाः, सर्वत्तुषु च शीतलाः ।

ये देशास्तेषु जायन्ते, श्लीपदानि विशेषतः ॥

पादयोर्हृस्तयोश्चापि, श्लीपदं जायते नृणाम् ।

कर्णोष्ठनाशास्वपि च, केचिद्विच्छन्ति तद्विदः ॥

(ग) द्रष्टव्यम्—माधवनिदान, श्लीपवरोगनिदान-  
प्रकरणम् ।

९. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २०२ : मधुमेहणी  
वस्तिरोगो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २१३ : मधुमेहणी ति मधुमेहो  
वस्तिरोगः स विद्यते घस्यासौ मधुमेहो, मधुतुल्य-  
प्रभ्रावधानित्यर्थः, तत्र प्रमेहानां विंशतिर्भेदाः,  
तत्रास्यासाध्यत्वेनोपन्यासः, तत्र सर्व एव प्रमेहा  
प्रायशः सर्वदोषोत्थास्तथापि वाताद्युत्कटमेवाद्  
विंशतिर्भेदा भवन्ति, तत्र कफाद् दश, षट् पित्तात्,

एते षोडश रोगा अनुपूर्वशः—क्रमेण आख्याताः । एतैः रोगैराक्रान्ताः मनुष्या गृहे स्थिता अपि भोगान् भोक्तुं न शक्नुवन्ति । कदाचित् तान् आतङ्काः—सद्योघातिरोगाः, असमञ्जसाः स्पर्शाः—प्रहारादिजनिता दुःखविशेषाश्च स्पृशन्ति ।

तेषां मनुष्याणां मरणं संप्रेक्ष्य, उपपातः—उन्नतावस्थायां गमनं, च्यवनम्—निम्नावस्थायां प्रतिगमनं, तद् ज्ञात्वा एताः सर्वा अवस्थाः कर्मविपाकजनिता भवन्ति इति संप्रेक्ष्य, स परिपाकः यथा भवति तं तथा शृणुत, श्रुत्वा भोगेभ्यो निर्वेदं कुरुत ।

#### ६. संति पाणा अंधा तमंसि विद्याहिया ।

सं०—सन्ति प्राणाः अन्धाः तमंसि व्याहृताः ।

अन्धकार में होने वाले प्राणी अन्ध कहलाते हैं ।

भाष्यम् ९—मिथ्यात्वाद्याश्रवसंयुताः प्राणिनः तमंसि वर्तन्ते अतस्ते अन्धाः व्याहृताः । यथार्थदर्शनाक्षमत्वात् तेषामन्धत्वं नास्त्यसंगतम् ।

ये सोलह रोग क्रमशः कहे गए हैं । इन रोगों से आक्रान्त व्यक्ति घर में रह कर भी भोगों का उपभोग करने में समर्थ नहीं होते । कभी उन मनुष्यों को सद्योघाती रोग और अनिष्ट स्पर्श—प्रहार आदि से उत्पन्न कष्ट-विशेष प्राप्त होते हैं ।

उन मनुष्यों की मृत्यु की पर्यालोचना कर, उपपात—उन्नत अवस्था में गमन और च्यवन—निम्न अवस्था में गमन—को जान कर तथा ये सारी अवस्थाएं कर्म के विपाक से पैदा होती हैं, यह सोच कर वह विपाक जैसा होता है वैसा तुम सुनो, सुन कर भोगों से विरक्ति करो ।

मिथ्यात्व आदि आश्रवों से संयुक्त प्राणी अंधकार में रहते हैं, इसलिए वे अंधे कहलाते हैं । वे यथार्थ दर्शन करने में अक्षम होने के कारण उनका अंधापन असंगत नहीं है ।

#### १०. तामेव सइ असइ अतिअच्च उच्चवच्यफासे पडिसवेवेति ।

सं०—तामेव सकृद् असकृद् अतिगत्य उच्चवच्यस्पर्शान् प्रतिसवेदयन्ति ।

प्राणी उसी (क्लेशपूर्ण अवस्था) को एक या अनेक बार प्राप्त कर तीव्र और मंद स्पर्शों का प्रतिसवेदन करते हैं ।

भाष्यम् १०—ते तां कर्मविपाकावस्थां सकृद् असकृद् वा अतिगत्य उच्चवचान् स्पर्शान्—कष्टानि प्रतिसवेदयन्ति—वारं वारमनुभवन्ति ।

वे उस कर्म-विपाक की अवस्था को एक बार या अनेक बार प्राप्त कर तीव्र और मंद स्पर्शों—कष्टों का बार-बार अनुभव करते हैं ।

#### ११. बुद्धेहि एयं प्रवेदितं ।

सं०—बुद्धेः एतत् प्रवेदितम् ।

तीर्थकरों ने इसका प्रतिपादन किया है ।

भाष्यम् ११—अनात्मप्रज्ञाः विषयेषु आसक्ता भवन्ति । तेषामासक्तानां नानाविधाः कर्मविपाका भवन्ति । एतद् बुद्धेः प्रवेदितमस्ति ।

अनात्मप्रज्ञ पुरुष विषयों में आसक्त होते हैं । उन आसक्त पुरुषों के कर्म-विपाक नाना प्रकार के होते हैं, यह तीर्थकरों ने कहा है ।

वातजाश्चस्वार इति, सर्वेऽपि चैतेऽसाध्यावस्थायां मधुमेहत्वमुपयान्तीति, उक्तं च—

सर्व एव प्रमेहास्तु, कालेनाप्रतिकारिणः ।

मधुमेहत्वमायान्ति, तदाऽसाध्या भवन्ति ते ॥

१. चूणो (पृष्ठ २०३) उपपातच्यवनयोर्व्याख्या एवं कृतास्ति—उवायायाओ चयणं, दोण्हं मरणं तिरियमणुयाणं, उव्वट्टणा नेरइयमवणवासिवाणमंतराणं, उववाओ सव्व-देवाणं, चयणं जोइस्सियवेमाणियाणं ।

२. अंधकार दो प्रकार का होता है : १. द्रव्य अंधकार—यह प्रकाश के अभाव में होता है । २. भाव अंधकार—मिथ्यात्व और अज्ञान ।

अंध भी दो प्रकार के होते हैं : १. द्रव्य अन्ध—चक्षुरहित । २. भाव अन्ध—विवेक रहित ।

मिथ्यात्व और अज्ञान में रहने वाले मनुष्य विवेकशून्य होते हैं । वे कर्म के उपादान और परिपाक को नहीं देख पाते ।

## १२. संति पाणा वासगा, रसगा, उदए उदकचरा, आकाशगामिणो ।

सं०—सन्ति प्राणाः वर्षजाः रसजाः उदके उदकचराः आकाशगामिनः ।

अनेक प्रकार के प्राणी होते हैं—वर्षज—स्थल में उत्पन्न होने वाले, रसज—रस में उत्पन्न होने वाले, जल में जलरूप जीव, जल में रहने वाले जलचर जीव और आकाशगामी—पक्षी ।

भाष्यम् १२—कर्मविपाकवैचित्र्येण प्राणिनोपि नानाविधाः सन्ति, यथा—वर्षजाः—स्थलचराः, रसजाः—कृम्यादयः ।

चूर्णो वासगा रसगा इति व्याख्यातमस्ति ।<sup>३</sup> वृत्तिकारेणापि चूर्णिव्याख्यानमनुसृतम् ।<sup>४</sup> किन्तु दसवेआलियसूत्रे 'रसया' इति पदं दृश्यते । तस्य व्याख्यानमस्ति रसजाः । अत्र जकारस्य गकारादेशो जातः, तेन रसगा इति पदं दृश्यते, तथा स्थानांगे 'हरिवासग' पदे जकारस्य गकारत्वम् ।<sup>५</sup> एवं वासगा इति पदेऽपि जकारस्य गकारादेशः संभाव्यते ।

उदके—उदकरूपा एव एकेन्द्रिया जीवाः । उदकचराः—मत्स्यकच्छपादयः । स्थले जाता अपि केचन उदके चरन्ति ते उदकचराः, यथा—महोरगाः ।

आकाशगामिनः—पक्षिणः । केचित् पक्षिणः उदकचरा अपि भवन्ति ।

## १३. पाणा पाणे किलेसंति ।

सं०—प्राणाः प्राणान् क्लेशयन्ति ।

प्राणी प्राणियों को कष्ट देते हैं ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २०४ : संति तिसुवि कालेषु छवकाया, ण तुच्छिञ्जति ।

२. वही, पृष्ठ २०४ : पाणिणो इति वत्तन्वे सरिरे भाओधतारं काउं पाणा वुचंति ।

३. वही, पृष्ठ २०४ : वासंतीति वासगा—सासालद्वीसंपणा वेइदियादि वासगा, रसगा गाम जे जिदिभदियलद्विसंपणा, तित्ता तित्तादिरसे उवलमंति, किमिगजलोगराजगादी, केयि रसगा चेव ण तु वासा, एगिदिया ण वासगा ण रसगा, वेदियत्तेऽवि सति केइ णिव्वत्तिया ण वासगा भवंति, रस-आसादलद्वी पुण सव्वेसं, सावि कस्सइ उवहम्मति, एवं जस्स जति इदिया ते भावेयव्वा जाव पंचिदियतिरिया, तेसिपि केसिचि उवहताणि इदियाणि, बुद्धि सरिरे वा, अहवा..... वासंतीति वासगा, कोइलमदणसलागसूयादि, तत्थ तु जे जस्स गुणो तस्स विणासओ काउं, वासित्तदोलेणं पंजरत्था सइरपत्तारविद्योगाओ णिरोधावीणि बुक्खाणि

कर्म विपाक की विविधता के कारण प्राणी भी नाना प्रकार के हैं । जैसे—वर्षज—स्थल में पैदा होने वाले स्थलचर, रसज—कृमि आदि ।

चूर्ण में 'वासग और रसग'—व्याख्यात हैं । वृत्तिकार ने भी चूर्णगत व्याख्या का अनुसरण किया है । किन्तु दशवैकालिक सूत्र में 'रसया' का प्रयोग मिलता है । उसका अर्थ है—रसज । यहाँ 'जकार' को 'गकार' आदेश हुआ है, इसलिए 'रसगा' पद का प्रयोग प्राप्त होता है । उसी प्रकार स्थानांग में 'हरिवासग' (सं० हरिवर्षक) पद प्राप्त है । यहाँ भी 'जकार' के स्थान पर 'गकार' हुआ है । इसी प्रकार 'वासग' पद में भी 'जकार' के स्थान पर 'गकार' की संभावना की जा सकती है ।

'उदक' (पानी) में उदकरूप ही एकेन्द्रिय जीव होते हैं । उदकचर वे जीव हैं जो पानी में विचरण करते हैं, जैसे—मत्स्य, कच्छप आदि । स्थल में उत्पन्न होने वाले भी कुछ जीव उदक में रहते हैं, वे उदकचर कहलाते हैं, जैसे—सर्प आदि ।

आकाशगामी—आकाश में उड़ने वाले पक्षी । कुछ पक्षी उदकचर भी होते हैं ।

अणुभवन्ति, रसिता रसगा महिसचराहमिगससगतिर-बदाति ।

४. आचारांग वृत्ति, पत्र २१५ : वासकाः 'वासु शब्दकुत्सायां' वासन्तीति वासकाः—भाषालब्धिसम्पन्ना द्वीन्द्रियादयः, रसमनुगच्छन्तीति रसगाः—कटुतिक्तकषयायादिरसवेदिनः, संज्ञिन इत्यर्थः ।

५. दसवेआलियं, ४/सूत्र ९ :

(क) अगस्त्य चूर्ण, पृष्ठ ७७ : रसा ते भवंति रसजा, तकादी सुहुमसरीरा ।

(ख) जिनदास चूर्ण, पृष्ठ १४० : रसया नाम तक्क-विलमाइसु भवंति ।

(ग) हरिभद्रीया वृत्ति, पत्र १४१ : रसाज्जाला रसजाः—तफारनालवधित्तीमनादिषु पायुकृम्याकृतयोऽतिसूकमा भवन्ति ।

६. अंगसुत्ताणि १, ठाणं ६।२२ : हरिवासगा ।

भाष्यम् १३—प्राणाः प्राणान् क्लेशयन्ति—उपघ्नन्ति, संघट्टन्ते यावत् जीविताद् व्यपरोपयन्ति । चिकित्सा-शास्त्रे अमीषां स्थलचरादीनां त्रिविधानामपि प्राणिनां मांसाशनस्य निर्देशो विद्यते, अतः स्वस्य आरोग्यार्थं मनुष्याः तेषां प्राणिनां क्लेशं जनयन्ति ।

१४. पास लोए महभयं ।

सं०—पश्य लोके महाभयम् ।

तू देख, लोक में महान् भय है ।

भाष्यम् १४—त्वं पश्य, लोके स्वप्राणानां रक्षायै अन्येषां प्राणानामपहरणं कर्मबन्धकारकत्वात् महाभयं<sup>१</sup> विद्यते ।

१५. बहुदुःखा ह्यु जंतवो ।

सं०—बहुदुःखाः खलु जन्तवः ।

जीवों के नाना प्रकार के दुःख होते हैं ।

भाष्यम् १५—प्राणिनां दुःखाद् भयं भवति । दुःखं च रोगादयः, यथा—

‘जन्मं दुःखं जरा दुःखं रोगा य मरणाणि च ।’<sup>२</sup>

अमी जन्तवः—मनुष्याः बहुदुःखाः, प्रकरणवशाद् बहुरोगा दृश्यन्ते ।

१६. सक्ता कामेहि माणवा ।

सं०—सक्ताः कामेषु मानवाः ।

मनुष्य कामनाओं में आसक्त होते हैं ।

भाष्यम् १६—रोगाणां मूलमस्ति आसक्तिः । मानवाः कामेषु<sup>३</sup> आसक्ता वर्तन्ते । अत एव ते बहुदुःखाः अथवा बहुरोगाः सन्ति । जन्ममरणरोगादीनां वेदनापि तेषां तावती येषामस्ति यावती आसक्तिः ।

१७. अबलेण वहं गच्छन्ति, शरीरेण प्रभंगुरेण ।

सं०—अबलेन व्यथां गच्छन्ति शरीरेण प्रभंगुरेण ।

उस शक्तिहीन और प्रभंगुर शरीर से वे व्यथा को प्राप्त होते हैं ।

भाष्यम् १७—कामासक्तं शरीरं अबलं भवति । तेन

प्राणी प्राणियों को क्लेश देते हैं—उपघात करते हैं, संघट्टन करते हैं यावत् जीवन से मार डालते हैं । चिकित्सा-शास्त्र में इन स्थलचर आदि तीनों प्रकार के प्राणियों के मांस-भक्षण का निर्देश है । इसलिए मनुष्य अपने आरोग्य के लिए उन प्राणियों को क्लेश पहुंचाते हैं ।

तू देख, संसार में अपने प्राणों की रक्षा के लिए दूसरे प्राणियों के प्राणों का अपहरण करना कर्मबन्ध का हेतु होने के कारण महान् भय है ।

प्राणियों को दुःख से भय होता है । दुःख है—रोग आदि । जैसे—

जन्म दुःख है, जरा दुःख है, रोग और मरण दुःख है ।

ये प्राणी—मनुष्य दुःखबहुल हैं । प्रकरण के अनुसार ये रोग-बहुल देखे जाते हैं ।

रोगों का मूल है—आसक्ति । मनुष्य काम में आसक्त हैं । इसीलिए वे दुःखबहुल अथवा रोगबहुल हैं । उनके जन्म, मरण, रोग आदि की वेदना भी उतनी ही होती है, जिनकी जितनी आसक्ति होती है ।

कामासक्त शरीर निर्बल होता है । उस निर्बल और प्रभंगुर

१. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ २०५ : महतं भयं महभयं, जं भणितं मरणं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २१५ : महद्भयं नानागत-दुःखक्लेशनिपाकात्मकमिति ।

२. उत्तरजन्मथपाणि, १९।१५ ।

३. आचारांग चूणि, पृष्ठ २०५ : अल्पसत्त्विक्याकामेषु मवनकामेषु ।

अबलेन प्रभङ्गुरेण शरीरेण ते व्यथां गच्छन्ति, पीडामनु-  
भवन्तीति यावत् ।

शरीर से वे मनुष्य व्यथा को प्राप्त होते हैं, पीडा का अनुभव करते हैं ।

चूर्णो<sup>१</sup> वृत्ती<sup>२</sup> च वधं गच्छन्तीति व्याख्यातम् ।

चूर्ण और वृत्ति में 'वे वध को प्राप्त होते हैं'—यह व्याख्या उपलब्ध है ।

१८. अट्टे से बहुदुःखे, इति बाले पगडभइ ।

सं०—आर्त्तः स बहुदुःखः इति बालः प्रगल्भते ।

वेदना से पीडित मनुष्य बहुत दुःख वाला होता है । इसलिए वह अज्ञानी घृष्ट हो जाता है ।

भाष्यम् १८—रोगजनिताभिः वेदनाभिः आर्त्तः स  
बहुदुःखो भवति । तादृशः वेदनोपशमनार्थं प्राणिनः  
क्लेशयति । स बालः प्राणिनां क्लेशं जनयन् 'जीवो  
जीवस्य जीवनं' इति कृत्वा प्रगल्भते<sup>३</sup>—घृष्टो भवति ।

वह पुरुष रोग से उत्पन्न वेदनाओं से आर्त्त होकर बहुत दुःख  
वाला होता है । वैसा पुरुष वेदना को शांत करने के लिए प्राणियों को  
क्लेश उत्पन्न करता है । वह अज्ञानी प्राणियों को क्लेश देता हुआ 'एक  
जीव दूसरे जीव का जीवन है'—ऐसा मान कर घृष्ट हो जाता है ।

१९. एते रोमे बहू णच्चा, आउरा परितावए ।

सं०—एतान् रोगान् बहून् ज्ञात्वा आतुराः परितापयन्ति ।

इन नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न हुआ जान कर आतुर मनुष्य दूसरे जीवों को परिताप देते हैं ।

२०. णालं पास ।

सं०—नालं पश्य ।

तू देख, ये चिकित्सा-विधियां पर्याप्त नहीं हैं ।

भाष्यम् १९-२०—एतान् पूर्वोक्तान् बहून् रोगान्  
उत्पन्नान् ज्ञात्वा तेषां संवेदनं कुर्वाणा आतुराः स्थल-  
चरादीन् प्राणिनः परितापयन्ति । 'पाणा पाणे क्लेशंति'  
(६।१३) इति निगमनम् ।<sup>४</sup>

इन पूर्वोक्त अनेक रोगों को उत्पन्न हुआ जानकर, उनका  
संवेदन करने वाले आतुर पुरुष (रोग के उपशमन के लिए) स्थलचर  
आदि प्राणियों को परिताप देते हैं । प्राणी प्राणियों को कष्ट देते हैं—  
यह उपसंहार है ।

त्वं पश्य, एषा प्राणिपरितापजननी चिकित्सा-  
पद्धतिः रोगोन्मूलनाय अलं—पर्याप्तं नास्ति ।  
वृत्तिकारेण एष विषयः सम्यग् विवेचितः—'एतान्

तू देख, प्राणियों को परिताप देने वाली यह चिकित्सा-पद्धति  
रोगों के उन्मूलन के लिए पर्याप्त नहीं है । वृत्तिकार ने इस विषय की  
सम्यक् विवेचना की है—इन गंड, कुष्ठ, राजयक्ष्मा आदि अनेक रोगों को

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २०५ : केण छुहादिपद्मगुरेण करण-  
भूतेण सत्पगारेण बहू एगेद्वियादीणं सत्ताणं जाव पंविद्वियाण  
तित्तिरादिणं, कंछति पत्थंति गच्छति एगट्टा । .....  
जुद्धादिअसहं अबलं, तब्बलणिसिं अहंमं काडं वधो—  
संसारो तं गच्छति ।

पाणे क्लेशंति जोगत्रिककरणत्रिकेण, पठिज्जइ  
य 'इति बाले पगडभति' पाणाणं क्लेशादि करेत्तो  
पगडभं गच्छति, जं भणितं धारिट्ठं, तं जहा—को  
जाणइ परल्लोगे, परल्लोगरूवस्स ण विभेति ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २०५-२०६)

२. आचारांग वृत्ति, पत्र २१५, २१६ : प्रभंगुरेण स्वत  
एव भंगशलेन तत्तुखाघानाय कर्मोपचित्त्वाऽनेकशो वधं  
गच्छन्ति ।

(ख) वृत्तावपि प्रकरोति इति व्याख्यातम्—यदि वा  
रोगेषु सत्सु इत्येतद् वक्ष्यमाणं बालः—अज्ञः प्रकरोति ।

(आचारांग वृत्ति, पत्र २१६)

३. (क) चूर्णो 'पकुब्बइ' इति पाठः, पगडभइ इति पाठान्तरं  
वर्तते—सो एवं अट्टो बुक्खउवसमणिमित्तं कायवहे  
पसज्जति, जतो बुच्चति 'इति बाले पकुब्बइ' इति—  
एवं, जेण अट्टो रोगायकेहिं रागदोसेहिं वा तेण  
वोहिं आगलितो बालो भिसं कुब्बइ; जं वृत्तं पाणा

(ग) प्रगल्भपदानुगामि चिन्तनं उत्तराध्ययनेऽपि सम्भते—  
५।७ आदि ।

४. श्रीभिक्षुन्यायकणिका, ३।२८ : साध्यधर्मस्य धर्मिणि  
उपसंहारो निगमनम्, यथा—तस्माद् अनित्यः ।

गण्डकुठराजयक्ष्मादीन् रोगान् बहूनुत्पन्नानिति ज्ञात्वा तद्भोगवेदनया आतुराः सन्तः चिकित्सायै प्राणिनः परितापतेयुः, लावकादिपिशिताशिनः किल क्षयव्याध्युपशमः स्यात् इत्यादिवाक्याकर्णनाज्जीविताशया गरीयस्यपि प्राण्युपमर्दे प्रवर्त्तेरन्, नैतदवधारयेयुः यथा—स्वकृतावन्ध्यकर्मविपाकोदयादेतत्, तदुपशमाच्चोपशमः, प्राण्युपमर्दचिकित्सया च किल्बिषानुषङ्ग एवेति, एतदेवाह—पश्यैतद्विमलविवेकावलोकनेन यथा नालं—न समर्थाः चिकित्साविधयः कर्मोदयोपशमं विधातुम् ।<sup>१</sup>

२१. अलं तवेर्हि ।

सं०—अलं तव एतैः ।

इन चिकित्सा-विधियों का तू परित्याग कर ।

भाष्यम् २१—हे मुने ! तव एतैः चिकित्सा-प्रकारैरलम् । अत्र 'अलं' निवारणे । त्वमेतान् चिकित्सा-विधीन् परित्यजेति तात्पर्यम् ।

२२. एयं पास मुणी ! महाभयम् ।

सं०—एतत् पश्य मुने ! महाभयम् ।

मुने ! तुम देखो, यह हिंसामूलक चिकित्सा महान् भय उत्पन्न करने वाली है ।

भाष्यम् २२—मुने ! त्वं पश्य चिकित्सायै एतत् प्राणिनां परितापनं महाभयं वर्तते । रोगा असातवेदनीय-कर्म विपाकहेतवो भवन्ति । तेषामुपशमनाय हिंसाजनितः पुनः कर्मबन्ध इत्येतद् महाभयमस्ति ।

विषयनिगमनार्थमुच्यते—

२३. नातिवाएज्ज कंचणं ।

सं०—नातिपातयेत् कञ्चन ।

मुनि चिकित्सा के निमित्त भी किसी प्राणी का वध न करे ।

भाष्यम् २३—प्राणिनां परितापनं महाभयमस्ति, तेन संयतो मुनिः रोगप्रतिकारार्थं कमपि प्राणिनं नातिपातयेत् ।

एतेषु सूत्रेषु (८-२३) अचिकित्साधृतं प्रतिपादित-मस्ति । अस्य स्पष्टतायै उत्तराध्ययनस्य रोगपरीषहः<sup>२</sup>

उत्पन्न हुआ जान कर उन रोगों की वेदना से आकुल-व्याकुल व्यक्ति रोगोपशमन की चिकित्सा के लिए प्राणियों को परिताप देते हैं । 'बटेर' आदि पक्षी का मांस खाने से क्षय रोग उपशांत होता है—ऐसे वाक्यों को सुन कर व्यक्ति जीने की आकांक्षा से महान् जीवहिंसा में प्रवृत्त हो जाते हैं । वे यह नहीं जानते कि अपने द्वारा किए हुए अवश्य-वेदनीय कर्मों के विपाक के उदय से ये रोग उत्पन्न हुए हैं । उन कर्मों के उपशमन से ही रोग का उपशमन होगा । जीवहिंसा कारक चिकित्सा से तो पुनः पाप का बंध ही होगा । यही कहा गया है—तुम विमल विवेक की आंखों से यह देखो कि ये चिकित्सा-विधियां कर्मों के उदय को उपशांत करने में समर्थ नहीं हैं ।

हे मुने ! तुम्हें इन चिकित्सा-विधियों से क्या लेना-देना । यहां 'अलं' शब्द निवारण के अर्थ में प्रयुक्त है । तुम इन चिकित्सा-विधियों का परित्याग करो—यही इसका तात्पर्य है ।

हे मुनि ! तुम देखो, चिकित्सा के लिए प्राणियों का यह परिताप महान् भयकारक है । रोग असातवेदनीय कर्म के विपाक में हेतु बनते हैं । उन रोगों के उपशमन के लिए हिंसाजनित पुनः कर्म-बन्ध करना—यह महान् भय है ।

विषय का निगमन करने के लिए कहते हैं—

प्राणियों को परिताप देना महान् भय है । इसलिए संयमी मुनि रोग के प्रतिकार के लिए किसी भी प्राणी का वध न करे ।

इन सूत्रों (८ से २३) में 'अचिकित्सा धृत' का प्रतिपादन किया गया है । इसकी स्पष्टता के लिए उत्तराध्ययन सूत्र का रोगपरीषह

१. आचारंग धृति, पत्र २१६ ।

२. उत्तरज्ज्ञयणाणि, २।३२, ३३ :

नच्चा उपपद्यं वृषखं, वेयणाए वृहद्विह ।  
अवीणो थावए पन्नं, पुट्टो तत्थहियासए ॥

तेगिच्छं नाभिनंवेज्जा, संचिकखत्तगवेसए ।

एयं छु तस्स सामणं, जं न कुज्जा न कारवे ॥

उत्तराध्ययने एतस्य टिप्पणमपि पठनीयं विद्यते । इसवे-आलियसूत्रे (३।४) 'तेगिच्छं' इति शब्दस्य टिप्पणमपि द्रष्टव्यमस्ति ।



मृगापुत्रविषयश्च<sup>१</sup> अस्ति द्रष्टव्यः ।

तथा मृगापुत्र का विषय द्रष्टव्य है ।

२४. आयाण भो ! सुस्सुस भो ! धूयवादं प्रवेदइस्सामि ।

सं०—आजानीहि भोः ! शुश्रूषस्व भो ! धृतवादं प्रवेदयिष्यामि ।

मुने ! तुम जानो ! तुम सुनने की इच्छा करो ! मैं धृतवाद का निरूपण करूंगा ।

भाष्यम् २४—हे मुने ! त्वं आजानीहि शुश्रूषस्व अहं धृतवादं प्रवेदयिष्यामि । धृतम्—तपःपद्धतिः । विचित्राणां कर्मणां निर्जरायै विचित्राः तपःपद्धतयः सन्ति निर्दिष्टाः । प्रस्तुताध्ययने अनेकेषां धृतानां निरूपणमस्ति, तेन धृतवादं प्रवेदयिष्यामीति प्रतिजानाति सूत्रकारः । पूर्वोक्तानि सूत्राणि धृतवादस्य प्रसङ्गोपस्थापकानि अवगन्तव्यानि ।

हे मुने ! तुम जानो और सुनने की इच्छा करो ! मैं धृतवाद का निरूपण करूंगा । धृत का अर्थ है—तपस्या की पद्धति । विभिन्न प्रकार के कर्मों की निर्जरा के लिए विभिन्न प्रकार की तपः-पद्धतियां निर्दिष्ट हैं । प्रस्तुत अध्ययन में अनेक धृतों का निरूपण है, इसलिए 'धृतवाद का निरूपण करूंगा'—ऐसी प्रतिज्ञा सूत्रकार करते हैं । पूर्वोक्त सूत्र धृतवाद के प्रसंग को उपस्थापित करने वाले हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

२५. इह खलु अतत्ताए तेहि-तेहि कुलेहि अभिसेएण अभिसंभूता, अभिसंजाता, अभिणिव्वट्टा, अभिसंबुद्धा, अभिसंबुद्धा अभिणिव्वंता, अणुपुब्बेण महामुणी ।

सं०—इह खलु आत्मत्वेन तेषु तेषु कुलेषु अभिषेकेण अभिसंभूताः, अभिसंजाताः, अभिनिर्वृत्ताः, अभिसंवृद्धाः, अभिसंबुद्धाः, अभिनिष्क्रान्ताः अनुपूर्वेण महामुनयः ।

मनुष्य नाना कुलों में आत्म-भाव से प्रेरित हो शुक्र-शोणित के निषेक से उत्पन्न होते हैं, अर्बुद और पेशी का निर्माण करते हैं, अंग-उपांग के रूप में विकसित होते हैं, जन्म प्राप्त कर बैठते हैं, सम्बोधि को प्राप्त होते हैं और संबुद्ध होकर अभिनिष्क्रमण करते हैं । इस क्रम से महामुनि बनते हैं ।

भाष्यम् २५—इहेति मनुष्यजन्मलाभे आत्मतया जीवा नानाविधेषु कुलेषु अभिषेकेण अभिसंभूताः अभिसंजाताः अभिनिर्वृत्ताः अभिसंवृद्धाश्च भवन्ति ।

'इह' का अर्थ है—मनुष्य जन्म का लाभ होने पर, जीव अपने कर्मोदय से प्रेरित होकर नाना कुलों में अभिषेक—शुक्रशोणित के निषेक से अभिसंभूत—उत्पन्न होते हैं, अभिसंजात होते हैं, अभिनिर्वृत्त होते हैं और अभिसंवृद्ध होते हैं ।

आत्मत्वं—आत्मनो भावः—आत्मत्वम् । आत्मनः अस्तित्वं, स्वकृतकर्मविपाको वा । जीवाः स्वकृतकर्म-विपाकेन उत्पद्यन्ते । नास्त्यन्यः कश्चिदीश्वरादिः तेषामुत्पादकः । तेषामस्ति स्वतन्त्रं अस्तित्वं, न च ते भूतधातुसंघातमात्रमेव ।

आत्मा का भाव है आत्मत्व । आत्मत्व के दो अर्थ हैं—आत्मा का अस्तित्व अथवा अपने द्वारा किए कर्मों का विपाक । जीव स्वकृत कर्म के विपाक से उत्पन्न होते हैं । ईश्वर आदि कोई अन्य उनका उत्पादक नहीं है । जीवों का स्वतंत्र अस्तित्व है । वे केवल पांच भूतों या धातुओं के संघात मात्र नहीं हैं ।

अभिषेकः—शुक्रशोणितयोर्निषेकः ।

वृत्ती अभिसंभूतादीनां क्रमः प्रदर्शितोऽस्ति—

सप्ताहं कललं विद्यात्, ततः सप्ताहमर्बुदम् ।

अर्बुदाज्जायते पेशी, पेशितोऽपि घनं भवेत् ॥

अभिषेक का अर्थ है—शुक्र और शोणित का निषेक ।

वृत्ति में अभिसंभूत आदि का क्रम प्रदर्शित है—

जीव गर्भाधान से एक सप्ताह तक कलल अवस्था में और एक सप्ताह तक अर्बुद अवस्था में रहता है । अर्बुद से पेशी उत्पन्न होती है

१. उत्तरज्जसयणाणि १९।७५-८० :

तं वित्तंमापियरो, छंवेण पुत्त ! पव्वया ।

नवरं पुण सामण्णे, बुध्खं निप्पडिकम्मया ॥

सो वित्तंमापियरो, एवमेयं जहाफुडं ।

पडिकम्मं को कुणई, अरण्णे मियपक्खिणं ? ॥

एगसुओ अरण्णे वा, जहा उ चरई मियो ।

एवं धम्मं चरिस्सामि, संजमेण तवेण य ॥

जया मियस्स आर्यको, महारण्णम्मि जायई ।

अच्छंतं खखमूलम्मि, को णं ताहे तिगिच्छई ? ॥

को वा से ओसहं देई ? को वा से पुच्छई सुहं ? ॥

को से भसं च पाणं च, आहरित्तु पणामए ? ॥

जया य से सुही होइ, तथा वच्छइ गोवरं ।

भत्तपाणस्स अट्टाए, बल्लराणि सराणि य ॥

तत्र यावत् कललं तावदभिसम्भूताः, पेशी यावद् अभिसञ्जातः, ततः साङ्गोपाङ्गस्नायुशिरोरोमादि-  
क्रमाभिनवर्तनादभिनवृत्ताः, ततः प्रसूताः सन्तः  
अभिसंबुद्धाः ।<sup>१</sup>

तेषु अभिसंबुद्धेषु केचित् किञ्चिद् निमित्तमासाद्य  
निसर्गतो वा अभिसंबुद्धा भवन्ति । चूर्णौ<sup>२</sup> अभिसंबोधि-  
कालः नानारूपोऽस्ति निर्दिशतः—

अभिसंबुद्धा जाय अट्टवरिसाओ आरब्ध सतिवरित्तेणं देसुणा  
वा पुण्वकोडो, अभिसंबुद्धा तित्थगरा, सग्गे अभित्तेगकाल एव  
संबुद्धा, सेसावि केई अपडिबडित्तेणं सम्मत्तेणं गग्भं वक्कमंति,  
केसिच्चि गग्भट्ठाणं जाइसरणेणं उप्पज्जइ ।<sup>३</sup>

ते अभिसंबुद्धाः सन्तः बालत्वे यावद् वृद्धत्वे अभि-  
निष्क्रान्ता भवन्ति—प्रव्रज्यां गृह्णन्ति, अनुपूर्वेण ते  
महामुनयो<sup>४</sup> भवन्ति । उक्तञ्च वृत्तौ—

ततोऽधीताचारादिशास्त्रास्तदर्थं भावनोपबृंहितचरणपरिणाभा  
अनुपूर्वेण शिक्षकगीतार्थक्षपकपरिहारविशुद्धिकैकाकिविहारिजिन-  
कल्पिकावसाना मुनयोऽभूवन्ति ।<sup>५</sup>

२६. तं परवक्कमंतं परिदेवमाणा, 'मा णे चयाहि' इति ते वदन्ति । छंदोवणीया अज्जभोववच्चा, अक्कंदकारी जणमा  
रुवंति ।

सं०—तं पराक्रममाणं परिदेवमानाः 'मा अस्मान् त्यज' इति ते वदन्ति । छन्दोपनीताः अद्युपपन्ताः आक्रमदकारिणो जनकाः  
रुदन्ति ।

यह संबुद्ध होकर संयम में गतिशील होता है, तब उसके माता-पिता विलाप करते हुए कहते हैं—तुम हमें मत छोड़ो । हम  
तुम्हारी इच्छा के अनुसार चलने वाले हैं, तुम्हारे प्रति हमारा ममत्व है । इस प्रकार आक्रमद करते हुए वे रुदन करते हैं ।

भाष्यम् २६—अभिनिष्क्रमणकाले जायमानामवस्थां  
वर्णयति सूत्रकारः—तं अभ्युद्यतविहाराय पराक्रममाणं  
दृष्ट्वा जनकाः—मातापित्रादयः परिदेवमानाः—  
विलपन्तः इति वदन्ति—त्वं अस्मान् मा त्यज । ते

अभिनिष्क्रमण के समय होनेवाली अवस्थाओं का वर्णन  
सूत्रकार करते हैं—संयम-ग्रहण के लिए उद्यत उस व्यक्ति को  
देखकर माता-पिता आदि विलाप करते हुए यह कहते हैं—तुम हमको  
मत छोड़ो । हम तुम्हारी इच्छा के अनुसार चलने वाले हैं । तुम्हारे

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २१६ ।

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २०८ ।

(ख) वृत्तौ (पत्र २१६) अभिसंबुद्धस्य अवस्थानां नानारूपस्य  
नास्ति प्रदर्शितम् । धर्मश्रवणयोग्यावस्थायां वर्तमाना  
धर्मकथादिकं निमित्तमासाद्योपलब्धपुण्यपापतया  
अभिसंबुद्धाः ।

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २०८ : महंतं जेण मुणितं जीवादि  
वा सो महामुणी ।

४. आचारांग वृत्ति, पत्र २१६-२१७ ।

छन्दोपनीताः<sup>१</sup>—इच्छावशानुगाः, अध्युपपन्नाः<sup>२</sup>— प्रति हमारा ममत्व है। इस प्रकार आक्रन्दन करते हुए वे रुदन करते आसक्ताः, आक्रन्दकारिणः रुदन्ति । हैं।

२७. अतारिसे मुणी, णो ओहंतरए, जणगा जेण विप्पजहा ।

सं०—अतादृशः मुनिः नो ओषंतरको जनकाः येन विप्रत्यक्ताः ।

वे कहते हैं—'ऐसा व्यक्ति न मुनि हो सकता है और न संसार-सागर का पार पा सकता है, जिसने माता-पिता को छोड़ दिया है।'

भाष्यम् २७—रुदन्तस्ते मातापित्रादयः कथयन्ति— येन जनकाः विप्रत्यक्ताः, तादृशो न मुनिर्भवति, न च ओषंतरः—संसारसमुद्रपारगामी भवति ।

रुदन करते हुए वे माता-पिता आदि कहते हैं—जिसने माता-पिता को छोड़ दिया है, वह न मुनि होता है और न ओषंतर—संसार समुद्र का पारगामी होता है ।

२८. शरणं तत्थ णो समेति । किहू णाम से तत्थ रमति ?

सं०—शरणं तत्र नो समेति । कथं नाम स तत्र रमते ?

वह उसकी शरण में नहीं जाता । जानी पुरुष गृहवास में कैसे रमण करेगा ?

भाष्यम् २८—स पराक्रममाणः पुरुषः मातापित्रादीनां आक्रन्दनमाकर्ष्य न तेषां शरणं समेति । स निर्विण्ण-कामभोगः कथं नाम तत्र गृहवासे रमते, धृतिं करोतीति यावत् ।

संयम में पराक्रम करने वाला वह पुरुष माता-पिता का आक्रन्दन सुन कर उनकी शरण में नहीं जाता । वह कामभोगों से विरक्त व्यक्ति गृहवास में कैसे रमण करेगा, धृति कैसे रख पाएगा ?

२९. एयं णाणं सया समणुवासिज्जासि ।—त्ति वेमि ।

सं०—एतद् ज्ञानं सदा समनुवासयेः ।—इति ब्रवीमि ।

मुनि इस ज्ञान का सदा सम्यग् अनुपालन करे ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् २९—द्वे गती—एका सामाजिकसंबंधान् वितन्वाना, अपरा च आत्मानुसन्धानपरायणा । ये सन्ति आत्मानमन्वेष्टुमुद्यताः तैरात्मानं विहाय न केनापि संबंधः कार्यः, न च क्वापि शरणमन्वेषणीयं, केवलं आत्मन्येव आरमणीयमिति परमतत्त्वमिह उपदिष्टं भगवता ।

दो गतियां हैं—एक है सामाजिक संबंधों को विस्तार देने वाली और दूसरी है आत्मा का अनुसंधान करने वाली । जो आत्मा का अनुसंधान करने के लिए उद्यत हैं, उन्हें आत्मा को छोड़कर किसी के साथ भी सम्बन्ध नहीं करना चाहिए और न कहीं शरण की खोज करनी चाहिए । उन्हें केवल आत्मा में ही रमण करना चाहिए । इस परम तत्त्व का उपदेश भगवान् महावीर ने यहाँ दिया है ।

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २०८ : छंदो—इच्छा, छंदा उन्नयनीया छंदेण वा उन्नयनीयं, अं मणितं—अणोष्ण-वसाणुयत्तं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २१७ : तत्राभिप्रायानु-वर्तिनः ।

२. वृत्तिकृता 'अहमोववण्णा' इति पाठः ध्याह्यातः—स्वयि चाभ्युपपन्नाः । (आचारांग वृत्ति, पत्र २१७)

## बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

३०. आतुरं लोथमायाए, चइत्ता पुव्वसंजोगं हिच्चा उवसमं वसिसा बंभचेरम्मि वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तथा, अहेगे तमचाइ कुशीला ।

सं०—आतुरं लोकमादाय, त्यक्त्वा पूर्वसंयोगं, हित्वा उपशमं, उषित्वा ब्रह्मचर्यं, वसुं वा अनुवसुं वा ज्ञात्वा धर्मं यथा तथा अप्येके तमशवनुवन्तः कुशीलाः ।

वियोग से आतुर लोक को जानकर, पूर्व संयोग को छोड़कर, उपशम का अभ्यास कर, ब्रह्मचर्य में वास कर, पूर्ण या अपूर्ण धर्म को यथार्थ रूप में जान कर भी कुछेक कुशील मुनि चारित्र-धर्म का पालन करने में समर्थ नहीं होते ।

भाष्यम् ३०—प्रथमोद्देशके स्वजनपरित्यागधृतं व्याख्यातम् । इदानीं काम्यपरित्यागधृतं व्याख्यायते । स पराक्रममाणः स्ववियोगे आतुरं लोकं—मातापित्रा-दिकं आइत्ते—ज्ञानेन गृह्णाति, गृहीत्वापि पूर्वसंयोगं त्यजति, ततश्च उपशमं—संयमं<sup>५</sup> अभ्यस्यति<sup>६</sup> प्राप्नोति<sup>६</sup> वा । ब्रह्मचर्यं—चारित्र्ये गुरुकुलवासे च वसति ।<sup>५</sup> स वसुं—वीतरागसंयमं वा अनुवसुं—सरागसंयमं<sup>५</sup> वा धर्मं यथार्थरूपेण जानाति । अथैके कुशीलाः अल्पं वा चिरं वा कालं तत्र उषित्वापि तं आराधयितुं न शक्नुवन्ति ।<sup>६</sup>

प्रस्तुत अध्ययन के पहले उद्देशक में स्वजन-परित्याग धृत की व्याख्या की गई है । अब यहां काम्य-परित्याग धृत की व्याख्या की जा रही है । वह संयम में पराक्रमशील व्यक्ति अपने वियोग से आकुल-व्याकुल माता-पिता आदि को—ये रागातुर होकर आक्रन्दन कर रहे हैं—ऐसा ज्ञान से जानता है, जानकर भी वह पूर्व संयोग को छोड़ देता है । उसके पश्चात् वह संयम का अभ्यास करता है अथवा उसे हस्तगत कर लेता है । वह ब्रह्मचर्य—चारित्र्य में रमण करता है और गुरुकुलवास में रहता है । वह वसु—वीतरागसंयम अथवा अनुवसु—सरागसंयम धर्म को यथार्थरूप में जानता है । फिर भी कुछेक कुशील मुनि अल्पकाल अथवा चिरकाल तक संयम में रह कर भी उसकी आराधना करने में समर्थ नहीं होते ।

३१. वस्त्रं पडिग्रहं कम्बलं पादप्रोच्छनं विउसिज्जा ।

सं०—वस्त्रं प्रतिग्रहं कम्बलं पादप्रोच्छनं व्युत्सृज्य ।

वे वस्त्र, पात्र, कम्बल और पादप्रोच्छन को छोड़ देते हैं ।

भाष्यम् ३१—तेषु केचित् लिङ्गे—मुनिवेशे तिष्ठन्ति । केचित् लिङ्गमपि त्यजन्ति । वस्त्रं, प्रतिग्रहं, कम्बलं, पादप्रोच्छनं व्युत्सृज्य कश्चित् श्रावको भवति, कश्चित् दर्शनश्रावको भवति, कश्चिद् गृहस्थः लिङ्गी वा भवति । प्रतिग्रहम्—पात्रं । पादप्रोच्छनम्—रजोहरणम् ।

उन में कुछ व्यक्ति मुनिवेश में रहते हैं । कुछ मुनिवेश को भी छोड़ देते हैं । कोई वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोच्छन (रजोहरण) का परित्याग कर श्रावक बन जाता है । कोई दर्शन-श्रावक, कोई गृहवासी अथवा कोई अन्यलिङ्गी बन जाता है ।

प्रतिग्रह का अर्थ है पात्र और पादप्रोच्छन का अर्थ है—रजोहरण ।

३२. अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए ।

सं०—अनुपूर्वेण अनधिसह्यमानाः परीषहाः दुरधिसहाः ।

परीषहों को क्रमशः न सह सकने के कारण वे परीषह दुःसह हो जाते हैं ।

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २०९ : उवसमणं उवसमो—संजमो, जो वा जत्थ पिइं करेति से तस्स उवसमति ।  
२. वही, पृष्ठ २०९ : आदिअवखरलोवा अहिच्चा ।  
३. आचारांग वृत्ति, पत्र २१७ : हित्वा—गत्वा ।  
४. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २०९ : तं संजमो सत्तरसविहो, वसित्तु वा पालित्तु वा एगट्ठा, तं च बंभचेरं वितितं से णामं चारित्रं ।

५. वही, पृष्ठ २०९-२१० : अहवा संजमो बुहा भवति—से वसुमं वसति जेहिं गुणो सो वसु, अणु पच्छाभावे थोवे वा । बीतरागो वसुज्जो, जिनो वा संयतोऽथवा । सरागोऽनुवसुः प्रोक्तः, स्थविरः श्रावकोऽथवा ।।  
६. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २१० : अच्चाई णाम अच्चाएमाणा, जं भणितं—असत्तिमंता ।  
(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २१७ : न शक्नुवन्ति ।

भाष्यम् ३२—अनुपूर्वम्—क्रमः । ये परीषहं क्रमेण न सहन्ते, तेषां स दुस्सहो भवति । यथा—केनचित् मनोज्ञं रूपं दृष्टं, तदानीमेव तेन अव्यापारः कार्यः न पुनस्तद् द्रष्टुं प्रयत्नः कार्यः । एषोऽनुकूलपरीषहसहनस्य प्रथम-श्चरणः । तस्मिन् रूपे प्रतिगते तस्य अनुस्मृतिर्न कार्या । एष द्वितीयश्चरणः । अनेन क्रमेण स परीषहः सुसहो भवति । ये एवं नाभ्यस्यन्ति, रूपं दृष्ट्वा मूर्च्छन्ति, तत्प्रति अभिसर्पन्ति, तस्मिन् प्रतिगते तदेव अनुस्मरन्ति, तेषां स परीषहः दुस्सहो भवति । एवमन्येषा-मिन्द्रियाणां विषयजनिताः परीषहाः बोद्धव्याः । एवं अनिष्टविषयजनितेष्वपि परीषहेषु वाच्यम् ।

अनुपूर्व का अर्थ है—क्रम । जो मुनि परीषह को सहने का क्रमशः अभ्यास नहीं करते, उनके लिए वह परीषह दुःसह हो जाता है । जैसे—किसी ने मनोज्ञ रूप देखा । तत्काल ही वह अपनी दृष्टि को उससे हटा ले, पुनः उसे देखने का प्रयत्न न करे । यह अनुकूल परीषह को सहने का पहला चरण है । उस रूप के वहाँ से निवृत्त हो जाने पर उसकी स्मृति न करे । यह दूसरा चरण है । इस क्रम से उस परीषह को सहना सरल हो जाता है । जो इस प्रकार अभ्यास नहीं करते, रूप को देख कर उसमें मूर्च्छित हो जाते हैं, उसके प्रति अभिमुख हो जाते हैं, उसके निवृत्त हो जाने पर उसी की अनुस्मृति करते रहते हैं, उनके लिए रूप का वह परीषह दुस्सह हो जाता है । इसी प्रकार अन्यान्य इन्द्रियों के विषय से उत्पन्न होने वाले परीषहों के विषय में जानना चाहिए । इस प्रकार अनिष्ट विषय जनित परीषहों को सहने का भी यही क्रम है ।

३३. कामे ममायमाणस्स इयारिण वा मुहुत्ते वा अपरिमाणाए भेदे ।

सं०—कामान् ममायमानस्य इदानीं वा मुहुत्तेन वा अपरिमाणाय भेदः ।

वह काम-मूर्च्छा से मुनि-धर्म को छोड़ता है । उसकी उसी क्षण, मुहुत्तं भर में अथवा किसी भी समय किसी मानदंड के बिना मृत्यु हो सकती है ।

भाष्यम् ३३—यः कामान् प्रति मूर्च्छितो भवति, तेषु ममत्वं करोति, तेषामर्थं मुनिपर्यायं परित्यजति, तस्य विषये सूत्रकारः प्रतिपादयति—येन कामासेवनार्थं अवधावनं कृतं तस्य इदानीं—अस्मिन्नेव क्षणे वा, मुहुत्ते—यस्मिन् कस्मिंश्चित् क्षणे वा वयःप्रभृतीनां परिमाणं विना भेदो भवति । भेदः—प्राणशरीरयोः वियोजनम् ।

जो कामों में मूर्च्छित होता है, उनमें ममत्व करता है, उन के लिए मुनि-धर्म को छोड़ देता है, उसके विषय में सूत्रकार कहते हैं—जो मुनि कामों के आसेवन के लिए मुनि-धर्म को छोड़कर चला जाता है, उसका उसी क्षण में अथवा जिस किसी क्षण में, वय आदि के मानदंड के बिना, भेद हो सकता है । भेद का अर्थ है—प्राण और शरीर का वियोजन—मृत्यु ।

३४. एवं से अंतराइएहि कामेहि आकेवलिएहि अवितिण्णा चेए ।

सं०—एवं स आन्तरायिकैः कामैः आकेवलिकैः अवितिर्णाः चैते ।

इस प्रकार वह विघ्न और द्वन्द्वयुक्त इन कामों का पार नहीं पा सकता ।

भाष्यम् ३४—कामाः सन्ति आन्तरायिकाः सविघ्ना इति यावत्, आकेवलिकाः—असंपूर्णाः सद्बन्धा इति

काम बाधा उपस्थित करने वाले और विघ्नबहुल होते हैं । वे असंपूर्ण अर्थात् द्वन्द्व युक्त होते हैं । इसलिए उनका पार नहीं पाया जा

१. (क) आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २१० : परीषहा ते य एवं अणुपुञ्जेण ण अहियासिज्जति, सद्दं मुणेत्ता तत्थ मुच्छति, तं वा प्रति अभिसर्पति, ण य से अच्चावारं करेइ, तद्वरमे य तदेव अणुस्सरति, एवं वुरघियासा भवति, जाव फासा, एवं अणिट्ठेसु बोसं करेति ।
- (ख) परीषह दो प्रकार के होते हैं—अनुकूल और प्रतिकूल । मनोज्ञ शब्द, रूप आदि इन्द्रिय-विषय अनुकूल परीषह हैं । उनके प्राप्त होने पर व्यापार और उनके निवृत्त होने पर उनकी स्मृति करने वाला अनुकूल परीषहों को सहन नहीं कर सकता । उनके प्राप्त होने पर अव्यापार और उनके निवृत्त

होने पर अस्मृति करने वाला अनुकूल परीषहों को सहन कर सकता है ।

प्रतिकूल परीषहों के सहन और असहन का भी यही क्रम है ।

२. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २११ : एतेणं तस्स परिमाणं ण विज्जति, भेदो जीवसरीरप्पा, अहवा अपरिमाणाए उवक्कमेणं अणुवक्कमेणं वा ण णज्जति कहुं गमणमिति, उवक्कमेवि सति ण सो उवक्कमविसेसो णज्जति जेणं गंतव्वमिति ।

३. वही, पृष्ठ २११ : भेदो जीवसरीरप्पा ।

यावत् । एवं एते अवितीर्णा भवन्ति । केवलं वैराग्येणैव ते तीर्णा भवन्ति । कामानामासेवनेन न ते कदापि तीर्णा भवन्तीति तात्पर्यम् ।<sup>१</sup>

सकता ! केवल वैराग्य से ही उनका पार पाया जा सकता है । कामों के आसेवन से उनका पार कभी भी नहीं पाया जा सकता, यह इसका तात्पर्य है ।

३५. अहेगे धम्म मादाय आयाणप्पभिद्दं सुप्रणिहिए चरे ।

सं०—अर्थकः धर्ममादाय आदानप्रभृति सुप्रणिहितः चरति ।

कोई व्यक्ति मुनि-धर्म में दीक्षित हो, वस्त्र, पात्र आदि में अनासक्त होकर विचरण करता है ।

भाष्यम् ३५—पूर्व पञ्च (३०-३४) प्रमादसूत्राणि भणितानि । अथातः अप्रमादसूत्राणि ।<sup>२</sup> एकः कश्चित् आदानप्रभृति आदाय तत्र सुप्रणिहितः धर्मं चरति । सुशीलस्य धर्मचर्यायाः द्वे अवस्थे विद्येते—सचेलावस्था अचेलावस्था च । यः सचेलावस्थायां मुनिधर्ममाचरति तस्य चर्या सूत्रपञ्चके (३०-३४) निरूपिता । अचेलावस्थायां मुनिधर्ममाचरतश्चर्या चत्वारिंशसूत्रादारभ्य एकपञ्चाशसूत्रपर्यन्तं प्रतिपादिता समस्ति ।

आदानम्—वस्त्रम् ।<sup>३</sup> प्रभृतिपदेन पात्रादीनां ग्रहणम् । प्रणिधानं निर्मलता । यः वस्त्राद्युपकरणेषु अनासक्तो भवति स उपकरणापेक्षया सुप्रणिहितः प्रोच्यते । उक्तञ्च स्थानाङ्गं—

चउच्चिहे सुप्पणिहाणे पण्णत्ते, तं जहा—मणसुप्पणिहाणे, वइसुप्पणिहाणे, कायसुप्पणिहाणे, उच्चगरणसुप्पणिहाणे ।<sup>४</sup>

पहले पांच (३० से ३४) प्रमाद सूत्रों का निरूपण हुआ है । अब यहां से अप्रमाद सूत्रों का कथन है । कोई एक व्यक्ति वस्त्र, पात्र आदि को ग्रहण कर उनमें अनासक्त होकर धर्म का आचरण करता है । सुशील मुनि की धर्मचर्या की दो अवस्थाएं हैं—सचेल अवस्था और अचेल अवस्था । जो सचेल अवस्था में मुनि-धर्म की आराधना करता है, उसकी चर्या का निरूपण पांच सूत्रों (३०-३४) में है । जो अचेल अवस्था में मुनि-धर्म की आराधना करता है, उसकी चर्या चालीसवें सूत्र से इक्यावनवें सूत्र पर्यन्त प्रतिपादित है ।

आदान का अर्थ है—वस्त्र और 'प्रभृति' शब्द से पात्र आदि का ग्रहण किया गया है । प्रणिधान का अर्थ है—निर्मलता । जो वस्त्र आदि उपकरणों में अनासक्त रहता है, वह उपकरणों की अपेक्षा से 'सुप्रणिहित' कहलाता है । स्थानांग में कहा है—

सुप्रणिधान चार प्रकार का होता है—मनःसुप्रणिधान, वाक्-सुप्रणिधान, कायसुप्रणिधान और उपकरण सुप्रणिधान ।

१. विघ्न, द्वंद्व और अपूर्णता—ये काम के साथ जुड़े हुए हैं । मनुष्य सुख की इच्छा से उनका सेवन करना चाहता है, पर सेवन-काल में अपहरण, रोग, मृत्यु आदि अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं । मनुष्य इष्ट विषय चाहता है, पर प्रत्येक इष्ट विषय के साथ अनिष्ट विषय अप्रचारा आ जाता है । काम अपूर्ण हैं, इसलिए वे मनुष्य की तृप्ति को पूर्ण नहीं कर सकते । फलतः जैसे-जैसे उनका सेवन होता है, वैसे-वैसे अतृप्ति बढ़ती जाती है । इस क्रम से उनका पार पाना असंभव हो जाता है ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१२ : जाणि प्पमादसुत्ताणि भणितानि तंजहा अहेगे तमच्चयायी० एवाणि विवज्जतेण पडिज्जति, अत्यआसवातो तं जहा—अहेगे तं चाई सुसोले वत्थं पडिगहं अविउसज्ज अणुपुब्बेण अहियासमाणो परीसहे दुरहियासओ कामे अममायमाणस्स, इदाणि वा मुहत्ते वा अपरिमाणाए भेदे, एवं ता अंतरइएहि कम्महि वितिण्णा चेते, एयाओ आलंबणाओ कामे अणासेवमाणे 'अह एगे धम्ममादाय' एवं अप्पमादेणं पमादो अंतरिओ उच्चिद्दी, भणियं च—

'यस्त्वप्रमादेन तिरो प्रमादः, स्याद्वापि यत्तेन पुनः प्रमादः । विपर्ययेणापि पठति तत्र, सूत्राण्यधीगारवशाद् विघ्नज्ञाः ॥'

३. (क) चूर्णों 'आदान' पदस्य व्याख्या एवं लभ्यते— 'आदीयते इति आदानं—नाणादि, अणु-वसुप्पभित्ति वसुप्पभित्ति वा ।'

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१२)

(ख) वृत्तों 'आदान' पदेन सचेलावस्थायाः संकेतो लभ्यते—आदाय गृहीत्वा वस्त्रपतद्ग्रहादिधर्मोपकरण-समन्विता धर्मकरणेषु प्रणिहिताः परीषहसहिष्णवः सर्वज्ञोपदिष्टं धर्मं चरेयुरिति ।

(आचारांग वृत्ति, पत्र २१९)

(ग) तृतीयोद्देशकस्य प्रथमसूत्रे आदानं—वस्त्रादि इत्यपि व्याख्यातमस्ति वृत्तौ—'आदीयते इत्यादानं—कर्म आदीयते वाजनेन कर्मोऽयादानं—कर्मो-पादानं, तच्च धर्मोपकरणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि ।' (आचारांग वृत्ति, पत्र २२१)

४. अंगसुत्ताणि १, ठाणं ४।१०५ ।

३६. अपलीयमाणे दृढे ।

सं०—अपलीयमानः दृढः ।

वह अनासक्त और दृढ होता है ।

भाष्यम् ३६—स सुशीलः मुनिः अप्रलीयमानः<sup>१</sup>—  
वस्त्राद्युपकरणं प्रति अनासक्तो भवति । स दृढश्च  
भवति । उक्तं च स्थानाङ्गे—एकः कश्चित् प्रियधर्मा  
भवति, एकश्च दृढधर्मा । प्रियधर्मा धर्मं प्रति रुचिं करोति  
न तस्य निर्वाहं कर्तुं शक्नोति । दृढधर्मा धृत्या संहननेन  
च दृढत्वात् धुरीण इव भारवाही भवति ।

वह सुशील मुनि वस्त्र आदि उपकरणों के प्रति अनासक्त होता  
है । वह दृढ होता है । स्थानांग में कहा है—कोई एक व्यक्ति प्रियधर्मा  
होता है और कोई एक दृढधर्मा । प्रियधर्मा व्यक्ति धर्म के प्रति रुचि  
करता है, किन्तु वह उसका निर्वाह नहीं कर सकता । दृढधर्मा व्यक्ति  
अपनी धृति और संहनन की दृढता से धुरीण बैल की भांति भार-  
वहन करने में सक्षम होता है ।

३७. सर्व्वं गेहिं परिज्ञाय, एस पणए महामुणो ।

सं०—सर्वा 'गेहिं' परिज्ञाय एष प्रणतः महामुनिः ।

समग्र कामासक्ति को छोड़ कर धर्म के प्रति समर्पित होने वाला महामुनि होता है ।

भाष्यम् ३७—यः सर्वा 'गेहिं'<sup>२</sup>—कामासक्ति परिज्ञाय  
विहरति स एष धर्मं वैराग्यं च प्रति प्रणतो भवति,  
तादृशो महामुनिर्जायते । चूर्णिकारस्याभिमतं स  
महान्तं संसारं जानाति, प्रधानो वा मुनिर्भवति ।<sup>३</sup>

जो समग्र कामासक्ति को छोड़ कर जीवन-यापन करता है,  
वह धर्म और वैराग्य के प्रति समर्पित होता है । वैसा व्यक्ति महामुनि  
होता है । चूर्णिकार के मतानुसार—वह पुरुष महान् संसार को जानता  
है अथवा वह प्रधान मुनि होता है ।

३८. अइअच्च सर्व्वतो संगं 'ण महं अत्थित्ति इति एगोहमंसि ।'

सं०—अतिगत्य सर्व्वतः संगं 'न मम अस्तीति, इति एकोऽहमस्मि ।'

वह सब प्रकार से संग का परित्याग कर यह भावना करे—मेरा कोई नहीं है, इसलिए मैं अकेला हूँ ।

भाष्यम् ३८—कर्मपरित्यागाय एकत्वानुप्रेक्षा अत्यन्त-  
मुपादेयाऽस्ति । संगो नाम रागः ।<sup>४</sup> सर्व्वतः—सर्व्वत्र  
सर्व्वथा सर्व्वकालं वा । सर्व्वं संगमतीत्य इति अनुप्रेक्षणीयं  
—न मम कोऽपि अस्ति इति एकोऽहम् । अनेकत्वं  
संगकल्पितमस्ति इति नास्ति तत् सत्यम्, एकत्वञ्च  
वास्तविकमिति सत्यस्यानुप्रेक्षया कर्म धृतं भवति ।

कर्म परित्याग के लिए 'एकत्व-अनुप्रेक्षा' अत्यन्त उपादेय है ।  
संग का अर्थ है—राग । सर्व्वतः का अर्थ है—सर्व्वत्र, सर्व्वथा,  
अथवा सर्व्वकाल । वह समस्त संगों का परित्याग कर ऐसी अनुप्रेक्षा  
करे—मेरा कोई भी नहीं है, इसलिए मैं अकेला हूँ ।' अनेकत्व संग  
से उत्पन्न होता है, इसलिए वह यथार्थ नहीं है । एकत्व या अकेलापन  
वास्तविक है । इस सत्य की अनुप्रेक्षा से कर्म प्रकंपित होता है ।

सूत्रकृताङ्गे एकत्वानुभवो मोक्षः इति प्रसाधित-  
मस्ति<sup>५</sup> ।

सूत्रकृतांग में 'एकत्व का अनुभव मोक्ष है'—यह सिद्ध किया  
है—

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१२ : अप परिवर्जने, लीणो  
द्विसयकसायावि ।
२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१२ : गंधो गेही कंखत्ति  
इति वा एगदंठं ।  
(ख) देशीशब्दोऽयम् ।
३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१२ : पणतो महंतं मुणेति संसारं,  
पहाणो वा मुणी ।
४. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१२ : संगो णाम रागो,  
अहवा कम्मस्स संगो ।  
(ख) द्रष्टव्यम्—आयारो, ३।६ ।

५. (क) अंगसुत्ताणि १, सूयगडो १।१०।१२ ।  
(ख) सूत्रकृतांग चूर्ण, पृष्ठ १८८, १८९ : एकभाव  
एकत्वम्, माहं कस्यचित् ममापि न कश्चिदिति—  
'एक्को मे सासओ अप्पा षाणवंसणसंजुतो ।  
सेसा मे बाहिरा भावा सज्जे संजोगलक्खणा ।'  
(संस्तारक पौरुषी, गा० ११)  
एवं वैराग्यं अणुपत्थेज्ज, अथ किमासम्भनं कृत्या ?  
'एतं पमोक्खे ण मुसं ति पास', जं चेव एतं एकत्वं  
एस चेव पमोक्खो, कारणे कार्योपघारादेव एव मोक्षः  
भूशं मोक्षो पमोक्खो सत्यश्चायम् ।

‘एगत्तमेव अन्नित्थएज्जा एतं पमोक्खे ण मुसं ति पास ।  
एसप्पमोक्खे अमुत्तेऽवरे वी अकोहणे सच्चरणे तवस्ती ॥’

‘व्यक्ति एकत्व (अकेलेपन) की अभ्यर्थना करे । यह एकल मोक्ष है । यह मिथ्या नहीं है । इसे देख ! एकत्व में रहने वाला पुरुष मोक्ष, सत्य, प्रधान, क्रोधमुक्त, सत्यरत और तपस्वी होता है ।’

३६. जयमाणे एत्थ विरते अणगारे सञ्चओ मुंडे रीयंते ।

सं०—यतमानः अत्र विरतः अनगारः सर्वतः भुण्डः रीयमाणः ।

वह संयम-पूर्वक चर्या करने वाला, विरत, गृहत्यागी, सब प्रकार से मुण्ड और अनियतवास वाला होता है ।

भाष्यम् ३९—स एकोऽहमस्मि इति भावनायाः  
विकासाय यतमानः, अथवा एकोऽहमस्मि इति भावनाया  
यच्छन्—संयमं कुर्वाणः, अत्र कामानां परित्यागाय  
विरतः—कामेषु रति अकुर्वाणः सर्वतो मुण्डो<sup>१</sup> भूत्वा  
रीयमाणो भवति, अनियतवासमाचरतीति यावत् ।

वह पुरुष ‘मैं अकेला हूँ’ इस भावना के विकास के लिए  
प्रयत्नशील, अथवा ‘मैं अकेला हूँ’ इस भावना से संयम की साधना  
करता है । वह काम के परित्याग के लिए विरत—काम में रति न  
करता हुआ, सब प्रकार से मुंड होकर अनियतवास वाला होता है  
अर्थात् अनियतवास का आचरण करता है ।

४०. जे अचेले परिवुसिए संचिक्खति ओमोयरियाए ।

सं०—यः अचेलः पर्युषितः संतिष्ठते अवमोदरिकायाम् ।

जो मुनि निर्वस्त्र रहता है, वह अवमोदर्य तप का अनुशीलन करता है ।

भाष्यम् ४०—इदानीं अचेलचर्या । यः अचेलः<sup>२</sup>  
पर्युषितः स अवमोदरिकायां संतिष्ठते ।<sup>१</sup> अवमोदरिका  
—अल्पीकरणम् । वस्त्रादीनां आहारस्य च अल्पीकरणं  
द्रव्यतः अवमोदरिका, क्रोधादीनामल्पीकरणं भावतः  
अवमोदरिका । वस्त्राद्युपकरणानि क्रोधादीनां निमित्तं  
जायन्ते, अतस्तेषां त्यागं करोति, स भावतोऽपि अवमोद-  
रिकां करोति ।

प्रस्तुत है—अचेल चर्या । जो मुनि अचेल (निर्वस्त्र या अल्प  
वस्त्र) होता है, वह अवमोदर्य तप का अनुशीलन करता है । अवमोदर्य  
का अर्थ है—अल्पीकरण । वस्त्र आदि का तथा आहार का अल्पीकरण  
करना द्रव्य अवमोदर्य है । क्रोध आदि कषायों का अल्पीकरण करना  
भाव अवमोदर्य है । वस्त्र आदि उपकरण क्रोध आदि के निमित्त बनते  
हैं, इसलिए वह उनका त्याग करता है । वह भावतः भी अवमोदर्य तप  
का अनुशीलन करता है ।

४१. से अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।

सं०—स आक्कुट्ठो वा हतो वा लूषितो वा ।

कोई मनुष्य उसे गाली देता है, पीटता है या अंग-भंग करता है ।

१. स्थानांग सूत्र (१०।९९) में दस प्रकार के मुण्ड बतलाए  
गए हैं—

१. क्रोध-मुण्ड—क्रोध का अपनयन करने वाला ।
२. मान-मुण्ड—मान का अपनयन करने वाला ।
३. माया-मुण्ड—माया का अपनयन करने वाला ।
४. लोभ-मुण्ड—लोभ का अपनयन करने वाला ।
५. शिर-मुण्ड—शिर के केशों का लुंचन करने वाला ।
६. श्रोत्रेन्द्रिय-मुण्ड—कर्णेन्द्रिय के विकार का अपनयन  
करने वाला ।
७. चक्षुरिन्द्रिय-मुण्ड—चक्षुरिन्द्रिय के विकार का अप-  
नयन करने वाला ।
८. घ्राणेन्द्रिय-मुण्ड—घ्राणेन्द्रिय के विकार का अपनयन  
करने वाला ।

९. रसनेन्द्रिय-मुण्ड—रसनेन्द्रिय के विकार का अपनयन  
करने वाला ।

१०. स्पर्शनेन्द्रिय-मुण्ड—स्पर्शनेन्द्रिय के विकार का अप-  
नयन करने वाला ।

२. (क) चूर्णो (पृष्ठ २१३) अचेलपदस्य मौलिकोऽर्थो विद्यते  
—दृष्टे तित्थगर असंतचेलो, भावे रागदोसविज्जओ,  
सेहावि चेलोहि अचेलो ।

(ख) वृत्तो (पत्र २१९) अल्पचेल इति उत्तरवर्त्तो अर्थः  
प्रतीयते—अचेलः अल्पचेलो जिनकल्पिको वा ।

३. संचिक्खति इति मूलपदम्, चूर्णो (पृष्ठ २१३)—संभं  
विकखमाणे संचिक्खमाणे ।



भाष्यम् ४१—अचेलावस्थायां परीषहाणां संभावना अधिकं वर्तते । अचेलं दृष्ट्वा कश्चिद् आक्रोशं प्रसारं अङ्गभङ्गं वा करोति । स अचेलः मुनिः तमाक्रोशपरीषहं वधपरीषहं च तितिक्षमाणः परिव्रजेत् ।

अचेल अवस्था में परीषहों की संभावना अधिक होती है । अचेल अवस्था में मुनि को देख कर कोई व्यक्ति मुनि पर आक्रोश करता है, प्रहार करता है, अंग-भंग करता है । वह अचेल मुनि, उस आक्रोश परीषह तथा वध परीषह को सहता हुआ परिव्रजन करे ।

#### ४२. पलियं पगंथे अदुवा पगंथे ।

सं० —‘पलियं’ ‘पगंथे’ अथवा ‘पगंथे’ ।

कोई मनुष्य कर्म की स्मृति दिलाकर गाली देता है अथवा कोई असभ्य शब्दों का प्रयोग करके गाली देता है ।

भाष्यम् ४२—पलियं—कर्म । पगंथे—देशीक्रियापद आक्रोशति इत्यर्थः । कश्चित् कर्मणः स्मृतिं कारयित्वा गालिं ददाति अथवा एवमेव अश्लीलानां गालीनां प्रयोगं करोति ।<sup>१</sup>

पलियं का अर्थ है—कर्म । ‘पगंथे’ देशी क्रियापद है । इसका अर्थ है—आक्रोश करना, गाली देना । कोई पुरुष कर्म (प्रवृत्ति) की स्मृति दिलाकर गाली देता है अथवा वैसे ही अश्लील गाली-मलोज का प्रयोग करता है ।

#### ४३. अतर्हेहि सद-फासेहि, इति संख्याए ।

सं०—अतर्थः शब्दस्पर्शः, इति संख्याय ।

कोई तथ्यहीन शब्दों तथा स्पर्शों द्वारा उपसर्ग करता है । मुनि इन सबको सम्यक् चिन्तन के द्वारा सहन करे ।

भाष्यम् ४३—कश्चिद् अतर्थः—असद्भूतैः शब्दस्पर्शैः उपसर्गं करोति । तत्र शब्दाः—आक्रोशभर्त्सनतर्जनादयः, स्पर्शाः वधबन्धनमारणादयः शारीरिकयातनाविशेषाः, तदानीं मतिमान् मुनिः अहं अवमौदर्ये स्थितोऽस्मि इति संख्याय सम्यक् चिन्तनं कृत्वा सम्यगालंबनमादाय वा तान् शब्दस्पर्शात्मकान् परीषहान् तितिक्षेत ।

कोई पुरुष तथ्यहीन शब्दों तथा स्पर्शों द्वारा उपसर्ग उपस्थित करता है । शब्दों से तात्पर्य है—आक्रोश, भर्त्सना, तर्जना आदि । स्पर्श का अर्थ है—वध, बंधन, मारना आदि शारीरिक यातना-विशेष । तब मतिमान् मुनि ‘मैं अवमौदर्य में प्रतिष्ठित हूँ’—ऐसा सम्यक् चिन्तन कर अथवा सम्यक् आलंबन लेकर उन शब्दों और स्पर्शों से उत्पन्न परीषहों को सहन करे ।

#### ४४. एगतरे अण्णयरे अभिण्णाय, तितिक्षमाणे परिव्रजेत् ।

सं०—एकतरान् अन्यतरान् अभिज्ञाय तितिक्षमाणः परिव्रजेत् ।

एकजातीय या भिन्नजातीय परीषहों को उत्पन्न हुआ जान कर मुनि उन्हें सहन करता हुआ परिव्रजन करे ।

१. (क) उत्तरज्जयणाणि, २।२४, २५, २६, २७ ।

(ख) ब्रह्मव्यम्—दसवेअलियं १०।१३ ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २१३ : पलियं नाम कम्मं, सो य कम्मजुगितो पब्बइओ, ण तहा, कट्टुहारो वा, वेसं वा पप्प णिल्लेवगादि णिक्खमंति, सो य केणइ सयक्खेण परीक्खेण वा असूयाए पगंथं वा पगंथति, असूयाए ताव णावि-अणिल्लेवगो तणहारगो, पगंथं तुमं तणहारओ तहावि ण लब्बसि ममं सह विरज्जमाणा, सरीरजुगिते वा सूयाएवि अहं काणो कुंडो वा पगंथं कोदिग कुज्जो वा, एवं ओरा-त्ताहि भासाहि पगंथति ।

३. सब प्रकार के काम करने वाले लोग अहंत् के शासन में वीक्षित होते थे । कुछ लोग गृहवास के कर्म को याद दिला

कर उन्हें कोसते, जैसे—‘ओ जुलाहा ! तू साधु हो गया, पर क्या जानता है?’ ‘ओ लकड़हारा ! कल तक लकड़ियों का गट्टर ढोता था, आज साधु बन गया !’

४. सम्यक् चिन्तन के पांच प्रकार हैं—कोई गाली दे, पीटे या अंग-भंग करे, तब मुनि चिन्तन करे—

१. यह पुरुष यक्ष से आविष्ट है ।

२. यह पुरुष उन्मत्त है ।

३. यह पुरुष वर्षयुक्त चित्त वाला है ।

४. मेरा किया हुआ कर्म उदय में आ रहा है, इसलिए यह पुरुष मुझे गाली देता है, बांधता है, पीटता है ।

५. मैं इस कष्ट को सहन करूंगा, तो मेरे कर्म क्षीण होंगे ।

भाष्यम् ४४—स एकतरान्—एकजातीयान्, अन्य-तरान्—भिन्नजातीयान् वा परीषहान् उत्पन्नान् अभिज्ञाय तान् तितिक्षमाणः परिव्रजेत् । तत्र शब्दः एकजातीयः, यथा आक्रोशपरीषहः, स्पर्शः अन्य-जातीयः, यथा शीतोष्ण-दंश-मशक-चर्या-शय्या-वध-तृण-स्पर्शादयः परीषहाः ।

४५. जे य हिरी, जे य अहिरीमणा ।

सं०—ये च ह्री (मनसः), ये च अह्रीमनसः ।

मुनि लज्जाकारी और अलज्जाकारी—दोनों प्रकार के परीषहों को सहन करे ।

भाष्यम् ४५—स्थानाङ्गे पञ्च पुरुषजातानि प्रज्ञप्तानि सन्ति—

- ० ह्रीसत्त्वः—विकटपरिस्थितावपि लज्जावशात् न कातरतां व्रजति ।
- ० ह्रीमनःसत्त्वः—विकटवेलायामपि न मनसा कायरतां व्रजति ।
- ० चलसत्त्वः—अस्थिरसत्त्ववान् ।
- ० स्थिरसत्त्वः—सुस्थिरसत्त्ववान् ।
- ० उदयनसत्त्वः—प्रवर्द्धमानसत्त्ववान् ।

तत्र केचित् पुरुषा ह्रीमनसो भवन्ति केचित् अह्रीमनसश्च भवन्ति । ह्रीमनसां कृते अचेलपरीषहः सोढुमशक्यः । अह्रीमनसां कृते स सोढुं शक्यो भवति । अचेले परिवासं कुर्वता मुनिना लज्जापरीषहः शीतादि-परीषहश्च सम्यक् सोढव्यः ।

४६. चिच्छा सव्वं विसोत्तियं, फासे फासे समियदंसणे ।

सं०—त्यक्त्वा सर्वां विस्रोतसिकां स्पर्शान् स्पृशेत् सम्यग्दर्शनः ।

सम्यग्-दर्शन-सम्पन्न मुनि सब प्रकार की चैतसिक चंचलता को छोड़ कर स्पर्शों को समभाव से सहन करे ।

भाष्यम् ४६—विस्रोतसिका—चेतसश्चञ्चलता । अचेलस्य मुनेः केचित् परीषहाः सहजं संभवन्ति, तान् लक्ष्यीकृत्य विस्रोतसिकां न कुर्यात्, किन्तु सर्वां तां त्यक्त्वा सम्यग्दर्शनः मुनिः ये केचित् स्पर्शाः जायन्ते तान् समभावपूर्वकं स्पृशेत् ।

वह मुनि एकजातीय अथवा भिन्नजातीय परीषहों को उत्पन्न हुआ जानकर उन्हें सहन करता हुआ परिव्रजन करे । शब्द एकजातीय परीषह है, जैसे—आक्रोश परीषह । स्पर्श भिन्नजातीय परीषह है, जैसे—शीत, उष्ण, दंश, मशक, चर्या, शय्या, वध, तृणस्पर्श आदि परीषह ।

स्थानांग में पांच प्रकार के पुरुष बतलाए गए हैं—

१. ह्रीसत्त्व—विकट परिस्थिति में भी लज्जावश कायर न होने वाला ।
२. ह्रीमनःसत्त्व—विकट वेला में भी मन से कायर न होने वाला ।
३. चलसत्त्व—अस्थिरसत्त्व वाला ।
४. स्थिरसत्त्व—सुस्थिरसत्त्व वाला ।
५. उदयनसत्त्व—प्रवर्द्धमानसत्त्व वाला ।

कुछ पुरुष लज्जालु होते हैं और कुछ अलज्जालु । लज्जाशील व्यक्तियों के लिए अचेल परीषह को सहना अशक्य होता है । अलज्जा-शील व्यक्ति के लिए उसे सहना शक्य होता है । अचेल अवस्था में रहता हुआ मुनि लज्जा परीषह और शीत आदि के परीषहों को सम्यक् प्रकार से सहन करे ।

विस्रोतसिका का अर्थ है—चित्त की चंचलता । अचेल मुनि के कई परीषह सहज उत्पन्न होते हैं । उनको लक्षित कर चैतसिक चंचलता न करे, किन्तु सब प्रकार की उन चैतसिक चंचलताओं को छोड़ कर सम्यग्दर्शन सम्पन्न मुनि जो स्पर्श उत्पन्न हों, उन्हें समभाव से सहन करे ।

१. (क) आचारंग वृत्ति, पृष्ठ २१४ : एगतरा एते सद्दा फासा य, तत्थ सद्दो एक्कोस परीसहो, सीत उष्णं वंसमसग चरिता तिज्जा बहो तणफास जल्ल एते फासा, तं एते सद्दफासा एगतरा ।

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र २१९ : एगतरान्—अनुकूलान्, अन्यतरान्—प्रतिकूलान् परीषहान् ।

२. अंगमुत्तानि १, ठाणं ५।१९८ ।

३. वृत्तौ 'हिरी' पदस्य व्याख्या सविकल्पा वृश्यते—ये च

परीषहाः सत्कारपुरस्कारादयः साधोर्हारिणो—मनआह्लाद-कारिणो ये तु प्रतिकूलतया अहारिणो—मनसोऽनिष्टा, यदि वा ह्रीरूपाः—याचानाऽवेलादयः अह्रीमनसश्च अलज्जाकारिणः शीतोष्णादयः इत्येतान् द्विरूपानपि परीषहान् सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति ।

(आचारंग वृत्ति, पत्र २१९)

४. वही, पत्र २२० : सम्यग् इतं गतं दर्शनं यस्य स समित-दर्शनः सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः ।

४७. एते भो ! णमिणा वृत्ता, जे लोगंसि अजागमणधम्मिणो ।

सं०—एते भो ! नग्नाः उक्ताः ये लोके अनागमनधम्मिणः ।

धर्म-क्षेत्र में उन्हें नग्न कहा गया है, जो दीक्षित होकर पुनः गृहवास में नहीं आते हैं ।

भाष्यम् ४७—ये लोके अनागमनधम्मिणो<sup>१</sup> भवन्ति, न तु विस्रोतसिकयाभिभूताः पुनर्गृहवासं जिगमिषन्ति । हे शिष्य ! एते एव वस्तुतः नग्नाः उक्ताः । न केवलं अचेलत्वमात्रेण ते नग्नाः उच्यन्ते ।

एतादृशा नग्ना एव एकान्तवासे वसन्ति, कामादि-संस्काराणामुन्मूलनं कर्तुं शक्नुवन्ति, नाभिनवान् संस्कारान् जनयन्ति ।<sup>२</sup> ये पुनर्गृहं गन्तुमिच्छन्ति भवन्ति, न तेषां संस्काराः क्षीणा जायन्ते, अतो मया यावज्जीवनं मुनित्वं आज्ञप्तम् ।

४८. आणाए मामगं धम्मं ।

सं०—आज्ञाय मामकं धर्मम् ।

वे मेरे धर्म को जान कर—मेरी आज्ञा को स्वीकार कर आजीवन मुनि-धर्म का पालन करते हैं ।

भाष्यम् ४८—मया मुनिधर्मस्यानुपालनं यावज्जीवनं निर्दिष्टं, तेन एतं मामकं धर्मं<sup>३</sup> आज्ञाय<sup>४</sup> एते उत्पन्नेष्वपि परीषहेषु न विचलिता भवेयुः, किन्तु यावज्जीवनं तमनुपालयेयुः ।

लोक में जो अनागमनधर्मी होते हैं, विस्रोतसिका—चैतसिक चंचलता से अभिभूत होकर पुनः गृहवास में जाना नहीं चाहते । हे शिष्य ! वे ही वस्तुतः नग्न कहे गए हैं । केवल अचेलता के कारण वे नग्न नहीं कहे जाते ।

इस प्रकार के नग्न पुरुष ही एकान्तवास में रहते हैं, काम आदि के संस्कारों का उन्मूलन कर सकते हैं, और नए संस्कारों को पैदा नहीं करते । जो पुनः गृहवास में जाने के इच्छुक हैं, उनके संस्कार क्षीण नहीं होते, इसलिए मैंने जीवन पर्यन्त मुनित्व की आज्ञा दी है । (अर्थात् मुनि जीवन सावधिक नहीं होता ।)

४९. एस उत्तरवादे, इह माणवाणं वियाहिते ।

सं०—एष उत्तरवादः इह मानवानां व्याहृतः ।

यह उत्तरवाद मनुष्यों के लिए निरूपित किया गया है ।

भाष्यम् ४९—एष अचेलपरिवासात्मको धर्मः उत्तरवादो विद्यते, न तु साधारणोऽयं वादः । अचेलत्वे परिवसनं शीतादिपरीषहाणां सहनं च उत्कृष्टः उपदेशः

मैंने आजीवन मुनि-धर्म के पालन का निर्देश दिया है । इसलिए मेरे इस धर्म को जान कर ये भुक्ति परीषहों के उत्पन्न होने पर भी विचलित न हों, किन्तु यावज्जीवन उस मुनि-धर्म का पालन करें ।

यह अचेल अवस्था में रहने का धर्म उत्तरवाद है—उत्कृष्ट सिद्धांत है, यह साधारणवाद नहीं है । अचेल अवस्था में रहना और शीत आदि परीषहों को सहना, यह उत्कृष्ट उपदेश मैंने मनुष्यों के

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २२० : अस्मिन् मनुष्यलोके अनागमनं धर्मो येषां तेऽनागमनधम्मिणः, यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभावा-वाहितवान् पुनर्गृहं प्रत्यागमनेऽस्तवः ।

२. आप्टे, नग्नः—Naked. Uncultivated, uninhabited, desolate.

३. चूर्णी धर्मस्य वैकल्पिकोर्थः स्वभावः कृतोस्ति—'अहंवा मामगो सहावो, सो य अहं सुहससभावो, एतेण अनुमाणेण अन्नेवि ते णुणं सुहसभावा, तेण तद्विचक्खं अण्णेसि ण कुज्जा असुहं । (आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २१४)

४. वृत्तिकार ने 'आणाए मामगं धम्मं' इस पाठ के दो अर्थ किए हैं—

१. आज्ञा से मेरे धर्म का सम्यग् अनुपालन करे ।

२. धर्म ही मेरा है, इसलिए मैं तीर्थंकर की आज्ञा से उसका सम्यक् पालन करूँ । (आचारांग वृत्ति, पत्र २२०)

इस आलापक का 'मेरा धर्म मेरी आज्ञा में है' यह पारम्परिक अर्थ प्रचलित है । 'मामगं धम्मं' यह कर्म-पद है, इसलिए 'आणाए' का 'आज्ञाय' रूप मान कर इसका अनुवाद किया गया है ।

इह मानवानां मया व्याहृतः ।<sup>१</sup>

लिए निरूपित किया है ।

५०. एत्थोवरए तं भोसमाणे ।

सं०—अत्रोपरतः तं जुषन् ।

विषय से उपरत साधक उत्तरवाद का आसेवन करता है ।

भाष्यम् ५०—अत्र उपरतः—कामविषयेभ्यः विरतः तं यथोद्दिष्टधर्मं स्पृशति, न च विषयासक्तः सुविधावादी वा तादृशं उत्तरं धर्मं आराधयितुं शक्नोति ।

यहां काम और विषयों से विरत साधक उस यथोद्दिष्टधर्म—उत्तरवाद का आसेवन करता है । विषयों में आसक्त अथवा सुविधावादी साधक उस प्रकार के उत्कृष्ट धर्म का आराधन नहीं कर सकता ।

५१. आयाणिज्जं परिणाय, परियाएण विगिच्चइ ।

सं०—आदानीयं परिज्ञाय पर्यायेण विनक्ति ।

वह मुनि वस्त्र के विषय में भलीभांति जानकर जीवन-पर्यन्त उसका विसर्जन कर देता है ।

भाष्यम् ५१—स मुनिः आदानीयं<sup>२</sup>—वस्त्रं परिज्ञाय—सम्यग् ज्ञात्वा पर्यायेण<sup>३</sup>—यावद् मुनित्वपर्यायः तावत् तत् विनक्ति—पृथक् करोति ।

वह मुनि आदानीय—वस्त्र के विषय में भलीभांति जान कर मुनि-पर्याय—जीवन पर्यन्त उसका विसर्जन कर देता है ।

आदानीयं कर्म इत्यपि व्याख्यातमस्ति । धृतप्रकरणे कर्मणां विधूननमपि नास्ति अप्रासंगिकम् । मुनिपर्यायः कर्मापनयनाय सर्वोत्तमोस्ति उपायः ।

‘आदानीय’ का अर्थ कर्म भी किया गया है । धृत के प्रकरण में कर्मों का प्रकंपन भी अप्रासंगिक नहीं है । मुनि-पर्याय कर्मों का अपनयन करने के लिए सर्वोत्तम उपाय है ।

५२. इहमेगोस एगचरिया होति ।

सं०—इहैकेयां एकचर्या भवति ।

कुछ साधु अकेले रह कर साधना करते हैं ।

भाष्यम् ५२—भगवता महावीरेण द्विविधा मुनिचर्या प्रज्ञप्ता—गणचर्या एकाकीचर्या च । अगीतार्थाय गणचर्या एव सम्मतास्ति । गीतार्थाः पुनः बहुश्रुतगुरोराज्ञापूर्विकां एकाकीचर्यामपि प्रतिपद्यन्ते ।

भगवान् महावीर ने दो प्रकार की मुनिचर्या का प्रतिपादन किया है—गणचर्या और एकाकीचर्या । अगीतार्थ मुनि के लिए गणचर्या ही सम्मत है । गीतार्थ मुनि बहुश्रुत गुरु की आज्ञा से एकाकीचर्या भी स्वीकार करते हैं ।

१. मुनि-धर्म को स्वीकार कर पुनः गृहवास में चले जाने वाले व्यक्ति को आगमनधर्मा कहा गया है । पुनः गृहवास में जाने का कारण है—परीषह सहने की अक्षमता ।

काम आदि अनुकूल परीषहों, आश्लेष-प्रहार आदि प्रतिकूल परीषहों तथा अचेल, भिक्षा जंसे लज्जाजनक परीषहों को सहन करने वाला पुनः गृहवास में नहीं जाता । वह अनागमनधर्मा होता है ।

भगवान् ने अहिंसा और परीषह-सहन—इन दो लक्षण वाले धर्म का निरूपण किया है । इस धर्म को जानने वाला ही परीषहों के आने पर अविचलित रह सकता है और अविचलित रहने वाला ही जीवन के

अन्तिम श्वास तक मुनि-धर्म का पालन कर सकता है ।

सब प्रकार के परीषहों को सहना, भयंकर परीषहों के उपस्थित होने पर भी मुनि-धर्म को न छोड़ना, यह उत्तरवाद है ।

२. (क) आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २१५ : आदिज्जति आयत्ते वा आदाणीयं, जं भणितं—संसारबीजं पलियं भणियं तं जहा—प्रलीयते भवं येन, आदानमेव पलितं ।

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र २२० : आदीयत इत्यादानीयं—कर्म ।

३. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २१५ : परियाओ णाम सामण-परियाओ

५३. तत्थियराइयरेहि कुलेहि सुद्धेसणाए सव्वेसणाए ।

सं०—तत्रेतेरेतेषु कुलेषु शुद्धैषणया सर्वैषणया ।

वे नाना प्रकार के कुलों में शुद्ध एषणा और सर्वैषणा के द्वारा परिव्रजन करते हैं ।

भाष्यम् ५३—तत्र साधुभिर्विहारप्रायोग्ये ग्रामे नगरे वा इतरेतेरेषु—अन्तप्रान्तेषु कुलेषु शुद्धैषणया सर्वैषणया परिव्रजितव्यम् ।

शुद्धैषणा—अलेपकृता ।

सर्वैषणा—सप्तापि पिण्डैषणाः ।<sup>१</sup>

तत्र द्विकोटिकाः साधवः—गच्छान्तर्गता गच्छ-निर्गताश्च । गच्छनिर्गतानां कृते शुद्धैषणया निर्देशः, गच्छवासिनां कृते च सर्वैषणयाः । गच्छान्तर्गतानां सर्वाः सप्तापि पिण्डैषणा अनुज्ञाताः । गच्छनिर्गतानां पुनराद्ययोः द्वयोरग्रहः, पञ्चस्वभिग्रहः ।<sup>१</sup>

५४. से मेघावी परिव्वए ।

सं०—स मेघावी परिव्वजेत् ।

वह मेघावी परिव्रजन करे ।

भाष्यम् ५४—स मेघावी परिव्वजेत् । अत्र परिव्वजे-दिति क्रियापदेन तस्य अप्रतिबद्धता सूचितास्ति । एकचर्या प्रतिपन्नो मुनिः न क्वचित् स्थिरवासी भवति ।

५५. सुब्भि अद्दुवा दुब्भि ।

सं०—'सुब्भि'<sup>२</sup> अथवा 'दुब्भिम्'<sup>३</sup>

वह मनोज या अमनोज शब्दों को सहन करे ।

भाष्यम् ५५—स कदाचित् श्मशानप्रतिमां प्रतिपद्यते, तदानीं 'सुब्भि' मनोज्ञाः 'दुब्भि' अमनोज्ञा वा शब्दा<sup>४</sup>

मुनियों को विहार करने योग्य गांव अथवा नगर में अन्तर्गता कुलों में शुद्ध एषणा और सर्वैषणा के द्वारा परिव्रजन करना चाहिए ।

शुद्धैषणा का अर्थ है—अलेपकृत भोजन अर्थात् वैसा भोजन जिसका लेप न लगे ।

सर्वैषणा का अर्थ है—सात प्रकार की पिण्डैषणाएं— अर्थात् आहार-ग्रहण से लेकर आहार करने तक की सारी एषणाएं ।

साधुओं की दो श्रेणियां हैं—गच्छान्तर्गत (संघबद्ध साधना करने वाले) तथा गच्छनिर्गत (संघमुक्त साधना करने वाले) । गच्छ-निर्गत मुनियों के लिए शुद्धैषणा का और गच्छान्तर्गत मुनियों के लिए सर्वैषणा का निर्देश है । गच्छान्तर्गत मुनियों के लिए सभी सातों पिण्डैषणाएं अनुज्ञात हैं । गच्छनिर्गत मुनियों के लिए प्रथम दो पिण्डैष-णाएं अग्राह्य हैं और शेष पांच पिण्डैषणाओं में वे अभिग्रह करते हैं ।

वह मेघावी मुनि परिव्रजन करे । यहां 'परिव्रजन करे'—इस क्रियापद से उसकी अप्रतिबद्धता सूचित की है । एकलचर्या को स्वीकार करने वाला मुनि कहीं स्थिरवासी नहीं होता ।

वह मुनि कभी श्मशान प्रतिमा को स्वीकार करता है । तब उसे मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ शब्द सुनाई देते हैं । वह उन सबको

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २१५ : इतरा इतरं इतरेतरं, कम्मो गहितो, ण उद्धइयाहि देसीभासातो वा जं अन्मंतरं बुच्चति, इतरा इतरं जंतवो विणिकटुतरं जाब वमगकुलं, एवमितरा इतरं इतरेतरं भवति ।

२. द्रष्टव्यम् - आयाश्चूला १।१४१-१४७ ।

३. चूर्णो (पृष्ठ २१५) एतत् सूत्रं गच्छवासिगच्छनिर्गतयोः द्वयोरपेक्षया व्याख्यातमस्ति—सुद्धेसणाए अलेपकडाए, चत्तारि उवरिल्ला, एताओ गच्छणिग्गयाणं, तत्थ पंचसु अग्गहो अभिग्गहो अण्णतरियाए, सव्वेसणाएत्ति गच्छवासी सव्वार्हिन्नि गिण्हंति ।

प्रवचनसारोद्धारस्थ वृत्तावपि (पत्र २१५) अयं

विभागो दृश्यते—इह च द्विकोटिकाः साधवो गच्छान्त-र्गता गच्छनिर्गताश्च, तत्र गच्छान्तर्गतानामेताः सप्तापि प्रहीतुमनुज्ञाताः, गच्छनिर्गतानां पुनराद्ययोः द्वयोरग्रहः पञ्चस्वभिग्रहः ।

४,५. देशीपदे ।

६. चूर्णो वृत्तो च अनयोः गंधविषयकोऽर्थः कृतोस्ति—

(क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २१५ : सुब्भि अह्वा दुब्भि, गंधकामपरिच्चागो षणितो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२० : स आहारस्तेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्यात् अपवा वुगन्धः, न तत्र रागद्वेषौ विबध्यात् ।

उपगता भवन्ति, तान् सर्वान् अधिसहेत । 'सुब्धि दुब्धि' पदाभ्यां गंधस्यार्थः संभवति, किन्तु अत्र आहारस्य विषयः प्रस्तुतो नास्ति । अग्रिमसूत्रे 'अदुवा तत्थ भेरवा' इति उक्तमस्ति । 'तत्र' इति पदेन 'श्मशाने' इति गृहीतम् । 'अदुवा' इति पदेन 'सुब्धि दुब्धि' पदयोर्विकल्पः सूचितः । एतेन सुब्धि दुब्धि पदाभ्यां मनोज्ञा अमनोज्ञाः शब्दाः अत्र गृहीताः । 'नायाधम्मकहाओ' सूत्रे 'सुब्धि दुब्धि' पदयोः गन्धवत् शब्देनापि संबंधः प्रतिपादितोऽस्ति ।<sup>१</sup> श्मशानप्रतिमायां शब्दादिरूपा उपसर्गा संभवन्त्येव ।<sup>३</sup>

#### ५६. अदुवा तत्थ भेरवा ।

सं०—अथवा तत्र भेरवाः ।

अथवा श्मशान में भेरव रूपों को देखकर भयभीत न बने ।

भाष्यम् ५६—अथवा तत्र श्मशानिक्यां प्रतिमायां भेरवाः<sup>४</sup> प्रादुर्भवन्ति । भेरवाः—भयानकानि रूपाणि । उक्तञ्च दमवेआलियसूत्रे—'पडिमं पडिवज्जिया मसाणे, नो भायए भयभेरवाइं विस्स ।'<sup>५</sup>

#### ५७. पाणा पाणे किलेसंति ।

सं०—प्राणाः प्राणान् क्लेशयन्ति ।

हिल प्राणो प्राणों को क्लेश पहुंचाते हैं ।

भाष्यम् ५७—अस्मिन् सूत्रे जीवानां प्रकृतिनिरूपिताऽस्ति । यथा समुद्रे मात्स्यन्यायः प्रवर्तते—महान् मत्स्यः क्षुद्रं मत्स्यं गिलति, तथा हिस्साः पशवः पक्षिणश्च इतरान् प्राणिनः<sup>१</sup> निघ्नन्ति । मनुष्येष्वपि एषा प्रकृति-

सहन करे । 'सुब्धि' और 'दुब्धि'—इन दोनों शब्दों से गंध का अर्थ निकलता है, किन्तु यहां आहार का विषय प्रस्तुत नहीं है । अग्रिम सूत्र में 'अदुवा तत्थ भेरवा'—'अथवा वहां भेरव रूपों को देखकर'—ऐसा कहा है । उस सूत्र में 'तत्र' पद से श्मशान में—ऐसा अर्थ अभिप्रेत है । 'अथवा' पद से सुब्धि-दुब्धि—इन दो पदों का विकल्प सूचित किया गया है । इस विकल्प के अनुसार इन दोनों पदों से मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्द गृहीत हैं । ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में 'सुब्धि-दुब्धि' पदों का संबंध गंध की भांति शब्द से भी प्रतिपादित है । श्मशान प्रतिमा में शब्द आदि के उपसर्ग उत्पन्न होते ही हैं ।

अथवा श्मशान-प्रतिमा में भेरवों का प्रादुर्भाव होता है । भेरव का अर्थ है—भयानक रूप । दशवैकालिक सूत्र में कहा है—श्मशान में प्रतिमा को स्वीकार कर साधक भय उत्पन्न करने वाले भयानक रूपों को देखकर डरे नहीं ।

इस सूत्र में जीवों की प्रकृति का निरूपण है । जैसे समुद्र में 'मात्स्य-न्याय' चलता है—बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है, वैसे ही हिल पशु-पक्षी अन्य प्राणियों को मार डालते हैं । मनुष्यों में भी इस प्रकार की प्रकृति होती है । हिल प्रकृति वाले मनुष्य

१. (क) आचारांग वृत्ति, पत्र २२० : अथवा तत्रैकाकिविहारित्वे पितृवनप्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतः ।

(ख) चूर्णो (पृष्ठ २१५) 'अहवा तत्थ विहरंतस्स' इति व्याख्यातमस्ति ।

२. अंगसुत्ताणि ३, नायाधम्मकहाओ १।१२।९ : सुब्धिसद्दा वि पोगला दुब्धिसद्दाए परिणमंति ।.....सुब्धिगंधा वि पोगला दुब्धिगंधत्ताए परिणमंति, दुब्धिगंधा वि पोगला सुब्धिगंधत्ताए परिणमंति ।

३. नवसुत्ताणि, दसाओ ७।३२ : एगराइयणं भिक्खुपडिमं पडिवन्नस्स अणपारस्स णिच्चं वोसट्टुकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उववज्जंति, तं जहा—दिग्वा वा भाणुस्सा वा त्तिरिक्खजोणिया वा, ते उप्पन्ने सम्मं सहति खमति तित्तिक्खति अहियासेति ।

४. (क) चूर्णो भेरवपदेन शब्दादिविषयाणां ग्रहणं कृतमस्ति—'अहवा तत्थ विहरंतस्स भयाणगा भेरवा सद्दा

गहिता अक्कोसा, तच्चथा—णिग्भत्थणादि, एवं रूचाणि वि भेरवाइं भवति, जहा 'तस्स पिलायस्स अयमेवास्से वण्णावासे पणत्ते, तं जहा—सीसं से गोकिलंजसंठाणसंठिती,' गंधावि अहिमडादि उब्बेयणया, भयं करंति ति भेरवा, रसा तत्थेव, फरिसा वि छेदभेदवाहादि । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१५-१६)

(ख) वृत्तौ भेरवपदेन प्राधान्येन शब्दा एव गृहीताः सन्ति—भेरवा भयानका यानुधानादिकृताः शब्दाः प्रादुर्भवेयुः, यदि वा 'भेरवाः' 'बीभत्साः' ।

(आचारांग वृत्ति, पत्र २२०)

५. दसवेआलियं, १०।१२ ।

६. आचारांग चूर्ण पृष्ठ २१६ : पाणा सीहा वग्घा पिसायादि, पुणरवि पाणाओ पाणादि, जं भणितं भेरवा प्राणा, साहुस्स आउप्पाणादि ।

रस्ति । हिस्रप्रकृतयो मनुष्याः मनुष्यानपि क्लेशपूर्णा मनुष्यों को भी क्लेशपूर्ण अवस्था में डाल देते हैं ।  
दशां नयन्ति ।'

५८. ते फासे पुट्टो धीरो अहियासेज्जासि ।—त्ति बेमि ।

सं०—तान् स्पर्शान् स्पृष्टः धीरः अधिसहेत ।—इति ब्रवीमि ।

उन स्पर्शों—परीषहों से स्पृष्ट होने पर धीर मुनि उन्हें सहन करे ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ५८—परिव्रजनकाले श्मशानप्रतिमायां वा जायमानैः प्राग्गिरूपितैः स्पर्शैः स्पृष्टः सन् धीरो मुनिः तान् इष्टानिष्टान् स्पर्शान् अधिसहेत । धीरः—अनाविलः, अनुद्विग्नः वासीचन्दनकल्पः ।<sup>२</sup>

परिव्रजन काल में अथवा श्मशान-प्रतिमा में होने वाले प्राग्गिरूपित परीषहों से स्पृष्ट होने पर धीर मुनि उन इष्ट-अनिष्ट परीषहों को सहन करे । धीर का अर्थ है—निर्मल, अनुद्विग्न, बच्छीं से काटे जाने और चन्दन का लेप किए जाने पर समभाव में रहने वाला ।

### तद्दो उद्देशो : तीसरा उद्देशक

५९. एयं खु मुणी आयाणं सया सुअवखायधम्मसे विधतकप्पे णिज्भोसइता ।

सं०—एतत् खलु मुनिः आदानं सदा स्वाख्यातधर्मा विधूतकल्पः निःशोषिता ।

सदा सु-आख्यात धर्म वाला तथा धृत-आचार सेवी मुनि इस आदान (वस्त्र) का परित्याग कर देता है ।

भाष्यम् ५९—स्वाख्यातधर्मा<sup>३</sup> विधूतकल्पो मुनिः सदा एतद् आदानं क्षपयिता<sup>४</sup> भवति । आदानं—वस्त्रम् । कल्पः—आचारः । विधूतः कल्पो यस्य स विधूतकल्पः ।

सु-आख्यात धर्म वाला तथा धृत-आचार सेवी मुनि सदा इस आदान का परित्याग कर देता है । आदान का अर्थ है—वस्त्र । कल्प का अर्थ है—आचार । जिसका आचार 'धृत' है वह 'विधूतकल्प' कहलाता है ।

६०. जे अचेले परिवुसिए, तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवइ—परिजुण्णे मे वत्थे वत्थं जाइस्सामि, सुत्तं जाइस्सामि, सुइं जाइस्सामि, संधिस्सामि, सोवीस्सामि, उक्कसिस्सामि, वोक्कसिस्सामि, परिहिस्सामि, पाउणिसिस्सामि ।

सं०—यः अचेलः पर्युषितः, तस्य भिक्षोः नो एवं भवति—परिजीर्णं मे वस्त्रं वस्त्रं याचिष्ये, सूत्रं याचिष्ये, सूचिं याचिष्ये, संधास्यामि, सेविष्यामि, उत्कर्षयिष्यामि, व्युत्कर्षयिष्यामि, परिधास्यामि, प्रावरिष्यामि ।

जो निर्वस्त्र रहता है, उस भिक्षु के मन में यह (विकल्प) उत्पन्न नहीं होता, 'मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, इसलिए मैं वस्त्र की याचना करूंगा । फटे वस्त्र को सांघने के लिए धागे की याचना करूंगा, सूई की याचना करूंगा, उसे सांघूंगा, उसे लोऊंगा । छोटा है, इसलिए उसे जोड़कर बड़ा बनाऊंगा । बड़ा है, इसलिए उसे काट कर छोटा बनाऊंगा । उसे पहनूंगा और ओढूंगा ।

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २१६ : किलेसंति—परितावेति वा किलेसंति वा उद्भवति वा ।

२. वही, पृष्ठ २१६ : धीमां धीरो, समं अणाइले अणुव्विग्गो वासीचंदणकप्पो ।

३. स्वाख्यात का शाब्दिक अर्थ है—सम्यक् प्रकार से कहा गया । भगवान ने समता धर्म का प्रतिपादन किया । वह नैर्घात्रिक—निर्वाण तक पहुंचाने वाला, सत्य—अनेकान्त वृष्टिकोण से युक्त, संशुद्ध—राग, द्वेष और मोह रहित तथा प्रत्युत्पन्न—वर्तमान क्षण में आश्रय का निरोध और बंध की निर्जरा करने वाला है, इसलिए वह स्वाख्यात है ।

स्थानांग (३१५०७) में स्वाध्याय ध्यान और तपस्यात्मक धर्म को स्वाख्यात धर्म कहा गया है—

सुअधिज्जिते सुज्जाइते सुतवस्सिते सुपक्खाते णं भगवता धम्मसे पण्णत्ते ।

४. आचारांग वृत्ति, पत्र २२१ : 'शोषयित्वा' ।

५. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २१७ : आताणं—आयाणं नाणादितियं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२१ : आदानं—वस्त्रादि ।

६. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २१७ : कप्पोत्ति वा मग्गोत्ति वा आयारोत्ति वा धम्मोत्ति वा एगट्ठा ।

भाष्यम् ६०—पूर्वसूत्रेषु (४०-५१) अचेलकपरिवासः प्रतिपादितः । इदानीं पुनरपि तस्य गुणान् प्रतिपादयति सूत्रकारः—यः भिक्षुः अचेलः पर्युषितः तस्य वस्त्रे परिजीर्णं नववस्त्रस्य, सूत्रस्य, सूच्या वा याचनायाः, सन्धानस्य<sup>१</sup> सीवनस्य, तस्य उत्कर्षणस्य अपकर्षणस्य<sup>२</sup> वा परिधानस्य प्रावरणस्य<sup>३</sup> वा विकल्पाः न सञ्जायन्ते ।

यावती अपेक्षा तावान् विकल्पः संजायते । यथा यथा अपेक्षा स्वल्पा भवति तथा तथा विकल्पा अपि तनवो भवन्ति । विकल्पः पदार्थस्य अपेक्षाजनितो भवतीति हृदयम् ।

पूर्ववर्ती बारह सूत्रों (४० से ५१) में अचेलक परिवास का प्रतिपादन किया गया है । अब पुनः सूत्रकार अचेलक अवस्था के गुणों का निरूपण कर रहे हैं—जो मुनि निर्बस्त्र रहता है, उसके मन में वस्त्र के फट जाने पर नए वस्त्र का, धाया या सूई की याचना का, वस्त्र को सांधने और सीने का तथा छोटे वस्त्र को जोड़ कर बड़ा बनाने का, बड़े वस्त्र को काट कर छोटा बनाने का, पहनने और ओढ़ने का—ये सारे विकल्प नहीं उठते ।

जितनी अपेक्षा होती है, उतना विकल्प होता है । जैसे-जैसे अपेक्षा कम होती जाती है, वैसे-वैसे विकल्प भी तनु—अल्प होते जाते हैं । विकल्प पदार्थ की अपेक्षा से उत्पन्न होता है, यही इसका हार्द है ।

६१. अडुवा तत्थ परक्कमत्तं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, दंसमसगफासा फुसंति ।

सं०—अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयः अचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति, शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजस्पर्शाः स्पृशन्ति, दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति ।

अथवा अचेल-अवस्था में रहते हुए उसे बार-बार तृण, सर्दों, गर्मों और दंशमशक के स्पर्श पीड़ित करते हैं ।

भाष्यम् ६१—अथवा तस्यां अचैलावस्थायां पराक्रममाणं अचेलं मुनिं भूयः—पुनः पुनः कुशादितृणशय्यायां तृणस्पर्शाः<sup>१</sup> स्पृशन्ति । शिशिरे शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति । ग्रीष्मे शरदि च तेजःस्पर्शाः<sup>२</sup> स्पृशन्ति, दंशमशकस्पर्शा अपि स्पृशन्ति ।

अथवा उस अचेल-अवस्था में रहते हुए अचेल मुनि को कुशा आदि की तृण-शय्या में सोने के कारण बार-बार तृण-स्पर्श पीड़ित करते हैं । शीतकाल में सर्दों का कष्ट सताता है । ग्रीष्म ऋतु तथा शरद् ऋतु में उष्ण स्पर्श पीड़ित करता है और दंशमशक के स्पर्श भी बाधित करते हैं ।

६२. एगधरे अणधरे विरूवरूवे फासे अहियासेति अचेले ।

सं०—एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अधिसहते अचेलः ।

अचेल मुनि एकजातीय, भिन्नजातीय—नाना प्रकार के स्पर्शों को सहन करता है ।

भाष्यम् ६२—पूर्वसूत्रोक्तपरीषहेषु एकतरान्, अन्यतरान्—भिन्नजातीयान् विरूपरूपान् इति नानारूपान् स्पर्शान् अधिसहते अचेलो मुनिः ।

अचेल मुनि पूर्वसूत्रों में निर्दिष्ट परीषहों में से एकजातीय तथा भिन्नजातीय नाना प्रकार के स्पर्शों—परीषहों को सहन करता है ।

द्रष्टव्यम्—६।४४ सूत्रस्य भाष्यम् ।

देखें—६।४४ सूत्र का भाष्य ।

६३. लाघवं आगममाणे ।

सं०—लाघवं आगच्छन् ।

अचेल मुनि लाघव को प्राप्त होता है ।

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २१८ : संघणा दोण्हालीणं अहवा द्विण्णस्स वा फालियस्स वा ।

२. वही, पृष्ठ २१८ : उक्कसणं णाम हीणपमाणं णाउं पातोहं विग्घत्तेण वा वड्ढति, तस्सेवऽवकरिसणं वा ।

३. वही, पृष्ठ २१८ : उर्वार पाउरणं ।

४. वही, पृष्ठ २१८ : वत्तव्वयं बहुवयणं तं जाणवेद्द, तिव्व-मंभम्मज्जिमाणि ।

५. वही, पृष्ठ २१८ : तेजो आदिच्चो, तेजो संतो, तेजो तेजस्स संफासा तेउफासा, जं भणियं—उण्हफासा, गिम्हे सरते य ।



भाष्यम् ६३—अचेलः मुनिः लाघवं आगच्छति । लघोर्भावः लाघवम् । तद् द्विधा—द्रव्यतः भावतश्च । उपकरणलाघवं द्रव्यलाघवं, अनुद्धतत्वं भावलाघवम् । अत्र उपकरणलाघवं अधिकृतम् । 'आगममाणे' इति आगच्छन् आसेवमान इति यावत् ।<sup>१</sup>

चूर्णो<sup>१</sup> उपकरणलाघवभावलाघवयोश्च अन्योन्यत्वं प्रदर्शितम्—

उपकरणलाघवाओ भावलाघवं, भावलाघवाओ य उपकरणलाघवं, अतो अणोर्णं, अविखित्ता अविरोहो, एवं भावलाघवाओ कम्मलाघवं कम्मलाघवाओ पसत्थं भावलाघवं अतो अविरोहो, ततो सिद्धं लाघवितं ।<sup>१</sup>

६४. तवे से अभिसमन्वागए भवति ।

सं०—तपः तस्य अभिसमन्वागतं भवति ।

अचेल मुनि के तप सम्यग् उपलब्ध होता है ।

भाष्यम् ६४—तस्य अचेलस्य मुनेः अचेलत्वं तपः अभिसमन्वागतं—सम्यग् उपलब्धं<sup>२</sup> भवति । तप इति उपकरणानां अवमौदर्यं कायक्लेशो वा ।

अचेल मुनि लाघव को प्राप्त होता है । लघु का भाव लाघव है । वह दो प्रकार का है—द्रव्यलाघव और भावलाघव । उपकरणों की लघुता द्रव्यलाघव है और उद्धता का परिहार भावलाघव है । यहाँ उपकरणलाघव का अधिकार है । 'आगममाणे' का अर्थ है—आता हुआ । तात्पर्य में इसका अर्थ है—आसेवन करता हुआ ।

चूर्ण में उपकरणलाघव और भावलाघव की परस्परता प्रदर्शित है—

उपकरणलाघव से भावलाघव और भावलाघव से उपकरण लाघव प्राप्त होता है । इसलिए ये दोनों एक दूसरे का परिहार नहीं करते । दोनों में अविरोध है । इसी प्रकार भावलाघव से कर्मलाघव प्राप्त होता है और कर्मलाघव से प्रशस्त भावलाघव होता है । इसलिए दोनों में अविरोध है । यह लाघव की अनुशासना है ।

उस अचेल मुनि के अचेलत्व-तप अभिसमन्वागत—सम्यक् रूप में उपलब्ध होता है । तप का तात्पर्य है—उपकरणों की अल्पता अथवा कायक्लेश ।

६५. जहेयं भगवता प्रवेदितं तमेव अभिसमेच्छा सर्वतो सर्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिधा ।

सं०—यथैतत् भगवता प्रवेदितं तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया समत्वमेव समभिजानीयात् ।

भगवान् ने जैसे अचेलत्व का प्रतिपादन किया है, मुनि उसे उसी रूप में जान कर, सब प्रकार से, सर्वात्मना समत्व का ही सेवन करे ।

भाष्यम् ६५—इदं अचेलत्वं भगवता यथा प्रवेदितं तदेव अभिसमेत्य—तस्य फलानि सम्यग् विज्ञाय, सर्वतः—सर्वस्मिन् क्षेत्रे काले च, सर्वात्मना—सत्यभावेन न तु कैतवेन, भयेन, मायया वा समत्वमेव<sup>३</sup> समभिजानीयात्

भगवान् ने इस अचेलत्व का जैसा प्रतिपादन किया है उसके फलों को सम्यक् प्रकार से जानकर मुनि सभी क्षेत्र और सभी काल में सर्वात्मना—यथार्थभाव से अर्थात् बिना किसी प्रवचना, भय और माया से समत्व का ही अनुपालन करे—न आत्मोत्कर्ष का अनुभव करे

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१८-२१९ : तं आगममाणे आसेवमाणे, तं अप्पाणं परिसयमाणे ।

२. वही, पृष्ठ २१९ ।

३. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१९ : अभिसुहं सं अणु आगते अभिसमन्वागते, जं भणितं—सम्मं उवलद्धे ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२२ : तपः कायक्लेशरूपतया बाह्यमभिसमन्वागतं भवति—सम्यग् आभिसुख्येन सोढं भवति ।

४. चूर्णो वृत्तौ च 'समत्तं' (सम्यक्त्वं) इति मूलपाठः व्याख्यातः, 'समत्तं' (समत्वं) इति तत्र वैकल्पिकः पाठः—पसत्थो—सोमणो एगो संगतो वा भावो समत्तं ।

'प्रशस्तः शोभनश्चैव, एकः संगत एव वा ।

इत्येतैरुपसृष्टस्तु, भावः सम्यक्त्वमुच्यते ॥'

अहंवा समभावो सम्मत्तमिति, जेवि एते अचेलगतं ण भावेति ते वि अचेलगतं फासंति, जं भणितं—ण अवमन्तंति, भणियं वा 'जो वि बुवत्थ तिबत्थो' गाय्ता ॥ जिनकप्पिओ पुण जति एक्केण संथरति एक्कं चैव धारंति, परेण वा तिण्हं गच्छवासी, गच्छणिग्गया पुण तिणिण वा दुणिण वा एक्कं वा धारंति अचेलभावा, सब्बेऽपि ते भगवतो आणाए उवट्ठिता - आणाए आराधणा भवति, एवं सेसाणं वत्थाणं वा, तहा सत्तेलाणं अचेलानं च आराहणं प्रति सम्मत्तं समभिजाणमाणे आराधओ भवतीति वक्कसेत्तं । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २१९-२२०)

वृत्तिकारेण 'सर्वतः' प्रभृति पाठस्य वैकल्पिकः अर्थोपि कृतोस्ति—यदिवा तदेव लाघवमभिसमेत्य सर्वतो ब्रह्मादिना सर्वात्मना नामादिना सम्यक्त्वमेव सम्यग्भिजा-

—नात्मनः उत्कर्षं अनुभवेत् न च सचेलान् मुनीन्  
अवमन्येत । अत्र वृत्तौ गाथात्रयं उद्धृतमस्ति<sup>१</sup>—

जोऽपि दुवत्यतिवत्यो एगेण अचेलगो व संयरइ ।  
ण ह्ण ते हीरन्ति परं सभ्वेऽपि य ते जिणाणाए ॥

जे खलु विसरिसकप्पा संघयणघिइयादिकारणं पप ।  
णऽवमन्नइ ण य हीणं अप्पाणं मम्मई तेहि ॥  
सभ्वेऽपि जिणाणाए जहाविहि कम्मखवणअट्टाए ।  
विहरन्ति उज्जया खलु सम्मं अभिजाणई एवं ॥

अचेलत्वस्य लाभाः स्थानाङ्गे उत्तराध्ययने चापि  
दृश्यन्ते । स्थानाङ्गे यथा—

पंचाहि ठाणेहि अचेलए पसत्थे भवति, तं जहा—

१. अप्पा पडिलेहा ।
२. लाघविए पसत्थे ।
३. रुवे वेसासिए ।
४. तवे अणुण्णते ।
५. विउले इंदियनिग्गे ।<sup>२</sup>

तथा चोत्तराध्ययने—

पडिरुवयाए णं भंते जीवे कि जणयइ ?

पडिरुवयाए णं लाघवियं जणयइ । लहुभूए णं जीवे  
अप्पमत्ते पागडल्लिगे पसत्थाल्लिगे विसुद्धसम्मत्ते सत्तसमिइसमत्ते  
सभ्वपाणभूयजीवसत्तेसु बीसत्तणिज्जरुवे अप्पडिलेहे जिइविए  
विउलतवसमिइसमन्नाणए थावि मक्कइ ।<sup>३</sup>

और न सचेल मुनियों की अवहेलना करे । वृत्ति में इसी संदर्भ की  
तीन गाथाएं उद्धृत हैं—

‘कोई मुनि दो वस्त्र रखता है, कोई तीन वस्त्र, कोई एक  
वस्त्र और कोई निर्वस्त्र रहता है । वे एक दूसरे की अवहेलना न करें,  
क्योंकि वे सब तीर्थंकर की आज्ञा में हैं ।’

‘जो मुनि संहनन, धृति आदि कारणों से विसदृश आचार वाले  
हैं, वे न दूसरों की अवमानना करें और न स्वयं को उनसे हीन मानें ।’

‘सभी मुनि जिनेश्वर देव की आज्ञा में हैं और वे सब कर्मक्षय  
के लिए यथाविधि (अपनी-अपनी विधि के अनुसार) संयम का  
पालन करते हुए विहरण करते हैं—ऐसा वह सम्यक् रूप से जानता है ।

अचेलत्व के लाभों का निदर्शन स्थानांग और उत्तराध्ययन सूत्र  
में भी परिलक्षित होता है । स्थानांग में, जैसे—

पांच स्थानों से अचेलत्व प्रशस्त होता है—

१. उसके प्रतिलेखना अल्प होती है ।
२. उसका लाघव प्रशस्त होता है ।
३. उसका रूप (वेश) विश्वास योग्य होता है ।
४. उसका तप अनुज्ञात—जिनानुमत होता है ।
५. उसके विपुल इन्द्रिय-निग्रह होता है ।

उत्तराध्ययन के अनुसार—

‘भन्ते ! प्रतिरूपता—जिनकल्पिक जैसे आचार का पालन  
करने से जीव क्या प्राप्त करता है ?’

‘गौतम ! प्रतिरूपता से वह हल्केपन को प्राप्त होता है ।  
उपकरणों के अल्पीकरण से हल्का बना हुआ जीव अप्रमत्त, प्रकटलिंग  
वाला, प्रशस्तलिंग वाला, विशुद्ध सम्यक्त्व वाला, पराक्रम और  
समिति से परिपूर्ण, सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए विश्वस-  
नीय रूप वाला, अप्रतिलेखन वाला, जितेन्द्रिय तथा विपुल तप और  
समितियों का सर्वत्र प्रयोग करने वाला होता है ।

नीयात्, तीर्थंकरगणधरोपदेशात् सम्यक्कुर्यादिति  
तात्पर्यायः ।.....

प्रशस्तः शोभनश्चंद्र, एकः सङ्गत एव च ।

इत्येतेरूपसृष्टस्तु, भावः सम्यक्त्वमुच्यते ॥

तदेवम्भूतं सम्यक्त्वमेव समत्वमेव वा ‘समभिजानी-  
यात्’ सम्यगाभिमुख्येन जानीयात्—परिच्छिन्धात्, तथाहि  
अचेलोऽप्येकचेलाल्लिकं नावमन्येत ।

(आचारांग वृत्ति, पत्र २२२)

कोई मुनि तीन वस्त्र रखता है, कोई दो, कोई एक  
और कोई निर्वस्त्र रहता है । किन्तु वे एक-दूसरे की  
अवहेलना नहीं करते, क्योंकि वे सब तीर्थंकर की आज्ञा में  
विद्यमान हैं । यह आचार की भिन्नता शारीरिक संहनन,

धृति आदि हेतुओं से होती है । इसलिए अचेल रहने वाला  
सचेल मुनि की अवज्ञा नहीं करता और अपने को उससे  
उत्कृष्ट भी नहीं मानता । आधारचूला (५-२१) में  
बतलाया गया है कि वस्त्र की प्रतिमाओं को स्वीकार करने  
वाला मुनि यह न कहे—‘वे भदन्त मिथ्या प्रतिपन्न हैं, मैं  
सम्यक् प्रतिपन्न हूँ । किन्तु यह सोचे—‘हम सब तीर्थंकर  
की आज्ञा के अनुसार संयम का अनुपालन कर रहे हैं ।’  
यह समत्व का अनुशीलन है ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २२२ ।

२. अंगसुत्ताणि १, ठाणं, ५।२०१ ।

३. उत्तरजज्ञयणाणि—२९/सूत्र ४३ ।

६६. एवं तेसि महावीराणं चिरराइं पुब्वाइं वासाणि रीयमाणानं दविघाणं पास अहियासियं ।

सं०—एवं तेषां महावीराणां चिररात्रं पूर्वाणि वर्षाणि रीयमाणानां द्रव्याणां पश्य अधिसोढम् ।

जीवन के पूर्व भाग में दीक्षित होकर जीवन-पर्यन्त संयम में चलने वाले, चारित्र-सम्पन्न और पराक्रमी साधुओं ने इस प्रकार जो सहन किया, उसे तू देख ।

भाष्यम् ६६—एतद् अचेलत्वं नाशक्यानुष्ठानं इति दर्शयति सूत्रकारः<sup>१</sup> । एवमिति अचेलतया पर्युषिताः सन्ति महावीराः द्रव्याः—रागद्वेषविजयिनः तथा चिररात्रं—यावज्जीवं, पूर्वाणि वर्षाणि रीयमाणाः—प्रथमे द्वितीये वा वयसि प्रव्रजिताः, तैः यद् यद् शीतस्पर्शादिकष्टं अधिसोढं तत् त्वं पश्य ।<sup>२</sup>

‘यह अचेलत्व की साधना अशक्य अनुष्ठान नहीं है’—यह प्रतिपादित कर रहे हैं सूत्रकार—

जो जीवन के पूर्व भाग—प्रथम वय अथवा द्वितीय वय में प्रव्रजित होकर जीवन पर्यन्त अचेल अवस्था में साधना करने वाले महापराक्रमी और राग-द्वेष पर विजय पाने वाले उन साधकों ने जिन-जिन शीतस्पर्शा आदि कष्टों को सहन किया है, उसे तू देख ।

६७. आगयपण्णाणानं किंसा बाहा भवन्ति, पयणुए य मंससोणिए ।

सं०—आगतप्रज्ञानानां कृशाः बाहवो भवन्ति, प्रतनुकं च मांसशोणितम् ।

प्रज्ञा-प्राप्त मुनियों की भुजाएं कृश होती हैं, मांस और रक्त भी अल्प होते हैं ।

भाष्यम् ६७—आगतम्<sup>१</sup>—परोपदेशात् श्रुतं उपलब्धं वा । प्रज्ञानम्—प्रकर्षमुपनीतं ज्ञानं, प्रातिभं वा । चूर्णिकारस्य अभिमते एतत् प्रज्ञानं आभिनिबोधिकान्तर्गतमेव<sup>२</sup>, न तु आत्मप्रत्यक्षम् । एवं तेषां आगतप्रज्ञानानां अभिनवज्ञानं गृह्यतां पूर्वगृहीतं परिवर्तयतां नित्यं स्वाध्यायध्यानप्रयोगेण अन्येन तपसा वा आत्मानं भावयतां भुजाः कृशा भवन्ति, मांसशोणितमपि च प्रतनु भवति । भुजयोः कृशत्वं शरीरस्य कृशत्वं सूचयति ।<sup>३</sup>

आगतं का अर्थ है—दूसरे के उपदेश से सुना हुआ अथवा उपलब्ध किया हुआ । प्रज्ञान का अर्थ है - प्रकर्ष को प्राप्त ज्ञान अथवा प्रातिभज्ञान । चूर्णिकार के अनुसार इस प्रज्ञान का समावेश आभिनिबोधिक ज्ञान—मतिज्ञान के अन्तर्गत होता है । यह आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है । इस प्रकार उन प्रज्ञाप्राप्त तथा अभिनव ज्ञान को उपलब्ध करते हुए, पूर्व गृहीत ज्ञान की पुनरावृत्ति करते हुए तथा प्रतिदिन स्वाध्याय और ध्यान के प्रयोगों से तथा अन्यान्य तपस्याओं से अपनी आत्मा को भावित करते हुए उन मुनियों की भुजाएं कृश होती हैं तथा मांस और शोणित भी अल्प होता है । भुजाओं की कृशता शरीर की कृशता की ओर संकेत करती है ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २२२ : एतच्च नाशक्यानुष्ठानं ज्वरहरतभकचूडालङ्काररत्नोपदेशवद् भवतः केवलमुपन्यस्यते, अपि त्वन्यंबहुभिश्चरकालमासेवितमित्येतद्दर्शयितुमाह ।

२. चूर्णौ पूर्वपवं पारिभाषिकत्वेन व्याख्यातमस्ति -पुब्वाइं वासाइं पुब्वाइं पुब्वाउएहिं, मणुस्सेसु आसि पुब्वाउया मणुस्सा, जाव सीतलो ताव आसी, भणियं च—‘एगं च सयसहस्सं पुब्वाणं आसि सीयलजिणस्स’ तेणारेण वाससयसहस्साउया, भणियं च—‘एगं च सयसहस्सं संतिस्सवि आउयं जिणवरस्सा’ तेणारेण सहस्साउया जाव अरिदुवरनेमी, दोसु जिणेसु वाससयाउया ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२०)

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२१ : आगतं—उवलद्धं भिसं णाणं पण्णाणं, परोपदेशाओ सुयं तेषां आगतं, आगमितं मुणियं च एगट्ठा ।

४. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२१ : आभिणिबोहियं तगयमेव,

पच्चवखणाणाणि आयसमुत्थाणि पसत्थेहिं अज्जवसाणेहिं लेस्साहिं विमुज्जमाणाहिं उप्पज्जति ।

६।७६ सूत्रस्य चूर्णौ (पृष्ठ २२७-२२८) प्रज्ञानस्य विषये किञ्चिद् विशिष्टं प्रतिपादितमस्ति—साहु आवितो वा णाणं पण्णाणं, तं आयरियं पइ लभमति, अहवा पण्णाणं बुद्धिमितिकाउं आभिणिबोहियं गहितं, जहा तथा जं भणितं पटुता, मइपुब्बगं च सुत्तमितिकाउं तदंतगतमेव, तत्थ सुयलंभा णियमा मतिवंभो, सुतलंभं केति मयति, तत्थ समगुत्थावि मती भवति जहा सुविणंतिगी, जाइस्सरणं सुद्धमअणुचितणं कप्पकिरियमादि, अवसेसणाणाणि आयसमुत्थाणि चेव ।

५. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२१ : तं एवं तेसि तं आगमं आगसेताणं पुब्बगहियं वा मुणंताणं णिच्चसज्जाओवओगाओ अन्नेण य अंभतरेण बाहिरेण वा तवेण अप्पाणं भावेताणं किंसा बाहा भवति ‘एगग्गहणे तज्जाइयगहणे’ मितिकाउं अन्नंयि सरीरं किंसीभवति,

६८. विस्सेणि कट्टु, परिण्णाए ।

सं०—विश्रेणीं कृत्वा परिज्ञया ।

मुनि समत्व की प्रज्ञा से श्रेणी—मूर्च्छा को छिन्न कर डाले ।

भाष्यम् ६८—श्रेणी—प्रासादादीनामारोहणी भूगृहा-  
दीनां च अवरोहणी । शरीरस्य मूर्च्छा संसारस्य  
श्रेणी वर्तते । स आगतप्रज्ञानो मुनिः समत्वपरिज्ञया तां  
श्रेणीं विश्रेणीं कृत्वा परिव्रजनं करोति ।

श्रेणी का अर्थ है—प्रासाद आदि के ऊपर चढ़ने की सीढ़ी  
और तलघर आदि में नीचे उतरने की सीढ़ी । शरीर की मूर्च्छा संसार  
की श्रेणी है । वह प्रज्ञाप्राप्त मुनि समता की परिज्ञा (विवेक) से उस  
श्रेणी को विश्रेणी कर—छिन्न कर परिव्रजन करता है ।

६९. एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए त्ति बेमि ।

सं०—एष तीर्णः मुक्तो विरतो व्याहृतः इति ब्रवीमि ।

यह मुनि तीर्ण, मुक्त, विरत कहलाता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ६९—एष मुनिः मूर्च्छासिमुद्धं तरन् तीर्ण इति  
व्याहृतः । कर्मबन्धेन मुच्यमानः मुक्त इति व्याहृतः ।  
असंयमाद् विरज्यमानः विरत इति व्याहृतः ।

यह प्रज्ञाप्राप्त मुनि मूर्च्छा के सागर को तरता हुआ 'तीर्ण'  
कहलाता है, कर्मबंध से मुक्त होता हुआ 'मुक्त' कहलाता है और  
असंयम से विरक्त होता हुआ 'विरत' कहलाता है ।

७०. विरयं भिक्षुं रीयंतं, चिररातोसियं, अरती तत्थ किं विधारए ?

सं०—विरतं भिक्षुं रीयमाणं चिररात्रोषितं अरतिस्तत्र किं विधारयेत् ?

विरकाल से प्रव्रजित, संयम में उत्तरोत्तर गतिशील विरत भिक्षु को क्या अरति अभिभूत कर पाती है ?

भाष्यम् ७०—यो भिक्षुः चिररात्रोषितः—दीर्घकालेन  
प्रव्रजितोऽस्ति, यश्च विरतः—इन्द्रियविषयेषु रतः  
आकृष्टो वा नास्ति, यश्च रीयमाणः—अप्रशस्तमाचरणं  
परित्यज्य प्रशस्ताचरणेषु उत्तरोत्तरं गतिशीलः तस्मिन्  
भिक्षु अरतिः किं विधारयेत् ? यस्य असंयमे रति  
संयमे च अरतिविद्यते तं अरतिपरीषहः पराभवति, किन्तु  
यः प्रतिक्षणं विबुध्यते संयमे च रमते, तत्र कथं अरति-  
प्रवेशः संभवेत् ?

जो भिक्षु दीर्घकाल से प्रव्रजित है, जो विरत है—इन्द्रिय  
विषयों में अनुरक्त या आकृष्ट नहीं है, जो अप्रशस्त आचरण का परि-  
त्याग कर प्रशस्त आचरणों में उत्तरोत्तर गतिशील है, उस भिक्षु को  
क्या अरति अभिभूत कर पाती है ? जिस भिक्षु की असंयम में रति  
और संयम में अरति होती है, उस भिक्षु को अरति का परीषह  
अभिभूत कर देता है, किन्तु जो प्रतिक्षण जागृत रहता है, संयम में  
रमण करता है, उसमें अरति का प्रवेश कैसे संभव हो सकता है ?

अतो बुच्चति—येन कतेण ते संसोणिए भिसं तणुते,  
येन णयंतस्स रुक्षाहारस्स अप्पाहारस्स पायसो खलत्ते-  
णेव आहारो परिणमति, किंचि रसीभवति, रसाओ  
सोणियं, तं पि कारणअपत्ता एते तणुयमेव भवति,  
सोणिते पतणुए य तणुव्वगं संसंपि तणुईभवति, एव-  
मेयं अट्ठि संसं सुक्कमिति सव्वाणि एयाणि तणुई-  
भवति प्रायसो, दुखं चायतं भवति, वाते य सति  
णसंतसतत्तायपायो च सोणियादीणं तणुत्तं भवति ।

(ख) चूर्णिकार ने उपकरण-लाघव की भांति शरीर-लाघव  
के सभी सूत्रों की ओर इंगित किया है । उसके  
अनुसार तीनों सूत्रों (६३, ६४, ६५) का अनुवाद  
इस प्रकार है—

६३. ज्ञान का ग्रहण और तप करने वाले मुनि के  
शरीर-लाघव होता है ।

६४. शरीर को कृश करने वाले मुनि के तप होता है ।

६५. भगवान ने जैसे शरीर-लाघव का प्रतिपादन  
किया है, उसे उसी रूप में जानकर, सब प्रकार से,  
सर्वात्मना समत्व को समझकर किसी की अवज्ञा न करे ।

'चार मास का उपवास करनेवाला मुनि मासिक  
उपवास करने वाले मुनि की अवज्ञा न करे । इसी प्रकार  
विशिष्ट स्वाध्याय करने वाला अल्प स्वाध्याय करने वाले  
की अवज्ञा न करे । समत्व का अनुशीलन करने वाला  
मुनि किसी की भी अवज्ञा नहीं करता ।'

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२१-२२२)

## ७१. संधेमाणे समुद्रिण् ।

सं०—संधेधानः समुत्थितः ।

प्रतिक्षण धर्म का संधान करने वाले तथा वीतरागता के अभिमुख मुनि को अरति अभिभूत नहीं कर पाती ।

भाष्यम् ७१—यो मुनिः उत्तरोत्तरं संयमस्थानानि संदधानोऽस्ति, यश्च समुत्थितः—क्षायोपशमिकं भावं प्रति जागरूकोऽस्ति, तं अरतिर्नाभिभवति । कदाचिद् औदयिकं भावं गतः, किन्तु तत्क्षणमेव क्षायोपशमिकं भावं सन्धत्ते, तस्मै सन्धानाय निरन्तरं जागर्ति ।

जो मुनि उत्तरोत्तर संयम-स्थानों का संधान करने वाला है, जो समुत्थित है—क्षायोपशमिक भावों के प्रति जागरूक है, उस मुनि को अरति पराजित नहीं कर सकती । कदाचित् वह औदयिक भाव में चला जाता है, किन्तु तत्काल ही क्षायोपशमिक भाव का वह संधान कर लेता है । उस संधान के लिए वह निरन्तर जागरूक रहता है ।

## ७२. जहा से दीवे असंदीणे, एवं से धम्मे आयरिय-पवेसिए ।

सं०—यथा स द्वीपः असंदीनः, एवं स धर्मः आचार्यप्रदेशितः ।

जैसे असंदीन द्वीप आश्वास-स्थान होता है, वैसे ही तीर्थंकर द्वारा उपदिष्ट धर्म विरत भिक्षु के लिए आश्वास-स्थान होता है ।

भाष्यम् ७२—यथा असंदीनः द्वीपः पोतयात्रिणां आश्वासहेतुर्भवति । एवं आचार्यप्रदेशितः—तीर्थंकर-प्रणीतः धर्मः तस्य विरतस्य भिक्षोः आश्वासहेतुर्भवति, अत एव अरतिस्तं नाभिभूतं करोति ।

जैसे असंदीन द्वीप—जल से अप्लावित द्वीप पोत-यात्रियों के लिए आश्वास का हेतु होता है, वैसे ही तीर्थंकरों द्वारा प्रणीत धर्म उस विरत भिक्षु के लिए आश्वास का हेतु होता है । इसीलिए अरति उस भिक्षु को पराजित नहीं कर सकती ।

यस्य मुनेः संयमरतिः असन्दीनद्वीपतुल्या भवति, तस्य अरतिर्न सञ्जायते ।<sup>१</sup>

जिस मुनि की संयम-रति असंदीन द्वीप की भांति होती है, उस मुनि में कभी अरति नहीं होती ।

## ७३. ते अनवकांक्षमाणा अणतिवाएमाणा दइया मेहाविणो पंडिया ।

सं०—ते अनवकांक्षन्तः अनतिपातयन्तः दयिताः मेधाविनः पण्डिताः ।

मुनि भोग की आकांक्षा तथा प्राण-वियोजन नहीं करने के कारण लोकप्रिय मेधावी और आत्मज्ञ होते हैं ।

भाष्यम् ७३—ते<sup>१</sup> मुनयः इन्द्रियविषयान् स्वजनादि-संबंधान् वा अनवकांक्षन्तः, प्राणान् अनतिपातयन्तः, दयिताः—सम्मताः, मेधाविनः तथा पण्डिताः—आत्मज्ञा भवन्ति ।

वे मुनि इन्द्रिय-विषयों की अथवा स्वजन आदि के संबंधों की आकांक्षा नहीं करते हुए, प्राणियों का प्राण-वियोजन नहीं करते हुए, धार्मिक लोगों द्वारा सम्मत, मेधावी और आत्मज्ञ होते हैं ।

१. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २२३ : दब्बसंधाणं छिन्नसंधाणं अछिन्नसंधणं च, दब्बे अछिन्नमुत्तं कत्तति, रज्जू वा बट्टिज्जति, छिन्नसंधणं कंचुगादीणं, भावे पसत्थ अपसत्थ, छिन्नसंधणा य जहा कोथि असंजए किंवि कालं कोहस्स उवसमं काउं पुणो हस्सति, अछिन्नसंधणाई णिरुद्धो चेव अणंताणुबंधिकोहकसाओ, एवं भाण माया लोभे य, पसत्थ भावच्छिन्नसंधणा जे खओवसमियाओ भावाओ उदइयमावं गतो आसी पुणो खओवसमियं चेव जाव, अछिन्नसंधणाओ समुद्रिय उवसाभगसेढी खवपसेढी वा, तमेवं पसत्थभावसंधणअछिन्नसंधणा य समुद्रियं अहवखाय-चरित्ताभिमुहं वा ।

२. 'दीव' शब्द की 'द्वीप' और 'दीप'—इन दो रूपों में व्याख्या की जा सकती है । दीप प्रकाश देता है और द्वीप आश्वास । ये दोनों दो-दो प्रकार के होते हैं ।

१. संदीन—कभी जल से प्लावित हो जाने वाला और कभी पुनः खाली होने वाला द्वीप । अथवा बुझ जाने वाला दीप ।

२. असंदीन—जल से प्लावित नहीं होने वाला द्वीप । अथवा सूर्य, चन्द्र, रत्न आदि का स्थायी प्रकाश ।

धर्म के क्षेत्र में सम्यक्त्व आश्वास-द्वीप है । प्रतिपाती सम्यक्त्व संदीन-द्वीप और अप्रतिपाती सम्यक्त्व असंदीन-द्वीप होता है । ज्ञान प्रकाशदीप है । श्रुतज्ञान संदीन-द्वीप और आत्मज्ञान असंदीन-द्वीप है ।

धर्म का संधान करने वाले मुनि की संयम-रति असंदीन द्वीप या दीप जैसी होती है ।

दृष्टव्यम्—आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २२३-२२५ ।

३. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २२५ : एगं अणेगावेसा वुच्चति ।

आकांक्षा दयितत्वं—प्रियत्वं बाधते । प्राणानां अतिपातः मेधावित्त्वं तिरस्करोति । वस्तुतः अनाकांक्षया अनतिपातेन च पांडित्यं प्रस्फुटीभवति ।

आकांक्षा प्रियता में बाधा उत्पन्न करती है । प्राणों का अतिपात अर्थात् प्राण-वियोजन मेधावीपन का तिरस्कार करता है । वास्तव में अनाकांक्षा और अनतिपात से पांडित्य—आत्मज्ञता प्रस्फुटित होती है ।

७४. एवं तैसि भगवतो अणुद्वाने जहा से दिया-पोए ।

सं०—एवं तेषां भगवतां अनुष्ठाने यथा स द्विजपोतः ।

जैसे विहग-पोत अपने (माता-पिता की इच्छा का पालन करता है), वैसे ही शिष्य ज्ञानी गुरुजनों की आज्ञा का पालन करे ।

भाष्यम् ७४—एकाकिप्रतिमां अचेलत्वं च त एव मुनयः स्वीकुर्वन्ति ये प्रव्रज्यां प्रतिपद्य आज्ञायां वर्तन्ते अथवा त एव अरतिं अपनेतुं शक्नुवन्ति ये आज्ञामनुवर्तमाना भवन्ति, अत एव सूत्रकारो वक्ति—ते शिष्याः तेषां भगवतां—प्रज्ञानवतां अनुष्ठाने—आज्ञायां वर्तन्ते । अत्र द्विजपोतस्य दृष्टान्तोऽवगन्तव्यः । यथा द्विजपोतः—पक्षिणां शिशुः मातापितृभ्यां पालितः पोषितो भवति, क्रमेण उड्डयितुं समर्थो भवति, तदा मातापितरौ विहाय एकाकी चरति । एवं शिष्या अपि पूर्वोक्तां विशिष्टां प्रतिमां प्रतिपत्तुं समर्था भवन्ति ।

वे ही मुनि एकाकी-प्रतिमा तथा अचेलत्व की साधना को स्वीकार करते हैं जो प्रव्रज्या लेकर तीर्थंकर की आज्ञा के अनुसार चलते हैं । अथवा वे ही मुनि अरति का अपनयन कर सकते हैं जो आज्ञा में चलते हैं । इसीलिए सूत्रकार कहते हैं—वे शिष्य उन प्रज्ञावान् गुरुजनों की आज्ञा में चलते हैं । प्रस्तुत प्रकरण में विहग-पोत का दृष्टान्त जानना चाहिए । जैसे द्विज-पोत अर्थात् पक्षी का बच्चा माता-पिता के द्वारा पालित, पोषित होता है और धीरे-धीरे उड़ने में समर्थ हो जाता है, तब वह माता-पिता को छोड़कर अकेला ही विचरण करने लगता है । इसी प्रकार शिष्य भी पूर्वोक्त विशिष्ट प्रतिमा—एकल-विहार प्रतिमा को स्वीकार करने में समर्थ होते हैं ।

७५. एवं ते सिस्सा दिया य राओ य, अणुपुध्वेण वाइय ।—त्ति बेमि ।

सं०—एवं ते शिष्याः दिवा च रात्रौ च अनुपूर्वेण वाचिताः ।—इति ब्रवीमि ।

इसी प्रकार दिन और रात क्रमानुसार शिक्षित शिष्य योग्य हो जाते हैं ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ७५—एवं ते शिष्याः प्रव्राजिताः, दिवा च रात्रौ च अनुपूर्वेण वाचिताः—शिक्षां नीताः तथाविधां योग्यतामर्जयन्ति ।

इस प्रकार वे शिष्य आचार्य के द्वारा प्रव्रजित होकर, दिन और रात्रि में क्रमानुसार शिक्षित किए जाने पर उस प्रकार की योग्यता को प्राप्त कर लेते हैं ।

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२५ : आणाए उड्डायं अणुद्वानं वा, तत्थ आणाउड्डायणे ठिच्चा इति वक्कसेसं, तित्थगरमणहर सुत्तं तहिं ठिता, अहवा अणुद्वानं आयरणं, लोणेवि चत्तारो भवन्ति अणुद्विते हित्ते, पुण तैसि भगवताणं तित्थगरमणहराणं तं आणं अणुद्वैत्ति णवि संपाडेत्ति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२५ : भगवतो वीरवद्धंमानस्वामिनो धम्मं सम्यगनुत्थाने सति तत्परिपालन-तस्तथा सवुपदेशवानेन परिकामितमतिरत्वं विधेयमिति ।

२. विहग-पोत जब अण्डस्थ होता है, तब पंख की उड़ना से

पोषण प्राप्त करता है । अण्डावस्था से निकलने के बाद भी कुछ समय तक उसी से पोषण प्राप्त करता है । जब तक वह उड़ने में समर्थ नहीं होता, तब तक माता-पिता द्वारा दिए गए भोजन से वह पोषण प्राप्त करता है । उड़ने में समर्थ होने पर माता-पिता को छोड़ अकेला चला जाता है ।

इससे नववीक्षित मुनि के व्यवहार की तुलना की गई है । वह प्रव्रज्या, शिक्षा और अवस्था से अपरिपक्व होता है, तब तक गुरु के द्वारा पोषण प्राप्त करता है और परिपक्व होने पर एकचर्चा करने में भी समर्थ हो जाता है ।

## चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

७६. एवं ते सिस्सा द्विया य राओ य, अणुपुव्वेण वाइया तेहि महावीरेहि पण्णाणमंतेहि ।

सं०—एवं ते शिष्याः दिवा च रात्रौ च अनुपूर्वेण वाचिताः तैः महावीरैः प्रज्ञानवद्भिः ।

उन पराक्रमी और प्रज्ञावान् गुरुजनों के द्वारा वे शिष्य इस प्रकार दिन और रात क्रमानुसार शिक्षित किए जाते हैं ।

भाष्यम् ७६—इह पूर्वोक्तं पुनरावर्तयति सूत्रकारः—  
एवं ते शिष्याः तैर्महावीरैः प्रज्ञानवद्भिः दिवा च रात्रौ  
च अनुपूर्वेण वाचिता भवन्ति ।

सूत्रकार पूर्वोक्त कथन का पुनरावर्तन करते हैं—उन पराक्रमी  
और प्रज्ञावान् गुरुओं द्वारा वे शिष्य इस प्रकार दिन और रात के क्रम  
से शिक्षित किए जाते हैं ।

चूर्णो दिने रात्रौ च वाचनायाः प्राचीनपरम्परा  
निदिष्टा अस्ति ।<sup>१</sup>

चूर्ण में दिन और रात में दी जाने वाली वाचना की प्राचीन  
परम्परा निदिष्ट है ।

७७. तेसितिए पण्णाणमुवलम्भ हिच्चा उवसमं फारुसियं समादियंति ।

सं०—तेषामन्तिके प्रज्ञानमुपलभ्य हित्वा उपशमं पारुष्यं समाददति ।

उनके पास प्रज्ञान को प्राप्त कर और उपशम का अभ्यास करके भी कुछ शिष्य ज्ञान-भद से उन्मत्त होकर पयषता का आचरण करते हैं ।

भाष्यम् ७७—ते शिष्याः तेषां महावीराणां प्रज्ञान-  
वतां अन्तिके प्रज्ञानं उपलभ्य उपशमं अभ्यस्य ज्ञानमदेन  
परुषतां समाददति ।

वे शिष्य उन पराक्रमी और प्रज्ञावान् गुरुओं के पास प्रज्ञान  
को प्राप्त कर, उपशम का अभ्यास कर, ज्ञानमद से उन्मत्त होकर  
परुषता का आचरण करते हैं ।

चूर्णो वृत्तौ च उपशमस्त्रिविधः निरूपितः—  
ज्ञानोपशमः दर्शनोपशमः चारित्र्योपशमश्च ।<sup>२</sup>

चूर्ण और वृत्ति में उपशम के तीन प्रकार निदिष्ट हैं—ज्ञान-  
उपशम, दर्शन-उपशम और चारित्र्य-उपशम ।

पारुष्यम्—ज्ञानस्यावलेपेन आचार्यादीनां प्रतिपत्तेः

पारुष्य या परुषता का अर्थ है—ज्ञान के गर्व से आचार्य आदि

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२७ : द्विया—उक्कालियं पडुच्च  
कदायि दिवसतो चत्तारिवि योरिसीओ वाइज्जेज्ज, रत्तिपि  
पढमपोरिसि वाइज्जति, सेसामुवि पादपुच्छंगं, अणुपुव्वेण—  
आयारातिकमेण अणुपुव्वीए, तथा य भणियं—जहा से द्विया  
राओ, अहवा परियागमणतो तेणं, जहा 'तिवासपरिया-  
गस्स कप्पति आयारकप्पे उहिसित्तए' एवं जाव बिद्धिवाए,  
तं च जस्स जोगं, एवं अणुपुव्वीए सुत्तं अत्थं उभयं वा  
वादिया वाइज्जमाणा वा ।

२. अस्य मूलमस्ति हिच्चा (हित्वा) इति पदम् । अस्य 'गत्वा'  
'त्यक्त्वा' अर्थद्वयमपि संभवति । चूर्णो प्रथमोऽर्थः दृश्यते—  
तं उवसमं हिच्चा, जं भणितं—उवगिरिसित्ता ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२८)

वृत्तौ च 'त्यक्त्वा' इति व्याख्यातमस्ति—तत्र केचन  
क्षुद्रका ज्ञानोदन्वतोऽद्याप्युपर्येव प्लवमानास्तमेवभूतमुपशमं  
त्यक्त्वा । (आचारांग वृत्ति, पत्र २२६)

३. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२८ : तत्थ दब्बेण कचक-  
फलेण कसुसं उदगं उवसमति, अंकुसेण कुंजरो,  
दव्वस्स उवसमो मुराए पागकाले, भावोवसमो

नाणादि, तत्थ जो जेण नाणेण उवसामिज्जह सो नाणो-  
वसमो भवति, तं जहा—अक्खेवणीए, अहवा इसि-  
भासितेहि उत्तरज्जयणा एवमादि, दरिसणोवसमो जो  
विमुद्धेण संमत्तेण, परंउवसमितेण परंउवसापितो,  
जहा सेणियरणो, सो मिच्छादिट्ठी देवो सबकवयणं  
असद्दहमाणो जाव दंसणप्पभावगेहि सत्थेहि उव-  
सामिओ, गोविद, जत्तादिणा, चरितमेव उवसमो,  
तं जहा—उवसंतकोहे उवसंतमाणो उवसंतमाओ  
उवसंतलोभो, जाहे जयमाणं साहु बद्धूण उवसमति  
स चरित्तोवसमो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२६ : तत्र यो येन ज्ञानेनोप-  
शाम्यति स ज्ञानोपशमः, तद्यथा—आक्षेपण्याद्यन्यतरया  
धम्मकथया कश्चिद् उपशाम्यतीत्यादि, दर्शनोपशमस्तु  
यो हि शुद्धेन सम्यग्दर्शनेनापरमुपशामयति, यथा  
श्रेणिकेनाश्रद्धानो देवः प्रतिबोधित इति, दर्शन-  
प्रभावकैर्वा सम्मत्यादिभिः कश्चिदुपशाम्यति, चारित्र्यो-  
पशमस्तु क्रोधाद्युपशमो विनयनम्रतेति ।

अवमाननम् । चूर्णो वृत्तो च एतद् विस्तरेण प्रतिपादित-  
मस्ति ।'

गुरुजनों के निरूपण की अवमानना । चूर्ण और वृत्ति में इसका  
विस्तार से प्रतिपादन है ।

७८. वसित्ता बंधचेरंसि आणं 'तं णो' त्ति मण्णमाणा ।

सं०—उषित्वा ब्रह्मचर्ये आज्ञां 'तां नो' इति मन्यमानाः ।

वे ब्रह्मचर्य में रह कर भी आचार्य की आज्ञा को 'यह तीर्थंकर की आज्ञा नहीं है'—ऐसा मानते हैं ।

भाष्यम् ७८—ब्रह्मचर्यम्—चारित्र्यं गुरुकुलवासो वा ।  
आज्ञा—तीर्थंकरस्य वचनं सूत्रादेशो वा ।<sup>१</sup> ते ब्रह्मचर्ये  
उषित्वापि<sup>२</sup> पारुष्यं समाददतः उद्वेगभावेन आज्ञां नो<sup>३</sup>  
इति मन्यन्ते । सातगौरवबहुलाः शरीरस्य विभूषां  
कुर्वन्ति, न च भिक्षाचर्यायां हिण्डन्ते । रसगौरवबहुलाः  
सन्तस्ते नाहारशुद्धिं कुर्वन्ति । अपरैः प्रेरिताः सन्तः  
वदन्ति—नो एषा तीर्थंकरस्य आज्ञा । एवंविधेन वादेन  
ते आज्ञामतिक्रामन्ति ।

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—चारित्र्य अथवा गुरुकुलवास । आज्ञा का  
अर्थ है—तीर्थंकर का वचन अथवा सूत्र का आदेश । वे शिष्य ब्रह्मचर्य  
में रह कर भी परुषता का आचरण करते हुए उद्वेगता से आज्ञा  
को 'यह तीर्थंकर की आज्ञा नहीं है' ऐसा मानते हैं । सात-गौरव  
की बहुलता के कारण वे शरीर की विभूषा करते हैं, भिक्षाचर्या के  
लिए नहीं घूमते । वे रस-गौरव की बहुलता के कारण आहार की  
शुद्धि नहीं रख पाते । दूसरों के द्वारा प्रेरित होने पर वे कहते हैं—  
यह तीर्थंकर की आज्ञा नहीं है । इस प्रकार के कथन से वे आज्ञा का  
अतिक्रमण करते हैं ।

७९. अघायं तु सोच्चा णिसम्म समणुण्णा जीविस्सामो एणे णिक्खम्म ते—असंभवंता विडङ्गमाणा, कामेहिं गिद्धा  
अज्झोववण्णा । समाहिमाघायमभोसयंता, सत्थारमेव परुसं वदंति ।

सं०—आख्यातं तु श्रुत्वा निशम्य समनुज्ञा जीविष्याम एके निष्क्रम्य ते—असंभवन्तो विदङ्गमानाः, कामेषु गृद्धाः अध्युपपन्नाः ।  
समाधिमाख्यातमसेवमानाः, शास्तरमेव परुषं वदन्ति ।

कुछ पुरुष धर्म-उपदेश को सुनकर, समझकर, 'अनुत्तर संघम का जीवन जीएंगे' इस संकल्प से दीक्षित होकर उस संकल्प के प्रति  
सच्चे नहीं होते । वे कषाय की अग्नि से दग्ध, काम-भोगों में आसक्त या क्रुद्धि, रस और सुख के प्रति लोलुप होकर तीर्थंकर के  
द्वारा आख्यात समाधि का सेवन नहीं करते । वे शास्त्रा को भी परुष वचन बोलते हैं ।

भाष्यम् ७९—एके केचिद् स्वाख्यातं धर्मं श्रुत्वा,  
निशम्य—अवधार्य समनोज्ञाः—उद्युक्तविहारिणः सन्तः

कुछ पुरुष सु-आख्यात धर्म को सुन कर, समझ कर, 'हम  
उद्युक्तविहारी होकर संघम जीवन से जीवन-यापन करेंगे' इस संकल्प

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२८ : फरसियमावो फारुसियं  
परोप्परगुणाए अगुणाए अर्यमीमांसा, एवाउमं ! ण  
याणसि, ण य एस अत्थो एवं भवति, वित्तिओ पव्वहे,  
आयरिया एवं भणति, पुण आह—अत्थओ आयरिओ,  
जति तित्थगरोऽवि एवं आह सोऽवि ण याणति, किं  
पुण अण्णो ? अहवा भणति—सो किं सत्त्वणू ? सो  
वायाकुट्टो पुट्टिविगलो किं जाणइ ? तुमंपि तयोवि  
पाडिठिओ णिरुहत्ताओ पुढविकाइयतुल्लो किं जाणे-  
स्ससि ?

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२६ : पारुष्यं परुषतां 'समा-  
ददति' गृह्णन्ति, तद्यथा—परस्परगुणनिकायां मीमां-  
सायां वा एकोऽपरमाह—त्वं न जानीषे न चेषां शब्दाना-  
ममयमर्थो यो भवताऽभाणि, अपि च—कश्चिदेव  
मावुशः शब्दार्थनिर्णययात् न सर्वं इति, उक्तं च—  
'पृष्टा गुरवः स्वयमपि परोक्षितं निश्चितं पुनरिदं नः ।  
वादिनि च मल्लमुख्ये च मादुगेवान्तरं गच्छेत् ॥'

द्वितीयस्त्वह—नन्वस्मदाचार्या एवमाज्ञापयन्ती-  
त्युक्ते पुनराह—सोऽपि वाचिकुष्ठो बुद्धिविकलः किं  
जानीते ? त्वमपि च शुक्वत्पाठितो निरुहापोह इत्यादीन्य-  
न्यान्यपि दुर्गृहीतकतिचिदक्षरे महोपशमकारणं ज्ञानं  
विपरीततामापादयन् स्वौद्धत्यमाविर्भावयन् भावते,  
उक्तं च—

'अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय ।  
कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यंगानि दम्पेण ॥'  
'क्रीडनकमीश्वराणां कुक्कुटलावकसमानवात्सभ्यः ।  
शास्त्रायपि हास्यकथां लघुतां वा क्षुल्लको नयति ॥'

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२९ : बंधचरणं चरितं ।

३. वही, पृष्ठ २२९ : आणा सुत्तादेसो ।

४. वही, पृष्ठ २२९ : वसित्ता जं भणितं पालित्ता ।

५. वही, पृष्ठ २२९ : णो देसपडिसेहो, ण सत्त्वमेवं  
अवमण्णति ।



संयमजीवनेन जीविष्यामः इति सङ्कल्पपूर्वकं अभि-  
निष्क्रमणं कृत्वा मुनयो भवन्ति, किन्तु पुनर्मोहोदयात्  
औदयिके भावे वर्तन्ते । तस्यां अवस्थायां ते आख्यातं  
समाधि—इन्द्रियमनसोः संयमं एकाग्रं वा असेवमानाः  
शास्तारं परुषं वदन्ति । तस्य परुषवचनस्य चत्वारः  
हेतवः अत्र निर्दिष्टाः—

१. असंभवनम्—गौरववशात् समाधिमार्गं न सम्यग्  
वर्तनम् ।
२. विदाहः—कषायाग्निना प्रज्वलनम् ।
३. कामगृद्धिः—विषयासक्तिः ।
४. अध्युपपत्तिः—रसलोलुपत्वं सुखलोलुपत्वं वा ।

के साथ अभिनिष्क्रमण कर मुनि बनते हैं, किन्तु पुनः मोह कर्म के  
उदय से वे औदयिकभाव में प्रवृत्त हो जाते हैं । उस स्थिति में  
वे आख्यात समाधि—इन्द्रिय और मन का संयम अथवा एकाग्रता का  
आचरण न करते हुए शास्ता के प्रति परुष वचन कहते हैं । उस परुष  
वचन बोलने के चार हेतु यहाँ निर्दिष्ट हैं—

१. असंभवन—गौरव अर्थात् ऋद्धि, रस और सुख के वशीभूत  
होने के कारण समाधि मार्ग में सम्यग् वर्तन न करना ।
२. विदाह—कषाय की अग्नि से प्रज्वलित ।
३. कामगृद्धि—विषयों की आसक्ति ।
४. अध्युपपत्ति—रस-लोलुपता अथवा सुख-लोलुपता ।

८०. शीलमंता उवसंता, संखाए रीयमाणा । असौला अणुव्यमाणा ।

सं०—शीलवतः उपशान्तान् संख्यया रीयमाणान् अशीलान् अनुवदन्तः ।

वे शीलवान्, उपशांत तथा प्रज्ञा-पूर्वक संयम में गतिशील मुनियों को अशीलवान् बतलाते हैं ।

भाष्यम् ८०—शीलं उपशमः प्रज्ञा—एतानि त्रीणि  
सन्ति साधोर्लक्षणानि । स्वयं संयमं अनाचरन्तस्ते  
शीलवतः उपशान्तान् संख्यया—प्रज्ञया रीयमाणान् अपि  
साधून् 'एते अशीला' इति अनुवदन्ते ।

शील, उपशम और प्रज्ञा—ये साधु के तीन लक्षण हैं । संयम  
का स्वयं अनाचरण करने वाले वे शीलवान्, उपशांत तथा प्रज्ञापूर्वक  
संयम में गतिशील साधुओं को भी 'वे अशीलवान् हैं', ऐसा कहते  
हैं ।

८१. बितिया मंदस्स बालया ।

सं०—द्वितीया मन्दस्य बालता ।

यह उन मंदमतियों की बोहरी मूर्खता है ।

भाष्यम् ८१—स स्वयं उपशमं त्यजति एषा तस्य  
प्रथमा बालता । अन्येषां उद्युक्तविहारिणां च अपवादं  
करोति, एषा तस्य मन्दस्य द्वितीया बालता ।

वह मुनि स्वयं उपशम को छोड़ता है—यह उसकी पहली  
मूर्खता है । वह अन्य उद्युक्तविहारी मुनियों का अपवाद करता  
है—यह उस मंदमती की दूसरी मूर्खता है ।

८२. णियट्टमाणा वेगे आचार-गोचरमाइक्खंति णाणभट्टा दंसणलूसिणो ।

सं०—निवर्तमाना वैके आचार-गोचरमाचक्षते ज्ञानभ्रष्टाः दर्शनलूषिणः ।

कुछ ज्ञान-भ्रष्ट, दर्शन-उपसी और संयम से निवर्तमान मुनि आचार-गोचर की व्याख्या करते हैं ।

भाष्यम् ८२—एके केचिद् संयमाद् निवर्तमाना  
आचारगोचरं आचक्षते, तेषां अभिप्रायः—भगवता  
घोरः आचारगोचरः प्रतिपादितः । इदानोमेष दुरधिष्ठि-  
तोऽस्ति, अतः मध्यममार्ग एव श्रेयान् । एवं प्रतिपादयन्तस्ते  
उपशमकारकाद् ज्ञानाद् भ्रष्टा भवन्ति । भगवता  
प्रतिपादितं आचारविषयकं अहिंसात्मकं सम्यग्दर्शनं,  
तस्य विध्वंसमपि कुर्वन्ति । उक्तञ्च वृत्तौ—असदनुष्ठा-  
नेन स्वतो विनष्टा अपरानपि शङ्कोत्पादनेन सन्मार्गात्  
च्यावयन्ति ।<sup>१</sup>

संयम से निवर्तमान कुछ मुनि आचार-गोचर की व्याख्या  
करते हैं । उनका अभिप्राय है—भगवान् महावीर ने मुनियों  
के लिए घोर आचार-गोचर का प्रतिपादन किया है । वर्तमान  
में उसका पालन कर पाना दुष्कर है । इसलिए मध्यम मार्ग ही  
श्रेयस्कर है । इस प्रकार का प्रतिपादन करते हुए वे मुनि उपशमकारक  
ज्ञान से भ्रष्ट हो जाते हैं । भगवान् ने आचार विषयक अहिंसात्मक  
सम्यग्दर्शन का प्रतिपादन किया था । वे मुनि इसका भी विध्वंस कर  
देते हैं । वृत्ति में कहा है—'असद् आचरण के कारण वे स्वयं विनष्ट  
होकर दूसरों में शंका उत्पन्न कर उनको भी सन्मार्ग से च्युत कर देते हैं ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २२७ ।

८३. णममाणा एगे जीवितं विपरिणामेति ।

सं०—नमन्तः एके जीवितं विपरिणामयन्ति ।

बिनाय-प्रणस होते हुए भी कुछ मुनि संयम-जीवन को प्रतिकूल कर देते हैं ।

भाष्यम् ८३—एके केचित् तीर्थकरं आचार्यं वा नमन्तोपि ऋद्धिरससातगौरवत्रयवशात् जीवितमिति संयमजीवनं विपरिणामयन्ति—प्रतिकूलतां नयन्तीत्यर्थः । अस्य सूत्रस्य तात्पर्यमिदं—गौरवत्रयं शिष्यं संयम-पराङ्मुखं करोति ।

तीर्थकर या आचार्य के प्रति नत होते हुए भी कुछ मुनि ऋद्धि, रस और सात—इस गौरवत्रयी के वशीभूत होकर संयम जीवन को प्रतिकूल बना डालते हैं । इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि गौरवत्रयी शिष्य को संयम से विमुख कर डालती है ।

८४. पुट्टा वेगे णियट्ठंति, जीवियस्सेव कारणा ।

सं०—स्पृष्टाः वैके निवर्तन्ते जीवितस्यैव कारणात् ।

कुछ साधक परीषहों से स्पृष्ट होकर केवल सुखपूर्ण जीवन जीने के लिए संयम को छोड़ देते हैं ।

भाष्यम् ८४—एके केचित् परीषहैः स्पृष्टाः निवर्तन्ते जीवितस्येति असंयमजीवितस्य कारणात्, वयं सुखेन जीविष्याम इति कृत्वा संयमात् निवर्तन्ते, पुनः प्रविशन्ति गृहस्थजीवने ।

कुछ साधक परीषहों से स्पृष्ट होने पर असंयमपूर्ण जीवन के लिए संयम को छोड़ देते हैं । 'हम सुखपूर्वक जीएंगे'—ऐसा सोच कर संयम जीवन से निवृत्त हो जाते हैं, पुनः गृहस्थ-जीवन में प्रवेश कर जाते हैं ।

८५. णिकखंतं पि तेसि दुन्निक्कमणं भवति ।

सं०—निष्क्रान्तमपि तेषां दुन्निक्कमणं भवति ।

उनका गृहवास से निष्क्रमण भी दुन्निष्क्रमण ही जाता है ।

भाष्यम् ८५—गृहवासाद् निष्क्रमणस्य प्रयोजनमस्ति आत्मानुभूतिः आत्मोपलब्धिश्च । तस्य प्रयोजनस्य संसिद्धौ परीषहा अपि भवन्ति सोढव्याः । ये भवन्ति तान् सोढुं अक्षमाः तेषां गृहस्थजीवनात् निष्क्रमणमपि भवति दुन्निष्क्रमणम् ।

गृहवास से निष्क्रमण करने का प्रयोजन है—आत्मा की अनुभूति करना और आत्मा को उपलब्ध होना । उस प्रयोजन की सिद्धि के लिए परीषहों को भी सहना होता है । जो उन परीषहों को सहने में अक्षम होते हैं उनका गृहस्थ जीवन से निष्क्रमण भी दुन्निष्क्रमण ही जाता है ।

८६. बालवयणिज्जा हु ते नरा, पुणो-पुणो जाति पकप्पेति ।।

सं०—बालवचनीयाः खलु ते नराः पुनः पुनः जातिं प्रकल्पयन्ति ।

वे साधारण जन के द्वारा भी निन्दनीय होते हैं और बार-बार जन्म को प्राप्त होते हैं ।

भाष्यम् ८६—ये निष्क्रमणं सार्थकतां न नयन्ति ते नरा लोके बालैरपि जनैर्वचनीया भवन्ति । 'एते मुनि-जीवनं स्वीकृत्यापि गृहस्थवद् आचरन्ति । एतैः वेशः परिवर्तितः न तु वृत्तयः परिवर्तिताः'—एतादृशैः आक्षेपैः तान् आक्षिपन्ति । पारलौकिकदृष्ट्या पुनः पुनः जातिं प्रकल्पयन्ति—जन्मनः परम्परां प्रवर्धयन्तीति यावत् । मूर्च्छां कर्मणो बीजम् । कर्म च जातिभरणयोः बीजम् । ततः जातेर्चक्रं निरन्तरं गतिशीलं जायते ।

जो निष्क्रमण को सार्थक नहीं बनाते वे संसार में साधारण लोगों के द्वारा भी निन्दनीय होते हैं । 'ये मुनि-जीवन को स्वीकार करके भी गृहस्थ जैसा आचरण करते हैं । इन्होंने केवल वेश बदला है, वृत्तियां नहीं बदली हैं'—ऐसे आक्षेपों के द्वारा उन का तिरस्कार करते हैं, पारलौकिक दृष्टि से भी वे बार-बार जन्म की परम्परा को बढ़ाते हैं । मूर्च्छां कर्म का बीज है । कर्म जन्म-मरण का बीज है । उससे जन्म-मरण का चक्र निरन्तर गतिशील रहता है ।

८७. अहे संभवता विहायमाणा, अहमंसी विउषकसे ।

सं०—अधः संभवन्तो विद्वस्यन्तः अहमस्मि व्युत्कर्षेयुः ।

वे ज्ञान की निम्न भूमिका में होते हुए भी अपने को विद्वान् मानकर अहं का ख्यापन करते हैं ।

भाष्यम् ८७—अहंकारस्य अनेके हेतवः सन्ति । न बहुज्ञता एव अहंकारस्य निमित्तं जायते, किन्तु अल्पज्ञताऽपि तस्य निमित्तं भवति । एतदेवात्र निदर्शितं । ते अधः संभवन्तः—संयमस्थानेषु श्रुतपर्यायेषु वा निम्नस्थितौ वर्तमाना अपि तथा विद्वस्यन्तः अहम् अस्मीति व्युत्कर्षं कुर्वन्ति ।

अहंकार के अनेक हेतु हैं । केवल बहुज्ञता ही अहंकार का निमित्त नहीं बनती, किन्तु अल्पज्ञता भी उसका निमित्त बनती है । यहाँ इसी तथ्य का निदर्शन किया गया है । वे मुनि संयम-स्थानों अथवा ज्ञान-पर्यायों की निम्न भूमिका में होते हुए भी अपने को विद्वान् मान कर 'मैं हूँ'—इस प्रकार अहं का ख्यापन करते हैं ।

८८. उदासीणे परुषं वदन्ति ।

सं०—उदासीनान् परुषं वदन्ति ।

वे मध्यस्थ मुनियों के लिए परुष वचन बोलते हैं ।

भाष्यम् ८८—ते उदासीनान्—गौरवत्रिकशून्यान् मुनीन् प्रति परुषवचनानि प्रयुञ्जते । तत् सूत्रेणैव प्रदर्श्यते । वृत्तिकारेणापि परुषवचनप्रकारः निदर्शितोऽस्ति—बहुश्रुतत्वे सत्युपशान्तान् स्वलितचोदनोद्यतान् परुषं वदन्ति, तद्यथा—स्वयमेव तावत् कृत्यमकृत्यं वा जानीहि ततोऽन्येषामुपदेश्यसीति ।<sup>१</sup>

वे मुनि उदासीन अर्थात् गौरवत्रिक से शून्य मुनियों के प्रति परुष वचन का प्रयोग करते हैं । वह अग्रिम सूत्र के द्वारा ही बताया जा रहा है । वृत्तिकार ने भी परुष वचन के प्रकार का निदर्शन किया है—बहुश्रुत होने के कारण उपशांत तथा स्वलनाओं के प्रति सावधान करने वाले मुनियों को परुष वचन बोलते हैं, जैसे—पहले स्वयं के ही कृत्य अथवा अकृत्य को जान लो फिर दूसरों को उपदेश देना ।

८९. पलियं पगंथे अदुवा पगंथे अतर्हेहि ।

सं०—'पलियं'<sup>२</sup> 'पगंथे'<sup>३</sup> अथवा 'पगंथे' अतर्हेः ।

वे कर्म की स्मृति दिला कर अथवा असभ्य शब्दों का प्रयोग कर तथा तथ्यहीन आरोप लगा कर परुष बोलते हैं ।

भाष्यम् ८९—द्रष्टव्यम्—६।४२,४३ ।

देखें—६।४२,४३ ।

९०. तं मेधावी जाणिज्जा धर्मम् ।

सं०—तं मेधावी जानीयाद् धर्मम् ।

इसलिए मेधावी को धर्म जानना चाहिए ।

भाष्यम् ९०—गौरवत्रिकेणाभिभूतास्ते उक्तविधानि आचरणानि कुर्वन्ति, तस्मात् मेधावी धर्मं जानीयात् । यत्रास्ति गौरवं तत्र नास्ति धर्मः । गौरवपरित्यागेनेव धर्मो विज्ञातो भवति ।

गौरवत्रिक से अभिभूत वे पुरुष उक्त प्रकार के आचरण करते हैं, इसलिए मेधावी व्यक्ति को धर्म जानना चाहिए । जहाँ गौरव है वहाँ धर्म नहीं है । गौरव के परित्याग से ही धर्म का ज्ञान होता है ।

१. आचारंग वृत्ति, पत्र २२८ : उदासीनाः रागद्वेषरहिता मध्यस्थाः ।

२. वही, पत्र २२८ ।

३-४. देशीयशब्दौ ।

६१. अहम्मद्वी तुमसि णाम बाले, आरंभद्वी, अणुवयमाणे, हणमाणे, घाद्यमाणे, हणओ यावि समणुजाणमाणे, घोरे धम्मो उदीरिए, उवेहइ णं अणाणाए ।

सं०—अधर्मार्थी त्वमसि नाम बालः, आरम्भार्थी, अनुवदमानः, घनन्, घातयन्, घनतश्चापि समनुजानानः, घोरः धर्मः उदीरितः, उपेक्षते अनाज्ञया ।

धर्म-गुण्य साधक को आचार्य इस प्रकार अनुशासित करते हैं—‘तू अधर्मार्थी है, बाल है, आरंभार्थी है, आरम्भ करने वालों का समर्थक है, तू प्राणियों का वध कर रहा है, करवा रहा है, करने वाले का अनुमोदन कर रहा है । भगवान् ने घोर धर्म का प्रतिपादन किया है, तू आज्ञा का अतिक्रमण कर उसकी उपेक्षा कर रहा है ।’

भाष्यम् ९१—गौरवत्रिकेण अभिभूत आचार्येण एव अनुशास्यते—त्वमसि अधर्मार्थी, बालोऽसि, अपि च आरम्भार्थी<sup>१</sup> असि, अनुवदन्नसि<sup>२</sup>—आरम्भप्रवृत्तानां समर्थनं करोषि<sup>३</sup> ।<sup>४</sup> त्वं स्वयं प्राणिनां वधं करोषि, कारयसि, कुर्वतः समनुजानासि । भगवता घोरः धर्मं उदीरितः । त्वं गौरवत्रयाभिभूतः अनाज्ञया तस्य उपेक्षां कुरुषे । घोरः—सर्वास्त्रनिरोधात्मकसंवररूपः ।<sup>५</sup> उदीरितः—उदाहृतः ।<sup>६</sup> अनाज्ञा—अनुपदेशः<sup>७</sup> ।

जो मुनि गौरवत्रिक से पराभूत है, उस पर आचार्य इस प्रकार अनुशासन करते हैं—तुम अधर्मार्थी हो, अज्ञानी हो, और तो क्या, आरंभार्थी हो तथा आरम्भ करने वालों के समर्थक हो । तुम स्वयं प्राणियों का वध करते हो, दूसरों से वध करवाते हो तथा वध करने वालों का अनुमोदन करते हो । भगवान् ने घोर धर्म का प्रतिपादन किया है । तुम गौरवत्रिक से अभिभूत हो और अनाज्ञा से उसकी उपेक्षा करते हो । घोर का अर्थ है—सभी आश्रवों का निरोधक संवर । उदीरित का अर्थ है—उदाहृत । अनाज्ञा का अर्थ है—जो तीर्थंकर का उपदेश नहीं है ।

१. चूर्णो<sup>१</sup> अस्य पदस्य ध्याख्याद्वयं विद्यते—‘आरंभणं आरंभो पदणपादणादिसंजमो, तेण जस्स अट्ठो से भवति आरंभद्वी अहवा इड्ढिगारवरसगारवसातागारवा आरंभद्वी, तत्थ विज्जामंतणित्तसद्देहेतुमादी अहिज्जति पउंजइ वा जो रिद्धिहेउं सो रिद्धिगारवारंभद्वी, ताणि चैव रसहेउं पउंजति अहिज्जति वा रसगारवारंभद्वी, एवं सातागारवारंभद्वीवि’ । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२९)

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २२९-२३० : अणुवयमाणोत्ति अणु-वदणं अणुवादी, वदतो पच्छा ववति अणुववति, तक्कादीसु पयणपयावणावि आरंभे ववति, तह्णं डतक्की, तस्स पक्खं ते अणुववति, एकोत्थ दोसो, ण असरीरो धम्मो भवति, तेण धम्मसरीरं धरेयव्वं, साहू य तं, जं भणितं—‘मणुण्णं भोयणं भोच्चा’ अहवा णितियादिवायो वा कुसीलं अणु-ववति, मा एवं भण, जहा अस्हे वि णिहीणपेच्चवावारा इहलोगपडिबद्धा संसारसूयरा, ण तुज्जे, एवं ठिता चेइय-पूयणं तो करेह, वित्सेण य आगंतुयआगमिते लक्खण-खमते उत गिण्ह, सव्वं किर पडिवादी, वेदावच्चं अपडि-वाइ, एवं तेसि अणुकूलं वट्टंति ।

३. वृत्तो (पत्र २२८) एषु पदेषु सम्बन्धमाला प्रदर्शिता अस्ति—‘कुतोऽधर्मार्थी ? यतो ‘बालः’ अज्ञः, कुतो बालो ? यत ‘आरम्भार्थी’ सावधारम्भप्रवृत्तः, कुतः आरम्भार्थी ? यतः प्राण्युपमर्दवादाननुवदन्नैतद् ब्रूषे, तद्यथा—जहि

प्राणिनोऽपररेवं घातयन् घनतश्चापि समनुजानासि गौरव-त्रिकानुबद्धः पचनपाचनादिक्रियाप्रवृत्तास्तत्पिण्डतक्कीं तत्समक्षं ताननुवदसि—कोऽत्र दोषो ? न ह्यशरीरैर्द्धम्मः कर्तुं पाव्यते, अतो धम्मधारं शरीरं यत्नतः पालनीयमिति, उक्तं च—

‘शरीरं धम्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः ।

शरीराज्जायते धम्मो, यथा बीजात् सदङ्कुरः ॥’

४. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २३० : घोरो—भयानयो, सव्वस्सविणरोधाओ, अहीव एगंतदिट्ठिता दुरणु-चरित्ता कापुरिसाणं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२८ : घोरः भयानको धम्मः सर्वास्त्रनिरोधात् दुरनुचरः ।

५. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २३० : उड्ढं ईरितो उदाह-रितो दरिसितोत्ति वा तित्थगरगणहरेहि, तेहि तेहि चैव उज्जुयं ईरितो उदीरितो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२८ : उत्-प्राबल्येनेरितः कथितः प्रतिपादितस्तीर्थंकरगणधरादिभिः ।

६. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २३० : तित्थगरगणधराणं अणाणाए—अणुवदेसेण ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२८ : अनाज्ञया तीर्थंकरगण-धरानुपदेशेन स्वेच्छया प्रवृत्त इति ।

७. द्रष्टव्यम्—अष्टमाध्ययनस्य तृतीय सूत्रम् ।

६२. एष विषण्णे वितद्दे विद्याहिते त्ति बेमि ।

सं०—एष विषण्णः वितर्दः व्याहृतः इति ब्रवीमि ।

वह विषण्ण और संवर धर्म के प्रतिकूल कहलाता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ९२—यः प्रमादी गौरवत्रयेणाभिभूतः घोरं धर्मं उपेक्षमाणः स एष विषण्णः—आस्रवपङ्के निमग्नः<sup>१</sup> तथा वितर्दः—संवरधर्मस्य प्रतिकूलप्रवृत्तः<sup>२</sup> व्याहृत इति ब्रवीमि ।

जो प्रमादी साधक गौरवत्रिक से अभिभूत होकर घोर धर्म की उपेक्षा करता है वह आश्रवरूपी पंक में निमग्न और वितर्द—संवर धर्म के प्रतिकूल प्रवृत्ति करने वाला कहलाता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

६३. किमणेण भो ! जणेण करिस्सामित्ति मण्णमाणा—एवं पेगे वडइत्ता, मातरं पितरं हिच्छा, णात्तओ य परिग्रहं । वीरायमाणा समुट्ठाए, अविहिंसा सुव्वया वंता ।

सं०—किमनेन भो ! जनेन करिष्यामि इति मन्यमानाः एवं अप्येके उदित्वा मातरं पितरं हित्वा, ज्ञातीन् च परिग्रहं वीरायमाणाः समुत्थाय अविहिंसाः सुव्रताः दान्ताः ।

‘हे आत्मन् ! इस स्वजन का मैं क्या करूँगा?’—यह मानते और कहते हुए कुछ लोग माता-पिता, ज्ञाति और परिग्रह को छोड़ वीरवृत्ति से प्रव्रजित होते हैं—अहिंसक, सुव्रती और दांत बन जाते हैं ।

भाष्यम् ९३—केचित् प्रकृष्टपरिणामधारया प्रव्रजिता भवन्ति । एष जनः—मातापित्रादिस्वजनवर्गः इहापि तावत् जन्ममरणरोगशोकाभिभूतस्य न त्राणाय भवति इति चिन्तनपूर्वकं वैराग्यमापन्नाः, भो ! ‘अनेन जनेन किं करिष्यामि’ इति मन्यमानाः, तथा यावज्जीवं सिंहवृत्त्या विहरिष्यामि इति उदित्वा मातरं पितरं ज्ञातीन् परिग्रहं च त्यक्त्वा वीरभावमापन्ना गृहस्थजीवनात् समुत्थानं कृत्वा अहिंसकाः, सुव्रताः—तपस्विनः, दान्ताः—इन्द्रियानिन्द्रियजयिनो भवन्ति ।<sup>१</sup>

कुछ व्यक्ति उत्कृष्ट परिणामधारा से प्रव्रजित होते हैं । यह जन अर्थात् माता-पिता आदि स्वजन वर्ग इस लोक में भी जन्म, मरण, रोग, शोक से अभिभूत व्यक्ति को त्राण नहीं दे पाता—इस चिंतन से वे वैराग्य को प्राप्त होते हैं । ‘इस स्वजन वर्ग का मैं क्या करूँगा’ ऐसा मानते हुए तथा यह कहते हुए कि मैं यावज्जीवन सिंहवृत्ति से संयम जीवन में विहरण करूँगा—वे माता, पिता, ज्ञातिजन तथा परिग्रह को छोड़ कर वीरतापूर्वक गृहस्थ जीवन से समुत्थान कर—अभिनिष्क्रमण कर प्रव्रजित हो जाते हैं । वे अहिंसक, सुव्रत—तपस्वी तथा दांत—इन्द्रिय और मन पर विजय प्राप्त करने वाले होते हैं ।

६४. अहेगे पस्स बीणे उप्पइए पडिबयमाणे ।

सं०—अथ एकान् पश्य दीनान् उत्पत्य प्रतिपततः ।

उन दीन और उठकर गिरते हुए कुछ मुनियों को तू देख ।

भाष्यम् ९४—अथ एके संयमस्य आरोहणं कृत्वा गौरवाधीनाः सन्तः प्रतिपतन्ति—सिंहवृत्त्या अभिनिष्क्रमणं कृत्वा पुनः शृगालवृत्तिमाचरन्ति । तान् दीनान्—परीषहपराजितान् त्वं पश्य । अनयोः सूत्रयोः (९३, ९४) परिणामधारायाः अनवस्थितत्वं प्रदर्शितम् ।

कुछ साधक संयम में आरोहण कर गौरवत्रिक के अधीन होकर नीचे गिर जाते हैं अर्थात् सिंहवृत्ति से अभिनिष्क्रमण कर पुनः शृगालवृत्ति का आचरण करने लग जाते हैं । उन दीन—परीषहों से पराजित मुनियों को तू देख । इन दो सूत्रों (९३-९४) में परिणामधारा की अनवस्थितता बताई गई है ।

१. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ २३० : विविहं सण्णो, वट्ठे भारवाहे पहियनदीतरता एवमादि सो सज्जति, भावसण्णो णाणदंसणचरित्ताणि पत्तो तहावि ण तेसु जो भत्तिमंताण उज्जमति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२९ : विषण्णः काममोघेषु ।

२. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ २३०-२३१ : विविहं तद्दो २

वट्ठे मच्छकंदगादि गत्तए लग्गो वितद्दे, भावओ नाणस्स उवदेस अणणुलोमे वट्ठति, एवं वंसणनाण-चरित्तथविणएवि, त्तिरिच्छीज्जंतो वितद्दो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२९ : विविधं तर्दंतीति वितर्दो—हिंसकः, ‘तर्दं हिंसाया’ मित्यस्मात् कर्त्तरि पचाद्यच्, संयमे वा प्रतिकूलो वितर्दः ।

६५. वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवन्ति ।

सं०—वशात्ताः कातराः जनाः लूषकाः भवन्ति ।

वशात्त और कायर मनुष्य ब्रतों का विध्वंस करने वाले होते हैं ।

भाष्यम् ९५—प्रतिपतनस्य कारणमस्ति वशात्तत्वं कातरत्वं च । वशात्तः—इन्द्रियविषयकषायवशेन आर्त्तः वशात्तः । स चतुर्विधो भवति—क्रोधवशात्तः, मानवशात्तः, मायावशात्तः लोभवशात्तश्च । परीषहं सोढुमनीशः कातरः । वशात्ताः कातराश्च जनाः ब्रतानां लूषकाः—विध्वंसका भवन्ति ।

संयम से भ्रष्ट होने के दो कारण हैं—वशात्तता और कातरता । वशात्त का अर्थ है—इन्द्रियविषय तथा कषाय की अधीनता से पीडित । वशात्त चार प्रकार के होते हैं—क्रोधवशात्त, मानवशात्त, मायावशात्त तथा लोभवशात्त । जो व्यक्ति परीषहों को सहने में असमर्थ होता है, वह कातर कहलाता है । वशात्त और कातर पुरुष ब्रतों के विध्वंसक होते हैं ।

६६. अहमेगेसि सिलोए पावए भवइ, 'से समणविभ्रान्ते समणविभ्रान्ते ।'

सं०—अथैकेषां श्लोकः पापको भवति 'स श्रमणविभ्रान्तः श्रमणविभ्रान्तः' ।

कुछ मुनियों की निन्दनीय प्रसिद्धि होती है, जैसे—'यह विभ्रान्त श्रमण है, यह विभ्रान्त श्रमण' है ।

भाष्यम् ९६—अथ एकेषां तेषां भग्नब्रतानां भग्नोत्साहानां भग्नपराक्रमाणां पापकः श्लोको भवति, यथा—असौ विभ्रान्तः श्रमणः, विभ्रान्तः श्रमणः । श्लोकः—श्लाघा प्रसिद्धिर्वा ।

ब्रतों को भग्न करने वाले, उत्साहहीन तथा पराक्रमशून्य कुछेक मुनियों की निन्दनीय प्रसिद्धि होती है । लोग कहते हैं—'यह विभ्रान्त श्रमण है, यह विभ्रान्त श्रमण है' । श्लोक का अर्थ है—श्लाघा अथवा प्रसिद्धि ।

६७. पासहेगे समण्णागएहि असमण्णागए, णममाणेहि अणममाणे, विरतेहि अविरते, दविएहि अदविए ।

सं०—पश्यत एकान् समन्वागतेषु असमन्वागतान्, नमत्सु अनमतः, विरतेषु अविरतान्, द्रव्येषु अद्रव्यान् ।

तुम देखो, संयम से च्युत होने वाले मुनि सम्यग् आचार वालों के बीच असम्यग् आचार वाले, समर्पित मुनियों के बीच असमर्पित, विरत मुनियों के बीच अविरत तथा चारित्र से सम्पन्न मुनियों के बीच चारित्र से वरिष्ठ होते हैं ।

भाष्यम् ९७—प्रब्रजितानां पुण्यश्लोकस्य चत्वारो हेतवः भवन्ति—

- (१) ये भवन्ति समन्वागताः—संयमं प्रति जागरूकाः ।
- (२) ये भवन्ति प्रणताः—संयमं प्रति समर्पिता इति यावत् ।
- (३) ये भवन्ति विरताः—इन्द्रियविषयान् प्रति अनाकृष्टाः ।
- (४) ये भवन्ति द्रव्याः—रागद्वेषविजयिनः ।

तेषु एके केचित् गौरवेणाभिभूताः भवन्ति असमन्वागताः, अप्रणताः, अविरताः, अद्रव्याश्च ।

प्रब्रजित मुनियों की प्रशंसात्मक प्रसिद्धि के चार हेतु होते हैं—

१. जो संयम के प्रति समन्वागत—जागरूक होते हैं ।
२. जो संयम के प्रति प्रणत—समर्पित होते हैं ।
३. जो विरत—इन्द्रिय-विषयों के प्रति अनाकृष्ट होते हैं ।
४. जो द्रव्य—राग-द्वेष के विजेता होते हैं ।

उनमें से कुछेक मुनि गौरव से अभिभूत होकर असमन्वागत—संयम के प्रति अजागरूक, अप्रणत—संयम के प्रति असमर्पित, अविरत—इन्द्रिय-विषयों के प्रति आकृष्ट और अद्रव्य—राग-द्वेष से पराभूत होते हैं ।

६८. अभिसमेज्जा पंडिए मेहावी णिट्ठियट्ठे वीरे आगमेण सया परक्कमेज्जासि ।—त्ति बेमि ।

सं०—अभिसमेत्य पंडितो मेहावी णिट्ठित्थः वीरः आगमेण सदा पराक्रामेत् ।—इति ब्रवीमि ।

उत्प्रब्रजित होने के परिणामों को जान कर पण्डित, मेघावी, मोक्षार्थी और वीर मुनि सदा आगम के अनुसार पराक्रम करे ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

१. द्रष्टव्यम्—भगवती १२।२२-२५ ।

भाष्यम् ९८—उत्प्रब्रजनस्य परिणामान् अभिसमेत्य पण्डितो मुनिः आगमेन सदा पराक्रामेत्, इति ब्रवीमि ।

आगमः—आज्ञा चिन्तनं वा ।<sup>१</sup>

अत्र मुनिः चतुर्भिविशेषणैः विशेषितः । स एव मुनिः प्रब्रज्यायां विहर्तुमर्हति यो भवति पण्डितः—तत्त्ववेत्ता, यो भवति मेधावी—धारणक्षमः मर्यादाशीलो वा, यो भवति निष्ठितार्थः—विषयसुखनिष्पयासः मोक्षार्थी<sup>२</sup> वा, यश्च भवति वीरः—पराक्रमी सहिष्णुर्वा ।

उत्प्रब्रजन के परिणामों को जानकर पंडित मुनि आगम के अनुसार संयम में सदा पराक्रम करे, ऐसा मैं कहता हूं ।

आगम का अर्थ है—आज्ञा अथवा चिंतन ।

प्रस्तुत आलापक में मुनि के चार विशेषण हैं । वही मुनि प्रब्रज्या में विहरण कर सकता है जो पंडित—तत्त्ववेत्ता होता है, जो मेधावी—धारण करने में समर्थ अथवा मर्यादाशील होता है, जो निष्ठितार्थ—विषयसुखों के प्रति अनाकांक्षी अथवा मोक्षार्थी होता है, जो वीर—पराक्रमी अथवा सहिष्णु होता है ।

### पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

६६. से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा, गामेसु वा गामंतरेसु वा, नगरेसु वा नगरंतरेसु वा, जणवएसु वा जणवयंतरेसु वा, संतेगइया जणा लूसगा भवन्ति, अद्रुवा—फासा फुसंति ते फासे, पुट्टो वीरोहियासए ।

सं०—अथ गृहेषु वा गृहान्तरेषु वा, ग्रामेषु वा ग्रामान्तरेषु वा, नगरेषु वा नगरान्तरेषु वा, जनपदेषु वा जनपदान्तरेषु वा सन्त्येकके जनाः लूषकाः भवन्ति । अथवा—स्पर्शाः स्पृशन्ति तान् स्पर्शान् स्पृष्टः वीरोऽधिसहेत ।

गृहों में, गृहांतरो में, ग्रामों में, ग्रामांतरो में, नगरों में, नगरांतरो में, जनपदों में, जनपदांतरो में मुनि को कुछ लोग अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्ग देते हैं अथवा विविध स्पर्श—परीषह प्राप्त होते हैं । उनसे स्पृष्ट होने पर वीर मुनि उन सबको सहन करे ।

भाष्यम् ९९—तितिक्षा मुनिजीवनस्य परमो धर्मो वर्तते । अत एव पुनः पुनरुच्यते—मुनिर्वीरो भवति । न तु पराक्रमहीनः मुनित्वभाराधयितुमर्हति । स गृहादिषु स्थानेषु आसीनः, कायोत्सर्गमुद्रायां स्थितः, अध्वप्रतिपन्नो वा कैश्चिल्लूषकैः<sup>३</sup>—उपद्रवकारिभिः उपद्रुतो भवति । अनुलोमोपसर्गकारिणः संयमलूषका भवन्ति । प्रतिलोमोपसर्गकारिणः शरीरलूषका भवन्ति अथवा स्पर्शाः—शीतोष्णदंशमशकादिपरोषहाः, तैः स्पृष्टस्तान् अधिसहेत ।

मुनि जीवन का परम धर्म है—तितिक्षा । इसीलिए बार-बार कहा जाता है कि मुनि वीर होता है । पराक्रमहीन व्यक्ति मुनित्व की आराधना नहीं कर सकता । गृह आदि स्थानों में रहा हुआ, कायोत्सर्ग-मुद्रा में स्थित अथवा परिब्रजन करता हुआ वह मुनि कुछ उपद्रवकारी लोगों से उपद्रुत होता है । वे उसे अनुकूल या प्रतिकूल उपसर्गों से पीड़ित करते हैं । अनुलोम या अनुकूल उपसर्ग करने वाले संयम को लूटने वाले होते हैं और प्रतिलोम या प्रतिकूल उपसर्ग करने वाले शरीर को लूटने वाले होते हैं । अथवा स्पर्श का अर्थ है—सर्दों, गर्मी, दंशमशक आदि के परीषह । उनसे स्पृष्ट होने पर वीर मुनि उन सबको सहन करे ।

### १००. ओए समियदंसणे ।

सं०—ओजः सम्यक्दर्शनः ।

पक्षपात-रहित और सम्यग्-दर्शनी मुनि धर्म की व्याख्या करे ।

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३४ : आगममाणो—  
चित्तेमाणो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३० : आगमेन—सर्वज्ञप्रणीतो-  
पदेशानुसारेण ।

२. (क) आचारांग वृत्ति, पत्र २३० : निष्ठितार्थः विषय-  
सुखनिष्पयासः ।

(ख) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३४ : णिट्ठं जेतीणि जेट्ठितं,  
जं णित्तं—मोक्खो हि, उत्तमो अत्थो उत्तमत्थो ।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३५-२३६ : लूसंतीति लूसगा,  
सरीरलूसगा संजमलूसगा वा पडिलोमा, अणुलोमा तु  
एगंतेण संजमलूसगा ।

भाष्यम् १००—ओजः<sup>१</sup>—एकः रागदोषरहितः मध्यस्थ इति यावत् । उक्तञ्च निशीथचूर्णा—रामबोसविरहितो दोषो विमज्जो वट्टमाणो तुलासमो ओयो मण्णति ।<sup>२</sup>

ओज का अर्थ है—अकेला, राग-द्वेष शून्य, मध्यस्थ । निशीथ-चूर्ण में कहा है—जो राग-द्वेष से रहित है तथा दो के बीच रहता हुआ तुला के समान मध्यस्थ होता है, वह ओज कहलाता है ।

१०१. दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाह्णिणं उदीणं, आइक्खे विभए किट्ठे वेयवी ।

सं०—दयां लोकस्य ज्ञात्वा प्राचीनं प्रतीचीनं दक्षिणमुदीचीनं आचक्षीत विभजेत् कीर्तयेत् वेदविद् ।

आगमज्ञ मुनि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण ओर उत्तर—सभी दिशाओं और विदिशाओं में जीव-लोक की दया को ध्यान में रखकर धर्म की व्याख्या, उसके विभाग का निरूपण और उसके परिणाम का प्रतिपादन करे ।

भाष्यम् १०१—धर्मं कः प्रतिपादयेत् इति पूर्वसूत्रे उक्तम् । अत्रोच्यते—यथा अहिंसायाः विकासः स्यात् तथा धर्मं प्रतिपादयेत् । लोकः—षड्जीविकायलोकः । धर्मकथी वेदविद् मुनिः सर्वासु दिक्षु जीवलोकस्य दयां—अहिंसा<sup>३</sup> ज्ञात्वा धर्मं आचक्षीत । वेदः—आगमः शास्त्रं वा । वेदविद्—आगमज्ञः ।

धर्म का प्रतिपादन कौन करे—यह पूर्व सूत्र में कहा जा चुका है । प्रस्तुत आलापक में कहते हैं कि जैसे अहिंसा का विकास हो वैसे धर्म का प्रतिपादन करे । यहां लोक का अर्थ है—षड् जीविकायलोक । धर्मकथी आगमज्ञ मुनि सभी दिशाओं में जीवलोक की दया—अहिंसा को ध्यान में रख कर धर्म की व्याख्या करे । वेद का अर्थ है—आगम अथवा शास्त्र । जो आगमज्ञ है वह वेदविद् है ।

अत्र त्रीणि क्रियापदानि विद्यन्ते—

प्रस्तुत आलापक में तीन क्रियापद हैं—

तत्र 'आइक्खे' इति पदेन सामान्यनिरूपणं विवक्षितम् ।

१. आइक्खे—इससे सामान्य निरूपण विवक्षित है ।

'विभए' इति पदेन विभज्यवादं प्रयुञ्जीत इति सूचितम् । यथा च सूत्रकृताङ्गे—विभज्जवायं च विभाग-रेज्जा ।<sup>४</sup>

२. विभये—इससे यह सूचित किया गया है कि धर्म की व्याख्या करने वाला मुनि 'विभज्यवाद' की शैली का प्रयोग करे । जैसे—सूत्रकृतांग में कहा गया है 'मुनि विभज्यवाद से धर्म का कथन करे ।

'किट्ठे' इति पदेन अनुष्ठानफलस्य कीर्तनमभिप्रेतम् ।<sup>५</sup>

३. किट्ठे—इससे अनुष्ठानफल—परिणाम का कथन अभिप्रेत है ।

१०२. से उट्ठिएसु वा अणुट्ठिएसु वा सुसूसमाणेसु पवेदए—संति, विरति, उवसमं, णिव्वाणं, सोयवियं, अज्जवियं, महवियं, लाघवियं, अणइवत्तियं ।

सं०—स उत्थितेषु वा अनुत्थितेषु वा, शुश्रूषमाणेषु प्रवेदयेत्—शान्ति, विरति, उपशमं, निर्वाणं, शौचं, आज्ञं, मार्दवं, लाघवं, अनतिवृत्तिकम् ।

वह मुनि धर्म सुनने के इच्छुक मनुष्यों के बीच, फिर वे उत्थित हों या अनुत्थित, शान्ति, विरति, उपशम, निर्वाण, शौच, आज्ञं, मार्दवं, लाघव और अहिंसा का प्रतिपादन करे ।

१. 'ओज'शब्दः सकारान्तोऽपि वृश्यते । अकारान्तस्य अर्थोऽस्ति 'विषमः' आष्टे, ओजः odd, uneven । एक-संख्यापि विषमसंख्या वर्तते । तेनास्य एकसंख्यापर-कोऽर्थोऽपि नास्त्यसंगतः ।

२. निशीथ भाष्यचूर्ण, गा० ४८१८ (भाग-३) पृष्ठ ५११ ।

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २३६ : सा य दया दव्वादिमु भवति, दव्वतो छसु जीविकायेसु, लोगगहणा दव्वगहणं । एवं च यातं भवति, जति कोरति, खित्ते उ पाईणं पडीणं सव्वाहिं विसाहिं सव्वाहिं अणुदिसीहिं य पाणातिवातं

पडिसेधंति, कालतो जावज्जीवं, भावतो अरत्तो अबुट्ठो ।

४. आचारांग वृत्ति, पत्र २३२ : 'विभजेत्' इत्यभेत्त्रकालभाव-भेदेराक्षेपण्यादिकथाविशेषैर्वा प्राणातिपातमुषावादादत्तादान-मंथूनपरिग्रहरात्रीभोजनविरतिविशेषैर्वा धर्मं विभजेत्, यदि वा कोऽयं पुरुषः कं नतो देवताविशेषं अभिगृहीतो-ऽनभिगृहीतो वा ? एवं विभजेत् ।

५. इष्टव्यम्—सूयगडो १।१४।२२ श्लोकस्य टिप्पणम् ।

६. आचारांग वृत्ति, पत्र २३२ : कीर्तयेद् व्रतानुष्ठानफलम् ।



भाष्यम् १०२—केषु कीदृशं धर्मं प्रतिपादयेत् इत्युच्यते सूत्रकारेण। ये धर्मं शुश्रूषवः सन्ति ते धर्माचरणं प्रति उत्थिता भवेयुः अनुत्थिता वा, तेषु धर्मकथी धर्मं प्रवेदयेत्।

इदानीं धर्मस्य स्वरूपमुच्यते—शान्तिः—अहिंसा<sup>१</sup>, विरतिः—आस्रवाद् विरमणम्<sup>२</sup>, उपशमः—क्रोधादीनामुपशमनम्<sup>३</sup>, निर्वाणम्—सहज आनन्दः चित्तस्य स्थैर्यं वा<sup>४</sup>, शौचम्—अलोभः<sup>५</sup>, आर्जवम्—अमाया<sup>६</sup>, मार्दवम्—अहङ्कारविवेकः<sup>७</sup>, लाघवम्—वस्त्राद्युपकरणानामल्पता<sup>८</sup>, अनतिवृत्तिकम्—ज्ञानादीनां अनतिक्रमणं अहिंसा वा।

मुनि किन व्यक्तियों में किस प्रकार के धर्म का प्रतिपादन करे, यह सूत्रकार बता रहे हैं। जो पुष्प धर्म सुनने के इच्छुक हैं, वे धर्म के आचरण के प्रति उत्थित हों या अनुत्थित, उनको धर्मकथी धर्म बताए।

अब धर्म का स्वरूप बताया जा रहा है— शान्ति—अहिंसा, विरति—आस्रवों से विरमण, उपशम—क्रोध आदि कषायों का उपशमन, निर्वाण—सहज आनन्द अथवा चित्त की स्थिरता, शौच—अलोभ, आर्जव—अमाया, मार्दव—अहंकार-विवेक, लाघव—वस्त्र आदि उपकरणों की अल्पता, अनतिवृत्तिक—ज्ञान आदि का अनतिक्रमण अथवा अहिंसा—यह धर्म का स्वरूप है।

१०३. सर्वेषां प्राणानां सर्वेषां भूतानां सर्वेषां जीवानां सर्वेषां सत्त्वानां अनुवीचि भिक्षुः धर्ममाचक्षीत।

सं०—सर्वेषां प्राणानां सर्वेषां भूतानां सर्वेषां जीवानां सर्वेषां सत्त्वानां अनुवीचि भिक्षुः धर्ममाचक्षीत।

भिक्षु सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के सामने विवेकपूर्वक धर्म की व्याख्या करे।

भाष्यम् १०३—धर्मकथी भिक्षुः सर्वेषां प्राणादीनां अनुवीचि धर्मं आचक्षीत।

अनुवीचि—विवेकपूर्वकं चिन्तनपूर्वकं वा।

धर्मकथा करने वाला भिक्षु सभी प्राणियों के लिए अनुवीचि-विवेकपूर्वक धर्म की व्याख्या करे।

अनुवीचि का अर्थ है—विवेकपूर्वक अथवा चिन्तनपूर्वक।

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३७ : समणं संति, जं भणितं—अहिंसा, लोभेवि वत्तारो भवति—संतिकम्मं कीरंतु, यदुक्तं भवति—आरोगं अट्ठाबाहं।

२. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३७ : विरतिगहणा सेसाणि वयाणि गहियाणि।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३२-३३ : अनेन च सृषा-वादादिशेषव्रतसंग्रहः।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३७ : उवसमगहणा उत्तरगुणाण गहणं, तं जहा—कोहोवसमं लोभोवसमं, अणुवसंतकसायाणं च पट्ठयराइसमाणेषां इहलोगपरलोगदोसे कधेति, इहलोणे इज्झइ तिव्वकसाओ परलोगे णरगादि विभासा।

४. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३७ : णिव्वुत्ति णिवाणं, तं च उवसमा भवति, इह परत्थ य, इह सीतिभूतो परिनिव्वुडोव्व, तथा 'तणसंथारणिवणो परलोगे वि मोक्खो, तं जहा—कंमविवेगो असरीरया य।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३२ : निवृत्तिः निर्वाणं मूल-गुणोत्तरगुणयोरेहिकामुष्मिकफलभूतम्।

(ग) देखें—उत्तरज्जयणाणि, ३।१२ का टिप्पण।

५. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३७ : सोयवितं सोयं, दव्वे भावे य, दव्वे पडादीणं भावे अलुद्धता, लोभेवि वत्तारो भवति—सुत्तिउ सो, णवि सो उक्कोडं लंचं वा गिण्हेति।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३२ : शौचं सर्वोपाधिमुच्चित्तं निर्वाच्यव्रतधारणम्।

६. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३७ : आज्जवा जातं अज्जवितं—अमाता।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३२ : आर्जवं मायावक्रता-परित्यागात्।

७. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३७ : महवाज्जातं महवितं।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३२ : मार्दवं मानस्तब्धता-परित्यागात्।

८. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३७ : लाघवाज्जातं लाघ-वितं, जं भणितं—अकोहत्तं।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३२ : लाघवं सबाह्याभ्यन्तर-ग्रन्थपरित्यागात्।

९. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २३८ : अणतिवातियं नाणा-दीणि जहा ण अतिवयति तथा कहेति, अहवा अति-पतणं अतिपातो, किं अतिवातेति?, आयु सरीरं इंदियं बलं पाणातिवातो, ण अतिवातेति अणति-वातियं।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३२ : अनतिपत्य यथावस्थितं वस्त्रागमाभिहितं तथाऽनतिक्रम्येत्यर्थः।

१०४. अणुवीचि भिक्षुं धम्ममाइव्वमाणे—णो अत्ताणं आसाएज्जा, णो परं आसाएज्जा, णो अण्णाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाएज्जा ।

सं०—अनुवीचि भिक्षुः धर्ममाचक्षणः नो आत्मानं आशातयेत्, नो परं आशातयेत्, नो अन्यान् प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् आशातयेत् ।

विवेकपूर्वक धर्म की व्याख्या करता हुआ भिक्षु न अपने-आपको बाधा पहुंचाए, न दूसरे को बाधा पहुंचाए और न अन्य प्राणी, मृत, जीव और सत्त्वों को बाधा पहुंचाए ।

भाष्यम् १०४—अनुवीचि धर्म आचक्षणः भिक्षुः आत्मनः परस्य सर्वेषां च प्राणादीनां आशातनया मुक्तो भवति । आशातना—बाधा परिहानिर्वा । द्रव्यतः शरीरोपकरणादीनां अन्नपानादीनां च आशातना भवति, भावतश्च ज्ञानदर्शनचारित्र्यतपोविनयादीनामाशातना भवति ।

भोजनवेलातिक्रम्य धर्मकथाकरणेन आहाराद्या-शातना—आहारस्य अनुपलब्धिः अपर्याप्तोपलब्धिर्वा भवति । पुरुषविवेकमकृत्वा धर्मकथाकरणेन क्रुद्धः पुरुषः शरीरस्य उपकरणादीनां व्याघातं आहारस्य च प्रतिषेधं कुर्यात् ।

तथा धर्मो न कथयितव्यः येन आत्मनः परस्य भिक्षोर्वा सूत्रार्थतदुभयानां हानिर्भवति । न च तादृशीं स्त्रीपुरुषयोर्वा धर्मकथां कथयेत् यतश्चारित्रहानिः स्यात् । उक्त्वा आत्मनः आशातना ।

इदानीं 'णो परं आसाएज्जा' इति प्रसज्यते । धर्म-कथी भिक्षुः अन्यं धर्मकथिनं भिक्षुं न निन्देत्, यथा—स वराकः धर्ममेव न जानाति किं धर्मकथां करिष्यति ? यथाहं स्वसमयपरसमयविज्ञः न तथा सः । न च वादमारोप्य परः आक्षेप्तव्यः, न च धर्मकथायां जातिकुलादीनां सद्भावं कथयित्वा परः अवज्ञातव्यः । उक्त्वा पराशातना ।

इदानीं प्राणादीनामाशातना उच्यते—वर्षासु स्थितः स्थितस्य वा जनस्य धर्मकथां न कुर्यात्, यतः अप्कायिकानां जीवानां आशातना भवति । धर्मकथायां

विवेकपूर्वक धर्म की व्याख्या करता हुआ भिक्षु अपनी, दूसरों की तथा सभी प्राणियों की आशातना से मुक्त हो जाता है । आशातना का अर्थ है—बाधा अथवा परिहानि । वह दो प्रकार की है—द्रव्य आशातना और भाव आशातना । द्रव्य आशातना शरीर, उपकरण आदि की तथा अन्न-पान आदि की होती है । भाव आशातना ज्ञान, दर्शन, चरित्र, तप, विनय आदि की होती है ।

भोजन-वेला का अतिक्रमण कर धर्मकथा करने से आहार आदि की आशातना होती है—आहार की अनुपलब्धि अथवा अपर्याप्त उपलब्धि होती है । पुरुष का विवेक किए बिना धर्मकथा करने से सुनने वाला व्यक्ति क्रुद्ध हो सकता है । वह पुरुष शरीर और उपकरणों आदि का व्याघात और आहार का प्रतिषेध कर सकता है ।

धर्म का प्रतिपादन वैसे नहीं करना चाहिए जिससे स्वयं के तथा दूसरे भिक्षु के सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ की हानि होती हो । अथवा स्त्री-पुरुष की वैसी धर्मकथा नहीं कहनी चाहिए जिससे सुनने वाले के चारित्र्य की हानि हो । यह स्वयं की आशातना कही गई है ।

अब 'दूसरे की आशातना न करे'—इसका प्रसंग है । धर्मकथी भिक्षु दूसरे धर्मकथी भिक्षु की निंदा न करे, जैसे—वह बेचारा धर्म को ही नहीं जानता, फिर क्या धर्मकथा करेगा ? जैसा मैं स्वमत और परमत का ज्ञाता हूँ, वैसा वह नहीं है । वाद आरोपित कर दूसरे पर आक्षेप न करे । धर्मकथा करते समय जाति, कुल आदि का सद्भाव बतला कर दूसरे की अवज्ञा न करे । यह पर की आशातना कही गई है ।

अब प्राण, भूत आदि की आशातना बतलाई जा रही है—स्वयं वर्षा में बैठकर अथवा वर्षा में बैठे हुए लोगों में धर्मकथा न करे, क्योंकि इससे अप्कायिक जीवों की आशातना होती है । धर्मकथा के

१. (क) आचारंग चूर्णि, पृष्ठ २३९ : णो परं आसाएज्जा, धम्मं कहेतो अणुधम्मकाही निदति, सो वरातो धम्मं चेव न जानति तो किं कहेहिति ? णवि सो जहा अहं ससमयपरसमयविद्याणओ, ण य वादं कहेति ।

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र २३३ : तथा नो परं शुश्रूषुं आशातयेद्—हीलयेद्, यतः परो हीलनया कुपितः

सत्ताहारोपकरणशरीरान्यतरपीडायं प्रवर्त्ततेति, अतस्तदाशातनां वज्जंयन् धम्मं ब्रूयादिति ।

२. आचारंग चूर्णि, पृष्ठ २३९ : पुढविमाविसु वा कायेसु ठितो ठियस्स वा कहेति, धूमिताए भिण्णवासे वा पडंते पाणाइं भूयाइं सत्ताइं आसादेति, अत एवं भण्णत्ति—णो पाणाइं णो भूयाइं णो जीवाइं णो सत्ताइं आसादिज्ज ।

हिंसाहेतुभूतानां दानादिप्रवृत्तीनां प्रशंसां निषेधं वा न कुर्यात् । अत्र वचनद्वयेऽपि अन्येषां प्राणादीनां आशातना भवति ।'

प्रसंग में हिंसा के हेतुभूत दान आदि प्रवृत्तियों की न प्रशंसा करे और न निषेध करे । ऐसे प्रसंग में प्रशंसा या निषेध—इन दोनों वचनों से भी दूसरे प्राण, भूत आदि की आशातना होती है ।

१०५. से अणासादए अणासादमाणे बुज्जमाणणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं, जहा से दीवे असंदीणे, एवं से भवइ सरणं महामुणी ।

सं० - स अनाशातकः अनाशातयन् उह्यमानानां प्राणानां भूतानां जीवानां सत्त्वानां, यथा स द्वीपः असन्दीनः, एवं स भवति शरणं महामुनिः ।

दूसरों को बाधा न पहुंचाने वाला वह भिक्षु जीवों की हिंसा का निमित्त बने, ऐसा उपदेश न दे । वह महामुनि संसार-प्रवाह में डूबते हुए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के लिए वैसे ही शरण होता है जैसे असन्दीन द्वीप ।

भाव्यम् १०५—स अनाशातकः धर्मकथी' भिक्षुः तथा धर्मं न कथयति यथा प्राणादीनां आशातना भवति, तेन स अनाशातयन् इति उच्यते । चूर्णो अनासादयन् इति वैकल्पिकः अर्थः कृतोऽस्ति— 'अहवा धम्मं कहेंतो ण किंचि असादए अन्नं पाणं वा, जं भणितं— तवट्टा ण कहेति ।'

आशातना—दूसरों को बाधा न पहुंचाने वाला वह धर्मकथी भिक्षु धर्म का प्रतिपादन उस प्रकार से नहीं करता, जिससे किसी प्राण, भूत आदि की आशातना होती है । इसीलिए उसे 'आशातना नहीं करता हुआ' कहा जाता है । चूर्ण में 'अनासादयन्' यह वैकल्पिक अर्थ किया है—अथवा मुनि धर्म कहता हुआ अन्न-पान आदि कुछ भी प्राप्त न करे । कहा है—मुनि अन्न, पान के लिए धर्मकथा नहीं करता ।

वैसा महामुनि संसार-समुद्र में बहे जाते हुए प्राणियों का वैसे ही शरणभूत होता है जैसे समुद्र में बहे जाते हुए मनुष्यों के लिए असन्दीन द्वीप । असन्दीन द्वीप की व्याख्या पहले की जा चुकी है ।

तादृशो महामुनिः\* संसारसमुद्रे उह्यमानानां प्राणादीनां तथा शरणं भवति यथा समुद्रे उह्यमानानां मनुष्याणां असन्दीनः द्वीपः ।\* असन्दीनः द्वीपः\* इति पूर्व व्याख्यातम् ।

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २३९-२४० : सो एवं अणासातए—अणासायमाणे किंचि जति लोइया कुप्पावणिया वा दाणधम्मं कूवतलागादीणि वा पसंसति तो पाणभूतजीवसत्ता आसादिता भवंति, अह भणति—दाणे विज्जंते कूवतलाएहि वा खणंतेहि ख्वकाया वहिज्जंति तेण अप्पणिग्गहो सेयो, अतो अंतराअदोसासायणा तज्जीवणाइ य पाणिभूत-जीवसत्ताणि आसादियाणि भवंति, भणियं च—'जे य दाणं पसंसति, वहमिच्छंति पाणिणं' तेण जह उभयमवि ण विरज्जति तथा कहियद्वं ।

आलापकों (१००-१०५) में पांच अहंताएं प्रतिपादित हैं—१. पक्षपात-शून्यता । २. सम्यग्दर्शन । ३. सर्वजीव-मैत्री । ४. आगमज्जता । ५. अनाशातना ।

नागार्जुनीय वाचना के अनुसार जो मुनि बहुभूत, बहु आगमों का अध्येता, दृष्टांत और हेतु के प्रयोगों में कुशल, धर्मकथा की योग्यता से सम्पन्न, क्षेत्र, काल और पुरुष को समझने वाला होता है, वही धर्म की व्याख्या करने के लिए अर्ह होता है । इस प्रसंग में 'केऽयं पुरिसे कं च णये' (२।१७७) यह सूत्र द्रष्टव्य है । अन्न, पान आदि के लिए धर्मकथा करना निषिद्ध है ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३३ : यदि लौकिककुप्रावचनिकपाशर्वस्थादिदानानि प्रशंसति अवटतटागादीनि वा ततः पृथिवीकायादयो व्यापारिता भवेयुः, अथ दूषयति ततोऽपरेषां अन्तरायापादनेन तत्कृतो बन्ध-विपाकानुभवः स्यात्, उक्तं च—

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४० ।

४. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४० : तथा मुणित्ति तित्थयरगण-धरो वा अणतरो वा साहू कम्मबललद्धिसंपत्तो ।

५. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४० : बुज्जमाणणं पाणाणं वहिज्ज-माणणं वा संसारसमुद्वंतेण पाणाणं सरणं गई पइट्टा भवति जहा से दीवे असंदीणे, जहा सो दक्खदीवो आसासपगासदीवो ताणं सरणं गई पइट्टा भवति एवं सोऽपि अप्पणो परस्स तदुभयस्स आसासदीवो भवति पगासदीवो य, जहुदिद्वेणे क्हाविहाणेणं कहेंतो केति पव्वावेति केति सावते करेति, तहेति अहाभए करेति, आगाढमिच्छाविट्ठीवि मजईभवति ।

'जे उ दाणं पसंसति, वहमिच्छंति पाणिणं ।

जे उ णं पडिसेहंति, वित्तिच्छेअं करिंति ते ॥'

तस्मात्तद्दानावटतडागादिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथावस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपयेत् सावथानुष्ठानं चेति ।

२. धर्म के व्याख्याकार की कुछ अहंताएं हैं । वे अहिंसा और सत्य की कसौटी के आधार पर निर्धारित हैं । प्रस्तुत

६. द्रष्टव्यं—अस्यैव अध्ययनस्य ७२ सूत्रम् ।

१०६. एवं से उट्टिए ठियप्पा, अणिहे अचले चले, अबहिलेस्से परिव्वए ।

सं० — एवं स उत्थितः स्थितात्मा अनिहतः अचलः चलः अबहिल्लेश्यः परिव्रजेत् ।

इस प्रकार उत्थित, स्थितात्मा, राग-द्वेष से अपराजित, परीषह से अप्रकम्पित, कर्म-समूह को प्रकम्पित करने वाला और अभ्यवसाय को संयम में लीन रखने वाला मुनि अप्रतिबद्ध होकर परिव्रजन करे ।

भाष्यम् १०६—एवं स धर्मकथामर्मज्ञो मुनिः कथं परिव्रजेत् इति दर्शयति सूत्रकारः । स उत्थितः—संयमं प्रति सततं जागरूकः, स्थितात्मा<sup>१</sup>—स्वरूपानुसन्धाने क्षायोपशमिके भावे वा यस्य आत्मा स्थितो भवति सः, अनिहतः—रागद्वेषाभ्यामपराजितः<sup>२</sup>, अचलः—परीषहोपसर्गोपप्रकम्पकः<sup>३</sup>, चलः—बद्धकर्मणा उदीरणाकारी<sup>४</sup>, अबहिल्लेश्यः—संयमे आत्मनि वा रममाणः<sup>५</sup>—एतादृशो मुनिः समतया परिव्रजनं करोति ।<sup>६</sup>

इस प्रकार धर्मकथा-भर्मज्ञ वह मुनि कैसे परिव्रजन करे, इसका निर्देश कर रहे हैं सूत्रकार । वह मुनि उत्थित—संयम के प्रति सतत जागरूक, स्थितात्मा—अपने स्वरूप का अनुसंधान करने में संलग्न अथवा क्षायोपशमिक भाव में आत्मस्थिति बनाए रखनेवाला, राग-द्वेष से अपराजित, परीषहों और उपसर्गों से अप्रकम्प, बद्धकर्मों की उदीरणा करने में तत्पर तथा संयम में अथवा आत्मा में सदा रमण करने वाला होता है । ऐसा मुनि समता से परिव्रजन करता है ।

१०७. संख्याय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिणिव्वुडे ।

सं० — संख्याय पेशलं धर्मं दृष्टिमान् परिनिर्वृतः ।

दृष्टिमान् मुनि उत्तम धर्म को जान कर परिनिर्वृत—शांतचित्त हो जाता है ।

भाष्यम् १०७—दृष्टिमान् मुनिः परिनिर्वृतः—शान्तचित्तः<sup>१</sup> भवति । शान्तेः साधनमस्ति धर्मः, अत एव उक्तम्—स पेशलं धर्मं संख्याय परिनिर्वाणमाप्नोति । अत्र शान्तिप्राप्तेः साधनद्वयं प्रतिपादितम्—सम्यग्दर्शनं, पेशलस्य—कषायोपशामकस्य<sup>२</sup> धर्मस्य परिज्ञानं च ।

दृष्टिमान् मुनि परिनिर्वृत—शांतचित्त होता है । शांति का साधन है धर्म । इसीलिए कहा है—वह मुनि पेशल धर्म को जान कर परिनिर्वाण (शांति) को प्राप्त हो जाता है । यहां शांति की प्राप्ति के दो साधन प्रतिपादित हैं—सम्यग्दर्शन तथा पेशल—कषायों का उपशमन करने वाले धर्म का परिज्ञान ।

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २४० : नाणादिपंधएठितो जस्स अप्पा स भवति उट्टिते उट्टितप्पा ।

२. (क) द्रष्टव्यम्—आयारो, ४।३२ सूत्रम् ।

(ख) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २४० : अणिहेति ण णिहेति तत्रोच्चिरियं ण णिहंति ।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २४० : नाणादिपंधए ठितो मेरुव वादेण ण कं पिज्जति परीसहोवसग्गोहि अतो अचले ।

४. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २४१ : चलति चालयति वा चलो, जीवायो व अट्टविहं कम्मसंघातं चालेतीति चलो, चालितेति वा उदीरितेति वा एगट्टा ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३३ : तथा चलः अनियत-विहारित्वात् ।

५. आचारांग चूर्णि, २४१ : दव्वलेसा सिलेसावि, भावे परिणामो, संजमनिग्गतभावो बहिलेस्सो भवति, अबहिलेस्सो ण बहिलेसो, अहवा अप्पस्तथाओ लेस्साओ संजमस्स

बाहि वहंतोतिकाउं सो बहिलिस्सो भवति, नो बहिलेस्सो अबहिलिस्सो अणुलोमेहि पडिलोमेहि उवसग्गोहि उप्पण्णोहि अबहिलिस्सो अणाइलभावो अणिग्गयभावो सचित्तो अबहिलिस्सोति एगट्टा ।

६. वही, पृष्ठ २४१ : जेऽवि ते गामाणुगामं दूइज्जंतेण आयरिया अणारिया वा धम्मं गाहिता तेहि वंदिज्जमाणो पूइज्जमाणो य आढायमानो अणाढाइज्जमाणो वा तत्थ अबहिलिस्से चैव परिववतिज्ज, समता वते परिववते, यदुक्तं भवति—ण कत्थति पडिबज्जमाणो ।

७. वही, पृष्ठ २४१ : दव्वणिव्वुडो अग्गी सीतीभूतो, रागा-उवसमाओ य णिव्वुडगा य भवंति, भावे अकसाओ सीती-भूतो परिणिव्वुडो य, तंणिग्गओ, परमो वा तणुयकसाओ वा असंजमविज्जयओ वा णिव्वुत्तो, परिणिव्वायमाणे वा परिणिव्वत्तेति वुच्चति ।

८. वही, पृष्ठ २४१ : पीति उप्पाएतीति पेसलो ।

अ० ६. धृत, उ० ५. सूत्र १०६-११०

१०८. तम्हा संगं ति पासह ।

सं०—तस्मात् सङ्ग इति पश्यत ।

इसलिए तुम आसक्ति को देखो ।

भाष्यम् १०८—पेशलधर्मपरिज्ञानात् सम्यग्दर्शनाच्च शांतिर्भवति, तस्मात् शब्दादयः इन्द्रियविषयाः संग इति पश्यत । सङ्गः—आसक्तिः<sup>१</sup> शान्तेर्विघ्न इति यावत् । चूर्णौ—संगोति वा विघ्नोति वा वक्खोड्ढि वा एगट्ठा ।<sup>१</sup>

पेशल धर्म के परिज्ञान से तथा सम्यग्दर्शन से शांति होती है, इसलिए शब्द आदि इन्द्रिय-विषय संग हैं, यह तुम देखो । संग का अर्थ है—आसक्ति, शांति का विघ्न । चूर्ण में संग, विघ्न तथा विक्षेप को एकार्थक माना है ।

१०९. गर्थेहि गडिया णरा, विसण्णा कामविप्पिया ।

सं०—ग्रन्थैः ग्रथिताः नराः विषण्णाः काम 'विप्पिया' ।

स्वजन आदि में आसक्त और विषयों में निमग्न मनुष्य काम से बाधित होते हैं ।

भाष्यम् १०९—ये नरा ग्रन्थैः—स्वजनादिभिः ग्रथिताः—बद्धाः, विषण्णाः—इन्द्रियविषयेषु च निमग्नास्ते मदनात्मकैः कामैः 'विप्पिया'<sup>२</sup>—बाधिताः भवन्ति ।

जो मनुष्य ग्रन्थ—स्वजन आदि से बंधे हुए हैं और इन्द्रिय-विषयों में निमग्न हैं वे मदनकाम से बाधित होते हैं ।

इच्छाकामः पदार्थजातं निमित्तीकृत्य प्रवर्द्धते । मदन-कामस्य उद्दीपने निमित्तां भजति स्वजनादीनां संसर्गः इन्द्रियविषयाणां अतृप्तिश्च ।

इच्छाकाम पदार्थ समूह का निमित्त पाकर बढ़ता है । मदन-काम के उद्दीपन में मुख्यतः दो निमित्त बनते हैं—स्वजन आदि का संसर्ग और इन्द्रिय-विषयों की अतृप्ति ।

११०. तम्हा लूहाओ णो परिवित्तसेज्जा ।

सं०—तस्मात् रूक्षात् नो परिवित्रसेत् ।

इसलिए मुनि संयम से उद्विग्न न हो ।

भाष्यम् ११०—यस्मात् ग्रथिता विषण्णाश्च नराः कामजनितामशान्तिमनुभवन्ति तस्मात् रूक्षात् न परिवित्रसेत्—उद्विजेत । रूक्षम्—संयमः ।<sup>३</sup>

ग्रथित—स्वजन आदि से बद्ध तथा विषण्ण—विषयों में निमग्न मनुष्य कामजनित अशांति का अनुभव करते हैं, इसलिए मुनि संयम से उद्विग्न न हो । रूक्ष का अर्थ है—संयम ।

१. 'संग' शब्द के तीन अर्थ किए जा सकते हैं—आसक्ति, शब्द आदि इन्द्रियविषय और विघ्न ।

आसक्ति को छोड़ने का उपाय है—आसक्ति को देखना । जो आसक्ति को नहीं देखता, वह उसे छोड़ नहीं पाता । भगवान् महावीर की साधना-पद्धति में जानना और देखना अप्रमाद है, जागरूकता है; इसलिए वह परित्याग का महत्त्वपूर्ण उपाय है । जैसे-जैसे जानना और देखना पुष्ट होता है, वैसे-वैसे कर्म-संस्कार क्षीण होता है । उसके क्षीण होने पर आसक्ति अपने आप क्षीण हो जाती है ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४१ ।

३. एतद् देशीपदं संभाव्यते । चूर्णौ अस्य व्याख्यानं

एवमस्ति—विघ्नोति विप्पितति वा एगट्ठा, दग्धे खंभादिविप्पिता दुरुद्धरा भवन्ति, भावे बुविहकाम आसत्तचित्ता, सयणघणादिणा मुच्छिता वा कामा, जेहिं वा सारीरमाणसेहिं वा दुक्खादी, माणसेहिं इह विप्पिता परलोएवि बहूहिं उड्ढणेहि य जाव पियविप्प-ओणेहि य विप्पिज्जिस्सन्ति । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४२)

वृत्तौ 'कामक्कंता' इति व्याख्यातमस्ति—कामैः—इच्छामदनरूपैराकान्ताः—अवष्टब्धाः ।

(आचारांग वृत्ति पत्र २३३)

४. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४२ : दग्धे जं नेहविरहितं दग्धं तं लूहं, भावे रागादिरहितौ धम्मो ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३४ : रूक्षात्—संयमात् ।

१११. जस्सिमे आरंभा सव्वतो सव्वत्ताए सुपरिण्णाया भवन्ति, जेसिमे लूसिणो णो परिवित्तसन्ति, से वन्ता कोहं च माणं च मायं च लोभं च ।

सं०—यस्येमे आरंभाः सर्वतः सर्वात्मना सुपरिज्ञाता भवन्ति येषु इमे लूषिणो नो परिवित्रसन्ति, स वान्ता क्रोधं च मानं च मायां च लोभं च ।

जिन आरम्भों में ये धुतों के विराधक मनुष्य उद्विग्न नहीं होते, उनको सब प्रकार से, सर्वात्मना छोड़ देने वाला मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ का वमन कर डालता है ।

भाष्यम् १११—येषु आरम्भेषु इमे लूषिणः<sup>१</sup>—स्वजन-परित्यागादिधुतानां विराधका नरा नो परिवित्रसन्ति—उद्विजन्ते ते इमे आरम्भा यस्य सर्वतः<sup>२</sup> सर्वात्मना<sup>३</sup> सुपरिज्ञाता भवन्ति स चतुर्विधस्य क्रोधादिकषायस्य वान्ता भवति । आरम्भादिषु उद्वेगं अननुभवन्तो लूषिणो नरा क्रोधादिकं परित्यक्तुं न क्षमन्ते । आरम्भैरनुबद्धाः क्रोधादिकषायाः । कः क्रोधादिकं करोति ? योऽस्ति आरम्भनिमग्नः । कश्च क्रोधादिकं उपशमयति ? योऽस्ति आरम्भपरित्यागी ।

जिन आरम्भों में ये लूषक—स्वजन-परित्याग आदि पांच धुतों के विराधक मनुष्य उद्विग्न नहीं होते, वे ये आरंभ जिसके सब प्रकार से, सर्वात्मना सुपरिज्ञात होते हैं, वह मुनि क्रोध, मान, माया और लोभ—इस चतुर्विध कषाय का वमन कर डालता है । इन आरंभ आदि में उद्वेग का अनुभव न करने वाले लूषक—धुतविराधक मनुष्य क्रोध आदि को छोड़ने में समर्थ नहीं होते । क्रोध आदि चारों कषाय आरंभ से अनुबद्ध हैं । क्रोध आदि कौन करता है ? जो आरंभ में निमग्न होता है वही क्रोध आदि करता है । क्रोध आदि का उपशम कौन करता है ? जो आरंभ का परित्याग करता है वही क्रोध आदि का उपशम करता है ।

११२. एस तुट्टे विद्याहिते त्ति बेमि ।

सं०—एष 'तुट्टे' व्याहृतः इति ब्रवीमि ।

वह त्रोटक कहलाता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ११२—येन स्वजनादिसंबंधा विधूताः, आस्रवनिरोधः कृतः, पूर्वोपचितं च कर्म क्षपितं स एष त्रोटक इति व्याहृतः इति ब्रवीमि ।

जिस व्यक्ति ने स्वजन आदि के संबंधों को छोड़ दिया है, आस्रव का निरोध कर लिया है, पूर्व उपचित कर्मों का क्षय कर डाला है, वह त्रोटक (तोड़ने वाला) कहलाता है, ऐसा मैं कहता हूँ ।

११३. कायस्स विओवाए, एस संगामसोसे विद्याहिए । से हु पारंगमे मुणी, अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठि, कालोवणीते कलेज्ज कालं, जाव शरीरभेउ ।—त्ति बेमि ।

सं०—कायस्य व्यवपातः एष संग्रामशीर्षं व्याहृतः । स खलु पारंगमः मुनिः अपि हन्यमानः फलकावतण्ठी, कालोपनीतः कांक्षेत् कालं यावत् शरीरभेदः ।— इति ब्रवीमि ।

मृत्यु के समय होने वाला शरीर-पात संग्रामशीर्ष (अग्रिममोर्चा) कहलाता है । जो मुनि उसमें पराजित नहीं होता और परीषर्षों से आहत होने पर खिन्न नहीं होता, वह पारंगामी होता है । बाह्य और आन्तरिक तप के द्वारा फलक की भांति शरीर और कषाय—दोनों ओर से कृश बना हुआ वह मुनि खिन्न न बने । मृत्यु के निकट आने पर जब तक शरीर का वियोग न हो, तब तक काल की प्रतीक्षा करे—मृत्यु की आशांसा न करे ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ११३—जीवनस्य कषोपलोऽस्ति मृत्युः । तस्य क्षणे साधकेन शान्तचित्तेन भाव्यमिति निदिशति सूत्रकारः । एष कायस्य व्यवपातः संग्रामशीर्षं विद्यते ।

जीवन की कसौटी है—मृत्यु । उस क्षण में साधक शांतचित्त रहे, यह सूत्रकार का निर्देश है । यह शरीरपात संग्रामशीर्ष (अग्रिम मोर्चा) कहलाता है । जैसे अग्रिममोर्चे पर विजयी योद्धा अपने

१. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ २४२ : लूसतीति लूसगा, पंचगस्स वा लूसगा भंजगा विराहगा एगट्टा ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २३४ : लूषिणो लूषणशीलाः हिंसकाः ।

२. आचारांग चूणि, पृष्ठ २४२ : सव्वतो इति खित्तं गहिंथं गामे वा जाव सव्वलोए ।

३. वही, पृष्ठ २४२ : सव्वत्ता इति सव्वअपत्तेणं भावे गहिंते कालोवि तत्थेव ।

यथा संग्रामशीर्षे विजयी योद्धा इष्टं प्राप्नोति तथैव शरीरत्यागक्षणे विजयी साधकः शान्तिमधिगच्छति । स मुनिः पारंगमो भवति यः परीषहोपसर्गैः हन्यमानोऽपि न संयमाराधनतः खिद्यते निवर्तते च । स फलकावतष्टी भवति—यथा उभयतः अपकृष्यमाणं काष्ठं फलकं भवति तथा स बाह्येन आभ्यन्तरेण वा तपसा शरीरं अपकर्षति । स काले उपनीते सति कालं—पंडितमरणं काङ्क्षेत—यदा मृत्योः लक्षणानि प्रकटी-भवन्ति तदा अनशनं कृत्वा पण्डितमरणस्य काङ्क्षां कुर्यात्, शरीरभेदपर्यन्तं मध्यस्थभावेन तिष्ठेत्, न च जीवनस्य मरणस्य वा आशंसां कुर्यात् ।<sup>१</sup>

इष्ट लक्ष्य को पा लेता है, वैसे ही शरीर-त्याग करने के क्षण में विजयी साधक शांति को प्राप्त हो जाता है । जो मुनि परीषहों और उपसर्गों से प्रहत होता हुआ भी संयम की आराधना से न खिन्न होता है और न उससे निवृत्त होता है, वही मुनि पारंगामी होता है । वह फलकावतष्टी होता है, जैसे दोनों ओर से छिला जाता हुआ काष्ठ 'फलक' होता है, वैसे ही वह मुनि बाह्य अथवा आंतरिक तप के द्वारा शरीर को कृष कर देता है । वह मुनि मृत्यु का समय समीप आने पर पंडितमरण की आकांक्षा करे अर्थात् जब मृत्यु के लक्षण प्रकट हो जाते हैं तब वह अनशन कर पंडितमरण की आकांक्षा करे, शरीर का वियोग होने तक मध्यस्थभाव में रहे । वह न जीने की आशंसा करे और न मरने की आशंसा करे ।

१. मृत्यु सचमुच संग्राम है । संग्राम में पराजित होने वाला वैभव से विपन्न और विजयी होने वाला वैभव से सम्पन्न होता है । वैसे ही मृत्यु-काल में आशंसा और भय से पराजित होने वाला साधना से च्युत हो जाता है तथा अनासक्त और अभय रहने वाला साधना के शिखर पर पहुंच जाता है । इसीलिए आगमकार का निर्देश है कि

मृत्यु के उपस्थित होने पर मूढता उत्पन्न नहीं होनी चाहिए । मूढता से बचने की तैयारी जीवन के अंतिम क्षण में नहीं होती । वह पहले से ही करनी होती है । उसकी मुख्य प्रवृत्ति है—शरीर और कषाय का कृशी-करण । देखें—सूत्रकृतांग .१।७।३० ।





**सत्तमं अज्झयणं  
महापरिण्णा**

**सातवां अध्द्ययन  
महापरिज्जा**



## ज्ञप्ति:

आचारांगस्य सप्तमं अध्ययनं महापरिज्ञानामकं विद्यते । इदानीं तस्मास्ति उपलब्धम् । तस्य लोपः कथं जातः, इत्यत्र अनुमानमेव कर्तुं शक्यम् । नास्ति किञ्चित् स्पष्टं प्रमाणम् । निर्युक्तिवर्णितविषयवस्त्वाधारेण ज्ञायते तस्मिन् महती परिज्ञा निरूपिता आसीत् ।' कालान्तरे सर्वशिष्येभ्यः तस्याः प्रदानं नोचितं प्रतीतम् । तेन तस्याध्ययनस्य पाठः विस्मृतिं नीतः । इत्यपि अनुश्रुतिविद्यते—महापरिज्ञाध्ययने अनेकासां विद्यानां निरूपणमासीत् । तासां दुरुपयोगो न स्याद् इति तस्य पाठः आचार्यैः प्रतिबंधितः । कालान्तरेण तस्य विलुप्तिः जाता । वस्तुतः निर्युक्तिमतमेव वास्तविकं प्रतिभाति । आचारस्य केचिद् विषयाः बहुश्रुतैरेव अवगम्याः । तेषां ज्ञप्तिः सर्वसाधूनां कृते नोपयुक्ता इति चिन्तनपूर्वकं तस्य पठनपाठनपरंपरा अवरुद्धा समजनि ।

आचारांग के सातवें अध्ययन का नाम है 'महापरिज्ञा' । आज वह उपलब्ध नहीं है । उसका लोप कैसे हुआ, इसका अनुमान ही किया जा सकता है । इस विषय में कोई स्पष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है । निर्युक्ति में वर्णित विषय-वस्तु के आधार पर यह ज्ञात होता है कि महापरिज्ञा अध्ययन में महान् परिज्ञा का निरूपण था । कालान्तर में सभी शिष्यों को उसका ज्ञान देना उचित प्रतीत नहीं हुआ । इसलिए उस अध्ययन का पाठ विस्मृत हो गया । यह भी अनुश्रुति है कि महापरिज्ञा अध्ययन में अनेक विद्याओं का निरूपण था । उनका दुरुपयोग न हो, इसलिए आचार्यों ने उसके पाठ को प्रतिबंधित कर दिया । कालान्तर में वह विलुप्त हो गया । वस्तुतः निर्युक्ति का मत ही वास्तविक लगता है । आचार के कुछ विषय बहुश्रुत मुनियों के लिए ही जानने योग्य थे । उनकी जानकारी सभी साधुओं के लिए उपयुक्त नहीं है, इस चिन्तन के आधार पर उसके पठन-पाठन की परंपरा अवरुद्ध हो गई ।

१. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २६९ :

पाहण्णेण उ पण्यं भावपरिण्णाए तह य दुविहाए ।  
परिण्णाणेषु पहाणे महापरिण्णा ततो होइ ॥



अट्ठमं अज्झयणं  
विमोक्खो

आठवां अधययन  
विमोक्ष

[उद्देशक ८ : सूत्र १३० गाथा २५]



## आमुखम्

प्रस्तुताध्ययनस्य नामास्ति विमोक्षः । अस्मिन् संबंधादीनां शरीरस्य च विमोक्षविधिर्भणितोऽस्ति अतोऽस्य 'विमोक्ष' इति संज्ञा कृतास्ति । अस्य अष्ट उद्देशका वर्तन्ते । तेषामर्थाधिकार इत्थमस्ति—

१. असमनोजविमोक्षः ।
२. अकल्पकस्य आहारादेविमोक्षः ।
३. आशंकाविमोक्षः ।
४. उपकरणशरीरयोर्विमोक्षः अनुज्ञातमरण-विधिश्च ।
५. ग्लानत्वं भक्तपरिज्ञा च ।
६. एकत्वं इङ्गिनीमरणं च ।
७. प्रतिमाः प्रायोपगमनं च ।
८. संलेखनापूर्वकं अनशनविधिः ।<sup>१</sup>

निक्षेपावसरे भावविमोक्षो द्विविधो भवति—देश-विमोक्षः सर्वविमोक्षश्च । कर्मद्रव्यैः संयोगः सोऽस्ति बन्धः । तस्य वियोगः मोक्षः । संसारावस्थायां देश-विमोक्षो भवति मोक्षावस्थायां च सर्वविमोक्षः ।

भगवतो महावीरस्य समये धर्मसंधानां बाहुल्य-मासीत् । अनेके धर्माचार्या धार्मिकाश्च स्वं स्वं धर्मं परिपोषयन्तः परिपालयन्तश्च विहरन्ति स्म । परस्परं समागमः वार्तालापश्च मुक्त आसीत् । निर्ग्रन्थानां आचारः घोरः, बहूनां च धार्मिकानामाचारस्तदपेक्षया सुखपूर्णः आसीत् । नवप्रज्ञितानां सुखसुविधा अर्थयमाणानां च तत्र सहजमाकर्षणं भवति, नानावादानां च संघट्टे ते विप्रतिपन्ना अपि भवन्ति । एतां स्थितिं प्रत्यवेक्ष्य सूत्रकारेण असमनोजविमोक्षस्य निर्देशः कृतः । हिंसा अदत्तादानं मिथ्यावादश्च यत्र वर्तते तस्य विमोक्षः मुनिना अवश्यं कर्तव्यः ।

मिथ्यावादस्य प्रसङ्गे सूत्रकारेण अनेकेषां वादाना-मुल्लेखः कृतः । ते वादा निरपेक्षमेकान्तं प्रतिपन्ना अतस्तेषां प्रावादुकानां धर्मः न स्वाख्यातः न च सुप्रज्ञप्तो भवति ।<sup>१</sup> अनेन इति फलितं भवति—स एव धर्मः स्वाख्यातः सुप्रज्ञप्तश्च भवति यत्रास्ति सम्यग्-एकान्तः अनेकान्तो वा ।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है 'विमोक्ष' । इसमें संबंध आदि के तथा शरीर के विमोक्ष (विसर्जन) की विधि बतलाई गई है, इसलिए इस अध्ययन का नाम 'विमोक्ष' है । इसके आठ उद्देशक हैं । उनका अर्थाधिकार इस प्रकार है—

१. असमनोज—अन्यतीर्थिकों का परिहार ।
२. अकल्पनीय आहार आदि का परित्याग ।
३. आशंका का परिहार ।
४. उपकरण और शरीर का विमोक्ष तथा अनुज्ञात मरणविधि का निर्देश ।
५. ग्लानत्व और भक्तपरिज्ञा अनशन ।
६. एकत्व और इङ्गिनीमरण अनशन ।
७. प्रतिमाएं और प्रायोपगमन अनशन ।
८. संलेखनापूर्वक अनशनविधि ।

निक्षेप के प्रसंग में भावविमोक्ष के दो प्रकार हैं—देशविमोक्ष और सर्वविमोक्ष । आत्मा के साथ कर्मद्रव्यों का जो संयोग है, वह है बंध । उसका वियोग होना है मोक्ष । संसारी अवस्था में देश-विमोक्ष होता है और मोक्ष अवस्था में सर्वविमोक्ष होता है ।

भगवान् महावीर के समय में धर्मसंधों की बहुलता थी । अनेक धर्माचार्य और धार्मिक अपने-अपने धर्मों का परिपोषण और परिपालन करते हुए विहरण कर रहे थे । उनका पारस्परिक मिलन और वार्ता-लाप मुक्त था । निर्ग्रन्थों का आचार घोर था । बहुत से धार्मिकों का आचार निर्ग्रन्थों की अपेक्षा सुविधाजनक था । नवदीक्षित और सुख-सुविधा की आकांक्षा रखने वालों का उस ओर सहज आकर्षण होता है । अनेक वादों के सघन परिचय से वे व्यक्ति विप्रतिपन्न—विपरीत विचार वाले भी हो जाते हैं । इस स्थिति को देखकर सूत्रकार ने असमनोज के परिहार का निर्देश किया है । जहां हिंसा, अदत्तादान और मिथ्यावाद है, उसका परिहार मुनि को अवश्य करना चाहिए ।

मिथ्यावाद के प्रसंग में सूत्रकार ने अनेक वादों का उल्लेख किया है । वे वाद निरपेक्ष-एकान्त को स्वीकार करते हैं, इसलिए उनके प्रावादुकों—दार्शनिकों का धर्म न सु-आख्यात है और न सु-प्रज्ञप्त है । इससे यह फलित होता है—वही धर्म सु-आख्यात और सु-प्रज्ञप्त होता है जहां सम्यग्-एकान्त अथवा अनेकान्त है ।

प्रस्तुतागमे भगवतो विशेषणमस्ति आशुप्रज्ञः । सर्वज्ञ इति विशेषणमस्मिन्नोपलभ्यते । सूत्रकृतांगे आशुप्रज्ञः<sup>१</sup>, भूतिप्रज्ञः<sup>२</sup>, महाप्रज्ञ<sup>३</sup> इति विशेषणानि दृश्यन्ते, किन्तु सर्वज्ञ इति विशेषणं नैव दृश्यते । सर्वज्ञवादः जैनानां मुख्यो वादोऽस्ति । तस्य स्थापना उत्तरकाले जातेति संभाव्यते । सूत्रकृतांगे 'केवली'पदस्य प्रयोगो दृश्यते ।<sup>४</sup> तत्र अनन्तज्ञानी<sup>५</sup> अनन्तदर्शी<sup>६</sup> अनन्तचक्षुः<sup>७</sup> एतान्यपि पदानि लभ्यन्ते । एतैर्ज्ञायते सर्वज्ञत्वस्य प्रकल्पः जैनागमे प्राचीनोऽस्ति, तस्य व्यवस्थितो वाद उत्तरकाले समजायत ।

जैनानां आधुनिक्यां ज्ञानमीमांसायां अवधिजनः पर्यव-केवलज्ञानानि अतीन्द्रियाणि वर्तन्ते । 'प्रज्ञ' इति पदं अतीन्द्रियज्ञानं द्योतयति । वर्तमानज्ञानमीमांसायां अस्य नास्ति कापि चर्चा । अत एतत् कल्पयितुं शक्यं, 'आशुप्रज्ञः' सर्वज्ञस्य पूर्वावस्था, सर्वज्ञत्वस्य उत्तरकालीनो विकासः । नवमाध्ययने 'छन्नस्थ' इति पदस्य प्रयोगो दृश्यते ।<sup>८</sup> द्वादशगुणस्थानवर्ती वीतरागोपि छन्नस्थो वर्तते । छन्नस्थावस्थाया निवर्तनं त्रयोदशे गुणस्थाने जायते, अतः संभाव्यते आचारांगे सर्वज्ञत्वाभ्युपगमः स्पष्टं स्वीकृतोऽस्ति । तस्य व्याख्याविस्तरः ज्ञान-मीमांसाव्यवस्थायां सञ्जातः ।

प्रस्तुताध्ययने सचेलाचेलयोरस्ति समन्वयः साधितः । मुनयश्चतुर्विधा भवन्ति—त्रिवस्त्रधारिणः, द्विवस्त्रधारिणः, एकवस्त्रधारिणः अचेलाश्च । एते सर्वेपि जिनाज्ञायां वर्तन्ते । अत्र समत्वमनुशीलनीयम् । अयं सर्वसंग्राही दृष्टिकोणः समन्वयस्य बीजमिव आभाति ।

अस्मिन् अध्ययने समाधिमरणस्य व्यवस्थिता प्रक्रिया निर्दिशिता अस्ति । जैनसाधनापद्धतेरेषा विलक्षणा भावना वर्तते । इदानीमपि अनेके चिन्तका एनां पद्धतिमभिलषन्तीति स्पष्टं फलितं भवति यत् भगवान् महावीरः यथा जीवनकलायाः मर्मज्ञस्तथा समाधिमरणकलाया अपि मर्मज्ञ आसीत् ।

अत्यन्तगंभीरविषयाणां प्रतिपादकमिदमध्ययनं समुद्रवद् अस्थाघमनुभूयते ।

प्रस्तुत आगम में भगवान् महावीर का विशेषण है—'आशुप्रज्ञ' । 'सर्वज्ञ' यह विशेषण इसमें उपलब्ध नहीं होता । सूत्रकृतांग आगम में आशुप्रज्ञ, भूतिप्रज्ञ, महाप्रज्ञ आदि विशेष मिलते हैं, किन्तु 'सर्वज्ञ' यह विशेषण वहां प्राप्त नहीं है । जैनों का मुख्य वाद है 'सर्वज्ञवाद' । उसकी स्थापना उत्तरकाल में हुई, ऐसी संभावना की जा सकती है । सूत्रकृतांग आगम में 'केवली' पद का प्रयोग दुग्मोचर होता है । वहां अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी, अनन्तचक्षुः—ये पद भी प्राप्त होते हैं । इनसे यह ज्ञात होता है कि जैनागमों में सर्वज्ञत्व की अवधारणा प्राचीन है, पर व्यवस्थित वाद के रूप में उसकी स्थापना उत्तरकाल में हुई है ।

जैनों की आधुनिक ज्ञान-मीमांसा में अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान—ये अतीन्द्रिय ज्ञान हैं । 'प्रज्ञ'—यह पद अतीन्द्रियज्ञान का द्योतक है । आधुनिक ज्ञान-मीमांसा में इसकी कोई चर्चा नहीं है । इसलिए यह कल्पना की जा सकती है कि 'आशुप्रज्ञ'—यह सर्वज्ञ की पूर्व अवस्था है और 'सर्वज्ञ' यह उसका उत्तरकालीन विकास है । नौवें अध्ययन में 'छन्नस्थ' शब्द का प्रयोग देखा जाता है । बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतराग भी छन्नस्थ होते हैं । छन्नस्थ अवस्था का निवर्तन तेरहवें गुणस्थान में होता है, इसलिए संभव है कि आचारांग में सर्वज्ञत्व की अवधारणा स्पष्ट रूप से स्वीकृत है । उसकी व्याख्या का विस्तार ज्ञानमीमांसा की व्यवस्था के समय हुआ है ।

प्रस्तुत अध्ययन में सचेल और अचेल का समन्वय किया गया है । मुनि चार प्रकार के होते हैं—तीन वस्त्र धारक, दो वस्त्रधारक, एक वस्त्र धारक तथा अचेल—अवस्त्र । ये सभी मुनि जिनेश्वर देव की आज्ञा में हैं । इन सबको समान दृष्टि से देखना चाहिए । यह सर्वसंग्राही दृष्टिकोण समन्वय का बीज-सा प्रतीत होता है ।

इस अध्ययन में समाधिमरण की व्यवस्थित प्रक्रिया निर्दिष्ट है । यह जैन साधना-पद्धति की विलक्षण भावना है । आज भी अनेक विचारक समाधिमरण की इस पद्धति को चाहते हैं, इससे यह स्पष्ट प्रतिफलित होता है कि भगवान् महावीर जीवन-कला के जैसे मर्मज्ञ थे, वैसे ही समाधिमरण की कला के भी मर्मज्ञ थे ।

इस प्रकार अत्यंत गंभीर विषयों का प्रतिपादक यह अध्ययन समुद्र की भांति अथाह है, ऐसा अनुभव होता है ।

१. अंगसुत्ताणि १, सूयगडो, १।५।२; १।६।७, २५; १।१४।४, २२; २।५।१; २।६।१८ ।  
२. वही, १।६।६ ।  
३. वही, १।११।१३, ३८ ।  
४. वही, १।११।३८ ।

५. वही, १।६।३ ।

६. वही, १।६।३ ।

७. वही, १।६।६, २५ ।

८. आचारो, १।४।१५ ।



## अट्ठमं अज्झयणं : विमोक्खो

### आठवां अध्ययन : विमोक्ष

#### पहलो उद्देशो : पहला उद्देशक

१. से बेमि—समणुण्हस्स वा असमणुण्हस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा णो पाएज्जा, णो णिमंतेज्जा, णो कुज्जा वेयावडियं—परं आढायमाणे त्ति बेमि ।

सं०—अथ ब्रवीमि—समनुजस्य वा असमनुजस्य वा अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, वस्त्रं वा, प्रतिग्रहं वा, कंबलं वा, पादप्रोच्छनं वा नो प्रदद्यात्, नो निमन्त्रयेत्, नो कुर्यात् वैयापृत्यं—परं आद्रियमाणः इति ब्रवीमि ।

मैं कहता हूँ—भिक्षु समनुज और असमनुज मुनि को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोच्छन न दे, न उन्हें देने के लिए निमंत्रित करे, न उनके कार्यों में व्यापृत हो; यह सब अत्यन्त आदर प्रदर्शित करता हुआ करे ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १—समनुजस्य वा असमनुजस्य वा अशनादीनि न प्रदद्यात्<sup>१</sup>, नापि दानार्थं निमन्त्रयेत्, न वा वैयापृत्यं कुर्यात्, परं आद्रियमाणः<sup>२</sup> । 'एषोऽस्माकं धर्मः मर्यादा वा विद्यते, अतो युष्माभिः क्रोधः न करणीयः' इति सादरं निवेदयेत् ।

समनुजः—दृष्टिलिङ्गाभ्यां साधर्मिकः, न तु सहभोजनेन ।<sup>३</sup>

असमनुजः—अन्यतीथिकः<sup>४</sup> ।

भिक्षु समनुज अथवा असमनुज मुनि को अशन आदि न दे, न उन्हें देने के लिए निमंत्रित करे, न उनके कार्यों में व्यापृत हो । वह यह सब अत्यन्त आदर प्रदर्शित करता हुआ करे । वह उन्हें ससम्मान निवेदन करे—'यह हमारा धर्म है, मर्यादा है । इसलिए आप कुपित न हों (अन्यथा न मानें) ।'

समनुज का अर्थ है—वह मुनि जो दार्शनिक दृष्टि और देश से साधर्मिक—समान है, सह-भोजन से समनुज नहीं है ।

असमनुज का अर्थ है—अन्यतीथिक ।

१. अस्य मूलमस्ति 'पाएज्ज' । चूर्णौ भिन्नार्थौ दृश्यते—पाएज्ज तथा पादिज्ज भोइज्जा, तीयग्गहणं देसीभासाओ असितपीतं भण्णति, जहा थक्के साहेहि वा, तथा लुक्खितोऽपि वा वातो वुच्चति पुक्खदेसाणं, जं जस्स कप्पं फामुयं अफालुयं वा तं चैव पातेति भातेति, सावसेसं तेसु चैव पात्रेषु वा पक्खिवंति, एवं ताव सतमापते पावति वा भोइति वा । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४९)

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४० : परं आढायमाणा, अहवा परमिति परेणं पयत्तेणं आढायमाणा, पासं णिमंतेति वेयावडियं, जं भणितं—ण अणादरेणं, अहवा परं आढायमाणेत्ति जं वा वेति तथा तेसि हत्थाओ गिष्हेति, अतो आढिता भवति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २४० : परस्म—अत्यर्थ-मादरवान् ।

३-४. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २४९ : समणुण्हो दिट्ठीओ लिंगाओ, सह भोयणादीहि वा समणुण्हो, अन्नहा असमुण्हो सक्कादीणं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २४० : समनोत्तो दृष्टितो

लिङ्गतो, न तु भोजनादिभिः, तस्य, तद्विपरीतस्त्व-समनोत्तः शाक्यादिः ।

(ग) जिसके दर्शन, वेश और समाचारी का अनुमोदन किया जा सके, वह समनुज और जिसके दर्शन, वेश और समाचारी का अनुमोदन न किया जा सके, वह असमनुज होता है । एक जैन मुनि के लिए दूसरा जैन मुनि समनुज तथा अन्य दार्शनिक भिक्षु असमनुज होता है ।

मुनि के लिए यह कल्प निर्धारित है कि वह साधर्मिक मुनि को ही आहार दे सकता है और उससे ले सकता है, साधर्मिक पारबन्ध आदि शिथिल आचार वाला मुनि भी हो सकता है । मुनि उन्हें न आहार दे सकता है और न उनसे ले सकता है । इसलिए साधर्मिक के साथ दो विशेषण और जोड़े जाते हैं—सांभोगिक और समनुज (निसीहज्जमयणं २।४४) । कल्पमर्यादा के अनुसार जिनके साथ आहार आदि का सम्बन्ध होता है, वह सांभोगिक और जिनकी समाचारी समान होती है, वह

२. ध्रुवं चैयं जाणेज्जा—असनं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा, कंबलं वा, पायपुंछणं वा लभियणो लभिय, भुंजियणो भुंजिय, पंथं विउत्ता विउकम्म विभत्तं धम्मं सोसेमाणे ससेमाणे पलेमाणे, पाएज्ज वा, णिमंतेज्ज वा, कुज्जा वेयावडियं—परं अणाढायमाणे त्ति बेमि ।

सं०—ध्रुवं चैतत् जानीयात्—अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, वस्त्रं वा, प्रतिग्रहं वा, कंबलं वा, पादप्रोच्छनं वा लब्ध्वा नो लब्ध्वा, भुक्त्वा नो भुक्त्वा, पन्थानं विवर्त्य व्युत्क्रम्य, विभक्तं धर्मं जुषन् समायन् पर्यायन्, प्रदद्यात् वा, निमंत्रयेत् वा, कुर्यात् वेयापृत्यं—परं अनाद्वियमाणः इति ब्रवीमि ।

असमनुज भिक्षु मुनि से कहे—‘तुम निरन्तर ध्यान रखो—हमारे मठ में प्रतिदिन अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कंबल या पादप्रोच्छन उपलब्ध है। तुम्हें ये प्राप्त हों या न हों, तुम भोजन कर चुके हो या न कर चुके हो, मार्ग सीधा हो या टेढ़ा हो, तुम अपने (हम से भिन्न) धर्म का पालन करते हुए, वहां आओ और जाओ।’ इस प्रकार असमनुज भिक्षुओं के अनुरोध को मानकर मुनि के वहां जाने पर वह अशन आदि दे, निमंत्रित करे और मुनि के कार्यों में व्यापृत हो, तो उसे कुछ भी आदर न दे—उसकी उपेक्षा कर दे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् २—असमनुजाः मुनि वदन्ति—मुने ! ध्रुव-मिति नित्यं भवान् जानीयात्—अस्माकमिह अशनादि उपलब्धमस्ति । अन्यत्र भवान् लब्ध्वा अथवा अलब्ध्वा, भुक्त्वा अथवा अभुक्त्वा इहागच्छतु । अस्माकं विहारावसथः पथः किञ्चिद् दूरं वर्तते, अतः ऋजूं मार्गं त्यक्त्वा कतिचित् पदान् व्यतिक्रम्य भवान् आगच्छतु । भवतः धर्मो विभक्तोऽस्ति, नास्ति तत्र कश्चिद् बाधः । भवान् आत्मीयं धर्मं सेवमानः अस्माकं विहारावसथं आगच्छन् गच्छन् विहरतु । एवं स अन्यतीर्थिकः अशनादि प्रदद्यात् वा, तदर्थं निमन्त्रयेत् वा, कुर्याद् वा वेयापृत्यम् । परं अनाद्वियमाणः तद् वर्जयेत्—तस्य असमनुजस्य तद् न ग्रहीतव्यं, न तेन संवस्तव्यं, न च तस्य संस्तवः कार्यः ।

असमनुज (अन्यतीर्थिक) भिक्षु मुनि से कहते हैं—मुने ! तुम निरन्तर यह ध्यान रखो, हमारे यहां अशन आदि उपलब्ध होता है । अन्यत्र तुम्हें यह उपलब्ध हो अथवा न हो, तुम भोजन कर चुके हो अथवा न कर चुके हो, यहां आओ । हमारा आवास-स्थल—मठ मार्ग से कुछ दूर है । इसलिए सीधे पथ को छोड़कर, कुछ कदम चलकर तुम आ जाओ । तुम्हारा धर्म हमारे से भिन्न है, परन्तु इसमें कोई बाधा नहीं है । तुम अपने धर्म का पालन करते हुए हमारे आवास-स्थल पर आओ-जाओ । इस प्रकार कहकर वह अन्यतीर्थिक भिक्षु अशन आदि दे अथवा उसके लिए निमंत्रित करे अथवा कार्यों में व्यापृत हो तो उसको कुछ भी आदर न देते हुए उसकी उपेक्षा कर दे । उस असमनुज भिक्षु से कुछ न ले, उसके साथ न रहे और न उससे परिचय करे ।

समनुज कहलाता है । निसीहज्जयणं (१५।७६-९७) में अन्यतीर्थिक, गृहस्थ और पार्श्वस्थ आदि को अशन, वस्त्र, पात्र, कंबल, पाद-प्रोच्छन देने का प्रायश्चित्त बतलाया गया है ।

(घ) आचारांग की जोड़, ढाल ६६ : (१-१२) समनोज तथा असमनोज भणी असणादिक देणो नाहि । व्यावच तिणरी करणी नहीं, एम कह्यो सूत्र मांहि ॥ दृष्टि-लिंग करि सरिषो ते समनोज कहिवाय । पिण भोजनादि करि नहीं सरीषो, एम कह्यो वृत्ति मांहि ॥ ‘धर्मसी’ थयो गुजरात में रे ते दरियापुरी कहिवाय । तिण वितेषपणं अर्थं षोलियो

ते तो सांभलज्यो चित्त ल्याय ॥ लिंग करी सरीषो हुवं पिण सरधा करि जूवो जाण । एहवा भेषधारी जमाली जिंसा,

ते तो लिंग समनोज पिछाण ॥ दिष्टकरी सरीषो हुवं पिण लिंग सरीषो न होय । ते अमड सिन्यासी सारसा ते दिष्ट समनोज जोय ॥

इम दिष्ट-लिंग सरीषा भणी रे,

न देणो असणादिक आहार ।

बले आदर सनमान देणो नहीं

एतो अकल्पनीक अवधार ॥

गोतमादिक केसी भणी रे दीयो आदर सनमान ।

पवासादिक व्यावच करी एतो कल्पनीक पहिछान ॥

विप्रीत दिष्ट-लिंग ना धणी रे,

तिण नै न देणो आदर निसदीह ।

अकल्पनीक इण कारणे रे एम कह्यो धर्मसीह ॥

लिंगकरी सरीसो नहीं रे, दिष्टकरी न सरीस ।

ते पाषण्डी साक्यादिक जाणज्यो, असमनोज तिणने कहीस ॥

ए समनोज असमनोज भणी रे, न देणो असणादिक आहार ।

वस्त्र पात्र कांबलो पायपुंछणो रजोहरणो धार ॥

असणादिक नहीं आमन्त्रणो रे, न करणी व्यावच जाण ।

अतही आदर देतो थकोरे, एम कह्यो जगभाण ॥

अति ही आदर देतो थको, न करणी वेयावच जाण ।

अधिकार समापित कारणे कह्यो पाठ त्ति बेमि पिछाण ॥

३. इहमेर्गोस आचार-गोचरे णो सुनिशांतो भवति, ते इह आरंभद्वी अणुवयमाणा हणमाणा घायमाणा, हणतो यावि समणुजाणमाणा ।

सं०—इहैकेषां आचारगोचरो णो सुनिशांतो भवति, ते इह आरम्भायिनः अनुवदन्तः घनन्तः घातयन्तः घनतश्चापि समनुजानन्तः ।

कुछ भिक्षुओं को आचार-गोचर सम्यग् उपलब्ध नहीं होता । वे आरम्भ के अर्थी होते हैं, आरंभ करने वालों का समर्थन करते हैं, स्वयं प्राणियों का वध करते हैं, करवाते हैं और करने वालों का अनुमोदन करते हैं ।

भाष्यम् ३—उक्तनिषेधः दर्शनविशुद्धयर्थं कृतः । इदानीं अस्य निषेधस्य कारणं स्पष्टयति संसर्गादिभवांश्च दोषान् प्रदर्शयति सूत्रकारः । इह एकेषां आचारगोचरो न सुनिशांतः—सम्यग् अवधारितो भवति । ते इह भवन्ति आरम्भायिनः । 'केचिद् वदन्ति नास्ति आरम्भे दोषः । तेषां अनुवदन्ते, कोऽत्र आरम्भे दोषः ? इत्यनुवादेन ते स्वयं प्राणिनः घनन्ति, अन्यैश्च घातयन्ति, घनतश्चापि समनुजानन्ति ।

पूर्वोक्त निषेध दर्शन-विशुद्धि के लिए किया गया है । अब इस निषेध के कारण को स्पष्ट करते हुए सूत्रकार संसर्ग आदि से होने वाले दोषों को प्रदर्शित करते हैं । कुछ भिक्षुओं को आचारगोचर की सम्यग् अवधारणा नहीं होती । वे आरम्भ के अर्थी होते हैं । कुछ कहते हैं—आरंभ में कोई दोष नहीं है । वे मुनि भी उन्हीं के अनुसार कहते हैं—आरम्भ में कौनसा दोष है ? इस समर्थन से वे स्वयं प्राणियों का घात करते हैं, दूसरों से घात करवाते हैं और घात करने वाले का अनुमोदन करते हैं ।

४. अदुवा अदिन्नमाइयति ।

सं०—अथवा अदत्तमाददति ।

अथवा वे अदत्त का ग्रहण करते हैं ।

भाष्यम् ४—अथवा ते पृथिव्यादीनां प्राणिनां वधं कुर्वन्तः अदत्तमाददति । तत्स्वामिना पृथिव्यादिग्रहणं अनुज्ञातं, किन्तु पृथिव्यादिजीवैः स्वस्य वधो नानुज्ञातः, तेन तेषामारम्भः अदत्तादानमेव ।<sup>२</sup>

अथवा वे पृथिवी आदि प्राणियों का वध करते हुए अदत्त का ग्रहण करते हैं । भूस्वामी ने पृथिवी आदि के ग्रहण की आज्ञा दी है, किन्तु पृथिवी आदि के जीवों ने अपने वध की आज्ञा नहीं दी है । इसलिए उन प्राणियों का आरम्भ—हिंसा अदत्तादान ही है ।

५. अदुवा वायाओ विउंजति, तं जहा—अत्थि लोए, णत्थि लोए, धुवे लोए, अधुवे लोए, साइए लोए, अणाइए लोए, सपर्यवसिते लोए, अपर्यवसिते लोए, सुकड्ढेत्ति वा दुक्कड्ढेत्ति वा, कल्याणं इति वा, पापं इति वा, साधु इति वा, असिद्धीति वा असिद्धीति वा, गिरएत्ति वा अणिरएत्ति वा ।

सं०—अथवा वाचः वियुञ्जन्ति, तद् यथा—अस्ति लोकः, नास्ति लोकः, ध्रुवः लोकः, अध्रुवः लोकः, सादिकः लोकः, अनादिकः लोकः, सपर्यवसितः लोकः, अपर्यवसितः लोकः, सुकृतं इति वा, दुष्कृतं इति वा, कल्याणं इति वा, पापं इति वा, साधु इति वा, असिद्धीति वा, असिद्धीति वा, निरय इति वा, अनिरय इति वा ।

अथवा वे परस्पर विरोधी वादों का प्रतिपादन करते हैं । जैसे—अस्तित्ववादी मानते हैं—लोक वास्तविक है । नास्तित्ववादी मानते हैं—लोक वास्तविक नहीं है । अचलवादी मानते हैं—आदित्य-मंडल स्थिर है । चलवादी मानते हैं—आदित्य-मंडल चल है । सृष्टिवादी मानते हैं—लोक सादि है । असृष्टिवादी मानते हैं—लोक असादि है । सृष्टिवादी मानते हैं—लोक सांत है । असृष्टिवादी मानते हैं—लोक अनन्त है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—सुकृत है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—दुष्कृत है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—कल्याण है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—पाप है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—साधु है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—असाधु है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—निर्वाण है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—निर्वाण नहीं है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—नरक है । कुछ दार्शनिक मानते हैं—नरक नहीं है ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५१ : 'आरंभो नाम पयणपयाव-णावि असंजमो तेण जेसि अट्टो एसो आरंभद्वी ।'

२. प्राणी के प्राणों का अपहरण करना अदत्त है । प्राणवध करने वाला केवल हिंसा का ही दोषी नहीं है, साथ-साथ

अदत्त का भी दोषी है । हिंसा का सम्बन्ध अपनी भावना से है, किन्तु प्राणी अपने प्राणों के अपहरण की अनुमति नहीं देते, इसलिए अदत्त का सम्बन्ध अग्रयमाण प्राणियों से भी है । (मिलाइए—आयारो, १।५८)

भाष्यम् ५—अथवा ते वाचः वियुञ्जन्ति । 'वि' उपसर्गपदेन इति सूचितम्—परस्परविरुद्धा विविधा वा वाचो युञ्जन्ति, तद्यथा—

अस्ति लोकः—अस्ति लोकस्य वास्तविकत्वमिति तात्पर्यम् ।

नास्ति लोकः—मायेन्द्रजालस्वप्नकल्पोयं लोक इति तात्पर्यम् ।

ध्रुवो लोकः—कूटस्थनित्य इति यावत् । अथवा आदित्यः अवस्थितः ।

अध्रुवः लोकः—क्षणे क्षणे परिवर्तते असौ इति तात्पर्यम् । अथवा आदित्यः अनवस्थितः ।

सादिको लोकः—केनचित् परमेश्वरेण सृष्ट इति यावत् ।<sup>१</sup>

अनादिको लोकः—असृष्ट इति यावत् ।<sup>२</sup>

येषां सादिको लोकस्तेषां स सपर्यवसितः ।<sup>३</sup> येषां मनादिकस्तेषां स अपर्यवसितः । एवं सुकृतदुष्कृतयोः, कल्याणपापयोः, साध्वसाध्वोः, सिद्धसिद्धयोः, निरयानिरययोर्विषयेऽपि नानाविधा वाचो विद्यन्ते ।<sup>४</sup>

अथवा वे परस्पर विरोधी वादों का प्रतिपादन करते हैं । 'वि' उपसर्ग से यह सूचित है— परस्पर विरुद्ध या विविध वाद का प्रयोग करते हैं, जैसे—

लोक है—इसका तात्पर्य है कि लोक की वास्तविकता है ।

लोक नहीं है—इसका तात्पर्य है कि लोक माया, इन्द्रजाल और स्वप्न के सदृश है ।

लोक ध्रुव है—लोक कूटस्थनित्य है । अथवा आदित्य-मंडल स्थिर है ।

लोक अध्रुव है—इसका तात्पर्य है कि लोक क्षण-क्षण में परिवर्तित होता रहता है । अथवा आदित्य-मण्डल चल है ।

लोक सादि है—लोक किसी परमेश्वर की सृष्टि है ।

लोक अनादि है—वह किसी के द्वारा सृष्ट नहीं है । वह असृष्ट है ।

जिन दार्शनिकों के मत में लोक 'सादि' है, उनके मत से वह 'सान्त' है । जिन दार्शनिकों के मत में लोक अनादि है, उनके मत से वह अनन्त है । इसी प्रकार सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु, सिद्धि-असिद्धि, नरक-अनरक आदि के विषय में भी नानाविध वाद प्रचलित हैं ।

१. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५२ : वायाओवि एगे विविहं जुंजति णाम विणासितं वुच्चति, पुव्वत्तरं विरुद्धं भासित्तातो य विणासंति, विजुंजति णाम विणासंति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २४१ : वाचो विविधं—नाना-प्रकारा युञ्जन्ति ।

२. चूर्णो अवस्थितः सूर्यः इति प्राचीनमतमुद्धृतम्—तं जहा—लोगो किर वामतो, केसिचि णिच्चं भवति, आदिच्चे अवट्टियमेव तं आदिच्चमंडलं, अवट्टियमेव तं आदिच्चमंडलं दूरत्ताओ जे पुव्वं पासंति तेसि आइच्चोदयो, मंडलहिट्टियाणं मज्झण्हे, जे उ दूरातिककंता ण पस्संति तेसि अत्यमिओ, तहा य धुवे लोगो । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५२)

वृत्तावपि—यदि वा 'अध्रुवः' चलः, तथाहि भूगोलः केषाञ्चिन्मतेन नित्यं चलन्नेवास्ते, आदित्यस्तु व्यवस्थित एव, तत्रादित्यमण्डलं दूरत्ताओ पूर्वतः पश्यन्ति तेषामादित्योदयः, आदित्यमण्डलाधोव्यवस्थितानां मध्याह्नः, ये तु दूरातिक्रान्तत्वात् पश्यन्ति तेषामस्तमित इति ।

(आचारांग वृत्ति, पत्र २४१)

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५२ : अन्ने सादियं सह आदीये सादीयं, इस्सरेण अन्नतरेण वा सिद्धो, से इति से तु किञ्चिकालं भवित्ता वलयकाले पुणो ण भवति अतो सादीयो, भणति—दिव्वं वरिससहस्सं सुयति, दिव्वं वरिससहस्सं जागरति ।

४. वही, पृष्ठ २५२ : अणादीयो तच्चणिया पावं भणंति,

जहा अणवद्दग्गोऽयं भिक्षवः संसारो ।

५. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५३ : परिमाणओ वा एगेसि पज्जवसिओ तंजहा—सत्त दीवा, सक्काणं सपज्जवसाणो अपज्जवसाणो वा इति अवाधं ।

६. चूर्णो वृत्तौ च विभिन्नदार्शनिकानामुल्लेखो लभ्यते—चार्वाका आहुः—नास्ति लोको मायेन्द्रजालस्वप्नकल्प-मेवंतत्सर्वम् (आचारांग वृत्ति प ० २४१) ।

णत्थि लोएत्ति वेइत्तुलिया पडिवण्णा, तंजहा—गंधव-तगरतुल्लं माताकारणहेतुपच्चयसामग्गिएहि भावेहि अभावा, एवमादिहेऊहि णत्थि लोगो पडिवज्जंति इति ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५२)

धुवेति संख्या वुच्चंति, ध्रुवो लोगो वार्यंति वुच्चंति, सत्कार्यकारणत्वात्तोसि, ण किञ्चि उपज्जति विणत्सति वा, 'असदकरणाउपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।

शक्यस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यं ॥'

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५२)

संख्यादय आहुः—'ध्रुवो' नित्यो लोकः, आविर्भाव-तिरोभावमात्रत्वाद्बुत्पादविनाशयोः, असतोऽनुत्पादात् सतश्चाविनाशात् (आचारांग वृत्ति, पत्र २४१) ।

शाक्यादयस्त्वाहुः—अध्रुवो लोकोऽनित्यः, प्रतिक्षणं विशरारुस्वभावत्वात् विनाशहेतोरभावात् नित्यस्य च क्रमयोगपक्षाभ्यामर्थक्रियायामसामर्थ्यात्

(आचारांग वृत्ति, पत्र २४१) ।

६. जमिणं विप्पडिवण्णा मामगं धम्मं पण्णवेमाणा ।

सं०—यदिदं विप्रतिपन्नाः मामकं धर्मं प्रज्ञापयमानाः ।

पूर्वोक्त परस्पर-विरोधी वादों को स्वीकार करने वाले वे अपने-अपने धर्म का निरूपण करते हैं ।

भाष्यम् ६—ये यदिदं विप्रतिपन्नाः<sup>१</sup>—परस्परविरुद्धा वाचो वदन्तः मामकं धर्मं प्रज्ञापयमाना दृश्यन्ते । ते वदन्ति, मम धर्मेऽस्ति सिद्धिः नान्यत्र ।

जो इस प्रकार विप्रतिपन्न—परस्पर विरोधी वादों का कथन करते हैं वे अपने-अपने धर्म का निरूपण करते हुए देखे जाते हैं । वे कहते हैं—‘मेरे धर्म में सिद्धि है, अन्यत्र नहीं ।’

७. एत्थवि जाणह अकस्मात् ।

सं०—अत्रापि जानीत अकस्माद् ।

तुम जानो, ये एकांगी वाद अहेतुक हैं ।

भाष्यम् ७—विप्रतिपन्नानां संस्तवेन अपुष्टधर्माः शिष्याः विप्रतिपत्तिं गच्छन्ति, तेन तेषां संस्तवः प्रतिषिद्धः, तथापि ग्लानादिनिमित्तं अन्येन केनापि हेतुना तेषां संसर्गः स्यात् तदा प्रसज्यमानायां तत्त्व-चर्चायां मुनिः तान् प्रतिवदेत्—अत्रापि यूयं जानीत, एते एकाङ्गिनो वादाः अकस्माद्<sup>२</sup>—अहेतुका वर्तन्ते ।<sup>३</sup>

परस्पर विरुद्ध विचार वाले व्यक्तियों के संसर्ग से अपरिपक्व-धर्मा शिष्यों की धारणा भ्रान्त हो जाती है । इसलिए उन व्यक्तियों के संस्तव का निषेध किया गया है । फिर भी ग्लान आदि के निमित्त अथवा अन्य किसी भी प्रयोजनवश उनका संसर्ग हो तब तत्त्वचर्चा के प्रसंग में मुनि उनसे कहे—तुम जानो, ये एकांगी वाद अहेतुक हैं—हेतुशून्य हैं ।

८. एवं तेसि णो सुअख्याए, णो सुपण्णत्ते धम्मे भवति ।

सं०—एवं तेषां नो स्वाख्यातः, नो सुप्रज्ञप्तः धर्मो भवति ।

इस प्रकार उन अहेतुवादी दार्शनिकों का धर्म न सुआख्यात होता है और न सुनिरूपित ।

भाष्यम् ८—मिथ्याग्रहसमन्विता एकांतदृष्टिः तत्त्वस्य सत्यस्य वा निरूपणे बाधा उपस्थापयति । एवं पूर्वोक्त-प्रकारेण ये एकांतदृष्ट्या तत्त्वं निरूपयन्ति तेषां अहेतु-वादिनां धर्मः नो स्वाख्यातः नो सुप्रज्ञप्तो भवति ।

मिथ्या आग्रहयुक्त अथवा निरपेक्ष एकांतदृष्टि तत्त्व अथवा सत्य के निरूपण में बाधा उपस्थित करती है । इस प्रकार पूर्वोक्त प्रकार से जो एकांतदृष्टि से तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं उन अहेतुवादियों का धर्म न सुआख्यात होता है और न सुनिरूपित ।

९. से जहेयं भगवया पवेदितं आशुपण्णेण जाणया पासया ।

सं०—तद् यथा एतस् भगवता प्रवेदितं आशुप्रज्ञेन जानता पश्यता ।

आशुप्रज्ञ भगवान् महावीर ने ज्ञान-दर्शन पूर्वक धर्म का जैसे प्रतिपादन किया है, उसकी वंसी व्याख्या करे ।

१. चूणो (पृष्ठ २५४) ‘विप्पडिवण्णा’ इति विवृतमस्ति—आयारं प्रति एगे विप्पडिवण्णा—केइ सुहेणं धम्ममिच्छति, केइ दुक्खेणं, केइ ष्हाणेणं, केइ मोणेणं, केइ गामवासेणं, केइ अरण्णवासेणं ।

दोनों एकांतवाद हैं । वास्तविकता को स्वीकार किए बिना अवास्तविकता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार अवास्तविकता को स्वीकार किए बिना वास्तविकता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है ।

२. चूणो (पृष्ठ २५४) अकम्मा इति पदं विद्यते—अकम्मा अहेऊ ण कम्मा अकम्मा, जं भणितं—अहेतुं ।

वास्तविकता और अवास्तविकता दोनों परस्पर सापेक्ष हैं । द्रव्याधिक और पर्यायाधिक नय से इन्हें जाना जा सकता है । वास्तविकता का बोध द्रव्याधिक नय से और अवास्तविकता का बोध पर्यायाधिक नय से होता है ।

वृत्तो (पत्र २४२) अकस्मादिति भागधदेशे आगो-पालाङ्गनादिना संस्कृतस्यैवोच्चारणाविहापि तथैवोच्चारित इति, कस्मादिति हेतुः न कस्मादकस्माद् हेतोरभावादित्यर्थः ।

एकांतदृष्टि वाले वे सारे वाद परस्पर विरोधी सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हैं ।

३. ‘लोक वास्तविक है’ और ‘लोक वास्तविक नहीं है’—ये

भाष्यम् ९—उपस्थिते तत्त्वचर्चाप्रसङ्गे यथा इदं भगवता प्रवेदितं तथा प्रतिपादनीयम् । भगवान् वर्धमान-स्वामी आशुप्रज्ञोऽस्ति । स आशुप्रज्ञोऽस्ति अत एव स जानाति, पश्यति । तेन भगवता हेतुवादः—नयवादः अनेकांतवादो वा प्रज्ञप्तः, तेन तस्य प्रयोगः कार्यः ।

### १०. अद्भुता गुप्ती वओगोयरस्स त्ति बेमि ।

सं०—अथवा गुप्तिः वागोचरस्य इति ब्रवीमि ।

अथवा वाणी के विषय की गुप्ति करे—मौन करे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १०—मुनिना आत्मसामर्थ्यं विज्ञाय तेषां अन्यतीर्थिकानां प्रश्नाः समाधातव्याः अथवा वचो-गोचरस्य गुप्तिरालम्बनीया—यदि तेषां प्रश्नानां उत्तरं दातुमसमर्थः स्यात् तदा मौनमवलम्बेत् । चूर्णो गुप्तिपदं व्यावहारिकदृष्ट्या व्याख्यातमस्ति—वयं आरिसमुत्त-पाठगा, अति तमेव इच्छसि ततो पागतेण धादं करेमो, सव्वहा अक्षेरमाणे सेहाविचिपरिणामो भवति, सड्ढहीला सड्ढअवण्णो । अहं पागतेणवि असमत्थो ततो वेति—अहं इत्थिबालवुड्ढ-अक्खरअयाणमाणणं अणुक्कणत्थं सव्वसत्तसमदरिसीहि अद्भमागहाए भासाते सुत्तं उवदिदं, तं च अण्णेसि पुरतो ण पयासिज्जति, अतो गुप्ती वड्ढगोयरस्स, यदुक्तां भवति-वाया-विसओ न, किच्च—रागदोसकरो वादो । एवं जहा जहा उत्तरं भवति तहा तहा ठाएयव्वं ।\*

वृत्तौ गुप्तिर्भाषासमितिरित्यपि व्याख्यातमस्ति ।\*

### ११. सव्वत्थ सम्मयं पापं ।

सं०—सर्वत्र सम्मतं पापम् ।

हिंसा सर्वत्र सम्मत है ।

भाष्यम् ११—सर्वत्र इति सर्वेषु कार्येषु यावत् तत्त्व-वादेऽपि पापं—हिंसाद्यनुष्ठानं सम्मतं—अभिप्रेत-

तत्त्वचर्चा का प्रसंग उपस्थित होने पर भगवान् महावीर ने इस धर्म का जैसे प्रतिपादन किया है, वैसे ही प्रतिपादन करे । भगवान् वर्धमान स्वामी आशुप्रज्ञ हैं । वे आशुप्रज्ञ हैं इसलिए वे जानते हैं, देखते हैं । उन भगवान् ने हेतुवाद—नयवाद अथवा अनेकांतवाद की प्रज्ञापना की । इसलिए उसका प्रयोग करना चाहिए ।

मुनि अपने सामर्थ्य को जानकर उन अन्यतीर्थिकों के प्रश्नों का समाधान करे अथवा वाणी के विषय की गुप्ति करे—यदि उनके प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ न हो तब मौन कर ले । चूर्ण में 'गुप्ति' पद की व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्या की है—हम आर्ष सूत्रों के पाठक हैं । यदि तुम आर्ष सूत्रों के विषय में वाद करना चाहते हो तो हम प्राकृत भाषा में वाद करेंगे । यदि वाद से सर्वथा इनकार कर दिया जाए तो शैक्ष आदि के परिणामों में विपरीतता आ जाती है, श्रावकों में हीलना और अवर्णवाद का प्रसंग आ जाता है । यदि प्राकृत भाषा में वाद करने में भी असमर्थ हो तो कहे—समस्त प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखने वाले भगवान् महावीर ने स्त्री, बाल, वृद्ध तथा अक्षर-ज्ञान से अपरिचित व्यक्तियों पर अनुकंपा कर अर्धमागधी भाषा में सूत्र का उपदेश दिया । वह दूसरों के समक्ष अभिव्यक्त नहीं किया जाता, इसलिए वाणी के विषय की गुप्ति की है, मौन किया है । कहा है—आगम वाद का विषय नहीं है । वाद राग-द्वेष को उत्पन्न करता है । इस प्रकार जो देश-कालोचित उत्तर हो, उसका प्रयोग किया जाए ।

वृत्ति में गुप्ति भाषासमिति के रूप में भी व्याख्यात है ।

मुनि वादियों के समक्ष कहे—आपके सर्वत्र—सभी कार्यों में, तथा तत्त्ववाद में भी पाप—हिंसा का अनुष्ठान सम्मत—अभिप्रेत

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २४३ : इदं स्याद्वावरूपं वस्तुनो लक्षणं समस्तध्यवहारानुयायि बवचिदप्यप्रतिहतं भगवता श्रीवर्धमानस्वामिना प्रवेदितम् ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५५ : आसुरिति क्षिप्रं, आसुं पयाणति ओहीनाणी मणपज्जवनाणीवी ण अणुवउत्ता जाणंति उवओगाय अंतोमुहुत्ताओ, तेण तेऽवि ण आसुपण्णा, आसुपण्णो भवति केवलनाणी णिच्चो णिच्चोवयोगओ सव्वपच्चवखाओ य आउय आसुपण्णो ।\*

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५५-२५६ ।

४. आचारांग वृत्ति, पत्र २४३ : अथवा गुप्तिर्वागोचरस्य—भाषासमितिः कार्येत्येतत्प्रवेदितं भगवता, यदि वा अस्ति नास्ति ध्रुवाध्रुवादिवादिनां वादायोत्थितानां त्रयाणां त्रिषष्ट्यधिकानां प्रावादुकशतानां वादस्तब्धिमतां प्रतिज्ञा-हेतुदृष्टान्तोपन्यासद्वारेण तदुपन्यस्तदूषणोपन्यासेन च तत्पराजयापादनतः सम्यगुत्तरं देयम्, अथवा गुप्तिर्वागो-चरस्य विधेयेत्येतदहं ब्रवीमि ।

मप्रतिषिद्धं वा अस्ति, इति वादिनां समक्षे मुनिर्वदेत्—  
मम तु नैतत् सम्मतम् ।

अथवा अप्रतिषिद्ध है। हमारे दर्शन में तो यह सम्मत नहीं है।

१२. तमेव उवाङ्कम् ।

सं०—तदेव उपातिक्रम्य ।

मुनि उस हिंसा का अतिक्रमण कर जीवन-थापन करे ।

भाष्यम् १२—तस्मादेव तद् उपातिक्रम्य वर्ते, अतः  
हिंसादिप्रसङ्गजनको वादः मम न श्रेयान् ।

इसीलिए मैं उस हिंसा (या सावद्य अनुष्ठान) का अतिक्रमण कर वर्तन करता हूँ। अतः हिंसा आदि का प्रसंग उत्पन्न करने वाला वाद मेरे लिए श्रेयस्कर नहीं है।

१३. एस महं विवेगे वियाहिते ।

सं०—एष मम विवेको व्याहृतः ।

यह मेरा विवेक कहा गया है ।

भाष्यम् १३—एष मम विवेकः व्याहृतः । एवं  
मुनिना असमनुजैः विवेकः करणीयः, न तु हिंसाद्यास्त्रवे  
प्रवर्तनीयम् ।<sup>१</sup>

यह मेरा (या हमारा) विवेक कहा गया है। इस प्रकार मुनि को अन्यतीर्थिक भिक्षुओं से पृथक् रहना चाहिए, हिंसा आदि आश्रवों में प्रवर्तित नहीं होना चाहिए।

१४. ग्रामे वा अदुवा रण्ये ? षेव ग्रामे षेव रण्ये धम्ममाजानीत—प्रवेदितं माहणेण मईमया ।

सं०—ग्रामे वा अथवा अरण्ये ? नैव ग्रामे नैव अरण्ये धर्ममाजानीत—प्रवेदितं माहणेन मतिमता ।

धर्म गांव में होता है या अरण्य में ? वह न गांव में होता है और न अरण्य में—तुम जानो। मतिमान् महावीर ने यह प्रतिपादित किया है।

भाष्यम् १४—ये तपस्विनः वनवासिनः ते कथं  
असमनुजा भवन्ति ? कथञ्च ते परिवर्जयितव्याः इति  
जिज्ञासिते सूत्रकारो वक्ति—ज्ञानादिपञ्चाचारानुशीलनं  
धर्मः, स ग्रामे अरण्ये वा भवति । पञ्चाचारानुशीलनमृते  
नैव ग्रामे नैव अरण्ये वा धर्ममाजानीत । इदं प्रवेदितं  
मतिमता माहणेन ।<sup>२</sup>

जो तपस्वी हैं, वनवासी हैं वे असमनुज कैसे हो सकते हैं ? उनका परिवर्जन क्यों करना चाहिए ? यह जिज्ञासा करने पर सूत्रकार कहते हैं—ज्ञान आदि पांच प्रकार के आचार का अनुशीलन करना धर्म है। वह गांव में भी हो सकता है और अरण्य में भी हो सकता है। पांच प्रकार के आचार के अनुशीलन के बिना धर्म न गांव में होता है और न अरण्य में होता है, यह तुम जानो। मतिमान् महावीर ने यह प्रतिपादन किया है।

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २५६ : महमिति मम, अहवा महंतणएण सता विवेगेण ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २४३ : एष मम विवेको व्याख्यातः ।

२. हिंसा का अतिक्रमण कर जीवन जीना विवेक है। यह व्याख्या का एक नय है। चूर्णि और टीका में इन तीन सूत्रों (११-१३) की व्याख्या दूसरे नय से की गयी है। अन्यतीर्थिक भिक्षुओं द्वारा निर्भ्रित होने पर भिक्षु कहे—‘आपके दर्शन में पचन-पाचन आदि की हिंसा सम्मत है। उसका अतिक्रमण करना मेरा विवेक है।’

३. कुछ साधक ‘ग्राम में धर्म होता है’, यह निरूपित करते थे। कुछ साधक यह निरूपित करते थे—‘अरण्य में धर्म

होता है।’ इस विषय में शिष्य ने जिज्ञासा की तब आचार्य ने बताया कि धर्म का आधार आत्मा है। ग्राम और अरण्य उसके आधार नहीं हैं। इसलिए धर्म न ग्राम में होता है और न अरण्य में। वह आत्मा में ही होता है। वास्तव में आत्मा का स्वभाव ही धर्म है।

पूज्यपाव देवनन्दी ने इस आशय का नयान्तर से निरूपण किया है—

‘ग्रामोऽरण्यमिति द्वेषा, निवासो नात्मदर्शिनान् ।

दृष्टात्मनां निवासस्तु, विविक्तात्मेव निश्चलः ॥’

(समाधिगतक, श्लोक ७३)

अनात्मदर्शी साधक गांव या अरण्य में रहता है। किन्तु आत्मदर्शी साधक शुद्ध आत्मा में ही रहता है, ग्राम या अरण्य में नहीं।

### १५. जामा तिणिण उदाहिया, जेसु इमे आरिया संबुज्जमाणा समुट्ठिया ।

सं०—यामाः त्रय उदाहृताः, येषु इमे आर्याः संबुध्यमानाः समुत्थिताः ।

तीन याम—अवस्थाएं बतलाई हैं । आर्य मनुष्य संबोधि को प्राप्त कर उन अवस्थाओं में प्रव्रजित होते हैं ।

भाष्यम् १५—यथा धर्मारधनाविषये ग्रामारण्यकृतो भेदः प्रचलित आसीत् तथा प्रव्रज्याकालविषयेऽपि विधेर्नानिस्वमासीत् । तत्र भगवता प्रव्रज्यां लक्ष्यीकृत्य त्रयो यामाः—वयोविभागाः सन्ति उदाहृताः ।<sup>१</sup> चूर्ण्यनुसारम्—अष्टवर्षादारभ्य त्रिंशद्वर्षपर्यन्तं प्रथमो यामः । त्रिंशद्वर्षादारभ्य षष्टिवर्षपर्यन्तं मध्यमो यामः । ततः परं तृतीयो यामः । एषु त्रिष्वपि यामेषु आर्याः संबुध्यमानाः<sup>२</sup> संयमसमुत्थानेन समुत्थिता भवन्ति, प्रव्रजन्तीति तात्पर्यम् ।

प्रस्तुतसूत्रे प्रव्रज्याकालमपेक्ष्य वयोविभागाः कृताः सन्ति । अस्यानुसारेण अष्टवर्षात् परं बालो प्रव्रज्यामर्हति । ततो निम्नं अतिबालावस्था, सा नास्ति प्रव्रज्यार्हा ।

इत्थ अतिबाल अतिवृद्धा पडिसिद्धा, सेसा अणुष्णाता ।<sup>३</sup>

सप्ततिवर्षतः ऊर्ध्वं वृद्धत्वं सम्मतम् ।<sup>४</sup>

### १६. जे णिष्क्या पावेहि कम्मोहि, अणियाणा ते वियाहिया ।

सं०—ये निर्वृत्ताः पापेषु कर्मसु, अनिदानाः ते व्याहृताः ।

जो हिंसा आदि पाप-कर्म करने में उपशांत होते हैं, वे अनिदान कहलाते हैं ।

भाष्यम् १६—निदानं - बन्धनम् । द्रव्यतो माता-पित्रादि धनधान्यादि च भावतः विषयकषायौ । न निदानं येषां ते अनिदानाः । अनिदानाः बन्धनमुक्ता इति यावत् । न केवलं प्रव्रज्यामात्रेण अनिदाना भवन्ति केचित् । ये पापेषु कर्मसु हिंसाद्यनुष्ठानेषु निर्वृत्ताः—उपशान्ता भवन्ति त एव वस्तुतः अनिदाना भवन्ति ।

जैसे धर्म की आराधना के विषय में ग्राम और अरण्य का भेद उस समय प्रचलित था, वैसे ही प्रव्रज्या-काल [दीक्षा-काल] के विषय में भी नाना विधान थे । भगवान् महावीर ने प्रव्रज्या को लक्षित कर तीन याम—वयोविभाग प्रतिपादित किए हैं । चूर्ण के अनुसार—आठ वर्ष से तीस वर्ष तक पहला याम, तीस वर्ष से साठ वर्ष तक मध्यम याम और उससे आगे जीवन पर्यन्त तीसरा याम । इन तीनों यामों—अवस्थाओं में आर्य पुरुष संबोधि को प्राप्त कर संयम ग्रहण के लिए तत्पर होते हैं अर्थात् प्रव्रजित होते हैं, यह इसका तात्पर्य है ।

प्रस्तुत आलापक में प्रव्रज्या-काल की अपेक्षा से अवस्था के विभाग किए गये हैं । इसके अनुसार आठ वर्ष की अवस्था के बाद बालक दीक्षा लेने के योग्य हो जाता है । उससे कम अति बचपन की अवस्था होती है । वह प्रव्रज्या के योग्य नहीं होती ।

जैन शासन में अति बालक और अति वृद्ध की दीक्षा निषिद्ध है । शेष अवस्थाओं की प्रव्रज्या अनुज्ञात है ।

सत्तर वर्ष से आगे वृद्धावस्था मानी गई है ।

निदान का अर्थ है—बन्धन । उसके दो प्रकार हैं—द्रव्य निदान और भाव निदान । द्रव्य निदान है—माता-पिता आदि तथा धन-धान्य आदि । भाव निदान है—इन्द्रिय-विषय तथा कषाय । जिनके कोई निदान नहीं होता, वे अनिदान होते हैं । तात्पर्य की भाषा में अनिदान अर्थात् बन्धनमुक्त । कुछ मनुष्य केवल प्रव्रज्या लेने मात्र से ही अनिदान नहीं हो जाते । जो पाप-कर्म तथा हिंसा आदि प्रवृत्तियों से निवृत्त हो जाते हैं, उपशान्त हो जाते हैं, वे ही वस्तुतः अनिदान होते हैं ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५८ : जामोत्ति वा वयोत्ति वा एगट्ठा ।

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५८ : तत्थ भगवं पढमे जामे संबुद्धो, गणहरा केइ पढमे केइ मज्झमे ।

(ख) वृत्तो (पत्र २४४) यामववस्य त्रयोः कृताः सन्ति, यामा अतविशेषाः त्रय उदाहृताः, तद्यथा—प्राणात्तिपातो मृषावादः परिग्रहश्चेति, अबत्तावान-मैथुनयोः परिग्रह एवान्तर्भावात् त्रयग्रहणं, यदिवा यामाः वयोविशेषाः, तद्यथा—अष्टवर्षादात्रिंशतः प्रथमस्तत ऊर्ध्वमाषष्टेः द्वितीयस्तत ऊर्ध्वं तृतीय इति, अतिबाल-

वृद्धयोर्व्युदासो, यदिवा यम्यते—उपरम्यते संसार-प्रमणादेभिरिति यामाः—ज्ञानदर्शनचारित्राणीति ।

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २५८ ।

४. (क) द्रष्टव्यम्—आचारो, २१४ भाष्यस्य टिप्पणम्, ८१३० सूत्रं च ।

(ख) शतवर्षीय जीवन की इस अवस्थाएं होती हैं । यहां दीक्षा योग्य अवस्थाएं विवक्षित हैं । प्रथम अवस्था आठ वर्ष से तीस वर्ष तक, द्वितीय अवस्था इकतीस वर्ष से साठ वर्ष तक तथा तृतीय अवस्था इकसठ



१७. उड्डं अहं तिरियं दिशासु, सव्वतो सव्वावंति च णं पडियक्कं जीवेहिं कम्मसमारंभे णं ।

सं०—ऊर्ध्वमधः तिर्यग् दिशासु सर्वतः 'सव्वावंति' च प्रत्येकं जीवेषु कर्मसमारम्भः ।

ऊंची, नीची व तिरछी आदि सब दिशाओं में, सब प्रकार से जीवों के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्म-समारम्भ किया जाता है ।

भाष्यम् १७—ऊर्ध्वमादिषु सर्वासु दिशासु सर्वतः इति सर्वकालं, सव्वावंति—सर्वभावेन प्रत्येकं जीवेषु कर्म-समारम्भः प्रवर्तते । अनेकेषु श्रमणेषु चापि पचनपाच-नादिकर्मसमारम्भः प्रवर्तमानः आसीत् ।<sup>१</sup> तं लक्ष्यीकृत्य भगवता यन्निरूपितं तदेव अग्रिमसूत्रे प्रतिपादितमस्ति ।

ऊंची-नीची आदि सब दिशाओं में सर्वतः—सदा सव्वावंति—सब प्रकार से जीवों के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार का कर्म-समारम्भ किया जाता है । अनेक श्रमणों में भी पचन-पाचन आदि कर्म का समारंभ होता था । उस कर्म-समारम्भ को लक्षित कर भगवान् ने जो निरूपण किया वही अगले सूत्र में प्रतिपादित है ।

१८. तं परिणाय मेधावी णेव सयं एतेहिं काएहिं वंडं समारंभेज्जा, णेवणोहिं एतेहिं काएहिं वंडं समारंभावेज्जा, नेवणो एतेहिं काएहिं वंडं समारंभंते वि समणुजाणेज्जा ।

सं०—तं परिज्ञाय मेधावी नैव स्वयं एतेषु कायेषु दण्डं समारंभेत, नैवान्यैः एतेषु कायेषु दण्डं समारंभयेत्, नैवान्याम् एतेषु कायेषु दण्डं समारंभमाणान् अपि समनुजानीयात् ।

मेधावी उस कर्म-समारम्भ का विवेक कर इन सूक्ष्म जीव-कायों के प्रति स्वयं वंड का प्रयोग न करे, दूसरों से न करवाए और करने वालों का अनुमोदन न करे ।

भाष्यम् १८—मेधावी तं कर्मसमारम्भं परिज्ञाय एतेषु पृथिव्यादिकायेषु त्रिकरणयोगेन दण्डसमारम्भं परित्यजे-दिति हृदयम् । एष मुनेराचारः । स अहिंसामहाव्रतस्य साधनायै समर्पितो भवति । तेन त्रिकरणयोगेन कर्म-समारम्भः परित्यक्तः । इंदुशी साधना अहिंसां प्रति समर्पितस्यैव जनस्य कृते संभवति, नान्यस्य ।

मेधावी मुनि उस कर्मसमारम्भ का विवेक कर इन पृथिवी आदि जीव-निकायों के प्रति तीन करण, तीन योग से वंड-समारम्भ का परित्याग करे । यही इसका हार्द है । यह मुनि का आचार है । मुनि अहिंसा महाव्रत की साधना के लिए समर्पित होता है । उसने तीन करण और तीन योग से कर्म-समारम्भ का परित्याग किया है । ऐसी साधना अहिंसा के प्रति समर्पित व्यक्ति के लिए ही संभव है, दूसरे के लिए नहीं ।

१९. जेवणो एतेहिं काएहिं वंडं समारंभंति, तेसिं पि वयं लज्जामो ।

सं०—येऽप्यन्ये एतेषु कायेषु दण्डं समारंभन्ते तेषामपि<sup>२</sup> वयं लज्जामहे ।

जो भिक्षु इन सूक्ष्म जीव-कायों के प्रति वंड का प्रयोग करते हैं, उनके प्रति भी हम बया प्रदर्शित करते हैं ।

भाष्यम् १९—ये चाप्यन्ये भिक्षवः एतेषु पृथिव्यादि-

जो अन्य भिक्षु इन पृथिवी आदि जीव-निकायों के प्रति वंड

वर्ष से जीवन-पर्यन्त की होती है । परिव्राजक बीस वर्ष से कम अवस्था वाले को प्रव्रजित नहीं करते थे । बौद्ध लोग अंतिम अवस्था में संन्यास ग्रहण करते थे । बुद्ध ने तीस वर्ष से कम उम्र वालों को उपसम्पदा [दीक्षा] देने का निषेध किया है [विनय-पिटक, भिक्षु पातिमोक्ख, पाचिसिय ६५] । किन्तु कौआ उड़ने में समर्थ पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के बच्चे को श्रामणेर बनाने की अनुमति दी है [विनय-पिटक, महावग्ग, महास्कन्धक १।३।८] । किन्तु जैन परम्परा में दीक्षा की योग्यता आठ वर्ष और तीन मास की अवस्था के बाद स्वीकृत थी ।

१. बौद्ध भिक्षु स्वयं भोजन नहीं पकाते थे, किन्तु दूसरों से पकवाते थे । विहार आदि का निर्माण करते और करवाते थे, मांस खाते थे और उसमें दोष नहीं मानते थे । कुछ भिक्षु संघ के निमित्त हिंसा करने में दोष नहीं मानते थे । कुछ भिक्षु वनस्पतिकाय की हिंसा नहीं करते थे । कुछ भिक्षु औद्देशिक आहार नहीं लेते थे, किन्तु सचित्त जल पीते थे । कुछ भिक्षु सचित्त जल पीते थे किन्तु उससे स्नान नहीं करते थे । प्रस्तुत सूत्र (१७) इन परम्पराओं की ओर इंगित करता है ।

२. सुख्यत्ययेन तृतीयार्थे षष्ठी ।

कायेषु दण्डं समारभन्ते तेषामपि वयं लज्जामहे—  
परिहरामो दयामहे वा ।' लज्जायाः हेतुरयं यद् भिक्षुत्वं  
स्वीकृत्यापि सूक्ष्मजीवान् प्रति ते न दयालवः । भिक्षु-  
रूपेण ते अस्माकं समकोटिकाः, अतस्तेषां अहिंसां  
प्रति उदासीनतां दृष्ट्वा अस्माकं लज्जायाः अनुभवो  
जायते ।

का प्रयोग करते हैं, उनके प्रति भी हम लज्जा का अनुभव करते हैं—  
उनका हम परिहार करते हैं अथवा उनके प्रति हम दया प्रदर्शित करते  
हैं । लज्जा का हेतु यह है कि वे भिक्षु-जीवन को स्वीकार करके भी  
सूक्ष्म जीवों के प्रति दयालु नहीं हैं । भिक्षु के रूप में हमारी और  
उनकी समान कोटि है, इसीलिए अहिंसा के प्रति उनकी उदासीनता  
को देखकर हमें लज्जा का अनुभव होता है ।

२०. तं परिणाय मेधावी तं वा दंडं, अण्णं वा दंडं, णो दंडभो दंडं समारभेज्जासि ।—त्ति वेमि ।

सं०—तं परिणाय मेधावी तं वा दण्डं, अन्यं वा दण्डं, नो दण्डभीः दण्डं समारभेत ।—इति ब्रवीमि ।

दंड-भीरु मेधावी उस कर्म-समारम्भ का विवेक कर पूर्वकथित या अन्य किसी प्रकार के दंड का प्रयोग न करे ।—ऐसा मैं  
कहता हूँ ।

भाष्यम् २०—अहिंसायाः आचरणे विशिष्टो हेतुरस्ति  
अभयः । भीतो जनो नाहति अहिंसामाचरितुम् । यश्च  
सर्वात्मना अभयो भवति स एव दण्डभीरुः । अभयदण्ड-  
भीरुपदयोः नास्ति कश्चिद् विरोधः । यो जीवानां वधात्  
बिभेति स एव दण्डभीरुर्भवति । तादृशो न जीवेभ्यो  
बिभेति, न च जीवान् भाययति, अत एव स अभयो  
भवति । यश्च अभयो भवति स एव दण्डसमारंभात्  
विरतो भवति ।

अहिंसा के आचरण का विशिष्ट हेतु है—अभय । डरा हुआ  
व्यक्ति अहिंसा का आचरण नहीं कर सकता । जो सर्वात्मना अभय होता  
है वही दंडभीरु होता है । अभय और दंडभीरु—इन दोनों पदों में कोई  
विरोध नहीं है । जो जीवों के वध से डरता है वही दंडभीरु होता  
है । वैसे व्यक्ति न जीवों से डरता है और न जीवों को डराता है,  
इसलिए वह अभय होता है । जो अभय होता है, वही दंड-समारंभ से  
विरत होता है ।

### बीओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

२१. से भिक्षुं परवकमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, णिसोएज्ज वा, तुयट्ठेज्ज वा, सुसार्णसि वा, सुन्नागारंसि वा,  
गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुंभारायतणंसि वा, हरत्था वा काहचि विहरमाणं तं भिक्षुं उवसंकमित्तु  
गाहावती ब्रूया—आउसंतो समणा ! अहं खलु तव अट्टाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा  
पडिगाहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारम्भ सपुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं  
अणिसट्ठं अभिहंढं आहट्ठु चेतेमि, आवसहं वा समुत्सिणोमि, से भुंजह वसह आउसंतो समणा !

सं०—स भिक्षुः पराक्रमेत वा, तिष्ठेद् वा, निषीदेद् वा, शयीत वा, श्मशाने वा, शून्यागारे वा, गिरिगुहायां वा, रुक्खमूले वा,  
कुम्भकारायतने वा, 'हरत्था' वा कुत्रचिद् विहरन्तं तं भिक्षुं उपसंक्रम्य गृहपतिः ब्रूयात्—आयुष्मन् श्रमण ! अहं खलु  
तवार्थं अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, वस्त्रं वा, प्रतिग्रहं वा, कम्बलं वा, पादप्रोच्छ्रनं वा, प्राणान् भूतान् जीवान्  
सत्त्वान् समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं प्रामित्यं आच्छेद्यं अनिसृष्टं अभिहंत आहृत्य ददामि, आवसथं वा समुच्छृणोमि, तत् भुङ्क्ष्व वस  
आयुष्मन् श्रमण !

भिक्षु कहीं जा रहा है, श्मशान, शून्यगृह, गिरी-गुफा, वृक्ष के नीचे या कुम्हार के आयतन में खड़ा, बैठा या लेटा हुआ है अथवा  
(गांव से) बाहर कहीं भी विहार कर रहा है । उस समय कोई गृहपति उसके पास आकर बोले—आयुष्मन् श्रमण ! मैं प्राण,  
भूत, जीव और सत्त्वों का समारम्भ कर तुम्हारे लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोच्छ्रन बनाता हूँ

१. आचारंग चूर्णि, पृष्ठ २५९ : लज्जामोत्ति वा परिहरा-  
मोत्ति वा, यदुवत्तं भवति— णो तेसु संसर्गां करेमो, अहवा  
जइ सात्तणपडिणीया चरगा अवि बहूहि असम्भावुम्भाधणाहि

जाव विहरंति, निष्णाग अहाछंदा यं, तथा तेसि लज्जामोत्ति  
वा दयामोत्ति वा एगट्ठा ।

२. देशीयशब्दः ।

या तुम्हारे उद्देश्य से उसे खरीदता हूँ, उधार लेता हूँ, दूसरों से छीनता हूँ, वह मेरे भागीदार द्वारा अनुज्ञात नहीं है या उसे यहां लाता हूँ। इस प्रकार का अशन भावि मैं तुम्हें देना चाहता हूँ। तुम्हारे लिए उपाश्रय का निर्माण करता हूँ। हे आयुष्मन् भ्रमण ! उस (अशन, पान आदि) का उपयोग करो और उस उपाश्रय में रहो।

भाष्यम् २१—श्मशानवासविषये एषा चूर्णिकार-निर्दिष्टा प्राचीनपरम्परा—गच्छवासी श्मशाने न तिष्ठेत्। प्रतिमाप्रतिपन्नः यत्र सूर्यास्तमेति तत्रैव तिष्ठति तेन स तिष्ठेत् अथवा सत्त्वभावनया जिनकल्पपरिकर्म कुर्वाणः तिष्ठेत्, सोऽपि किल न श्मशाने तिष्ठति, किन्तु श्मशानस्य पार्श्वे तिष्ठति।

श्मशान-वास के विषय में चूर्णिकार द्वारा निर्दिष्ट प्राचीन परंपरा यह है—गच्छवासी मुनि श्मशान में न रहे। प्रतिमा की साधना को स्वीकार करने वाला मुनि जहां सूर्य अस्त होता है, उसे वहीं ठहरना होता है, इसलिए प्रतिमा-प्रतिपन्न मुनि श्मशान में ठहर सकता है। अथवा सत्त्वभावना से जिनकल्प का परिकर्म—जिनकल्प अवस्था को स्वीकार करने की तैयारी करने वाला मुनि श्मशान में रह सकता है। वह भी श्मशान में नहीं, किन्तु श्मशान के पार्श्ववर्ती क्षेत्र में रह सकता है।

मूलपाठे श्मशानादिपञ्चपदानां संग्रहो विद्यते, किन्तु चूर्णा अन्येषां बहूनां पदानां निर्देशः अस्ति।<sup>१</sup>

मूलपाठ में श्मशान आदि पांच पदों का संग्रह है, किन्तु चूर्ण में अन्य अनेक पदों का निर्देश है।

द्वरत्या—बहिस्ताद्।<sup>२</sup> पामिच्च-अभिहृडपदे दशवैकालिकवद्।<sup>३</sup> 'अच्छेज्ज-अणिसट्ठपदे च स्थानांग-वद् द्रष्टव्ये।<sup>४</sup>

'द्वरत्या' का अर्थ है—बाहर। यह द्वेषीपद है। प्रामित्य तथा अभिहृत के लिए क्रमशः देखें—दसवेआलियसूत्र का ५।१।५५ तथा ३।२ का टिप्पण। अच्छेज तथा अनिसृष्ट के लिए देखें—ठाणं ९।६२ का टिप्पण।

२२. भिक्षू तं गाहावति समणसं सवयसं पडियाइक्खे—आउसंतो गाहावती ! णो खलु ते वयणं आढामि, णो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अट्टाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वरथं वा पडिगहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहृडं आहट्टु चेएसि, आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरतो आउसो गाहावती ! एयस्स अकरणाए।

सं०—भिक्षुः तं गृहपतिं समनसं सवचसं प्रत्याचक्षीत—आयुष्मन् गृहपते ! नो खलु तव वचनं आद्विये, नो खलु तव वचनं परिजानामि, यः त्वं ममार्थं अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, वस्त्रं वा, प्रतिग्रहं वा, कम्बलं वा, पादप्रोच्छनं वा, प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् समारभ्य समुद्दिश्य श्रुतं प्रामित्यं आच्छेद्यं अनिसृष्टं अभिहृतं आहृत्य ददासि आवसथं वा समुच्छृणोषि तस्माद् विरतः आयुष्मन् गृहपते ! एतस्य अकरणाय।

भिक्षु भद्र मन और वचन वाले उस गृहपति को प्रतिवेध की भाषा में कहे—आयुष्मन् गृहपति ! मैं तुम्हारे वचन को आदर नहीं देता हूँ, स्वीकार नहीं करता हूँ, जो तुम प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों का समारंभ कर मेरे लिए अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोच्छन बनाते हो या मेरे ही उद्देश्य से उसे खरीदते हो, उधार लेते हो, दूसरों से छीनते हो, तुम्हारे भागीदार की अनुज्ञा प्राप्त नहीं करते हो या अपने घर से यहां लाकर देना चाहते हो अथवा मेरे लिए उपाश्रय का निर्माण करते हो। आयुष्मन् गृहपति ! मैं उससे विरत हुआ हूँ। मेरे लिए यह अकरणीय है।

भाष्यम् २२—स्पष्टमेव।

स्पष्ट है।

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २६०-२६१ : परिव्वयागभावसह-भाविएहि दगसोदरियमादीहि जया छडिडता, उवट्टणगिहं किर घंघसाला सा गाममज्जेसु कुज्जति पुव्वदेसमादीएहि, दक्खिणापहे गामवेउलिया भवति, वेउलियासु प्रायेण वाणमंतरा हविज्जति, कम्मगारसालाए वा तंतुवायगसालाए वा लोहगारसालाए वा जत्तियाओ साला सक्काओ भाणियग्वाओ।

द्वेषीभासा उज्जाणादिसु।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २६१ : द्वरत्यं बहिता गामादीणं

३. (क) पामिच्चं—द्रष्टव्यम्—दसवेआलियसूत्रस्य ५।१।५५ टिप्पणम्।

(ख) अभिहृडं—द्रष्टव्यम्—दसवेआलियसूत्रस्य ३।२ टिप्पणम्।

४. अच्छेज्जं-अणिसट्ठं—द्रष्टव्यम्—ठाणंसूत्रस्य ९।६२ टिप्पणम्।

२३. से भिक्षुं परवक्रमेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा, गिसीएज्ज वा, तुयट्ठेज्ज वा, सुसाणंसि वा, सुसाणारंसि वा, गिरिगुहंसि वा, रुक्खमूलंसि वा, कुम्भारायतणंसि वा, 'हुरत्था' वा कंहिच्चि विहरमाणं तं भिक्षुं उवसंकमित्तु गाहावती आगयाए पेहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिगहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ, आवसहं वा समुस्सिणाति तं भिक्षुं परिघासेउं ।

सं० — स भिक्षुः पराक्रमेत वा, तिष्ठेद् वा, निषीदेद् वा, शयीत वा, श्मशाने वा, शून्यागारे वा, गिरिगुहायां वा, रुक्खमूले वा, कुम्भकारायतने वा, 'हुरत्था' वा कुत्रचिद् विहरन्तं तं भिक्षुं उपसंक्रम्य गृहपतिः आत्मगतया प्रेक्षया अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, वस्त्रं वा प्रतिग्रहं वा, कम्बलं वा, पादप्रोच्छनं वा, प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं प्रामित्यं आच्छेद्यं अनिसृष्टं अभिहृतं आहृत्य ददाति आवसथं वा समुच्छृणोति तं भिक्षुं परिघासयितुम् ।

भिक्षु कहीं जा रहा है, श्मशान, शून्यगृह, गिरि-गुहा, वृक्ष के नीचे या कुम्हार के आयतन में खड़ा, बैठा या लेटा हुआ है अथवा (गांव से) बाहर कहीं भी बिहार कर रहा है। उस समय कोई गृहपति आत्मगत भावों को प्रकट न करता हुआ उसके पास आकर—प्राण, भूत, जीव और सत्त्वों के समारम्भपूर्वक बनाया हुआ अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोच्छन या उद्देश्यपूर्वक खरीदा हुआ, उधार लिया हुआ, दूसरों से छीना हुआ, उसके भागीदार द्वारा अननुज्ञात या अपने घर से वहाँ लाया हुआ अशन आदि उसे देना चाहता है या उपाश्रय का निर्माण करता है। यह सब भिक्षु के भोजन या आवास के लिए करता है।

भाष्यम् २३—परिघासेउं—परिभोजयितुम् ।<sup>१</sup>

परिघासेउं का अर्थ है—भोजन के लिए ।

२४. तं च भिक्षुं जाणेज्जा—सहसम्मइयाए, परवागरणेणं, अणोसि वा अंतिए सोच्छा अयं खलु गाहावई मम अट्टाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिगहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छेज्जं अणिसट्ठं अभिहडं आहट्टु चेएइ, आवसहं वा समुस्सिणाति, तं च भिक्षुं पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए त्ति बेमि ।

सं०—तच्च भिक्षुः जानीयात्—स्वसंस्मृत्या, परव्याकरणेन अन्येषां वा अन्तिके श्रुत्वा अयं खलु गृहपतिः ममार्थं अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, वस्त्रं वा, प्रतिग्रहं वा, कम्बलं वा, पादप्रोच्छनं वा, प्राणान् भूतान् जीवान् सत्त्वान् समारभ्य समुद्दिश्य क्रीतं प्रामित्यं आच्छेद्यं अनिसृष्टं अभिहृतं आहृत्य ददाति आवसथं वा समुच्छृणोति तं च भिक्षुं प्रतिलिख्य आगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनाय इति ब्रवीमि ।

अपनी स्मृति, अतिशय ज्ञानी या अन्य किसी से सुनकर भिक्षु को यह ज्ञात हो जाए कि यह गृहपति मेरे लिए प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के समारम्भपूर्वक अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोच्छन बनाकर या मेरे उद्देश्य से खरीद कर, उधार लेकर, दूसरों से छीनकर, उसके भागीदार से अनुज्ञा न लेकर या अपने घर से यहाँ लाकर अशन आदि देना चाहता है या उपाश्रय का निर्माण करता है। भिक्षु आगम की आज्ञा को ध्यान में रखकर उस गृहस्थ से कहे—इनका मैं सेवन नहीं कर सकता, ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् २४—स्वसंस्मृत्यादिपदत्रयावबोधार्थं द्रष्टव्यम् १।३ सूत्रम् । अनासेवनाय आज्ञापयेत् तं गृहपतिमिति संबंधः ।<sup>१</sup>

स्व-स्मृति आदि तीनों पदों की व्याख्या के लिए देखें—आयारो १।३ । भिक्षु उस गृहस्थ से कहे—इनका मैं सेवन नहीं कर सकता ।

१. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २६३ : परिघासेउं—पडिलेहाए, जं मणितं—भोतावेत्ता वत्थादीणि परिभुंजावेउं आवसहे परिवसाइउं ।

२. वृत्तो (पत्र २४६) गृहपतिसंबंधः व्याख्यातोस्ति । किन्तु चूर्णो (पृष्ठ २६३-२६४) स भिक्षुः अन्यान् भिक्षून् तदनासेवनाय आज्ञापयेत् इति उल्लिखितमस्ति—जति जिणकप्पिओ तो तुण्हकओ चेव अच्छति,

पारिहारिया पुण अणुपरिहारिताणं कहेति, अहालिविया सट्टाणे कहेति गच्छवासीणं, हिउंता वा उवस्सयं वा गंतुं आणविज्ज, अच्चत्थजणो व ते आणविज्जा, किमिति ? आउसंतो समणा ! अमुयत्थ गिहत्थेण मम णिमित्तेण अन्नतरस्स वा साहस्स साहूण वा संघस्स वा असणं वा ४ वत्थपडिग्गह जाव आवसहं वा समुस्सिणाति, अणासेवणं अगमणं अगहणं पुव्वगहियस्स वा अपडिभोओ ।”

२५. भिक्षुं च खलु पुट्टा वा अपुट्टा वा जे इमे आहचच गंधा कुसंति—'से हंता ! हणह, खणह, छिदह, बहह, पचह, आलुपह, विलुपह, सहसाकारेह, विपरामुसह --' ते फासे धीरो पुट्टो अहियासए ।

सं०—भिक्षुं च खलु पृष्ट्वा वा अपृष्ट्वा वा ये इमे आहृत्य ग्रन्थाः स्पृशन्ति—अथ हन्त ! हत, क्षणुत, छिन्त, दहत, पचत, आलुम्पत, विलुम्पत, सहसाकारयत, विपरामृशत --तान् स्पर्शान् धीरः स्पृष्टः अधिसहेत ।

भिक्षु को पूछकर या बिना पूछे (कुछ लोगों ने उसके लिए अशन आदि बनाया । भिक्षु के द्वारा उसका स्वीकार न करने पर) भिक्षु को कदाचित् रज्जु आदि बंधन से बांध देते हैं । वे अपने कर्मकरों को संबोधित कर कहते हैं—(तुम जाओ, व्यर्थ ही मेरे धन का अपव्यय कराने वाले उस भिक्षु को) पीटो, क्षत-विक्षत करो, हाथ-पैर आदि का छेदन करो, क्षार आदि से जलाओ, जलती तकड़ी से दाग दो, शरीर को नखों से नोंच डालो, बार-बार नोंच डालो, सिर काट डालो (या हाथों के पैर के नीचे कुचल डालो), नाना प्रकार से उसे पीड़ित करो । उन कर्मकरों द्वारा कृत कष्टों के प्राप्त होने पर धीर मुनि उन्हें सहन करे ।

भाष्यम् २५—ग्रन्थः—बन्धः ।

ग्रन्थ का अर्थ है—बंध ।

२६. अदुवा आघार-गोघरमाइक्खे, तक्किया ण मणेलिसं । अणुपुव्वेण सम्मं पडिलेहाए आयगुत्ते ।

सं०—अथवा आचारगोचरमाचक्षीत तर्कयित्वा च अनीदृशम् । अनुपूर्वेण सम्यक् प्रतिलिख्य आत्मगुप्तः ।

अशन आदि बनाने वाले और उनके कर्मकरों को वह आत्मगुप्त मुनि यदि समझने योग्य जाने तो उन्हें क्रमशः सम्यक् प्रेक्षापूर्वक अपना असदृश—अन्यत्र अनुपलब्ध आचार-गोचर समझाए ।

२७. अदुवा गुत्तो गोघरस्स ।

सं०—अथवा गुप्तिः गोचरस्य ।

अथवा यदि वे समझने योग्य न हों, तो वह वाणी के विषय का संगोपन करे—मौन रहे ।

२८. बुद्धेहि एयं प्रवेदितं—से समणुण्णे असमणुण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा नो पाएज्जा, नो निमंतेज्जा, नो कुज्जा वेयावडियं—परं आढायमाणे त्ति बेमि ।

सं०—बुद्धेरेत्त् प्रवेदितम्—स समनुजः असमनुजस्य अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, वस्त्रं वा, प्रतिग्रहं वा, कंबलं वा, पादप्रोच्छनं वा नो प्रदद्यात्, नो निमंत्रयेद्, नो कुर्यात् वैयापृत्यं—परं आद्रियमाणः इति ब्रवीमि ।

जानी आचार्यों ने ऐसा कहा है—समनुज मुनि असमनुज मुनि को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोच्छन न दे, न उन्हें देने के लिए निमंत्रित करे, न उनके कार्यों में व्यापृत हो, यह सब अत्यन्त आदर प्रदर्शित करता हुआ करे, ऐसा मैं कहता हूँ ।

२९. धम्ममायाणह, पवेइयं माहणेण मतिमया—समणुण्णे समणुण्णस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाएज्जा, णिमंतेज्जा, कुज्जा वेयावडियं—परं आढायमाणे ।—त्ति बेमि ।

सं०—धर्ममाजानीत प्रवेदितं माहनेन मतिमता समनुजः समनुजस्य अशनं वा, पानं वा, खाद्यं वा, स्वाद्यं वा, वस्त्रं वा, प्रतिग्रहं वा, कंबलं वा, पादप्रोच्छनं वा प्रदद्यात्, निमन्त्रयेत्, कुर्यात् वैयापृत्यं—परं आद्रियमाणः ।—इति ब्रवीमि ।

मतिमान् माहन के द्वारा निरूपित धर्म को जानो—समनुज मुनि समनुज मुनि को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल या पादप्रोच्छन दे, उन्हें देने के लिए निमंत्रित करे, उनके कार्यों में व्यापृत हो । यह सब अत्यन्त आदर प्रदर्शित करता हुआ करे ।

—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् २६-२९—स्पष्टम् ।

२६-२९ स्पष्ट है ।

१. आचारंग चूणि, पृष्ठ २६४ ; 'णियसादिगंधा, यदुक्तं भवति—बंधा ।' चूणौ अस्य वैकल्पिकोऽपि अर्थः कृतोऽस्ति ।

## तद्विओ उद्देशो : तीसरा उद्देशक

## ३०. मज्झिमेण वयसा एगे, संबुद्धमाणा समुत्थिता ।

सं०—मध्यमेन वयसा एके संबुध्यमानाः समुत्थिताः ।

कुछ व्यक्ति मध्यम वय में सम्बोधि को प्राप्त कर प्रव्रजित होते हैं ।

भाष्यम् ३०—केचित् मध्यमे वयसि संबुध्यमानाः समुत्थिताः—प्रव्रजिता भवन्ति । पञ्चदशे सूत्रे (८।१५) त्रिष्वपि वयस्सु समुत्थानं भवतीति प्रतिपादितम् । तदस्ति सामान्यम् । प्रस्तुतसूत्रे अस्ति विशेषस्य निर्देशः । प्रायो जनाः मध्यमे वयसि संबुध्यन्ते, तेनात्र मध्यमवयो-ग्रहणमिति चूर्णिकारस्य मतम् ।<sup>१</sup>

कुछ पुरुष मध्यम अवस्था में संबोधि को प्राप्त कर प्रव्रजित होते हैं । पन्द्रहवें सूत्र (८।१५) में यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रव्रज्या तीनों अवस्थाओं में ली जा सकती है । वह सामान्य उल्लेख है । प्रस्तुत सूत्र में विशेष का निर्देश है । प्रायः मनुष्य मध्यम वय में संबुद्ध होते हैं, इसलिए यहाँ मध्यम वय का ग्रहण किया है—यह चूर्णिकार का अभिमत है ।

## ३१. सोच्छा वई मेधावी, पंडियाणं निसामिया । सनियाए धम्मे, आरिएहि पवेदिते ।

सं०—श्रुत्वा वाचं मेधावी पण्डितानां निशम्य समतायां धर्मः आर्यैः प्रवेदितः ।

तीर्थंकरों ने समता में धर्म कहा है—आचार्यों की यह वाणी सुनकर बुद्ध-बोधित, मेधावी उसे हृदयंगम कर मध्यम वय में प्रव्रजित होते हैं ।

भाष्यम् ३१—दृष्टव्यम्—५।४० ।

देखें—५।४० ।

## ३२. ते अणवकखमाणा अणतिवाएमाणा अपरिग्रहमाणा णो परिग्रहावंती सव्वावंती च णं लोगंसि ।

सं०—ते अनवकाङ्क्षन्तः अनतिपातयन्तः अपरिग्रहन्तः नो परिग्रहवन्तः सर्वस्मिश्च लोके ।

वे कामभोगों के प्रति आसक्ति, प्राणियों के प्राणों का अतिपात और परिग्रह न करते हुए समूचे लोक में अहिंसक और अपरिग्रही होते हैं ।

भाष्यम् ३२—आकाङ्क्षा—लोभः । लोभमूलोस्ति अतिपातः—हिंसा । अतिपातमूलोस्ति परिग्रहः—धन-धान्यादीनां संग्रहः ।

ये आकाङ्क्षायाः अतिपातस्य परिग्रहस्य च चक्रकमुत्तीर्णाः त एव वस्तुतः सर्वस्मिन् लोके अपरिग्रहस्य मर्मं विदन्ति । उद्धृतमस्ति चूर्णो—छलिता अजयवर्द्धता अणवयवर्द्धता गया मोक्षं ।<sup>२</sup>

आकाङ्क्षा का अर्थ है—लोभ । अतिपात अर्थात् हिंसा का मूल है—लोभ । परिग्रह का मूल है—अतिपात । धन, धान्य आदि का संग्रह परिग्रह है । जो पुरुष आकाङ्क्षा, हिंसा और परिग्रह के चक्र से मुक्त हो चुके हैं, वे ही वास्तव में सारे संसार में अपरिग्रह का मर्म जानते हैं । चूर्ण में यह पद उद्धृत है—आकाङ्क्षा करने वाले ठगे गए और आकाङ्क्षा नहीं करने वाले मोक्ष को प्राप्त हो गए ।

## ३३. निहाय दण्डं पाणेहि, पाबं कम्मं अकुव्वमाणे, एस महं अगंथे वियाहिए ।

सं०—निधाय दण्डं पाणेषु पापं कर्म अकुर्वाणः एष महान् अग्रन्थः व्याहृतः ।

जो प्राणियों के प्रति अहिंसक है और पाप-कर्म नहीं करता वह महान् अग्रन्थ ग्रन्थमुक्त कहलाता है ।

१. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २६६, २६७ : 'मज्झिमवयग्रहणं तु प्रायसो मज्झिमे वये बुज्झन्ति तेन तगग्रहणं, ते तु भुत्तभोगित्ता विगयकोडया सुहं विरागसग्गे चिट्ठन्ति, विण्णाणं च तेसि पट्टयरं भवति, गणहरा य पायसो मज्झिमे वये पव्वइया, तेहि य एत्तं सुत्तं आयनिक्खमणपज्जायरूवेणं भणितं, भगवंपि य मज्झिमवयं पडिबण्णो निक्खन्तो, एअकारणो

मज्झिमवयग्रहणं ।'

२. सम्बोधि प्राप्त मनुष्य तीन प्रकार के होते हैं—स्वयं-संबुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध-बोधित । यह सूत्र बुद्ध-बोधित व्यक्ति की अपेक्षा से है ।

३. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २६७ ।

**भाष्यम् ३३**—प्राणेषु दण्डं<sup>१</sup> निधाय—परित्यज्य<sup>२</sup> यः हिंसादिपापं कर्म अकुर्वन्नस्ति, स अहिंसक एव महान् अग्रन्थः—निर्ग्रन्थः व्याहृतः । तात्पर्यभाषायां यो नास्ति अपरिग्रही स नास्ति अहिंसकः । यो नास्ति अहिंसकः स नास्ति अपरिग्रही ।

जो प्राणियों के प्रति दंड का परित्याग कर हिंसा आदि पाप-कर्म नहीं करता, वही अहिंसक महान् अग्रन्थ अर्थात् निर्ग्रन्थ कहलाता है । तात्पर्य में कहा जा सकता है कि जो अपरिग्रही नहीं है, वह अहिंसक नहीं है और जो अहिंसक नहीं है, वह अपरिग्रही नहीं है ।

**३४. ओजं जुतिमस्स खेयणो उववायं चवणं च णच्चा ।**

सं०—ओजः द्युतिमतः क्षेत्रज्ञः उपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा ।

वीतराग और संयम का मर्मज्ञ मुनि जन्म और मृत्यु को जानकर अहिंसा और अपरिग्रह में प्रवृत्त हो ।

**भाष्यम् ३४**—इदानीं अपरिग्रहस्य आराधनायाः हेतुं प्रदर्शयति सूत्रकारः । य ओजः निरुपधिकत्वात् अनाश्रित-त्वात् च एकः<sup>३</sup> तथा द्युतिमतः—संयमस्य क्षेत्रज्ञः—ज्ञाता भवति<sup>४</sup>, स जानाति कर्महेतुको जीवस्य उपपातश्च्यवनं च । महारम्भमहापरिग्रहाभ्यां जीवस्य अधोगतिर्भवति इति ज्ञात्वा स अपरिग्रहस्य अहिंसायाश्च आराधनायां प्रवर्तते ।

अब सूत्रकार अपरिग्रह की आराधना का हेतु बतलाते हैं । जो मुनि ओज अर्थात् उपधि रहित तथा अनाश्रित होने के कारण एक—अकेला और संयम का ज्ञाता होता है, वह जानता है कि जीव के उपपात और च्यवन का हेतु है कर्म । महाआरंभ और महापरिग्रह से जीव अधोगति में जाता है, यह जानकर वह अपरिग्रह और अहिंसा की आराधना में प्रवृत्त होता है ।

अत्र उपपातच्यवनपदे जन्ममरणयोरभिधायके इति चूर्ण्याधारेण स्पष्टमस्ति ।<sup>५</sup> अन्यागमेषु अनयोः पारिभाषिकत्वं दृश्यते ।<sup>६</sup> वृत्तौ केवलं तदेव लभ्यते ।<sup>७</sup>

चूर्णी के अनुसार उपपात और च्यवन—ये दो पद जन्म और मरण के वाचक हैं । अन्य आगमों में ये पारिभाषिक रूप में (देवों के जन्म और मृत्यु के लिए) प्रयुक्त हैं । वृत्ति में इनका पारिभाषिक अर्थ ही उपलब्ध है ।

**३५. आहारोवचया देहा, परिसह-पभंगुरा ।**

सं०—आहारोपचयाः देहाः परीषहप्रभंगुराः ।

शरीर आहार से उपचित होते हैं और वे परीषहों से भग्न हो जाते हैं ।

**भाष्यम् ३५**—अहिंसाया अपरिग्रहस्य च आराधनायां प्रवृत्तः कथं शरीरं धारयितुं क्षमेत ? किञ्च इमे देहाः आहारोपचयाः वर्तन्ते, इष्टेन आहारेण उपचिता भवन्ति तदभावे तु अपचिताः । पुनरिमे क्षुधापिपासापरीषहाभ्यां प्रभङ्गुराः—प्रभङ्गन्ते दुर्बलीभवन्तीति यावत् ।

जो साधक अहिंसा और अपरिग्रह की आराधना में प्रवृत्त है, वह शरीर को कैसे धारण कर सकेगा ? क्योंकि ये शरीर आहारोपचय हैं, उचित आहार से उपचित होते हैं और उचित आहार के अभाव में अपचित हो जाते हैं और ये शरीर क्षुधा, पिपासा परीषहों से भग्न हो जाते हैं अर्थात् दुर्बल हो जाते हैं ।

१. आचारांगं चूर्णि, पृष्ठ २६८ : उडं घायणं वारणति एगट्टा ।

२. (क) णिखित्तवण्डा—द्रष्टव्यम्, आचारो ४।५; ६।३ ।

(ख) आचारांगं वृत्ति, पत्र २४९ : निधाय क्षिप्त्वा त्यक्त्वा ।

३. आचारांगं चूर्णि, पृष्ठ २६८ : ओयो णाम एगो, यदुक्तं भवति—रागदोसरहितो णिरुव्हियत्ता अणासियत्तातो य ।

४. (क) आचारांगं चूर्णि, पृष्ठ २६८ : जुतिमं संजमो, खेयणो णाम जाणमो, जुतिमस्स खेयणो, जं णणितं—संजाणमो, अहवा जुत्तिमं सिद्धिक्षेत्रं, तं तु संवत्तिमेहितो जुत्तिमं—जाजल्लमाणं एवमादि ।

(ख) आचारांगं वृत्ति, पत्र २४९ : द्युतिमान् संयमो मोक्षो वा ।

५. आचारांगं चूर्णि, पृष्ठ २६८-२६९ : केवली भगवं इमं जाणइ—जेहि कम्मोहि जह उववज्जति, तं जहा—नेरइएणु ताव महारंभयाए महापरिग्रहयाए जाव देवाणं, द्युयं—चयणं च । तं च जाणइ जो जत्तियं जीवित्ता चयति, अहवा उववातो नारगदेवाणं, तिरियमणुस्साणं जम्मं, चयणं जोइसियवेमानिकानां, सेसाणं उक्खट्टणं ।

६. द्रष्टव्यम्—पणवणा ६।४६ ।

७. आचारांगं वृत्ति, पत्र २४९ : देवलोकेऽप्युपपातं च्यवनं च ।

## ३६. पासहेगे सर्व्विदिर्ह परिग्लायमाणोहि ।

सं०—पश्यत, एके सर्व्वेन्द्रियैः परिग्लायमानैः ।

तुम देखो, आहार के बिना कुछ मुनि सभी इन्द्रियों की शक्ति से हीन हो जाते हैं ।

भाष्यम् ३६—पश्यत, एके केचित् आहारेण विना सर्व्वैः श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैः परिग्लायमानैः क्षीणशक्तयो दृश्यन्ते । 'एके' शब्देन इति ध्वन्यते—सर्व्वेषां नायं नियमो निरपवादः । केचित् आहारं अकुर्वाणा अपि आहार-पुद्गलानामाकर्षणवैचित्र्यात् अपरिग्लायन्तो दृश्यन्ते ।

देखो, कुछेक मुनि आहार के बिना श्रोत्र आदि सभी इन्द्रियों की शक्ति से क्षीण दिखाई देते हैं । 'एके' शब्द से यह ध्वनित होता है कि यह नियम सब पर निरपवाद रूप से लागू नहीं होता । कुछ मुनि आहार न करते हुए भी इन्द्रियों की शक्ति से क्षीण नहीं होते, क्योंकि उनमें आहार योग्य पुद्गलों को आकृष्ट करने की विचित्र योग्यता होती है ।

## ३७. ओए दयं दयइ ।

सं०—ओजः दयां दयते ।

अहिंसक और अपरिग्रही मुनि दया का पालन करता है ।

भाष्यम् ३७—ओजः भिक्षुः शरीरधारणार्थं आहारं करोति, यथा—तहा भोत्तध्वं जहा से जायमाता य भवति, तथा च पुत्त्वकम्मखयद्वाए इमं वेहं समुद्धरे ।<sup>१</sup> तथापि स सर्व्वेषां प्राणिनां दयां दयते, दयां पालयतीति यावत् ।<sup>२</sup>

ओज—अहिंसक और अपरिग्रही मुनि शरीर धारण के लिए आहार ग्रहण करता है । जैसे कहा है—मुनि को उतना भोजन करना चाहिए जिससे जीवन-यात्रा चल सके, तथा यह भी कहा है—मुनि कर्मों को क्षीण करने के लिए इस शरीर को धारण करे । फिर भी वह भिक्षु सभी जीवों के प्रति दया करता है अर्थात् दया का पालन करता है ।

## ३८. जे सन्निहाण-सत्थस्स खेयणो ।

सं०—यः सन्निधानशस्त्रस्य क्षेत्रज्ञः ।

जो सन्निधान के शस्त्र को जानता है ।

भाष्यम् ३८—यो भिक्षुः सन्निधानशस्त्रस्य<sup>१</sup> ज्ञाताऽस्ति स एव दयां पालयितुं हिंसादोषदुष्टमाहारं वर्जयेत् ।

जो भिक्षु सन्निधान—संचय या संग्रह के शस्त्र का ज्ञाता है, वही दया का पालन करने के लिए हिंसा के दोष से दूषित आहार का वर्जन कर सकता है ।

१. अंगसुत्ताणि १, पण्हावागरणाइं, १।११ ।

२. उत्तरउत्तरयणाणि ६।१३ ।

३. शरीर अनित्य है, तब मुनि को आहार क्यों करना चाहिए ? यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है । इसके उत्तर में सूत्रकार ने बताया कर्म-मुक्ति के लिए शरीर-धारण आवश्यक है और शरीर-धारण के लिए आहार आवश्यक है । अतः आहार का निषेध नहीं किया जा सकता । किन्तु आहार करने में अहिंसा की अनिवार्यता बतलाई गई है ।

४. चूणिकार और वृत्तिकार ने सन्निधान का अर्थ कर्म किया है—

'सन्निधि सन्निहाणं, जेण पुण जोनिग्गहणे चउगइए संसारे तासु तासु गतिसु सन्निधीयते तं सण्णिहाणं—कम्मं' (आचारांग चूणि, पृष्ठ २७०) ।

'सम्म्यइ, निधीयते नारकादिगतिसु येन तत्सन्निधानं—

कम्मं' (आचारांग वृत्ति, पत्र २४९ ।)

किन्तु वह प्रसंगानुसारी नहीं लगता । यहां सन्निधान का अर्थ 'भोजन आदि पदार्थों का संग्रह' होना चाहिए । इसी आगम के दूसरे अध्ययन 'लोकविचय' (१०४-१११) में इस विषय का विस्तृत वर्णन है । यहां उसी का संक्षेप है । उसके सन्दर्भ में सन्निधान का यही अर्थ घटित होता है ।

चूणि और वृत्ति में 'सत्थ' का अर्थ शास्त्र किया है । वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में शास्त्र भी किया है ।

तस्स सत्थं नाणादिपंचगं (आचारांग चूणि पृष्ठ, २७०) तस्य स्वरूपनिरूपकं शास्त्रं, यद्विवा सन्निधानस्य कर्मणः शास्त्रं संयमः सन्निधानशस्त्रम् ।'

(आचारांग वृत्ति, पत्र २४९)



३६. से भिक्षु कालज्ञे बलज्ञे मात्राज्ञे क्षणज्ञे विनयज्ञे समयज्ञे परिग्रहं अममायमाने कालेणुट्टाई अपडिण्णे ।

सं० - स भिक्षुः कालज्ञः बलज्ञः मात्राज्ञः क्षणज्ञः विनयज्ञः समयज्ञः परिग्रहं अममायमानः काले उत्थायी अप्रतिज्ञः ।

वह भिक्षु कालज्ञ, बलज्ञ, मात्राज्ञ, क्षणज्ञ, विनयज्ञ, समयज्ञ, परिग्रह पर भ्रमत्व नहीं करने वाला, उचित समय पर अनुष्ठान करने वाला और अप्रतिज्ञ होता है ।

भाष्यम् ३९—द्रष्टव्यम्—२।११० ।

देखें—२।११० ।

४०. बुहओ छेत्ता नियाइ ।

सं० - द्विधा छेत्ता निर्याति ।

वह राग और द्वेष - दोनों बन्धनों को छिन्न कर नियमित जीवन जीता है ।

भाष्यम् ४०—द्रष्टव्यम्—२।१११ ।

देखें—२।१११ ।

४१. तं भिक्षुं सोयफास-परिवेवमाणगायं उवसंक्रमित्तु गाहावई बूया—आउसंतो समणा ! णो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ?

आउसंतो गाहावई ! णो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति । सोयफासं णो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए । णो खलु मे कप्पति अगणिकायं उज्जालेत्तए वा पज्जालेत्तए वा, कायं आयावेत्तए वा पयावेत्तए वा अण्णेसि वा वयणाओ ।

सं०—तं भिक्षुं शीतस्पर्श-परिवेवमाणगायं उपसंक्रम्य गृहपतिः ब्रूयाद्—आयुष्मन् भ्रमण ! नो खलु ते गामधर्माः उद्वाधन्ते ? आयुष्मन् गृहपते ! नो खलु मम गामधर्माः उद्वाधन्ते । शीतस्पर्शं नो खलु अहं संशक्नोमि अधिसोढुम् । नो खलु मम कल्पते अग्निकायं उज्ज्वलयितुं वा प्रज्वलयितुं वा कायं आतापयितुं वा प्रतापयितुं वा अन्येषां वा वचनात् ।

शीत स्पर्श से प्रकम्पमान शरीर वाले भिक्षु के पास आकर गृहपति कहे—आयुष्मन् भ्रमण ! क्या तुम्हें ग्राम्य-धर्म (इन्द्रिय-धासना) बाधित नहीं कर रहे हैं ?

आयुष्मन् गृहपति ! मुझे ग्राम्य-धर्म बाधित नहीं कर रहे हैं । मैं शीत-स्पर्श को सहन करने में समर्थ नहीं हूँ । इसलिए मेरा शरीर प्रकम्पित हो रहा है । मैं अग्निकाय को उज्ज्वलित और प्रज्वलित नहीं कर सकता और दूसरों के कहने से स्वतः प्रज्वलित अग्नि के द्वारा अपने शरीर को आतापित और प्रतापित नहीं कर सकता ।

भाष्यम् ४१—स्पष्टम् ।

स्पष्ट है ।

४२. सिया से एवं वदंतस्स परो अगणिकायं उज्जालेत्ता पज्जालेत्ता कायं आयावेज्ज वा पयावेज्ज वा, तं च भिक्षु पडिलेहाए आगमेत्ता आणवेज्जा अणासेवणाए ।—त्ति वेमि ।

सं०—स्यात् तस्य एवं वदतः परः अग्निकायं उज्ज्वलयत्य प्रज्वलयत्य कायं आतापयेत् वा प्रतापयेत् वा, तं च भिक्षुः प्रतिलिख्य आगम्य आज्ञापयेत् अनासेवनाय ।—इति ब्रवीमि ।

भिक्षु के द्वारा ऐसा कहने पर भी कदाचित् वह गृहपति अग्नि-काय को उज्ज्वलित और प्रज्वलित कर उसके शरीर को आतापित और प्रतापित करे, तो भिक्षु आगम की आज्ञा को ध्यान में रखकर, उस गृहपति से कहे—मैं अग्निकाय का सेवन नहीं कर सकता ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ४२—स्पष्टम् ।

स्पष्ट है ।

१. पूर्णिकार ने प्रस्तुत सूत्र का काव्यशैली में वर्णन किया है—सो य मज्झिमवओ अधिकृतो साहू, अभिगतत्थो, णवि अतितरुणो णवि अतिविद्धो य, तरुणस्स बलवन्तसरीरस्स ण सीतेण अंगं यरथरेति, विद्धे तु कंभमाणेवि वरो ण मेहणसंकाए संकिज्जति, तेण मज्झिमवतो अधिकृतो साहू,

सो य उच्चनीयमज्झिमाई अइंतो एगस्स ईश्वरस्य गिहं पविसित्ता बाहिरे ठितो, सीतधाया य ते ण बारेण पविसइ, तस्स अंगं सब्बं कंपति, सो य इब्भो मियत्तोमपाउयो कुंकुमाणुगतअगरुविलित्तगतो इसित्ति सुराए व मत्तो इस्सरियउह्हाए अणुगतो, पुणो य अंगारत्तगडियाए अणु-

### चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

४३. जे भिक्षू तिहि वत्थेहि परिवसिते पायचउत्थेहिं, तस्स णं एवं भवति—चउत्थं वत्थं जाइस्सामि ।

सं०—यो भिक्षुः त्रिभिः वस्त्रैः पर्युषितः पात्रचतुर्थैः, तस्य नो एवं भवति—चतुर्थं वस्त्रं याचिष्ये ।

जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र रखने की मर्यादा में स्थित है, उसका मन ऐसा नहीं होता कि मैं चौथे वस्त्र की याचना करूँगा ।

भाष्यम् ४३—प्रस्तुताध्ययने वस्त्रादेशेन चतुर्विधा भिक्षवः निरूपिताः सन्ति—त्रिभिर्द्विभ्यां एकेन वा वस्त्रेण पर्युषिता' अचेलाश्च । वस्त्रग्रहणं द्विविधं—औधिकं औपग्रहिकं च । प्रतिमाप्रतिपन्नो भिक्षुः त्रीणि वस्त्राणि धारयति । अत्र प्राचीनपरम्परा अनुसरणीया ।<sup>१</sup>

त्रिवस्त्रपर्युषितः जिनकल्पो वा स्थविरकल्पो वा भवति, किन्तु द्विवस्त्रपर्युषितः पुनर्नियमतः जिनकल्पिकः, परिहारविशुद्धिचारित्रमाश्रितः, यथालन्दकः, प्रतिमाप्रतिपन्नो वा भवति ।<sup>२</sup>

एकवस्त्रपर्युषितः त्रिवस्त्रद्विवस्त्रपर्युषितेभ्यो बलवान् संहननयुक्तश्च भवति ।

चतुर्थवस्त्रयाचनं औपग्रहिकमस्ति । सत्यपि महाशीते प्रतिमाप्रतिपन्नो भिक्षुः औपग्रहिकवस्त्रयाचनस्य संकल्पं न करोति ।

४४. से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा ।

सं०—स यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत ।

वह यथा-एषणीय—अपनी-अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय वस्त्रों की याचना करे ।

भाष्यम् ४४—आपतितः शीतकालः । वस्त्रत्रयं न विद्यते । तदानीं स जिनकल्पिकादिः यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत—जिनकल्पिकस्य यथा एषणा भणित्वास्ति तथा याचेत । तत्र चतस्रो वस्त्रैषणाः सन्ति ।<sup>३</sup>

तव्यमाणो अंतेपुरपरिबुडो वरइत्थिणइगीतोवरमे कधंचि तं साहं वट्ठं कंयमाणं चितयति — किमयं साहं सीतेण कंपति ? उत एयाओ ममित्थीओ अलंकियाओ वट्ठं मणस्स खोभो जातो ? जेण से वाताविधूतमिव कवलीपत्रं थरथरेति इति, एवं साहं सीयफासेण वेवमाणगायं वट्ठं आसणा ओवट्ठाय तमुवसंक्राम्य ब्रवीति ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २७१)

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २७३ ; परिउसितो पज्जुसितो थितोत्ति वा एगट्ठा ।

प्रस्तुत अध्ययन में वस्त्रों की अपेक्षा से चार प्रकार के मुनियों का निरूपण है—१. तीन वस्त्र रखने वाले मुनि, २. दो वस्त्र रखने वाले मुनि, ३. एक वस्त्र रखने वाले मुनि, ४. निर्वस्त्र मुनि । वस्त्र-ग्रहण दो प्रकार का होता है—औधिक—सामान्य तथा औपग्रहिक—ऋतुसापेक्ष । प्रतिमा की साधना में संलग्न मुनि तीन वस्त्र धारण करता है । इस विषय में प्राचीन परम्परा का अनुसरण करना चाहिए ।

तीन वस्त्र रखने वाला मुनि जिनकल्पी अथवा स्थविरकल्पी होता है । किन्तु दो वस्त्र रखने वाला मुनि नियमतः जिनकल्पी, परिहारविशुद्धिचारित्र का अनुपालन करने वाला, यथालन्दक अथवा प्रतिमा-प्रतिपन्न होता है ।

एक वस्त्र रखने वाला मुनि तीन या दो वस्त्र रखने वाले मुनियों से शक्ति-सम्पन्न और विशेष संहनन युक्त होता है ।

चौथे वस्त्र की याचना करना औपग्रहिक—ऋतुसापेक्ष है । अत्यधिक शीत होने पर भी प्रतिमा-प्रतिपन्न भिक्षु औपग्रहिक वस्त्र की याचना का संकल्प नहीं करता ।

शीतकाल आ गया । तीन वस्त्र नहीं हैं । उस स्थिति में जिनकल्पिक आदि मुनि यथा-एषणीय वस्त्रों की याचना करे—जिनकल्पिक मुनि के लिए वस्त्र-एषणा की जो मर्यादा निरूपित है उसके अनुसार याचना करे । वस्त्रैषणा के चार प्रकार हैं ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २७३ : ते पुण दो सोत्तिया एक्को उष्णिणो, कप्पाणं तु यमाणं संडासो, अहवा वो य रयणीओ चिट्ठं पाउणंति, पढसं एककं पाउणंति खोमियं, पच्छा अतिसीतेण विइज्जयं तस्सुवार्, तहावि अतिसीते ततियं पाउणंति, सव्वत्थ उच्चितं वाहिं, ततो परं महासीते चउत्थं न गिण्हति ।

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २७६ ।

४. द्रष्टव्यम्—आधारचूला ५।१६।२१ ।

४५. अहापरिगृहीयाइं वत्याइं धारेज्जा ।

सं०—यथापरिगृहीतानि वस्त्राणि धारयेत् ।

वह यथा-परिगृहीत वस्त्रों को धारण करे—न छोटा-बड़ा करे और न संवारे ।

भाष्यम् ४५—आचारचूलायामपि किञ्चित् शब्द-भेदेन एतत् सूत्रं उपलभ्यते । 'अहापरिगृहीयाइं वत्याइं धारेज्जा' एतस्य सूत्रस्य तात्पर्यं 'णो धोएज्जा णो रएज्जा' इति वाक्यांशे स्पष्टं भवति । विभूषार्थं धावनं नास्ति अनुज्ञातम्, तेन यथापरिगृहीतं वस्त्रं धारयेद् इति निर्देशः ।

'आचारचूला' में भी यह सूत्र कुछ शब्दभेद के साथ उपलब्ध है । 'यथा-परिगृहीत वस्त्र को धारण करे'—इस सूत्र का तात्पर्य 'न धोए न रंगे'—इस वाक्यांश में स्पष्ट होता है । विभूषा के लिए वस्त्र धोना अनुज्ञात नहीं है, इसलिए यथा-परिगृहीत वस्त्र धारण करे, यह निर्देश दिया गया है ।

४६. णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोय-रत्ताइं वत्याइं धारेज्जा ।

सं०—नो धावेत्, नो रजेत्, नो धीतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत् ।

वह उन वस्त्रों को न धोए, न रंगे और न धोए-रंगे हुए वस्त्रों को धारण करे ।

भाष्यम् ४६ स जिनकल्पिकादिभिक्षुः तानि वस्त्राणि नो धावेत् ।<sup>१</sup> न च कषायधात्वादिभिः रज्येत् । धीतरक्तम्, यथा च चूर्णः

धीतरक्तं नाम जं धोवित्तुं पुणो रयति, अन्नं अरुच्चमाणं धोइउं अण्णेण रयति, जहा अहोयरत्तं तहा अपरिकम्मियंमि ।<sup>२</sup>

वह जिनकल्प आदि की विशिष्ट साधना करने वाला भिक्षु उन वस्त्रों को न धोए । न उन वस्त्रों को कषाय—पीले अथवा लाल रंग से रंगे । धोए-रंगे वस्त्रों के विषय में चूर्णिकार कहते हैं—धीतरक्त का अर्थ है—धोकर पुनः रंगना, अनाकर्षक रंग को धोकर दूसरे रंग से रंगना । जैसे अधीतरक्त है वैसे ही है अपरिकमित—जिसका परिकर्म नहीं किया गया है ।

४७. अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ।

सं०—अपरिकुञ्चन् ग्रामान्तरेषु ।

वह ग्रामान्तर जाता हुआ वस्त्रों को छिपाकर नहीं चलता ।

भाष्यम् ४७—स भिक्षुः उज्जिभतधर्माणि एव वस्त्राणि धारयति, तेनासौ ग्रामान्तरगमने वस्त्राणि अपरिकुञ्चन्—अगोपयन् गन्तुमर्हति, न तस्य चौरादिभयं जायते ।

वह भिक्षु परिष्ठापन योग्य वस्त्रों को ही धारण करता है, इसलिए वह ग्रामान्तर जाता हुआ वस्त्रों को छिपाए बिना जा सकता है । उसको चोर आदि का भय नहीं होता ।

४८. ओमचेलिए ।

सं०—अवमचेलिकः ।

वह अल्प (अतिसाधारण) वस्त्र धारण करता है ।

भाष्यम् ४८—स भिक्षुः गणनेन प्रमाणेन मूल्येन च

वह भिक्षु गणना, प्रमाण और मूल्य की दृष्टि से अवमचेलिक

१. आचारचूला ४१ : से भिक्षु वा भिक्षुणी वा अहे-सणिज्जाइं वत्याइं धारेज्जा, अहापरिगृहीयाइं वत्याइं धारेज्जा णो धोएज्जा, णो रएज्जा, धोयरत्ताइं वत्याइं धारेज्जा । अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए ।

२. अत्र ब्रह्मी गच्छवासिनां सामाचार्या उल्लेखः कृतोस्ति—

गच्छवासिनो ह्यप्राप्तवर्षादौ ग्लानावस्थायां वा प्रासुकोबकेन यतनया धावनमनुज्ञातं, न तु जिनकल्पिकस्येति । (आचारांग वृत्ति, पत्र २५१) ।

चूर्णी एष उल्लेखो नैव लभ्यते ।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २७३ ।

अवमचेलिको भवति ।

—अल्प या अतिसाधारण वस्त्र धारण करने वाला होता है ।

४६. एयं खु वस्त्रधारिस्स सामग्गियं ।

सं०—एतत् खलु वस्त्रधारिणः सामग्र्यम् ।

यह वस्त्रधारी भिक्षु की सामग्री (उपकरण-समूह) है ।

भाष्यम् ४९—स्पष्टम् ।

स्पष्ट है ।

५०. अह पुण एवं जाणेज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्ठवेत्ता—

सं०—अथ पुनः एवं जानीयात्—उपातिक्रान्तः खलु हेमन्तः, ग्रीष्मः प्रतिपन्नः, यथापरिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत्, यथापरिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठाप्य—

भिक्षु यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गई है, तब वह यथापरिजीर्ण वस्त्रों का विसर्जन करे। उनका विसर्जन कर—

भाष्यम् ५०—अत्र प्राचीनपरम्परा—गिम्हे पडिवन्ने चित्ते वइसाहे च, अहापरिजुन्नाइं वत्थाइं परिट्ठवेज्जा सव्वाइंपि, जति बित्तिज्जं हेमंतं ण पावेंति तो परिट्ठवेइ, तथा जुन्नाइं परिट्ठवेत्ता अट्ठमासे अपाउओ चेव भवति, अह पुण एवं जाणज्जा—पडीदुल्लहाइं, न भविस्संति वा, ताहे जं जुण्णं तं परिट्ठवेत्ता सेसगाणि धारेति, ण पाउणति ।\*

वस्त्र-विषयक प्राचीन परम्परा यह है—ग्रीष्म ऋतु के आ जाने पर चैत्र-वैशाख मास में उन सभी जीर्ण वस्त्रों को, यदि वे आगामी हेमन्त ऋतु में काम आने योग्य न हों तो विसर्जित कर दे। जीर्ण वस्त्रों का विसर्जन कर आठ मास तक निर्वस्त्र रहे। यदि यह जाने कि वस्त्र-प्राप्ति दुर्लभ है, आगे मिलने की सम्भावना नहीं है तो अति-जीर्ण वस्त्र को विसर्जित कर शेष को रख ले, किन्तु उन्हें काम में न ले।

५१. अदुवा संतरुत्तरे ।

सं०—अथवा सान्तरोत्तरः ।

या एक अन्तर और एक उत्तर वस्त्र रखे ।

भाष्यम् ५१—ऋतुत्रयकलनायां चैत्रमासोऽपि ग्रीष्म-तविव समवतरति । अत्र प्राचीन परम्परा—जति चित्ते सीतं पडति जहा गोल्लविसए ताहे संतरुत्तरो भवति, एगं अंतरे एगं उत्तरे सवडीभवति ।\*

संवत्सर की तीन ऋतुओं की परिकल्पना में चैत्र मास का अवतरण भी ग्रीष्म ऋतु में होता है। इस विषयक प्राचीन परम्परा यह है—यदि गोल्ल देश की भांति चैत्र मास में ठण्ड पड़ती है तब मुनि 'सान्तरोत्तर' होता है। वह दो वस्त्र धारण करता है—एक अंतर, एक उत्तर ।

वृत्तो सान्तरोत्तरपदं भिन्नदृष्टिकोणेन व्याख्यातम्—'अथवा क्षेत्रादिगुणाद्धिमकणिति वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो भवेत्—सान्तरोत्तरं—प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचित्प्रावृणोति

वृत्तिकार ने 'सान्तरोत्तर' पद की भिन्नदृष्टि से व्याख्या की है—अथवा किसी क्षेत्र विशेष में बर्फीली हवा के चलने पर मुनि अपने आपको तोलने के लिए तथा अपनी शीत-सहन की शक्ति की परीक्षा करने के लिए 'सान्तरोत्तर' होता है—एक अन्तर और एक

१. 'अवम' शब्द गणना और प्रमाण—दो दृष्टियों से विवक्षित है। गणना की दृष्टि से तीन वस्त्र रखने वाला अवम-चेलिक होता है। प्रमाण की दृष्टि से दो रत्नी (मुट्टी बंधा हुआ हाथ) और घूटने से कटि तक चौड़ा वस्त्र रखने वाला अवम-चेलिक होता है ।

(देखें—निसीथ भाष्य, १६।३९, गाथा ५७८९)

धूर्णो गणनाप्रमाणयोरेव उल्लेखोस्ति—ओमचेलिते गणणेण प्रमाणेण य, गणणप्रमाणेणं तिणिण प्रमाणं, प्रमाणेण

य संडासो वो य रयणीओ ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २७३-२७४)

वृत्तो मूल्यस्यापि उल्लेखो वर्तते—अवमं च तच्चेलं च अवमचेलं, प्रमाणतः परिमाणतो मूल्यतश्च, तद्यस्यास्त्य-सावमचेलिकः । (आचारांग वृत्ति, पत्र २५१)

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २७४ ।

३. वही, पृष्ठ २७४ ।

क्वचित्पार्श्ववर्त्ति विभक्ति, शीताशङ्कया नाद्यापि परित्यजति, अथवाऽवमचेल एककल्पपरित्यागात् द्विकल्पधारीत्यर्थः ।<sup>१</sup>

उत्तर वस्त्र रखता है। कभी वह वस्त्र ओढ़ता है और कभी उसको अपने पास रख लेता है। शीत की आशंका से वह अब भी उन वस्त्रों को नहीं छोड़ता। अथवा वह अवमचेलक—अल्पवस्त्रधारी होता है—एक वस्त्र का परित्याग करने पर केवल दो वस्त्रमात्र धारण करता है।

## ५२. अदुवा एगसाडे ।

सं०—अथवा एकशाटः ।

या वह एक-शाटक रहे ।

भाष्यम् ५२-- अथवा यदि द्वे वस्त्रे अतिजीर्णे, एकं साधारणं, तदानीं जीर्णयोः परिष्ठापनं कृत्वा स भिक्षुः एकशाटो भवति । अत्र चूर्णमतं—

एगं धरेत्सि एगसाडो, यदुक्तं भवति—एगप्रावरणो, इतरहा हि तस्स चोलपट्टोवि ण कप्पति, कतो पुण साडओ ?<sup>२</sup>

अथवा यदि दो वस्त्र अतिजीर्ण हो गए हों, एक साधारण है, तब वह भिक्षु दोनों जीर्ण वस्त्रों को विसर्जित कर एक शाटक—एक वस्त्रधारी हो जाता है। इस प्रसंग में चूर्णकार कहते हैं—एक वस्त्र धारण करने के कारण वह एकशाटक होता है। उसे एक प्रावरण वाला कहा जा सकता है। अन्यथा तो उसके 'चोलपट्टा' भी नहीं कल्पता, शाटक की तो बात ही कहां ?

## ५३. अदुवा अचेले ।

सं०—अथवा अचेलः ।

या वह अचेल (वस्त्ररहित) हो जाए ।

भाष्यम् ५३—अथवा सर्वथा अपगते शीते स अचेलो भवति । तात्पर्यमस्य—प्रयोजनं विना वस्त्रं न धारयेत् । वस्त्रधारणस्य त्रीणि प्रयोजनानि स्थानांगे सन्ति निर्दिष्टानि—तिर्हि ठाणेहि वत्थं धरेज्जा, तं जहा—हिरिपत्तियं, दुगुंछापत्तियं, परीसहवत्तियं ।<sup>३</sup>

अथवा शीत ऋतु के सर्वथा व्यतीत हो जाने पर वह अचेल हो जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि मुनि प्रयोजन के बिना वस्त्र धारण न करे। स्थानांग सूत्र में वस्त्र-धारण के तीन प्रयोजन निर्दिष्ट हैं—(१) लज्जा निवारण के लिए (२) जुगुप्सा (घृणा) निवारण के लिए (३) परीसह निवारण के लिए।

## ५४. लाघवियं आगममाणे ।

सं०—लाघविकं आगच्छन् ।

वह लाघव का ध्वस्तन करता हुआ वस्त्र का क्रमिक विसर्जन करे ।

भाष्यम् ५४—स भिक्षुः लाघवार्थं क्रमशः वस्त्राणां न्यूनतां करोति । शेषं ६।६३ भाष्यवत् ।

वह भिक्षु लाघव के लिए वस्त्रों की क्रमिक अल्पता करता है। शेष ६।६३ भाष्य की भांति ।

## ५५. तथे से अभिसमन्नागए भवति ।

सं०—तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति ।

अल्प वस्त्र वाले मुनि के उपकरण-अवमौढ्यं तथा कायक्लेश तप होता है ।

भाष्यम् ५५—द्रष्टव्यम्—६।६४ ।

देखें—६।६४ ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २५२ ।

द्रष्टव्यम्—उत्तरज्जायणाणि २३।२९ का टिप्पण ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २७४ ।

३. अंगमुत्ताणि १, ठाणं ३।३४७ ।

५६. जमेयं भगवया पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

सं०—यदिदं भगवता प्रवेदितं, तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया समत्वमेव समभिजानीयात् ।

भगवान् ने जैसे अल्प-वस्त्रत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (संपूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अबज्ञा न करे ।

भाष्यम् ५६—द्रष्टव्यम्—६।६५ ।

देखें—६।६५ ।

५७. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—पुट्टो खलु अहमंसि, नालमहमंसि सोय-फासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्व-समन्नागय-पण्णाणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणाए आउट्टे ।

सं०—यस्य भिक्षोः एवं भवति—स्पृष्टः खलु अहमस्मि, नालमहमस्मि शीतस्पर्शं अधिसोढुं, स वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेन आत्मना कश्चिद् अकरणतया आवृत्तः ।

जिस भिक्षु को यह लगे—मैं शीतस्पर्श—स्त्री परीषह से आक्रांत हो गया हूँ और मैं इसको सहन करने में समर्थ नहीं हूँ, उस स्थिति में कोई-कोई संयमी भिक्षु अपनी सम्पूर्ण प्रज्ञा और अन्तःकरण को काम-वासना से समेट कर उसका सेवन नहीं करने के लिए उद्यत हो जाता है ।

भाष्यम् ५७—शीतस्पर्शपदेन परीषहद्वयस्य ग्रहणं कृतमस्ति—स्त्रीपरीषहः सत्कार-पुरस्कारपरीषहश्च । यस्य भिक्षोरेवं भवति—स्पृष्टोहमस्मि शीतस्पर्शेन, तं अधिसोढुं नालमहमस्मि सुदर्शनवत् ।<sup>१</sup> प्राप्तायामस्याम-वस्थायां कश्चित् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानः<sup>२</sup> तस्य अकरणाय—अनासेवनाय आवृत्तो<sup>३</sup> भवति ।

'शीतस्पर्श'—पद से दो परीषहों—स्त्री परीषह तथा सत्कार-पुरस्कार परीषह का ग्रहण किया गया है । जिस भिक्षु को यह लगे कि मैं शीतस्पर्श (स्त्री परीषह) से आक्रांत हो गया हूँ और मैं उसको सहन करने में सुदर्शन की भांति समर्थ नहीं हूँ । ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने पर कोई पूर्ण प्रज्ञावान् मुनि 'काम' का सेवन न करने के लिए उद्यत हो जाता है ।

५८. तवस्सिणो हू तं सेयं, जमेगे विहमाइए ।

सं०—तपस्विनः खलु तत् श्रेयः यदेकः विहमाददीत ।

उस तपस्वी के लिए वह श्रेय है कि वह ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए फांसी लेकर प्राण-विसर्जन कर दे ।

भाष्यम् ५८—कश्चिद् अबलो भवति । मनसा वाचा कायेन च नात्मानं विषयेभ्यः प्रतिसंहर्तुं प्रत्यलः । तस्य तपस्विनः विहितमार्गेण प्राणत्यागः श्रेयान् । विधिश्चात्र—तस्यां स्त्रीभिः सन्निरुद्धावस्थायां स विहमिति आकाशं आददीत । अत्र प्राचीनपरम्परा—

कइतवउब्बंधणं, सा य तं वारेति विद्धंसेज्जत्ति तो सुंवरं, अह ण विसज्जेति ताहे चित्तेइ—मा मे भंगो भविस्सति उब्बंधिज्जादि ।

कोई मुनि दुर्बल होता है । वह मनसा-वाचा-कर्मणा इन्द्रिय-विषयों से अपने आपको दूर करने के लिए समर्थ नहीं होता । उस तपस्वी मुनि के लिए विहित-मार्ग से प्राण-त्याग करना श्रेयस्कर है । उसकी विधि यह है—यदि स्त्रियां उसे रोक ले तो उस स्थिति में मुनि विह्व अर्थात् आकाश को स्वीकार करे—गले में फांसी डालकर प्राण-विसर्जन कर दे । इस प्रसंग की प्राचीन परम्परा यह है—यदि स्त्री उसे आक्रांत कर ले तो वह दिखावटी फांसी लगाने का प्रयत्न करे । उस समय यदि वह स्त्री उस मुनि को फांसी लगाने से रोकें, उसे छोड़ दे तो अच्छा है । यदि न छोड़े तब वह—'मेरे संयम का भंग न हो', यह सांचकर फांसी लगा ले ।

५९. तत्थावि तस्स कालपरियाए ।

सं०—तत्रापि तस्य कालपर्यायः ।

ऐसा करने पर भी उसकी वह काल-मृत्यु होती है ।

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ २७५ : जहा सुदंसणो गाहावई तहा णालमहं तं पडुप्पन्नं अहियासेइ ।

२. द्रष्टव्यम्—आयारो, १।१७४ सूत्रम् ।

३. आचारांग चूणि, पृष्ठ २७५ : आउट्टित्ति वा अब्भुट्टित्ति वा एगट्टा ।

४. वही, पृष्ठ २७५ ।

भाष्यम् ५९—तस्यां उपसर्गविस्थायां असहनीये वा मोहनीये तस्य उपसर्गप्राप्तस्य भिक्षोः एष कालपर्यायः<sup>१</sup> अप्रतिषिद्धोस्ति—कारणे पुनः अप्पडिकुट्टाई, तं जहा—वेहाणसे चेव गिद्धपट्ठे चेव ।<sup>२</sup>

उस उपसर्ग की अवस्था में अथवा असहनीय मोहनीय कर्म की स्थिति में उपसर्ग में फंसे उस भिक्षु का यह कालपर्याय (फांसी लगाकर मरना) अप्रतिषिद्ध है। स्थानांग में कहा है—शीलरक्षा आदि प्रयोजन होने पर मुक्ति के लिए दो प्रकार के मरण अनुमत हैं—वैहायस मरण—फांसी लगाकर मरना तथा गृद्धस्पृष्ट मरण—बृहत्काय वाले जानवर के शव में प्रवेश कर शरीर का व्युत्सर्ग करना।

### ६०. से वि तत्थ विअंतिकारए ।

सं०—सोऽपि तत्र व्यन्तिकारकः ।

उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया करने वाला भी हो सकता है ।

भाष्यम् ६०—स एवं कारणिकं<sup>३</sup> मृत्युं त्रियमाणो भिक्षुः तत्र व्यन्तिकारकः—अन्तक्रियाकारकः सर्वकर्मक्षयकारक इति यावत् भवति ।

उस प्रकार की कारणिक—आपवादिक मृत्यु से मरने वाला वह भिक्षु अन्तक्रिया करने वाला अर्थात् पूर्ण कर्म-क्षय करने वाला होता है ।

### ६१. इच्चेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, णिस्सेयसं, आणुगामियं ।—त्ति वेमि ।

सं०—इत्येतत् विमोहायतनं हितं सुखं क्षमं निःश्रेयसं आनुगामिकम् ।—इति ब्रवीमि ।

यह मरण प्राण-विमोह की साधना का आयतन, हितकर, सुखकर, कालोचित, कल्याणकारी और भविष्य में साथ देने वाला होता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ६१—एतन्मरणं कालमोहव्यपनोदाय स्वीक्रियते इति हेतोः एतत् विमोहसाधनाया आयतनं<sup>४</sup> हितकरं, शुभं सुखकरं वा, क्षमं—कालोचितं, निःश्रेयसं—कल्याणकारि, आनुगामिकं—पुनर्बोधिलाभाय भवति ।<sup>५</sup>

यह मरण कालमोह—मृत्यु की मूर्च्छा को दूर करने के लिए स्वीकार किया जाता है । इसलिए यह विमोह की साधना का आयतन, हितकर, शुभकर अथवा सुखकर, कालोचित, कल्याणकारी तथा पुनः बोधि की उपलब्धि के लिए होता है ।

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ २७६ : 'कासकरणं कालपज्जाओ ।'

२. अंगसुत्ताणि १, ठाणं २।४१३ ।

३. आचारांग चूणि, पृष्ठ २७६ : 'तस्स तं कारणमासज्ज उवसग्गमरणमेव गणिज्जति, इति एवं, अब्वाइयं मरणं अतीतकाले अणंता साहू मरित्ता निब्ब्राणगमणं पत्ता ।'

४. वृत्तौ 'विगतमोहनामायतनं आश्रयः कर्तव्यतया' इति व्याख्यातमस्ति । (आचारांग श्रुति, पत्र २५३)

५. बाईस परीषह में स्त्री और सत्कार—ये दो परीषह शीत और शेष बीस परीषह उष्ण होते हैं (आचारांग निर्युक्ति, गाथा २०२) । प्रस्तुत प्रकरण में शीतस्पर्श का अर्थ स्त्री परीषह या कामभोग है ।

भिक्षु भिक्षा के लिए गृहस्थ के घर जाता है, उस समय उसके पारिवारिक लोग उसे घर में रखने का प्रयत्न करते हैं अथवा किसी अन्य घर में जाने पर कोई स्त्री मुग्ध होकर उसे अपने घर में रखने का प्रयत्न करती है । उस स्थिति में उसे क्या करना चाहिए ? प्रस्तुत आलापक में सूत्रकार ने इसका निर्देश दिया है ।

मरण दो प्रकार का होता है—बाल-मरण और पण्डित-

मरण । वैहायस—फांसी लगाकर मरना बाल-मरण है । अनशन पण्डित मरण है (भगवती सूत्र, २।४९) । किन्तु तात्कालिक परिस्थिति में फंसा हुआ भिक्षु अनशन का प्रयोग कैसे करे ? उस समय ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए उसे वैहायस-मृत्यु के प्रयोग की स्वीकृति दी गई है । इस स्थिति में वह बाल-मरण नहीं है ।

सूत्रकार यहाँ एक स्थिति की ओर संकेत करते हैं । कोई भिक्षु भिक्षा के लिए जाए । पारिवारिक लोग उसकी पूर्व-पत्नी सहित उसे कमरे में बंद कर दें । वह उससे बाहर निकल न सके । उसकी पूर्व-पत्नी उसे विचलित करने का प्रयत्न करे । तब वह श्वास बंद कर मृतक जैसा हो जाए और अक्सर पाकर गले में दिखावटी फांसी लगाने का प्रयत्न करे । उस समय वह स्त्री कहे—आप चले जाएं, किन्तु प्राण-त्याग न करें । तब भिक्षु आ जाए और यदि वह स्त्री उसे ऐसा न कहे, तो वह गले में फांसी लगाकर प्राण-त्याग कर दे । ऐसा करना बाल-मरण नहीं है—यह भगवान् महावीर के द्वारा अनुज्ञात है ।

### पंचमो उद्देशो : पांचवां उद्देशक

६२. जे भिक्षू दोहो वत्थोहो परिवसिते पायतइएहि, तस्स णो एवं भवति—तइयं वत्थं जाइस्सामि ।

सं०—यो भिक्षुः द्वाभ्यां वस्त्राभ्यां पर्युषितः पात्रतृतीयाभ्यां, तस्य नो एवं भवति—तृतीयं वस्त्रं याचिष्ये ।

जो भिक्षु दो वस्त्र और एक पात्र रखने की मर्यादा में स्थित है, उसका मन ऐसा नहीं होता कि मैं तीसरे वस्त्र की याचना करूंगा ।

६३. से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा ।

सं०—स यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत् ।

वह यथा-एषणीय—अपनी-अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार वस्त्रों की याचना करे ।

६४. अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारेज्जा ।

सं०—यथापरिगृहीतानि वस्त्राणि धारयेत् ।

वह यथा-परिगृहीत वस्त्रों को धारण करे—न छोटा-बड़ा करे और न संवारे ।

६५. णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोय-रत्ताइं वत्थाइं धारेज्जा ।

सं०—नो धावेत्, नो रजेत्, नो धीतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत् ।

वह उन वस्त्रों को न धोए, न रंगे और न धोए-रंगे हुए वस्त्रों को धारण करे ।

६६. अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ।

सं०—अपरिकुञ्चन् ग्रामान्तरेषु ।

वह ग्रामान्तर जाता हुआ वस्त्रों को छिपाकर नहीं चलता ।

६७. ओमचेलिए ।

सं०—अवमचेलिकः ।

वह अल्प (अतिसाधारण) वस्त्र धारण करता है ।

६८. एयं खु तस्स भिक्षुस्स सामगियं ।

सं०—एतत् खलु तस्य भिक्षोः सामग्र्यम् ।

यह वस्त्रधारी भिक्षु की सामग्री (उपकरण-समूह) है ।

६९. अह पुण एवं जाणेज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमंते, गिग्हे पडिचन्ने, अहापरिजुण्णाइं वत्थाइं परिट्टवेज्जा, अहापरि-जुण्णाइं वत्थाइं परिट्टवेत्ता—

सं०—अथ पुनः एवं जानीयात्—उपातिक्कान्तः खलु हेमन्तः, ग्रीष्मः प्रतिपन्नः, यथापरिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठापयेत्, यथा-परिजीर्णानि वस्त्राणि परिष्ठाप्य—

भिक्षु यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गई है, तब वह यथा-परिजीर्ण वस्त्रों का विसर्जन करे । उनका विसर्जन कर—

७०. अबुवा एगसाडे ।

सं०—अथवा एकशाटः ।

या वह एक-शाटक रहे ।



७१. अदुवा अचले ।

सं०—अथवा अचलः ।

या वह अचल (वस्त्र-रहित) हो जाए ।

७२. लाघवियं आगममाणे ।

सं०—लाघविकं आगच्छन् ।

वह लाघव का चिन्तन करता हुआ वस्त्र का क्रमिक विसर्जन करे ।

७३. तवे से अभिसमन्वागए भवति ।

सं०—तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति ।

अल्प वस्त्र वाले मुनि के उपकरण-अवमोच्य तथा कायक्लेश तप होता है ।

७४. जमेयं भगवता प्रवेदितं, तमेव अभिसमेच्छा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

सं०—यदिदं भगवता प्रवेदितं, तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया समत्वमेव समभिजानीयात् ।

भगवान् ने जैसे अल्प-वस्त्रत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे ।

भाष्यम् ६२-७४ - द्रष्टव्यम्—४३-५६ ।

देखें—४३-५६ ।

७५. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—पुट्ठो अबलो अहमंसि, नालमहमंसि गिहंतर-संकमणं भिक्खार्यरिय-गमणाए से एवं ववंतस्स परो अभिहडं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलएज्जा, से पुठ्ठामेव आलोएज्जा आउसंतो ! गाहावतो ! णो खलु मे कप्पइ अभिहडे असणे वा पाणे वा खाइमे वा साइमे वा भोत्तए वा, पायए वा, अण्णे वा एयप्पगारे ।

सं०—यस्य भिक्षोः एवं भवति—स्पृष्टोऽबलोहमस्मि, नालमहमस्मि गृहान्तरसंक्रमणाय भिक्षाचर्यागमनाय, तस्य एवं वदतः परः अभिहृतं अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा आहृत्य दद्यात्, स पूर्वमेव आलोचयेत् आयुष्मन् गृहपते ! नो खलु मम कल्पते अभिहृतं अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा भोक्तुं वा पातुं वा अम्यद् वा एतत् प्रकारम् ।

जिस भिक्षु को यह लगे—मैं रोग से आक्रांत होने के कारण दुर्बल हो गया हूँ । मैं भिक्षाचर्या के निमित्त नाना घरों में जाने में समर्थ नहीं हूँ । इस प्रकार कहने वाले भिक्षु को गृहस्थ अपने घर से अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य लाकर दे । वह भिक्षु पहले ही आलोचना करे—यह आहार किस दोष से दूषित है । आलोचना कर कहे—‘आयुष्मन् गृहपति ! यह घर से लाया हुआ अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य मैं खा-पी नहीं सकता ।’ इस प्रकार के दूसरे दोष से दूषित आहार के लिए भी वह गृहपति को प्रतिषेध कर दे ।

भाष्यम् ७५—अत्र परपदेन श्रावकादीनां ग्रहणं, यथा प्रस्तुत आलापक में ‘पर’ शब्द से श्रावक आदि का ग्रहण च चूर्णी—‘परो णाम सावओ वा सण्णी अहामहओ वा किया है । जैसे—चूर्णिकार ने ‘पर’ के चार अर्थ किए हैं श्रावक, भिच्छाविट्ठी वा अणुक्पाए परिणतो ।’ संज्ञी, यथाभद्रक और अनुक्पा में परिणत मिथ्यादृष्टि ।

७६. जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे—अहं च खलु पडिण्णत्तो अपडिण्णत्तेहि, गिलाणो अगिलाणेहि, अभिकंख साहम्मिएहि कीरमाणं वेयावडियं सातिज्जिस्सामि । अहं वा वि खलु अपडिण्णत्तो पडिण्णत्तस्स, अगिलाणो गिलाणस्स, अभिकंख साहम्मिअस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए ।

सं०—यस्य भिक्षोः अयं प्रकल्पः—अहं च खलु प्रतिज्ञप्तः अप्रतिज्ञप्तैः, ग्लानः अग्लानैः, अभिकांक्ष्य साधमिकैः, क्रियमाणं वेयापृष्यं स्वादयिष्यामि । अहं वापि खलु अप्रतिज्ञप्तः प्रतिज्ञप्तस्य, अग्लानः ग्लानस्य, अभिकांक्ष्य साधमिकस्य कुर्यात् वेयापृष्यं करणाय ।

१. आचार्यग चूर्णि, पृष्ठ २७७ ।

जिस भिक्षु का यह प्रकल्प (सामाचारी या मर्यादा) होता है—‘मैं ग्लान हूँ और मेरे साधमिक साधु अग्लान हैं, उन्होंने मेरी सेवा करने के लिए मुझे कहा है, मैंने अपनी सेवा के लिए उनसे अनुरोध नहीं किया है। निर्जरा के उद्देश्य से उन साधमिकों के द्वारा की जाने वाली सेवा का मैं अनुमोदन करूँगा।’

अथवा

‘साधमिक भिक्षु ग्लान हैं, मैं अग्लान हूँ। उन्होंने अपनी सेवा करने के लिए मुझे अनुरोध नहीं किया है, मैंने उनकी सेवा करने के लिए उनसे अनुरोध किया है। निर्जरा के उद्देश्य से उन साधमिकों की सेवा करूँगा—पारस्परिक उपकार की दृष्टि से।’

भाष्यम् ७६—यस्येति परिहारविशुद्धिकस्य यथा-  
लन्दिकस्य वा भिक्षोः अयं प्रकल्पो भवति। प्रकल्पः—  
मर्यादा। कल्पो पक्वो सामाचारी भज्जाता इति चूर्णः।  
आभिकांक्ष्य—उद्दिश्य निर्जरामिति अध्याहार्यम्।  
साधमिकैः—सदृशकल्पिकैः। अत्र प्राचीनपरम्परा—

तस्स पुण अणुपरिहारितो करेति, कप्पट्ठितो वा, जइ तेवि  
गिलाणाओ सेसगा करेति, एवं अहालंदिताणवि, अभिकंख  
साहंमिययेथावडियं सो निज्जराकंखितेहि सरिकप्पएहि, ण पुण  
येरकप्पिएहि गिहत्थेहि वा कौरमाणं सातिज्जिस्सामि।<sup>११</sup>

जिसका अर्थात् परिहारविशुद्धिचरित्र वाले मुनि अथवा  
यथालंदक मुनि का यह प्रकल्प होता है। प्रकल्प का अर्थ है—मर्यादा।  
चूर्णकार ने कल्प, प्रकल्प, सामाचारी, मर्यादा—इन्हें एकार्थक माना  
है। अभिकांक्ष्य का अर्थ है—निर्जरा के उद्देश्य से। साधमिक का अर्थ  
है—समान सामाचारी वाला मुनि। इस प्रसंग में प्राचीन परम्परा यह  
है—परिहारविशुद्धि मुनि यदि ग्लान हो जाता है तो उसकी सेवा  
अनुपारिहारिक (परिहारविशुद्धि वाला दूसरा मुनि) करता है, अथवा  
कोई कल्पस्थित—जिनकल्पी मुनि करता है। यदि वे भी ग्लान हो  
जाएँ तब शेष मुनि सेवा करते हैं। यही विधि यथालंदक मुनि के लिए  
है। निर्जरा के उद्देश्य से साधमिकों द्वारा की जाने वाली सेवा को वह  
स्वीकार करता है, किन्तु स्थविरकल्पी तथा गृहस्थों के द्वारा की जाने  
वाली सेवा का वह अनुमोदन नहीं करता।

७७. आहट्टु पइण्णं आणक्खेस्सामि, आहडं च सातिज्जिस्सामि, आहट्टु पइण्णं आणक्खेस्सामि, आहडं च णो  
सातिज्जिस्सामि, आहट्टु पइण्णं णो आणक्खेस्सामि, आहडं च सातिज्जिस्सामि, आहट्टु पइण्णं णो आणक्खेस्सामि,  
आहडं च णो सातिज्जिस्सामि।

सं०—आहृत्य प्रतिज्ञां आनेष्यामि, आहृतं च स्वादयिष्यामि, आहृत्य प्रतिज्ञां आनेष्यामि, आहृतं च नो स्वादयिष्यामि, आहृत्य  
प्रतिज्ञां नो आनेष्यामि, आहृतं च स्वादयिष्यामि, आहृत्य प्रतिज्ञां नो आनेष्यामि, आहृतं च नो स्वादयिष्यामि।

भिक्षु यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है, मैं साधमिक भिक्षुओं के लिए आहार आदि लाऊँगा और उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार भी  
करूँगा।

अथवा

मैं उनके लिए आहार आदि लाऊँगा, किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार नहीं करूँगा।

अथवा

मैं उनके लिए आहार आदि नहीं लाऊँगा, किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूँगा।

अथवा

मैं न उनके लिए आहार आदि लाऊँगा और न उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूँगा।

(भिक्षु ग्लान होने पर भी इस प्रकल्प और प्रतिज्ञा का पालन करे। जंघाबल क्षीण होने पर भक्त-प्रत्याख्यान अनशन द्वारा समाधि-  
मरण करे)।

भाष्यम् ७७—आहट्टु—आहृत्य आरुह्य वा प्रतिज्ञाम्।

आहट्टु का अर्थ है—प्रतिज्ञा को ग्रहण कर अथवा प्रतिज्ञा पर

१. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २७७।

२. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २७८।

चूर्णो स्थविरकल्पैः क्रियमाणस्य वैयावृत्यस्य निषेधः।  
वृत्तौ तस्य विधिर्दृश्यते, किन्तु परिहारविशुद्धिकानां स्थविर-  
कल्पिका न सन्ति सदृशकल्पिका इति अस्ति वृत्तेः मतं  
चिन्त्यम्, यथा च वृत्तिः—‘तत्र परिहारविशुद्धिकस्यानु-

परिहारिकः करोति कल्पस्थितो वा परो, यदि पुनस्तेऽपि  
ग्लानास्ततोऽन्ये न कुर्वन्ति, एवं यथालन्दिकस्यापीति,  
केवलं तस्य स्थविरा अपि कुर्वन्तीति दर्शयति—निर्जरां  
‘अभिकांक्ष्य’ उद्दिश्य साधमिकैः सदृशकल्पिकैरेककल्पस्थै-  
रपरसाधुभिर्वा क्रियमाणं वैयावृत्यमहं ‘स्वादयिष्यामि’  
अभिकांक्षयिष्यामि। (आचारंग वृत्ति, पत्र २५५)

आणक्खेस्सामि'—आनेष्यामि । अत्र प्राचीनपरम्परा --- ततियभंगे अहालदिया चेष पडिहवी, चउत्थभंगे जिणकल्पिओ ।\*

आरूढ़ होकर । आणक्खेस्सामि का अर्थ है—लाऊंगा । इस प्रसंग में प्राचीन परम्परा यह है—सूत्र में दिए गए चार विकल्पों में से तीसरे विकल्प में यथालंदिक मुनि का और चौथे विकल्प में जिनकल्पिक मुनि का समावेश होता है ।

### ७८. लाघवियं आगममाणे ।

सं० लाघविकं आगच्छन् ।

वह लाघव का चिन्तन करता हुआ वस्त्र का क्रमिक विसर्जन और अभिग्रह का प्रयोग करे ।

### ७९. तवे से अभिसमण्णागए भवति ।

सं०—तपस्तस्य अभिसमण्णागतं भवति ।

अल्प वस्त्र और अभिग्रह वाले मुनि के उपकरण-अवमौदर्य तथा कायबलेश तप होता है ।

### ८०. जमेयं भगवता प्रवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सध्वतो सुवत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

सं० यदिदं भगवता प्रवेदितं तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया समत्वमेव समभिजानीयात् ।

भगवान् ने जैसे अल्पवस्त्र और अभिग्रह का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (संपूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे ।

भाष्यम् ७८-८०—द्रष्टव्यम्— ६।६३-६५ ।

देखें— ६।६३-६५ ।

### ८१. एवं से अहाकिट्टियमेव धम्मं समहिजाणमाणे संते विरते सुसमाहितलेसे ।

सं०—एवं स यथाकीर्तितमेव धर्मं समभिजानन् शान्तः विरतः सुसमाहितलेश्यः ।

इस प्रकार वह भिक्षु तीर्थंकरों के द्वारा निरूपित धर्म को जानता हुआ शान्त, विरत और सुसमाहितलेश्या वाला बने ।

भाष्यम् ८१—एवं भगवता तीर्थंकरेण धर्मः—वस्त्रादि समाचारः अभिग्रहविशेषो वा यथाकीर्तितः । तस्य समभिजानेन शान्तिः विरतिः सुसमाहिता च लेश्या भवति । शान्तिमनुभवन्नेव स शान्तः, विषयेभ्यो विरतिमनुभवन्नेव स विरतः, समाधियुक्तं लेश्यामनुभवन्नेव स सुसमाहितलेश्यो' प्रोच्यते ।

इस प्रकार तीर्थंकर भगवान् ने धर्म—वस्त्र आदि विषयक सामाचारी अथवा अभिग्रह विशेष का निरूपण किया है । उसके सम्यग् ज्ञान के तीन परिणाम होते हैं—शांति, विरति और सुसमाहित लेश्या । शांति का अनुभव करने के कारण वह शांत, शब्द-रूप आदि विषयों से विरति का अनुभव करने के कारण वह विरत और समाधियुक्त लेश्या का अनुभव करने के कारण वह सुसमाहित-लेश्या वाला कहलाता है ।

### ८२. तत्थावि तस्स कालपरियाए ।

सं०—तत्रापि तस्य कालपर्यायः ।

ऐसा करने पर भी उस ग्लान भिक्षु को वह काल-मृत्यु होती है ।

भाष्यम् ८२—तत्र ग्लानावस्थायां स ग्लानः अपरि- कर्मशरीरः अन्येन असदृशकल्पकेन गृहीतं गृह्णन् यदि

उस ग्लान अवस्था में वह ग्लान मुनि शरीर की सार-संभाल न करता हुआ, दूसरे असमान कल्पवाले मुनि के द्वारा गृहीत वस्तु को

१. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ २७८ : अनिक्खिरसामित्ति-अणिस्सिसामि करेस्सामि.....अणिक्खिस्सामि गिलायमाणस्स, जं भणितं-आतेत्तुं विस्सामि ।  
(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २५६ : 'अन्वीक्षिष्ये' । एतत्

क्रियापदं देशीपदसंबद्धमेव संभाव्यते ।

२. आचारांग चूणि, पृष्ठ २७८ ।

३. आचारांग चूणि, पृष्ठ २७९ : पसत्थामु लेसामु अप्पा आहितो जस्स जेण वा अप्पत्ते आहियाओ लेस्साओ ।

कालं कुर्यात् तदा तस्य कालपर्यायः अनुज्ञात एव ।

लेता हुआ यदि प्राण-विसर्जन करता है, तो उसकी वह कालमृत्यु अनुज्ञात ही है, सम्मत ही है ।

८३. से तत्थ विअंतिकारए ।

सं०—स तत्र व्यन्तिकारकः ।

उस मृत्यु से वह अन्तक्रिया करने वाला भी हो सकता है ।

८४. इच्छेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, णिस्सेयसं, आणुगामियं ।—सि बेमि ।

सं०—इत्येतत् विमोहायतनं हितं सुखं क्षमं निःश्रेयसं आनुगामिकम् ।— इति ब्रवीमि ।

यह मरण प्राण-विमोह की साधना का आयतन, हितकर, सुखकर, कालोचित, कल्याणकारी और भविष्य में साय देने वाला होता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् ८३-८४—द्रष्टव्यम्—६०, ६१ ।

देखें—६०, ६१ ।

### छटो उद्देशो : छठा उद्देशक

८५. जे भिक्षू एणेण वत्थेण परिवुसिते पायविइएण, तस्स णो एवं भवइ—विइयं वत्थं जाइस्सामि ।

सं०—यो भिक्षुः एकेन वस्त्रेण पर्युषितः पात्र-द्वितीयेन, तस्य नो एवं भवति—द्वितीयं वस्त्रं याचिष्ये ।

जो भिक्षु एक वस्त्र और एक पात्र रखने की मर्यादा में स्थित है, उसका मन ऐसा नहीं होता कि मैं दूसरे वस्त्र की याचना करूँगा ।

८६. से अहेसणिज्जं वत्थं जाएज्जा ।

सं०—स यथेषणीयं वस्त्रं याचेत् ।

वह यथा-एषणीय अपनी-अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय वस्त्र की याचना करे ।

८७. अहापरिगृहीतं वत्थं धारेज्जा ।

सं०—यथापरिगृहीतं वस्त्रं धारयेत् ।

वह यथा-परिगृहीत वस्त्रों को धारण करे—न छोटा-बड़ा करे और न संवारे ।

८८. णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोय-रत्तं वत्थं धारेज्जा ।

सं०—नो धावेत् नो रजेत् नो धौतरक्तं वस्त्रं धारयेत् ।

वह उन वस्त्रों को न धोए, न रंगे और न धोए-रंगे वस्त्रों को धारण करे ।

८९. अपलिउच्चमाणे गामंतरेसु ।

सं०—अपरिकुञ्चन् ग्रामान्तरेषु ।

वह ग्रामान्तर जाता हुआ वस्त्रों को छिपाकर नहीं चलता ।

६०. ओमचेलिए ।

सं०—अवमचेलिकः ।

वह अल्प (अतिसाधारण) वस्त्र धारण करे ।

६१. एयं खु वस्त्रधारिस्स सामगियं ।

सं०—एतत् खलु वस्त्रधारिणः सामग्रयम् ।

यह वस्त्रधारी भिक्षु की सामग्री (उपकरण-समूह) है ।

६२. अह पुण एवं जाणेज्जा—उवाइक्कंते खलु हेमन्ते, गिम्हे पडिबन्ने, अहापरिजुणं वत्थं परिट्टवेज्जा, अहापरिजुणं वत्थं परिट्टवेत्ता —

सं०—अथ पुनः एवं जानीयात्—उपातिक्रान्तः खलु हेमन्तः, ग्रीष्मः प्रतिपन्नः, यथापरिजीर्णं वस्त्रं परिष्ठापयेत्, यथापरिजीर्णं वस्त्रं परिष्ठाप्य—

भिक्षु यह जाने कि हेमन्त बीत गया है, ग्रीष्म ऋतु आ गई है, तब वह यथा-परिजीर्ण वस्त्रों का विसर्जन करे । उनका विसर्जन कर—

भाष्यम् ८५-९२—द्रष्टव्यम्—४३-५० ।

देखें—४३-५० ।

६३. अवुवा अचेले ।

सं०—अथवा अचेलः ।

या वह अचेल (वस्त्र-रहित) हो जाए ।

६४. लाघवियं आगममाणे ।

सं०—लाघविकं आगच्छन् ।

वह लाघव का चिन्तन करता हुआ वस्त्र का क्रमिक विसर्जन करे ।

६५. तवे से अभिसमण्णागए भवति ।

सं०—तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति ।

अल्प-वस्त्र वाले मुनि के उपकरण-अवसौंदर्य तथा कायक्लेश तप होता है ।

६६. जमेयं भगवता प्रवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

सं०—यदिदं भगवता प्रवेदितं, तदेव अभिसमेत्थ सर्वतः सर्वात्मतया समत्वं समभिजानीयात् ।

भगवान् ने जैसे अल्प-वस्त्रत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (संपूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे ।

भाष्यम् ९३-९६—द्रष्टव्यम्—८।५३; ६।६३-६५ ।

देखें—८।५३; ६।६३-६५ ।

६७. जस्स णं भिवखुस्स एवं भवइ—एगो अहमंसि, न मे अस्थि कोइ, न याहमवि कस्सइ, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा ।

सं०—यस्य भिक्षोः एवं भवति—एकोऽहमस्मि, न मे अस्ति कोऽपि, न चाहमपि कस्यचित्, एवं स एकाकिनमेव आत्मानं समभिजानीयात् ।

जिस भिक्षु का ऐसा अध्यवसाय होता है—मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूँ । इस प्रकार वह भिक्षु अपनी आत्मा को एकाकी ही अनुभव करे ।

भाष्यम् ९७—रागबद्धो मनुष्यः सत्यमपलपति, किन्तु यो भिक्षुः सत्यमन्वेषयति, यथा—एकोऽहमस्मि, न मे अस्ति कोऽपि, न चाहमपि कस्यचित्, एवं स आत्मानं एकाकिनमेव समभिजानीयात् ।

राग से बन्धा हुआ मनुष्य सत्य का अपलाप करता है । किन्तु जो भिक्षु सत्य का अन्वेषण करता है, जैसे—'मैं अकेला हूँ । मेरा कोई भी नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ ।'—इस प्रकार वह अपने आपको अकेला ही समझे ।

#### ९८. लाघवियं आगममाणे ।

सं०—लाघविकं आगच्छन् ।

वह लाघव का चिन्तन करता हुआ उपधि-विसर्जन का चिन्तन करे ।

भाष्यम् ९८—एकत्वानुचिन्तनेन भिक्षुः लाघवं आगच्छति । अनेन संगजनिता भारानुभूतिरपह्नुता भवति ।

इस एकत्व के अनुचिन्तन—अकेलेपन के चिन्तन से भिक्षु लाघव को प्राप्त होता है । इससे आसक्तिजनित भारानुभूति दूर हो जाती है ।

#### ९९. तवे से अभिसमन्नागए भवइ ।

सं०—तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति ।

एकत्व अनुप्रेक्षा करने वाले मुनि के तप होता है ।

भाष्यम् ९९—एकत्वानुचिन्तनं अनुप्रेक्षा । सा च स्वाध्यायान्तर्वर्तित्वात् तपः । एवं एकत्वानुप्रेक्षां कुर्वतः तस्य तपः अभिसमन्वागतं भवति ।

एकत्व का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है । उसका समावेश स्वाध्याय के अन्तर्गत होता है, इसलिए वह तप है । इस प्रकार जो एकत्व की अनुप्रेक्षा करता है, उसके तप होता है ।

#### १००. जमेयं भगवता प्रवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

सं०—यदिदं भगवता प्रवेदितं, तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया समत्वमेव समभिजानीयात् ।

भगवान् ने जैसे एकत्व भावना का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (संपूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे ।

भाष्यम् १००—स्पष्टम् ।

स्पष्ट है ।

#### १०१. से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेमाणे णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्जा आसाएमाणे, दाहिणाओ वा हणुयाओ वामं हणुयं णो संचारेज्जा आसाएमाणे, से अणासायमाणे ।

सं०—स भिक्षुः वा भिक्षुणी वा अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा आहरन् नो वामायाः हनुकायाः दक्षिणां हनुकां संचारयेत् आस्वादमानः, दक्षिणायाः हनुकायाः वामां हनुकां नो संचारयेत् आस्वादमानः, स अनास्वादमानः ।

भिक्षु या भिक्षुणी अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य का सेवन करती हुई बाएं जबड़े से दाहिने जबड़े में न ले जाए, आस्वाद लेती हुई तथा बाएं जबड़े से बाएं जबड़े में न ले जाए, आस्वाद लेती हुई । वह अनास्वाद वृत्ति से आहार करे ।

#### १०२. लाघवियं आगममाणे ।

सं०—लाघविकं आगच्छन् ।

वह लाघव का चिन्तन करता हुआ स्वाद का विसर्जन करे ।

#### १०३. तवे से अभिसमन्नागए भवइ ।

सं०—तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति ।

अस्वाद-लाघव वाले मुनि के स्वाद-अवमोदर्य तथा कायस्लेश तप होता है ।

१०४. जमेयं भगवता प्रवेदयं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

सं०—यदिदं भगवता प्रवेदितं, तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया समत्वमेव समभिजानीयात् ।

भगवान् ने जैसे स्वाद-लाघव का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अज्ञाना न करे ।

भाष्यम् १०१-१०४—स्पष्टम् ।

स्पष्ट है ।

१०५. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—से गिलामि च खलु अहं इमंसि समए इमं सरीरगं अणुपुब्बेण परिवहिसए, से आणुपुब्बेण आहारं संबट्ठेज्जा, आणुपुब्बेण आहारं संबट्ठेत्ता, कसाए पयणुए किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठी, उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुड्धच्चे ।

सं०—यस्य भिक्षोः एवं भवति—अथ ग्लायामि च खलु अहमस्मिन् समये इदं शरीरकं अनुपूर्वेण परिवोहं स आनुपूर्व्या आहारं संवर्तयेत्, आनुपूर्व्या आहारं संवर्त्य,

कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्चः फलकावतण्ठी उत्थाय भिक्षुः अभिनिर्वृत्तार्चः ।

जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है— मैं इस समय समयोचित क्रिया करने के लिए इस शरीर को वहन करने में ग्लान हो रहा हूँ । वह भिक्षु क्रमशः आहार का संवर्तन करे । आहार का संवर्तन कर कषायों को कृश करे ।

\* कषायों को कृश कर समाधिपूर्ण भाव वाला, फलक की भांति शरीर और कषाय—दोनों ओर से कृश बना हुआ भिक्षु समाधि-मरण के लिए उत्थित होकर शरीर को स्थिर-शांत करे ।

भाष्यम् १०५—यो भिक्षुः रोगेणाक्रान्तः एवं अनुभवति—अहं अनुपूर्वेण—यथासमयमावश्यकक्रियाकरण-तया इदं शरीरं परिवोहं असमर्थोस्मि, तादृशः भिक्षुः आनुपूर्व्या आहारं संवर्तयेत्—संक्षिपेत् । एषः समाधि-मरणाय क्रियमाणायाः संलेखनायाः विधिः प्रतिपादितः सूत्रकारेण ।

जो भिक्षु रोग से आक्रांत होने पर ऐसा अनुभव करता है मैं यथासमय आवश्यक क्रियाएं करने के लिए इस शरीर को वहन करने में असमर्थ हूँ, वह भिक्षु क्रमशः आहार को कम करे । सूत्रकार ने समाधि-मरण के लिए की जाने वाली संलेखना-विधि का प्रतिपादन किया है ।

तस्याः प्रथममङ्गमस्ति आहारस्य संवर्तनम् ।<sup>१</sup>

उसका पहला अंग है—आहार का संवर्तन—अल्पीकरण ।

१. प्रस्तुत सूत्र में भाव-संलेखना (कषाय का अल्पीकरण) और द्रव्य-संलेखना (आहार का अल्पीकरण) की विधि निर्दिष्ट है । आहार के अल्पीकरण की विधि इस प्रकार है । आचारांग निर्युक्ति में द्वादश वर्षीय संलेखना का क्रम इस प्रकार बतलाया गया है—प्रथम चार वर्ष में विचित्र तप १-२-३-४-५ दिन के उपवास किए जाएं । तपस्या के पारण में दूध आदि विकृति लेना अथवा न लेना दोनों सम्मत हैं । दूसरे चार वर्षों में विचित्र तप का अनुष्ठान प्रथम वर्ष की भांति किया जाता है । उपवास के पारण में दूध आदि विकृति व्रजित होती है । नौवें और दसवें वर्ष में एकांतरित आचाम्ल किया जाता है—एक दिन उपवास और दूसरे दिन उपवास के पारण में आचाम्ल । ग्यारहवें वर्ष के पहले छह महीनों में एक उपवास अथवा दो उपवास की तपस्या और उसके पारण में परिमित आचाम्ल अर्थात् अवमौदर्य । और उसके उत्तरार्ध में चार उपवास आदि की तपस्या और उसका पारण पूर्वार्ध की भांति किया जाता है । बारहवें वर्ष में कोटिसहित (प्रतिदिन)

आचाम्ल करता है । बारहवें वर्ष में चार मास शेष रहते हैं तब संलेखना करने वाला तपस्वी वाक्यन्त्र को स्पष्ट रखने के लिए बार-बार तेल से कुल्ला करता है । इस द्वादश वर्ष में संलेखना के पश्चात् वह भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनी-मरण अथवा प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करता है ।

(आचारांग निर्युक्ति, गाथा २६९-२७२)

निशीथ चूर्णि (भाग ३, पृष्ठ २९४) के अनुसार बारहवें वर्ष में आहार की क्रमशः इस प्रकार कमी की जाती है जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हो । उस वर्ष के अंतिम चार महीनों में मुंह में तैल भर कर रखा जाता है । मुख्यंत्र विसंवादी न हो—नमस्कार मंत्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो, यह उसका प्रयोजन है ।

रतनकरंडश्रावकाचार में आहार के अल्पीकरण का क्रम इस प्रकार है—पहले अन्न का परित्याग कर दुग्धपान का अभ्यास किया जाता है । तत्पश्चात् दुग्धपान का त्याग कर छाछ या गर्म जल पीने का अभ्यास

द्वितीयं कषायानां प्रतनूकरणम् । आहारस्य संवर्तनं द्रव्यसंलेखना । कषायानां प्रतनूकरणं भावसंलेखना । अस्मिन् विषये चूर्णिकारस्य मतमिदम्—

‘अन्नोच्चि ततो साह कसाए पयणुए करेति, संलेखणाकाले विसेसेणं, कोइ सध्वे कसाए खवेति ।’

तृतीयमस्ति कायोत्सर्गः । सोऽत्र समाहियच्चे इति पदेन विवक्षितः । अर्चा—शरीरम् । समाहितार्चः—कायगुप्तः । अर्चा—लेश्या । समाहितार्चः—विशुद्ध-लेश्यः ।

चतुर्थमङ्गमस्ति समता, वासीचन्दनकल्पत्वम् । सा ‘फलगावयट्टी’<sup>१३</sup> इति पदेन सूचितास्ति, यथा उभयतः अपकृष्यमाणं फलकं बाह्यतः आभ्यन्तरतो वा अपकृष्टं भवति तथा तपसा यस्य शरीरं अन्तःकषायो वा अपकृष्टो भवति सं रोषतोषातिक्रान्तः फलकावतण्टी इत्युच्यते । तादृशो भिक्षुः उत्थाय अभिनिर्वृत्तार्चः—शान्तशरीरो भवेत् ।<sup>१४</sup>

उसका दूसरा अंग है—कषायों का कृशीकरण । आहार का संवर्तन करना द्रव्य-संलेखना है और कषायों को कृश करना भाव-संलेखना है । इस विषय में चूर्णिकार का मत यह है—मुनि कषायों को कृश करता है, किन्तु संलेखना-काल में वह विशेष रूप से कषायों को कृश करने का प्रयत्न करता है और कोई मुनि सभी कषायों का क्षय कर डालता है ।

उसका तीसरा अंग है—कायोत्सर्ग । यह प्रस्तुत आलापक में ‘समाहियच्चे’—इस पद से विवक्षित है । अर्चा का अर्थ है—शरीर । ‘समाहितार्च’ का अर्थ है—कायगुप्त । अर्चा का दूसरा अर्थ है—लेश्या और समाहितार्च का अर्थ है—विशुद्ध लेश्या वाला ।

उसका चौथा अंग है—समता, वासीचन्दनतुल्यता अर्थात् वसूले से शरीर को काटने या शरीर पर चन्दन का लेप करने, इन दोनों स्थितियों में सम रहना, इसका सूचन ‘फलगावयट्टी’ शब्द से प्राप्त है । जैसे दोनों ओर से छिला जाता हुआ काष्ठ का फलक, बाहर से तथा भीतर से कृश होता है वैसे ही जिस मुनि का तपस्या के द्वारा बाह्य शरीर तथा आंतरिक कषाय कृश हो जाते हैं, वह रोष और तोष की सीमा को अतिक्रान्त कर जाता है, वह मुनि ‘फलकावतण्टी’ कहलाता है । वैसे भिक्षु समाधिमरण के लिए उत्थित होकर शरीर को स्थिर-शांत करे ।

१०६. अणुपविसित्ता गामं वा, नगरं वा, खेडं वा, कब्बडं वा, मडंबं वा, पट्टणं वा, दोणमुहं वा, आगरं वा, आसमं वा, सण्णिवेसं वा, णिगमं वा, रायहारिणं वा, तणाइं जाएज्जा, तणाइं जाएत्ता, से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंत-मवक्कमेत्ता अप्पडे अप्प-पाणे अप्प-बोए अप्प-हरिए अप्पोसे अप्पोइए अप्पुत्तिग-पणग-दग-मट्टिय-मवक्कडासंताणए, पडिलेहिय-पडिलेहिय, पमज्जिय-पमज्जिय तणाइं संथरेज्जा, तणाइं संथरेत्ता एत्थ वि समए इत्तरियं कुज्जा ।

किया जाता है । फिर यथाशक्ति उपवास करते हुए जल आदि का भी परित्याग किया जाता है ।

विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तरज्जयणाणि, ३०।१२-१३ के संलेखना का टिप्पण ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २८१ ।

२. वही, पृष्ठ २८१ : अच्छा नाम शरीरं, सा अच्छा जस्स सम्मं आहिता स भवति समाहियच्चो, यदुक्तं भवति—कायगुप्तो, अहवा अच्छा लेसा, यदुक्तं भवति—भावो, सो जस्स भावो समाहितो स भवति समाहियच्चो, यदुक्तं भवति—विशुद्धलेसो, अहवा अच्छा जाला, वा जेण रागदोसजालारहितो स भवति समाहियच्चो ।

३. वही, पृष्ठ २८१ : फलगावयट्टी उभयतो अवगरिसियं बाहिरतो अर्चिभतरओ य स भवति फलगावयट्टी, बाहिरं वहेणं शरीरं अवकरिसितं अंतो कसायकम्मं वा, जहा फलगंतं छिज्जंतं ण रुस्सति, चंडणेणं वा लिप्पंतं ण तुस्सति, रुक्खो वा, एवं सोचि वासीचंदण-कप्पो ।

४. साध्यान्वतः मनुष्य रोग से ग्लान होता है । चूर्णिकार ने बताया है कि अपर्याप्त भोजन, अपर्याप्त वस्त्र, अवस्त्र और प्रहरों तक ऊकड़ भासन में बैठना—इनसे अग्लान भी ग्लान जैसा हो जाता है । तपस्या से भी शरीर ग्लान हो जाता है । शरीर के ग्लान होने पर भिक्षु को समाधि-मरण की तैयारी—संलेखना प्रारम्भ कर देनी चाहिए । आहार का संवर्तन, कषाय का विशेष जागरूकता से अल्पीकरण और शरीर का स्थिरीकरण—ये संलेखना के मुख्य अंग हैं ।

उत्थान तीन प्रकार का होता है : दीक्षा लेना—संयम का उत्थान, ग्रामानुग्राम विहार करना—अभ्युद्यत विहार का उत्थान और शारीरिक अशक्ति का अनुभव होने पर संलेखना करना—अभ्युद्यत मरण का उत्थान—

उबट्ठाणं ताव पुव्वं ताव संजमउट्ठाणं पच्छा अब्भुज्जय-विहारं उट्ठाणं तत य उब्भुज्जयमरणउट्ठाणं ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २८१)



सं०—अनुप्रविश्य ग्रामं वा, नगरं वा, खेटं वा, कर्बटं वा, मडम्बं वा, पत्तनं वा, द्रोणमुखं वा, आकरं वा, आश्रमं वा, सन्निवेशं वा, निगमं वा, राजधानीं वा तृणानि याचेत । तृणानि याचित्वा स तान्यादाय एकांतमवक्रामेत्, एकांतमवक्रम्य अल्पाण्डे अल्पप्राणे अल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अल्पोदके अल्पोत्तिग-पनक-दक-मृत्तिका-मर्कटसंताने प्रतिलिख्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य तृणानि संस्तरेत्, तृणानि संस्तरीयं अत्रापि समये इत्वरिकं कुर्यात् ।

वह संलेखना करने वाला भिक्षु शारीरिक शक्ति होने पर गांव, नगर, खेड़ा, कर्बट, मडंब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, सन्नियेश निगम या राघधानी में प्रवेश कर घास की याचना करे । उसे प्राप्त कर गांव आदि के बाहर एकांत में चला जाए । वहाँ जाकर जहाँ कीट-अण्ड, जीव-जन्तु, बीज, हरित, ओस, उदक, चींटियों के बिल, फफूंदी, बलबल या मकड़ी के जाले न हों, वैसे स्थान को देखकर, उनका प्रमार्जन कर, घास का बिछौना करे । बिछौना कर उस समय 'इत्वरिक अनशन' करे ।

भाष्यम् १०६—इत्वरिकम्—इङ्गिनीमरणम् । अत्र चूर्णो वृत्तो च 'इत्वरिक' शब्दस्य विमर्शः कृतोऽस्ति । भगवत्या तपसो द्वौ प्रकारावुक्तौ—इत्वरिकं यावत्-कथिकञ्च । तत्र इत्वरिकं अल्पकालिकं तपः, यावत्-कथिकं आजीवनमाहारत्यागः ।<sup>१</sup> अत्र एतद् इत्वरिकं प्रासङ्गिकं नास्ति । अत्र इत्वरिकपदेन इङ्गिनीमरण-संज्ञकं अनशनं सूचितमस्ति । समवायाङ्गे तस्योल्लेखो विद्यते ।<sup>२</sup> अस्मिन्ननशने स्थानं, शय्या, निषद्या वा अल्प-कालिकी भवति, तेन एतद् इत्वरिकपदेनाभिधीयते ।<sup>३</sup>

इत्वरिक का अर्थ है—इङ्गिनीमरण । चूर्ण और वृत्ति में इत्वरिक शब्द का विमर्श किया गया है । भगवती में तपस्या के दो प्रकार बतलाए गए हैं—इत्वरिक और यावत्कथिक । इत्वरिक है अल्प-कालिक तप और यावत्कथिक है आजीवन आहार का परित्याग । प्रस्तुत प्रकरण में इत्वरिक तप प्रासंगिक नहीं है । यहाँ 'इत्वरिक' पद से 'इङ्गिनीमरण' नामक अनशन की सूचना है । समवायांग में उसका उल्लेख है । इस अनशन में स्थान (खड़ा रहना), शय्या (सोना) और निषद्या (बैठना) अल्पकालिक होती है, इसलिए इसे इत्वरिक कहा गया है ।

१०७. तं सच्छं सच्चावादी ओए तिण्णे छिण्ण-कहंके आतीतट्ठे अणातीते वेच्चाण भेउरं कायं, संविहणिय विरुवरुवे परिसहोवसग्गे अस्सि विसं भइत्ता भेरवमणुचिण्णे ।

सं०—तत् सत्यं सत्यवादी ओजः तीर्णः छिन्नकथकथः आतीतार्थः अनादत्तः विदित्वा भिदुरं कायं संविधूय विरूपरूपान् परीषहोप-सर्गान् अस्मिन् विष्वग् भक्त्वा भैरवं अनुचीर्णः ।

१. अंगसुत्ताणि २, भगवई २५।५९-५६१ ।

२. अंगसुत्ताणि १, समवाओ १७।९ ।

३. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २८२-२८३ : 'इत्तरियं नाम अप्पकालियं, तं केयि मण्णंति—इत्तरियं भत्तपच्च-खाइयं, यदुक्तं भवति—सागारं जति, एत्तो रोगाय-काओ मुच्चिहामी णवाहं बारसाहं दिवसेहं तो मे णवरि कप्पति पारेत्तए, अहं ण मुच्चामि तो मे तथा पच्चक्खायमेव भवतु, सागारं भत्तं पच्चक्खाति, इतरसहमेत्तो, केइ एवं इच्छंति, तं ण भवंति, वयं मणामो—एवं सावगा अभिग्गहे अभिणिण्हंति, सेसगाओ पडिमाओ पडिबज्जंति, ण तु साहबोड-वित्तरे, ण तु जिणकप्पिया, ते तु अण्णहं पि काले णिच्चं अप्पमाति, ताण सागारं पुरिमद्धमादि पच्चक्खं, किं पुण आवकहितं भत्तपच्चक्खाणमिति, जं पुण वुच्चति—एत्थं पि समए इत्तरियं करेति, तं एवं जाणावेति—एसो इङ्गिणीमरण उद्देसिओ, चउच्चिह-हारविरओ, से जावज्जीवाए एत्थं पि समएत्ति इङ्गिणीमरणकालसमए, इत्तरियं नाम अप्पकालियं ठाणसिज्जणिस्सिहियं करेति ।'

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २५९ : 'इत्वर' मिति पाव-

पीपगमनापेक्षया नियतवेशप्रचाराभ्युपगमादिङ्गित-मरणमुच्यते, न तु पुनरित्तरं, साकारं प्रत्याख्यानं, साकारप्रत्याख्यानस्यान्यस्मिन्नपि काले जिनकल्प-कादेरसम्भवात्, किंपुनर्यावत्कथिकभक्तप्रत्याख्याना-वसर इति, इत्तरं हि रोगानुरः श्रावको विधत्ते, तद्यथा-यद्यहमस्माद्भोगात् पच्चवैरहोभिर्मुक्तः स्यां ततो भोदये, नान्यथेत्यादि, तदेवमित्तरम्—इङ्गितमरणं धृति संहननादिबलोपेतः स्वकृतत्वगवर्तनादिक्रियो यावज्जीवं चतुर्विधाहारनियमं कुर्यादिति, उच्यते च—

'पच्चक्खइ आहारं चउच्चिहं णियमओ गुरुसमीवे । इङ्गियदेसमि तथा चिट्ठं पि हु नियमओ कुणइ ॥ उद्वत्तइ परिअत्तइ काइगमाईडि अप्पणा कुणइ । सव्वमिह अप्पणच्चिअ ण अन्नजोगेण धित्तिबलिओ ॥'

(ग) अनशन करते समय उस भिक्षु का मुख पूर्व दिशा की ओर होना चाहिए । उसकी अंजलि भस्म का स्पर्श करती हुई होनी चाहिए । वह सिद्धों को नमस्कार कर इत्वरिक अनशन का संकल्प करे । इस अनशन में नियंत्र क्षेत्र में संचरण किया जा सकता है, इसलिए इसे इत्वरिक कहा गया है । यहाँ इसका अर्थ अल्प-कालिक अनशन नहीं है ।

वह अनशन सत्य है। उसे सत्यवादी—प्रतिज्ञा का निर्वाह करने वाला, वीतराग, संसार-समुद्र का पार पाने वाला, 'अनशन का निर्वाह होगा या नहीं इस संशय से मुक्त, सर्वथा कृतार्थ, परिस्थिति से अप्रभावित, शरीर को क्षणभंगुर जानकर, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को मथकर 'जीव पृथक् है' 'शरीर पृथक् है'—इस भेद-विज्ञान की भावना का आसेवन कर भैरव अनशन का अनुपालन करता हुआ क्षुब्ध न हो।

भाष्यम् १०७—तद् इङ्गिनीमरणमनशनं सत्यं हितकरत्वात्। स भिक्षुः तद् भैरवं अनुचीर्णो भवति। स भवति एताभिरवस्थाभिविशिष्टः। प्रतिज्ञामन्तं नेतुं क्षमत्वात् सत्यवादी। एकत्वानुभूतियुक्तत्वात् ओजः। 'तरन् तीर्णः' इति नयेन प्रव्रज्यायां आसन्नोत्तीर्णत्वात् तीर्णः। कथंकथं—संशयकरणं किमहं एतद् अनशनं पारं नेष्यामि न वा इति संशयमुक्तत्वात् छिन्नकथंकथः। कृतार्थत्वात् आतीतार्थः। बाह्यैः प्रभावैरप्रभावितत्वात् अनादत्तः। एतादृशः भिक्षुः कायं भिदुरं विदित्वा विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् संविधूय अस्मिन् शरीरे जीवोस्ति तथापि स ततो विध्वग्—पृथग्, भिन्नो वा वर्तते इति भेदविज्ञानस्य भावनां भक्त्वा—आसेव्य स भैरवमनशनमनुचरति।<sup>३</sup>

वह इङ्गिनीमरण अनशन हितकारी होने के कारण सत्य—यथार्थ है। वह भिक्षु इस भैरव अनशन का पालन करता है। वह इन अवस्थाओं से विशिष्ट होता है—प्रतिज्ञा का निर्वाह करने में समर्थ होने के कारण वह सत्यवादी, एकत्व की अनुभूति से युक्त होने के कारण ओज—वीतराग, तैरता हुआ तीर्ण होता है, इस नय से प्रव्रज्या में प्रायः उत्तीर्ण हो जाने के कारण तीर्ण कहलाता है। 'कथंकथं' का अर्थ है—संशय करना। मैं इस अनशन का निर्वाह कर सकूंगा या नहीं—इस संशय से मुक्त होने के कारण वह 'छिन्नकथंकथ', सर्वथा कृतार्थ होने के कारण 'आतीतार्थ' और बाह्य प्रभावों से अप्रभावित होने के कारण 'अनादत्त' होता है। ऐसा भिक्षु शरीर को क्षणभंगुर जानकर, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को मथकर, इस शरीर में जीव है, फिर भी वह उससे पृथक् है अथवा भिन्न है, इस भेद-विज्ञान की भावना का आसेवन कर, भैरव अनशन का अनुपालन करता है।

१०८. तस्यापि तस्स कालपरिधाए।

सं०—तत्रापि तस्य कालपर्यायः।

ऐसा करने पर भी उसकी वह काल-मृत्यु होती है।

१०९. से तस्य विभंतिकारए।

सं०—स तत्र व्यन्तिकारकः।

उस मृत्यु से वह अन्तःक्रिया—पूर्ण कर्म-क्षय करने वाला भी हो सकता है।

११०. इच्चेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, णिस्सेयसं, आणुगामियं।—ति वेमि।

सं०—इत्येतत् विमोहायतनं हितं सुखं क्षमं निःश्रेयसं आनुगामिकम्।—इति ब्रवीमि।

यह मरण प्राण-विमोह की साधना का आयतन, हितकर, सुखकर, कालोचित, कल्याणकारी और भविष्य में साथ देने वाला होता है।—ऐसा मैं कहता हूँ।

भाष्यम् १०८-११०—स्पष्टमेव।

स्पष्ट है।

१. चूर्णो (पृष्ठ २८३), वृत्तो (पत्र २५९) च 'आतीतदठे' यदस्य अनेके विकल्पाः कृताः सन्ति।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २८३-८४ : विस्सं अणेगप्पगारं विस्सं भवित्ता, तंजहा—अण्णं सरीरं अण्णोऽहं, भय सेवाए, एवं भवित्ता, यदुक्तं भवति—सेवित्ता, अहवा विस्सं अणेग-विहं भवो तं भइत्ता, वीसं वा भइत्ता, जीवो सरीराओ

सरीरं वा जीवाओ, अहवा जीवाओ कम्मं कम्मं वा जीवाओ।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ २८४ : भयं करोतीति भैरवं, भैरवोहि परीसहोवसर्गोहि अणुचिज्जमाणो अणुचिण्णो, दंसमसगसीहवग्घातिएहि य रक्खसपिसायादीहि य, अहवा वड्वादीहि अणुचिण्णो तहावि अक्खुम्भमाणो।

### सप्तमो उद्देशो : सातवां उद्देशक

१११. जे भिक्षु अचेले परिवुसिते, तस्स णं एवं भवति—चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए, सीयफासं अहियासित्तए, तेउफासं अहियासित्तए, बंस-मसगफासं अहियासित्तए, एगतरे अणगतरे विरुवरुवे फासे अहियासित्तए, हिरि-पडिच्छादणं चहं णो संचाएमि अहियासित्तए, एवं से कप्पति कडि-बंधणं धारित्तए ।

सं०—यो भिक्षुः अचेलः पर्युषितः, तस्य एवं भवति—शक्नोमि अहं तृणस्पर्शं अधिसोढुं, शीतस्पर्शं अधिसोढुं, तेजःस्पर्शं अधिसोढुं, दंशमशकस्पर्शं अधिसोढुं, एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अधिसोढुं, ह्रीप्रतिच्छादनं चाहं नो संशक्नोमि अधिसोढुं, एवं तस्य कल्पते कटिबन्धनं धारयितुम् ।

जो भिक्षु अचेल रहने की मर्यादा में स्थित है, उसका ऐसा अभिप्राय हो—‘मैं घास की चुभन को सहन कर सकता हूँ, सर्दों को सहन कर सकता हूँ, गर्मों को सहन कर सकता हूँ, डांस और मच्छर के काटने को सहन कर सकता हूँ, एकजातीय भिन्न-जातीय—नाना प्रकार के स्पर्शों को सहन कर सकता हूँ, किन्तु मैं गुप्त अंगों के प्रतिच्छादन (वस्त्र) को छोड़ने में समर्थ नहीं हूँ।’ इस कारण से वह कटिबन्ध को धारण कर सकता है ।

भाष्यम् १११—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

११२. अट्टुवा तत्थ परबकमंतं भुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति, सीयफासा फुसंति, तेउफासा फुसंति, बंस-मसगफासा फुसंति, एगयरे अणयरे विरुवरुवे फासे अहियासेति अचेले ।

सं०—अथवा तत्र पराक्रममाणं भूयः अचेलं तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति, शीतस्पर्शाः स्पृशन्ति, तेजःस्पर्शाः स्पृशन्ति, दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति, एकतरान् अन्यतरान् विरूपरूपान् स्पर्शान् अधिसहते अचेलः ।

अथवा जो भिक्षु लज्जा को जीतने में समर्थ हो, वह सर्वथा अचेल रहे—कटिबन्ध धारण न करे । उसे घास की चुभन होती है, सर्दों लगती है, गर्मों लगती है, डांस और मच्छर काटते हैं, फिर भी वह एकजातीय, भिन्नजातीय—नाना प्रकार के स्पर्शों को सहन करे ।

भाष्यम् ११२—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

११३. लाघवियं आगममाणे ।

सं०—लाघविकं आगच्छन् ।

वह लाघव का चिन्तन करता हुआ अचेल रहे ।

११४. तवे से अभिसमन्नागए भवति ।

सं०—तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति ।

अचेल मुनि के उपकरण-अवमौदर्य तथा कायबलेश तप होता है ।

११५. जमेयं भगवता पवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सत्त्वतो सध्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

सं०—यदिदं भगवता प्रवेदितं, तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वात्मतया समत्वमेव समभिजानीयात् ।

भगवान् ने जैसे अचेलत्व का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे—किसी की अवज्ञा न करे ।

भाष्यम् ११३-११५—द्रष्टव्यम्—६।६३-६५ ।

देखें—६।६३-६५ ।

११६. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसि भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलइस्सामि, आहडं च सातिज्जिस्सामि ।

सं०—यस्य भिक्षोः एवं भवति—अहं च खलु अन्येषां भिक्षूणां अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा आहृत्य दास्यामि आहृतं च स्वादयिष्यामि ।

जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य लाकर दूंगा और उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा ।

भाष्यम् ११६—यस्येति प्रतिमाप्रतिपन्नस्य भिक्षोः, 'जिसके' अर्थात् प्रतिमाप्रतिपन्न भिक्षु के, 'दूसरे भिक्षुओं के' अन्येषां भिक्षूणामिति सदृशकल्पिकानां प्रतिमा- इसका तात्पर्य है—सदृशकल्प वाले प्रतिमा-प्रतिपन्न भिक्षुओं के । प्रतिपन्नानाम् ।

११७. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसि भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु दलइस्सामि, आहडं च णो सातिज्जिस्सामि ।

सं०—यस्य भिक्षोः एवं भवति—अहं च खलु अन्येषां भिक्षूणां अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा आहृत्य दास्यामि आहृतं च नो स्वादयिष्यामि ।

जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य लाकर दूंगा, किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार नहीं करूंगा ।

११८. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसि भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु नो दलइस्सामि, आहडं च सातिज्जिस्सामि ।

सं०—यस्य भिक्षोः एवं भवति—अहं च खलु अन्येषां भिक्षूणां अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा आहृत्य नो दास्यामि आहृतं च स्वादयिष्यामि ।

जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य लाकर नहीं दूंगा, किन्तु उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा ।

११९. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—अहं च खलु अण्णेसि भिक्खूणं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहट्टु नो दलइस्सामि, आहडं च णो सातिज्जिस्सामि ।

सं०—यस्य भिक्षोः एवं भवति—अहं च खलु अन्येषां भिक्षूणां अशनं वा पानं वा खाद्यं वा स्वाद्यं वा आहृत्य नो दास्यामि आहृतं च नो स्वादयिष्यामि ।

जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—मैं दूसरे भिक्षुओं को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य लाकर न दूंगा और न उनके द्वारा लाया हुआ स्वीकार करूंगा ।

भाष्यम् ११७-११९—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

१२०. अहं च खलु तेण अहाइरित्तेणं अहेसणिज्जेणं अहापरिग्गहिणं असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा अभिकंख साहम्मियस्स कुज्जा वेयावडियं करणाए ।

सं०—अहं च खलु तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेन अशनेन वा पानेन वा खाद्येन वा स्वाद्येन वा अभिकाङ्क्ष्य साधमिकस्य कुर्यात् वेयावृत्यं करणाय ।

मैं अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय तथा अपने लिए लाए हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य से निजरा के उद्देश्य से उन साधमिकों की सेवा करूंगा—पारस्परिक उपकार की दृष्टि से ।

भाष्यम् १२०—चूर्णपरम्परायां एतत् प्रकरणं प्रतिमाप्रतिपन्नादिभिक्षूननुवर्तते, तेनात्र साधर्मिकत्वं विशिष्टं परिभाषितमस्ति—‘समाणा सरिसा वा धम्मिया साहम्मिया, जति ते एगट्टा न भुञ्जति तहावि ते अभिग्गह-साहम्मिया एगल्लविहारसाहम्मिया य संभोइया गणिज्जति ।’

चूर्णों की परम्परा में यह प्रकरण प्रतिमा-प्रतिपन्न आदि भिक्षुओं से संबंधित बतलाया गया है, इसलिए प्रस्तुत आलापक में ‘साधर्मिकता’ की विशेष परिभाषा है—समान अथवा सदृश धर्म वाले साधर्मिक कहलाते हैं। यद्यपि वे एक साथ भोजन नहीं करते, फिर भी वे अभिग्रह और एकलविहार की दृष्टि से साधर्मिक और सांभोगिक गिने जाते हैं।

यथेषणीयम्—एषणानुरूपम् ।<sup>१</sup>

यथेषणीय का अर्थ है—एषणा के अनुरूप ।

१२१. अहं वावि तेण अहातिरित्तेणं अहेसणिज्जेणं अहापरिगहिणं असणेण वा पाणेण वा खाइमेण वा साइमेण वा अभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं सातिज्जिस्सामि ।

सं०—अहं वापि तेन यथातिरिक्तेन यथेषणीयेन यथापरिगृहीतेन अशनेन वा पानेन वा खाद्येन वा स्वाद्येन वा अभिकांक्ष्य साधर्मिकैः क्रियमाणं वेयावृत्यं स्वावयिष्यामि ।

मैं भी साधर्मिकों के द्वारा अपनी आवश्यकता से अधिक, अपनी कल्प-मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय तथा अपने लिए लाए हुए अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य से निर्जरा के उद्देश्य से उनके द्वारा की जाने वाली सेवा का अनुमोदन करूंगा ।

१२२. लाघवियं आगममाणे ।

सं०—लाघविकं आगच्छन् ।

वह लाघव का चिन्तन करता हुआ सेवा का प्रकल्प करे ।

१२३. तवे से अभिसमण्णागए भवति ।

सं०—तपस्तस्य अभिसमन्वागतं भवति ।

सेवा का प्रकल्प करने वाले मुनि के अवमोदय तथा वेयावृत्य तप होता है ।

१२४. जमेयं भगवता प्रवेदितं, तमेव अभिसमेच्चा सव्वतो सव्वत्ताए समत्तमेव समभिजाणिया ।

सं०—यदिदं भगवता प्रवेदितं, तदेव अभिसमेत्य सर्वतः सर्वतितया समत्वमेव समभिजाणीयात् ।

भगवान् ने जैसे सेवा के प्रकल्पों का प्रतिपादन किया है, उसे उसी रूप में जानकर सब प्रकार से, सर्वात्मना (सम्पूर्ण रूप से) समत्व का सेवन करे किसी की अवज्ञा न करे ।

१२५. जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवति—से गिलामि च खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अणुपुब्बेणं परिवहित्तए, से आणुपुब्बेणं आहारं संबट्टेज्जा, आणुपुब्बेणं आहारं संबट्टेत्ता, कसाए पयणुए किच्चा समाहिअच्चे फलगावयट्ठी, उट्टाय भिक्खू अभिणिव्वुडच्चे ।

सं०—यस्य भिक्षोः एवं भवति—अथ ग्लायामि च खलु अहं अस्मिन् समये इदं शरीरकं अनुपूर्वेण परिवोढुं, स आनुपूर्व्या आहारं संवर्तयेत्, आनुपूर्व्या आहारं संवर्त्यं,

कषायान् प्रतनून् कृत्वा समाहितार्चः फलकावतण्ठी, उत्थाय भिक्षुः अभिनिर्वृत्तार्चः ।

जिस भिक्षु को ऐसा संकल्प होता है—मैं इस समय समयोचित क्रिया करने के लिए इस शरीर को वहन करने में ग्लान (असमर्थ) हो रहा हूँ। वह भिक्षु क्रमशः आहार का संवर्तन करे। आहार का संवर्तन कर कषायों को कुश करे।

कषायों को कुश कर समाधिपूर्ण भाव वाला, फलक की भांति शरीर और कषाय—दोनों ओर से कुश बना हुआ भिक्षु समाधि-मरण के लिए उत्थित होकर शरीर को स्थिर-शान्त करे।

भाष्यम् १२१-१२५—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

१२६. अणुपविसिक्ता गामं वा, नगरं वा, खेडं वा, कर्बडं वा, मडंबं वा, पट्टणं वा, द्रोणमुहं वा, आगरं वा, आसमं वा, सण्णिबेसं वा, णिगमं वा, रायहारिणं वा, तणाइं जाएज्जा, तणाइं जाएत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमेज्जा, एगंत-मवक्कमेत्ता अप्पडे अप्प-पाणे अप्प-बीए अप्प-हरिए अप्पोसे अप्पोदए अप्पुत्तिग-पणग-दगमट्टिय-मक्कडासंताणए, पडिलेहिय-पडिलेहिय पमज्जिय-पमज्जिय तणाइं संथरेज्जा, तणाइं संथरेत्ता एत्थ वि समए कायं च, जोगं च, इरियं च, पच्चवक्खाएज्जा ।

सं०—अनुप्रविश्य ग्रामं वा, नगरं वा, खेटं वा, कर्बटं वा, मडम्बं वा, पत्तनं वा, द्रोणमुखं वा, आकरं वा, आश्रमं वा, सन्निवेशं वा, निगमं वा, राजधानीं वा, तृणानि याचेत् । तृणानि याचित्वा स तान्यादाय एकान्तमवक्रामेत् एकान्तमवक्रम्य अल्पाण्डे अल्पप्राणे अल्पबीजे अल्पहरिते अल्पावश्याये अल्पोदके अल्पोत्तिग-पनक-दक-मृत्तिका-मकंडसंताने प्रतिलिख्य प्रतिलिख्य प्रमृज्य प्रमृज्य तृणानि संस्तरेत्, तृणानि संस्तीर्य अत्रापि समये कायं च योगं च ईर्यां च प्रत्याख्यायात् ।

वह संलेखना करने वाला भिक्षु शारीरिक शक्ति होने पर गांव, नगर, खेड़ा, कर्बट, मडंब, पत्तन, द्रोणमुख, आकर, आश्रम, सन्निवेश, निगम या राजधानी में प्रवेश कर घास की याचना करे । उसे प्राप्त कर गांव आदि के बाहर एकांत में चला जाए । वहां जाकर जहां कीट-अण्ड, जीव-जन्तु, बीज, हरित, ओस, उदक, चींटियों के बिल, फफूंदी, दलदल या मकड़ी के जाले न हों वैसे स्थान को देखकर, उसका प्रमांजन कर, घास का बिछौना करे । बिछौना कर उस समय प्रायोपगमन अनशन कर शरीर, उसकी प्रवृत्ति और गमनागमन का प्रत्याख्यान करे ।

भाष्यम् १२६—पूर्व (१०६ सूत्रे) इङ्गिनीमरणनाम-कस्य अनशनस्य विधिः प्रदर्शितः । प्रस्तुत सूत्रे प्रायोपगमनस्य विधिरूपदर्शयते । स भिक्षुः ग्रामादीनां अन्यतरस्मिन् अनुप्रविश्य तृणानि याचित्वा एकान्तमवक्रम्य स्थानविशोधिं कृत्वा तानि तृणानि संस्तृणाति । अत्र चूर्णपरम्परा—तस्मिन् संस्तरे समारूढा अर्हद्भ्यः सिद्धेभ्यो नमस्करोति, स्वयमेव पञ्चमहाव्रतानि आरोहति, ततश्च प्रायोपगमनमधिकरोति । चतुर्विध-माहारं प्रत्याख्याति, कायं प्रत्याख्याति—यदि निषण्णः तर्हि निषण्ण एव, यदि शयितः तर्हि शयित एव तिष्ठति । योगं निरुणद्धि—शरीरस्य आकुञ्चनप्रसारणादिकं न करोति । मनसः एकाग्रतां करोति, वाचं च निरुणद्धि । ईर्यां च प्रत्याख्याति—गमनागमनादिकं न करोति । एष प्रायोपगमनविधिः ।

पहले १०६वें सूत्र में इंगिनीमरण नामक अनशन की विधि बतलाई गई थी । प्रस्तुत आलापक में प्रायोपगमन अनशन की विधि बतलाई जा रही है । वह भिक्षु गांव आदि किसी एक स्थान में प्रवेश कर, घास की याचना कर गांव के बाहर एकांत में चला जाए और वहां स्थान की विशोधि कर घास का बिछौना करे । इस प्रसंग में चूर्ण की परम्परा यह है—वह मुनि उस बिछौने पर बैठकर, अर्हत् और सिद्ध को नमस्कार करता है, स्वयं ही पांच महाव्रतों का आरोहण करता है और फिर प्रायोपगमन अनशन को स्वीकार करता है । वह चतुर्विध आहार का प्रत्याख्यान कर, शरीर का प्रत्याख्यान करता है—यदि उस समय बैठा हो तो बैठा ही रहता है और यदि सोया हो तो सोया ही रहता है । वह योग का निरोध करता है—शरीर का संकुचन, प्रसारण आदि नहीं करता । वह मन को एकाग्र करता है, वाणी का निरोध करता है और ईर्या का प्रत्याख्यान करता है—गमनागमन आदि नहीं करता । यह प्रायोपगमन अनशन की विधि है ।

१२७. तं सच्चं सच्चावादी ओए तिण्णे छिन्न-कहंके आतीतठे अणातीते वेच्चाण भेउरं कायं, संविहणिय विरुवह्वे परिसहोवसगे अस्सि विसं सइत्ता भेरवमणुच्चिण्णे ।

सं०—तत् सत्यं सत्यवादी ओजः तीर्णः छिन्नकथं कथः आतीतार्थः अनादत्तः विदित्वा भिदुरं कायं संविधुय विरूपरूपान् परीषहोप-सर्गान् अस्मिन् विष्वग् भक्त्वा भैरवमनुचीर्णः ।

वह अनशन सत्य है । उसे सत्यवादी—प्रतिज्ञा का निर्वाह करने वाला, शीतराग, संसार-समुद्र का पार पाने वाला, 'अनशन का निर्वाह होगा या नहीं' इस संशय से मुक्त, सर्वथा कृतार्थ, परिस्थिति से अप्रभावित, शरीर को क्षणभंगुर जानकर, नाना प्रकार के परीषहों और उपसर्गों को मथकर 'जीव पृथक् है, शरीर पृथक् है'—इस भेद-विज्ञान की भावना तथा भैरव अनशन का अनुपासन करता हुआ क्षुब्ध न हो ।

भाष्यम् १२७—द्रष्टव्यम्—१०७ ।

देखें—१०७ ।

१२८. तत्थावि तस्स कालपरियाए ।

सं०—तत्रापि तस्य कालपर्यायः ।

ऐसा करने पर भी उसकी वह काल-मृत्यु होती है ।

१२६. से तत्थ विअंतिकारए ।

सं०—स तत्र व्यन्तिकारकः ।

उस मृत्यु से वह अन्तःक्रिया करने वाला भी हो सकता है ।

१३०. इच्छेतं विमोहायतणं हियं, सुहं, खमं, निस्सेयसं, आणुगामियं ।—ति वेमि ।

सं०—इत्येतत् विमोहायतनं हितं, सुखं, क्षमं, निःश्रेयसं, आनुगामिकम् ।—इति ब्रवीमि ।

यह मरण प्राण-विमोह की साधना का आयतन, हितकर, सुखकर, कासोचित, कल्याणकारी और भविष्य में साथ देने वाला होता है ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १२८-१३०—स्पष्टम् ।

स्पष्ट है ।

### अट्टमो उद्देशो : आठवां उद्देशक

१. आणुपूर्वो-विमोहाइं, जाइं धीरा समासज्ज । वसुमंतो मइमंतो, सव्वं णच्चा अणोलिसं ॥

सं०—आनुपूर्वो विमोहानि, यानि धीराः समासाद्य । वसुमन्तः मतिमन्तः, सर्वं ज्ञात्वा अनीदृशम् ।

धीर, संयमी और ज्ञानी भिक्षु साधना के क्रम में प्राप्त होने वाले अनशन (आनुपूर्वो-विमोक्ष या अव्याघात मरण) का उपयुक्त समग्र समझते हैं, तब वे बाल-मरण से भिन्न तीनों—भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन अनशनों के विधान का ज्ञान करते हैं ।

भाष्यम् १—आनुपूर्वो—अनुक्रमः । ते भिक्षवः प्रव्रज्यां गृह्णन्ति, शिक्षामाददते, सूत्रार्थयोर्ग्रहणं कुर्वन्ति, अध्यापनं जनपदविहारं च विदधते । ततश्च जातायां वयसः शक्तेश्च ह्यानी विमोहानि<sup>१</sup>—मोहशून्यानि समाधि-मरणानि स्वीकुर्वन्ति । एतद् अनीदृशं—बालमरणापेक्षया अनन्यसदृशं सर्वं समाधि-मरणविधिं ज्ञात्वा कुर्वन्ति । समाधि-मरणं त एव स्वीकुर्वन्ति ये सन्ति धीराः वसुमन्तः<sup>२</sup> मतिमन्तश्च । अनेन धृतिः संयमः ज्ञानं च एतानि त्रीणि समाधि-मरणस्य अहंतायाः अनुभापनानि सूचितानि भवन्ति ।<sup>३</sup>

आनुपूर्वो का अर्थ है—अनुक्रम । वे भिक्षु प्रव्रज्या को ग्रहण करते हैं, शिक्षा को प्राप्त करते हैं, सूत्र और अर्थ का ग्रहण करते हैं तथा अध्यापन और जनपद-विहार में संलग्न रहते हैं । तत्पश्चात् अवस्था और शक्ति की क्षीणता होने पर वे मुनि मोहशून्य समाधि-मरण (तीन मरणों में से कोई एक) को स्वीकार करते हैं । वे अनीदृश—बाल-मरण की अपेक्षा से सर्वथा भिन्न संपूर्ण समाधि-मरण की विधि को जानकर उसे स्वीकार करते हैं । समाधि-मरण को वे ही मुनि स्वीकार करते हैं जो धीर हैं, संयमी हैं और ज्ञानी हैं । इससे धृति, संयम और ज्ञान—ये तीनों समाधि-मरण की अहंता के मानक सूचित होते हैं ।

१. आचारांग चूणि पृष्ठ २८७ : विमोखंतेति विमोहा, जं भणियं - मरणाणि ।

२. वही, पृष्ठ २८७ : संजमो उसी जत्थ अत्थि जत्थ वा विज्जति सो उसिमं, भणियं च—'संजमे वसता तु वसुवंसो वा, येनेन्द्रियाणी तस्य वशे, वसु च धनं जानाव्वं, तस्यास्तित्वान्मुनिर्वसुमां वुसिमं च वुसिमंतो ।'

३. समाधि-मरण के लिए किया जाने वाला अनशन तीन प्रकार का होता है—१. भक्त-प्रत्याख्यान, २. इंगिनी- (इंगित) मरण (इत्वरिफ अनशन), ३. प्रायोपगमन ।

पांचवें उद्देशक में भक्त-प्रत्याख्यान, छट्ठे में इंगिनी-मरण और सातवें में प्रायोपगमन का विधान किया गया

है । चौथे उद्देशक में विहायोमरण का विधान है । वह आपवाधिक है ।

अनशन दो प्रकार का होता है—सपराक्रम और अपराक्रम । जंघा-बल होने पर किया जाने वाला अनशन सपराक्रम और जंघा-बल के क्षीण होने पर किया जाने वाला अनशन अपराक्रम होता है ।

प्रकारान्तर से अनशन दो प्रकार का होता है—व्याघात-युक्त और अव्याघात । पूर्व उद्देशकों में व्याघात-युक्त अनशन का विधान है । प्रस्तुत उद्देशक में अव्याघात अनशन की विधि प्रतिपादित की गई है । अव्याघात अनशन आकस्मिक नहीं होता । वह क्रम-प्राप्त होता है । इसलिए

२. दुविहं पि विदित्ताणं, बुद्धा धम्मस्स पारगा । अणुपुब्बोए संखाए, आरंभाओ तिउट्टति ॥

सं०—द्विविधमपि विदित्वा, बुद्धाः धर्मस्य पारगाः । आनुपूर्व्या संख्याय, आरम्भात् त्रुट्यन्ति ।

वे धर्म के पारगामी प्रबुद्ध भिक्षु दोनों—बाह्य वस्तुओं तथा आन्तरिक प्रवृत्तियों की हेयता का अनुभव करते हैं । प्रव्रज्या आदि के क्रम से चल रहे साधक-शरीर को छोड़ने के लाभ का विवेक कर वे प्रवृत्ति से निवृत्त हो जाते हैं ।

भाष्यम् २—ते धर्मस्य पारगामिनो बुद्धाः द्विविधमपि—बाह्य शरीरोपकरणादिवस्तुजातं बन्धनहेतुकं आभ्यन्तरं च रागादिबन्धनकारकं—विदित्वा तस्य हेयतामनुभवन्ति । ते अतीतस्यावलोकनं कुर्वन्ति, संयमस्वीकरणदिवसादारभ्य वर्तमानक्षणपर्यन्तं सर्वं समीक्षन्ते—किं मम जीवतः अधिको लाभो भविष्यति अथवा शरीरविमोक्षं कुर्वाणस्य इति पर्यालोचमानाः शरीरविमोक्षस्य गुणाधिक्यं जानन्ति, पुनः पर्यालोचन्ते—अहं कस्य समाधिभरणस्य योग्यः—भक्तप्रत्याख्यानस्य इंगिनीमरणस्य प्रायोपगमनस्य वा ? एतत् सर्वं संख्याय—सर्वं विनिश्चित्य ते आरम्भात् त्रुट्यन्ति—आरम्भं अल्पतां नयन्ति । अत्र आरम्भपदं प्रवृत्तिवाचकमस्ति । शरीरधारणार्थं भक्तपानादीनामन्वेषणमारम्भः । अथवा वैयापृत्यस्वाध्यायादिकरणं आरम्भः ।

वे धर्म के पारगामी प्रबुद्ध भिक्षु दोनों—बाह्य बन्धन के हेतुभूत शरीर, उपकरण आदि वस्तु-समूह तथा आन्तरिक बंधनकारक राग आदि को जानकर उसकी हेयता का अनुभव करते हैं । वे अतीत का अवलोकन करते हैं । प्रव्रज्या ग्रहण करने के दिन से वर्तमान क्षण-पर्यन्त वे सारी समीक्षा करते हैं । वे सोचते हैं—क्या मेरे जीवित रहने से अधिक लाभ होगा अथवा शरीर को छोड़ देने से ? इस प्रकार पर्यालोचन करते हुए वे शरीर-विमोक्ष में अधिक लाभ का अनुभव करते हैं । फिर वे सोचते हैं—मैं किस समाधि-भरण को स्वीकार करने के योग्य हूँ—भक्तप्रत्याख्यान के अथवा इंगिनीमरण के अथवा प्रायोपगमन के ? यह सारा निश्चय कर वे आरंभ की अल्पता करते हैं । यहां आरंभपद प्रवृत्ति का वाचक है । शरीर-धारण के लिए भक्त-पान आदि का अन्वेषण करना आरंभ है । अथवा वैयापृत्य, स्वाध्याय आदि करना आरंभ है ।

३. कसाए पयणुए किञ्चा, अप्पाहारो तित्तिक्खए । अह भिक्खू गिलाएज्जा, आहारस्सेव अंतियं ॥

सं०—कषायान् प्रतनून् कृत्वा, अल्पाहारः तित्तिक्षते । अथ भिक्षुः ग्लानेत, आहारस्यैव अन्तिके ।

वह कषाय को कृश तथा आहार को अल्प कर अल्पाहार के कारण होने वाले कष्टों को सहन करता है, आहार की अल्पता करते-करते वह मरणासन्न काल में ग्लान हो जाता है ।

भाष्यम् ३—अस्मिन् कषायस्य प्रतनूकरणं तथा आहारस्य अल्पीकरणं द्विविधमपि तपोऽस्ति उपदिष्टम् । कषायं प्रतनुमकृत्वा केवलं आहारस्य अल्पीकरणं न साध्यमुपगच्छति । तेन कषायप्रतनूकरणात्मकं अंतरंगं तपः तथा आहारस्य अल्पीकरणात्मकं बाह्यं तपः इति द्विविधं तपः सम्मतमस्ति अर्हताम् ।

इस गाथा में कषाय का कृशीकरण और आहार का अल्पीकरण—ये दोनों प्रकार के तप उपदिष्ट हैं । कषाय को कृश किए बिना केवल आहार का अल्पीकरण साध्य के निकट नहीं ले जाता । इसलिए कषाय का कृशीकरणरूप अंतरंग तप तथा आहार का अल्पीकरणरूप बाह्य तप—यह द्विविध तप अर्हतों द्वारा सम्मत है ।

अथ स भिक्षुः आहारस्य अल्पत्वं कुर्वाणः अन्तिके'—मरणासन्नकाले ग्लायति ।'

वह भिक्षु आहार की अल्पता करता हुआ मृत्यु के आसन्नकाल में ग्लान हो जाता है ।

उसे आनुपूर्वी भी कहा जाता है (निर्युक्ति गाथा, २६३) ।

दीक्षा लेना, सूत्र का अध्ययन करना, अर्थ का अध्ययन करना, सूत्र और अर्थ में स्वयं कुशलता प्राप्त कर योग्य शिष्यों को सूत्रार्थ का ज्ञान कराना, फिर गुरु से अनुज्ञा प्राप्त कर संलेखना करना, फिर तीन प्रकार के अनशनों में से किसी एक अनशन का चुनाव कर, आहार, उपधि और शय्या—इस त्रिविधि नित्य-परिभोग से मुक्त होकर अनशन करना—यह 'आनुपूर्वी अनशन' है ।

१. (क) आचारंग चूर्ण, पृष्ठ २८८ : अंतियं अन्माते अतीव

संलिहिता, जं ऋणितं—आसन्नमरणकालो ।

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र २६३ : आहारस्यैवान्तिकं—पर्यवसानं व्रजेदिति, चत्वारि विकृष्टानीत्यादि संलेखनाक्रमं विहायाशनं विदध्यादित्यर्थः, यदि वा ग्लानतामुपगतः सन्नाहारस्यान्तिकं—समीपं न व्रजेत्, तथाहि—आहारयामि तावत्कतिचिद्दिनानि पुनः संलेखनाशेषं विधास्येऽहमित्येवं नाहारान्तिकमियाविति ।

२. देखें—आयारो ८।१०५ का टिप्पण ।



४. जीवियं नाभिकंखेज्जा, मरणं णोवि पत्थए । बुहतोवि ण सज्जेज्जा, जीविते मरणे तथा ॥

सं०—जीवितं नाभिकांक्षेत्, मरणं नोऽपि प्रार्थयेत् । द्वयोरपि न सजेत्, जीविते मरणे तथा ।

वह ग्लान अवस्था में जीवन की आकांक्षा न करे, मरण की इच्छा न करे । वह जीवन और मरण—दोनों में भी आसक्त न बने ।

भाष्यम् ४—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

५. मज्झत्थो णिज्जरापेही, समाहिमणुपालए । अंतो बहिं विउसिज्ज, अज्झत्थं सुद्धमेसए ॥

सं०—मध्यस्थः निर्जराप्रेक्षी, समाधिमतुपालयेत् । अन्तो बहिः व्युत्सृज्य, अध्यात्मं शुद्धमेषयेत् ।

वह मध्यस्थ और निर्जरादर्शी भिक्षु समाधि का अनुपालन करे । राग-द्वेष आदि आन्तरिक और शरीर आदि बाह्य वस्तुओं का विसर्जन कर शुद्ध अध्यात्म की एषणा करे ।

भाष्यम् ५—अनशनकाले भिक्षुः अनुकूलप्रतिकूल-परिस्थितौ मध्यस्थः स्यात् । स न सुखदुःखादिकं पश्येत् । स निर्जरामेव अनुध्यायेत् । निर्जराप्रक्षिणः समाधिः अनुपालितो भवति । यदा आन्तरिकः बाह्यश्च व्युत्सर्गो जायते तदा विशुद्धस्य अध्यात्ममेषणा भवति ।

अनशनकाल में भिक्षु अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति में मध्यस्थ रहे । वह सुख-दुःख आदि को न देखे । वह निर्जरा का ही अनुध्यान करे, उस पर ही एकाग्र रहे । जो निर्जराप्रेक्षी होता है, उसके समाधि अनुपालित होती है । जब आंतरिक और बाह्य व्युत्सर्ग होता है तब विशुद्ध अध्यात्म की एषणा होती है ।

६. जं किञ्चुवक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो । तस्सेव अंतरद्वाए, खिप्पं सिक्खेज्ज पंडि ॥

सं०—यं कञ्चिदुपक्रमं जानीत, आयुःक्षेमस्यात्मनः । तस्यैवान्तराध्वनि, क्षिप्रं शिक्षेत पण्डितः ।

अबाध रूप से चल रहे अपने संलेखनाकालीन जीवन में आकस्मिक बाधा जान पड़े, तो उस संलेखना-काल के मध्य में ही पण्डित भिक्षु शीघ्र आहार का प्रत्याख्यान करे ।

भाष्यम् ६—आयुषः क्षेमं—सम्यक्पालनम् । उपक्रमः—आयुष्यविघातकं वस्तु । स पण्डितो भिक्षुः आत्मनः आयुःक्षेमस्य उपक्रमं जानीयात्, तदानीं संलेखनाया अन्तःकाले एव क्षिप्रं शिक्षेत । अत्र शिक्षापदानुगता

आयुष्य का क्षेम अर्थात् उसका सम्यक्पालन, अबाध पालन । उपक्रम का अर्थ है—आयुष्य का विघात करने वाली वस्तु । वह पण्डित भिक्षु अपने आयुःक्षेम के उपक्रम को जान ले तो संलेखना के मध्यकाल में ही शीघ्र शिक्षा प्राप्त करे—आहार का प्रत्याख्यान करे । 'शिक्षा'

१. अनशनकाल में भिक्षु को जीवन, सुख आदि अनुकूल परिणामों और मृत्यु, दुःख आदि प्रतिकूल परिणामों में सम रहना चाहिए । सूत्रकार ने 'मध्यस्थ' शब्द के द्वारा इसका निर्देश दिया है ।

समभाव का आलम्बन है—निर्जरा । अनशन करने वाले भिक्षु की दृष्टि इस बात पर लगी रहती है कि उसके अधिक से अधिक निर्जरा—कर्मक्षय हो । जो निर्जरादर्शी नहीं होता, वह मध्यस्थ भी नहीं रह सकता ।

ज्ञान, दशान, चारित्र्य, तप और वीर्य—ये पांच 'समाधि' के अंग हैं । अनशन करने वाले को इस पंचांग-समाधि का अनुभव करना चाहिए ।

अध्यात्म की एषणा का पहला चरण है—शरीर की प्रवृत्ति का और उसके ममत्व का विसर्जन । इस विसर्जन के बाद साधक भीतर की ओर झांकता है तो भीतर में राग-द्वेष की ग्रन्थियां मिलती हैं । वहां शुद्ध अध्यात्म दीख नहीं पड़ता । जो साधक उन ग्रन्थियों को खोलकर फिर

भीतर की गहराई में झांकता है, उसे शुद्ध अध्यात्म—आत्मा के निरावरण चैतन्यरूप का दर्शन होता है ।

२. आचारांग वृत्ति, पत्र २६४ : उपक्रमणमुपक्रम—उपायस्तं यं कञ्चन जानीत, कस्योपक्रमः ?—'आयुःक्षेमस्य' आयुषः क्षेमं—सम्यक्पालनं तस्य, कस्य सम्बन्धि तदायुः ? आत्मनः, एतदुक्तं भवति—आत्मायुषो यं क्षेमप्रतिपालनोपायं जानीत तं क्षिप्रमेव शिक्षेत्—ध्यापारयेत् पण्डितो—बुद्धिमान्, 'तस्यैव' संलेखनाकालस्य 'अन्तरद्वाए' त्ति अन्तरकालेऽर्द्धसंलिखित एव देहे देही यदि कश्चित् वाताविक्षोभात् आतङ्क आशुजीवितापहारी स्यात् ततः समाधिमरणभिकाङ्क्षन् तदुपशमोपायमेषणीयविधिनाऽभ्यङ्गादिकं विदध्यात् पुनरपि संलिखेत्, यद्विवाऽऽत्मनः आयुःक्षेमस्य—जीवितस्य यत्किमप्युपक्रमणं—आयुःपुद्गलानां संवर्त्तनं समुपस्थितं तज्जानीत, ततस्तस्यैव संलेखनाकालस्य मध्येऽध्याकुलितमतिः क्षिप्रमेव भक्तपरिज्ञादिकं शिक्षेत—आसेवेत पण्डितो—बुद्धिमानिति ।

चूर्णपरम्परा—‘सिक्खा णाम आसेवणा, जं तवमिति जं तेण अज्जवसितं तदेव सिक्खज्ज, तवखणादेव अलोइयपडिक्कंतो वयाइं अरोवित्ता भत्तं पच्चक्खावेज्जा ।’<sup>१</sup>

पदानुगत चूर्ण की परम्परा यह है—शिक्षा का यहाँ अर्थ है—आसेवन शिक्षा । जिस तप का उसने अध्यवसाय किया है, उसी का आसेवन करे । उसी क्षण आलोचना और प्रतिक्रमण कर, व्रतों का पुनः आरोपण कर आहार का प्रत्याख्यान कर दे ।

७. ग्रामे वा अदुवा रण्णे, थंडिलं पडिलेहिया । अत्पपाणं तु विण्णाय, तणाइं संथरे मुणी ॥

सं०—ग्रामे वा अथवा अरण्ये, स्थण्डिलं प्रतिलिख्य । अत्पप्राणं तु विज्ञाय, तृणानि संस्तरेत् मुनिः ।

ग्राम में अथवा अरण्य में जीव-जन्तु-रहित स्थण्डिल—स्थान को देखकर मुनि घास का बिछौना करे ।

भाष्यम् ७—इदानीं भक्तप्रत्याख्यानस्य विधिः निर्दिश्यते । तत्र प्रथमं स्थानविशुद्धिः—ग्रामः, अरण्यं, उद्यानं, गिरिगुहादयो वा । स भक्तप्रत्याख्यानस्थाने प्रातिचरिकैः भिक्षुभिः सह व्रजति । आशुकारितायां एकाकी चापि । स्थण्डिलप्रतिलेखनाविषये एषा चूर्ण-परम्परा—

‘जत्थ य भत्तं पच्चक्खाति जत्थवि थंडिले सरीरगं परिट्टुविज्जिस्सति तं पि जति अगीयत्था सेहा य ताहे तं पि सयमेव पडिलेहेति, एरिसे थंडिले मते परिट्टुविज्जाह, पारिट्टु-वणिया विहिं च तेसिं कहेति ।’<sup>२</sup>

अब भक्तप्रत्याख्यान अनशन की विधि बताई जा रही है । सबसे पहले स्थान-विशुद्धि की जाती है । मुनि ग्राम, अरण्य, उद्यान, गिरिगुहा आदि स्थान का चुनाव करता है । वह भक्तप्रत्याख्यान अनशन करने के स्थान में प्रातिचरिक भिक्षुओं के साथ जाता है । जल्दी हो तो वह अकेला भी चला जाता है । स्थण्डिल की प्रतिलेखना के विषय में चूर्ण की परम्परा यह है—मुनि जहाँ भक्तप्रत्याख्यान अनशन प्रारंभ करता है और जिस स्थण्डिल में मृत शरीर का परिष्ठापन किया जाएगा, उस स्थान का प्रतिलेखन, यदि शिष्य अगीतार्थ हों तो, स्वयं करे । वह उनसे कहे—मरने पर ऐसे स्थान में शव का परिष्ठापन करना । फिर वह उन्हें परिष्ठापन की विधि बताता है ।

८. अणाहारो तु अट्टेज्जा, पुट्टो तत्थहियासए । णातिवेलं उवचरे, माणुस्सेहिं वि पुट्टो ॥

सं०—अनाहारः त्वक्वर्तत, स्पृष्टः तत्र अधिसहेत । नातिवेलमुपचरेत्, मानुषैरपि स्पृष्टकः ।

वह आहार का प्रत्याख्यान कर शान्त भाव से लेट जाए । उस स्थिति में भूख, प्यास या अन्य परीषहों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे । मनुष्य-कृत अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर भी मर्यादा का अतिक्रमण न करे ।

भाष्यम् ८—स्पृष्टः—त्रिविधे आहारे प्रत्याख्याते क्षुधया स्पृष्टः, चतुर्विधे वा प्रत्याख्याते पिपासयापि स्पृष्टः ।<sup>३</sup> अतिवेलम्—मर्यादाया अतिक्रमणम् ।<sup>४</sup>

मनुष्ये विद्यते अपरिमिता शक्तिः । तस्याः जागरणावस्थायां मनुष्यः सर्वमधिसोढुं शक्नोति, इति वारं वारं सहनशक्तेः विकासस्य निर्देशः क्रियते ।

स्पृष्ट का तात्पर्य है—तीनों आहार का प्रत्याख्यान करने पर भूख से स्पृष्ट तथा चारों आहार का प्रत्याख्यान करने पर पिपासा से भी स्पृष्ट । अतिवेलं का अर्थ है—मर्यादा का अतिक्रमण ।

मनुष्य में अपरिमित शक्ति है । उसका जागरण होने पर मनुष्य सब कुछ सहन करने में समर्थ हो जाता है । इसलिए सहनशक्ति के विकास का बार-बार निर्देश किया जाता है ।

९. संसर्पणा य जे पाणा, जे य उड्ढसहेचरा । भुंजंति मंस-सोणियं, ण छणे ण पमज्जए ॥

सं०—संसर्पकाः च ये प्राणाः, ये च ऊर्ध्वमधश्चराः । भुञ्जते मांसशोणितं, न क्षणुयात् न प्रमार्जयेत् ।

संसर्पण करने वाली चींटी आदि, आकाशचारी गीध आदि तथा बिलवासी सर्प आदि शरीर का मांस खाएं, मच्छर आदि रक्त पीएं, तब भी उनकी हिंसा न करे और रजोहरण से उनका प्रमार्जन (निवारण) न करे ।

भाष्यम् ९—स्पृष्टमेव ।

स्पृष्ट है ।

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २८९ ।

२. वही, पृष्ठ २८९ ।

३. वही, पृष्ठ २९० : पुट्टो णाम विंगच्छाते, तिविहे पच्चक्खाए, तिविहे चउत्विहे वा पच्चक्खाया, पिवासितो तत्थहियासए

एवं अन्नेहिवि परीसहेहिं पुट्टो अहियासए ।

४. वही, पृष्ठ २९० वेलत्ति वा सीमत्ति वा मेरत्ति वा एगट्टा, दव्ववेला समुट्ठस्स, भाववेला चरित्तपाली ।

१०. पाणा देहं विहिसन्ति, ठाणाओ ण विउन्नमे । आसवेहिं विचित्तेहिं, तिप्पमाणेऽहियासए ॥

सं०—प्राणाः देहं विहिसन्ति, स्थानात् न व्युद्भ्रमेत् । आश्रवैः विविक्तैः, तेषमानः अधिसहेत ।

प्राणी मेरे शरीर का विघात कर रहे हैं, यह सोचकर भिक्षु अपने स्थान से विचलित न हो । नाना प्रकार के कष्टों या पीड़ाओं से पीड़ित होने पर वह उन्हें सहन करे ।

भाष्यम् १०—एते प्राणिनः मम देहमेव विहिसन्ति, न पुनः ज्ञानादीनां उपरोधं कुर्वन्ति इत्यालम्बनं कृत्वा स अविचलस्तिष्ठेत् ।

स्थानं द्विविधं—द्रव्यस्थानं भावस्थानं च । तत्र द्रव्य-स्थानं आवासभूमिः, भावस्थानं भक्तपरिज्ञा । स स्थान-द्रयादपि विचलितो न भवति । आश्रवः—पीडा, कष्टं छिद्रं वा । तिप्पमाणे—पीड्यमानः । चूर्णो वृत्तो च तृप्यमान इति व्याख्यातमस्ति ।

ये प्राणी मेरे शरीर का ही विघात कर रहे हैं, किन्तु ज्ञान आदि का उपघात तो नहीं करते, यह आलम्बन लेकर वह मुनि अविचल रहे ।

स्थान के दो प्रकार हैं—द्रव्यस्थान और भावस्थान । द्रव्य-स्थान है—आवासभूमी तथा भावस्थान है—भक्तपरिज्ञा । वह मुनि दोनों प्रकार के स्थानों से विचलित नहीं होता । आश्रव का अर्थ है—पीडा, कष्ट अथवा छिद्र । 'तिप्पमाण' का अर्थ है—पीड़ित होता हुआ । चूर्ण और वृत्ति में 'तिप्पमाण' की व्याख्या 'तृप्यमान' की है ।

११. गंथेहिं विचित्तेहिं, आउ-कालस्स पारए । पग्गहियत्तरगं चैयं, दवियस्स वियाणतो ॥

सं०—ग्रन्थैः विविक्तैः, आयुःकालस्य पारगः । प्रगृहीततरकं चैतत्, द्रव्यस्य विजानतः ।

ग्रन्थ (शरीर) की अंतिम अवस्था में वह आयुष्य-काल का पार पा जाता है । यह इंगिनीमरण अनशन भक्त-प्रत्याख्यान की अपेक्षा उच्चतर है । इसे अतिशय ज्ञानी और संयमी भिक्षु ही स्वीकार करते हैं ।

भाष्यम् ११—ग्रन्थो द्विविधः—द्रव्यग्रन्थः शरीर-वस्त्रादिः, भावग्रन्थः रागादिः । ग्रन्थेषु विविक्तेषु—त्यक्तेषु स भिक्षुः आयुःकालस्य पारं प्राप्नोति, प्रतिज्ञा-पारमपि च ।

इदानीं इंगिनीमरणमुच्यते—एतद् भक्त-प्रत्याख्यानोपेक्षया प्रगृहीततरं प्रशस्यतरं दुःखतरं च विद्यते । द्रव्यः—उपशान्तरागद्वेषो भिक्षुः एतत् स्वीकरोति । स च विज्ञाता भवेत् नवपूर्वधरः ततः

ग्रन्थ दो प्रकार का होता है—द्रव्यग्रन्थ और भावग्रन्थ । द्रव्यग्रन्थ है—शरीर, वस्त्र आदि । भावग्रन्थ है—राग आदि । ग्रन्थों को छोड़ देने पर वह भिक्षु आयुष्य-काल का पार पा लेता है तथा प्रतिज्ञा का पार भी पा लेता है ।

अब इंगिनीमरण अनशन के विषय में कहा जा रहा है—यह अनशन भक्तप्रत्याख्यान अनशन की अपेक्षा उच्चतर, प्रशस्यतर और कष्टतर होता है । द्रव्य अर्थात् राग-द्वेष को उपशान्त करने वाला भिक्षु इसे स्वीकार करता है । वह विज्ञाता ही अर्थात् नौ पूर्वों का ज्ञाता

१. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २९०-२९१ : इत्थ इमं आलम्बणं काउं अहियासेयव्वं—मा तेसि अंतराइयं भविस्सति, एते तु पाणा मम देहमेव विहिसन्ति, ण पुण नाणादिउवरोहं करेति, कहं ?—अण्णो जीवो अण्णं सरीरमितिकाउं, भणियं च—अण्णं इमं सरीरं अन्नोऽहं, अन्ने संबंधिबंधवा, तं जति पाणा देहं भक्खेति मया णिसट्ठमिति एत्थ किं मम अवरज्जति ?

२. (क) चूर्णो (पृष्ठ २९१) 'अपसव्य' इति पाठो विद्यते—'अवसव्वेहिं विचित्तेहिं' अवसव्वन्तीति अवसव्वा विसयकसाया हिंसादयो य विचित्ता—मुत्ता, अह्वा विरुवप्पिह्मावो, विचित्तेहिं अवसव्वेहिं अभिलितेहिं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २६५ : आश्रवैः प्राणाति-

पातादिमिविषयकसायाविभिर्वा ।

३. आष्टे, आश्रवः—Pain, distress.

४. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २९१ : तिप्पमाण इति अमएणेव सिच्चमाणो खुहप्पिवासिएहिं परीसह-उवसणोहिं मिलायमाणे छिज्जमाणे वा देहिति तो वसे, णवि कायावायामणेहिं तिहिं तप्पति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २६५ : तं भक्ष्यमाणोऽप्यमृता-दिना तृप्यमाण इव सम्यक् तत्कृतां वेवनां तैस्तप्यमानो वा ।

५. विस्तार के लिए देखें—उत्तरउत्तराणाणि ३०।१२-१३ के टिप्पण ।

अतिशयज्ञानी वा ।<sup>१</sup>

अथवा उससे भी अधिक अतिशय ज्ञानी हो ।

भक्तप्रत्याख्यानं यत् संलेखनात्तृणसंस्तारादिकं  
अभिहितं तत् सर्वमिहापि अवसेयम् ।

भक्तप्रत्याख्यान अनशन में जो संलेखना, तृण-संस्तारक आदि  
विधि का कथन है, वह इस अनशन में भी जान लेना चाहिए ।

१२. अयं से अवरे धम्मे, णायपुत्तेण साहिए । आयवज्जं पडोयारं, विजहिज्जा तिहा तिहा ॥

सं०—अयं तस्याऽपरः धर्मः, ज्ञातपुत्रेण कथितः<sup>१</sup> । आत्मवर्जं प्रतिचारं, विजह्यात् त्रिधा त्रिधा ।

भगवान् महावीर ने इंगिनीमरण अनशन का आचार-धर्म भक्त-प्रत्याख्यान से भिन्न प्रतिपादित किया है । इस अनशन में भिक्षु अपने काय-व्यापार के लिए स्वयं के अतिरिक्त मनसा, वाचा, कर्मणा दूसरे का सहारा न ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे ।

भाष्यम् १२—‘से’ इति तस्य इंगिनीमरणस्य अपरः  
धर्मः ज्ञातपुत्रेण साधितः—कथितः । अस्मिन्निङ्गिनीमरणे  
चतुर्विधाहारः प्रत्याख्यातो भवति । अस्य अनशनस्य  
प्रतिपत्ता आत्मवर्जं प्रतिचारं—कायव्यापारं त्रिधा—  
मनसा वाचा कर्मणा विजहाति । स च आकुञ्चनं,  
प्रसारणं, नियते स्थाने गमनागमनं स्वयमेव करोति, न  
च कस्यापि प्रतिचारकस्य साहाय्यमभिलषति ।

ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने उस इंगिनीमरण अनशन का  
आचार-धर्म भक्तप्रत्याख्यान से भिन्न प्रतिपादित किया है । इस इंगिनी-  
मरण अनशन में चारों प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान होता है । इस  
अनशन को स्वीकार करने वाला मुनि स्वयं प्रतिचार—उठना, बैठना  
या चंक्रमण करना— करता है, किन्तु मन, वचन और काया से दूसरे के  
सहयोग का त्याग करता है । वह आकुञ्चन, प्रसारण या सीमित  
स्थान में गमन-आगमन स्वयं ही करता है, दूसरे किसी भी प्रतिचारक  
के सहयोग की अभिलाषा नहीं करता ।

१३. हरिएसु ण णिवज्जेज्जा, थंडिलं मुणिआ सए । विउसिज्ज अणाहारो, पुट्टो तन्थहियासए ॥

सं०—हरितेषु न निपद्येत, स्थण्डिलं ज्ञात्वा शयीत । व्युत्सृज्य अनाहारः, स्पृष्टः तत्राधिसहेत ।

वह हरियाली पर न सोए । स्थण्डिल—जीव-जन्तु-रहित स्थान को देखकर वहां सोए । वह अनाहार भिक्षु शरीर आदि का विसर्जन  
कर, भूख प्यास या अन्य परीषहों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे ।

१४. इंदिएहिं गिलायंते, समियं साहरे मुणी । तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए ॥

सं०—इन्द्रियैः ग्लायन्, समितं संहरेत् मुनिः । तथापि स अगर्हः, अचलो यः समाहितः ।

इन्द्रियों से ग्लान (श्रान्त) होने पर वह मुनि मात्रा-सहित हाथ-पैर आदि का संकोच—परिवर्तन करे । जो अचल और समाहित  
होता है, वह ऐसा करता हुआ धर्म का अतिक्रमण नहीं करता ।

भाष्यम् १३-१४—स्पृष्टमेव ।

स्पृष्ट है ।

१५. अभिकम्मे पडिक्कमे, संकुच्चए पसारए । काय-साहारणट्टाए, एत्थं वावि अचेयणे ॥

सं०—अभिक्रामेत् प्रतिक्रामेत्, संकोचयेत् प्रसारयेत् । कायसंधारणार्थं, अत्र वापि अचेतनः ।

वह बैठा या लेटा हुआ श्रान्त हो जाए तब शरीर-संधारण के लिए गमन और आगमन करे, हाथ, पैर आदि को सिकोड़े और  
फैलाए । यदि शक्ति हो तो इस अनशन में भी अचेतन को भांति निश्चेष्ट लेटा रहे ।

भाष्यम् १५—अचेतनः—क्रियारहितः<sup>३</sup> ।

अचेतन का अर्थ है—क्रियारहित ।

१. चूर्णो (पृष्ठ २९१) ‘सुयाहितो’ इति पाठो व्याख्यातोऽस्ति—  
‘द्वियस्स विद्याणओ’ रागदोसरहियस्स द्वियस्स सुद्धु  
आवितो वा आहिते सुयाहितो ।

वृत्तौ (पत्र २६५) ‘विद्याणओ’ इति पाठो व्याख्यातोऽस्ति—  
‘विजानतो’ गीतार्थस्य, जघन्यतोऽपि नवपूर्वविशारदस्य

भवति, नान्यस्येति ।

२. हेमचन्द्रं, प्राकृत व्याकरण, ४।२ : कथेर्वज्जर-पज्जरोप्पास-  
पिसुण-संघ-बोल्स-चव-जम्प-सीस-साहाः ।

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २९२ : ‘एत्थं वावि अचेयणेत्ति’  
इत्थं इंगिणीमरणे वा विभासा पाओवगमणेषु कट्टमिद

१६. परषकमे परिकलंते, अदुवा चिट्ठे अहायते । ठाणेण परिकलंते, णिसिएज्जा य अंतसो ॥

सं०—पराक्रमेत परिकलाम्यन्, अथवा तिष्ठेत् यथायतः । स्थानेन परिकलाम्यन्, निषीदेत् च अन्तशः ।

वह लेटा-लेटा श्रान्त हो जाए, तो चंक्रमण करे अथवा सीधा खड़ा हो जाए । खड़ा-खड़ा श्रान्त हो जाए, तो अन्त में बैठ जाए ।

भाष्यम् १६—'णिसिएज्जा' अत्र निषद्याविषये चूर्णि-  
परम्परा—णिसल्लोवि जया पलियंकेण वा अद्धपलियंकेण वा  
उक्कडुयासणो वा परित्तंमति णिविज्जति, उत्ताणतो वा  
पासिल्लितो वा उद्धायतो वा लगंडसायी वा जहासमाहीते  
सव्वत्थवि ।<sup>१</sup>

निषीदेत् अर्थात् बैठ जाए । यहां निषद्या के विषय में चूर्णि  
की परम्परा यह है—पर्यंकासन, अद्धंपर्यंकासन, उक्कडुआसन में बैठा  
हुआ मुनि जब थक जाए तब उत्तानासन अथवा पार्श्वशयन अथवा  
ऊर्ध्व-आयत अथवा लगंडशयन—जैसे समाधि उपजे वैसे आसन का  
सर्वत्र प्रयोग करे ।

१७. आसीणे जेलिसं मरणं, इंदियाणि समीरए । कोलावासं समासज्ज, वितहं पाउरेसए ॥

सं०—आसीनः अनीदृशं मरणं, इन्द्रियाणि समीरयेत् । कोलावासं समासाद्य, वितथं प्रादुरेषयेत् ।

इस असाधारण मरण की उपासना करता हुआ वह इंद्रियों का सम्यग् प्रयोग करे—इष्ट और अतिष्ट विषयों में राग-द्वेष न करे ।  
घुन और दीमक वाले काष्ठ-स्तंभ का सहारा न ले । घुन आदि से रहित और निश्छिद्र काष्ठ स्तंभ की एषणा करे ।

१८. जओ वज्जं समुप्पज्जे, ण तत्थ अवलंबए । ततो उक्कसे अप्पाणं, सव्वे फासेहियासए ॥

सं०—यतो वर्ज्यं समुत्पद्येत, न तत्र अवलम्बेत । ततः उत्कृष्टेद् आत्मानं, सर्वान् स्पर्शान् अधिसहेत् ।

जिसका सहारा लेने से वर्ज्य (कर्म) उत्पन्न हो, उसका सहारा न ले । उससे अपने-आपको दूर रखे । सब स्पर्शों को सहन करे ।

भाष्यम् १७, १८—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

१९. अयं चायततरे सिया, जो एवं अणुपालए । सव्वगायणिरोधेवि, ठाणातो ण विउबभमे ॥

सं०—अयं च आयततरेः स्यात्, यः एवं अनुपालयेत् । सर्वगात्रनिरोधेऽपि स्थानात् न व्युद्भ्रमेत् ।

यह प्रायोपगमन अनशन की मरणविधि इंगिनीमरण से महत्तर है । जो उक्त विधि से इसका अनुपालन करता है, वह समूचे शरीर  
के अकड जाने पर भी अपने स्थान से चलित न हो ।

भाष्यम् १९—इदमनशनं इङ्गिनीमरणापेक्षया  
आयततरं—महत्तरं विद्यते । ततोऽस्मिन् स्थानात् विचलनं  
प्रतिषिद्धमस्ति । निश्चेष्टं शयानस्य सकलशरीरस्य  
निरोधो जायते इति स्वाभाविकं, तथापि प्रायोपगमन-  
मनशनं स्वीकुर्वाणस्य दृढतरं मनोबलं भवति, प्रबला च  
सहनशक्तिः । तेन स परिपूर्णं कायोत्सर्गमनुपालयितुं  
शक्नोति ।

यह प्रायोपगमन अनशन इंगिनीमरण अनशन की अपेक्षा महत्तर  
है । इसीलिए प्रायोपगमन अनशन में स्थान से विचलन का प्रतिषेध  
किया गया है । निश्चेष्ट अवस्था में सोने पर संपूर्ण शरीर में अकडन  
आ जाती है, यह स्वाभाविक है । फिर भी प्रायोपगमन अनशन को  
स्वीकार करने वाले भिक्षु का मनोबल दृढतर होता है और उसकी  
सहनशक्ति प्रबल होती है । इसलिए वह परिपूर्ण कायोत्सर्ग का  
अनुपालन करने में समर्थ हो जाता है ।

२०. अयं से उत्तमे धम्मे, पुव्वट्ठाणस्स पग्गहे । अच्चिरं पडिलेहिता, विहरे चिट्ठ माहणे ॥

सं०—अयं स उत्तमो धर्मः, पूर्वस्थानस्य प्रग्रहः । अच्चिरं प्रतिलिख्य, विहरेत् तिष्ठेत् माहनः ।

यह मरणविधि उत्तम धर्म है । इसमें पूर्व स्थान—इंगिनीमरण के आचार से विशिष्ट आचार होता है । प्रायोपगमन अनशन स्वीकार  
करने वाला भिक्षु जीव-जन्तु-रहित स्थान को देखकर वहां निश्चेष्ट होकर रहे ।

भाष्यम् २०—इदं प्रायोपगमनं उत्तमो धर्मः—प्रधानो  
मरणविधिः विद्यते । अस्मिन् पूर्वस्थानस्य—इंगिनी-

यह प्रायोपगमन अनशन उत्तम धर्म अर्थात् प्रधान मरणविधि  
है । इसमें इंगिनीमरण अनशन के आचार से विशिष्ट आचार है । जैसे

अचेयणा सर्वक्रियारहिते चिट्ठति एवं एत्थवि इंगिनीमरणे  
जति से सामत्थं अत्थि तो अचेयणो, अचेयणोव्व किरिया-

रहितो चिट्ठति, अचेयणेण तुल्लो अचेयणवत् ।

१. आचारंग चूर्णि, पृष्ठ २९३ ।

मरणस्य आचारात् प्रग्रहः—विशिष्टः आचारो विद्यते । यथा इंगिनीमरणाख्यस्य अनशनस्य स्वीकर्त्ता नियतप्रदेशे गमनागमनं करोति, स्वयं परिकर्म—शुश्रूषामपि करोति । यः प्रायोपगमनमनशनं स्वीकरोति स थस्मिन् आसने अनशनं प्रतिपद्यते तस्मिन्नेव निश्चलो भवति, स्वयमपि परिकर्म न विधत्ते ।

स माहनो भिक्षुः अचिरं—समुचितं स्थानं प्रति-  
लिख्य तत्र विहरेत्, तिष्ठेत् ।

इंगिनीमरण अनशन को स्वीकार करनेवाला नियत स्थान में गमन-  
आगमन करता है तथा स्वयं परिकर्म—शुश्रूषा भी करता है । जो  
प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करता है वह जिस आसन में अनशन  
ग्रहण करता है, उसी आसन में निश्चल रहता है और स्वयं भी  
परिकर्म नहीं करता ।

वह अहिंसक भिक्षु अचिर—समुचित स्थान का प्रतिलेखन कर  
विहरण करे, वहां रहे ।

२१. अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्थ अप्पगं । वोसिरे सब्बसो कायं, ण मे देहे परीसहा ॥

सं०—अचित्तं तु समासाद्य, स्थापयेत् तत्र आत्मकम् । व्युत्सृजेत् सर्वशः कायं, न मे देहे परीषहाः ।

अचित्त फलक स्तम्भ आदि को प्राप्त कर, वहां अपने आपको स्थापित करे । शरीर को सब प्रकार से विसर्जित कर दे । परीषह उत्पन्न होने पर, वह यह भावना करे—‘यह शरीर ही मेरा नहीं है, तब मुझे परीषह कहां होगा ?’

भाष्यम् २१—स प्रायोपगमनकारी भिक्षुः किञ्चिद्  
अचेतनं अवस्तम्भनं—भित्ति काष्ठं स्थण्डिलं वा आसाद्य  
तत्र आत्मानं स्थापयेत्, सर्वशः कायं व्युत्सृजेत्—न  
काञ्चिदपि कायिकीं प्रवृत्तिं कुर्यात् । एवं प्रायोपगमनं  
प्रतिपन्नं भवति ।\*

वह प्रायोपगमन अनशन स्वीकार करने वाला भिक्षु किसी  
निर्जीव अवस्तम्भन—भित्ति, काष्ठ अथवा स्थान को पाकर वहां अपने  
आपको स्थापित करे । शरीर को सब प्रकार से विसर्जित कर दे, कुछ  
भी शारीरिक प्रवृत्ति न करे । इस प्रकार प्रायोपगमन अनशन स्वीकृत  
होता है ।

स प्रायोपगमनं प्रतिपद्य अन्यत्वानुप्रेक्षाभालम्बेत, तेन  
परीषहाः सोढुं शक्या भवन्ति । प्रायोपगमनं तिसृष्वपि  
मुद्रासु प्रतिपन्नं भवति—निषण्णकायोत्सर्गं निषण्ण-  
कायोत्सर्गं ऊर्ध्वकायोत्सर्गं च । एतासु तिसृष्वपि शरीरस्य  
चिरकालं एकस्मिन्नेव कायोत्सर्गमुद्राविशेषे स्थितस्य  
सन्तापो जायते । तदानीं ‘नायं देहो मम, कृतः परीषहाः’  
अथवा ‘अहं सुखदुःखसमत्वावस्थायां विहरन्नस्मि, तेन  
न मे देहे परीषहा विद्यन्ते’ इति आलम्ब्य स समागतान्  
परीषहान् सम्यक् सहते ।

वह मुनि प्रायोपगमन अनशन को स्वीकार कर अन्यत्वानुप्रेक्षा  
का आलंबन ले । उससे परिषहों को सहना शक्य हो जाता है ।  
प्रायोपगमन अनशन तीनों मुद्राओं—अवस्थाओं में स्वीकार किया जा  
सकता है—निषण्ण—सोए कायोत्सर्ग में, निषण्ण—बैठे कायोत्सर्ग में  
और ऊर्ध्व—खड़े कायोत्सर्ग में । इन तीनों मुद्राओं में शरीर को लम्बे  
समय तक एक ही कायोत्सर्ग की मुद्रा-विशेष में स्थिर रखने के कारण  
सन्ताप होता है । तब ‘यह शरीर मेरा नहीं है तो परीषह कहां  
होंगे ?’ अथवा ‘मैं सुख-दुःख को समान मानता हुआ समत्व में  
विहरण कर रहा हूं, इसलिए मेरे शरीर में परीषह (उपद्रव) नहीं है ।’  
इस आलंबन-सूत्र से वह अनशनकारी भिक्षु आने वाले परीषहों को  
सम्यक् रूप से सहन करता है ।

१. (क) चूर्णो (पृष्ठ २९४) ‘अचिरं’ स्थानार्थे कालार्थे च  
व्याख्यातमस्ति—अचिरं णाय ठाणं, अहवा अचिरं  
कालं ।

(ख) वृत्तो (पत्र २६७) स्थानार्थे एव—‘अचिरं’  
स्थानम् । यदि एतत् पदमिह स्थानार्थे स्वीकियेत  
तदा ‘अइरं’ (अजिरं) इति पाठस्य सहजं संभावना  
जायते ।

२. आगमानां व्याख्यासाहित्ये ‘पाओवगमण’ पदं प्रायः

पादपोपगमनरूपेण व्याख्यातमस्ति । तत्प्रतिरूपशब्दवृष्ट्या  
नास्ति एतत् समीचीनं, किन्तु भावार्थरूपे एतद् वरेण्यता”  
माश्लिष्यति, यथा च चूर्णः—‘एयस्स पादवेण उवमा  
कीरति पाओवगमणं, जहा पायवो अच्छिन्नोवि ण चलति,  
किं छिन्नपातो ? सो उज्झमाणे वा छिण्णमाणे वा विसम-  
पडितो वा मित्तिकाउं ण ततो ठाणाओ चलति, अण्णहा  
ठाणं ण फरेइ, एवं एसोऽवि पातववत् पडितो निच्चलो  
निष्फंदो चिट्ठति ।’ (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २९४)

२२. जावज्जीवं परीसहा, उवसग्गा य संखाय । संबुडे देहभेदाय, इति पण्णेहियासए ॥

सं०—यावज्जीवं परीषहाः उपसर्गाः च संख्याय । संवृतः देहभेदाय इति प्राज्ञः अधिसहेत ।

जब तक जीवन है, तब तक ये परीषह और उपसर्ग होते हैं, यह जानकर शरीर को विस्तर्जित करने वाला और शरीर-भेद के लिए समुद्यत प्राज्ञ भिक्षु उन्हें समभाव से सहन करे ।

भाष्यम् २२—यावत् प्राणाः तावत् परीषहाः उपसर्गश्च भवन्ति इति संख्याय—ज्ञात्वा प्रज्ञावान् भिक्षुः तान् सोढुं आत्मशक्तिं प्रयुञ्जीत । जातेषु परीषहेषु उपसर्गेषु च न चलाचलो भवेत्, न च परिकर्मं कुर्यात् ।<sup>१</sup>

जब तक प्राण हैं तब तक परीषह और उपसर्ग होते हैं—यह जानकर प्रज्ञावान् भिक्षु उनको सहन करने के लिए अपनी शक्ति का प्रयोग करे । वह उत्पन्न परीषहों और उपसर्गों में चलाचल न हो, विचलित न हो और न वह परिकर्म करे ।

२३. भेउरेसु न रज्जेज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि । इच्छा-लोभं ण सेवेज्जा, सुहमं वर्णं सपेहिया ॥

सं०—भिदुरेषु न रज्येत्, कामेषु बहुतरेषु अपि । इच्छालोभं न सेवेत, सूक्ष्मं वर्णं संप्रेक्ष्य ।

इस जगत् में शब्द आदि प्रचुर काम होते हैं । किन्तु वे सब क्षणभंगुर हैं । इसलिए वह उनमें रक्त न हो, इच्छा-लोभ का भी सेवन न करे । संयम बहुत सूक्ष्म होता है । उसका दर्शन करने वाला ऐसा न करे ।

भाष्यम् २३—प्रायोपगमनावस्थायां समाहितचित्तस्य भिक्षोः प्रकृष्टा निर्जरा भवति । तस्यामवस्थायां अन्त-विद्यमाना इच्छालोभादयः व्यक्तीभवन्ति, अत एवाय-मुपदेशः—स भिक्षुः बहुतरेषु भिदुरेषु कामेषु न रज्येत् ।

प्रायोपगमन की अवस्था में समाहित चित्त वाले भिक्षु के उत्कृष्ट निर्जरा होती है ! उस अवस्था में मुनि में विद्यमान आन्तरिक इच्छालोभ आदि अभिव्यक्त होते हैं । इसीलिए यह उपदेश दिया गया है—'वह भिक्षु ताना प्रकार के क्षणभंगुर कामों में अनुरक्त न हो ।'

इच्छा-निदानकरणम् । परजन्मनि अमुकोऽहं भूयासं इति रूपं इच्छालोभं न कुर्यात् ।

इच्छा का अर्थ है—निदान करना । अगले जन्म में मैं अमुक होऊँ—इस प्रकार इच्छा-लोभ का सेवन न करे ।

वर्णः—संयमः । स च अत्यन्तं सूक्ष्मो भवति, स्तोकेनापि असत्प्रयत्नेन विराधितो भवति इति संप्रेक्ष्य आशंसाप्रयोग<sup>२</sup> वर्जयेत् ।

वर्ण का अर्थ है—संयम । वह अत्यन्त सूक्ष्म होता है । वह थोड़े से भी असत् प्रयत्न से विराधित हो जाता है—यह संप्रेक्षा कर मुनि आशंसा का प्रयोग न करे ।

१. चूर्णो वृत्तौ च एतद् अनेकैर्जिकल्पैर्व्याख्यातमस्ति—

(क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २९५ : परीषहा दिगिच्छदिव उवसग्गा य अणुलोमा पडिलोमा य, इति संखाय एवं संखावां तेण भवति, यदुक्तं—ते न भवन्ति ततो अहियासते, पुण सुद्धते पडच्च ण संखाया भवन्ति, अहवा जावज्जीवं एते परीसहा उवसग्गावि ण मम तस्सविसंतीति एवं संखाए अहियासए, अहवा परीसहा एव उवसग्गा ण देहे छिज्जमाणे उज्जमाणे वा इति पण्णे अहियासए इति एवं प्रज्ञावां उप्पण्णे अहियासए—सहेज्जासि, परिणिट्ठेसो वा, एवं सो पण्णो अहियासेति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २६७-२६८ : 'यावज्जीवं' यावत्प्राणधारणं तावत्परीषहा उपसर्गश्च सोढव्या इत्येतत् 'संख्याय' ज्ञात्वा' तानध्यासयेदिति, यद्विवा

न मे यावज्जीवं परीषहोपसर्गा इत्येतत्सङ्ख्याय ज्ञात्वाऽधिसहेत, यद्विवा यावज्जीवमिति—यावदेव जीवितं तावत्परीषहोपसर्गजनिता पीडेत, तत्पुनः कतिपयनिमेषाऽवस्थापि एतदवस्थस्य मन्मात्यन्त-मल्पमेवेत्यत एतत्सङ्ख्याय ज्ञात्वा संबृतो यथा-निक्षिप्तत्यक्तगात्रो 'देहभेदाय' शरीरत्यागाद्योत्थित इतिकृत्वा 'प्राज्ञः' उचितविधानवेदी, यद्यत्कायपीडा-कार्युपतिष्ठते तत्तत्सम्यगधिसहेत ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २९५ : काम इच्छा, पसत्था इच्छा नाणादि, सा तु लोभगहणा अपसत्था इच्छा, निदानकरणं, जहा बंमदत्तादीहि, तं ण सेविज्जा, ण पत्थेज्जा ण अभिल-सेज्जा, इहलोगे वा आहारादि, अहवा इहलोगासंसम्पयोगे परलोगासंसम्पयोगे जीवियासंसम्पयोगे मरणासंसम्पयोगे कामभोगासंसम्पयोगे ।

२४. सासर्वाहिं निमन्तेज्जा, दिव्यं मायं ण सद्दहे । तं पडिबुज्झ माहणे, सत्वं नूमं विधूणिया ॥

सं०—शाश्वतेभ्यः निमन्त्रयेत्, दिव्यां मायां न श्रद्दधीत । तां प्रतिबुध्य माहनः, सर्वं नूमं विधूय ।

कोई देव दिव्य-भोगों के लिए निमन्त्रित करे, तब भिक्षु उस देव-माया पर श्रद्धा न करे । वह भिक्षु माया को जानकर सब प्रकार से उसको क्षीण कर दे ।

भाष्यम् २४ तस्यामवस्थायां देवा अपि साक्षात् प्रकटीभवन्ति । कश्चिद्देवः शाश्वतकामाय<sup>१</sup> निमन्त्रयत्यपि । तन्निमन्त्रणं विचलनार्थमपि स्यात्, परीक्षार्थमपि स्यात्, अन्यत्प्रयोजनायापि स्यात् । तदानीं प्रज्ञावान् भिक्षुरिति चिन्तयेत्—इमे दिव्यभोगा अपि सावधिकाः, दीर्घकालिका अपि न शाश्वतिकाः । एवं विचिन्त्य तां दिव्य-मायां<sup>२</sup> न श्रद्दधीत । तस्याः प्रतिबोधपूर्वकं विधूननं कुर्यात् ।

नूमम्—माया ।<sup>३</sup>

उस अनशन की अवस्था में देव भी साक्षात् प्रकट होते हैं । कोई देव शाश्वत काम (दिव्य भोग) के लिए निमन्त्रण भी देता है । वह निमन्त्रण विचलित करने के लिए भी हो सकता है, परीक्षा के लिए भी हो सकता है तथा किसी अन्य प्रयोजन के लिए भी हो सकता है । उस समय प्रज्ञावान् भिक्षु चिन्तन करे—ये दिव्य भोग भी सावधिक हैं, दीर्घकालिक होने पर भी शाश्वत नहीं हैं, इस प्रकार चिन्तन कर वह उस दिव्य माया पर श्रद्धा न करे । उसको ज्ञानपूर्वक धुन डाले, विसर्जित कर दे ।

नूम का अर्थ है—माया ।

२५. सव्वट्ठोहिं अमुच्छिद्यए, आउकालस्स पारए । तितिक्षं परमं णच्चा, विमोहणतरं हितं ॥ —ति बेमि ।

सं०—सर्वार्थेषु अमूर्च्छितः, आयुःकालस्य पारगः । तितिक्षां परमां ज्ञात्वा, विमोहान्यतरद् हितम् । —इति ब्रवीमि ।

दिव्य और मानुषी—सब प्रकार के विषयों में अमूर्च्छित और आयुःकाल के पार तक पहुंचने वाला भिक्षु तितिक्षा को परम जानकर विमोह—भक्त-प्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन में से किसी एक को हितकर मानकर उसका आलंबन ले ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

भाष्यम् २५—जीवनं अनशनपूर्वकं समापयेद् इति समाधिभरणस्य तत्त्वमस्ति । त्रिष्वपि विमोहेषु अन्यतमस्य विमोहस्य स्वीकारः हितकरोऽस्ति । सर्वार्थेषु—शब्दादिविषयेषु दिव्येषु मानुषेषु च अमूर्च्छा, प्राप्तेषु परीषेपेषु उपसर्गेषु वा तितिक्षा परमं हितमस्ति । इति ज्ञात्वा अनशनस्य सम्यक् आराधनां कुर्यात् ।

जीवन की समाप्ति अनशनपूर्वक हो, यह समाधि-मरण का तत्त्व है । तीनों विमोहों (अनशनों) में से किसी एक विमोह का स्वीकार हितकर है । अनशनकाल में सब अर्थों—शब्द आदि विषयों, भले फिर वे दैविक हों या मानुषिक, में अमूर्च्छा तथा प्राप्त उपसर्गों और परीषेपों में तितिक्षा—यह परम हितकर है । यह जानकर भिक्षु अनशन की सम्यक् आराधना करे ।

१. देशीयशब्दः ।

२. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २९६ : सासद्यमिति णितिर्एहिं, कोयी देवता व समत्थं पडिणीतताए वा, तं मायां, किं एवं किलिस्ससि ? अहं ते सासते कामे देमि, जं भणितं—दिव्वे, उट्ठोहिं एतं विमाणं, तं च अट्टाए सक्केण देवराइणा पेसिता, सरुवेणमेव सगं आरुभिज्जासि, अन्नं वा जं इच्छसि तं ते वरं देमि रज्जं धणं वा अक्खयं जीवितं, एतं

निमन्तते तां देवे ।

३. चूर्णां अस्य वैकल्पिकोर्थोपि लभ्यते—‘अहवा दिव्यं आयं ण सद्दहे, आतं लाभं आगमणं ण सद्दहे, एवं देवीवि दिव्यं ह्वं विउव्वित्ता भोगेहिं निमन्तिज्जा साभावितं कइयविषं वा, तं दिव्वमायं ण सद्दहे ।’ (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २९६)
४. चूर्णां वैकल्पिकोर्थोपि सम्मतः—अहवा नूमं कम्मं । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ २९६)



नवमं अज्झयणं  
उवहाणसुयं

नौवां अध्ययन  
उपधानश्रुत

[उद्देशक ४ : गाथा ७०]



## आमुखम्

प्रस्तुताध्ययनस्य नामास्ति 'उपधानश्रुतम्' । उप-  
धानम्—तपः । भगवता साधनाकाले यथा तप आचीर्णं  
तथाऽस्मिन्नस्ति सन्दर्शितम् । सूक्ष्मेक्षिकया इति प्रज्ञायते  
—भगवता यद् यदाचीर्णं तस्यैव प्रस्तुतागमे प्रतिपादनं  
कृतं, तदेव वा निर्दिष्टम् । उदाहरणरूपेण कानिचित्  
सूत्राणि निदर्शयन्ते—

### आचीर्णम्

१. अइवातियं अणाउट्टे सयमण्णेत्ति अकरणाए । (१।१।१७)
२. राइं विवं पि जयमाणे अप्पमत्ते । (१।२।४)
३. ओमोदरियं चाएत्ति, अपुट्ठे वि भगवं रोमेहिं । (१।४।१)
४. पुट्ठे वा से अपुट्ठे वा, णो से सातिज्जत्ति तेइच्छं ।  
(१।४।११)
५. अवि ज्ञाति से महावीरे, आसणत्थे अक्कुए भाणं ।  
उड्ढमहे तिरियं च, पेह्माणे समाहिमपडिण्णे । (१।४।१४)

### प्रतिपादितम्

१. तं परिण्णाय मेहावी णेव सयं एतेहिं काएहिं दंडं  
समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं एतेहिं काएहिं दंडं समारंभावेज्जा ।  
(८।१८)
२. अहो य राओ य जयमाणे.....अप्पमत्ते सया परक्कमे-  
ज्जात्ति । (४।११)
३. लद्धे आहारे अणगारे मायं जाणेज्जा । (२।११३)
४. अलं तवेएहिं । (६।२१)
५. आयतचक्खू लोग-विपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ,  
उड्ढं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ । (२।१२५)

प्रस्तुताध्ययनस्य चत्वारः उद्देशका वर्तन्ते ।  
तेषामर्थीधिकार इत्थमस्ति—

१. चर्या ।
२. शय्या ।

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—उपधानश्रुत । उपधान का अर्थ  
है—तप । भगवान् ने साधनाकाल में तप का जैसा आचरण किया  
वैसा इस अध्ययन में बताया गया है । सूक्ष्मदृष्टि से देखने पर यह  
जात होता है कि भगवान् ने जो-जो आचरण किया उसका ही प्रस्तुत  
आगम में प्रतिपादन किया है अथवा उसी का निर्देश किया है ।  
उदाहरण के रूप में कुछेक सूत्रों का निर्देश किया जा रहा है ।

### आचीर्णं

१. भगवान् स्वयं प्राणवध नहीं करते थे और दूसरों से नहीं  
करवाते थे ।
२. भगवान् रात और दिन मन, वाणी तथा शरीर को स्थिर  
और एकाग्र कर अप्रमत्त रहते थे ।
३. भगवान् रोग से अस्पृष्ट होने पर भी अवमोदयं करते  
थे ।
४. वे रोग से स्पृष्ट या अस्पृष्ट होने पर चिकित्सा का अनु-  
मोदन नहीं करते थे ।
५. भगवान् ऊकड़ू आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर  
ध्यान करते थे । वे ऊंचे, नीचे और तिरछे लोक में होने  
वाले पदार्थों को ध्येय बनाते थे । उनकी दृष्टि आत्म-  
समाधि पर टिकी हुई थी । वे संकल्प से मुक्त थे ।

### प्रतिपादित

१. मेधावी उस कर्म-समारंभ का विवेक कर इन सूक्ष्म जीव-  
कायों के प्रति स्वयं दंड का प्रयोग न करे तथा दूसरों से न  
करवाए ।
२. दिन-रात ध्यान करने वाला साधक .....अप्रमत्त होकर  
सदा पराक्रम करे ।
३. आहार प्राप्त होने पर मुनि मात्रा को जाने ।
४. इन चिकित्सा-विधियों का तू परित्याग कर ।
५. संयतचक्षु पुरुष लोकदर्शी होता है । वह लोक के अधोभाग  
को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग  
को जानता है ।

इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं उनका अर्थाधिकार इस प्रकार

है—

१. चर्या ।
२. शय्या ।

१. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २७९ : चरिया सिज्जा य परीसहा य आदकिया चिगिच्छा य ।  
तवचरणेणऽहिमारो चउसुद्देसेसु नायब्बो ॥

३. परीषहः ।

४. आतंके अचिकित्सा अवमौदर्यं च ।

अस्मिन्नध्ययने भगवतः साधनायाः वास्तविकं प्रतिपादनमस्ति । एकशाटकावस्थायां दीक्षा, ततः अचेलत्वस्य स्वीकरणं, एष वस्त्रविषयकः प्रकल्पः ।<sup>१</sup> भगवतः समयः ध्यानसाधनायां सुनियोजित आसीत् । तत्र अनिमेषप्रेक्षाया विविक्तस्थानस्य च प्रयोगः कृतोऽस्ति ।<sup>२</sup> अप्रमादः समाधिश्च तस्य मुख्यं ध्यानांग-मासीत् ।<sup>३</sup> ध्यानासनस्य संकेतः ध्यानविधेर्निर्देशोऽपि लभ्यते ।<sup>४</sup> यदि ध्यानविषयकानि पद्यानि एकालापकरूपेण समुच्चितानि भवेयुस्तदा सहजं ध्यानस्य विधिः समवतरति—

अद्दु पोरिसि तिरियं भित्तिं, चक्खुमासज्ज अंतसो झाइ ।  
अहं चक्खु-भीया सहिया, तं 'हंता हंता' बहवे कंविस्सु ॥<sup>१</sup>

सयणोहिं वित्तिमिस्सेहिं, इत्थोओ तत्थ से परिण्णाय ।  
सागारियं ण सेवे, इति से सयं पवेसिया झाति ॥<sup>२</sup>

जे के इमे अगारत्था, भीसीभावं पहाय से झाति ।  
पुट्ठो वि णाभिभासिसु, गच्छति णाइवत्तई अंजू ॥<sup>३</sup>

एतेहिं मुणी सयणोहिं, समणे आसी पतेरस वासे ।  
राइं दिवं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिए झाति ॥<sup>४</sup>

अवि झाति से महावीरे, आसणत्थे अक्कुकुए झाणं ।  
उड्डमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ॥<sup>५</sup>

३. परीषह ।

४. रोग होने पर अचिकित्सा तथा अवमौदर्य ।

इस अध्ययन में भगवान् महावीर की साधना का यथार्थ प्रतिपादन हुआ है । एक शाटक की अवस्था में दीक्षा, फिर अचेलत्व का स्वीकरण—यह उनकी वस्त्र-विषयक मर्यादा है । भगवान् का समय ध्यान की साधना में सुनियोजित था । उसमें उन्होंने अनिमेष-प्रेक्षा तथा एकान्त स्थान का प्रयोग किया । अप्रमाद और समाधि—ये दोनों उनके ध्यान के मुख्य अंग थे । यहाँ ध्यान के आसनों का संकेत तथा ध्यान की विधि का निर्देश भी उपलब्ध होता है । यदि ध्यान विषयक सारे पद्य एक आलापक के रूप में संगृहीत हों तो सहजरूप से ध्यान की पूरी विधि सामने आ जाती है—

‘भगवान् प्रहर-प्रहर तक आंखों को अपलक रख तिरछी भीत पर मन को केन्द्रित कर ध्यान करते थे । लंबे समय तक अपलक रही आंखों की पुतलियां ऊपर की ओर चली जातीं । उन्हें देखकर भयभीत बनी हुई बच्चों की टोली ‘हंत ! हंत !’ कहकर चिल्लाती—दूसरे बच्चों को बुला लेती ।’

‘भगवान् जन-संकुल स्थानों में नहीं ठहरते थे । कभी-कभी ऐसा होता कि वे एकान्त स्थान देखकर ठहरते, पर एकान्त की खोज में कुछ स्त्रियां वहाँ आ जाती । भगवान् की प्रज्ञा जागृत थी । इसलिए उन स्त्रियों के द्वारा भोग की प्रार्थना किए जाने पर भी भगवान् भोग का सेवन नहीं करते थे । वे अपनी आत्मा की गहराइयों में पैठकर ध्यान में लीन रहते थे ।’

‘गृहस्थों से संकुल स्थान प्राप्त होने पर भी भगवान् अपने मन को किसी में न लगाते हुए ध्यान करते थे । वे पूछने पर भी नहीं बोलते । उन्हें कोई बाध्य करता तो वे वहाँ से मौनपूर्वक दूसरे स्थान में चले जाते । वे ध्यान का अतिक्रमण नहीं करते और हर स्थिति में मध्यस्थ रहते ।’

‘भगवान् साधना-काल के साढ़े बारह वर्षों में इन वास-स्थानों में प्रसन्नमना रहते थे । वे रात और विभ मन, वाणी और शरीर को स्थिर और एकाग्र तथा इन्द्रियों को शान्त कर समाहित अवस्था में ध्यान करते थे ।’

‘भगवान् ऊकडू आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे । वे ऊंचे, नीचे और तिरछे लोक में होने वाले पदार्थों को ध्येय बनाते थे । उनकी दृष्टि आत्म-समाधि पर टिकी हुई थी । वे संकल्प से मुक्त थे ।’

१. आयारो, ९।१।१-४ ।

२. वही, ९।१।५-७ ।

३. वही, ९।२।४ ।

४. वही, ९।४।१४, १५ ।

५. वही, ९।१।५ ।

६. वही, ९।१।६ ।

७. वही, ९।१।७ ।

८. वही, ९।२।४ ।

९. वही, ९।४।१४ ।

अकसाई विगयगोही, सहृद्वेसुमुच्छिष्टे शान्ति ।  
छुजमत्ये वि परक्कममाणे, णो पमायं सई पि क्विक्त्था ॥'

विरए गामधम्मोहि, रीयति माहणे अबहुवाई ।  
सित्तिरंभि एगवा भगवं छायाए साइ आसी य ॥'

आहारनिद्राप्रियाप्रियतितिक्षाप्रभृतयः प्रकल्पा अपि ध्यानस्य परिकरभूता एव । आहारविषये अवमौदर्यस्य रूक्षभोजनस्य च उल्लेखा विद्यन्ते ।<sup>१</sup> द्वित्रिपञ्चदिव-सोपवासानामुल्लेखोस्ति, षाण्मासिक्यायाः तपस्यायाः उल्लेखः कथं नास्तीति प्रश्नः । षण्मासपर्यन्तं अपानं कृतमिति निर्दिष्टमस्ति ।<sup>२</sup> अत्र एते प्रश्नाः समुद्भवन्ति—

किं भोजनं कृतं पानीयं न पीतम् ?

अथवा पानीयं न पीतं भोजनमपि च न कृतम् ?

अथवा 'अपिइत्य'<sup>३</sup> 'अपिवित्ता'<sup>४</sup> इति पदयोः प्रयोगः भोजनार्थं कृतः स्यात् ?

एषु प्रश्नेषु उत्तरवर्तिप्रश्नद्वयमेव अधिकं विमर्शार्हं वर्तते । तत्र पानीयं न पीतमिति महत्तपः, तदर्थं अपानकस्य तपसो निर्देशः कृतः, भोजनं न कृतमिति तु तदन्तर्गतमेवेति स्वयं गम्यम् ।

निद्रायाः प्रश्नोऽपि ध्यानेन संबद्धोस्ति । साधारणतया य उचितं कालं न निद्राति तस्य शारीरिकं स्वास्थ्यं मानसिकं चापि न सम्यगवतिष्ठते । भगवान् सार्धद्वादश-वाषिकसाधनाकाले प्रायः जागरूकत्वमभजत्, निद्रायाः कालावधिः मुहूर्त्तमपि नास्पृशत् ।<sup>५</sup>

वचनगुप्तिर्मानं वा भगवता सम्यगाराधितम् । अप्यस्मिन् दीर्घे साधनाकाले प्रायः मीनभासेवितम् । इमे निर्देशास्तां स्थितिं स्पष्टयन्ति—

'अप्यं वृइएऽपडिभाणी ।'

'रीयई माहणे अबहुवाई ।'

'रीयति माहणे अबहुवाई ।'

'भगवान् क्रोध, भान, माया और लोभ को शांत कर, आसक्ति को छोड़, शब्द और रूप में अमूर्च्छित होकर ध्यान करते थे । उन्होंने ज्ञानावरण आदि कर्म से आबूत दशा में पराक्रम करते हुए भी एक बार भी प्रमाद नहीं किया ।'

'भगवान् शब्द आदि इन्द्रिय विषयों से विरत होकर विह्वार करते थे । वे बहुत नहीं बोलते थे । वे शिशिर ऋतु में छाया में ध्यान करते थे ।'

आहार, निद्रा और प्रिय-अप्रिय में तितिक्षा आदि के निर्देश भी ध्यान के परिकर ही हैं । आहार के विषय में अवमौदर्य और रूक्ष भोजन के उल्लेख मिलते हैं । दो, तीन, पांच दिनों के उपवास का उल्लेख प्राप्त है, किन्तु भगवान् की छह मासिक तपस्या का उल्लेख क्यों नहीं है, यह प्रश्न उठता है । भगवान् ने छह महीनों तक पानी नहीं पीया, यह निर्दिष्ट है । यहाँ ये प्रश्न उत्पन्न होते हैं—

क्या भगवान् ने भोजन किया और पानी नहीं पीया ?

अथवा पानी भी नहीं पीया और भोजन भी नहीं किया ?

अथवा 'अपिइत्य' तथा 'अपिवित्ता'—इन पदों का प्रयोग भोजन के अर्थ में किया गया ?

इन प्रश्नों में उत्तरवर्ती दो प्रश्न ही अधिक विमर्शनीय हैं । 'पानी नहीं पीया' यह महान् तप है, उसके लिए अपानक तप का निर्देश किया है । भोजन नहीं किया, यह तो उसके अन्तर्गत ही है, यह स्वयं गम्य है ।

निद्रा का प्रश्न भी ध्यान से संबद्ध है । सामान्य रूप से जो व्यक्ति उचित समय पर नींद नहीं लेता उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य भी समीचीन नहीं रहता । भगवान् साढ़े बारह वर्ष के साधनाकाल में प्रायः जागृत रहे । नींद की कालावधि एक मुहूर्त्त-मात्र भी नहीं थी ।

भगवान् ने वचनगुप्ति अथवा मीन की सम्यग् आराधना की । इतने लंबे साधनाकाल में भी वे प्रायः मीन ही रहे । ये निम्न निर्देश उस स्थिति को स्पष्ट करते हैं—

'पूछने पर भी बहुत कम बोलते थे ।'

'वे प्रायः मीन रहते थे—आवश्यकता होने पर भी कुछ-कुछ बोलते थे ।'

'वे बहुत नहीं बोलते थे ।'

१. आचारो, ९।४।१५ ।

२. वही, ९।४।३ ।

३. वही, ९।४।१,४,५ ।

४. वही, ९।४।६ ।

५. वही, ९।४।५ ।

६. वही, ९।४।६ ।

७. वही, ९।२।५,६; ९।४।१५ ।

८. वही, ९।१।२१ ।

९. वही, ९।२।१० ।

१०. वही, ९।४।३ ।

भगवतः सम्मुखे सततं समाधिरेव समुपस्थितः ।  
भगवता तस्यैव प्रेक्षा कृता अत एव सूत्रकारो वारं वारं  
तस्या निर्देशमकृत—‘प्रेहमाणे समाधिं अपडिण्णे ।’<sup>१</sup>

प्रस्तुताध्ययने भगवतः साधनाकालस्य अत्यन्तं  
स्वाभाविकं वर्णनमस्ति कृतम् । भगवतः दुःखक्षमत्वं  
सहिष्णुत्वं च अत्रास्ति निर्दिशितम् । मनुष्यतिर्यङ्कृतानामुप-  
सर्गणामप्यस्ति निर्देशः ।<sup>२</sup> किन्तु देवैः कृतानामुपसर्गणां  
नास्ति कश्चिदुल्लेखः । उत्तरवर्तिसाहित्ये तस्य महान्  
विस्तरो लभ्यते । शीतातपयोः सहनेऽपि क्षमता  
निर्दिशितास्ति ।<sup>३</sup>

भगवतो जीवनदर्शनस्य अध्ययनार्थं प्रस्तुताध्ययन-  
मत्यन्तं प्रामाणिकं स्रोतो वर्तते इत्यस्माकं मतिः ।

भगवान् के सम्मुख सतत समाधि ही रहती थी । भगवान्  
ने उसी की प्रेक्षा की, इसलिए सूत्रकार ने बार-बार उसी प्रेक्षा  
का निर्देश किया—‘भगवान् समाधि में लीन रहते । उनके मन में  
प्रतिकार का कोई संकल्प भी नहीं उठता ।’

प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् के साधनाकाल का अत्यंत  
स्वाभाविक वर्णन किया गया है । इसमें भगवान् की दुःख सहने की  
क्षमता और सहिष्णुता निर्दिशित है तथा मानुषिक और तैरश्चिक  
उपसर्गों का भी उल्लेख है, किन्तु दैविक उपसर्गों का कोई उल्लेख नहीं  
है । उत्तरवर्ती साहित्य में उसका बहुत विस्तार प्राप्त होता है ।  
भगवान् की शीत और आतप सहने की क्षमता का भी इस अध्ययन में  
निर्दर्शन है ।

भगवान् महावीर के जीवन-दर्शन के अध्ययन के लिए यह  
अध्ययन अत्यंत प्रामाणिक स्रोत है, यह हमारा अभिमत है ।

१. आचार्यो, १।२।११ ।

२. वही, १।२।७-१० ।

३. वही, १।२।१३-१५ ।

## नवमं अज्जयणं : उवहाणसुयं

### नौदां अध्वयन : उपधानश्रुत

#### पढमो उद्देशो : पहला उद्देशक

१. अहासुयं वदिस्सामि, जहा से समणे भगवं उट्ठाय । संखाए तंसि हेमंते, अट्ठणा पव्वइए रोयत्था ॥

सं०—यथा श्रुतं वदिष्यामि, यथा स श्रमणो भगवानुत्थाय । संख्याय तस्मिन् हेमन्ते, अधुना प्रव्रजितः अरंषीत् ।

(सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! ) श्रमण भगवान् महावीर की विहार-त्रया के विषय में मैंने जैसा सुना है, वैसा मैं तुम्हें बताऊंगा । भगवान् ने वस्तु-सत्य को जानकर घर से अभिनिष्क्रमण किया । वे हेमन्त ऋतु में दीक्षित होकर क्षत्रियकुण्डपुर से तत्काल विहार कर गए ।

भाष्यम् १—उपधानम्—तपः । भगवता वर्धमान-स्वामिना यत्तपोऽनुचीर्णं, तदत्र वर्ण्यते । भगवता न केवलमुपदिष्टं, किन्तु स्वयं तपस्तप्तम् । एष महान् योगः दर्शनस्य आचारेण । आचारशून्यं दर्शनं दर्शनशून्यश्च आचारः न सार्थकतामेति, तेनैष योगः श्रेयान् ।

आर्यसुधर्मा जम्बूस्वामिनं वक्ति—भगवतस्तपोविषये मया यथा श्रुतं तथा तव वदिष्यामि । यथा स श्रमणो भगवान् तस्मिन् हेमन्ते मृगशीर्षकृष्णाया दशम्या दिने प्रव्रजितोऽभूत् । प्रव्रज्यातः पूर्वं तस्य उत्थानं संख्यानं च संवृतम् । उत्थानमिति प्रव्रज्यार्थं पूर्णः जागरूकभावः समपद्यत । संख्यानमिति अस्ति आत्मा, अस्ति च मोक्ष इत्यस्य संपरिज्ञानम् । स भगवान् प्रव्रज्यां प्रतिपद्य अधुना—तत्कालमेव पादविहारं कृतवान् ।

उपधान का अर्थ है—तप । भगवान् वर्धमान स्वामी ने जि स तप का आचरण किया, वह यहां बताया जा रहा है । भगवान् ने केवल तपस्या का उपदेश ही नहीं दिया, किन्तु स्वयं ने तपस्याएं कीं । यह दर्शन और आचार की महान् संयुति है । आचार-शून्य दर्शन अथवा दर्शन-शून्य आचार—दोनों सार्थक नहीं होते । इसलिए दर्शन और आचार का यह योग श्रेयस्कर है ।

आर्य सुधर्मा जम्बू स्वामी को कहते हैं—भगवान् महावीर के तप के विषय में मैंने जैसा सुना है, वैसे ही मैं तुम्हें बताऊंगा । श्रमण भगवान् उस हेमन्त ऋतु की मृगशीर्षकृष्णा दशमी के दिन प्रव्रजित हुए । प्रव्रज्या से पूर्व उनमें उत्थान और संख्यान हुआ । उत्थान का अर्थ है—प्रव्रज्या के लिए पूर्ण जागरूकभाव का उदय और संख्यान का अर्थ है—आत्मा है, मोक्ष है, इसका पूर्ण बोध । भगवान् प्रव्रजित होकर तत्काल पाद-विहार कर गए ।

२. नो चेविमेण वत्थेण, पिहिस्सामि तंसि हेमंते । से पारए आवकहाए, एयं खु अनुधम्मियं तस्स ॥

सं० - नो चैवानेन वस्त्रेण, पिधास्यामि तस्मिन् हेमन्ते । स पारगः यावत्कथं, एवं खलु अनुधार्मिकं तस्य ।

दीक्षा के समय भगवान् एक शाटक थे—कंधे पर एक वस्त्र धारण किए हुए थे । भगवान् ने संकल्प किया—‘मैं हेमन्त ऋतु में इस वस्त्र से शरीर को आच्छादित नहीं करूंगा ।’ वे जीवन-पर्यन्त सर्दी के कष्ट को सहने का निश्चय कर चुके थे । यह उनकी अनुधर्मिता—धर्मानुगाहिता है ।

भाष्यम् २—यद् वस्त्रं स्कन्धे धृतं तद् अनुधार्मिकं—एकशाटकपरम्परानुकूलं वर्तते । एकशाटको मुनिः एनामेव परम्परां निर्वहते । एतेन सहिष्णुतापि अनुधर्मान्तर्गता भवति, यथा सूत्रकृताङ्गे—

भगवान् ने जो वस्त्र कंधे पर धारण किया था वह अनुधार्मिक—एकशाटक की परंपरा के अनुकूल था । एकशाटक मुनि इसी परम्परा का निर्वहन करते हैं । इससे सहिष्णुता भी अनुधर्मान्तर्गत होती है । जैसे सूत्रकृतांग में कहा है—

‘अविहिंसामेव पव्वए, अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ ।’

प्रस्तुतागमे वस्त्रविषये तिस्रः परम्परा विद्यन्ते । केचिद् भिक्षवः त्रिभिर्वस्त्रैः, केचिद् द्वाभ्यां, केचिच्च एकेन पर्युषिता भवन्ति ।<sup>१</sup> तिसृष्वपि परम्परासु हेमन्ते वस्त्रधारणस्य विधानं प्रतिपन्ने च ग्रीष्मे एकशाटकस्य अचेलस्य वा विधानमस्ति ।<sup>२</sup> अस्मिन् श्लोके एषा विशिष्टता प्रतिपादिता अस्ति—भगवान् हेमन्तेऽपि शीतनिवारणार्थं वस्त्रप्रयोगं न कृतवान् । संभाव्यते, भगवतः पाश्वर्नाथस्य शासने एतास्तिस्त्रोऽपि परम्पराः प्रचलिता आसन् । तासु भगवता एकशाटकस्य पद्धतिराचीर्णा ।

३. चत्तारि साहिए मासे, बह्वे पाण-जाइया आगम्म । अभिरुज्झ कायं विहरिसु, आरुसियाणं तत्थ हिंसिसु ॥

सं०—चतुरः साधिकान् मासान्, बहवः प्राणजातय आगम्य । अभिरुज्झ कायं विजह्णुः, आरुष्य तत्र अहिंसिषुः ।

अभिनिक्रमण के समय भगवान् का शरीर दिव्य गोशीर्षचन्दन और सुगन्धी चूर्ण से सुगन्धित किया गया था । उससे आकर्षित होकर भ्रमर आदि प्राणी आते, भगवान् के शरीर पर बैठकर रसपान का प्रयत्न करते । रस प्राप्त न होने पर वे क्रुद्ध होकर भगवान् के शरीर पर डंक लगाते । यह क्रम चार मास से अधिक समय तक चलता रहा ।

भाष्यम् ३—तीर्थंकरस्य देहः अद्भुतगन्धयुक्तो भवति । जन्मजातोऽप्यमतिशयः । भगवतो महावीरस्य द्रव्यकृतः परिमलोऽपि अतिशयी आसीत् । तेन परिमलरसिकाः मधुकरादयः प्राणिनः परागाशंकया भगवतो देहस्य परितः प्रदक्षिणां कुर्वाणा आसन् ।<sup>३</sup>

अस्यानुसारी उपदेशः—

तीर्थंकर का शरीर अद्भुत गन्धयुक्त होता है । यह जन्मजात अतिशय है । भगवान् महावीर के शरीर पर लगी हुई गन्धयुक्त द्रव्यों की सुगन्धि भी विशिष्ट थी । इसलिए सुगन्धि के रसिक मधुकर आदि प्राणी पराग की आशंका से भगवान् के शरीर के चारों ओर मंडराते रहते थे ।

इसका संवादी उपदेश है—

१. अंगमुत्ताणि १, सूयगडो १।२:१४ ।

आचारांगचूर्णी (पृष्ठ २९९) तीर्थंकराणां गतानुगतं इति व्याख्यातमस्ति—जं पुणं तं तत्थं खंधे ठितं धरितं वा तं अणुधम्मियं तस्स अणु पव्वामावे अन्नेहिंवि तित्थगरोहं तथा धरियं तं अणुधम्मियमेव एतं, जं भणितं—गतानुगतं, अहवा तित्थगराणं अयं अणुकालधम्मो—से बेमि जे य अतीता जे य पडुपण्णा जे य आगमिस्सा अरहंता भगवंतो जे य पव्वइया जे य पव्वयंति जे य पव्वइस्संति सव्वे सोवहिगो धम्मो देसियत्त्वत्तिकटट्टु तित्थच्चयाए एसा अणु-धम्मियत्ति एगं देवबूसमादाय पव्वइंसु वा पव्वइंति वा पव्वइस्संति वा, भणियं च—

गरीयस्स्वात् सचेलस्स, धर्मस्यान्यं: तथागतं: ।

शिष्यसंप्रत्ययाच्चैव, वस्त्रं दध्ने न लज्जया ॥

२. आघारो, ८।४३, ६२, ८५ ।

३. वही, ८।५२, ५३, ७०, ७१, ९३ ।

४. भगवान् के शरीर पर अनुवासित सुगन्धी द्रव्यों की गंध बहुत मोहक थी । उसमें आसक्त होकर बहुत सारे तहण भगवान् के पास आते और सुगन्धी द्रव्य की याचना करते । भगवान् मौन थे, इसलिए उन्हें कोई उत्तर नहीं देते । इससे रुष्ट होकर वे भगवान् के प्रति आक्रोश प्रकट करते—‘क्या देखते हो, देते नहीं?’ भगवान् फिर मौन रहते । वे मौन से खिसिया कर अप्रिय व्यवहार करते ।

भगवान् ध्यान-मुद्रा में लड़े रहते । उनके स्वेद और भल से रहित सुन्दर शरीर तथा सुगन्धित निःश्वास वाले मुख से स्त्रियां आकृष्ट हो जातीं । वे आकर पूछतीं—आप कहां रहते हैं ? यह सुगन्धित द्रव्य कहां मिलता है ? कौन बनाता है ? भगवान् मौन रहते । इस प्रकार उनका शरीर तथा पूर्वकृत अनुवासन उनके लिए उपसर्ग का हेतु बन रहा था । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३००)



संसर्पगा य जे पाणा, जे य उड्डमहेषरा ।  
भुंजति मंस-सोणियं, ण छणे ण पमज्जए ॥'

संसर्पण करने वाली चींटी आदि, आकाशचारी गीध आदि तथा त्रिलवासी सर्प आदि शरीर का मांस खाएं, मच्छर आदि रक्त पीएं, तब भी साधक न उनकी हिंसा करे और न उनका निवारण करे ।

४. संवच्छरं साहियं मासं, जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं । अचेलए ततो चाई, तं वोसज्ज वत्थमणगारे ॥

सं०—संवत्सरं साधिकं मासं यत् न 'रिक्कासि'<sup>२</sup> वस्त्रकं भगवान् । अचेलकः ततः त्यागी तद् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगरः ।  
भगवान् ने तेरह महीनों तक उस वस्त्र को नहीं छोड़ा । फिर अनगर और त्यागी महावीर उस वस्त्र को छोड़कर अचेलक हो गए ।

भाष्यम् ४—पूर्वोक्तासु परम्परासु ग्रीष्मर्तौ अचेलत्वस्य विधानमस्ति, किन्तु भगवता त्रयोदशमासानन्तरं अचेलत्वं स्वीकृतम् ।'

पूर्वोक्त परम्पराओं में ग्रीष्म ऋतु में अचेल रहने का विधान है, किन्तु भगवान् महावीर तेरह महीनों के पश्चात् अचेल बने । तब तक वे एकशटक रहे ।

५. अदु पोरिसि तिरियं भित्ति, चक्खुमासज्ज अंतसो झाइ । अह चक्खु-भीया सहिया, तं 'हंता हंता' बहवे कंविषु ॥

सं०—'अदु' पौरुषी तिर्यग्भित्ति, चक्षुरासाद्य अन्तशः ध्यायति । अथ चक्षुर्भिताः संहिताः, हन्त हन्त ! बहवः अक्रन्दिषुः ।

भगवान् प्रहर-प्रहर तक आंखों को अपलक रख तिरछी भीत पर मन को केन्द्रित कर ध्यान करते थे । (लम्बे समय तक अपलक रहें आंखों की पुतलियां ऊपर की ओर चली जातीं) । उन्हें देखकर भयभीत बनी हुई बच्चों की टोली 'हंत ! हंत !' कहकर चिल्लाती—दूसरे बच्चों को बुला लेती ।

भाष्यम् ५—प्रस्तुतगाथायां भगवतोऽनिमेष-दृष्ट्यात्मकस्य (त्राटकस्य<sup>३</sup>) ध्यानस्य सूचना कृतास्ति । भगवता पौरुषीपर्यन्तं तिर्यग्भित्ती चक्षुः स्थापयित्वा अन्तर्लक्ष्यं ध्यानं कृतम् । अस्य तात्पर्यम्—दृष्टिः तिर्यग्भित्ती स्थिरा अभूत्, ध्यानं अन्तरात्मनि । अनेन अन्तर्लक्ष्यात्मकेन अनिमेषप्रेक्षाध्यानेन निर्विकल्पसमाधिः सिद्धयति । चूर्णी वृत्तौ च ईर्यापथानुगतं अनिमेषध्यानं व्याख्यातमस्ति ।<sup>४</sup>

प्रस्तुत गाथा में भगवान् महावीर की अनिमेषदृष्टिध्यान (त्राटक) की सूचना दी गई है । भगवान् प्रहर-प्रहर तक तिरछी भीत पर आंखें स्थिर कर आत्मलक्षित ध्यान करते थे । इसका तात्पर्य है—दृष्टि तिरछी भीत पर स्थिर थी और ध्यान—मन अन्तरात्मा में लीन था । इस अन्तर्लक्ष्यी अनिमेष प्रेक्षाध्यान से निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है । चूर्णी और वृत्ति में ईर्यापथ से संबंधित अनिमेषध्यान की व्याख्या है ।

१. आयारो ऋ/गाथा ९ ।

२. देशीयघातुः, अत्याक्षीत् इत्यर्थः ।

३. भगवान् पहले वस्त्र-सहित दीक्षित हुए, फिर निर्बस्त्र हो गए । यह सिद्धांत के आधार पर किया गया था । किन्तु उत्तरकालीन परम्परा के अनुसार—भगवान् सुवर्णवालुका नदी के तट पर जा रहे थे । नदी के प्रवाह में बहकर आए हुए कांटों में उनका वस्त्र उलझ कर गिर गया । एक ब्राह्मण ने वह वस्त्र उठा लिया । वह वस्त्र भगवान् के कंधे पर तेरह महीनों तक रहा । वीक्षा के समय जैसे रखा वैसे ही पड़ा रहा और जब कांटों में उलझ कर गिर पड़ा, तब भगवान् ने उसे छोड़ दिया ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३००)

यह कल्पना स्वाभाविक नहीं लगती । स्वाभाविक कल्पना यह हो सकती है—भगवान् ने सर्दों से बचाव के लिए नहीं अपितु लज्जा-निवारण के लिए वस्त्र रखा ।

निर्ग्रन्थ परम्परा में ऐसा होता रहा है । लज्जा-निवारण के लिए एकशटक निर्ग्रन्थों का उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है । कंधे के आधार से शरीर पर एक वस्त्र धारण करने वाले एकशटक कहलाते थे । भगवान् की साधना एकशटक की भूमिका से आगे बढ़ गई, तब वे वस्त्र का सर्वथा परित्याग कर पूर्णतः अचेल हो गए ।

४. गोरक्षपद्धति १।१३ :

षट्चक्रं षोडशाधारं, द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।  
स्वदेहे ये न जानन्ति, कथं सिद्धयन्ति योगिनः ॥

घोरण्डसंहिता १।५३ :

निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा, सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत् ।  
पतन्ति यावदभूणि, त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥

५. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३००-३०१ : पुरिसा णिप्फण्णा पौरुसी, धदुक्कतं भवति—शरीररूपमाणा पोरिसी, पुणतो तिरियं पुण भित्ति, सण्णित्ता विट्ठी, को

६. सयर्णेह वितिमिस्सेह, इत्थीओ तस्थ से परिण्णाय । सागारियं ण सेवे, इति से सयं पवेसिया भाति ॥

सं०—शयनेषु व्यतिमिश्रेषु स्त्रियः तत्र स परिजाय । सागारिकं न सेवते, इति स स्वयं प्रविश्य ध्यायति ।

भगवान् जनसंकुल स्थानों में नहीं ठहरते थे । (कभी-कभी ऐसा होता कि वे एकान्त स्थान देखकर ठहरते), पर एकांत की खोज में कुछ स्त्रियां वहां आ जातीं । भगवान् की प्रज्ञा जागृत थी, इसलिए उनके द्वारा भोग की प्रार्थना किये जाने पर भी भगवान् भोग का सेवन नहीं करते थे । वे अपनी आत्मा की गहराइयों में पंठकर ध्यान में लीन रहते थे ।

भाष्यम् ६—धृतिमतः पुरुषस्य निमित्तमासाद्यापि न विचलति चित्तम् । भगवान् धृतिमतां वरेण्यः । तेन तस्याऽविचलने नास्ति आश्चर्यम् । ऋषभस्तुतौ उक्तं मानतुंगसूरिणा—

‘चित्रं किमत्र यदि ते त्रिवशांगनाभि-  
नीतं मनागपि मनो न विकारभाग्यम् ।  
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,  
किं मन्दरात्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥’

भगवता एतद् आचीर्णं अत एव एतत् प्रतिपादितम् ।  
अस्यानुसारी उपदेशः—

‘जे छेए से सागारियं ण सेवए ।’<sup>१</sup>

‘जे महं अबहिमणे ।’<sup>२</sup>

‘लद्धे कामे नाभिगाहइ ।’<sup>३</sup>

धृतिमान् पुरुष का चित्त निमित्त के मिलने पर भी विचलित नहीं होता । भगवान् धृतिमान् पुरुषों में अग्रणी थे । इसलिए उनका चित्त विचलित नहीं हुआ, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । मानतुंग आचार्य ने ऋषभ की स्तुति में कहा है—

यदि देवांगनाओं ने आपके मन को विकार-युक्त नहीं बनाया तो इसमें आश्चर्य ही क्या ! पर्वत को प्रकंपित करने वाले कल्पान्तकाल के पवन से क्या मेरु पर्वत कभी प्रकंपित होता है ?

भगवान् महावीर ने इसका आचरण किया, इसीलिए इसका प्रतिपादन किया । इसका संवादी उपदेश है—

‘जो इन्द्रियजयी है, वह मैथुन का सेवन नहीं करता’

‘जो महान् अर्थात् मोक्षलक्षी होता है, वह मन को असंयम में न ले जाए ।’

‘वह प्राप्त कामों में निमग्न नहीं होता ।’

अत्यो ? पुरतो संकुडा अंतो वित्थडा सा तिरिय-  
भित्तिसंठिता वुच्चति, सगडुद्धिसंठिता वा जतिवि  
ओहिणा वा पासति तहावि सीसाणं उद्देसतो तहा  
करेति जेण निरुंभति दिट्ठि, ण य णिच्चकालमेव  
ओधोणाणोवओगो अत्थि, चक्खुमासज्ज अंतसो  
ज्ञायति पस्सति अनेण चक्खुं, चक्खुसा आसज्ज,  
यदुत्तं भवति—पुरओ अंतो मज्जे यातीति पश्यति,  
तदेव तस्स ज्ञाणं जं रिउवयोगो अणिमिसाए विट्ठीए  
बद्धेहि अच्छीहि, तं एवं बद्धअच्छी जुगंतरणिरिक्खणं  
वट्ठं ।’

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २७४ : ‘पुरुषप्रमाणा पौरुषो-  
आत्मप्रमाणा वीथी तां गच्छन् ध्यायतीर्यासमितो  
गच्छति, तदेव चात्र ध्यानं धदीर्यासमितस्य गमन-  
मिति भावः, किंभूतां तां ?—तिर्यग्भित्ति—  
शकटोद्धिवदादो सङ्कटामग्रतो विस्तीर्णमित्यर्थः,  
कथं ध्यायति ?—‘चक्षुरासाद्य’ चक्षुर्वत्त्वाऽन्तः—  
मध्ये दत्तावधानो भूत्वेति, तं च तथा रीयमाणं  
दृष्ट्वा ।

चूणिकार (पृष्ठ ३००-३०१) और टीकाकार  
(पत्र २७४) ने इस गाथा का अर्थ इस प्रकार किया  
है—भगवान् प्रारंभ से संकड़ी और आगे चौड़ी

(तिर्यग्भित्ति) शरीर-प्रमाण वीथी (पौरुषी) पर  
ध्यानपूर्वक चक्षु टिकाकर चलते थे । इस प्रकार  
अनिमिषदृष्टि से चलते हुए भगवान् को देखकर  
डरे हुए बच्चे हंत ! हंत ! कहकर चिल्लाते—  
दूसरे बच्चों को बुला लेते ।

डॉ० हर्मन् जेकोबी ने अंग्रेजी अनुवाद टीका के  
आधार पर किया है पर तिर्यग् भित्ति के अर्थ पर  
उन्होंने संदेह प्रकट किया है । उनके अनुसार :—  
‘I can not make out the exact meaning of  
it, perhaps; ‘So that he was a wall for the  
animals’ (अर्थात् संभवतः इसका अर्थ है—जिससे  
कि भगवान् तिर्यगों के लिए भित्ति के समान थे) ।

भित्ति पर ध्यान करने की पद्धति बौद्ध साधकों  
में रही है । प्रस्तुत सूत्र में भी उल्लेख है—भगवान्  
ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् ध्यान करते थे (२।१२५) ।  
भगवती सूत्र के टीकाकार अमयदेवसूरि ने ‘तिर्यग्  
भित्ति’ का अर्थ प्राकार, वरण्डिका आदि की भित्ति  
अथवा ‘पर्वत-खण्ड’ किया है ।

(भगवती वृत्ति, पत्र ६४३-६४४)

१. आषारो, ५।१० ।

२. वही, ५।११२ ।

३. वही, २।३६ ।

७. जे के इमे अगारत्था, मीसीभावं पहाय से ज्ञाति । पुट्टो वि णाभिभासिसु, गच्छति णाइवत्तई अंजू ॥

सं०—ये के इमे अगारत्थाः, मिश्रीभावं प्रहाय स ध्यायति । पुट्टोऽपि नाभ्यभाषिष्ट, गच्छति नातिवर्तते ऋजुः ।

गृहस्थों से संकुल स्थान प्राप्त होने पर भी भगवान् अपने मन को किसी में न लगाते हुए ध्यान करते थे । वे पूछने पर भी नहीं बोलते । उन्हें कोई बाध्य करता तो वे वहां से मौनपूर्वक दूसरे स्थान में चले जाते । वे ध्यान का अतिक्रमण नहीं करते और प्रत्येक स्थिति में मध्यस्थ रहते ।<sup>१</sup>

८. णो सुगरमेतमेगेसि, णाभिभासे अभिवायमाणे । ह्यपुव्वो तत्थ दंडेहि, लूसियपुव्वो अप्पपुण्णेहि ॥

सं०—नो सुकरमेतदेकेषां, नाभिभाषते अभिवादयतः । हतपूर्वः तत्र दण्डैः, लूषितपूर्वः अल्पपुण्यैः ।

भगवान् अभिवादन करने वालों को आशीर्वाद नहीं देते थे । डंडे से पीटने और अंग-भंग करने वाले अभागे लोगों को वे शाप नहीं देते थे । साधना की यह भूमिका हर किसी साधक के लिए सुलभ नहीं है ।

भाष्यम् ७,८—स्पष्टम् ।

स्पष्ट है ।

९. फरुसाइं दुत्तितिक्खाइं, अतिअच्च मुणी परक्कममाणे । आघाय-णट्ट-गीताइं, दंडजुद्धाइं मुट्टियुद्धाइं ॥

सं०—परुषाणि दुस्तितिक्षाणि अतिगत्य मुनिः पराक्रममाणः । आख्यात-नाट्य-गीतानि दण्डयुद्धानि मुष्टियुद्धानि ।

भगवान् बुराह्मणों के वचनों पर ध्यान ही नहीं देते थे । उनका पराक्रम आत्मा में ही लगा रहता था । भगवान् आख्यायिका, नाट्य, गीत, दण्डयुद्ध और मुष्टियुद्ध—इन कौतुकपूर्ण प्रवृत्तियों में रस नहीं लेते थे ।

भाष्यम् ९ अस्यानुसारी उपदेशः—

इसका संवादी उपदेश है—

‘णिविद्वदं गीदं इह जीवियस्स ।’<sup>२</sup>

‘पुरुष ! तू जीवन में होने वाले प्रमोद से अपना आकर्षण हटा ले ।’

‘अवि से हासमासज्ज, हंता गंदीति मन्नति ।’<sup>३</sup>

‘आसक्त मनुष्य हास्य-विनोद में जीवों का वध कर हर्षित होता है ।’

‘णिविद्वदं गीदं अरते पयासु ।’<sup>४</sup>

‘तू कामभोग के आनन्द से उदासीन बन । स्त्रियों में अनुरक्त मत बन ।’

‘सब्बं हासं परिच्चज्ज, आलीणगुत्तो परिच्चए ।’<sup>५</sup>

‘हास्य आदि सब प्रमादों को त्याग कर, इन्द्रिय-विजय और मन-वचन-काया का संवरण कर परिव्रजन कर ।’

१०. गडिए मिहो-कहासु, समयंमि णायसुए विसोमे अदक्ख । एताइं सो उरालाइं, गच्छइ णायपुत्ते असरणाए ॥

सं०—ग्रथितान् मिथःकथासु, समये ज्ञातमुतः विशोक अद्राक्षीत् । एतानि स उदारानि, गच्छति ज्ञातपुत्रः अस्मरणाय ।

कामकथा और सांकेतिक बातों में आसक्त व्यक्तियों को भगवान् हर्ष और शोक से अतीत होकर मध्यस्थ भाव से देखते थे । भगवान् इन बुराह्मणों को अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों में स्मृति भी नहीं लगाते, इसलिए उनका पार पा जाते ।

१. भगवान् ध्यान के लिए एकान्त स्थान का चुनाव करते थे । यदि एकान्त स्थान प्राप्त नहीं होता, तो मन को एकान्त बना लेते थे—बाह्य स्थितियों से हटाकर अन्तरात्मा में लीन कर लेते थे । क्षेत्र से एकान्त होता और एकान्त क्षेत्र की सुविधा न हो तो मन को एकान्त कर लेना—ये दोनों ध्यान के लिए उपयोगी हैं ।

२. आचारो, २।१६२ ।

३. वही, ३।३२ ।

४. वही, ३।४७ ।

५. वही, ३।६१ ।

भाष्यम् १०—प्रथितः—अवबद्धः ।' मिथःकथा—  
कामकथा, परस्परं जायमाना भक्तादीनां कथा वा ।  
समयः—संकेतः, सांकेतिकी कथेति यावत् । असरणं—  
अस्मरणम् ।<sup>३</sup>

अस्यानुसारी उपदेशः—

'णारतिं सहते वीरे, वीरे णो सहते रति ।'<sup>२</sup>

'अरद्दरइसहे फरुसियं णो वेदेति ।'<sup>२</sup>

'का अरई ? के आणदे ? एत्थंपि अग्गहे चरे ।'<sup>१</sup>

प्रथित का अर्थ है—अवबद्ध । मिथःकथा का अर्थ है—  
कामकथा अथवा आपस में होने वाली आहार आदि की कथा । समय  
का अर्थ है—संकेत । इसका तात्पर्य है सांकेतिक कथा । असरण का  
अर्थ है—अस्मरण ।

इसका संवादी उपदेश है—

'वीर पुरुष संयम में उत्पन्न अरति और असंयम में उत्पन्न रति  
को सहन नहीं करता ।'

'जो अरति और रति को सहन करता है, उनसे विचलित नहीं  
होता, वह कष्ट का वेदन नहीं करता ।'

'साधक के लिए क्या अरति और क्या आनन्द ? वह अरति  
और आनन्द के विकल्प को ग्रहण न करे ।'

११. अबिसाहिए दुवे वासे, सीतोदं अभोच्चा णिक्खंते । एगत्तगए पिहियच्चे, से अहिण्णायदंसणे संते ॥

सं०—अपि साधिकौ द्वौ मासौ, शीतोदं अभुक्त्वा निष्क्रान्तः । एकत्वगतः पिहितार्चः, स अभिज्ञातदर्शनः शान्तः ।

भगवान् माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक गृहवास में रहे । उस समय उन्होंने सचित्त भोजन  
और जल का सेवन नहीं किया । वे परिवार के साथ रहते हुए भी अन्तःकरण में अकेले रहे । उनका शरीर, वाणी, मन और  
इन्द्रिय—सभी सुरक्षित थे । वे सत्य का दर्शन और शान्ति का अनुभव कर रहे थे । इस गृहवासी साधना के बाद उन्होंने  
अभिनिष्क्रमण किया ।

भाष्यम् ११—अभुक्त्वा—अपीत्वा । बंगभाषायां  
पानार्थेऽपि भोजनार्थधातोः प्रयोगो दृश्यते । स भगवान्  
अभिज्ञातदर्शनः—क्षायिकसम्यग्दर्शन आसीत् ।' स

अभोच्चा (सं० अभुक्त्वा) का अर्थ है—विना पीए । बंग भाषा  
में पीने के अर्थ में भी भोजन अर्थ वाली धातु का प्रयोग होता है ।  
भगवान् महावीर क्षायिक सम्यग्दर्शन के श्रावक थे । वे समूह के मध्य

१. भगवान् प्रतिकूल और अनुकूल दोनों प्रकार के परीषहों  
को सहन करते थे । एक वीणा-वादक वीणा बजा रहा था ।  
भगवान् परिद्वजन करते हुए वहां आ पहुंचे । वीणा-वादक  
ने भगवान् को देखकर कहा—'देवार्य ! कुछ ठहरो और  
मेरा वीणा-वादन सुनो ।' भगवान् ने उसका अनुरोध  
स्वीकार नहीं किया । वे कुछ उत्तर दिए बिना ही चले  
गये । साधक के लिए यह एक अनुकूल कष्ट है—

से तंति चोएन्तो अच्छति, भगवं च हिडमाणो आगतो,  
सो तं आगतं पेच्छेत्ता भणइ—भगवं देवज्जगा ! इमं ता  
सुणेहि, अमुगं कलं वा पेच्छाहि, तत्थवि मीणेणं चेव  
गच्छति ।' (आचारांग चूणि, पृष्ठ ३०३)

२. आचारांग चूणि पृष्ठ ३०३ : 'मिहोक्कहासभयोत्ति जे केवि  
इत्थिकहाति कहेत्ति, भत्तकहा वेसकहा रायकहा दोल्लि जणा  
बहू वा, तंहि गच्छति, णातिवत्तति अंजं, अहवा रीयंतं  
अच्छंतं वा पुच्छइ—तुम्म किजाइत्थिया सुंदरी ? किं  
बंभणी खत्तियाणी वतिस्सी सुद्धी व ? एवमादी सिहकहा ।'

३. वही, पृष्ठ ३०३ : 'असरणं अचित्थणं अणाढायमाणंति  
एगद्धा, अहवा सरणं गिहं, णऽस्स तं सरणं विज्जतीति  
असरणो, ण य सरणंति अतिककंताणि पुव्वरयाणीति ।'

४. आघारो, २।१६० ।

५. वही, ३।७ ।

६. वही, ३।६१ ।

७. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ ३०४-३०५ ।

(ख) भगवान् के माता-पिता का स्वर्गवास हुआ, तब वे  
अट्ठाइस वर्ष के थे । भगवान् ने श्रमण होने की इच्छा  
प्रकट की । उस समय नन्दीवर्द्धन आदि पारिवारिक  
लोगों ने भगवान् से प्रार्थना की—'कुमार ! इस  
समय ऐसी बात कहकर, जले पर नमक मत डालो ।  
इधर माता-पिता का वियोग और उधर तुम घर  
छोड़कर श्रमण होना चाहते हो, यह उचित नहीं  
है ।' भगवान् ने इस बात पर ध्यान दिया । उन्होंने  
सोचा—'यदि मैं इस समय दीक्षित होऊंगा, तो  
बहुत सारे लोग शोकाकुल होकर विक्षिप्त हो  
जाएंगे । कुछ लोग प्राण त्याग देंगे । यह ठीक नहीं  
होगा ।' भगवान् ने बातचीत को मोड़ देते हुए  
कहा—'आप बतलाएं, मैं कितने समय तक यहां  
रहूँ ?' नन्दीवर्द्धन ने कहा—'महाराज और  
महारानी की मृत्यु का शोक दो वर्ष तक मनाया  
जाएगा । इसलिए दो वर्ष तक तुम घर में रहो ।'

समूहमध्यस्थितोऽपि एकत्वानुप्रेक्षया भावितः एकत्वगतः आसीत् । अर्चा—शरीरम् । भगवता कायसिद्धिः कृता । प्रायेण कायिक्याः प्रवृत्तेः संवरणं कृतम् । तेन स पिहितार्चोऽभवत् ।

अस्यानुसारी उपदेशः—

‘एगो अहमंसि, न मे अत्थि कोइ, न याहमवि कस्सइ,  
एवं से एगसिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा ।’<sup>१</sup>

‘अइअच्च सव्वतोसंगं, ण महं अत्थित्ति इति एगोहमंसि ।’<sup>२</sup>

‘अहेगे धम्म मादाय, आयाणप्पभिइं सुपणिहिए चरे ।’<sup>३</sup>

रहते हुए भी एकत्व अनुप्रेक्षा से भावित होने के कारण अन्तःकरण में अकेले थे । अर्चा का अर्थ है—शरीर । भगवान् ने कायसिद्धि उपलब्ध कर ली थी । उन्होंने कायिक प्रवृत्तियों का प्रायः संवरण किया था, इसलिए वे ‘पिहितार्च’ बन गए अर्थात् आत्मगुप्त हो गए ।

इसका संवादी उपदेश है—

‘मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं भी किसी का नहीं हूँ । इस प्रकार वह भिक्षु अपनी आत्मा को एकाकी ही अनुभव करे ।’

‘भिक्षु सब प्रकार से संग का परित्याग कर, यह सोचे—मेरा कोई नहीं है, इसलिए मैं अकेला हूँ ।’

‘कोई व्यक्ति मुनि-धर्म में दीक्षित हो, वस्त्र-पात्र आदि में अनासक्त होकर विचरण करता है ।’

१२. पुढावि च आउकायं, तेउकायं च वाउकायं च । पणगाइं बीय-हरियाइं, तसकायं च सव्वसो णचचा ॥

सं०—पृथ्वीं च अष्कायं, तेजस्कायं च वायुकायं च । पनकानि बीजहरितानि, त्रसकायं च सर्वशः ज्ञात्वा ।

पृथ्वीकाय, अष्काय, तेजस्काय, वायुकाय, पनक (फफूदी), बीज, हरियाली और त्रसकाय—इन्हें सब प्रकार से जानकर—

भाष्यम् १२—प्रथमाध्ययने षड्जीवनिकायस्य क्रमः किञ्चिद् भिन्नोऽस्ति । पनकबीजहरितानि—एते सन्ति वनस्पतेर्भेदाः ।

प्रस्तुत आगम के पहले अध्ययन में षड्जीवनिकाय का क्रम कुछ भिन्न है । पनक, बीज और हरित—ये वनस्पति के भेद हैं ।

१३. एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमंताइं से अभिण्णाय । परिवज्जिजाण विहरित्था, इति संखाए से महावीरे ॥

सं०—एतानि सन्ति प्रतिलिख्य, चित्तवन्ति स अभिज्ञाय । परिवर्ज्यं व्यवहारीन् इति संख्याय स महावीरः ।

इनके अस्तित्व को देखकर, ये ‘चेतनावान् हैं’ यह निर्णय कर, विवेक कर, भगवान् महावीर इनके आरम्भ का वर्जन करते हुए विहार करते थे ।

भाष्यम् १३—एते षड्जीवनिकायाः सन्ति । अस्ति एषां अस्तित्वं इति प्रतिलेखनां कृत्वा, ते च चित्तवन्त इति अभिज्ञाय स भगवान् महावीरः तेषां वधं परिवर्जितवान् । तस्य भगवतः वक्ष्यमाणं संख्यानं स्पष्टमासीत् ।

ये छह जीवनिकाय हैं । इनका अस्तित्व है—यह देखकर, वे चेतनावान् हैं—यह जानकर भगवान् महावीर ने उनके वध का परिवर्जन किया । भगवान् महावीर का इस विषयक कहा जाने वाला ज्ञान स्पष्ट था ।

एतदनुसारी उपदेशः

‘समयं लोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए ।’<sup>४</sup>

इसका संवादी उपदेश है—

‘सब आत्माएं समान हैं—यह जानकर पुरुष समूचे जीव-लोक की हिंसा से उपरत हो जाए ।’

भगवान् ने उनका अनुरोध स्वीकार कर लिया । भगवान् ने कहा—‘एक बात मेरी भी माननी होगी । मैं भोजन भादि के विषय में स्वतंत्र रहूंगा । उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा । यह बात मान्य हो तभी मैं दो वर्ष तक रह सकता हूँ ।’ नन्दीवर्द्धन आदि ने इसे स्वीकार कर लिया ।

इस अवधि में भगवान् ने सजीव वस्तु का भोजन नहीं किया और सजीव पानी नहीं पिया । उन्होंने निर्जीव जल से हाथ-पंर आदि की शुद्धि की, किन्तु

पूरा स्नान नहीं किया । भगवान् ने उस अवधि में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का जीवन जिया । वे रात्रिभोजन नहीं करते थे । वे परिवार के प्रति भी अनासक्त रहे । यह गृहवास में साधुत्व का प्रयोग था ।

१. आयारो, ८।१७ ।

२. वही, ६।३८ ।

३. वही, ६।३५ ।

४. आयारो, ३।३, द्रष्टव्यानि च १।१५-१७७ सूत्राणि ।

१४. अदु थावरा तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए । अदु सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कल्पिया पुढो बाला ॥

सं०—'अदु' स्थावराः त्रसतायां, त्रसजीवाश्च स्थावरतायाम् । 'अदु' सर्वयोनिताः सत्त्वाः, कर्मणा कल्पिताः पृथक् बालाः ।

स्थावर जीव त्रस-योनि में उत्पन्न हो जाते हैं । त्रस जीव स्थावर-योनि में उत्पन्न हो जाते हैं । जीव सर्वयोनिक हैं—प्रत्येक जीव प्रत्येक योनि में उत्पन्न हो सकता है । अज्ञानी जीव अपने ही कर्मों के द्वारा विविध रूपों की रचना करते रहते हैं ।

भाष्यम् १४—सत्त्वाः सर्वयोनिताः सन्ति । स्थावराः त्रसकाये उत्पद्यन्ते, त्रसाश्च स्थावरकाये उत्पद्यन्ते । ते बालाः स्वकीयेन अज्ञानेन कर्मणां रचनां कुर्वन्ति स्व-कर्मनिरूपां गतिं च प्रविशन्ति ।

जीव सर्वयोनिक हैं—प्रत्येक जीव प्रत्येक योनि में उत्पन्न हो सकता है । स्थावर जीव त्रसकाय में उत्पन्न हो सकते हैं और त्रसजीव स्थावरकाय में उत्पन्न हो सकते हैं । वे अज्ञानी जीव अपने अज्ञान से कर्मों की रचना करते हैं और अपने कर्म के अनुरूप गति में प्रवेश करते हैं ।

१५. भगवं च एवं मन्नेसि, सोवहिए हु लुप्पती बाले । कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पडियाइक्खे पावगं भगवं ॥

सं०—भगवान् च एवममन्यत, सोपधिकः खलु लुप्यते बालः । कर्म च सर्वशः ज्ञात्वा, तं प्रत्याख्यात् पापकं भगवान् ।

'अज्ञानी मनुष्य परिग्रह का संचय कर छिन्न-भिन्न होता है,' इस प्रकार अनुचिन्तन कर तथा सब प्रकार से कर्म को जानकर भगवान् ने पाप का प्रत्याख्यान किया ।

भाष्यम् १५—भगवानेवं अमन्यत—सोपधिकः बालः चौरादिभिरुप्यते—मार्गादिषु अपहृतो लुप्यते वा भवति । उपधिः—वस्त्रादि । कर्म—प्रवृत्तिः, सर्वशः—कायवाङ्मनोभेदेन तद् ज्ञात्वा<sup>३</sup> भगवान् पापकं कर्म प्रत्याख्यातवान् ।

भगवान् ऐसा मानते थे—अज्ञानी मनुष्य परिग्रह के कारण चोर आदि के द्वारा मार्ग में अपहृत होता है अथवा लूटा जाता है । उपधि का अर्थ है—वस्त्र आदि ।

कर्म का अर्थ है—प्रवृत्ति । उसके तीन प्रकार हैं—कायिक, वाचिक, और मानसिक । उसको सब प्रकार से जानकर भगवान् ने पापकर्म का प्रत्याख्यान कर दिया ।

पापकं कर्म—हिंसादि ।<sup>४</sup>

पापकर्म अर्थात् हिंसा आदि ।

अस्थानुसारी उपदेशः—

इसका संवादी उपदेश है—

'णिहाय दंडं पाणेहि, पावं कम्मं अकुव्वमाणे, एस महं अगंथे विवाहिए ।'<sup>५</sup>

'जो प्राणियों के प्रति अहिंसक है और पाप-कर्म नहीं करता, वह महान् अग्रन्थ—ग्रन्थिमुक्त कहलाता है ।'<sup>६</sup>

१६. दुविहं समिच्च मेहावो, किरियमक्खायणेर्लिसि णाणो । आयाणसोयमत्तिचायसोयं, जोगं च सव्वसो णच्चा ॥

सं०—द्विविधं समेत्य मेधावी, क्रियामाख्याय अनीदृशीं ज्ञानी । आदानस्रोतः अतिपातस्रोतः, योगं च सर्वशः ज्ञात्वा ।

ज्ञानी और मेधावी भगवान् ने क्रियावाद—आत्मवाद और अक्रियावाद—अनात्मवाद—दोनों की समीक्षा कर तथा इन्द्रियों के स्रोत, हिंसा के स्रोत और योग (मन, वचन और काया की प्रवृत्ति) को सब प्रकार से जानकर दूसरों के द्वारा अप्रतिपादित क्रिया का प्रतिपादन किया ।

१. उस समय यह लौकिक मान्यता प्रचलित थी कि स्त्री अगले जन्म में भी स्त्री होती है और पुरुष पुरुष होता है, धनी अगले जन्म में भी धनी और मुनि मुनि होता है । भगवान् महावीर ने इस लौकिक मान्यता को अस्वीकार कर 'सर्वयोनिक-उत्पाद' के सिद्धांत की स्थापना की । उसके अनुसार कर्म की विविधता के कारण भावी जन्म में योनि-परिवर्तन होता रहता है ।

२. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३०६ : मणूसा लुप्पति, चोरराय-अग्निमादीर्हि आलुप्पति, परत्थ कम्मोवहीमादाय नगरा-

दिएसु लुप्पति, कम्मगाओ लुप्पति, मोक्खसुहायो य लुप्पति ।

३. वही, पृष्ठ ३०६ : कम्मं अट्टविहं, तं सव्वसो सव्वपगारेहि पदिसठित्तिअणुभावतो णच्चा, जो य जस्स बंधहेऊ कम्म-फलविदागं च ।

४. वही, पृष्ठ ३०६-३०७ : पावगं हिंसादि, अणवज्जो तवो-कम्मादि, ण तं पच्चक्खंति ।

५. आयारो, ८।३३ ।

भाष्यम् १६—मेधावी भगवान् द्विविधं क्रियावादं अक्रियावादं च समेत्य आद्यकाश्यपेन अर्हता ऋषभेण आख्यातां अनीदृशीं कर्मक्षयहेतुभूतां क्रियां समादृतवान् । आदानम्—इन्द्रियाणि परिग्रहो वा । अतिपातः—हिंसा । योगः—प्रवृत्तिः । आदानातिपातयोः श्रोतांसि प्रवृत्तिं च सर्वप्रकारेण ज्ञात्वा तन् परिहृतवान् ।<sup>२</sup>

मेधावी भगवान् ने क्रियावाद और अक्रियावाद—दोनों की समीक्षा कर आद्यकाश्यप अर्हत् ऋषभ के द्वारा प्ररूपित, दूसरों के द्वारा अप्रतिपादित कर्मक्षय की हेतुभूत क्रिया को स्वीकार किया था । आदान—का अर्थ है—इन्द्रियां अथवा परिग्रह । अतिपात अर्थात् हिंसा । योग का अर्थ है—प्रवृत्ति । आदान और अतिपात के स्रोतों तथा प्रवृत्ति को सब प्रकार से जानकर भगवान् ने उनका परिहार किया ।

१७. अहवातियं अणाउट्टे, सयमण्णेसि अकरणयाए । जस्सिस्त्थिओ परिणयाया, सव्वकम्मावहाओ से अबक्खू ॥

सं०—अतिपातिकां न आवर्तेत, स्वयमन्येषां अकरणतया । यस्य स्त्रियः परिजाताः, सर्वकर्मावहाः स अद्राक्षीत् ।

भगवान् स्वयं प्राणवध नहीं करते और दूसरों से नहीं करवाते थे । भगवान् ने देखा—स्त्रियां सब कर्मों का आवहन करने वाली हैं, इसलिए उन्होंने स्त्रियों का परिहार किया ।

भाष्यम् १७—अतिपातिका—हिंसा, तां अणाउट्टे—न आवर्तेत न कुर्यादित्यर्थः ।<sup>१</sup> स्त्रियः सर्वकर्मावहाः एवं स अद्राक्षीत् ।

अतिपातिक का अर्थ है—हिंसा । अणाउट्टे का अर्थ है—न करे । स्त्रियां सब कर्मों का आवहन करने वाली हैं—ऐसा भगवान् ने देखा ।

१. सूत्रकृतांग १।१२।२०,२१ :

अस्ताण जो जाणइ जो य लोणं,

जो आगतिं जाणइऽणागतिं च ।

जो सासयं जाण असासयं च,

जातिं मरणं च चयणोववातं ॥

अहो वि सत्ताण विउट्टणं च,

जो आसवं जाणति संवरं च ।

दुक्खं च जो जाणइ णिज्जरं च,

सो भासिउमरिहति किरियवादं ॥

२. (क) भगवान् गृहवास में रहते हुए अनासक्त जीवन जी रहे थे, तब उनके चाचा सुपार्ष्व, भाई नन्दीवर्द्धन तथा अन्य मित्रों ने कहा—‘तुम शब्द, रूप आदि विषयों का भोग क्यों नहीं करते ?’

भगवान् ने कहा—‘इन्द्रियां स्रोत हैं । इनसे बन्धन आता है । मेरी आत्मा स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रही है । इसलिए मैं इन विषयों का भोग करने में असमर्थ हूँ ।’

यह सुनकर उन्होंने कहा—‘कुमार ! तुम ठंडा पानी क्यों नहीं पीते ? सच्चित्त आहार क्यों नहीं करते ?’

भगवान् ने उत्तर दिया—‘हिंसा स्रोत है । उससे बन्धन आता है । मेरी आत्मा स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रही है । इसलिए मैं मेरे ही जैसे जीवों का प्राण-वियोजन करने में असमर्थ हूँ ।’

उन्होंने कहा—‘कुमार ! तुम हर समय ध्यान की मुद्रा में बंठे रहते हो । मनोरंजन क्यों नहीं करते ?’

भगवान् ने कहा—‘मन, वाणी और शरीर—ये तीनों

स्रोत हैं । उनसे बन्धन आता है । मेरी आत्मा स्वतन्त्रता के लिए छटपटा रही है । इसलिए मैं उनकी चंचलता को सहारा देने में असमर्थ हूँ ।’

उन्होंने कहा—‘कुमार ! तुम स्नान क्यों नहीं करते ? भूमि पर क्यों सोते हो ?’

भगवान् ने कहा—‘देहासक्ति और आराम—ये दोनों स्रोत हैं । मैं स्रोत का संवरण चाहता हूँ । इसलिए मैंने इस चर्या को स्वीकार किया है ।’

(ख) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३०७ : केति भगति—जया किर सो बंधूहि पणविओ डुवे वरिसे चिट्ठति तदा फामुआहारो, सुपासनं दिवद्वणप्रमृतीहि सुहीहि भणितो—कि ण पहासि ? ण य सीतोदयं पिबसि ? भूमिए सुधसि, ण य सच्चित्तं आहारं आहारेसि, पुच्छित्तो पडिभणति ‘आदानसोतं अतिवातसोतं’ तहेव वच्चो, ‘अतिपत्तियं अणाउट्टिं’ तहेव, अह इत्थोओ कि परिहरसित्ति भणितो यदि भणति—जस्सिस्त्थिओ परिणयाता, अहवा उव्वेसगमेव ।’

३. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३०७ : अतिवादिज्जति जेण सो अतिवादो—हिंसादि, आउट्टणं करणं, तं अतिवातं णाउट्टति सयं, अण्णेहि अविकरणाएत्ति ण करेत्ति अण्णेहि नाणु-मोदति ।

(ख) वृत्तिकृता प्रथमपादस्य भिन्नोर्थः कृतोस्ति—‘आकुट्टिः हिंसा, नाकुट्टिरनाकुट्टिरहित्यर्थः, किंभूताम् ? अतिक्रान्ता पातकादतिपातिका—निर्दोषा तामाश्रित्य, स्वतोऽन्येषां चाकरणतया—अध्यापारतया प्रवृत्त इति ।’

(आचारांग वृत्ति, पत्र २७७)

अस्यानुसारी उपदेशः—

‘तं परिणाय मेहावी णेव सयं एतेहिं कार्णहिं दंडं समारं-  
भेज्जा, णेवण्णेहिं एतेहिं कार्णहिं दंडं समारंभावेज्जा, नेवण्णे  
एतेहिं कार्णहिं दंडं समारंभंते वि समणुजाणेज्जा ।’<sup>१</sup>

‘जहेस्थ कुसले णोर्वालिपिज्जासि ।’<sup>२</sup>

‘मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावातए ।’<sup>३</sup>

इसका संवादी उपदेश है—

‘मेधावी उस कर्म-समारम्भ का विवेक कर इन सूक्ष्म जीव-  
कायों के प्रति स्वयं दण्ड का प्रयोग न करे, दूसरों से न करवाए और  
करने वालों का अनुमोदन न करे ।’

‘जिससे कुशल पुरुष इस परिग्रह में लिप्त न हो ।’

‘साधक अपने आपको कामभोगों के मध्य में न फंसाए ।’

१८. अहाकडं न से सेवे, सव्वतो कम्मुणा य अदक्खू । जं किंचि पावगं भगवं, तं अकुव्वं विथडं भुंजित्था ॥

सं०—आधाकृतं न स सेवते, सर्वशः कर्मणा च अद्राक्षीत् । यत्किञ्चित् पापकं भगवान्, तमकुर्वन् विकटमभुवत् ॥

भगवान् ने देखा कि मुनि के लिए बना हुआ भोजन लेने से सब प्रकार से कर्म का बंध होता है, इसलिए उसका सेवन नहीं किया ।  
भगवान् आहार-सम्बन्धी किसी भी पाप का सेवन नहीं करते थे । वे प्रामुक् भोजन करते थे ।

भाष्यम् १८—इदानीं आहारचर्या । ‘अहाकडं’ इति  
आहाकडस्य ह्रस्वीकृतं रूपमस्ति । भिक्षु आधाय—  
मनसीकृत्य कृत आहार आधाकृत इत्युच्यते । भगवान्  
आधाकृतं न ग्रहीतवान् । तद्ग्रहणे सर्वशः इति सर्वभावेन  
कर्मबन्धमद्राक्षीत् । पापकं—अशुद्धम् । भगवता  
यत्किञ्चित् पापकं तत् परिहृतम् । विकटं विकृतमिति  
प्रामुकं भोजनं कृतम् ।<sup>४</sup>

अस्यानुसारी उपदेशः—

‘से णावए, णाड्भावए, ण समणुजाणइ ।’<sup>५</sup>

‘सव्वामगंधं परिणाय, णिरामगंधो परिव्वए ।’<sup>६</sup>

अब भगवान् महावीर की आहारचर्या का प्रकरण प्रस्तुत है ।  
‘अहाकडं’ यह ‘आहाकडं’ का ह्रस्वीकृत रूप है । आधाकृत भोजन का  
अर्थ है—मुनि को लक्ष्य कर बनाया हुआ भोजन । भगवान् ने आधाकृत  
आहार नहीं लिया । उन्होंने देखा कि उसको ग्रहण करने से सब प्रकार  
से कर्मबंध होता है । पापक का अर्थ है—अशुद्ध । जो कुछ पापक था,  
भगवान् ने उसका परिहार किया । भगवान् ने विकट अर्थात् प्रामुक  
भोजन किया ।

इसका संवादी उपदेश है—

‘मुनि आसक्ति बढ़ाने वाले आहार को स्वयं ग्रहण न करे,  
दूसरे से ग्रहण न करवाए और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन न करे ।’

‘मुनि सब प्रकार की भोजन की आसक्ति का परित्याग कर  
अनासक्त रहता हुआ परिव्रजन करे ।’

१९. णो सेवतो य परवत्थं, परपाए वि से ण भुंजित्था । परिवज्जियाण ओमाणं, गच्छति संखडिं असरणाए ॥

सं०—नो सेवते यः परवस्त्रं, परपात्रेऽपि स नाऽभुक्त । परिवर्ज्यावमानं गच्छति ‘संखडिं’ अस्मरणाय ।

भगवान् स्वयं अवस्त्र थे और किसी दूसरे के वस्त्र का सेवन नहीं करते थे । वे स्वयं पात्र नहीं रखते थे और किसी दूसरे के पात्र  
में नहीं खाते थे । वे ‘अवमान-भोज’ में आहार के लिए नहीं जाते थे । वे सरस भोजन की स्मृति नहीं करते थे ।

भाष्यम् १९—साम्प्रतं उपकरणचर्या भिक्षाचर्या च ।  
भगवतः प्रव्रज्याकाले एकशाटकत्वमासीत् इति  
चतुर्थश्लोके प्रतिपादितमस्ति । अत्र परवस्त्रं न सेवितमिति  
सूचितम् ।

अब उपकरणचर्या तथा भिक्षाचर्या का प्रकरण है । प्रव्रज्या  
के समय भगवान् एकशाटक थे, यह चौथे श्लोक में प्रतिपादित है ।  
प्रस्तुत आलापक में यह सूचित किया गया है कि भगवान् ने परवस्त्र  
का उपयोग नहीं किया ।

१. आयारो, ८।१८ ।

२. वही, २।४८ ।

३. वही, २।१३३ ।

४. (क) चूर्णो ‘पावगं’ पदस्य अनेके अर्थाः कृताः सन्ति—  
पावगमिति असुद्धं .....

अहवा पावगमिति मंसमज्जादि, तत्थ अकुव्वं ण आसति,  
जं च अण्णं संजोयणादिपमाणइंगालधूमणिककारणादि

आहारअस्सितं पावं तं अकुव्वं ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३०८)

(ख) वृत्तो पापकं पापोपादानकारणं इत्येव उल्लिखितमस्ति ।

(आचारांग वृत्ति, पत्र २७७)

५. आयारो, २।१०७ ।

६. वही, २।१०८ ।

७. देशीयशब्दः ।



परः—गृहस्थः । परपात्रे भोजनमपि न कृतम् । स्वयं च पात्रं न धृतम् ।'

यस्मिन् भोगे भोजनस्य प्रमाणं अवमं भवति स अवमानमित्युच्यते । भगवान् तादृशं भोगं परिवर्जितवान्, सरसभोजनस्य स्मरणमपि न कृतवान् ।

'संखडि'—भोगः ।

'पर' का अर्थ है—गृहस्थ । उन्होंने परपात्र—गृहस्थ के पात्र में भोजन भी नहीं किया । स्वयं ने पात्र नहीं रखा ।

जिस भोज में भोजन का प्रमाण न्यून हो जाता है, वह अवमान भोज कहलाता है । भगवान् ने वैसे भोज का परिवर्जन किया और सरस भोजन की स्मृति भी नहीं की ।

'संखडि' का अर्थ है—जीमनवार ।

२०. मायण्णे असण-पाणस्स, णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे । अच्छिपि णो पमज्जिया, णोवि य कंडूयये मुणी गायं ॥

सं०—मात्राज्ञः अशनपानस्य, नानुगृह्यः रसेषु अप्रतिज्ञः । अक्षयपि नो प्रामार्शित्, नोपि च अकण्डूयिष्ट मुनिः गात्रम् ।

भगवान् अशन और पान की मात्रा को जानते थे । वे रसों में लोलुप नहीं थे । वे भोजन के प्रति संकल्प नहीं करते थे । वे आंख का भी प्रमाजन नहीं करते थे । वे शरीर को भी नहीं खुजलाते थे ।

भाष्यम् २०—भगवान् अशनपानयोर्मात्रां ज्ञात्वा भुक्तवान् पीतवान् । स रसेषु अनुगृह्यः नासीत्, अत एव मात्राज्ञ आसीत् । स रसेषु नानुगृह्यः, अत एव अप्रतिज्ञ'

भगवान् अशन और पान की मात्रा को जानकर भोजन करते थे, पानी पीते थे । वे रसों में लोलुप नहीं थे, इसीलिए वे मात्राज्ञ थे । वे रसों में आसक्त नहीं थे, इसीलिए वे अप्रतिज्ञ थे । मुझे इस प्रकार

१. (क) अत्र चूर्णनिर्विष्टा परम्परा—जं तं दिव्वं देवाइ संपव्वयंतेणं गहितं तं साहियं वरिसं खंधेणं चैव धरितं, णवि पाउयं, तं मुइत्ता सेसं परवत्थं पडिहारितमवि ण धरितं वा, केइ इच्छति—से वत्थं तस्स तत्, सेसं परवत्थं, जं गाहितं णासेवितपि, तथा सपत्तं तस्स पाणिपत्तं, सेसं परपत्तं, तत्थ ण भुजितं, तो केइ इच्छति—सपत्तो धम्मो पण्णवेयवदुत्ति तेण पढमपारणं परपत्ते भुत्तं, तेण परं पाणिपत्ते, पगारो तहेव, अतिक्कतं वावि, गोसालेण फिर तंतुवायसालाए भणियं—अहं तव भोयणं आणेमि, गिहपत्ते काउं तंपि भगवता निच्छित्तं, उप्पणनापस्स लोहज्जो आणेति— 'धम्मो सो लोधज्जो खंतिखमो' । किं तत्थ ता ण अडियवं ? भणियं देविदचक्कवट्टी मंडलिया ईसरा तलवरा य । अभिगच्छति जिणिवं गोयरचरितं ण सो अडति ॥

छउमत्थकाले अडियं । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३०८-३०९)

(ख) वृत्ती परशब्दस्य प्रधानमित्यर्थः कृतोस्ति—'परवस्त्रं—प्रधानं वस्त्रं परस्य वा वस्त्रं, परवस्त्रं नासेवते तथा परपात्रेऽप्यसौ न भुङ्क्ते । (आचारांग वृत्ति, पत्र २७७)

(ग) चूर्ण के अनुसार भगवान् ने दीक्षा के समय एक वस्त्र रखा था । तेरह मास बाद उसे विसर्जित कर दिया । फिर उन्होंने किसी वस्त्र का सेवन नहीं किया ।

भगवान् ने दीक्षित होने के बाद प्रथम पारण में गृहस्थ के पात्र में भोजन किया था । उसके बाद वे 'पाणिपात्र' हो गए । फिर किसी के पात्र में भोजन नहीं किया । एक बार भगवान् नालन्दा की तन्तुवायशाला में विहार कर रहे थे । उस समय गोशालक ने कहा—'भंते! मैं आपके लिए भोजन लाऊँ ।' 'यह गृहस्थ के पात्र में भोजन लाएगा' ऐसा सोचकर भगवान् ने उसका निषेध कर दिया । केवलज्ञान

उत्पन्न होने पर भगवान् तीर्थंकर हो गये । तब उनके लिए लोहार्य नाम का मुनि गृहस्थों के घर से भोजन लाता था । किन्तु भगवान् उसे हाथ में लेकर ही भोजन करते थे । पात्र में नहीं करते थे ।

प्रस्तुत वर्णन साधनाकालीन चर्चा का है । इसलिए लोहार्य द्वारा लाया जाने वाला भोजन यहां विवक्षित नहीं है ।

(द्रष्टव्य—आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३०९)

२. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३०९ : 'ओमं माणं करेति, ओमाणं जं जस्स विज्जति तं जणं विज्जति, सर्वेहिं वुपदचउप्पवादीहिं आहारकंखीहिं संतेहिं पडिपुन्नेहिं चरति ।'

(ख) वृत्ती (पत्र २७७) अवमानपदस्यार्थः समीचीनः नास्ति ।

(ग) आचारचूलायां (१।३४-३५) दशवकालिकचूलायां (२।६) च चूर्णकृतस्यार्थस्य समर्थनं प्राप्यते—

'वह भोज जहां गणना से अधिक खाने वालों की उपस्थिति होने के कारण ख़ाद्य कम हो जाए, अवमान कहलाता है । जहां 'परिगणित' लोगों के लिए भोजन बने वहां से भिक्षा लेने पर भोजकर अपने निमंत्रित अतिथियों के लिए फिर से दूसरा भोजन बनाता है या भिक्षु के लिए दूसरा भोजन बनाता है या देता ही नहीं, इस प्रकार अनेक दोषों की संभावना से इसका निषेध है ।

(दसवेआलियं, चूलिका २।६ का टिप्पण)

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३०९-१० : 'अपडिण्णे ण तस्स एवं पडिण्णा आसी जहा मत्ते एवं विहा भिक्खा भोज्जा ण वा भोइयव्वा इति, तत्र अभिग्गहपडिण्णा आसी जहा कुम्मासा मए भोत्तव्वा इति ।'

आसीत् । एवंविधं भोजनं मया भोक्तव्यं अथवा एवंविधं न भोक्तव्यं, अस्मिन् विषये संकल्पमुक्त आसीत् । अनेन भगवतो रसपरित्यागसंज्ञकं तपः अभिहितम् ।

इदानीं कायक्लेशाभिधं तपः उच्यते । भगवान् रेणी वा रजसि पतितेऽपि अक्षि न प्रमार्जितवान् ।<sup>१</sup> मशकादिभिः दष्टोऽपि न गात्रं कण्डूयितवान् ।<sup>२</sup>

अस्यानुसारी उपदेशः—

‘से भिदखू कालण्णे बलण्णे मायण्णे खणयण्णे विण-यण्णे समयण्णे भावण्णे, परिग्रहं अममायमाणे, कालेणुट्ठाई, अपडिण्णे ।<sup>३</sup>

‘लद्वे आहारे अणपारे मायं जाणेज्जा, से जहेयं भगवया पवेइयं ।<sup>४</sup>

‘से भिदखू वा भिदखुणी वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा आहारेमाणे णो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारेज्जा आसाएमाणे, दाहिणाओ वा हणुयाओ वामं हणुयं णो संचारेज्जा आसाएमाणे, से अणासायमाणे ।<sup>५</sup>

२१. अप्यं तिरियं पेहाए, अप्यं पिट्टओ उपेहाए । अप्यं वुइएऽपडिभाणी, पंथपेही चरे जयमाणे ॥

मं०—अल्पं तिर्यक् प्रेक्षते, अल्पं पृष्ठतः उत्प्रेक्षते । अल्पमुक्तेऽप्रतिभाषी,<sup>६</sup> पन्थप्रेक्षी चरति यतमानः ।

भगवान् चलते हुए न तिरछे (दाएं-बाएं) देखते थे और न पीछे देखते थे । वे मौन चलते थे । पृष्ठने पर भी बहुत कम बोलते थे । वे पंथ को देखते हुए प्राणियों की अहिंसा के प्रति जागरूक होकर चलते थे ।

भाष्यन् २१—अस्मिन् पद्ये भगवतो गमनविधिः निरूपितोऽस्ति । पुरतो दृष्टिविन्यासः मौनं च—सूत्रद्वय-

१. अत्र चूर्णां किञ्चिदधिकं व्याख्यातमस्ति—न वा पादे धुवति, हृत्थे परे लेवाडं भोतुं मणिबंधाओ जाव धोवति ।

(आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१०)

२. भगवान् का शरीर विशिष्ट स्वास्थ्य-शक्ति से युक्त था । उनके शरीर में साधारणतया अजीर्ण आदि दोष होने की सम्भावना नहीं थी । फिर भी वे मात्रा-युक्त भोजन करते थे । मात्रा से अतिरिक्त भोजन करने वाला शुभ ध्यान आदि क्रियाओं का विधिवत् आचरण नहीं कर सकता । भगवान् शुभ ध्यान आदि के लिए मात्रा-युक्त भोजन करते थे ।

भगवान् गृहवास में भी भोजन के प्रति उत्सुक नहीं थे । वे प्रारम्भ से ही इस विषय में अनासक्त थे । प्रव्रजित होने पर साधना-काल में वह अनासक्ति चरम बिन्दु पर पहुंच गई ।

‘मुझे इस प्रकार का भोजन करना है और इस प्रकार का नहीं करना,’ ऐसा संकल्प भगवान् नहीं करते थे । साधना

का भोजन करना चाहिए अथवा इस प्रकार का नहीं करना चाहिए इस विषय में भगवान् संकल्प-मुक्त थे । इसके द्वारा भगवान् का रस-परित्याग नामक तप का कथन हुआ है ।

अब कायक्लेश तप बताया जा रहा है । आंख में मिट्टी का कण अथवा रज गिर जाने पर भी भगवान् आंख का प्रमार्जन नहीं करते थे । मच्छर आदि के काटने पर भी वे शरीर को नहीं खुजलाते थे ।

इसका संवादी उपदेश है—

‘वह भिक्षु कालज्ञ, बलज्ञ, मात्रज्ञ, क्षेत्रज्ञ, क्षणज्ञ, विनयज्ञ, समयज्ञ, भावज्ञ, परिग्रह पर ममत्व न करने वाला, काल में उत्थान करने वाला और अप्रतिज्ञ होता है ।’

‘आहार प्राप्त होने पर मुनि मात्रा को जाने, भगवान् ने जैसे इसका निर्देश किया है ।’

‘भिक्षु या भिक्षुणी अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य का सेवन करती हुई बाएं जबड़े से दाहिने जबड़े में न ले जाए, आस्वाद लेती हुई तथा दाएं जबड़े से बाएं जबड़े में न ले जाए, आस्वाद लेती हुई । वह अनास्वादवृत्ति से आहार करे ।’

इस पद्य में भगवान् की गमनविधि निरूपित है । गमनविधि के दो सूत्र हैं—सामने दृष्टि का विन्यास करना और चलते समय मौन

की दृष्टि से वे संकल्प करते थे, जैसे—‘आज मुझे उड़क का भोजन करना है ।’

भगवान् की आंखें अनिमिष थीं । वे पलक नहीं झपकाते । उनकी आंखों में कोई रजकण गिर जाता, तो वे उसे निकालते नहीं थे । चींटी, मच्छर या जानवर आदि के काटने पर वे शरीर को खुजलाते नहीं थे । यह सब वे सहज साधना के लिए करते थे । ‘जो जैसा घटित होता है, वैसा हो, उसमें मैं कोई हस्तक्षेप न करूँ’—इस सहज साधना का प्रयोग वे कर रहे थे ।

३. आयारो, २।११० ।

४. वही, २।११३ ।

५. वही, ८।१०१ ।

६. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१० : ‘कयो एहि ? जाहि वा ? कतो वा भग्गो ? एवं पुच्छितो अप्पं पडिभणति, अभावे दट्ठवो अप्पसहो, मोणेण अच्छति ।’

मिदं गमनविधेः । भगवान् न प्रतिभणति—पृष्टोऽपि न रहनां । भगवान् पूछने पर भी नहीं बोलते थे ।  
ब्रूते ।

अस्यानुसारी उपदेशः—

‘जयविहारी चित्तनिवाती पंथनिज्ज्ञाती पत्नीवाहरे, पासिय  
पाणे गच्छेज्जा ।’<sup>१</sup>

इसका संवादी उपदेश है—

‘भुनि संयमपूर्वक चित्त को गति में एकाग्र कर पथ पर दृष्टि  
टिका कर चले । जीव-जन्तु को देखकर पैर को संकुचित कर ले और  
मार्ग में आने वाले प्राणियों को देखकर चले ।’

२२. लिसिरंसि अद्धपडिवन्ने, तं वोसज्ज वत्थमणगारे । पसारित्तु बाहुं परक्कमे, णो अवलंबियाण कंघंसि ॥

सं०—शिशिरे अश्वप्रतिपन्तः, तत् व्युत्सृज्य वस्त्रमनगारः । प्रसार्य बाहु पराक्रमते, नोऽवलम्ब्य स्कन्धे ।

भगवान् वस्त्र का विसर्जन कर चुके थे । वे शिशिर ऋतु में चलते, तब हाथों को फैलाकर चलते थे । उन्हें कंधों में समेट कर नहीं  
चलते ।

२३. एस विहो अणुक्कंतो, माहणेण मईमया । अपडिण्णेण वीरेण, कासवेण महेसिणा ॥—त्ति बेमि ।

सं०—एषः विधिः अनुक्रान्तः, माहनेन मतिमता । अप्रतिज्जेन वीरेण काश्यपेन महर्षिणा । --इति ब्रवीमि ।

मतिमान् माहन काश्यपगोत्री महर्षि महावीर ने संकल्प-मुक्त होकर पूर्ण प्रतिपादित विधि का आचरण किया । —ऐसा मैं कहता  
हूँ ।

भाष्यम् २२-२३ -- स्पष्टम् ।<sup>२</sup>

स्पष्ट है ।

## बोओ उद्देशो : दूसरा उद्देशक

१. चरियासणाइं सेज्जाओ, एगतियाओ जाओ बुइयाओ । आइक्ख ताइं सयणासणाइं, जाइं सेवित्था से महावीरं ॥

सं०—चर्यासनानि शय्याः एककाः याः उक्ताः । आख्याहि तानि शयनासनानि यानि असेविट्ट स महावीरः ।

(जम्बू ने सुधर्मा से पूछा—) भते ! चर्या के प्रसंग में कुछ आसन और वास-स्थान बतलाए गए हैं, किन्तु अब उन सब आसनों  
और वास-स्थानों को बताएं, जिनका महावीर भगवान् ने उपयोग किया था ।

भाष्यम् १—इदानीं शय्याप्रकरणम् । भगवान् महावीरः  
यानि शयनासनानि सेवितवान् तानि ज्ञातुमिच्छामि इति  
पृष्टे आचार्यं आह<sup>३</sup> --

अब शय्या का प्रकरण है । शिष्य ने पूछा—भगवान् महावीर  
ने जिन शयन-आसनों का सेवन किया उनके विषय में जानना चाहता  
हूँ । यह पूछने पर आचार्य ने कहा—

१. आचार्यो, ५।६९ ।

२. भगवान् ने गृहवास के दो वर्ष तथा साधनाकाल के साठे  
बारह वर्षों में संकल्प-मुक्ति की साधना की । मैं अमुक  
भोजन करूंगा, अमुक नहीं करूंगा । मैं अमुक स्थान में  
रहूंगा, अमुक स्थान में नहीं रहूंगा । अमुक समय में नींद  
लूंगा, अमुक समय में नहीं लूंगा— इस प्रकार शरीर और  
उसकी आवश्यकतापूर्ति के प्रति उनके मन में कोई प्रतिज्ञा  
नहीं थी, कोई संकल्प नहीं था । साधना के अनुकूल सहज

भाव से जो घटित होता, उसी को वे स्वीकार कर लेते ।

३. अत्र चूर्णो शय्याविषये किञ्चिद् विशिष्टमुल्लिखितमस्ति—  
‘ण वि भगवतो आहारवत् सेज्जाभिग्गहा नियमा आसी,  
पडिमाभिग्गहकाले तु सिज्जाभिग्गहो आसी, जहा एग राई-  
याए वहिया गाम्मादीणं ठिओ आसी, सुसाणे अन्नयरे वा  
ठाणे, अहाभावकमेण जत्थेव तत्थ चउत्थी पोरिसी भोगाडा  
भवति तत्थेव अणुन्नवित्ता ठितवान्, तंजहा आसनसभा-  
पवासु ।’ (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३११)

२. आवेशन-सभा-प्रवासु, पणियसालासु एगदा वासो । अदुवा पलियट्टाणेषु, पलालपुंजेषु एगदा वासो ॥

सं०—आवेशन-सभा-प्रवासु, पण्यशालासु एकदा वासः । अथवा 'पलिय'<sup>३</sup> स्थानेषु, पलालपुञ्जेषु एकदा वासः ।

भगवान् कभी शिल्प-शालाओं (कृम्भकार-शाला, लोहकार-शाला आदि) में रहते थे, कभी सभाओं, प्याउओं, पण्य-शालाओं (दुकानों) में रहते थे । वे कभी कारखानों में और कभी पलाल-मण्डपों में रहते थे ।

भाष्यम् २—आवेशनम्—शिल्पशाला ।<sup>३</sup> सभा—ग्राम-संसत् ।<sup>४</sup> प्रपा—पानीयशाला ।<sup>५</sup> पण्यशाला—आपणः ।<sup>६</sup> सकुड्यं गृहम्,<sup>७</sup> कुड्यरहिता शाला । वासः—ऋतुबद्धे काले रात्र्यां वसन्तं वर्षासु च ।<sup>८</sup> पलियं—कर्म,<sup>९</sup> कर्मन्तिः-स्थानेषु । पलालपुञ्जेषु—पलालमण्डपेषु ।<sup>१०</sup>

गाथागत शब्दों के अर्थ—

- ० आवेशन—शिल्पशाला ।
- ० सभा—गांव की संसद् ।
- ० प्रपा—प्याऊ ।
- ० पण्यशाला—दुकान ।
- ० शाला—भीत सहित आवास को घर और भीत रहित को शाला कहा जाता है ।
- ० वास—ऋतुबद्धकाल में रात्री में रहना तथा वर्षाऋतु में रहना ।
- ० पलियट्टाण—कर्मन्तिस्थान—कारखाना ।
- ० पलालपुञ्ज—पलालमंडप ।

३. आगंतारे आरामागारे, गामे णगरेवि एगदा वासो । सुसाणे सुण्णगारे वा, रुक्खमूले वि एगदा वासो ॥

सं० आगन्तारे आरामागारे, ग्रामे नगरेऽपि एकदा वासः । श्मशाने शून्यागारे वा, रुक्खमूलेऽपि एकदा वासः ।

भगवान् कभी यात्री-गृहों और कभी आरामगृहों में रहते थे । कभी गांव में रहते थे और कभी नगर में, कभी श्मशान में और कभी शून्यगृह में रहते थे तथा कभी-कभी वृक्ष के नीचे भी रहते थे ।

भाष्यम् ३—आगन्तारं—यात्रिगृहमिति ।<sup>११</sup> आरामागारं—आरामगृहम् ।<sup>१२</sup> कदाचिद् ग्रामे कदाचिन्नगरेऽपि भगवतो

आगन्तार का अर्थ है—आने वालों का घर अर्थात् यात्रीगृह । आरामागार अर्थात् आरामगृह । भगवान् कभी गांव में और कभी

१. देशीयशब्दः ।

२. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३११ : 'आगंतुं विसंति जहियं आवेशनं' जं भणियं गिहं लोमसिद्धं, जहा कुंभारावेसणं लोहारावेसणं एवमादि ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २७८ : आवेशनं—शून्यगृहम् ।

३. (क) आचारांग चूर्णि पृष्ठ ३११-३१२ : सभा नाम नगरादीणं मज्जे देसे कीरंति, गामे पउरसमागमा य भवंति, सेणिमादीणं तु पत्तेयं सभा भवंति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २७८ : सभा नाम ग्रामनगरादीनां तद्वासिलोकास्थाधिकार्थभागानुकशयनार्थं च कुड्याद्याकृतिः क्रियते ।

४. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१२ : जत्य सहाविपडिमाओ ठविज्जंति, पिविस्संति पेहियादि सा पवा, तंजहा—उदगप्पवा गुलउदकप्पवा खंडप्पवा सक्करप्पवा एवमादि ।

५. वही, पृष्ठ ३१२ : पणियगिहं आवणो पणियसालति ।

६. वही, पृष्ठ ३१२ : पढंति सालघराणं विसेसो, सकुड्डं घरं कुडुरहिता साला, जं वा लोमसिद्धं गाम, जहा सकुड्वावि

हत्तिसाला वुच्चति ।

७. वही, पृष्ठ ३१२ : वास इति राईगहिता उडुबद्धे, वासासु ।

८. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१२ : पलियं नाम कम्मं, यकुत्तं भवति—कम्मंतट्टाणेषु, दग्भकम्मंतादिसु, अहवा पलियाति ठाणं, तंजहा—गोसाला, गोबद्धो वा करीसरहितो, ण अज्जावगासं ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २७९ : पलियन्ति कम्मं तस्य स्थानं कम्मंस्थानं—अयस्कारवद्धंकिकुड्यादिकं ।

९. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१२ : पलियं तु पलालं, पुंजो संघातो, पलालमंडवस्स हेट्टासु सिरत्ताणे पलालपुंजेषु पविसति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २७९ : पलालपुञ्जेषु भञ्जो-परि व्यवस्थितेष्वधो, न पुनस्तेष्वेव, शुषिरस्वादिति ।

१०. आचारांग चूर्णि पृष्ठ ३१२ : आगंतु जत्य आगारा चिद्धंति तं आगंतारं ।

११. वही, पृष्ठ ३१२ : आरामे आगारं आरामागारं ।

वासो जातः । एकदा—ऋतुबद्धे काले<sup>१</sup> श्मशाने— श्मशानस्य पार्श्वे ।\*

नगर में भी रहते थे । एकदा का अर्थ है—ऋतुबद्धकाल में । यहाँ श्मशान का तात्पर्य है—श्मशान के पार्श्ववर्ती क्षेत्र में ।

४. एतेहि मुणी सयणोहि, समणे आसी पतेरस वासे । राइं दिवं पि जयमाणे, अप्पमत्ते समाहिण् भाति ॥

सं०—एतेषु मुनिः शयनेषु, श्रमणः आसीत् प्रत्रयोदशवर्षम् । रात्रिं दिवा अपि यतमानः, अप्रमत्तः समाहितः ध्यायति ।

भगवान् साधनाकाल के उत्कृष्ट तेरह वर्षों में इन वास-स्थानों में प्रसन्नमना रहते थे । वे रात और दिन स्थिर और एकाग्र तथा अप्रमत्त रह कर समाहित अवस्था में ध्यान करते थे ।

भाष्यम् ४—एतेषु निर्दिष्टेषु शयनेषु तथा अन्येष्वपि शैलपृष्ठादिषु । श्रमणः—भगवान् महावीरः अथवा समनाः—सममनाः ।<sup>१</sup> पतेरस वासे—प्रत्रयोदशवर्ष—प्रकर्षेण त्रयोदशवर्ष यावत् ।<sup>२</sup> रात्रौ दिवापि यतमानः भगवान् यथा दिवा तथा रात्रौ सर्वदा यतमानः—मनोवाक्कायैः एकाग्रः, अप्रमत्तः—जितेन्द्रियः कषाय-रहितश्च, समाहितः सन् धर्मं शुक्लं वा ध्यायति ।<sup>३</sup>

भगवान् इन निर्दिष्ट वास-स्थानों में तथा अन्य पर्वतीय आवासों—पर्वत पर उत्कीर्ण भवन, गुफा आदि में भी रहते थे । श्रमण अर्थात्—श्रमण महावीर अथवा समतायुक्त मन वाले । पतेरस वासे का अर्थ है—उत्कृष्ट तेरह वर्ष । भगवान् रात में और दिन में भी यतमान रहते थे । जिस प्रकार दिन में उसी प्रकार रात में सदा यतमान अर्थात् मन, वचन और शरीर को स्थिर और एकाग्र कर अप्रमत्त अर्थात् इन्द्रियों को शांत कर, कषायशून्य होकर समाहित अवस्था में धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यान में तन्मय हो जाते थे ।

अस्यानुसारी उपदेशः—

‘अलं कृत्स्नस्स पमाएणं ।’<sup>४</sup>

‘संति-मरणं संपेहाए, भेउरधम्मं संपेहाए ।’<sup>५</sup>

‘पासिय आउरे पाणे, अप्पमत्तो परिव्वए ।’<sup>६</sup>

‘अहो य राओ थ जयमाणे, वीरे सया आगयपण्णाणे । पमत्ते वहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि ।’<sup>७</sup>

संवादी उपदेश—

‘कुशल प्रमाद न करे ।’

‘शांति और मरण की संप्रेक्षा करने तथा अनित्य शरीर की संप्रेक्षा करने पर अप्रमाद की वृद्धि होती है ।’

‘सुप्त मनुष्यों को आतुर देखकर जागृत पुरुष निरन्तर अप्रमत्त रहे ।’

‘दिन-रात यत्न करने वाला और सदा लब्धप्रज्ञ वीर साधक देखता है कि जो प्रमत्त हैं, वे धर्म से बाहर हैं । इसलिए वह अप्रमत्त होकर सदा पराक्रम करे ।’

१. अत्र चूर्णपरम्परा—अयं तु विसेसो—गामे एगरत्तं नगरे पंचरत्तं, एवं उडुबद्धे, वासासु नियमा चत्तारि मासे वासो, गामादीणं पुण कयाइ अंतो कयाइ बाहि अभासे ।

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३१२)

२. श्मशानादिविषये चूर्णपरम्परा—सवसयणं सुसाणं सुसाणभासे, सुन्नं अगारं सुन्नागारं, रुक्खे वा—मूले वा खंघस्स अणभासे, जत्थ पुप्फफलाई ण पडंति, एगतत्ति उडुबद्धे, न तु वस्सासु, सुसाणरुक्खस्स तले वा वसति, सुन्नागारं वा जं न गलति । (आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३१२)

३. आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३१२ : समणेत्ति स एव बद्धमाण-सामी, अहवा तेसु पवातनिवातसमविससेसु सोवसग्गनिरुव-सग्गेषु वसतिसु समण एव आसी अतो समणे, जहा दुक्खसिज्जा आसी तथा तथा भिसतरं समण आसी ।

४. वही, पृष्ठ ३१२ : पगतं पत्थियं वा तेरसमं वरिसं जेसि वरिसाणं ताणिमाणि पतेरसवरिसाणि छउमत्थकाले ।

५. वही, पृष्ठ ३१२-३१३ : जहा रत्ति तथा दिवा, उभयग्ग-हणमवि सामत्थं ण तु जहा अण्णे थाणमोणादीएहि जइत्ता रत्ति सारक्खणत्थं णिहं भजंति, सो तु भगवं जहा दिवा तथा रत्ति पि जयमाणेत्ति मणोवाक्काएहि एग्गो अप्पमत्त इति जित्तिदियो कसायरहितो, कहं ? मम एवे पमादा ण भविज्ज, ठाणाइएसु अप्पमत्ते ज्जाणे य, सम्मं आहितो समाहितो धम्मे सुक्के ज्जायति भगवं ।

६. आचारांग वृत्ति, पत्र २७९ : यतमानः संयमानुष्ठान उद्युक्तवान् तथाऽप्रमत्तो—निद्रादिप्रमादरहितः ‘समाहित-मना’ विस्मृतसिकाररहितो धर्मध्यानं शुक्लध्यानं वा ध्यायतीति ।

७. आधारो, २।९५ ।

८. वही, २।९६ ।

९. वही, ३।११ ।

१०. वही, ४।११ ।

५. गिहं पि णो पगमाए, सेवइ भगवं उट्टाए । जग्गावती य अप्पाणं, ईसिं साई या सी अपडिण्णे ॥

सं०—निद्रामपि नो प्रकामं, सेवते भगवानुत्थाय । जागरयति च आत्मानं, ईषच्छायी चासीद् अप्रतिज्ञः ।

भगवान् शरीर-सुख के लिए अधिक नींद नहीं लेते थे । निद्रा का अवसर आने पर वे खड़े होकर अपने-आप को जागृत कर लेते थे । वे (चिर जागरण के बाद शरीर-धारण के लिए) कभी-कभी थोड़ी नींद लेते थे । उनके मन में निद्रा-सुख की आकांक्षा नहीं थी ।

भाष्यम् ५—भगवान् निद्रां न प्रकामं सेवते । यदा भगवान् अधिक नींद नहीं लेते थे । जब कभी नींद का प्रसंग कदा निद्राप्रसङ्गोऽभूत् तदा अनित्यजागरिकया तत्क्षणं आता तत्र वे अनित्य-जागरिका से तत्क्षण उठकर अपने-आपको जागृत उत्थाय आत्मानं जागरयति । कदाचिद् ईषत्— कर लेते थे । कभी पलभर नींद लेते, फिर भी निद्रा-सुख के प्रति निमेषमात्रं शेते, तथापि निद्रासुखं प्रति अप्रतिज्ञ आसीत् । अप्रतिज्ञ रहते थे, उसकी आकांक्षा नहीं करते थे ।

६. संबुज्झमाणे पुणरपि, आसिंसु भगवं उट्टाए । णिक्खम्म एगया राओ, बहिं चं कमिया मुहुत्ताणं ॥

सं०—संबुध्यमानः पुनरपि, आसिष्ट भगवानुत्थाय । निष्क्रम्य कदा रात्रौ बहिष्वंक्रम्य मुहूर्त्तकम् ।

भगवान् पलभर की नींद के बाद फिर जागृत होकर आन्तरिक जागरूकतापूर्वक ध्यान में बैठ जाते थे । कभी-कभी रात्री में नींद अधिक सताने लगती तब वे उपाश्रय से बाहर निकलकर मुहूर्त्तभर चंक्रमण करते, (फिर अपने स्थान में आकर ध्यान-लीन हो जाते) ।

भाष्यम् ६—भगवान् निमेषमात्रं निद्राय तत्क्षणं भगवान् पलभर की नींद लेकर भी तत्क्षण पुनः जाग जाते थे । पुनरपि संबुध्यते । कदाचित् निद्रां जेतुं रात्रौ स्थानाद् कभी-कभी निद्रा पर विजय पाने के लिए रात में अपने स्थान से बाहर बहिर्मुहूर्त्तं चक्रमणं करोति । आकर मुहूर्त्त भर चंक्रमण करते ।

७. सयणोहं तस्सुवसग्गा, भीमा आसी अणेरुवा य । संसप्पगाय जे पाणा, अदुवा जे पक्खिणो उवचरन्ति ॥

सं०—शयनेषु तस्योपसर्गाः, भीमाः आसन्ननेकरूपाश्च । संसर्पकाः च ये प्राणाः, अथवा ये पक्षिणः उपचरन्ति ।

भगवान् को उन आवास-स्थानों में अनेक प्रकार के भयंकर उपसर्ग झेलने पड़े । (वे ध्यान में रहते, तब) कभी सांप और नेवला काट खाते, कभी कुत्ते काट खाते । कभी चींटियां शरीर को लहलुहान कर देतीं, कभी डांस, मच्छर और मक्खियां सतातीं, (फिर भी भगवान् आत्म-ध्यान में लीन रहते) ।

१. (क) भगवान् ने अपने साढ़े बारह वर्ष के साधना-काल में केवल अन्तर्मुहूर्त्त (४८ मिनट से कम) नींद ली । वह भी एक बार में नहीं, किन्तु अनेक बार में । वे लेटते नहीं थे । खड़े-खड़े या बेंठे-बेंठे पलभर के लिए झपकी ले लेते और फिर ध्यान में लग जाते । अस्थिकग्राम में उन्होंने कुछ क्षणों की नींद ली थी । उसमें उन्होंने दस स्वप्न देखे थे ।

भगवान् की साधना के मुख्य तीन अंग हैं—

१. आहार-संयम, २. इन्द्रिय-संयम, ३. निद्रा-संयम । वे आन्तरिक अनुभूति की सरसता के द्वारा आहार-संयम या रस-संयम करते थे ।

वे आत्म-दर्शन की तन्मयता के द्वारा इन्द्रिय-संयम करते थे ।

वे ध्यान के द्वारा निद्रा-संयम करते थे । ग्रीष्म और हेमन्त में नींद अधिक सताती थी । उस समय भगवान् चंक्रमण के द्वारा उस पर विजय पाते थे ।

(ख) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३१३ : पायसो ह्युत्तमकाले

जगवइ भगवां अप्पाणं ज्जाणणेण पमादाओ, सरीर-संधारणत्थं वा चिरं जग्गित्ता ईसिं सइयांसि इत्तर-कालं णिमेषउम्मेसमेत्तं लवमित्तं वा ईसं सइत्तां आसी जहा अट्टीयगामे, निद्दामुहं प्रति अपडिण्णे, यदुवत्तं भवति अणभिलासी, सव्वं किर ह्युत्तमत्थ-कालं निद्दापमादो अंतोमुहत्तं आसी, सो एवं भट्टारओ निद्दापमादा अणत्तरं संजममाणे पुणरपि सयं संभं वा बुज्झमाणो, ण परेहिं विवोधिज्जमाणे, बुज्झमाणो एव वुट्ठो, ण पडिसेहो, तेण य ज्जायति, ण णिद्दापमादं चिरं करेति, सो एवं ज्जाणणेण निद्दं जिण्णिज्जमाणो जति कदाइ निद्दाए अभिभूयति ततो निक्खम्म एगता रातो बहिं चं कमिया मुहुत्ताणं णिच्छित्तं कम्म णिक्कम्म उवत्सगाओ निक्खंमिओ, एगयादि गिम्हे अतिणिद्दा भवति हेमन्ते वा जिघांसु-रादिमु, तवो पुव्वरत्ते अवरत्ते वा पुव्वपडिलेहिय-उवासयगतो, तत्थ णिद्दाविमोयणहेतु मुहुत्ताणं चं कमिओ, गिहं अंतो पक्खिणत्ता पुणो अंतो पक्खिस्स पडिमागतो ज्जाइयवान् ।

भाष्यम् ७—अस्मिन्नुपसर्गाधिकारे मनुष्यतिर्यञ्च-संबन्धिनः उपसर्गाः सन्ति निर्दिष्टाः । देवकृतोपसर्गाणां नात्र कोप्युल्लेखोऽस्ति ।

संसर्पकाः—अहिनकुलादयः । पक्षिणः—दंशमशक-मक्षिकादयः गृध्रादयो वा । उपचरन्ति—वर्तन्ते अथवा समीपं आगत्य मांसादिकमश्नन्ति ।

भगवान् महावीर के उपसर्गों के इस प्रकरण में मनुष्य और तिर्यञ्च संबंधी उपसर्ग निर्दिष्ट हैं । देवकृत उपसर्गों का यहां कोई उल्लेख नहीं है ।

संसर्पक—सांप, नेबले आदि । पक्षी—डांस, मच्छर, मक्खियां आदि अथवा गीध आदि । उपचरति का अर्थ है—होना अथवा ये सब तिर्यञ्च पास में आकर मांस आदि खाते हैं ।

८. अदु कुचरा उवचरन्ति, गामरक्षया य सत्तिहत्था य । अदु गामिया उवसग्गा, इत्थी एगतिया पुरिसा य ॥

सं०—'अदु' कुचराः उपचरन्ति, ग्रामरक्षाश्च शक्तिहस्ताश्च । 'अदु' ग्राम्या उपसर्गाः, स्त्रियः एककाः पुरुषाश्च ।

सूने घर में ध्यान करते, तब उन्हें चोर या पारदारिक सताते, जब वे तिराहे-चौराहे पर ध्यान करते, तब हाथ में भाले लिए हुए ग्राम-रक्षक उन्हें सताते । भगवान् को कभी स्त्रियों और कभी पुरुषों के द्वारा कृत काम-सम्बन्धी उपसर्ग सहने होते ।

भाष्यम् ८—कुत्सितं चरन्तीति कुचराः—चौरपार-दारिकादयः<sup>१</sup> । उपचरन्ति—समीपमागच्छन्ति । कदाचित् शक्तिहस्ता ग्रामरक्षकाः<sup>२</sup> चौरग्राहाः चौराशंकया भगवन्तं उपचरन्ति ।

जो बुरे आचरण करते हैं, वे कुचर कहलाते हैं । चोर, पारदारिक आदि कुचर होते हैं । उपचरति का अर्थ है—समीप आना । कभी हाथ में भाले लिए हुए ग्रामरक्षक तथा चोरों को पकड़ने वाले चौरग्राह चोर की आशंका से भगवान् के समीप आते थे ।

अथवा ग्राम्याः—ग्राम्यधर्मसंबन्धिनः उपसर्गाः<sup>३</sup> अभूवन् । कदाचित् स्त्रीभिः कृताः कदाचित् पुरुषैः कृताश्चा<sup>४</sup>

अथवा कभी स्त्रियों द्वारा कृत और कभी पुरुषों द्वारा कृत ग्राम्यधर्म—काम-संबन्धी उपसर्ग भगवान् को हुए ।

अस्यानुसारी उपदेशः—

'निर्विद्वेदोऽपि अरते पयामु ।'

इसका संवादी उपदेश है—

'तू कामभोगों के आनन्द से उदासीन बन । स्त्रियों में अनुरक्त मत बन ।'

९. इहलोइयाइं परलोइयाइं, भीमाइं अणेगरूवाइं । अवि सुब्धि-दुब्धि-गंधाईं, सद्दाइं अणेगरूवाइं ॥

सं०—'एहलौकिकान् पारलौकिकान्, भीमान् अनेकरूपान् । अपि 'सुब्धि-दुब्धि' गंधान्, शब्दाननेकरूपान् ।

भगवान् ने मनुष्य और तिर्यञ्च (पशु) सम्बन्धी नाना प्रकार के भयानक कष्ट सहन किए । वे अनेक प्रकार के सुगंध और दुर्गंध तथा प्रिय और अप्रिय शब्दों में संतुलित रहे ।

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २७९ : कुत्सितं चरन्तीति कुचराः—चौरपारदारिकादयस्ते च शक्तिहस्तान्यगृहादौ 'उपचरन्ति' उपसर्गयन्ति ।

२. वही, पत्र २७९ : तथा ग्रामरक्षादयश्च त्रिकचत्वरदिव्यव-स्थितं शक्तिकुन्तादिहस्ता उपचरन्तीति ।

३. (क) आचारांग चूर्ण, पृ० ३१४ : गामा जाता गामिता । गामो नाम खलजणो, मणोवाक्कायिए तिविहेवि उवसग्गे, वतिमणसा अंतो, तस्स तं रूवं दट्ठं जहा जातं, पदोसारुहहणणेण जणो भयं करेति, अप्प-सत्था णं वायाए अबकोसंति, काएणं तालंति, इच्चेत्ते तिविहेवि गामिते उवसग्गे साहित्तिया, अहवा गामधम्मसमुत्था गामिता, ता तु इत्थि एगतरा पुरिसा य, इत्थीओ तं रूवमंतं रत्ति आगंतुं उपसर्गंति णपुंसगा य, कम्मोदया अभिद्ववंति, मणसावि भणवंतो ण पकुञ्जवंति, अहवा एस अम्हंतणियाओ इत्थीओ

पत्थेमाणो अम्हं अब्भासे वा समुवागतोत्ति पुरिसा तं चाहणंति णिच्छुभंति पिट्ठंति वा ।

(ख) आचारांग वृत्ति पत्र २७९ : 'ग्रामिका' ग्रामधर्माधिता उपसर्गा एकाकिनः स्युः, तथाहि—काचित् स्त्री रूपदर्शनाध्युपपन्ना उपसर्गयेत् पुरुषो वेति ।

४. भगवान् के रूप को देखकर स्त्रियां मुग्ध हो जातीं । वे रात्रो के समय उनके पास आ उन्हें विचलित करने का प्रयत्न करतीं । भगवान् का ध्यान भंग नहीं होता, तब वे रुष्ट होकर गालियां देतीं । इस बात का उनके पतियों को पता चलता तब वे भगवान् के पास आकर व्यंग की भाषा में बोलते—'इसी भिक्षु ने हमारी रमणियों को अपने मोह-जाल में फंसाया है । हमें इसका प्रतिकार करना चाहिए ।' वे भगवान् को गालियां देते और ताड़ना-तर्जना भी करते । भगवान् आत्म-ध्यान में लीन रहते । इसलिए वे इन दोनों स्थितियों की ओर ध्यान नहीं देते ।

५. आचारो, ३१४७ ।

१०. अहियासए सया समिए, फासाइं विरुवरुवाइं । अरइं रइं अभिभूय, रीयई माहण अबहुवाई ॥

सं०—अधिसहते सदा समितः, स्पर्शान् विरुपरूपान् । अरति रतिभिभूय, रीयते माहनः अबहुवादी ।

जन्होंने अपनी समीचीन प्रवृत्ति के द्वारा नाना प्रकार के स्पर्शों को झेला । वे संयम में होने वाली अरति और असंयम में होने वाली रति को अभिभूत कर चलते थे । वे प्रायः मौन रहते थे—आवश्यकता होने पर ही कुछ-कुछ बोलते थे ।

भाष्यम् ९,१०—इह द्विविधानां उपसर्गाणां संसूचनं कृतमस्ति—ऐहलौकिकाः पारलौकिकाश्च । तत्र मनुष्य-कृता उपसर्गाः ऐहलौकिकाः, तिर्यग्भिः कृताश्च पारलौकिका उच्यन्ते ।<sup>१</sup>

अनुलोमान् प्रतिलोमान् उपसर्गान् सहमानस्य कर्म-निर्जरा भवति, असहमानस्य च कर्मबन्धो जायते इत्या-लम्बनं कृत्वा भगवता सर्वं सोढम् । अनुलोमप्रतिलोमैः उपसर्गैः संयमे अरतिः असंयमे च रतिरुत्पद्यते । तयोरपि सद्ध्यानेन अभिभवः कृतः । स अबहुवादी आसीत् । जीवनयात्रानिर्वाहयोग्यां वाचं विहाय भगवता प्रायो मौनमासेवितम् ।

अनयोरनुसारी उपदेशः—

‘उवेहमाणो सह-रुवेसु अजू.....’ ।<sup>२</sup>

‘जस्मिमे सदा य रुवा य गंधा य रसा य फासा य अभि-समन्नागया भवति, से आयावं नाणवं वेयवं धम्मवं वंभवं ।’

‘अभिभूय अदबू, अणभिभूते पसू निरालंबणयाए ।’<sup>३</sup>

यहां दो प्रकार के उपसर्गों का सूचन किया गया है— ऐहलौकिक और पारलौकिक । मनुष्यों द्वारा कृत उपसर्ग ऐहलौकिक और तिर्यग्भों द्वारा कृत उपसर्ग पारलौकिक कहलाते हैं ।

जो साधक अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहन करता है उसके कर्म-निर्जरा होती है । जो उन उपसर्गों को सहन नहीं करता उसके कर्म-बंध होता है—यह आलंबन लेकर भगवान् ने सब प्रकार के उपसर्ग सहन किए । अनुलोम और प्रतिलोम उपसर्गों से संयम में अरति और असंयम में रति उत्पन्न होती है । भगवान् ने सद्ध्यान के माध्यम से रति और अरति का अभिभव किया । भगवान् बहुत कम बोलते थे । जीवन-यात्रा के निर्वहन योग्य वाणी को छोड़कर भगवान् प्रायः मौन रहते थे ।

इन दोनों (९,१०) का संवादी उपदेश है—

‘शब्द और रूप की उपेक्षा करने वाला ऋषु—संयमी होता है ।’

‘जो पुरुष इन—शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्शों को भलीभांति जान लेता है—उनमें राग-द्वेष नहीं करता, वह आत्मवान्, ज्ञानवान्, वेदवान्, धर्मवान् और ब्रह्मवान् होता है ।’

‘घातिकर्मों को अभिभूत कर महावीर ने देखा कि जो बाधाओं से अभिभूत नहीं होता, वही निरालंबी होने में समर्थ होता है ।’

११. स जणोहं तत्थ पुच्छिसु, एगचरा वि एगदा राओ । अवाहिए कसाइत्था, पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे ॥

सं०—स जनैः तत्र अपृच्छयत, एकचराः अपि एकदा रात्रौ । अव्याहृते अकषायिषुः, प्रेक्षमाणः समाधिप्रतिज्ञः ।

(भगवान् एकान्त में ध्यान करते, तब) कुछ अकेले घूमने वाले लोग, कभी-कभी रात्रि में पारदारिक लोग आकर पूछते—‘तुम सूने घर में क्या करते हो ? भगवान् उन्हें उत्तर नहीं देते, तब वे रुष्ट होकर दुर्व्यवहार करते । ऐसा होने पर भी भगवान् समाधि में लीन रहते, उनके मन में प्रतिकार का कोई संकल्प नहीं उठता ।

भाष्यम् ११—कस्त्वम् ? कृत आगतः ? किमर्थमत्र-स्थितोऽसि ? अस्मिन् शून्यगृहे किं करोषि ? इत्यादीन् अनेकान् प्रश्नान् अप्राक्षुः एकचराः—उद्भ्रामकाः पारदारिकादयः । पृच्छायां कृतायां भगवान् मौनमेव

तुम कौन हो ? कहां से आए हो ? यहां क्यों खड़े हो ? इस सूने घर में क्या कर रहे हो ? इस प्रकार एकचर—अकेले घूमने वाले पारदारिक आदि मनुष्य अनेक प्रश्न पूछते । पूछने पर भी भगवान् मौन रहते । उससे रुष्ट होकर वे भगवान् को गालियां देने, कटुवचन

१. चूर्णां अनयोः पद्योर्व्याख्या नयद्वयेन कृतास्ति—तत्थ इहलोइयाइं माणुस्सग्गा, पारलोइया सेसा, अहवा इहलोइया इहलोगदुखउप्पायगा पहारअवकोसदंसमसगा-दिया, यदुक्तं भवति—पडिलोमा, परलोइया, परलोक-दुखउप्पायगा, यदुक्तं भवति—अणुलोमा, केइ उभयलोइया, तंजहा—अस्सगतो पुरिसो, अतिणेंति, तथा

अणुलोमे परलोमे य करंति जहा अभयमुदरिसणस्स ।

(आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१४-३१४)

२. आथारो, ३।१५ ।

३. वही, ३।४ ।

४. वही, ५।१११ ।



आललंबे । ततो रोषमापन्नैस्तैः आक्रुष्टो भगवान् । तस्यामवस्थायां सामान्यजनः क्रुध्येत्, किन्तु भगवान् समाधि आत्मानं वा प्रेक्षमाणः आसीत् । अत एव स मदा अप्रतिज्ञः—प्रतिकारसंकल्पपरहितः ।

‘कसाइत्या’—इदं कषायपदस्य नामधातुरूपम् ।

कहते । ऐसे अवसर पर सामान्य व्यक्ति क्रोधित हो सकता है, किन्तु भगवान् समाधि अथवा आत्मा की प्रेक्षा में लगे रहते थे । इसलिए वे सदा अप्रतिज्ञ थे अर्थात् उनके मन में प्रतिकार करने का संकल्प कभी नहीं जाया ।

‘कसाइत्या’—यह कषायपद का नामधातु का रूप है ।

१२. अयमंतरंसि को एत्थ, अहमंसि त्ति भिक्खू आहट्टु । अयमुत्तमे से धम्ममे, तुसिणीए स कसाइए भाति ॥

सं०—अयमन्तरे कोऽत्र, अहमस्मि इति भिक्षुः आहृत्य । अयमुत्तमस्तस्य धर्मः, तूष्णीकः स कषायिते ध्यायति ।

भगवान् ने उपवन के अन्तर-आवास में ध्यान किया, तब प्रतिदिन आने वाले व्यक्तियों ने वहाँ आकर पूछा—‘यह भीतर कौन है?’ भगवान् ने कहा—‘मैं भिक्षु हूँ ।’ ‘हमारी क्रीड़ा-भूमि में क्यों खड़े हो?’ अप्रीतिकर भूमि जान भगवान् वहाँ से चले जाते । यह उनका उत्तम धर्म है । उन व्यक्तियों के उत्तेजित होने पर भी भगवान् मौन और ध्यान में लीन रहते ।

माष्यम् १२—अन्तरम्—विवरं, शून्यप्रदेशः, गृहस्य गुप्तप्रदेशो वा । अत्र अन्तरे कोऽयं विद्यते ? एवं पृष्ठे भगवान् ‘अहं भिक्षुरस्मि’ इति उक्त्वा मौनं भजते । एवं श्रुत्वा आगन्तुकाः शान्मन्ति तदा भगवता तत्रैव स्थितम् । यदि ते कषायिता अभवन् तदा भगवान् तत् स्थानं परित्यक्तवान् । अयं तस्य उत्तमः धर्मः । स कषायितेऽपि जने ध्यानं भङ्गं न कृतवान् । स्थानत्यागेऽपि ध्यानत्यागो नाभूत् ।<sup>१</sup>

अंतर का अर्थ है—विवर, शून्यप्रदेश अथवा घर का गुप्त-प्रदेश । भीतर कौन है ? ऐसा पूछने पर भगवान् कहते—मैं भिक्षु हूँ । यह कहकर वे मौन हो जाते । यह सुनकर आगन्तुक व्यक्ति शान्त हो जाते तो भगवान् वहीं रह जाते । यदि वे रुष्ट होते तो भगवान् उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र चले जाते । यह उनका उत्तम धर्म था । उन व्यक्तियों के उत्तेजित होने पर भी भगवान् अपने ध्यान को भंग नहीं करते । स्थान का त्याग कर देने पर भी ध्यान का त्याग नहीं होता था ।

१३. जंसिप्येगे पवेयंति, सिसिरे मारुए पवायंते । तंसिप्येगे अणगारा, हिमवाए णिवायमेसंति ॥

सं०—यस्मिन्नप्येके प्रवेयन्ते, शिशिरे मारुते प्रवाति । तस्मिन्नप्येके अणगाराः, हिमवाते निवातमेषयन्ति ।

जिस शिशिर ऋतु में ठंडी हवा चलने पर (अल्प वस्त्र वाले लोग) कांप उठते थे, उस ऋतु में हिमपात होने पर कृद्घ अनगर भी हवा रहित मकान की खोज करते थे ।

१. (क) चूर्णौ अस्य त्रयोऽर्था उपलभ्यन्ते—इह परत्थ य पडिपन्ने, तंजहा—णो इहलोगद्वयाए तवं अणुचिट्ठि-स्सामि, विसयसुहेसु य अपडिन्नी, सब्बप्पमादेसु वा । (आचारांग चूर्णि पृष्ठ ३१६)

(ख) वृत्तो अप्रतिज्ञो नास्य वरनिर्यातनप्रतिज्ञा विद्यत इत्य-प्रतिज्ञः । (आचारांग वृत्ति, पत्र २८०)

२. चूर्णौ वृत्तौ च व्याख्याभेदो दृश्यते—

(क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१६ : अयं अस्मिन् अंतरे अहंसंतगे को एत्थ ? एवं वृत्तोहि अहं भिक्खुत्ति एवं वृत्तेवि रुस्सति, केण तत्र दिन्नं ? किं वा तुमं अहं विहारद्व्याणे चिट्ठिसि ? अबकोसेहिंति वा कम्मारागस्स वा ठाथो सामिएण दिन्नो होज्जा, पच्छा रन्तो भण्णति—को एस ? सामी द्वितो, तुसिणीओ चिट्ठित्ति, तत्थ गिहत्थे ममसं, कसाइते संका य, ते सकसाइते पात्तुं ज्जातिमेव ण भवति, पढमं दाऊणं एत्ताहे रुस्सह, असंकिते चैव ज्जाति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८० : अयमन्तः—मध्ये कोऽत्र व्यवस्थितः ? एवं सङ्केतागता दुश्चारिणः पृच्छन्ति कम्मकरादयो वा, तत्र नित्यवासिनो दुष्प्रणिहित-मानसाः पृच्छन्ति, तत्र चैवं पृच्छतामेषां भगवां-स्तूष्णीभावमेव भजते, क्वचिद्बहुतरदोषापनयनाय जल्पत्यपि, कथमिति दर्शयति—अहं भिक्षुरस्मीति, एवमुक्ते यदि तेऽवधारयन्ति ततस्तिष्ठत्येव, अयाभि-प्रेतार्थव्याघातात् कषायिता मोहान्धाः सत्प्रतेक्षित-यंवं ब्रूयुः, यथा—तूर्णमस्मात्स्थानान्निर्गच्छ, ततो भगवानचियत्तावग्रह इतिकृत्वा निर्गच्छत्येव, यद्विधा न निर्गच्छत्येव भगवान्, किन्तु सोऽयमुत्तमः प्रधानो धम्मं आचार इतिकृत्या स कषायितेऽपि तस्मिन् गृहस्थे तूष्णीभावव्यवस्थितो यद्भविव्यत्तया ध्याय-त्येव न ध्यानात्प्रच्यवते ।<sup>१</sup>

भाष्यम् १३—यद्यपि अनगारपदं गृहत्यागिनां भिक्षुणां वाचकमस्ति तथापि वैशिष्ट्येन जैनमुनीनां प्रसङ्गे प्रयुज्यते। अत्र संभवति भगवतः पार्श्वस्य शिष्यानुद्दिश्य प्रयुक्तम्। अथवा अन्येषां तीर्थिकानां कृतेऽपि प्रयुक्तं स्यात्।

अस्यानुसारी उपदेशः—

सोओसिणच्चाई से निगंधे अरइ-रइ-सहे फरुसियं गो वेदेति।”

यद्यपि ‘अनगार’ पद गृहत्यागी भिक्षुओं का वाचक है, फिर भी यह शब्द विशेषरूप से जैन मुनियों के प्रसंग में प्रयुक्त होता है। संभव है कि यह शब्द भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्यों के उद्देश्य से प्रयुक्त हुआ हो। अथवा यह शब्द अन्यतीर्थिक भिक्षुओं के लिए भी प्रयुक्त हुआ हो।

इसका संवादी उपदेश है—

‘निग्रन्थ सर्दी और गर्मी को सहन करता है। वह संयम में अरति और असंयम में रति को सहन करता है, उनसे विचलित नहीं होता। वह कष्ट का वेदन नहीं करता।’

१४. संघाडिओ पविसिस्सामो, एहा य समादहमाणा। पिहिया वा सक्खामो, अतिदुक्खं हिमग-संफासा।।

सं०—संघाटीः प्रवेक्ष्यामः, एधान् समादहन्तः। पिहिताः वा शक्यामः अतिदुःखं हिमकसंस्पर्शाः।

वे वस्त्रों में लिपट जाने का संकल्प करते थे। कुछ संन्यासी ‘ईंधन जला, किवाड़ों को बन्द कर उस सर्दी को सह सकेंगे’, इस संकल्प से ऐसा करते थे, क्योंकि हिम के स्पर्श को सहन करना बहुत ही कष्टदायी है।

भाष्यम् १४—संघाडिओ—कम्बलादिवस्त्राणि। एघसां समादहनं अन्यतीर्थिकानां कृते, न तु पार्श्वपत्यै-राचीर्णमिदम्। कम्बलादीनां परिधानं, एघसां समादहनं, कपाटयोः पिधानं च कृत्वा गृहस्थैरन्यतीर्थिकैर्वा शीतप्रतिकारः कृतः। तस्यामवस्थायां भगवता हिममये प्रवेशोऽपि उक्तत्रयीं विनापि शीतं सोढम्।

संघाटी का अर्थ है—कंबल आदि वस्त्र। ईंधन जलाने की बात अन्यतीर्थिकों की अपेक्षा से है। भगवान् पार्श्व के शिष्य अग्नि का प्रयोग नहीं करते थे। कंबल आदि वस्त्रों का परिधान पहन कर, ईंधन जलाकर तथा किवाड़ों को बंद कर गृहस्थ अथवा अन्यतीर्थिक भिक्षु सर्दी का प्रतिकार करते थे। उस स्थिति में भगवान् ने हिममय प्रदेश में भी उक्त तीनों साधनों का अवलम्बन नहीं लिया, उन्होंने इन साधनों के बिना भी सर्दी को सहन किया।

१५. तंति भगवं अपडिण्णे, अहे विथडे अहियासए दविए। पिक्खस्म एगदा राओ, चाएइ भगवं समियाए।।

सं०—तस्मिन् भगवान् अप्रतिज्ञः अधोविवृते अधिसहते द्रव्यः। निष्क्रम्य एकदा रात्रौ, शक्नोति भगवान् सम्यक्तया।

उस शिशिर ऋतु में भी भगवान् अप्रतिज्ञ थे—संकल्प रहित थे। वे समरात्र में एकाग्र होकर खुले मंडप में (खड़े-खड़े) सर्दी को सहन करते थे। रात को सर्दी प्रगाढ़ हो जाती, तब भगवान् उस मंडप से बाहर चले जाते। (वहाँ से फिर मंडप में आ जाते और फिर बाहर चले जाते।) इस प्रकार भगवान् सम्यक्तया उसे सहन करने में समर्थ होते।

१. चूर्णा वृत्तौ च अनगारपदेन अन्यतीर्थिकाणां पार्श्व-पत्यानां च ग्रहणमस्ति—

(क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३१७ : तं पि एगा अण्णतित्थिया वसहोओ निवाता करेति, पाउरणाईं फुफुगाईं, उप्फं आहारयं, चुण्णं एत्थं भुञ्जंति, जतिवि कुंचियाविज्जे (छिद्रे) ण शीतं एति तेणेति भणति—दुक्खाविओ, जेवि पासावन्चिज्जा तेवि ण संजमे रमंति।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८१ : ‘एके न सर्वे ‘अनगाराः’ तीर्थिकप्रव्रजिता हिमवाते सति शीतपीडितास्तदपनोदाय पावकं प्रज्वालयन्ति—अङ्गारशकटिकामन्वेषयन्ति, प्रादारादिकं याचन्ते, यदिवासनगरा इतिपार्श्वनाथतीर्थप्रव्रजिता गच्छ-वासिन एव शीतादिता निवातमेघन्ति घञ्जुशाला-

दिका वसतीर्वातायनाविरहिताः प्रार्थयन्ति।’

२. आयारो, ३।७।

३. (क) आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३१७ : वत्थाणि कंबलादि पहिरिस्सामो, पाउणिससामो, समिहातो कट्टाईं, ताईं समादहमाणा गिहत्थअण्णउत्थिय, एवं शीतपडिगारं करेमाणो तहावि दुक्खं शीतं अहियासेइ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८१ : इह संघाटीशब्देन शीता-पनोदक्षमं कल्पद्वयं त्रयं वा गृह्यते, ताः सङ्घाटीः शीतादिता वयं प्रवेक्ष्यामः, एवं शीतादिता अनगारा अपि विदधति, तीर्थिकप्रव्रजितास्त्वेधाः—समिधः काष्ठानोतियावद् एताश्च समादहन्तः शीतस्पर्शं सोढुं शक्यामः, तथा संघाट्या वा पिहिताः—स्थगिताः कम्बलाद्यावृत्तशरीरा इति।

भाष्यम् १५—तस्मिन् शिशिरर्तुकालेऽपि भगवान् अप्रतिज्ञ आसीत्—निवातां वसति न संकल्पितवान् किन्तु स द्रव्यः—रागद्वेषविरहाद् मध्यस्थः सन् अघो-  
विवृते मण्डपे शीतमधिसहते । अथर्थं शीते सति भगवान् निम्ननिर्दिष्टविधिना शीतं सोढवान् । कदाचिद् रात्रौ तस्मात् मण्डपात् निष्क्रम्य मुहूर्त्तं बहिःस्थितवान् पुनश्च मण्डपं प्रविष्टवान् । एवं भगवता सम्यक्तया शीतस्पर्शः अधिसहितः ।<sup>१</sup>

अस्यानुसारी उपदेशः—

‘सीओसिणच्चाई से निगंभे...फहसियं नो वेवेति ।’<sup>२</sup>

उस शिशिर ऋतु में भी भगवान् अप्रतिज्ञ थे—हवा-रहित वसति का संकल्प नहीं किया । किन्तु वे राग-द्वेष से रहित मध्यस्थ होकर खुले मण्डप में सर्दी को सहन करते थे । सर्दी यदि अत्यधिक हो जाती तो भगवान् निम्न निर्दिष्ट विधि से सर्दी को सहन करते थे । कभी रात्री में उस मंडप से निकलकर मुहूर्त्तभर के लिए बाहर खड़े रह जाते, फिर मंडप में आ जाते । इस प्रकार भगवान् ने सर्दी का कष्ट सम्यक्-रूप से सहन किया ।

इसका संवादी उपदेश है—

‘सर्दी और गर्मी को सहन करने वाला निर्ग्रन्थ कष्ट का वेदन नहीं करता ।’

१६. एस विहो अणुक्कंतो, माहणेण सईमया । अपडिष्णण बोरेण, कासवेण महेसिणा ॥ —त्ति बेमि ।

सं०—एष विधिरनुक्कान्तः, माहनेन मतिमता । अप्रतिज्ञेन बोरेण, काश्यपेन महापिणा । —इति ब्रवीमि ।

मतिमान् माहन काश्यपगोत्री महर्षि महावीर ने संकल्प-मुक्त होकर पूर्व प्रतिपादित विधि का आचरण किया ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १६—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

### तइओ उद्देसो : तीसरा उद्देशक

१. तणफासे सीयफासे य, तेउफासे य वंस-मसगे य । अहियासए सया समिए, फासाईं विरुवरुवाइं ॥

सं०—तृणस्पर्शान् शीतस्पर्शान् च, तेजस्स्पर्शान् च दंशमशकान् च । अधिसहते सदा समितः, स्पर्शान् विरुपरूपान् ।

भगवान् (लाढ देश में) घास की चुम्बन, सर्दी, भयंकर गर्मी, डांस और मच्छर का काटना—इन नाना प्रकार के कष्टों को सदा सम्यग् भाव से सहन करते थे ।

भाष्यम् १—इदानीं भगवतो निषद्या तत्र जनिताश्च उपसर्गा निगद्यन्ते । एकदा भगवान् लाढप्रदेशं प्रविष्टवान् । तत्र तृणानां स्पर्शः अतीव कठोरो विद्यते । भगवान् स्थितो निषण्णो वा तृणैः बहुधा विद्धः । तस्मिन् पर्वताकीर्णं प्रदेशे प्रचुरं शीतम् । तस्य स्पर्शोऽपि जातः । तत्र सूर्यातपोऽपि भयंकरो विद्यते । तस्य स्पर्शोऽपि

अब भगवान् की निषद्या तथा वहां उत्पन्न उपसर्गों का कथन किया जा रहा है । एक बार भगवान् लाढ प्रदेश में गए । वहां तृणों का स्पर्श अत्यन्त कठोर था । भगवान् खड़े रहते या बैठते तो बहुत बार तृण उन्हें बीघ डालते । वह प्रदेश पर्वतों से आकीर्ण था । वहां सर्दी की प्रचुरता थी । उस सर्दी का कष्ट भी हुआ । वहां सूर्य का आतप भी भयंकर था । उसका कष्ट भी हुआ । वहां डांस, मच्छर भी

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१७ : अह अचस्थं शीतं ताहे णिक्खमं एगता राओ वसहीओ रातो—राईए मुहूर्त्तं अच्छित्ता पुणो पविसति रासमदिठंतेणं, पुणो य वसति च एति, स हि भगवं समियाए सम्ममणगारे, न भयट्टाए वा सहति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८१ : अघो विकटे अघः—कुड्यादिरहिते छन्नेऽप्युपरि तदभावेऽपि चेति, पुनरपि विशिनष्टि—रागद्वेषविरहाद् द्रव्यभूतः कर्म्मग्रन्थिद्वाव-

णाद् वा द्रवः—संयमः य विद्यते यस्यासौ द्रविकः, स च तथाऽध्यासयन् यद्यत्यन्तं शीतेन बाध्यते ततस्तस्मात् छन्नान्निष्क्रम्य बहिरेकवा—रात्रौ मुहूर्त्तमात्रं स्थित्वा पुनः प्रविश्य स भगवान् शमितया सम्यग्वा समतया वा व्यवस्थितः सन् तं शीतस्पर्शं रासम-दृष्टान्तेन सोढुं शक्नोति—अधिसहत इति ।

२. आचारो, ३१७ ।

सञ्जातः । तत्र प्रचुरा भवन्ति दंशमशका अपि । तेषां प्रचुर होते थे । उनका कष्ट भी भगवान् ने समभाव से सहा ।  
स्पर्शोऽपि समतया सोढवान् ।'

२. अहं दुश्चर-लाढमचारी, वज्रभूमि च सुभ (म्ह ?) भूमि च । पंतं सेज्जं सेविंसु, आसणगाणि चैव पंताइं ।।

सं०—अथ दुश्चरलाढमचारीत्, वज्रभूमि शुभ्रभूमि च । प्रान्तां शय्यामसेविष्ट, आसनकानि चैव प्रान्तानि ।

दुर्गम लाढ देश के वज्रभूमि और सुभ्रभूमि नामक प्रवेशों में भगवान् ने विहार किया । वहाँ उन्होंने कुछ बस्ती और कुछ आसनों का सेवन किया ।

भाष्यम् २—लाढप्रदेशे उपसर्गबहुलत्वात् चरणं दुष्करमासीत्, तेन स दुश्चरः प्रोक्तः । भगवान् अष्टमं वर्षावासं राजगृहे कृतवान् । ततो विहारं कृत्वा वज्रभूमौ गतवान् । अनेन ज्ञायते साधनाकालस्य नवमे वर्षे अनार्य-देशे भगवतो विहारः जातः ।

तत्र भगवान् षण्मासावधि तस्थिवान् इति चूर्णि-निर्देशः ।<sup>३</sup> आवश्यकचूर्णनुसारेण ज्ञायते भगवान् अनार्य-देशात् प्रथमशरदि—आश्विनमासे निष्क्रमणं कृतवान् ।<sup>४</sup>

भगवान् नवमं चतुर्मासं वज्रभूमौ कृतवानिति प्रतीयते । पर्युषणाकल्पे 'एगं पणियभूमौ' इति निर्देशो दृश्यते ।<sup>५</sup>

'पंतं' तुच्छार्थे देशीपदं, प्रान्तं प्रान्त्यं वा । प्रान्ता शय्या-शून्यागारादयः, प्रान्तानि आसनानि - पांस्वादिनोपलि-प्तानि ।<sup>६</sup>

लाढ प्रदेश उपसर्गबहुल था । वहाँ विचरण करना दुष्कर होता था । इसलिए वह प्रदेश दुश्चर कहलाता था । भगवान् ने आठवां चातुर्मास राजगृह में बिताया । वहाँ से विहार कर वे वज्रभूमि गए । इससे ज्ञात होता है कि साधनाकाल के नौवें वर्ष में भगवान् का विहार अनार्य-देश में हुआ ।

चूर्णिकार के अनुसार वे वहाँ छह महीने तक रहे । आवश्यक चूर्ण के अनुसार यह ज्ञात होता है कि भगवान् ने अनार्य देश से आश्विन मास में निष्क्रमण किया था ।

भगवान् ने नौवां चातुर्मास वज्रभूमि में किया था, ऐसा प्रतीत होता है । पर्युषणाकल्प में 'एगं पणियभूमौ' ऐसा निर्देश है ।

'पंतं' (प्रान्त अथवा प्रान्त्य) देशी शब्द है । इसका अर्थ है तुच्छ । प्रान्त शय्या अर्थात् शून्यगृह आदि । प्रान्त आसन अर्थात् वसं स्थान जो मिट्टी से लिपे-पुते हों ।

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१७-३१८ : 'तत्थ पहुंजय-मादी तणा लगंडसीतफासेण ठितं विधत्ति, णिसन्नं वा कडगकिसासरदग्भादि, सीतं पुण पठवथाइन्नदेसे अत्तीव पडति, तेउत्ति उण्हंति, आतावणभूमौ जं व हात्तदाभाए अग्गिमेव आसी, उल्लुएण वा कोइ, वंसमसगा य जलोयाओ एवमादि उवसगे अहियासए ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८१ : तूणानां ... कृशादीनां स्पर्शास्तिणस्पर्शाः तथा शीतस्पर्शाः तथा तेजःस्पर्शा—उष्णस्पर्शाश्चःतापनादिकाले आसन्, यद्विवा गच्छतः किल भगवतस्तेजःकाय एवासीत्, तथा दंश-मशकादयश्च ।

(ग) भगवान् साधना-काल में लाढ देश (पश्चिम बंगाल के तमलुक, मिदनापुर, हुगली तथा बर्द्धमान जिले का हिस्सा) में गए थे । उस प्रदेश में घास बहुत होती थी । इसलिए बार-बार उसके चुभन के प्रसंग आते । वह प्रदेश पर्वतों से आकीर्ण था । इसलिए वहाँ सर्दों बहुत पड़ती थी ।

ग्रीष्म में भगवान् सूर्य के आतप को सहन करते थे ।

हालदुग में भगवान् को अग्नि का स्पर्श सहना पड़ा । लाढ प्रदेश में डांस, मच्छर, जलका आदि जीव-जन्तु भी बहुत थे । भगवान् इन सब स्थितियों को जानते हुए भी समभाव की कसौटी के लिए वहाँ गए थे ।

२. आवश्यकचूर्णि पूर्वभाग, पृष्ठ २९६ : ततो विहरंता रायगिहं गता । तत्थ अट्टमं वासारत्तं । .....ताहे लाढा वज्रभूमि सुभ्रभूमि च वच्चति ।

३. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१९ : एवं तत्थ छम्मासे अचिच्छतो भगवं ।

४. आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग, पृष्ठ २९७ : ततो निग्गाया पढम-सरयवे, सिद्धत्थपुरं गता, सिद्धत्थपुराओ य कुंभागामं संपत्थिया ।

५. वज्जोसवणाकप्पो, सूत्र ८३ ।

६. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१८ : पंताओ णाम मुन्ना-गारादीओ, सडियपडियभग्गालग्गाओ, आसणाणि पंताणि पंसुकरीससक्करालीट्ठुगाविउवच्चिन्नाणि, कट्टासणा वा णिच्चलाणि फलहपट्टयादीहि ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८१-२८२ : तत्र च प्रान्तां

३. लाढेहि तस्सुवसग्गा, बहवे जाणवया लूसिसु । अह लूहदेसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिसु णिवत्तिसु ॥

सं०—लाढेपु तस्योपसर्गाः, बहवो जानपदाः अलोषिषुः । अय रूक्षदेश्यं भक्तं, कुक्कुराः तत्रार्सिहसिषुः न्यपन्तन् ।

लाढ के जनपदों में भगवान् ने अनेक उपसर्गों का सामना किया । उन जनपदों के लोगों ने भगवान् पर अनेक प्रहार किए । वहाँ का भोजन प्रायः रूखा था । कुत्ते भगवान् को काट खाते और आक्रमण करते ।

भाष्यम् ३—जानपदाः—जनपदे भवाः जानपदाः ।  
तैर्भगवान् काष्ठमुष्टिप्रहारादिभिर्लूषितः ।<sup>२</sup> तत्र प्रदेशे  
भक्तं रूक्षदेश्यं—रूक्षकल्पं, प्रायो घृतादिविर्जितमासीत् ।<sup>३</sup>  
तेन तत्रत्याः लोकाः अत्यन्तं क्रोधपरायणाः अभवन् ।<sup>४</sup>  
तेनायमुपद्रवो जातः । तत्रत्यानां शुनामपि परीषहः  
समुपजनितः ।<sup>५</sup>

जानपद का अर्थ है—जनपद में होने वाले अर्थात् नागरिक ।  
लाढ देश के लोगों ने भगवान् पर काष्ठ, मुट्टी आदि से प्रहार किए ।  
उस प्रदेश में भोजन प्रायः रूखा, घी आदि से रहित होता था ।  
इसलिए वहाँ के लोग अत्यंत क्रोधी होते थे । इसलिए यह उपद्रव  
हुआ । वहाँ के कुत्तों का परीषह भी भगवान् को सहना पड़ा ।

४. अप्पे जणे णिवारेइ, लूसणए सुणए दसमाणे । छुछुकारंति आहंसु, समणं कुक्कुरा उस्तुत्ति ।

सं०—अल्पः जनः निवारयति, लूषनकान् शुनकान् दशतः । छुछुकारयन्ति आहुः श्रमणं कुक्कुराः दशन्तु इति ।

वहाँ कुत्ते काटने आते या भौंकते, तब कोई-कोई व्यक्ति उन्हें रोकता, किंतु बहुत सारे लोग श्रमण को कुत्ते काट खाएँ इस भावना से 'छू-छू' कर कुत्तों को बुलाते और भगवान् के पीछे लगाते ।

'शय्यां' वसति शून्यगृहादिकामनेकोपद्रवोपद्रुतां  
सेवितवान्, तथा प्रान्तानि चासतानि—पांशूत्कर-  
शर्करालोष्टाद्युपचितानि च काष्ठानि च बुर्घटितान्या-  
सेवितवानिति ।

१. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१८ : जणवते भवा जाणपदा,  
यदुक्तं भवति—अणगरजणवओ पायं सो विसओ, ण  
तत्थ नगरादीणि संति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८२ : जनपदे भवा जानपदाः—  
अनार्थाऽऽचारिणो लोकाः ते भगवन्तं लूषितवन्तो—  
वन्तमक्षणोल्लुफकदण्डप्रहारादिभिर्जिहिंसुः ।

२. आचारांग चूर्णि पृष्ठ ३१८ : लूसणोह सो कट्टमुट्टिप्पहारा-  
दीर्णाहि अणेगेहि य लूसंति, एगे आहु—इतोहि खायंतेत्ति ।

३. (क) चूर्णिकारेण (पृष्ठ ३१८) रूक्षमरुदेश इति व्याख्यातम्—  
तद्देसे पाएण रूखाहारा तैलघृतविर्जिता रूक्षा,  
भक्तदेस इति वत्तध्वे बंधाणुलोमओ उदक्कमकरणं ।  
छन्दोवृष्ट्या लूहदेसिए भत्ते इति सूत्रितं  
सूत्रकारेण—अह लूहदेसिए भत्ते—

(ख) वृत्तिकारेण (पत्र २८२) रूक्षदेश्यं भक्तमिति  
व्याख्यातम्—अयशब्दोऽपिशब्दार्थे, स चंचं द्रष्टव्यः,  
भक्तमपि तत्र रूक्षदेश्यं रूक्षकल्पमन्तप्रान्तमिति-  
यावत् ।

४. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१८ : 'णेह गोवांगरससीरहिणि,  
रूक्षं गोवालहलवाहादीणं सीतकूरो, आमतेऊणं अबिलेण  
अलोणेण एए विञ्जंति मज्झन्हे लुक्खएहिं, भाससहाएहिं तं  
पिणाति प्रकामं, ण तत्थ तिला संति, ण गावीतो बहुगीतो,  
कप्पासो वा, तणपाउरणतो ते, पदक्खाहारत्ता अतीव

कोहणा, दस्सिता अवकोसावी य उवसग्गे करंति ।'

५. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३१८ : 'तत्थ बहवे, कुक्कुरादी  
हिंसंतीति हिंसिसु णिवत्तिसु सव्वओ तं निविसयंति,  
मट्टारगस्स य नत्थि बंडउत्ति जेण ते पुण पवारेहिंति,  
ते एयं णिब्भया मुक्खिया णिवत्तंता ।'

(ख) लाढ प्रदेश पर्वतों और बीहड़ जंगलों के कारण बहुत  
दुर्गम था, फिर भी भगवान् वहाँ गए । वहाँ भगवान् को  
रहने के लिए प्रायः सुने और टूटे-फूटे घर मिले । उन्हें  
बैठने के लिए काष्ठासन, फलक और पट्ट मिले । वे भी  
घृत, उपले और मिट्टी से सने हुए थे, फिर भी भगवान् के  
समभाव में कोई अन्तर नहीं आया ।

लाढ प्रदेश के वज्र और सुन्ह प्रदेशों में प्रायः नगर नहीं  
थे । वहाँ तिल नहीं होते थे, गाएँ भी बहुत कम थीं,  
इसलिए तेल और घृत सुलभ नहीं थे । फलतः वहाँ के  
निवासी रूखा भोजन करते थे । रूखा आहार करने के  
कारण वे बहुत क्रोधी थे, बात-बात में रुष्ट होना, गाली  
देना, प्रहार करना—उनके लिए सहज था । वे घास के  
द्वारा शरीर का प्रावरण करते थे ।

भगवान् मध्याह्न में भोजन लेते थे । वहाँ उन्हें ठंडे  
चावल (पानी में भिगोकर रखे हुए) और उड़द की दाल  
मिलती थी, अम्स-रस मिलता था, नमक नहीं ।

वहाँ कुत्ते बहुत खूंखार होते थे । वहाँ के निवासी कुत्तों  
से बचाव करने के लिए लाठी और डंडे रखते थे । भगवान्  
के पास न कोई लाठी थी और न कोई डंडा । इसलिए  
कुत्तों को आक्रमण करने में कोई रुकावट नहीं होती थी ।

भाष्यम् ४—अल्पः—स्तोकः कश्चिदेको वा ।<sup>१</sup> आहंसु—  
आहुः ।<sup>१</sup>

अल्प का अर्थ है—थोड़ा अथवा कोई एक । आहंसु अर्थात्  
बुलाना ।

५. एलिक्खए जणे मज्जो, बह्वे वज्जभूमि फरसासी । लट्ठि गहाय णालीयं, समणा तत्थ एव विहरिसु ॥

सं०—ईदृक्षे जने भूयो, बहवः वज्जभूमौ परुषाशिनः । यष्टिं गृहीत्वा नालिकां, श्रमणाः तत्र एव व्यहार्षुः ।

भगवान् ने ऐसे जनपद में (बार-बार) विहार किया । वज्जभूमि के बहुत लोग रुक्षभोजी होने के कारण कठोर स्वभाव वाले थे ।  
उस जनपद में कुछ श्रमण लाठी और नालिका पास में रखकर विहार करते थे ।

भाष्यम् ५—भगवान् ईदृक्षे जने भूयः—पुनः पुनः  
विहृतवान् । तत्र वज्जभूमौ बहवो लोकाः परुषाशिनः—  
रुक्षभोजिनः आसन् । अत एव ते अत्यन्तं क्रोधना  
अभवन् । तत्र श्रमणाः यष्टिं नालिकां वा गृहीत्वा  
व्यहार्षुः । किन्तु भगवान् अयष्टिकः अनालिकः एवा-  
सीत् ।<sup>३</sup>

भगवान् ने ऐसे जनपद में बार-बार विहरण किया । उस  
वज्जभूमि में अधिकतर लोग रुक्षभोजी थे, इसीलिए वे अत्यंत क्रोधी  
होते थे । वहां श्रमण हाथ में लाठी (शरीर-प्रमाण) या नालिका  
(शरीर से चार अंगुल बड़ी) लेकर विहार करते थे । किन्तु भगवान्  
के पास न लाठी थी और न नालिका ।

६. एवं पि तत्थ विहरंता, पुट्ठपुठ्ठा अहेसि सुणएहि । संलुच्चमाणा सुणएहि, दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहि ॥

सं०—एवमपि तत्र विहरन्तः, स्पृष्टपूर्वाः अथासन् शुनकैः । संलुच्चमानाः शुनकैः, दुश्चरकाणि तत्र लाढेषु ।

इस प्रकार वहां विहार करने वाले श्रमणों को भी कुत्ते काट खाते और नोंच डालते । लाढ देश के गांवों में विहार करना सचमुच  
कठिन था ।

भाष्यम् ६—दुश्चरकाणि ग्रामादीनि इति 'दुश्चरक' के साथ ग्राम आदि का अध्याहार कर लेना चाहिए ।  
अध्याहार्यम् ।

७. निघाय वंडं पाणेहि, तं कायं बोसज्जमणगारे । अह गामकंटए भगवं, ते अहियासए अभिसमेच्चा ॥

सं०—निघाय वण्डं प्राणेषु, तं कायं व्युत्सृज्यानगारः । अथ ग्रामकण्टकान् भगवान्, तानघिसहते अभिसमेत्य ।

भगवान् प्राणियों के प्रति होने वाले वण्ड (हिंसा) का परित्याग और अपने शरीर का विसर्जन कर लाढ प्रदेश में विहार कर रहे  
थे । वहां भगवान् तीखे वचनों को सहन करते थे ।

भाष्यम् ७ निघाय—निक्षिप्य । ग्रामकण्टकाः—श्रोत्रा-  
दीन्द्रियग्रामकण्टकाः । अभिसमेत्य इति लाढविषयं प्राप्य ।  
भगवान् तत्र वज्जभूमौ कायव्युत्सर्गप्रयोगमाचीर्णवान् ।  
मानुषान् तैरश्चांश्च उपसर्गान् अधिसोढवान् । दंडप्रयोगं  
निक्षिप्तवान्—'शुनो निवारय' इत्यपि नोक्तवान् ।<sup>५</sup>

निघाय का अर्थ है—परिहार करके । ग्रामकण्टक अर्थात् श्रोत्र  
आदि इन्द्रियों के लिए कांटे की तरह चुभने वाले विषय । अभिसमेत्य  
अर्थात् लाढ देश को प्राप्त कर । भगवान् ने वज्जभूमि में काय-व्युत्सर्ग  
का प्रयोग किया और मनुष्यकृत तथा तिर्यञ्चकृत उपसर्गों को सहा ।  
उन्होंने वण्ड का प्रयोग भी नहीं किया—'कुत्तों का निवारण करो'—  
यह भी किसी से नहीं कहा ।

१. आचारंग वृत्ति, पत्र २८२ : अल्पः स्तोकः स जनो यदि  
परं सहस्राणामेको यदिवा नास्त्येवासाविति यस्तान् शुनो  
लूषकान् दशतो 'निवारयति' निषेधयति ।

२. चूर्णो वृत्तौ च अत्र 'हन्' धातुपदं व्याख्यातमस्ति—

(क) आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ३१८-३१९ : आहंसुत्ति आह-  
णेत्ता केति चोरं चारियंति च मणमाणा, केइ  
पदेसणेण ।

(ख) आचारंग वृत्ति, पत्र २८२ : अपि तु वण्डप्रहारा-  
दिभिर्भगवन्तं हत्वा ।

३. आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ३१९ : वंडो सरीरप्पमाणा ऊणो  
लट्ठो सरीरप्पमाणा वूरत्तर एवाधरति, नालिया चउरंगुल-  
अतिरिस्ता ।

४. (क) आचारंग चूर्ण, पृष्ठ ३१९ : 'णिघायेति निक्षिप्य,  
डंडं ण मणति सुणए वारेहि, उवाएण डवति, मण-  
सावि ते णावकंखति, सो एवं विहरमाणो अवि  
गामकंटए भगवं गामकंटगा सोतादिइदियगाम-  
कंटगा, जं मणितं होति—चउग्विहा उवसगा,  
लाढेसु पुण माणुसतिरिच्छिएसु अहिगारो, तेरिच्छगा

८. नाभो संगमस्रोसे वा, पारए तस्थ से महावीरे । एवं पि तस्थ लाढेहि, अलद्धपुठ्वो वि एगया गामो ॥

सं०—नामः संगमशीर्षे वा, पारगः तत्र स महावीरः । एवमपि तत्र लाढेषु, अलब्धपूर्वोऽपि एकदा ग्रामः ।

जैसे हाथी संग्राम-शीर्ष में शस्त्र से विद्ध होने पर भी खिन्न नहीं होता, किन्तु युद्ध का पार पा जाता है, वैसे ही भगवान् महावीर ने साठ प्रवेशों में परीषहों का पार पा लिया । उन्हें वहाँ कभी-कभी ग्राम नहीं मिला, निवास के लिए स्थान भी नहीं मिला ।

भाष्यम् ८—यथा कृतयोगी हस्ती बाणादिभिर्विद्धोपि नावसीदति, किन्तु युद्धस्य पारं गच्छति ।<sup>१</sup> एवं भगवान् कृतयोगत्वात् कायव्युत्सर्गप्रयोगस्य पारं प्रगतः ।

जैसे कृतयोगी—कवच से सन्नद्ध हाथी बाण आदि शस्त्रों से विद्ध होने पर भी खिन्न नहीं होता, किन्तु युद्ध का पार पा जाता है, वैसे ही भगवान् भी योग में निष्णात होने के कारण काय-व्युत्सर्ग के प्रयोग का पार पा गए ।

एकदा भगवान् ग्रामं तात्पर्यार्थं निवासं न लब्धवान् तथापि न विचलनमभूत् ।<sup>२</sup>

एकवार भगवान् को गांव अर्थात् निवासस्थान नहीं मिला फिर भी भगवान् उस स्थिति से विचलित नहीं हुए ।

९. उवसंकमंतमपडिण्णं, गामंतियं पि अप्पत्तं । पडिणिक्खमित्तु लूसिसु, एत्तो परं पलेहिति ॥

सं०—उपसंक्रामन्तमप्रतिज्ञं ग्रामान्तिकमपि अप्राप्तम् । प्रतिनिष्क्रम्य अलूलुषन्, इतो परं प्रतिलिख इति ।

भगवान् नियत वास और नियत आहार का संकल्प नहीं करते थे । वे प्रयोजन होने पर निवास या आहार के लिए गांव में जाते । उसके भीतर प्रवेश से पूर्व ही कुछ लोग उन्हें रोक देते, प्रहार करते और कहते—यहाँ से आगे कोई दूसरा स्थान देखो ।

भाष्यम् ९—भिक्षायै वसतिनिमित्तं वा ग्रामं उपसं-  
क्रामन्तं अप्रतिज्ञं—नियतवासं नियतमाहारं चासंकल्प-  
मानं भगवन्तं ग्रामान्तिकं—ग्राममप्राप्तमपि ग्रामवासिनः  
अलूलुषन्—ताडनां तर्जनां प्रहारं वा अकार्षुः ।  
अवादिषुः—हे नग्नभिक्षो ! किमस्माकं ग्रामं प्रविशसि ?<sup>३</sup>  
त्वं अतः परं प्रतिलिख इति ।<sup>४</sup>

भगवान् भिक्षा या आवास के लिए गांव में जाते, किन्तु नियत वास और नियत आहार का संकल्प नहीं करते । भगवान् गांव के पास पहुंचते, किन्तु भीतर प्रवेश करने से पूर्व ही गांववासी लोग ताड़ना, तर्जना और प्रहार करते और कहते—हे नग्नभिक्षो ! हमारे गांव में क्यों प्रवेश कर रहे हो ! तुम यहाँ से आगे किसी दूसरे गांव को देखो ।

१०. ह्यपुठ्वो तत्थ वंडेण, अदुवा मुट्ठिणा अदु कुन्ताइ-फलेणं । अदु लेलुणा कवालेंगं, हंता हंता बह्वे कंदिसु ॥

सं०—हतपूर्वः तत्र दण्डेन, अथवा मुष्टिना 'अदु' कुन्तादिफलेन । 'अदु' लेष्टुना कपालेन, हत्वा हत्वा बहवः अक्रन्दिषुः ।

वहाँ कुछ लोग डण्ड, मुष्टि, माला आदि शस्त्र, चपेटा, मिट्टी के ढंसे और कपाल (खप्पर) से भगवान् पर प्रहार कर खुरी से चिल्लाते ।

सुषमादयो, माञ्जुस्सगावि ते अणारिया पायं आहणंति,  
अमिसमेच्चत्ति तं लाढविसयं, यदुक्तं भवति—प्राप्य ।<sup>१</sup>

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८२ : 'णिघाय—त्यक्त्वा ।

(ग) वण्ड के तीन प्रकार हैं—मन-वण्ड, बाणी-वण्ड और शरीर-वण्ड । भगवान् कष्ट देने वाले जीव-जन्तुओं व प्राणियों का स्वयं निवारण नहीं करते थे, उनका निवारण करने के लिए दूसरों से नहीं कहते थे, उनके निवारण के लिए मानसिक संकल्प भी नहीं करते थे । वे मन, बचन और शरीर—तीनों को आत्मस्वीन रखते थे ।

१. आचारांग वृत्ति, पृष्ठ ३१९ : सो हि अगतो ठितो दूरस्थेहि  
चेव उसुमावीहि विज्जति, समीवत्थेहि य अस्सिमावीहि य,

सो य कृतयोगता तह हण्णमाणोऽपि ण सीतति, पारमेव  
गच्छति ।

२. वही, पृष्ठ ३१९-३२० : एगया क्वायि, गामि पविट्ठेण  
णिवासो ण लद्धपुठ्वो, जेण उवस्सतो ण लद्धो तेण गामो ण  
लद्धो चेव भवति ।

३. वही, पृष्ठ ३२० : णग्गा सुमं किं अम्हं गामं पविससि ?

४. (क) आचारांग वृत्ति पृष्ठ ३२० : एत्तो परं पलेहेति—  
एत्तो चेव परेण लेहेति ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८३ : 'पर्येहि' गच्छेति ।

(ग) भगवान् निर्बस्त्र थे । साठवासी लोगों को यह नग्नता पसन्द नहीं थी । इसलिए वे भगवान् के प्राप्त-प्रवेश को पसंद नहीं करते थे ।

भाष्यम् १०—तत्र भगवान् दण्डादिभिः हतपूर्वं आसीत् । कुन्तादिकलम्—कुन्तादिना फलेन च । लोकाः भगवन्तं दण्डादिभिर्हृत्वा हत्वा चक्रन्दुः ।<sup>३</sup>

वहाँ भगवान् ने साठी आदि के प्रहार सहन किए । कुन्तादिकलम् का अर्थ है—भाला आदि शस्त्र तथा चपेटा । इनके प्रहारों को भी भगवान् ने सहा । बहुत सारे लोग भगवान् पर साठी आदि का प्रहार कर (खुशी से) चिल्लाते ।

११. मांसानि छिन्नपूर्वाणि, उद्धुभन्ति एगयाइं कायं । परोसहाइं लुंचिसु, अहवा पंसुणा अवकिरिसु ॥

सं०—मांसानि छिन्नपूर्वाणि, अवच्छीवन्ति एकदा कायम् । परीषहान् अलुञ्चिषुः, अथवा पांसुना अवाकारिषुः ।

कुछ लोग मांस काट लेते । कभी-कभी शरीर पर थूक देते, प्रतिकूल परीषह देते और कभी-कभी उन पर धूल डाल देते ।

भाष्यम् ११—केचिज्जनाः भगवतो मांसमपि छिन्दन्ति, केचित् शरीरे अवच्छीवन्ति, केचित् परीषहान्—नानाविधानि कष्टानि अलुञ्चिषुः, केचिच्च पांसोरवकीर्णमकार्षुः । तथापि भगवान् अविचलः आसीत्, कायव्युत्सर्गप्रयोगः उत्तरोत्तरं विकासमासादयत् ।

कुछ लोग भगवान् के शरीर से मांस भी काट लेते । कुछ लोग शरीर पर थूक भी देते, कुछ लोग उन्हें नाना प्रकार से कष्ट देते और कुछ लोग भगवान् पर धूल उछालते । फिर भी भगवान् अविचल रहते । उनका काय-व्युत्सर्ग का प्रयोग उत्तरोत्तर विकसित हो रहा था ।

१२. उच्चालइय णिहणिसु, अदुवा आसणाओ खलइंसु । वोसट्टुकाए पणयासी, दुखसहे भगवं अपडिण्णे ॥

सं०—उच्चाल्य न्यवधिषुः, अथवा आसनादचिस्वलन् । व्युत्सृष्टकायः प्रणतः आसीत्, दुःखसहः भगवान् अप्रतिज्ञः ।

कुछ लोग ध्यान में स्थित भगवान् को ऊंचा उठाकर नीचे गिरा देते । कुछ लोग आसन से स्खलित कर देते । किन्तु भगवान् शरीर का विसर्जन किए हुए, आत्मा के लिए समर्पित, कष्ट-सहिष्णु और सुख-प्राप्ति के संकल्प से मुक्त थे । अतएव उनका समभाव विचलित नहीं होता था ।

भाष्यम् १२—केचिज्जना ध्यानस्थितं भगवन्तं ऊर्ध्व-मुत्क्षिप्य भूमौ निहतवन्तः । केचित् आसनात् स्खलितवन्तः । भगवान् व्युत्सृष्टकायः आत्मानं प्रति प्रणत आसीत्, तेन सर्वान् दुःखकरान् उपसर्गान् अधिसोढवान् ।

कुछ लोग ध्यान में अवस्थित भगवान् को ऊंचा उठाकर नीचे भूमि पर गिरा देते थे । कुछ लोग भगवान् को आसन से स्खलित कर देते । भगवान् शरीर का विसर्जन किए हुए थे, वे आत्मा के प्रति समर्पित थे, इसलिए उन्होंने इन अत्यन्त कष्टदायी सभी उपसर्गों को समभाव से सहा ।

१३. सूरौ संगामसीसे वा, संवुडे तत्थ से महावीरे । पडिसेवमाणे फरसाइं, अचले भगवं रीइत्था ॥

सं०—शूरः संग्रामशीर्षे वा, संवृतः तत्र स महावीरः । प्रतिसेवमानः परुषान्, अचलः भगवान् अरंषीत् ।

जैसे कवच पहना हुआ योद्धा संग्राम-शीर्ष में विचलित नहीं होता, वैसे ही संघर का कवच पहने हुए भगवान् महावीर कष्टों को झेलते हुए ध्यान से विचलित नहीं होते थे । वे अविचलित भाव से घूमते रहे ।

१. एतत् समस्तपदं विभाव्यते । आचारांगचूर्णो (पृष्ठ ३२०) फलपदं चपेटार्थं व्याख्यातमस्ति—फलमिति चपेटा ।

उत्तराध्ययनचूर्णो (पृष्ठ २०७) तु फलं पाष्णिगक प्रहारार्थं विद्यते—फलं तु पाष्णिघातः ।

आचारांगवृत्तो (पत्र २८३) 'कुन्तादिकलेन' इत्येव खभ्यते ।

२. हन्त ! हन्त ! इत्यपि व्याख्यातुं शक्यते ।

३. आचारांग वृत्ति, पत्र २८३ : 'चक्रन्दुः—पश्यत यूयं किभूतोऽयमित्येवं कलकलं चक्रुः ।'

४. अत्र वृत्तिकारेण (पत्र २८३) 'कायमवष्टम्भ्य' इति व्याख्यातम् । किन्तु व्याकरणवृष्ट्या एतद् विमशंमर्हति ।

'उद्धुभं' पदं ष्ठीवनार्थं 'औपपातिके' अपि दृश्यते—'अविट्टुहए' (सूत्र ३६) । चूर्णावपि अवच्छीवनार्थं एव एतद् व्याख्यातमस्ति 'केयि भूभातेणं उद्धुभन्ति युक्कारितिय । (आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३२०)

५. आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३२० : पंसुणाइ कयाइ व करेसु, धूलिए वा छारेण वा भरेंति, तथावि भगवन्तो अच्छीवि ण णिमल्लिति ।

६. वही, पृष्ठ ३२० : केइ आसणातो खलयन्ति आयावणभूमितो वा, जत्थ वा अन्नत्थ ठिओ णिसण्णे वा, केति पुण एवं वेवमाणो हणेत्ता आसणातो वा खलित्ता पच्छा पाएसु पडित्तुं खमिन्ति ।



भाष्यम् १३—संवरपरिणामेन संवृतो भगवान् संवर के परिणामों से संवृत भगवान् कष्टों को सहते हुए, परुषान् प्रतिसेवमानः ध्यानात् न चलितोऽभूत् । स ध्यान से कभी विचलित नहीं हुए । वे अचल ही रहे । अचल एव आसीत् ।<sup>१</sup>

१४. एस विही अणुक्कंतो, माहणेण मईमया । अपडिण्णेण वीरेण, कासवेण महेसिणा ॥ —त्ति वेमि ।

सं०—एष विधिरनुक्रान्तः माहनेन मतिमता । अप्रतिज्ञेन वीरेण, काश्यपेन महर्षिणा । —इति ब्रवीमि ।

मतिमान् माहन काश्यपयोत्री महर्षि महावीर ने संकल्प-मुक्त होकर पूर्व प्रतिपादित विधि का आचरण किया ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १४—स्पष्टम् ।

स्पष्ट है ।

### चउत्थो उद्देशो : चौथा उद्देशक

१. ओमोदरियं चाएति, अपुट्ठे वि भगवं रोगोहं । पुट्ठे वा से अपुट्ठे वा, णो से सातिज्जति तेइच्छं ॥

सं०—अवमोदर्यं शक्नोति, अस्यूष्टोऽपि भगवान् रोगैः । स्पृष्टो वा सोऽस्पृष्टो वा, नो स स्वादयति चैकित्स्यम् ।

भगवान् रोग से अस्यूष्ट होने पर भी अवमोदर्यं (अल्पाहार) करते थे । वे रोग से स्पृष्ट या अस्यूष्ट होने पर चिकित्सा का अनुमोदन नहीं करते थे ।

भाष्यम् १—भगवान् रोगैरस्पृष्टोऽपि अवमोदर्यं कृतवान् । बुभुक्षायाः परीषहः सोढुं अतीव दुःशकोऽस्ति तथापि भगवान् अत्यन्तपराक्रममुपयुञ्जानः अतिप्रमाण-भोजित्वं वर्जितवान् ।<sup>२</sup>

भगवान् रोगों से अस्यूष्ट होने पर भी अवमोदर्यं करते थे । भूख के परीषह को सहना अतीव दुष्कर है । फिर भी भगवान् अत्यन्त पराक्रम का उपयोग कर प्रमाणातिरिक्त भोजन का वर्जन करते थे ।

भगवान् धातुक्षोभजनितैः रोगैः स्पृष्टो न भवति इति पारम्पर्यम् । आगन्तुकैः रोगैः स्पृष्टो भवत्यपि, तेनोक्तं स रोगैरस्पृष्टः स्पृष्टो वा चैकित्स्यं नाभिलषति, न च परं कुर्वाणमनुमोदते ।<sup>३</sup>

भगवान् या तीर्थंकर धातुओं के क्षोभ से उत्पन्न होने वाले रोगों से स्पृष्ट नहीं होते । यह परम्परागत तथ्य है । वे आगंतुक रोगों से स्पृष्ट होते भी हैं, इसलिए कहा है कि वे रोगों से अस्यूष्ट या स्पृष्ट होने पर चिकित्सा की चाह नहीं करते और करने वाले दूसरे का अनुमोदन भी नहीं करते ।

१. साठ देश के निवासियों में कुछ लोग भद्र प्रकृति के थे । कुछ लोग सहसा—सोचे समझे बिना काम करने वाले थे । वे भगवान् को आसन से स्थलित कर बैठे, किन्तु ऐसा करने पर भगवान् दृष्ट नहीं होते । भगवान् के समभाव को देखकर उनका मानस बदल जाता और वे भगवान् के पास आकर अपने अशिष्ट आचरण के लिए क्षमा-याचना करते । जो क्रूर चित्त वाले थे उनका हृदय-परिवर्तन नहीं होता था ।

(ख) अल्पाहार करना सरल कार्य नहीं है । साधारणतया मनुष्य बहुभोजी होते हैं । वे जब रोग से घिर जाते हैं, तब उससे छुटकारा पाने के लिए अल्पाहार करते हैं । भगवान् के शरीर में कोई रोग नहीं था, फिर भी वे साधना की दृष्टि से सर्प की भांति अल्पाहार करते थे ।

२. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३२१ : वातातिएहि रोगेहि अपुट्ठोवि ओमोदरियं कृतवान्, लोगो तु अतो पुट्ठो रोगेहि भवति ततो पडिक्कारणनिमित्तं ओमं करेति, भगवं पुण अपुट्ठो वातावीएहि ओमोदरियं चाएति, सुभुजंगं वा जहा आहारेति ।

३. (क) आचारांग चूर्णि, पृष्ठ ३२१ : आह किमितमेगंतो रोगेहि ण सो फुसिज्जति ? भण्णति - धातुक्खोभि-तेहि ण फुसिज्जति, जइ कोवा कडं सलागं पवेसए तहा, तह (हत) पुण्वो दंढेणं, अतो वुच्चति - पुट्ठे व से अपुट्ठे वा पुट्ठे वा, पुट्ठे तेहि आगंतुएहि णो सत्तं स करेति, जेवि अण्णो करेति तंपि ण च करेतुत्ति साइज्जइ ।

अचिकित्सा कायव्युत्सर्गस्य प्रयोग एव । यथा यथा अन्तरात्मनि अनुप्रवेशो भवति तथा तथा चिकित्सायाः भावः अपगतो भवति । केचित् रोगैरस्पृष्टा अपि बल-वीर्यकान्त्याद्यभिवर्धनार्थं 'रोगसंभावनानिवारणार्थमपि च आयुर्वेदोक्तां पञ्चकर्मस्वरूपां चिकित्सां कुर्वन्ति ।' भगवान् तामपि वर्जितवान् ।

अस्यानुसारी उपदेशः—

'लद्धे आहारे अणगारे भायं आणोज्जा ।'<sup>१३</sup>

'एते रोगे बहू णच्चा, आउरा परितावए ।'<sup>१४</sup>

'गालं पास ।'<sup>१५</sup>

'अलं तवेएहि ।'<sup>१६</sup>

'एयं पास मुणी ! महम्मयं ।'<sup>१७</sup>

'जातिवाएज्ज कंचणं ।'<sup>१८</sup>

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २८४ : भगवतो हि न प्राकृत-स्येव देहजाः कासश्वासाद्यो भवन्ति, आगन्तुकास्तु गस्त्रप्रहारजा भवेयुः, इत्येतदेव दर्शयति—स च भगवान् स्पृष्टो वा श्वभणादिभिः अस्पृष्टो वा कासश्वासादिभिर्नासौ चिकित्सामभिलषति, न ब्रह्मयौषधाद्युपयोगतः धीडोपशमं प्रार्थयतीति ।

१. आयुर्वेद के अनुसार संशोधन से निम्नोक्त गुण प्राप्त होते हैं—

१. कायाग्नि तीक्ष्ण होती है ।
२. व्याधियां प्रशमित होती हैं ।
३. स्वास्थ्य का अनुवर्तन होता है ।
४. इन्द्रियां प्रसन्न रहती हैं ।
५. मन और बुद्धि के कार्यों का प्रकर्ष होता है ।
६. वर्ण-प्रसादन होता है ।
७. बल बढ़ता है ।
८. शरीर पुष्ट होता है ।
९. अपत्य या सन्तानोत्पत्ति होती है ।
१०. वीर्य की वृद्धि होती है ।
११. बुद्धावस्था देर से आती है ।
१२. रोग रहित दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है ।

'एवं विद्युद्धकोष्ठस्य, कायाग्निरभिवर्धते ।

व्याधयश्चोपशाम्यन्ते, प्रकृतिश्चानुवर्तते ॥'

'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिर्वर्णश्चास्य प्रसीदति ।

बलं पुष्टिरपत्यं च वृषता चास्य जायते ॥'

'जरां कृच्छेण लभते, चिरं जीवत्यनामयः ।'

(चरक, सूत्रस्थान १६।१९)

अचिकित्सा कायव्युत्सर्ग का ही प्रयोग है । जैसे-जैसे अन्तरात्मा में प्रवेश होता है, वैसे-वैसे चिकित्सा की भावना भी दूर होती जाती है । कुछ लोग रोगों से अस्पृष्ट होने पर भी बल, वीर्य और कान्ति आदि की अभिवृद्धि के लिए तथा रोग की संभावना के निवारण के लिए आयुर्वेद में प्रतिपादित 'पञ्चकर्म' चिकित्सा करते हैं । भगवान् ने उस चिकित्सा का भी वर्जन किया ।

इसका संवादी उपदेश है—

'आहार प्राप्त होने पर मुनि मात्रा को जाने ।'

'इन नाना प्रकार के रोगों को उत्पन्न हुआ जान कर आतुर मनुष्य (चिकित्सा के लिए) दूसरे जीवों को परिताप देते हैं ।'

'तू देख, ये चिकित्सा-विधियां पर्याप्त नहीं हैं ।'

'इन चिकित्सा-विधियों का तू परित्याग कर ।'

'मुने ! तुम देखो, यह हिसामूलक चिकित्सा महान् भय उत्पन्न करने वाली है ।'

'मुनि चिकित्सा के निमित्त भी किसी प्राणी का वध न करे ।'

२. पञ्चकर्म ये हैं—वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन और नस्थ । चरक में इनका मूल स्रोत मिलता है—

'लघनं बृहणं काले, रूक्षणं स्नेहनं तथा ।

स्वेदनं स्तम्भनं चैव, जानीते यः स वै भिषग् ॥'

(चरक, सूत्रस्थान, २२।४)

प्रकारान्तर से पञ्चकर्म का उल्लेख शाङ्गधर में मिलता है—

'वमनं रेचनं नस्थं, निरुद्वश्चानुवासनम् ।

एतानि पञ्चकर्माणि, कथितानि मुनीश्वरैः ॥'

३. आयारी, २।११३ ।

४-८. (क) आयारी, ६।१९-२३ ।

(ख) रोग के दो प्रकार होते हैं—घातु-क्षोभ से उत्पन्न और आगन्तुक । भगवान् के शरीर में घातु-क्षोभ से होने वाले रोग नहीं थे । मनुष्य और जीव-जन्तुओं द्वारा घाव आदि (आगन्तुक रोग) किए जाते । उनके शमन के लिए भी भगवान् चिकित्सा नहीं करते थे ।

श्वाले ने भगवान् के कान में शलाका प्रविष्ट कर दी । खरक वंश ने उसे निकाला और औषधि का लेपन किया । भगवान् ने मन से भी उसका अनुमोदन नहीं किया ।

२. संशोधनं च वमनं च, गायत्र्यङ्गणं सिंघाणं च । संबाधनं न स कल्पे, दन्तप्रक्षालनं परिष्णाए ॥

सं०—संशोधनं च वमनं, गायत्र्यङ्गणं स्नानं च । संबाधनं न स कल्पयति, दन्तप्रक्षालनं परिष्णाए ।

वे विरेचन, वमन, तैल-मर्दन, स्नान, मर्दन नहीं करते थे और दन्त-प्रक्षालन भी नहीं करते थे ।

भाष्यम् २—इदानीं चिकित्सांगानां निरूपणम्—

संशोधनम्—विरेचनम् । अधोमार्गाद् दोष-  
निर्हरणम् ।

वमनम्—औषधप्रयोगेण ऊर्ध्वमार्गाद् दोष-  
निर्हरणम् ।

गात्रस्य अभ्यङ्गनम्—तैलमर्दनम् ।

स्नानम्—जलेन गात्रस्य अभिसिञ्चनम् ।

संबाधनम्—मर्दनम् ।

दन्तप्रक्षालनम्—दन्तकाष्ठेन अंगुल्या उदकेन वा  
दन्तानां शोधनम् ।

भगवता एषां सर्वेषां उपयोगो नादृतः ।<sup>१</sup>

अब चिकित्सा के अंगों का निरूपण करते हैं—

संशोधन—विरेचन । गुदा मार्ग से दोषों का निर्हरण ।

वमन—औषध के प्रयोग से ऊर्ध्वमार्ग—मुंह से दोषों का  
निर्हरण ।

गात्र-अभ्यङ्गन—शरीर पर तैलमर्दन ।

स्नान—पानी से शरीर का अभिसिञ्चन ।

संबाधन—मर्दन ।

दन्तप्रक्षालन—दंतौ, अंगुली अथवा पानी से दांतों को साफ  
करना ।

भगवान् महावीर ने इन सबके उपयोग का परिहार किया ।

३. विरए गामधर्मेहि, रीयति माहणे अबहुवाई । सिसिरंमि एगदा भगवं, छायाए भाइ आसी य ॥

सं०—विरतः ग्राम्यधर्मैभ्यो, रीयते माहनः अबहुवादी । शिशिरे एकदा भगवान्, छायायां ध्यायी आसीत् च ।

भगवान् शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों से विरत होकर विहार करते थे । वे बहुत नहीं बोलते थे । वे शिशिर ऋतु में छाया में ध्यान करते थे ।

भाष्यम् ३—भगवान् शरीरचिकित्सां न कृतवान्  
किन्तु मोहचिकित्सां आदृतवान् । अत एवोक्तं, स  
ग्राम्यधर्माणां<sup>१</sup> विरतिं कृतवान् । मोहचिकित्सायाः प्रथम-  
मंगमस्ति अबहुवादित्वम् । अन्तर्लीनः पुरुषः न बहु-  
वक्तुमर्हति । अत एव भगवान् अबहुवादी आसीत् ।  
द्वितीयमंगमस्ति कायक्लेशः । स द्विविधः—शीताताप-  
सहनभेदात् । तत्र शीतसहनम्—भगवान् शिशिरकाले  
छायायां ध्यानं विहितवान् ।

भगवान् ने शरीर-चिकित्सा नहीं की, किन्तु मोह-चिकित्सा  
की । इसीलिए कहा है—भगवान् ग्राम्यधर्म—मैथुन अथवा इन्द्रिय-  
विषयों से विरत हो गए थे । मोह-चिकित्सा का पहला अंग है—  
अबहुवादी होना अर्थात् बहुत नहीं बोलना । अन्तर्लीन पुरुष बहुत  
नहीं बोल सकता । इसीलिए भगवान् अबहुवादी थे । मोह-चिकित्सा  
का दूसरा अंग है—कायक्लेश का अभ्यास । कायक्लेश के दो प्रकार  
हैं—शीत सहन करना तथा आतप सहन करना । शीत सहन करने  
का तात्पर्य है—भगवान् शिशिर ऋतु में भी छाया में ध्यान करते थे ।

४. आयावई य गिम्हाणं, अक्खइ उक्कुडुए अभिवाते । अदु जावइत्थं लूहेणं, ओयण-मंथु-कुम्मासेणं ॥

सं०—आतापयति च ग्रीष्मेषु, आस्ते उत्कुटुकोऽभिवाते । अथाऽयापयत् रूक्षेण, ओदनमंकुथुल्माषेण ।

भगवान् ग्रीष्म ऋतु में सूर्य का आतप लेते थे । ऊकडू आसन में वायु के अभिमुख होकर बैठते थे । वे कभी-कभी रूखे कोदो, सत्तू  
और उड़द से जीवन-यापन करते थे ।

१. भगवान् ने दीक्षित होते ही एक संकल्प किया था—'में  
साधना-काल में शरीर का विसर्जन कर रहूंगा' इस संकल्प  
के अनुसार वे शरीर के परिकर्म से मुक्त रहते थे । जो  
साधक आत्मा के लिए समर्पित हो जाता है, उसके लिए  
शरीर की सार-संभाल और साज-सज्जा से मुक्त होना  
आवश्यक है ही, साथ-साथ शरीर की विस्मृति भी  
आवश्यक है । यह चर्या उसकी विस्मृति का अंग है ।

२. (क) ग्राम्यधर्मो निधुवनं कामकेलिः पशुक्रिया ॥

व्यवायो मंथुनं.....

(अभिधान चिन्तामणि नामामाला, ३।२०१-२०२)

(ख) आचारांग चूणि, पृष्ठ ३२२ : गामा इन्द्रियगामा,  
धम्मा सहाति ।

(ग) आचारांग वृत्ति, पत्र २८४ : 'ग्रामधर्मैभ्यो' यथा-  
स्वमिन्द्रियाणां शब्दाविभ्यो विषयेभ्यः ।

५. एयाणि तिणिण पडिसेवे, अट्ट मासे य जावए भगवं । अपिइत्थ एगया भगवं, अट्टमासं अट्टुवा मासं पि ॥

सं०—एतानि त्रीणि प्रतिसेवते, अष्टौ मासान् च यापयते भगवान् । अपीत्वा एकदा भगवान्, अट्टमासं अथवा मासमपि ।

भगवान् ने इन तीनों का सेवन कर आठ महीने तक जीवन-यापन किया । उन्होंने कभी-कभी अर्ध मास या एक मास तक भी पानी नहीं पिया ।

६. अवि साहिए वुवे मासे, छ्विपि मासे अट्टुवा अपिवित्ता । रायोवरायं अपडिण्णे, अन्नगिलायमेगया भुंजे ॥

सं०—अपि साधिको द्वौ मासौ, षडपि मासान् अथवाऽपीत्वा । राद्युपरानमप्रतिज्ञः, अन्नगलायं एकदा भुङ्क्ते ।

उन्होंने कभी-कभी दो मास से अधिक और छह मास तक पानी नहीं पिया । उनके मन में नींद लेने का संकल्प नहीं होता था । वे रात भर जागृत रहते थे । कभी-कभी वे वासी भोजन भी करते थे ।

भाष्यम् ४-६—सूर्यातापस्य च सहनम्—अतिक्रान्ते हेमन्ते भगवान् उत्कुट्टुकासनिकः वाताभिमुखं<sup>१</sup> स्थित्वा आतपमासेवितवान् ।<sup>२</sup>

तृतीयमंगम्—रसपरित्यागः रूक्षभोजनेन यापनं च । अस्मिन् अष्टमासिके प्रयोगे भगवता ओदनमन्थुकुल्माषानां एषां त्रयाणामेव आहारः कृतः ।<sup>३</sup>

भगवान् कदाचिद् अर्धमासं मासं वा पानकं न पीतवान् । सर्वं च तपःकर्म अपानकं भवति भगवतः इति परम्परानुसारेण भगवान् साधिकं मासद्वयं षडपि मासान् यावत् पानकं न पीतवान् ।<sup>४</sup> रात्रिः—पूर्वरात्रम्—प्रथमौ द्वौ यामौ, उपरात्रम्—पश्चिमौ द्वौ यामौ । भगवान् रात्रेर्यामचतुष्टयेऽपि जागर्ति, न निद्रा प्रतिज्ञाता तस्य । आहारपानकयोः प्रयोगानन्तरं जागरणप्रयोगः दर्शितः । इदानीं पुनरपि आहारप्रयोगः प्रदर्श्यते । भगवान् कदाचित् ग्लानमन्नं—पर्यषितं भुक्तवान् ।<sup>५</sup>

सूर्य का आतप सहने का तात्पर्य है—हेमन्त के बीत जाने पर भगवान् उत्कटुक आसन में वायु के अभिमुख बैठकर सूर्य के आतप का सेवन करते थे ।

मोह-चिकित्सा का तीसरा अंग है—रस परित्याग तथा रूक्ष-भोजन से जीवन-यापन । आठ महीनों के इस प्रयोग में भगवान् ने कोदो, सत्तू और उड़द—इन तीनों का ही भोजन किया ।

भगवान् ने कभी पन्द्रह दिन अथवा महीने तक पानी नहीं पिया । भगवान् की सारी तपस्या अपानक—पानी रहित होती है, इस परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर ने कभी-कभी दो मास से अधिक और छह मास पर्यन्त भी पानी नहीं पिया । रात्रि के दो विभाग हैं—पूर्वरात्र अर्थात् रात्री के प्रथम दो प्रहर और उपरात्र अर्थात् रात्री के अन्तिम दो प्रहर । भगवान् रात के चारों प्रहरों में जागते रहते । उनके नींद लेने का संकल्प ही नहीं होता । आहार-पानक के प्रयोग के पश्चात् भगवान् के जागरण का प्रयोग बतलाया गया है । अब पुनः आहार का प्रयोग बताया जा रहा है । भगवान् ने कभी-कभी वासी भोजन भी किया ।

७. छट्ठेणं एगया भुंजे, अट्टुवा अट्टमेण दसमेणं । दुवालसमेण एगया भुंजे, पेहमाणे समाहि अपडिण्णे ॥

सं०—षष्ठेनैकदा भुङ्क्ते, अथवाषट्मेन दशमेन । द्वादशमेन एकदा भुङ्क्ते, प्रेक्षमाणः समाधिसप्रतिज्ञः ।

वे कभी दो दिन, कभी तीन दिन, चार दिन या पांच दिन के उपवास के बाद भोजन करते थे । उनकी दृष्टि तपःसमाधि पर टिकी हुई थी और भोजन के प्रति उनके मन में कोई संकल्प नहीं था ।

१. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ ३२२ : 'उत्कुट्टुकासनेण अभि-मुहवाते उप्पे रूक्षे य चायंते, एवं ताव कायकिलेसो ।'

(ख) वृत्तौ 'अभितावं' पाठः व्याख्यातोस्ति—'तिष्ठत्युत्कुट्टु-कासनोऽभितावं—तापाभिमुखमिति' ।

(आचारांग वृत्ति, पत्र २८३)

२. आचारांग चूणि, पृष्ठ ३२२ : 'इव्वरुक्खं ओदणं विरहितं, मंथु इति मंथसत्तुया णग्गोहमंथुमादी वा भुज्जितएहि तएहि, कुम्मासा कुम्मासा एव, सब्वत्थ रुक्खसद्दो अणुयत्तत्ति—एयाई तिणिण पडिसेवे अट्ट मासे य जावते भगवं एतेहि ओदणमंथुकुम्मासेहि, अट्टमासेत्ति उडुबद्धिते अट्ट मासे ।'

३. वही, पृष्ठ ३२२ : 'अपियत्थ एगता भगवं जो पाणयं ण पियति सो पावेण आहारं ण आहारेत्ति, एवं च सव्वं च तवोकम्मं अप्पाणयं ।'

४. भगवती सूत्र वृत्ति (पत्र ७०५) में 'अन्नगिलाय' शब्द की व्याख्या मिलती है । जो अन्न के बिना ग्लान हो जाता है, वह अन्नगलायक कहलाता है । वह भूख से आतुर होने के कारण ताजा भोजन बने तब तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता, इसलिए प्रातःकाल होते ही जो कुछ वासी भोजन मिलता है, उसे खा लेता है ।

भाष्यम् ७—कदाचिद् दिनद्वयानन्तरं, कदाचिद् दिनत्रयानन्तरं, कदाचिद् दिनचतुष्कानन्तरं, कदाचिच्च दिनपञ्चकानन्तरं भुक्तवान् । समाधिः—तपःसमाधिः, तं प्रेक्षमाणो भगवान् आहारं प्रति नौत्सुक्यमादृतवान् ।

भगवान् ने कभी दो दिन, कभी तीन दिन, कभी चार दिन और कभी पांच दिन के बाद भोजन करते थे । समाधि अर्थात् तपःसमाधि । तपःसमाधि की प्रेक्षा करते हुए भगवान् आहार के प्रति उत्सुक नहीं रहते थे ।

८. णच्चक्षणं से महावीरे, णो वि य पावगं सयमकासो । अण्णेहि वा ण कारित्था, कीरंतं पि णाणुजाणित्था ॥

सं०—ज्ञात्वा स महावीरः, नोऽपि च पापकं स्वयमकार्षीत् । अन्यैर्वा नाऽचीकरत्, कुर्वन्तमपि नान्वज्जासीत् ।

भगवान् महावीर आहार के दोषों को जानकर स्वयं पाप (आरम्भ-समारम्भ) नहीं करते थे, दूसरों से नहीं करवाते थे और करने वाले का अनुमोदन भी नहीं करते थे ।

भाष्यम् ८—अग्निसमारम्भे दोषं ज्ञात्वा आहारसंबंधे भगवान् महावीरः न पापकं स्वयमकार्षीत्, नान्यैः तत् कारितवान्, कुर्वन्तमपि नानुज्जातवान् । नवकोटिपरिशुद्ध-भिक्षायां पचनपाचनादिकं वर्जितमस्ति । भगवान् स्वयमपि तद् नादृतवान्, तदानीं कथं जीवनयात्रा-निर्वाहः स्यात् इत्याशंका सञ्जायते । तस्याः समाधानं अनन्तरश्लोके कृतमस्ति ।

अग्नि-समारम्भ के दोष को जानकर भगवान् महावीर आहार से संबंधित पाप—आरम्भ-समारम्भ न स्वयं करते थे, न उसे दूसरों से करवाते थे और करने वाले का भी अनुमोदन नहीं करते थे । नवकोटि परिशुद्ध भिक्षा में पचन-पाचन आदि वर्जित है । भगवान् ने स्वयं उसको स्वीकार नहीं किया तो फिर जीवन-यात्रा का निर्वाह कैसे संभव हुआ, यह आशंका उत्पन्न होती है । उसका समाधान आगे के श्लोक में किया गया है ।

९. ग्रामं प्रविसे णयरं वा, घासमेसे कडं परट्टाए । सुविशुद्धमेसित्था भगवं, आयत-जोगयाए सेवित्था ॥

सं०—ग्रामं प्रविश्य नगरं वा, घासमेषते कृतं परार्थाय । सुविशुद्धमेषित्वा भगवान्, आयतयोगेन असेविष्ट ।

भगवान् ग्राम या नगर में प्रवेश कर गृहस्थ के लिए बने हुए आहार की एषणा करते थे । सुविशुद्ध आहार ग्रहण कर संयत योग से उसका सेवन करते थे ।

भाष्यम् ९—आहारविषये त्रिविधा एषणा प्रति-पादितास्ति—गवेषणा, ग्रहणेषणा, परिभोगेषणा च । ग्रामं नगरं वा प्रविश्य परार्थं कृतस्य आहारस्य एषणां कृतवान् इति गवेषणा । सुविशुद्धस्य आहारस्य ग्रहणं कृतवान् इति ग्रहणेषणा । संयतेन योगेन तमाहारं सेवितवान् इति परिभोगेषणा ।

आहार के विषय में तीन प्रकार की एषणाओं का प्रतिपादन किया गया है—गवेषणा, ग्रहणेषणा, परिभोगेषणा । भगवान् महावीर गांव या नगर में प्रवेश कर गृहस्थों के लिए बने हुए आहार की एषणा करते थे । यह गवेषणा है । वे सुविशुद्ध आहार का ग्रहण करते थे । यह ग्रहणेषणा है । वे संयत योग से उस आहार का सेवन करते थे । यह परिभोगेषणा है ।

१०. अदु वायसा दिगिच्छत्ता, जे अण्णे रसेसिणो सत्ता । घासेसणाए चिट्ठंते, सययं जिवतित्ते य पेहाए ॥

सं०—‘अदु’ वायसाः बुभुक्षार्ताः, येऽन्ये रसेषिणः सत्त्वाः । घासेषणाय तिष्ठन्ति, सततं निपतितान् च प्रेक्ष्य ।

मूष और प्यास से पीड़ित काक आदि तथा अन्य पक्षी पान और भोजन की एषणा के लिए चेष्टा करते हैं, उन्हें निरन्तर बंठे हुए देखकर—

११. अदु माहणं व समणं वा, ग्रामपिण्डोलगं च अतिहि वा । सोवागं मूसियारं वा, कुक्कुरं वापि विहं<sup>३</sup> ठियं पुरतो ॥

सं०—‘अदु’ माहणं वा श्रमणं वा, ग्रामपिण्डोलकं चातिथिं वा । स्वपाकं मूषकारिं वा, कुक्कुरं वापि ‘विहं’ स्थितं पुरतः ।

ब्राह्मण, भ्रमण, भिक्षु या अतिथि, चाण्डाल, बिल्ली या कुत्ते को आगे मार्ग में बैठे हुए देखकर—

१२. वित्तिच्छेदं वर्ज्यन्तो, तेस्यपत्तियं परिहरन्तो । मयं परवक्त्रे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसितथा ॥ (त्रिभिः कुलकम्)

सं०—वृत्तिच्छेदं वर्ज्यन्, तेषामप्रीतिकं परिहरन् । मयं परवक्त्रे भगवान्, अहिंसन् घासमैषिष्ट ।

उनकी आजीविका का विच्छेद न हो, उनके मन में भय उत्पन्न न हो, इसे ध्यान में रखकर भगवान् धीमे-धीमे चलते थे । वे किसी को घास न देते हुए आहार की एषणा करते थे ।

भाष्यम् १०-१२—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

१३. अवि सूदयं व सुक्कं वा, सोर्यापिंडं पुराणकुम्भासं । अदु बक्कसं पुलागं वा, लब्धे पिण्डे अलद्वए दविए ॥

सं०—अपि सूयिकं वा शुष्कं वा, शीतपिण्डं पुराणकुलमावम् । 'अदु' बक्कसं पुलाकं वा, लब्धे पिण्डेऽलब्धे द्रव्यः ।

भोजन व्यंजन-सहित हो या व्यंजन-रहित, ठण्डा भात हो या वासी उड़द, सत्तू हो या चने आदि का रूक्ष आहार हो, भोजन प्राप्त हो या न हो—इन सब स्थितियों में भगवान् राग या द्वेष नहीं करते थे ।

भाष्यम् १३—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

अस्यानुसारी उपदेशः—

संवादी उपदेश—

'ण मे वेति ण कुप्पिज्जा, थोवं लद्धं न खिसए ।'<sup>१</sup>

'यह मुझे भिक्षा नहीं देता—यह सोचकर उस पर क्रोध न करे । थोड़ा प्राप्त होने पर निन्दा न करे ।'

'पंतं लूहं सेवति वीरा समत्तवसिणो ।'<sup>२</sup>

'समत्वदर्शी वीर प्रान्त—मीरस, वासी और रूक्ष आहार आदि का सेवन करते हैं ।'

१४. अवि भाति से महावीरे, आसणत्थे अकुक्कुए ज्ञाणं । उड्डमहे तिरियं च, पेहमाणे समाहिमपडिण्णे ॥

सं०—अपि ध्यायति स महावीरः, आसनस्थोऽकुक्कुचः ध्यानम् । ऊर्ध्वमधः तिर्यक् च, प्रेक्षमाणः समाधिप्रतिज्ञः ।

भगवान् ऊकडू आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे । वे ऊंचे, नीचे और तिरछे लोक में होने वाले पदार्थों को ध्येय बनाते थे । उनकी दृष्टि आत्म-समाधि पर टिकी हुई थी । वे संकल्प से मुक्त थे ।

भाष्यम् १४—इदानीं भगवतो ध्यानमुद्रा निरूप्यते । भगवान् आसनस्थः ध्यानं करोति । उत्कटुक-वीरासन-गोदोहिका-ऊर्ध्वस्थानादीनि प्रमुखानि आसनानि ।

अब भगवान् महावीर की ध्यानमुद्रा का निरूपण किया जाता है । भगवान् आसन में बैठकर ध्यान करते थे । उनके ये प्रमुख आसन थे—उत्कटुक आसन, वीरासन, गोदोहिका आसन अथवा ऊर्ध्वस्थान आदि ।

'अकुक्कुए'पदेन कायोत्सर्गमुद्रा कायगुप्तिर्वा सूचितास्ति । ध्यानपदेन धर्मविचयस्य शुक्लस्य वा ग्रहण-मस्ति ।

'अकुक्कुच' पद से कायोत्सर्ग मुद्रा अथवा कायगुप्ति की सूचना दी गई है । 'ध्यान' पद से धर्मविचय अथवा शुक्लध्यान का ग्रहण किया गया है ।

ध्यानक्षेत्रदृष्ट्या ऊर्ध्वादिपदानां संग्रहः ।

ध्यान-क्षेत्र की दृष्टि से ऊर्ध्व आदि पदों का संग्रह किया गया है ।

भगवान् ऊर्ध्वलोकवर्तिभावानामभिगमाय ऊर्ध्वध्यानं करोति । अधोलोकवर्तिभावानामभिगमाय अधोध्यानं करोति । तिर्यग्लोकवर्तिभावानामभिगमाय तिर्यग्ध्यानं करोति ।<sup>३</sup>

भगवान् ऊर्ध्वलोकवर्ती भावों को जानने के लिए ऊर्ध्वध्यान करते थे । अधोलोकवर्ती भावों को जानने के लिए अधोध्यान करते थे । तिर्यग्लोकवर्ती भावों को जानने के लिए तिर्यग्ध्यान करते थे ।

१. आचारो, २।१०२ ।

२. वही, २।१६४ ।

३. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ ३२४ : ज्ञाणइति धम्मं सुक्कं वा, आसणं उक्कुओ वा वीरासणेणं वा, अकुक्कुओ णाम निच्चलो, दव्वतो तरीरेण निच्चलो भावओ अकुक्कुओ पसत्थज्जाणोवगतो शियाति, किं

शियाति ? उड्डं अहेयं तिरियं च सब्वलोए ज्ञायति समितं, उड्डलोए जे भावा एव अहेवि तिरिएवि, जेहिं वा कम्मावाणेहि उड्डं गंमति एवं अहे तिरियं च, अहे संसारं संसारहेउं च कम्मविपासं च ज्ञायति, एवं मोक्खं मोक्खहेउं मोक्खसुहं च ज्ञायति ।'

भगवान् अप्रतिज्ञः सन् समाधिं प्रेक्षमाणः शरीरस्य वा ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्भागे समाधिं प्रेक्षमाणः ध्यानं करोति ।

अस्यानुसारी उपदेशः—

‘आयतचक्षु लोम-धिपस्त्री लोमस्त अहो भागं जाणइ, उर्ध्वं भागं जाणइ, तिरियं भागं जाणइ ।’

भगवान् संकल्प से मुक्त होकर समाधि की प्रेक्षा करते हुए अथवा शरीर के ऊर्ध्व, अधस् और तिर्यग् भाग में समाधि की प्रेक्षा करते हुए ध्यान करते थे ।

इसका संवादी उपदेश है—

‘संयतचक्षु पुरुष लोकदर्शी होता है । वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्वभाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है ।’

१५. अकसाई विगयगेहो, सह्रुवैसुऽमुच्छिद्ये ज्ञाति । छुउमस्थे वि परक्कममाणे, णो पमायं सहं पि कुन्वित्था ॥

सं०—अकषायी विगतगूढिः, शब्दरूपयोः अमूर्च्छितः ध्यायति । छप्रस्थोपि पराक्रममाणः, नो प्रमादं सकृदप्यकार्षीत् ।

भगवान् क्रोध, मान, माया और लोभ को शांत कर, आसक्ति को छोड़, शब्द और रूप में अमूर्च्छित होकर ध्यान करते थे । उन्होंने जानावरण आदि कर्म से आवृत वशा में पराक्रम करते हुए भी एक बार भी प्रमाद नहीं किया ।

भाष्यम् १५—इदानीं भगवतो ध्यानस्य उद्देश्यं निरूप्यते । केचित् कषायोपतप्ताः परानभिज्ञानं, केचिद् आसक्ताः पदार्थोपलब्धये, केचिच्च शब्दरूपयोः मूर्च्छितास्तयोः संग्रहाय ध्यानं कुर्वन्ति । किन्तु भगवान् केवलं विशुद्धये ध्यानं कृतवान् । अत एव सोऽकषायी विगत-गूढिः शब्दरूपयोरमूर्च्छितश्च ध्यानमुद्रामुपास्थितः ।

अब भगवान् महावीर के ध्यान के उद्देश्य का निरूपण किया जा रहा है । कुछ पुरुष कषायों से उत्तप्त होकर दूसरों को अभिशाप देने के लिए ध्यान करते थे । कुछ पुरुष पदार्थ में आसक्त होकर उसकी उपलब्धि के लिए, कुछ शब्द और रूप में मूर्च्छित होकर उनके संग्रह के लिए ध्यान करते थे । किन्तु भगवान् महावीर केवल विशुद्धि के लिए ध्यान करते थे । इसलिए वे कषाय और आसक्ति से मुक्त तथा शब्द और रूप के प्रति अमूर्च्छित होकर ध्यानमुद्रा में स्थित होते थे ।

भगवान् छप्रस्थावस्थायामपि पराक्रममाणः न सकृदपि प्रमादं अकार्षीत्, सततं जागरूकत्वमन्वभवत्, न च साधनायाः भावी विचलितोऽभवत् ।<sup>१</sup>

भगवान् ने छप्रस्थ अवस्था में भी संयम में पराक्रम करते हुए एक बार भी प्रमाद नहीं किया, सतत जागरूकता का अनुभव किया । वे साधना के भाव से विचलित नहीं हुए ।

(ख) आचारांग वृत्ति, पत्र २२६ : ‘किमवस्थो ध्यायतीति दर्शयति—आसनस्थः—उत्कटुकगोदोहिकावीरासना-द्यवस्थोऽकौत्कुचः सन्—मुखविकाराविरहितो ध्यान-धर्मशुक्लधोरन्यतरदारोहति, किं पुनस्तत्र ध्येयं ध्यायतीति दर्शयितुमाह—ऊर्ध्वमधस्तिर्यग्लोकस्य ये जीवपरमाष्वादिका भावा व्यवस्थितास्तान् ब्रह्म-पर्यायनित्यानित्यादिरूपतया ध्यायति ।’

(ग) ‘ध्यानविचारे’ अस्मिन् प्रकरणे उत्साहादीनां संबंधः प्रदर्शितोऽस्ति—उत्साहस्य ऊर्ध्वलोकवस्तुचिन्ता । पराक्रमस्य अधोलोकचिन्ता । चेष्टायाः तिर्यग्लोक-चिन्तनम् । (ध्यानविचार, पृष्ठ ३९)

१. आचारो, २।१२५ ।

२. (क) अत्र चूर्णिकारेण निद्राप्रमादो विवक्षितः—‘छुउमस्थ-काले विहरंतेणं भगवता जयंतेणं धुवंतेणं परक्कमंतेणं ण कयाइ पमाओ कयतो, अविस्सद्दा णवरं एक्कसि

एक्को अंतोमुहुत्तं अट्टियगामे ।’

(आचारांग चूर्ण, पृष्ठ ३२४)

(ख) वृत्तिकारेण कषायादिप्रमादो विवक्षितः—सदनुष्ठाने पराक्रममाणो न प्रमादं कषायादिकं सकृदपि कृतवानिति । (आचारांग वृत्ति, पत्र २२६)

(ग) प्रमाद छह प्रकार का होता है—१. मद्य-प्रमाद, २. निद्रा-प्रमाद, ३. विषय-प्रमाद, ४. कषाय-प्रमाद, ५. द्यूत-प्रमाद, और ६. निरीक्षण (प्रतिलेखना) प्रमाद । (ठाणं, ६।४४)

चूर्णिकार के अनुसार भगवान् ने अन्तर्मुहुत्तं को छोड़कर निद्रा-प्रमाद का सेवन नहीं किया ।

वृत्तिकार के अनुसार भगवान् ने कषाय आदि प्रमादों का सेवन नहीं किया ।

इस पाठ का आशय यह है कि भगवान् जीवन-त्रयां चलते हुए भी प्रतिक्षण अप्रमत्त रहते थे ।

१६. स्वयमेव अभिसमागम्य, आयतजोगमायसोहीए । अभिनिवृत्ते अमाइल्ले, आवकहं भगवं समिआसी ॥

सं०—स्वयमेव अभिसमागम्य आयतयोगमात्मशुद्ध्या । अभिनिवृत्तः अमायी, यावत्कथं भगवान् समित आसीत् ।

स्वयंबुद्ध भगवान् आत्म-शुद्धि के द्वारा आयत-योग—मन, वचन और शरीर की संयत प्रवृत्ति को प्राप्त होकर उपशांत हो गए । उन्होंने ऋजुभाव से तप की साधना की । वे सम्पूर्ण साधना-काल में समित रहे ।

भाष्यम् १६—भगवान् स्वयमेव तत्त्वं अभिसमागम्य—  
ज्ञात्वा आत्मशुद्ध्या आयतयोगं—संयतयोगं दृष्ट्वा  
प्रवृत्तयोगं वा अधिगतवान् । तेन स अभिनिवृत्तः—  
विषयकषायेषु शीतीभूतो जातः । भगवता अमायिना  
तपस्तप्तम् । न क्वचिदपि मायार्थं तपोऽनुष्ठितम् । एवं  
यावज्जीवं भगवान् समित आसीत् ।

भगवान् स्वयं तत्त्व को जानकर, आत्म-शुद्धि के द्वारा आयत-  
योग अर्थात् संयतयोग को देखकर, जानकर प्रवृत्तयोग—मन, वचन  
और शरीर की संयत प्रवृत्ति को प्राप्त हो गए । इससे वे अभिनिवृत्त  
हो गए—विषय और कषायों से सर्वथा उपशांत हो गए । भगवान् ने  
ऋजु-भाव से तप तपा । उन्होंने कहीं भी माया के लिए तप नहीं  
किया । इस प्रकार भगवान् यावज्जीवन समित रहे ।

१७. एस विही अणुकंतो, माहणेण मईमया । अपडिण्णेण वीरेण, कासवेण महेसिणा ॥ — इति वेमि ।

सं०—एष विधिरनुकान्तः, माहनेन मतिमता । अप्रतिज्ञेन वीरेण, काश्यपेन महर्षिणा । —इति ब्रवीमि ।

मतिमान् माहन काश्यपगोत्री महर्षि महावीर ने संकल्प-मुक्त होकर पूर्व प्रतिपादित विधि का आचरण किया ।—ऐसा मैं कहता हूँ ।

भाष्यम् १७—स्पष्टमेव ।

स्पष्ट है ।

इति आचार्यमहाप्रज्ञविरचितं

आचारांगभाष्यं पूर्णतामगमत् ।

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ ३२५ : 'अमाइल्ले, ण माइट्ठाणेण तवो कतो भगवता वरं देवो वा दाणवो मणुस्सो वा तुस्सिहित्ति, णवरं कम्मवत्थयट्ठाए ।'



## प्रशस्तिश्लोकाः

१. आचार आत्मा च समन्वितौ स्तः,  
तत्रैव वीरः खलु वृश्यमानः ।  
सा भारती वीरजिनेश्वरस्य,  
त्राणं मम स्यात् समुवाच भिक्षुः ॥
२. भिक्षोर्वर्चासि प्रथिताशयानि,  
चक्रे जयोऽसौ विजयाय भूयात् ।  
श्रीकालुनोप्तं च विकासबीजं,  
प्राप्नोतु शम्भत् शतशास्त्ररूपम् ॥
३. भाष्यं पुरा संस्कृतभाषितेषु,  
विनिर्मितं लब्धमिहास्ति विज्ञैः ।  
आचारभाष्यं महनीयमुच्चैः,  
गोर्वाणवाण्यां कुरु पुण्यकाम !
४. आचार्यस्तुलसी प्रबोधकुशलः संकल्पमल्पेतरं,  
प्रादुष्कृत्य निजात्मभावरुचिभिः संप्रेरितोऽहं मुदा ।  
तत् किं भाति भुवस्तले सुललितं यत् प्रेरणां सद्गुरोः,  
संप्राप्याल्पमतिश्रुतोऽपि मनुजो न स्यात् धमे सार्थकः ?
५. चूर्णं च वृत्ति समवेक्ष्य सस्यक्,  
'जोडं' जयाचार्यकृतां प्रपुण्याम् ।  
सूत्रं च साक्षात् प्रविधाय भाष्ये,  
जाता महाप्रज्ञमनःप्रवृत्तिः ॥
६. चत्वारिंशत्तमे वर्षे, द्विसहस्रे नभस्यसौ ।  
भाष्यारंभोऽभवत् पुण्यः, पुरे बालोतराऽभिधे ॥
७. संपूर्तिरस्य संजाता, हिसारनगरे वरे ।  
नवमी चैत्रकृष्णस्य, त्रिचत्वारिंशति श्रिये ॥



## परिशिष्ट

१. सूत्रानुक्रम
२. (क) अध्ययनगत पद्यांश तथा पद्य  
(ख) ङाङ तथा ङवे अध्ययन का पदानुक्रम
३. विशेष शब्दार्थ
४. परिभाषापद
५. टिप्पणों में उल्लिखित विशेष विवरण
६. देशीशब्द
७. धातु और धातुपद
८. तुलना
९. आचारांग चूर्ण में उद्धृत श्लोक
१०. आचारांग वृत्ति में उद्धृत श्लोक
११. सूक्त और सुभाषित
१२. संधानपद



## सूत्रानुक्रम

अ	
अइअच्च सन्वतो....	६।३८
अंजू चैय पडिबुद्ध-जीवी ।	५।१०२
अंतरं च खलु....	२।११
अंतो अंतो पूतिदेहंतराणि....	२।१३०
अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे ।	२।१५
अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे ।	२।१४३
अकम्मस्स ववहारो न विज्जइ ।	३।१८
अकरिस्सं चहं, कारवेसुं चहं,....	१६
अगं च मूलं च विगिच्च धीरे ।	३।३४
अग्घायं तु सोच्चा....	६।७९
अच्चेइ जाइ-मरणस्स....	५।१२२
अच्चेइ लोयसंजोयं ।	२।१६९
अट्टमेतं पेहाए ।	२।१३८
अट्टा पया माणव !....	५।१८
अट्टा वि संता अदुआ पमत्ता ।	४।१४
अट्टे लोए परिज्जुण्णे....	१।१३
अट्टे से बहुवुक्खे....	६।१८
अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।	१।१८
अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।	१।४१
अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।	१।७२
अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।	१।१००
अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।	१।१२७
अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा ।	१।१५१
अणणपरमं नाणी....	३।५६
अणभिककंतं च खलु वयं संपेहाए ।	२।२३
अणाणाए एगे....	५।१०७
अणाणाए पुट्टा....	२।२९
अणाणाए भुणिणो पडिलेहंति ।	२।३२
अणारियवयणमेयं ।	४।२१
अणुपविसित्ता गामं....	८।१०६
अणुपविसित्ता गामं....	८।१२६
अणुपुब्बेण अणहिंयासेमाणा....	६।३२
अणुवीइ भिक्खु....	६।१०४
अणुसंवेयणमप्पाणेणं....	६।१०३
अणेगच्चित्ते खलु अयं पुरिसे....	३।४२
अणोमदंसी णिसन्ने पावेहि कम्मोहि ।	३।४८
अणोहंतरा एते नो....	२।७१
अण्णहा णं पासए परिहुरेज्जा ।	२।११८
अतहेहिं सद्-फासेहि....	६।४३
अत्तारिसे मुणी णो....	६।२७
अत्थि सत्थं परेण परं....	३।८२
अदिस्समाणे कय-विक्कएसु	२।१०९
अदुवा अचेले ।	८।५३
अदुवा अचेले ।	८।७१
अदुवा अचेले ।	८।९३
अदुवा अदिष्णादाणं ।	१।५८
अदुवा अदिष्णमाइयंति ।	८।४
अदुवा आयार-गोयरमाइक्खे ।	८।२६
अदुवा आसंसाए ।	२।४५
अदुवा एगसाडे ।	८।५२
अदुवा एगसाडे ।	८।७०
अदुवा गुत्ती गोयरस्स ।	८।२७
अदुवा गुत्ती वओगोयरस्स त्ति वेमि ।	८।१०
अदुवा तत्थ परक्कमंतं....	६।६१
अदुवा तत्थ परक्कमंतं....	८।११२
अदुवा तत्थ भेरवा ।	६।५६
अदुवा बायाओ विजंजंति....	८।५
अदुवा संतरुत्तरे ।	८।५१
अपयस्स पयं णत्थि ।	५।१३९
अपरिग्गहा भविस्सामो....	२।३१
अपरिष्णाए कंदति ।	२।१३९
अपरिष्णाय-कम्मे खलु अयं पुरिसे....	१।८
अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ।	८।४७
अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ।	८।६६
अपलिउंचमाणे गामंतरेसु ।	८।८९
अपलीयमाणे दहे ।	६।३६
अप्यं च खलु आजं....	२।४
अप्पमत्तो कामेहि....	३।१६
अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे ।	१।२९
अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे ।	१।५२
अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे ।	१।८३
अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे ।	१।१११
अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे ।	१।१३८
अप्पेगे पायमब्भे, अप्पेगे पायमच्छे ।	१।१६२
अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उह्वए ।	१।३०
अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उह्वए ।	१।५३
अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उह्वए ।	१।८४
अप्पेगे संपमारए अप्पेगे उह्वए ।	१।११२
अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उह्वए ।	१।१३९
अप्पेगे संपमारए, अप्पेगे उह्वए ।	१।१६३
अबलेण वहं गच्छंति....	६।१७
अभिककंतं च खलु वयं संपेहाए ।	२।५
अभिभूय अदक्खू....	५।१११
अमित्तमेच्चा पंडिए....	६।९८
अमरायइ महासड्डी ।	२।१३७
अरइं आउट्टे से मेहावी ।	२।२७
अरूवी सत्ता ।	५।१३८
अलं कुसलस्स पमारएणं ।	२।९५
अलं तवेएहि ।	६।२१
अलं ते एएहि ।	२।९८
अलं बानस्स संगेणं ।	२।१४५
अलाभो त्ति ण सोयए ।	२।११५
अवरेण पुव्वं ण....	३।५९
अवि आहारं वोच्छिदेज्जा ।	५।८३
अवि उड्डं ठाणं ठाइज्जा ।	५।८१
अवि ओमोयरियं कुज्जा ।	५।८०
अवि गामाणुगामं दूइज्जेज्जा ।	५।८२
अवि चए इत्थीसु मणं ।	५।८४
अवि णिब्बलासए ।	५।७९
अवि य ह्णे अणादियमाणे ।	२।१७५
अवि से हासमासज्ज....	३।३२
अस्सिं चैयं पवुच्चति....	५।४९
अस्सिं लोए पव्वहिए ।	१।१४
अहं च खलु तेण....	८।१२०
अहं वावि तेण....	८।१२१
अह पास तेहि-तेहि....	६।८
अह पुण एवं जाणेज्जा....	८।५०



एत्थ अगुत्ते अणाणाए ।	१।९७	एयावंति सव्वावंति लोगंसि ...	१।७	ओए जुतिमस्स खेयण्णे....	८।३४
एत्थं पि जाण सेयंति णत्थि ।	२।१७६	एयावंति सव्वावंति लोगंसि....	१।११	ओए दयं दयइ ।	८।३७
एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा ।	१।१६९	एवं तेसि णो सुअक्खाए....	८।८	ओए समियदंसणे ।	६।१००
एत्थ फासे पुणो-पुणो ।	५।१४	एवं तेसि भगवओ अणुट्टाणे ...	६।७४	ओबुज्जमाणे इह....	६।१
एत्थ मोहे पुणो-पुणो ।	५।८	एवं तेसि महावीराणं चिरराइयं....	६।६६	ओमचेलिए ।	८।६७
एत्थ मोहे पुणो-पुणो सण्णा ।	२।३३	एवं ते सिस्सा दिया य राओ य....	६।७५	ओमचेलिए ।	८।९०
एत्थवि जाणह अकस्मात् ।	८।७	एवं ते सिस्सा दिया....	६।७६	ओमचेलिए ।	८।४८
एत्थवि तेसि णो णिकरणाए ।	१।६१	एवं दुक्खा पमोक्खसि ।	३।९		
एत्थवि बालभावे अप्पाणं ...	५।१००	एवं पेगे महावीरा विपरवकमंति ।	६।४	<b>क</b>	
एत्थ वि बाले परिपच्चमाणे....	५।१६	एवं से अंतराइएहि....	६।३४	कट्टु एवं अविजाणओ....	५।११
एत्थ विरते अणगारे ...	५।३७	एवं से अप्पमाएणं ...	५।७४	कप्पइ णे, कप्पइ णे पाउं....	१।५९
एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स ...	१।३२	एवं से अहाकिट्टियमेव....	८।८१	कम्ममूलं च जं छणं ।	३।२१
एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स ...	१।६३	एवं से उट्टिए ठियप्पा अणिहे ...	६।१०६	कम्ममुणा उवाही जायइ ।	३।१९
एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स....	१।८७	एवमेगेसि जं णातं भवइ....	१।४	कम्ममुणा सफलं दट्ठं....	४।५१
एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स....	१।११५	एवमेगेसि णो णातं भवति....	१।२	कम्मोवसंती ।	२।१५५
एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स....	१।१४२	एस अणगारेत्ति पवुच्चति ।	२।३९	का अरई ? के आणंदे....	३।६१
एत्थ सत्थं असमारंभमाणस्स....	१।१६६	एस आयावादी समियाए-परियाए....	५।१०६	कामकमे खलु अयं पुरिसे....	२।१३४
एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स ...	१।३१	एस उत्तरवादे....	६।४९	कामकामी खलु अयं पुरिसे ।	२।१२३
एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स ...	१।६२	एस ओघंतरे मुणी....	२।१६५	कामा दुरतिककमा ।	२।१२१
एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स....	१।८६	एस ओहंतरे मुणी ...	५।६१	कामे समायमाणस्स....	६।३३
एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स....	१।११४	एस णाए पवुच्चइ ।	२।१७०	कामेसु गिद्धा णिचयं करेत्ति ...	३।३१
एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स ...	१।१४१	एस तिण्णे मुत्ते ...	६।६९	कायस्स विओवाए....	६।११३
एत्थ सत्थं समारंभमाणस्स....	१।१६५	एस तुट्टे वियाहिते....	६।११२	कालस्स कंखाए परिब्बयंति त्ति बेमि ।	५।९२
एत्थोवरए तं भोसमाणे....	५।२०	एस धम्मे सुट्ठे णिइए सासए ...	४।२	किमणेण भो ! जणेण....	६।९३
एत्थोवरए तं भोसमाणे ।	६।५०	एस परिण्णा पवुच्चइ ।	२।१५४	किमत्थि उवाही पासगस्स....	४।५३
एत्थोवरए मेहावी ...	३।४१	एस पुरिसे दविए वीरे....	४।४४	किमत्थि उवाही पासगस्स....	३।८७
एयं कुसलस्स दंसणं ।	५।६७	एस मग्गे आरिएहि पवेइए ।	२।४७	किमेस जणो करिस्सति ?	५।७६
एयं कुसलस्स दंसणं ।	५।१०९	एस मग्गे आरिएहि पवेइए ।	२।११९	कुसले पुण णो बद्धे, णो मुक्के ।	२।१८२
एयं खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं ।	८।६८	एस मग्गे आरिएहि पवेदिते ।	५।२२	कूराणि कम्माणि ...	५।६
एयं खु मुणी आयाणं सया....	६।५९	एस मरणा पमुच्चइ ।	३।३६	के यं पुरिसे ? कं च णए ?	२।१७७
एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं ।	८।४९	एस महं विवेगे वियाहिते ।	८।१३	कोहाइयमाणं हणिया....	३।४९
एयं खु वत्थधारिस्स सामग्गियं ।	८।११	एस लोए वियाहिए ।	१।९६		
एयं णाणं सया समणुवासिज्जासि	६।२९	एस विसण्णे वित्ठे वियाहिते....	६।९२	<b>ख</b>	
एयं णियाय मुणिणा पवेदितं....	५।४४	एस वीरे पसंसिए ...	२।१०१	खणं जाणाहि पंडिए ।	२।२४
एयं तुलमण्णेसि ।	१।१४८	एस वीरे पसंसिए ...	२।१२८	खणसि मुक्के ।	२।२८
एयं ते मा होउ ।	५।६६	एस वीरे पसंसिए ।	२।१६८		
एयं पासगस्स दंसणं....	३।७२	एस वीरे पसंसिए....	२।१७८	<b>वा</b>	
एयं पासगस्स दंसणं....	३।८५	एस संसारेत्ति पवुच्चति ।	१।११९	गंथं परिणाय इहज्जेव वीरे....	३।५०
एयं पास मुणी ! महब्भयं ।	२।९९	एस समिया-परियाए वियाहिते ।	५।२७	गथेहि गद्धिया णरा....	६।१०९
एयं पास मुणी ! महब्भयं ।	६।२२	एस से परमारामो....	५।७७	गट्टिए अणुपरियट्टमाणे ।	२।१२६
एयं मोणं समणुवासिज्जासि ।	२।१०३			गामाणुगामं दूइज्जमाणस्स....	५।६२
एयं मोणं सम्मं अणुवासिज्जासि ।	५।३८	<b>ओ</b>		गामे वा अदुवा रण्णे....	८।१४
		ओए अप्पत्तिट्टाणस्स खेयण्णे ।	५।१२६	गुरु से कामा ।	५।२
				<b>घ</b>	
				चिच्चा सव्वं विसोत्तियं....	६।४६

ચિટ્ઠં કુરેહિ કમ્મેહિ....	૪૧૨૮	જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૦૫	જે અચેલે પરિવુસિણ સંચિક્કલિતિ....	૬૧૪૦
ચુણં હુ બાલે ગમ્માહસુ રજ્જહં ।	૫૧૪૮	જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૧૬	જે અજ્જત્થં જાણહં....	૧૧૪૭
<b>છ</b>					
છંદોવળીયા અજ્જોવવળ્લા ।	૧૧૭૨	જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ	૮૧૧૭	જે અણ્ણદંસી, સે અણ્ણારામે....	૨૧૭૩
છળં છળં પરિણ્ણાય....	૨૧૮૪	જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૧૮	જે અસત્તા પાર્વેહિ કમ્મેહિ ।	૫૧૨૮
<b>જ</b>					
જં આઠ્ઠિક્કયં કમ્મં....	૫૧૭૩	જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૧૯	જે આયારે ન રમંતિ ।	૧૧૭૦
જં જાણેજ્જા ડચ્ચાલહિયં ..	૩૧૬૩	જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૨૦	જે આયા સે વિણ્ણાયા....	૫૧૦૪
જં દુક્ખં પવેદિતં ઇહ માણવાણં....	૨૧૭૧	જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૨૧	જે આસવા તે પરિસંવા, ....	૪૧૧૨
જં સમ્મં તિ પાસહા....	૫૧૫૭	જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૪૧૮૬	જે ઇમસ્સ વિમ્મહસ્સ અયં છળે ત્તિ....	૫૧૨૧
જંસિમે પાણા પવ્વહિયા....	૨૧૧૩	જસ્સ વિ ય ણં કરેહં ।	૨૧૪૪	જે એગં જાણહં, સે સવ્વં જાણહં....	૩૧૭૪
જમિણં પરિકહિજ્જહં....	૨૧૨૬	જસ્સિમાઓ જાઈઓ....	૭૧૨	જે એગં નામે સે બહું નામે....	૩૧૭૬
જમિણં વિપ્પહિવળ્લા મામગં ધમ્મં....	૮૧૬	જસ્સિમે આરંભા....	૬૧૧૧	જે કોહદંસી સે માણદંસી....	૩૧૮૩
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ ...	૧૧૧૯	જસ્સિમે સદ્દા ય રુવા....	૩૧૪	જે ખલુ મ્હો ! વીરા સમિતા....	૪૧૫૨
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ....	૧૧૨૭	જસ્સેતે અગ્ગિ-કમ્મ-સમારંભા ...	૧૧૮૯	જે ગુણે સે આવટ્ટે....	૧૧૯૩
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ ...	૧૧૪૨	જસ્સેતે ઉદય-સત્થ-સમારંભા....	૧૧૬૫	જે ગુણે સે મૂલદુણ્ણે....	૨૧૧
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ ...	૧૧૫૦	જસ્સેતે છજ્જીવ-ણિકાય....	૧૧૭૭	જે છેએ સે સાગારિયં ણ સેવણ....	૫૧૧૦
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ ...	૧૧૭૩	જસ્સેતે તસકાય-સત્થ-સમારંભા....	૧૧૪૪	જેણ બંધં વહં ધોરં....	૪૧૪૯
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ....	૧૧૧૦૧	જસ્સેતે પુઢવિકમ્મસમારંભા....	૧૧૩૪	જેણ સિયા તેણ ણો સિયા ।	૨૧૮૮
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ....	૧૧૧૦૯	જસ્સેતે લોગંસિ કમ્મ-સમારંભા....	૧૧૧૨	જે ણિબ્બુઢા પાર્વેહિ કમ્મેહિ....	૪૧૩૮
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ....	૧૧૨૮	જસ્સેતે વણસ્સહ-સત્થ-સમારંભા....	૧૧૧૭	જે ણિબ્બુયા પાર્વેહિ કમ્મેહિ....	૮૧૧૬
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ....	૧૧૨૬	જસ્સેતે વાઝ-સત્થ-સમારંભા	૧૧૬૮	જે ડીહલોગ-સત્થસ્સ સ્થેયણે....	૧૧૬૭
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ....	૧૧૨૫	જહા અંતો તહા બાહિ ..	૨૧૨૯	જે પજ્જવજાય સત્થસ્સ સ્થેયણે....	૩૧૧૭
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ....	૧૧૨૬	જહા જુણ્ણાં કઢ્ઢાં....	૪૧૩૩	જે પમત્તે ગુણદિણ....	૧૧૬૯
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ....	૧૧૨૫૨	જહા પુણ્ણસ્સ કત્થહં ..	૨૧૭૪	જે પુવ્વદુઢાઈ ણો પચ્છા-ણિવાઈ....	૫૧૪૨
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ ...	૧૧૨૬૦	જહા સે દીવે અસંદીણે....	૬૧૭૨	જે ભિક્ખુ અચેલે પરિવુસિતે....	૮૧૧૧
જમિણં વિરુવરુવેહિ સત્થેહિ....	૨૧૧૦૪	જહેત્થ કુમલે ણોવલિપિજ્જાસિ....	૨૧૪૮	જે ભિક્ખૂ એગેણ વત્થેણ....	૮૧૮૫
જમિયં અણ્ણમણ્ણવિત્તિગિચ્છાણ....	૩૧૫૪	જહેત્થ કુસલે ણોવલિપિજ્જાસિ....	૨૧૨૦	જે ભિક્ખૂ તિહિ વત્થેહિ....	૮૧૪૩
જમેયં ભગવતા પવેહિયં....	૮૧૦૪	જહેત્થ કુસલેહિ ...	૫૧૪૭	જે ભિક્ખૂ ડોહિ વત્થેહિ....	૮૧૬૨
જમેયં ભગવતા પવેદિતં....	૮૧૫૬	જહેત્થ મણ સંઘી મ્હોસિણ....	૫૧૪૧	જે મમાહિય-મતિ જહાતિ....	૨૧૧૫૬
જમેયં ભગવતા પવેદિતં....	૮૧૭૪	જહેયં ભગવતા પવેદિતં....	૬૧૬૫	જે મહં અબહિમણે ।	૫૧૧૨૨
જમેયં ભગવતા પવેદિતં....	૮૧૮૦	જાણ સદ્દાણ ણિક્ખંતો....	૧૧૩૬	જે ય હિરી, જેય અહિરીમણા ....	૬૧૪૫
જમેયં ભગવતા પવેદિતં....	૮૧૯૬	જાગર-વેરોવરણ વીરે ।	૩૧૮	જેવણે એતેહિ કાણ્ણિ....	૮૧૧૯
જમેયં ભગવતા પવેદિતં....	૮૧૧૦૦	જાણિત્તુ દુક્ખં પત્તેયં સાયં ।	૨૧૨૨	જે વા સે કારેહં બાલે ।	૨૧૪૬
જમેયં ભગવતા પવેદિતં....	૮૧૧૧૫	જાણિત્તુ દુક્ખં પત્તેયં સાયં ।	૨૧૭૮	જે સન્નિહાણ સત્થસ્સ સ્થેયણે....	૮૧૩૮
જમેયં ભગવતા પવેદિતં....	૮૧૧૨૪	જાણિત્તુ દુક્ખં પત્તેયં સાયં ।	૫૧૨૪	જેહિ વા સંદ્ધિ સંવસતિ....	૨૧૭
જયંત્રિહારી ચિત્તિણવાતી ...	૫૧૬૯	જાતિ ચ વુઢિંહ ચ ઇહજ્જ ! પાસે ।	૩૧૨૬	જેહિ વા સંદ્ધિ સંવસતિ....	૨૧૨૬
જયમાણે એત્થ વિરત્તે અણ્ણારે....	૬૧૩૯	જામા તિણ્ણિ ઉદાહિયા....	૮૧૧૫	જેહિ વા સંદ્ધિ સંવસતિ....	૨૧૨૦
જરામચ્ચુવસોવળીણે ણરે ...	૩૧૧૦	જાવ સોય-પણ્ણાણા....	૨૧૨૫	જેહિ વા સંદ્ધિ સંવસતિ....	૨૧૭૬
જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૫૭	જીવિણે ઇહ જે પમત્તા....	૨૧૧૩	<b>ણ</b>	
જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૭૫	જીવિયં દુપ્પહિવહ્ણં ।	૨૧૨૨	ણ ઇત્થી ણ પુરિસે....	૫૧૧૩૫
જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૭૬	જીવિયં પુઢો પિયં....	૨૧૫૭	ણ ઇમં સક્કં સિદ્ધિલેહિ....	૫૧૫૮
જસ્સ ણં ભિક્ખુસ્સ....	૮૧૭૭	જુઢારિહં ખલુ દુલ્લહં ।	૫૧૪૬	ણ એત્થ તવો વા....	૨૧૫૯
		જે અચેલે પરિવુસિણ, તસ્સ....	૬૧૬૦	ણ એવં અણ્ણારસ્સ જાયતિ ।	૨૧૪૭



ण कक्खडे ण मउए....	५११३१	तं जे णो करए एसोवरए....	११९२	तत्थ जे ते आरिया....	४१२२
ण काऊ ।	५११३२	तं णो अण्णेसि ।	१११७५	तत्थ-तत्थ पुढो पास, आउरा....	११२४
ण कियहे न पीले....	५११२९	तं णो अन्नेसि ।	५१५६	तत्थ-तत्थ पुढो पास, आतुरा....	१११५
ण तित्ते ण कडुए....	५११३०	तं णो करिस्सामि समुट्टाए ।	११९०	तत्थावि तस्स कालपरिणाए ।	८१५९
णत्थि कालस्स णागमो ।	२१६२	तं पडुच्च पडिसंखाए ।	५११०५	तत्थावि तस्स कालपरियाए ।	८१८२
णममाणा एगे....	६१८३	तं परक्कमंतं परिदेवमाणा....	६१२६	तत्थावि तत्थ कालपरियाए ।	८११०८
ण मे देति ण कुप्पिज्जा....	२११०२	तं परिगिज्ज्जु दुपयं....	२१६५	तत्थावि तस्स कालपरियाए ।	८१२२८
ण रुहे ।	५११३३	तं परिण्णाय मेहावी....	११३३	तत्थियराइयरेहि कुलेहि....	६१५३
ण लिप्पई छणपएण वीरे ।	२११८०	तं परिण्णाय मेहावी....	११६४	तद्दिट्ठीए तम्मोत्तीए....	५१११०
ण संगे ।	५११३४	तं परिण्णाय मेहावी....	११७०	तद्दिट्ठीए तम्मोत्तीए....	५१६८
ण सुभिग्गधे, ण दुरभिग्गधे ।	५११२९	तं परिण्णाय मेहावी....	११८८	तमेव उवाइकम्म ।	८११२
णाइवाएज्ज कंचणं ।	२११००	तं परिण्णाय मेहावी....	११११६	तमेव सच्चं णीसकं....	५१९५
णातिवाएज्ज कंचणं ।	६१२३	तं परिण्णाय मेहावी....	१११४३	तम्हा अविमणे वीरे सारए....	४१४१
णातीतमट्ठं ण य....	३१६०	तं परिण्णाय मेहावी....	१११६७	तम्हा ण हंता ण विषायए ।	३१५३
णारति सहते वीरे....	२११६०	तं परिण्णाय मेहावी....	१११७६	तम्हा तिविज्जो णो....	४१३९
णालं पास ।	२१९७	तं परिण्णाय मेहावी....	२१४६	तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा....	३१२८
णालं पास ।	६१२०	तं परिण्णाय मेहावी ।	२११५८	तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा ..	३१३३
णिकखंतं पि तेसि....	६१८५	तं परिण्णाय मेहावी ।	३१२४	तम्हा पंडिए णो हरिसे, णो कुज्जे ।	२१५१
णिज्जाइत्ता पडिलेहिता....	१११२१	तं परिण्णाय मेहावी....	८११८	तम्हा पावं कम्मं णेव कुज्जा न ...	२११४९
णिहेसं णातिवट्ठेज्जा....	५१११५	तं परिण्णाय मेहावी....	८१२०	तम्हा लूहाओ णो परिवत्तसेज्जा ।	६१११०
णियट्टमाणा वेगे....	६१८२	तं पि से एगया दायाया....	२१६८	तम्हा संगं ति पासह ।	६११०८
णिव्विद णंदि ...	२११६२	तं पि से एगया दायाया....	२१८४	तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे....	८१५८
णिव्विद णंदि अरते पयासु ।	३१४७	तं भिक्खुं सीयफास....	८१४१	तवे से अभिसमण्णागए भवइ ।	६१६४
णिस्सारं पासिय णाणी....	३१४५	तं मेहावी जाणिज्जा धम्मं ।	६१९०	तवे से अभिसमण्णागए भवइ ।	८१७९
णिहाय वंडं पाणेहि....	८१३३	तं सच्चं सच्चावादी....	८११०७	तवे से अभिसमण्णागए भवति ।	८१९५
णेत्तेहि पलिच्छिन्नेहि....	४१४५	तं सच्चं सच्चावादी....	८११२७	तवे से अभिसमण्णागए भवति ।	८१२३
णेवं से अंतो, णेवं से दूरे ।	५१४	तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।	११२३	तवे से अभिसमण्णागए भवति ।	८१७३
णो धोएज्जा णो....	८१४६	तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।	११४६	तवे से अभिसमण्णागए भवति ।	८१५५
णो धोएज्जा णो....	८१६५	तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।	११७७	तवे से अभिसमण्णागए भवति ।	८१९९
णो धोएज्जा णो....	८१८८	तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।	१११०५	तवे से अभिसमण्णागए भवति ।	८११०३
णो लोगस्सेसणं चरे ।	४१७	तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।	१११३२	तवे से अभिसमण्णागए भवति ।	८१११४
णो हुव्वाए णो पाराए ।	२१३४	तं से अहियाए, तं से अबोहीए ।	१११५६	तसंति पाणा पदिसोदिसासु य ।	१११२३
त		तक्का जत्थ ण विज्जइ ।	५११२४	तामेव सइ असइ....	६११०
तओ से एगया मूढभावं जणयंति	२१६	तच्चं चेयं तहा चेयं....	४१४	तिविहेण जावि से तत्थ मत्ता....	२१८१
तओ से एगया रोग-समुप्पाया....	२११९	ततो से एगया....	२१८३	तुच्छए गिलाइ वत्तए ।	२११६७
तओ से एगया रोग-समुप्पाया ...	२१७५	तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ।	११९	तुमं चेव तं सल्लमाहुट्टु ।	२१८७
तओ से एगया विपरिसिट्ठं....	२१६७	तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ।	११२०	तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं....	५११०१
तओ से मारस्स अंतो....	५१३	तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ।	११४३	ते अणवकंखमाणा....	६१७३
तं आइइत्तु ण णिहे ण णिकखवे....	४१५	तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया ।	११७४	ते अणवकंखमाणा....	८१३२
तं च भिक्खू जाणेज्जा....	८१२४	तत्थ खलु भगवया परिण्णा....	१११०२	तेइच्छं पंडिते पवयमाणे ।	२११४१
तं जहा—अंधत्तं बहिरत्तं....	२१५४	तत्थ खलु भगवया परिण्णा ...	१११२९	ते फासे पुट्टो धीरो....	६१५८
तं जहा—उट्टिएसु वा ...	४१३	तत्थ खलु भगवया परिण्णा....	१११५३	ते भो वयंति—एयाइं आयत्तणाइं ।	२१९१

ते सब्दे पावाइया दुक्खस्स कुसला....	४३०	पवाएणं पवायं जाणेज्जा ।	५११३	मंता एयं मइमं ! पास ।	३११२
तेसितिए पण्णाणमुवल्लभ हिच्चा....	६१७७	पहू एजस्स दुगंछणाए ।	१११४५	मंता मइमं अभयं विदित्ता ।	११९१
<b>थ</b>					
थीभि लोए पव्वहिए ।	२१९०	पाणा पाणे किलेसंति ।	६११३	मंदस्स अवियाणओ ।	१११२०
<b>द</b>					
दयं लोयस्स जाणित्ता....	६११०१	पाणा पाणे किलेसंति ।	६१५७	मंदा मोहेण पाउडा ।	२१३०
दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं ...	४१९	पाव-मोक्खोत्ति मण्णमाणे ।	२१४४	मञ्जिमेणं वयसा एणे....	८१३०
दिट्ठेहि णिव्वेयं गच्छेज्जा ।	४१६	पास लोए महब्भयं ।	६११४	माई पमाई पुणरेइ गब्भं ।	३११४
दुक्खं च जाण अदुवागमेस्सं ।	४१३५	पासह एणे रूवेसु गिद्धे ...	५११३	मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावातए ।	२११३३
दुक्खं लोयस्स जाणित्ता ।	३१७७	पासह एणेवसीयमाणे अणत्तपण्णे ।	६१५	मुणिणा हु एतं पवेदितं....	५१७८
दुरणुचरो मग्गे वीराणं ....	४१४२	पासहेगे समण्णागएहि ...	६१९७	मुणिणा हु एयं पवेइयं ।	२१७०
दुव्वसु मुणी अणाणाए ।	२११६६	पासहेगे सत्विदिएहि ...	८१३६	मुणी मोणं समादाय घुणे ...	२११६३
दुहओ छेत्ता नियाइ ।	२११११	पासिमं दविए....	३१७०	मुणी मोणं समायाए,....	५१५९
दुहओ छेत्ता नियाइ ।	८१४०	पासिय आउरे पाणे, अप्पमत्तो ...	३१११	मोहेण गब्भं मरणात्ति एति ।	५१७
दुहओ जीवियस्स परिव्वदण....	३१६८	पुट्टा वेणे णियट्ठंति....	६१८४	<b>ल</b>	
दोहि अंतेहि अदिस्समाणे ।	३१२३	पुट्टोछंदा इह माणवा....	५१२५	लज्जमाणा पुट्टो पास ।	१११७
<b>ध</b>					
धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण....	८१२९	पुट्टो फासाइ च फासे ।	४१३६	लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११४०
धुवं चेयं जाणेज्जा....	८१२	पुट्टो सत्थं पवेइयं ।	११५७	लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११७१
<b>ण</b>					
नरा मुयच्चा धम्मविदु त्ति अंजू ।	४१२८	पुट्टो सत्थेहि विउट्ठंति ।	११६०	लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११९९
नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि....	४११६	पुणो-पुणो मुणासाए ...	११९८	लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११२६
नालं ते तव ताणाए वा....	२१८	पुरिसा ! अत्ताणमेव....	३१६४	लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११५०
नालं ते तव ताणाए वा....	२११७	पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं....	३१६२	लद्धा हरत्था पडिलेहाए....	५११२
नालं ते तव ताणाए वा ...	२१२१	पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि ।	३१६५	लद्धे आहारे अणगारे मायं....	२१११३
नालं ते तव ताणाए वा....	२१७७	पुव्वं दंडा पच्छा फासा....	५१८५	लाघवं आगममाणे ।	६१६३
<b>प</b>					
पडिए पडिलेहाए ।	२११३१	पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं....	४१२५	लाघवियं आगममाणे ।	८१५४
पंतं लूहं सेवति, वीरा ...	२११६४	<b>ब</b>			
पंतं लूहं सेवति, वीरा....	५१६०	बहुं च खलु पावकम्मं पगडं ।	३१३९	लाघवियं आगममाणे ।	८१७२
पडिलेहाए णावकंखति ।	२१३८	बहुं पि लद्धं ण णिहे ।	२१११६	लाघवियं आगममाणे ।	८१९४
पडिलेहाए णावकंखति....	५११२१	बहुदुक्खा हु जंतवो ।	६११५	लाघवियं आगममाणे ।	८१९८
पडिलेहिय सब्बं समायाय ।	३१२२	बालवयणिज्जा हु ते नरा,....	६१८६	लाघवियं आगममाणे ।	८११०२
पणया वीरा महावीहि ।	११३७	बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे....	२१७४	लाघवियं आगममाणे ।	८१११३
पण्णाणेहि परियाणइ लोयं....	३१५	बाले पुण णिहे कामसमणुण्णे....	२११८६	लाघवियं आगममाणे ।	८११२२
परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा ।	२१११७	बित्तिया मंदस्सं बालया ।	६१८१	लाभो त्ति न मज्जेजा ।	२१११४
परिण्णे सण्णे ।	५११३६	बुद्धेहि एयं पवेदितं ।	६१११	लोयं च आणाए अभिसमेच्चा....	११३८
पलिच्छदिया णं णिव्वकम्मदंसी ।	३१३५	बुद्धेहि एयं पवेदितं ...	८१२८	लोयं च आणाए अभिसमेच्चा....	३१८१
पलिच्छदिय बाहिरगं च सोयं....	४१५०	<b>भ</b>			
पलियं पगथे अदुवा पगथे ।	६१४२	भंजगा इव सन्निवेसं णो चयंति....	६१७	लोभं अलोभेण दुगंछमाणे....	२१३६
पलियं पगथे अदुवा पगथे अतर्हेहि ।	६१८९	भिक्षवं च खलु पुट्टा वा अपुट्टा वा ...	८१२५	लोयं च पास विष्फंदमाणं ।	४१३७
<b>म</b>					
मई तत्थ ण गाहिया ।	५११२६	भिक्षू तं गाहावति....	८१२२	लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं ।	३१२
<b>न</b>					
मंता एयं मइमं ! पास ।	३११२	भूएहि जाण पडिलेह सातं ।	२१५२	लोयंसी परमदंसी विवित्तजीवी....	३१३८
मंता मइमं अभयं विदित्ता ।	११९१	भूतेहि जाण पडिलेह सातं ।	३१२७	<b>व</b>	
मंदस्स अवियाणओ ।	१११२०	भोगामेव अणुसोयंति ।	२१७९	वंता लोयस्स संजोगं,....	३१७८
मंदा मोहेण पाउडा ।	२१३०	<b>म</b>			
मञ्जिमेणं वयसा एणे....	८१३०	मई तत्थ ण गाहिया ।	५११२६	वण्णाएसी णारभे कंचणं सब्वलोए ।	५१५३
माई पमाई पुणरेइ गब्भं ।	३११४	<b>न</b>			
मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावातए ।	२११३३	<b>व</b>			
मुणिणा हु एतं पवेदितं....	५१७८	<b>व</b>			
मुणिणा हु एयं पवेइयं ।	२१७०	<b>व</b>			
मुणी मोणं समादाय घुणे ...	२११६३	<b>व</b>			
मुणी मोणं समायाए,....	५१५९	<b>व</b>			
मोहेण गब्भं मरणात्ति एति ।	५१७	<b>व</b>			
<b>ल</b>					
लज्जमाणा पुट्टो पास ।	१११७	<b>व</b>			
लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११४०	<b>व</b>			
लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११७१	<b>व</b>			
लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११९९	<b>व</b>			
लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११२६	<b>व</b>			
लज्जमाणा पुट्टो पास ।	११५०	<b>व</b>			
लद्धा हरत्था पडिलेहाए....	५११२	<b>व</b>			
लद्धे आहारे अणगारे मायं....	२१११३	<b>व</b>			
लाघवं आगममाणे ।	६१६३	<b>व</b>			
लाघवियं आगममाणे ।	८१५४	<b>व</b>			
लाघवियं आगममाणे ।	८१७२	<b>व</b>			
लाघवियं आगममाणे ।	८१९४	<b>व</b>			
लाघवियं आगममाणे ।	८१९८	<b>व</b>			
लाघवियं आगममाणे ।	८११०२	<b>व</b>			
लाघवियं आगममाणे ।	८१११३	<b>व</b>			
लाघवियं आगममाणे ।	८११२२	<b>व</b>			
लाभो त्ति न मज्जेजा ।	२१११४	<b>व</b>			
लोयं च आणाए अभिसमेच्चा....	११३८	<b>व</b>			
लोयं च आणाए अभिसमेच्चा....	३१८१	<b>व</b>			
लोभं अलोभेण दुगंछमाणे....	२१३६	<b>व</b>			
लोयं च पास विष्फंदमाणं ।	४१३७	<b>व</b>			
लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं ।	३१२	<b>व</b>			
लोयंसी परमदंसी विवित्तजीवी....	३१३८	<b>व</b>			
<b>व</b>					
वंता लोयस्स संजोगं,....	३१७८	<b>व</b>			
वण्णाएसी णारभे कंचणं सब्वलोए ।	५१५३	<b>व</b>			
वत्थं पडिग्गहं, कंबलं पायपुंछणं....	२१११२	<b>व</b>			
वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं ...	६१३१	<b>व</b>			

वयं पुण एवमाइक्खामो....	४।२३	सपेहाए मया कज्जति ।	२।४३	से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा....	८।६३
वयसा वि एणे बुइया कुप्पति....	५।६३	समयं तत्थुवेहाए. अप्पाणं....	३।५५	से आया-बले से णाइ-बले....	२।४१
वयो अच्चेइ जोव्वणं व ।	२।१२	समयं लोगस्स जाणित्ता....	३।३	से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई....	१।५
वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवति ।	६।९५	समिते एयाणुपस्सी ।	२।५३	से उट्टिएसु वा अणुट्टिएसु वा....	६।१०२
वसित्ता बंभचेरंसि आणं तं....	६।७८	समिया पडिवन्ने यावि एवं बूया....	४।१६	से किट्टति तेसि समुट्टियाणं....	६।३
विगिच कोहं अविक्कपमाणे ....	४।३४	समुट्टिए अणगारे आरिए....	२।१०६	से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा....	६।९९
विगिच मंस-सोणियं ।	४।४३	समेमाणा पलेमाणा, पुणो-पुणो....	४।१०	से जं च आरभे जं च णारभे....	२।१८३
विणइत्तु लोभं निक्खम्म....	२।३७	सम्ममेयंति पासह ।	४।४८	से जहेयं भगवया पवेदितं....	८।९
विणएतु सोयं निक्खम्म....	५।१२०	सम्ममेयंति पासह ।	५।९१	सेज्जं पुण जाणेज्जा....	१।३
वित्तिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं ....	५।९३	सरणं तत्थ णो समेति....	६।२८	से ण छणे ण छणावए....	३।४६
विदिता लोगं, वंता लोगसण्णं ..	२।१५९	सव्वं गेहि परिण्णाय....	६।३७	से ण दीहे ण हस्से ण वट्टे....	५।१२७
विदिता लोगं, वंता लोगसण्णं....	३।२५	सव्वतो पमत्तस्स भयं....	३।७५	से ण सट्टे, ण ल्वे, ण मंघे....	५।१४०
विमुक्का हु ते जणा, जे जणा....	२।३५	सव्वतथ सम्मयं पावं ।	८।११	से ण हस्साए, ण किट्टाए....	२।९
विरयं भिक्खुं रीयंतं चिररात्तोसियं ....	६।७०	सव्वामगंधं परिण्णाय....	२।१०८	से णाइए, णाइआवए, ण....	२।१०७
विरागं रूवेहि गच्छेज्जा....	३।५७	सव्वे पाणा पिथाउया ..	२।६३	से णो काहिए णो पासणिए....	५।८७
विस्सेणि कट्टु, परिण्णाए ।	६।६८	सव्वे सरा णियट्टंति ।	५।१२३	से तं जाणह जमहं बेमि ।	२।१४०
वीरेहि एयं अभिभूय दिट्ठं,....	१।६८	सव्वेसि जीवियं पियं ।	२।६४	से तं संबुज्जमाणे, आयाणीयं....	१।२४
वेरं वड्ढेति अप्पणो ।	२।१३५	सव्वेसि पाणाणं सव्वेसि भूयाणं....	१।१२२	से तं संबुज्जमाणे, आयाणीयं....	१।४७
		सव्वेसि पाणाणं सव्वेसि भूयाणं ....	६।१०३	से तं संबुज्जमाणे, आयाणीयं ....	१।७८
		सहपम्माएणं अणेगरूवाओ ....	२।५५	से तं संबुज्जमाणे आयाणीयं....	१।१०६
		सहसम्मइयाए परवागरणेणं....	५।११४	से तं संबुज्जमाणे, आयाणीयं....	१।१३३
		सहिए दुक्खमत्ताए पुट्टो णो ...	३।६९	से तं संबुज्जमाणे, आयाणीयं....	१।१५७
		सहिए धम्ममादाय सेयं....	३।६७	से तं संबुज्जमाणे आयाणीयं....	२।१४८
		सिया वेगे अणुगच्छंति, असिया....	५।९४	से तत्थ गढिए चिट्टइ, भोयणाए ।	२।६६
		सिया से एगयरं विप्परासुसइ....	२।१५०	से तत्थ गढिए चिट्टति, भोयणाए ।	२।८२
		सिया से एवं वदंतस्स परो....	८।४२	से तत्थ विअतिकारए ।	८।८३
		सीओसिणच्चाई से निग्गये....	३।७	से तत्थ विअतिकारए ।	८।१०९
		सीलमंता उवसंता संखाए....	६।८०	से तत्थ विअतिकारए ।	८।१२९
		सुत्ता अमुणी सया, मुणियो ...	३।१	से दुक्खाए मोहाए माराए....	१।९२
		सुपडिलेहिय सव्वतो सव्वयाए....	५।११६	से पभूयदंसी पभूयपरिण्णणे....	५।७५
		सुग्गिभ अहुवा दुग्गिभ ।	६।५५	से पासति फुसियमिव, कुसग्गे....	५।५
		सुयं मे आउसं ! ....	१।१	से पास सव्वतो गुत्ते. पास लोए....	५।९०
		सुहट्टी लालप्पमाणे सएण....	२।१५१	से पुव्वं पेयं पच्छा पेयं भेउर-धम्मं....	५।२९
		से अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।	६।४१	से बेमि—अप्पेगे अंधमग्गे, अप्पेगे....	१।२८
		से अणासादए अणासादमाणे....	६।१०५	से बेमि—अप्पेगे अंधमग्गे, अप्पेगे....	१।५१
		से अण्णवहाए अण्ण....	३।४३	से बेमि—अप्पेगे अंधमग्गे, अप्पेगे....	१।८२
		से अबुज्जमाणे हतोवहते....	२।५६	से बेमि—अप्पेगे अंधमग्गे, अप्पेगे....	१।११०
		से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे....	५।७०	से बेमि—अप्पेगे अंधमग्गे, अप्पेगे....	१।१३७
		से अविहिंसमाणे अणवयमाणे....	५।२६	से बेमि—अप्पेगे अंधमग्गे....	१।१६१
		से असइं उच्चापोए....	२।४९	से बेमि—अप्पेगे अच्चाए....	१।१४०
		से अहेसणिज्जं वत्थं जाएज्जा ।	८।८६	से बेमि—इमं पि जाइधम्मयं....	१।११३
		से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा....	८।४४	से बेमि—जे अईया, जे य....	४।१

२४

सएण विप्पमाएण, पुढो वयं....	२।१५२
संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं....	६।१०७
संति पाणा अंधा तमंसि ...	६।९
संति पाणा पुढो सिया ।	१।१६
संति पाणा पुढो सिया ।	१।१२५
संति पाणा वासगा....	६।१२
संति-मरणं सपेहाए भेउरधम्मं....	२।९६
संधि लोगस्स जाणित्ता ।	३।५१
संधि विदिता इह मच्चिएहि ।	२।१२७
संधि समुप्पेहमाणस्स....	५।३०
संधेमाणे समुट्टिए ।	६।७१
संपुण्णं बाले जीविउकामे....	२।६०
संवाहा बहवे भुज्जो-भुज्जो ...	५।६५
संसयं परिजाणतो, संसारे....	५।९
सच्चंसि धित्ति कुव्वह ।	३।४०
सच्चस्स आणाए उवट्टिए से....	३।६६
सड्ढिस्स णं समणुणस्स....	५।९६
सट्ठी आणाए मेहावी ।	३।८०
सततं मूढे धम्मं णाभिजाणइ ।	२।९३
सत्ता कामेहि माणवा ।	६।१६
सत्थं चेत्य अणुवीइ पासा ।	१।५६
सट्ठे य फासे अहियासमाणे ।	२।१६१
सन्निहि-सन्निचओ कज्जइ ...	२।१०५

से बेमि—जेव सयं लोगं....	१।३९	से मइमं परिणाय, मा य हु....	२।१३२	से सुपडिबुद्धं सूवणीयं ति णच्चा....	५।३४
से बेमि—जेव सयं लोगं ..	१।६६	से मेहावी अणुग्घायणस्स खेयण्णे....	२।१८१	से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे....	५।३६
से बेमि—तं जहा ।	५।८९	से मेहावी अभिनिवट्टेज्जा....	३।८४	से सीयति जूरति तिप्पति....	२।१२४
से बेमि—संति पाणा उदय....	१।५४	से मेहावी परिव्वए ।	६।५५	से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपइत्ता....	२।१४
से बेमि—संतिमे तसा पाणा....	१।११८	से वंता कोहं च, माणं च....	३।७१	से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता....	२।१४२
से बेमि—संति संपाइमा पाणा....	१।१६४	से वसुमं सव्व-समन्नागय....	१।१७४	से हु एगे संविद्धपहे मुणी ...	५।५०
से बेमि—समणुण्णस्स वा ..	८।१	से वसुमं सव्व-समन्नागय-पण्णाणेणं....	५।५५	से हु दिट्ठपहे मुणी ।	३।३७
से बेमि—से जहावि अणगारे ...	१।३५	से वि तत्थ विअतिकारए ।	८।६०	से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि....	२।१५७
से बेमि—से जहा वि कुम्मे हरए ...	६।६	सेवि तारिसए सिया, जे परिणाय....	५।४३	से हु पण्णाणमंते बुद्धे आरंभोवरए ।	४।४७
से भिक्खू अचेले परिवुसिते ...	८।१११	से सयमेव अगणि-सत्थं....	१।७६	सोच्चा खलु भगवओ अणगारारणं....	१।२५
से भिक्खू कालण्णे बलण्णे....	२।११०	से सयमेव उदय-सत्थं....	१।४५	सोच्चा खलु भगवओ अणगारारणं....	१।४८
से भिक्खू कालण्णे बलण्णे....	८।३९	से सयमेव तसकाय-सत्थं....	१।१३१	सोच्चा भगवओ अणगारारणं वा....	१।१०७
से भिक्खू परक्कमेज्ज ...	८।२१	से सयमेव पुढविसत्थं....	१।२२	सोच्चा भगवओ अणगारारणं वा....	१।१३४
से भिक्खू परक्कमेज्ज....	८।२३	से सयमेव वणस्सइ-सत्थं....	१।१०४	सोच्चा भगवओ अणगारारणं वा....	१।१५८
से भिक्खू वा भिक्खुणी वा....	८।१०१	से सयमेव वाउसत्थं....	१।१५५	सोच्चा वई मेहावी, पंडियाणं....	५।४०
				सोच्चा वई मेहावी, पंडियाणं....	८।३१

(क) अध्ययनगत पद्यांश तथा पद्य

पद्यमं अज्जसयणं

- १३ अट्टे लोए परिजुण्णे, दुस्संबोहे अविजाणए ।  
 १४ अस्सि लोए पव्वहिए ।  
 १५ तत्थ तत्थ पुढो पास, आतुरा परित्तवेत्ति ।  
 १६ संति पाणा पुढो सिया ।  
 १७ लज्जमाणा पुढो पास ।  
 २४ आयाणीयं समुट्ठाए ।  
 २६ इच्चत्थं गढिए लोए ।  
 ३३ तं परिण्णाय मेहावी ।  
 ३६ जाए सद्धाए णिव्वंत्तो, तमेव अणुपालिया ।  
 विजहित्तु विसोत्तिथं ।  
 ३७ पणया वीरा मेहावीहि ।  
 ४० लज्जमाणा पुढो पास ।  
 ४७ आयाणीयं समुट्ठाए ।  
 ४९ इच्चत्थं गढिए लोए ।  
 ५७ पुढो सत्थं पवेइयं ।  
 ५८ अदुवा अदिण्णादाणं ।  
 ६४ तं परिण्णाय मेहावी ।  
 ६८ वीरेहि एयं अभिभूय दिट्ठं ।  
 ६९ जे पमत्ते गुणट्ठिए, से हू दंडे पव्वुच्चति ।  
 ७० तं परिण्णाय मेहावी ।  
 ७१ लज्जमाणा पुढो पास ।  
 ७८ आयाणीयं समुट्ठाए ।  
 ८० इच्चत्थं गढिए लोए ।  
 ८८ तं परिण्णाय मेहावी ।  
 ९० तं णो करिस्सामि समुट्ठाए ।  
 ९१ मंता मइमं अभयं विदिता ।  
 ९२ अपण्णारेत्ति पव्वुच्चइ ।  
 ९३ जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे ।  
 ९८ पुणो-पुणो गुणासाए । पमत्ते गारभावसे ।  
 ९९ लज्जमाणा पुढो पास ।  
 १०६ आयाणीयं समुट्ठाए ।  
 १०८ इच्चत्थं गढिए लोए ।  
 ११६ तं परिण्णाय मेहावी ।  
 ११९ संसारेत्ति पव्वुच्चति ।  
 १२० मदस्स अवियाणओ ।

- १२३ तसंति पाणा पदिसोदिसासु य ।  
 १२४ तत्थ-तत्थ पुढो पास, आउरा परित्तवेत्ति ।  
 १२५ संति पाणा पुढो सिया ।  
 १२६ लज्जमाणा पुढो पास ।  
 १३३ आयाणीयं समुट्ठाए ।  
 १३५ इच्चत्थं गढिए लोए ।  
 १४३ तं परिण्णाय मेहावी ।  
 १४५ पहू एजस्स दुगंछणाए ।  
 १४६ आयकदंसी अहियं ति नच्चा ।  
 १४८ एयं तुलमण्णेसि ।  
 १४९ इह संतिगया दविया, पावकंखंति वीजिउं ।  
 १५० लज्जमाणा पुढो पास ।  
 १५७ आयाणीयं समुट्ठाए ।  
 १५९ इच्चत्थं गढिए लोए ।  
 १६४ संति संपाइमा पाणा, आहच्च संपयंति य ।  
 फरिसं च खलु पुट्ठा, एगे संधायमावज्जंति ॥  
 १६७ तं परिण्णाय मेहावी ।  
 १६९ एत्थं पि जाणे उवादीयमाणा ।  
 १७० जे आयारे न रमंति ।  
 १७१ आरंभमाणा विणयं वयंति ।  
 १७२ छंदोवणीया अज्जोववण्णा ।  
 १७३ आरंभसत्ता पकरेत्ति संयं ।  
 १७६ तं परिण्णाय मेहावी ।

बीमं अज्जसयणं

- २ इच्चत्थं गढिए लोए ।  
 ३ अहो य राओ य परितप्पमाणे, कालाकालसमुट्ठाई, संजोमट्ठी  
 अट्ठालोभी, आलुपे सहसक्कारे,  
 एत्थ सत्थे पुणो-पुणो ।  
 ८ नालं ते तव ताणाए ।  
 १२ वयो अच्चेइ जोव्वणं व ।  
 १३ जीविए इह जे पमत्ता ।  
 १७ नालं ते तव ताणाए ।  
 २४ खणं जाणाहि पंडिए ।  
 ३० मंदा मोहेण पाउडा ।  
 ३१ अपरिग्गहा भविस्सामो ।  
 लद्धे कामेहिगाहंति ।

- ३३ एत्थ मोहे पुणो-पुणो ।  
 ३४ णो हव्वाए णो पाराए ।  
 ३५ विमुक्का हु ते जणा, जे जणा पारणामिणो ।  
 ३६ लोभं अलोभेण दुगंछमाणे, लद्धे कामे नाभिगाहइ ।  
 ३७ विणइत्तु लोभं निक्खम्म ।  
 ३९ अणगारेति पवुच्चति ।  
 ४० अहो य राओ य परितप्पमाणे, कालाकालसमुट्ठाई,  
 संजोगट्ठी अट्टालोभी, आलुंभे सहसक्कारे,  
 एत्थ सत्थे पुणो-पुणो ।  
 ४६ तं परिण्णाय मेहावी ।  
 ४७ आरिएहि पवेइए ।  
 ५२ भूएहि जाण पडिलेह सातं ।  
 ५३ समित्ते एयाणुपस्सी ।  
 ६१ इणमेव णावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो ।  
 जाती-मरणं परिण्णाय, चरे संकमणे दढे ।  
 ६२ णत्थि कालस्स णागमो ।  
 ६३ सव्वे पाणा पियाउया ।  
 ६४ सव्वेसि जीवियं पियं ।  
 ७१ अणोहंतरा एते, नो य ओहं तरित्तए ।  
 अतीरंगमा एते, नो य तीरं गमित्तए ।  
 अपारंगमा एते, नो य पारं गमित्तए ।  
 ७२ आयाणिज्जं च आयाय, तम्मि ठाणे ण चिट्ठइ ।  
 वितहं पप्पसेयण्णे, तम्मि ठाणम्मि चिट्ठइ ॥  
 ७७ नालं ते तव ताणाए ।  
 ७८ जाणित्तु दुक्खं पत्थेयं सायं ।  
 ८६ आसं च छंदं च विमिच्च धीरे ।  
 ८९ इणमेव णावबुज्झंति, जे जणा भोहपाउडा ।  
 ९० धीभि लोए पव्वहिए ।  
 ९४ अप्पमादो महामोहे ।  
 १०० णाइवाएज्ज कंचणं ।  
 १०१ एस वीरे पसंसिए ।  
 १०२ ण मे देति ण कुप्पिज्जा, धोवं लद्धुं न खिसए ।  
 १०८ सव्वामगंधं परिण्णाय, णिरामगंधो परिव्वए ।  
 १०९ अदिस्समाणे कय-विक्कएसु ।  
 ११२ कंवलं पायपुंछणं, उगगहं च कढासणं ।  
 एतेसु चेव जाएज्जा ।  
 ११४ लाभो त्ति न मज्जेज्जा ।  
 ११५ अलाभो त्ति ण सोयए ।  
 ११६ बहं पि लद्धुं ण णिहे ।  
 ११९ आरिएहि पवेइए ।  
 १२१ कामा दुरतिक्कमा ।  
 १२२ जीवियं दुप्पडिद्वहणं ।  
 १२५ आयतचक्खु लोग-विपस्सी ।  
 १२७ संधि विदिता इह मच्चिएहि ।  
 १२८ एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए ।  
 १२९ जहा अंतो तहा बाहि, जहा बाहि तहा अंतो ।  
 १३० अंतो अंतो पृतिदेहंतराणि ।  
 १३१ पंडिए पडिलेहाए ।  
 १३२ से मइमं परिण्णाय, मा य हु लालं पच्चासी ।  
 १३४ कडेण मूढे पुणो तं करेइ ।  
 १३५ वेरं वड्ढेति अप्पणो ।  
 १३६ जमिणं परिकहिज्जइ ।  
 १३७ अमरायइ महासड्ढी ।  
 १३८ अट्टमेतं पेहाए ।  
 १३९ अपरिण्णाय कंदति ।  
 १४४ जस्स वि य णं करेइ ।  
 १४५ अलं बालस्स संगेणं ।  
 १४६ जे वा से कारेइ बाले ।  
 १४८ आयाणीयं समुट्ठाए ।  
 १४९ तम्हा पावं कम्मं, णेव कुज्जा न कारवे ।  
 १५२ सएण विप्पमाएण, पुढो वयं पकुव्वति ।  
 १५६ से जहाति ममाइयं ।  
 १५७ से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं ।  
 १५८ तं परिण्णाय मेहावी ।  
 १६० गारति सहते वीरे, वीरे णो सहते रति ।  
 जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे ण रज्जति ॥  
 १६१ सइ य फासे अहियासमाणे ।  
 १६२ णिव्विद णंदि इह जीवियस्स ।  
 १६३ मुणी मोणं समादाय, धुणे कम्म-सरीरगं ।  
 १६४ पंतं लूहं सेवति, वीरा समत्तदंसिणो ।  
 १६५ एस ओघंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरते ।  
 १६६ दुव्वसु मुणी अणाणाए ।  
 १६७ तुच्छए गिलाइ वत्तए ।  
 १६८ एस वीरे पसंसिए ।  
 १६९ अच्चेइ लोयसंजोयं ।  
 १७० एस णाए पवुच्चइ ।  
 १७४ जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।  
 जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥  
 १७७ के यं पुरिसे ? कं च णए ?  
 १७८ एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए ।  
 १७९ उड्ढं अहं तिरियं दिसामु, से सव्वतो सव्वपरिण्णचारी ।  
 १८० ण लिप्पई छणपएण वीरे ।  
 १८१ बंधपमोक्खमण्णेसी ।  
 १८३ अणारद्धं च णारभे ।  
 १८४ छणं छणं परिण्णाय, लोगसण्णं च सव्वसो ।

तद्वयं अज्जयणं

- १ सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जावरंति ।
- २ लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं ।
- ३ समयं लोगस्स जाणित्ता ।
- ९ एवं दुक्खा पमोक्खसि ।
- ११ पासिय आउरे पाणे, अप्पमत्तो परिब्बए ।
- १२ मंता एयं मइमं ! पास ।
- १३ आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा ।
- १४ माई पमाई पुणरेइ गब्भं ।
- १५ उवेहमाणो सद्-रूवेसु अंजू, माराभिसंकी मरणा पमुच्चति ।
- २० कम्मं च पडिलेहाए ।
- २१ कम्ममूलं च जं छणं ।
- २४ तं परिण्णाय मेहावी ।
- २६ जाति च बुद्धि च इहज्ज ! पासे ।
- २७ भूतेहि जाण पडिलेह सातं ।
- २८ तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा, समत्तदंसी ण करेति पावं ।
- २९ उम्मं च पासं इह मच्चिहएहि ।
- ३० आरंभजीवी उ भयाणुपस्सी ।
- ३१ कामेसु गिद्धा णिचयं करेति, संसिच्चमाणा पुणरेति गब्भं ।
- ३२ अवि से हासमासज्ज, हंता णदीति मन्नति ।  
अलं बालस्स संगेणं, वेरं वडुडेति अप्पणो ॥
- ३३ तम्हा तिविज्जो परमंति णच्चा, आयं कदंसी ण करेति पावं ॥
- ३४ अगं च मूलं च विगिच धीरे ।
- ३५ पलिच्छिदिया णं णिक्कम्मदंसी ।
- ३६ एस मरणा पमुच्चइ ।
- ३७ से ह्ठु दिट्ठपहे मुणी
- ३८ लोयंसी परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते,  
समित्ते सहिते सया जए कालकंखी परिब्बए ॥
- ४० सच्चंसि धिति कुव्वह ।
- ४४ आसेवित्ता एतमट्ठं इच्चेवेगे समुट्ठिया ।
- ४५ णिस्सारं पासिय णाणी, उववायं चवणं णच्चा ।  
अणण्णं चर माहणे ! ।
- ४६ से ण छणे ण छणावए, छणंतं णाणुजाणइ ॥
- ४७ णिव्विद गंदि अरते पयासु ।
- ४९ कोहाइमाणं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे णिरयं महंतं ।  
तम्हा हि वीरे विरते वहाओ, छिदेज्ज सोयं लहुभूयगामी ॥
- ५० गंथं परिण्णाय इहज्जेव वीरे, सोयं परिण्णाय चरेज्ज दंते ।  
उम्मग्ग लद्धुं इह माणवेहि, णो पाणिणं पाणे समारभेज्जासि ॥
- ५१ संधि लोगस्स जाणित्ता ।
- ५२ आयओ बहिया पास ।
- ५५ समयं तत्थुवेहाए, अप्पाणं विप्पसायए ।

- ५६ अणण्णपरमं नाणी, णो पमाए कयाइ वि ।  
आयगुत्ते सया वीरे, जायामायाए जावए ।
- ५७ विरागं रूवेहि गच्छेज्जा, महया खुड्ढएहि वा ।
- ५८ आगति गति परिण्णाय, दोहि वि अतेहि अदिस्समाणे ।  
से ण छिज्जइ ण भिज्जइ ण डज्जइ, ण हम्मइ कंचणं सव्वलोए ॥
- ५९ अवरेण पुव्वं ण सरंति एगे, किमस्सतीतं ? कि वागमिस्सं ?  
भासंति एगे इह माणवा उ, जमस्सतीतं आगमिस्सं ॥
- ६० णातीतमट्ठं ण य आगमिस्सं, अट्ठं नियच्छति तहागया उ ।  
विधूत-कण्णे एयाणुपस्सी, णिज्जोसइत्ता खवगे महेसी ॥
- ६१ का अरई ? के आपदे ? एत्थं पि अग्गहे चरे ।  
सव्वं हासं परिच्चज्ज, आलीण-गुत्तो परिब्बए ॥
- ६२ पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, कि बहिया मित्तमिच्छसि ?
- ६३ जं जाणेज्जा उच्चालइयं, तं जाणेज्जा दूरालइयं ।  
जं जाणेज्जा दूरालइयं, तं जाणेज्जा उच्चालइयं ॥
- ६४ पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्ज, एवं दुक्खा पमोक्खसि ।
- ६७ सहिए घम्ममादाय, सेयं समणुपस्सति ।
- ६९ सहिए दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो भंभाए ।
- ७७ दुक्खं लोयस्स जाणित्ता ।
- ७८ वंता लोगस्स संजोमं, जंति बीरा महाजाणं ।  
परेण परं जंति, तावकंखंति जीवियं ॥
- ८० सड्ढी आणाए मेहावी ।
- ८२ अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं ।
- ८३ जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायदंसी ।  
जे मायदंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पेज्जदंसी ।  
जे पेज्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी ।  
जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी से जम्मदंसी ।  
जे जम्मदंसी से मारदंसी, जे मारदंसी से निरयदंसी ।  
जे निरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी ।

चउत्थं अज्जयणं

- २ सेयण्णेहि पवेइए ।
- ४ तच्चं चेयं तहा चेयं, अस्सि चेयं पवुच्चइ ।
- ७ णो लोगस्सेसणं चरे ।
- ८ जस्स णत्थि इमा णाई, अण्णा तस्स कओ सिया ?
- १० समेसाणा पलेसाणा ।
- ११ अहो य राओ जयमाणे, वीरे सया आगयपण्णाणे ।  
पगत्ते बहिया पास, अप्पमत्ते सया परक्कमेज्जासि ॥
- १३ आघाइ णाणी इह माणवाणं ।
- १४ अट्ठु वि संता अदुआ पमत्ता ।
- १६ नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि, इच्छापणीया वंकाणिकेया ।  
कालग्गहीआ णिचए णिचिट्ठा, पुढो-पुढो जाई पकप्पयति ॥
- १८ चिट्ठं कूरेहि कम्मेहि, चिट्ठं परिचिट्ठति ।  
अचिट्ठं कूरेहि कम्मेहि, णो चिट्ठं परिचिट्ठति ॥

- १९ एगे वयति अदुवा वि णाणी, णाणी बवति अदुवा वि एगे ।  
 २० उड्डं अहं तिरियं दिसासु ।  
 एत्थ वि जाणह्णत्थिदोसो ।  
 २२ उड्डं अहं तिरियं दिसासु ।  
 एत्थ वि जाणह्णत्थिदोसो ।  
 २३ एत्थ वि जाणह्णत्थिदोसो ।  
 २७ उवेह्ण एणं बहिया य लोयं, से सव्वलोगंसि जे केइ विण्णु ।  
 अणुवीइ पास णिक्खित्तदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति ॥  
 २८ नरा मुयच्चा धम्मविदु त्ति अंजू ।  
 २९ आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा, एवमाह्ण समत्तदंसिणो ॥  
 ३३ जहा जुण्णाइं कट्टाइं, ह्व्ववाहो पमत्थति, एवं अत्तसमाहिए  
 अणिहे ।  
 ३४ विगिच कोहं अविक्कंपमाणे, इमं णिरुद्धाउयं संपेहाए ।  
 ३५ दुक्खं च जाण अदुवागमेस्सं ।  
 ३६ पुढो फासाइं च फासे ।  
 ३७ लोयं च पास विप्फंदमाणं ।  
 ३८ जे णिव्वुडा पावेहिं कम्मोहिं, अणिदाणा ते वियाहिया ।  
 ४० जहित्ता पुव्वसंजोगं ।  
 ४१ तम्हा अविमणे वीरे ।  
 ४३ विगिच भंस-सोणियं ।  
 ४४ एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिज्जे वियाहिए ।  
 जे धुणाइ समुस्सरं, वसित्ता बंभचेरंसि ॥  
 ४५ णेत्तेहिं पलिच्छिन्नेहिं, आयाणसोय-गठिए बाले ।  
 अब्बोच्छिन्नबंधणे, अणभिककतसंजोए ।  
 तमंसि अविजाणओ ।  
 ४६ जस्स नत्थि पुरा पच्छा, यज्जे तस्स कओ सिया ?  
 ४८ सम्ममेयंति पासह् ।  
 ४९ जेण बंधं वहं घोरं, परितावं च दारुणं ।  
 ५० पलिच्छिदिय बाहिरगं च सोयं, णिककम्मदंसी इह मच्चिएहिं ॥  
 ५१ कम्मणा सफलं दट्ठुं, तओ णिज्जाइ वेयवी ।

### पंचमं अज्जसयणं

- ५ से पासति फुसियमिव, कुसग्गे पणुन्नं णिवत्तितं वातेरितं ।  
 एवं बालस्स जीवियं, मंदस्स अविजाणओ ।  
 ७ मोहेण गम्भं मरणाति एति ।  
 ८ एत्थ मोहे पुणो-पुणो ।  
 ११ कट्टु एवं अविजाणओ, वितिया मंदस्स बालया ।  
 १४ एत्थ फासे पुणो-पुणो ।  
 १७ आसवसक्की पलिउच्छन्ते ।  
 उट्टियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू ।  
 १८ अट्टा पया माणव ! कम्मकोविया ।  
 २२ आरिएहिं पवेदिते ।  
 २३ उट्टिए णो वमायए ।

- २४ जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं ।  
 २५ पुढोछंदा इह माणवा, पुढो दुक्खं पवेदितं ।  
 २८ इति उदाह्ण वीरे ते फासे पुढो हियासए ।  
 ३६ से सुयं च मे अज्जत्थियं च मे, बंध-पमोक्खो तुज्ज्ज अज्जत्थेव ॥  
 ३७ एत्थ विरते अणगारे, दीहुरायं तितिक्खए ।  
 पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए ॥  
 ४० सोच्चा वई मेहावी, पंडियाणं णिसामिया ।  
 समियाए धम्मे, आरिएहिं पवेदिते ।  
 ४१ णो णिहेज्ज वीरियं ।  
 ४३ सेवि तारिसए सिया, जे परिण्णाय लोगमणुस्सिओ ।  
 ४४ एयं णियाय मुणिया पवेदितं— इह आणाकंखी पंडिए अणिहे,  
 पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं संपेहाए, सुणिया भवे अकामे  
 अक्कंमे ।  
 ४५ इमेणं चेव जुज्जाहिं, किं ते जुज्जेण बज्जओ ?  
 ४६ जुद्धारिहं खलु बुल्लहं ।  
 ४९ अस्सि चयं पव्वुच्चति, ह्वंसि वा छणंसि वा ।  
 ५१ इति कम्मं परिण्णाय, सव्वसो से ण हिंसति । संजमति णो  
 पगम्भति ।  
 ५४ एगप्पमुहे विदिसप्पइण्णे, निव्विन्नचारी अरए पयासु ।  
 ५७ जं सम्मं ति पासहा, तं मोणं ति पासहा ।  
 जं मोणं ति पासहा, तं सम्मं ति पासहा ॥  
 ५९ मुणी मोणं समायाए, धुणे कम्म-सरीरयं ।  
 ६० पतं लूहं सेवति, वीरा समत्तदंसिणो ।  
 ६१ एस ओहंतरे मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए ।  
 ६२ अवियत्तस्स भिक्खुणो ।  
 ६४ उन्नयमाणे य णरे, महता मोहेण मुज्जति ।  
 ६६ एयं ते मा होउ ।  
 ६७ एयं कुसलस्स दंसणं ।  
 ६८ तद्धिटीए तम्मोत्तीए ।.....तस्सण्णी तन्निवेसणे ।  
 ६९ जयविहारी चित्तणिवाती, पंधणिज्जाती पलीवाहरे, पासिय  
 पाणे गच्छेज्जा ।  
 ७४ एवं से अप्पमाएणं, विवेगं किट्टुति वेयवी ।  
 ७७ एस से परमारामो, जाओ लोगम्मि इत्थीओ ।  
 ८० अवि ओमोयरियं कुज्जा ।  
 ८५ पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा ।  
 ८९ अवि हरए पडिपुण्णे, चिट्टइ समंसि भोमे ।  
 उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्टुति सोयमज्जगए ॥  
 ९० से पास सव्वतो गुत्ते, पास लोए महेसिणो ।  
 ९१ सम्ममेयंति पासह् ।  
 ९५ तमेव सच्चं णीसकं, जं जिणेहिं पवेइयं ।  
 ९७ उवेहाहिं समियाए ।  
 १०२ ण हंता ण विघायए ।



- १०३ अणुसंवेद्यमप्याणेषु, जं हंतुं त्वं ति णाभिपत्थए ।  
 १०४ जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया ।  
 जेष विजाणति से आया ।  
 १०५ तं पडुच्च पडिसंखाए ।  
 १०९ एयं कुसलस्स दंसणं ।  
 ११० तद्धिटीए तम्मत्तीए ।  
 तस्सण्णी तन्निवेसणे ।  
 ११५ णिहेसं णातिवट्टेज्जा ।  
 ११७ इहारामं परिण्णाय, अल्लीण-पुत्तो परिव्वए ।  
 णिट्ठियट्ठी वीरे, आगमेण सदा परवकमेज्जासि ।  
 ११८ उड्ढं सोता अहे सोता, तिरियं सोता बियाहिया ।  
 एते सोता वियक्खाया, जेहि संगति पासहा ॥  
 ११९ आवट्टं तु उवेहाए, एत्थ विरमेज्ज वेयवी ।  
 १२० विणएत्तु सोयं णिक्खम्म ।  
 १२३ सब्बे सरा णियट्टंति ।  
 १२४ तक्का जत्थ ण विज्जइ ।  
 १२५ मई तत्थ ण गाहिया ।  
 १३० अपयस्स पयं णत्थि ।

छट्ठं अज्झयणं

- १ ओबुज्झमाणे इह माण्वेसु ।  
 २ अक्खाइ से णाणमणेसिं ।  
 ४ एवं पेगे महावीरा ।  
 ७ अणेगरूवेहि कुलेहि जाया,  
 रूवेहि सत्ता कलुणं यणंति,  
 णियाणओ ते ण लभंति मोक्खं ।  
 ८ गंडी अदुवा कोढी, रायंसी अवमारियं ।  
 काणियं भिमियं चैव, कुणियं खुज्जियं तथा ॥  
 उदरिं पास मूयं च, सूणियं च गिलासिणिं ।  
 देवइं पीढसिं च, सिलिवयं महुमेहणिं ॥  
 सोलस एते रोगा, अक्खाया अणुपुव्वसो ।  
 अहं णं फुसंति आयंका, फासा य असमंजसा ॥  
 मरणं तेसि संपेहाए, उववायं चयणं च णच्चा ।  
 परिपागं च संपेहाए, तं सुणेह जहा तथा ॥  
 १३ पाणा पाणे किलेसंति ।  
 १४ पास लोए महुभयं ।  
 १५ बहुदुक्खा हु जंतवो ।  
 १६ सत्ता कामेहि माणवा ।  
 १७ अबलेण वहं गच्छंति, सरीरेण पमंगुरेण ।  
 १८ अट्टे से बहुदुक्खे, इति बाले पगम्भइ ।  
 १९ एते रोगे बहू णच्चा, आउरा परितावए ।  
 २३ णातिवाएज्ज कंचणं ।  
 २५ अणुपुव्वेण महामुणी ।

- २६ तं परवकमतं परिदेवमाणा, मा णे चयाहि इति ते वदंति ।  
 छंदोवणीया अज्झोववन्ना, अक्कंदकारी जणगा खंति ॥  
 ३० आतुरं लोयमायाए, चइत्ता पुव्वसंजोमं ।  
 अहेगे तमचाइ कुसीला ।  
 ३३ कामे ममायमाणस्स इयाणि वा मुहुस्से वा ।  
 ३५ अहेगे धम्म मादाय ।  
 ३६ अपलीयमाणे दढे ।  
 ३७ सब्बं गेहि परिण्णाय, एस पणए महामुणी ।  
 ३८ अइअच्च सब्बतो संगं ।  
 ४१ अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा ।  
 ४२ पलियं पगंथे अदुवा पगंथे ।  
 ४४ तित्तिक्खमाणे परिव्वए ।  
 ४६ चिच्चा सब्बं विसोत्तियं, फासे फासे समियदंसणे ।  
 ४७ एते भो ! णगिणा वुत्ता, जे लोगसि अणागमणधम्मिणो ।  
 ४८ आणाए मामगं धम्मं ।  
 ४९ एस उत्तरवादे, इह माणवाणं वियाहिते ।  
 ५० आयाणिज्जं परिण्णाय, परियाएण विगिचइ ।  
 ५४ से मेहावी परिव्वए ।  
 ५५ सुग्भि अदुवा दुग्भि ।  
 ५६ अदुवा तत्थ भेरवा ।  
 ५७ पाणा पाणे किलेसंति ।  
 ७० विरयं भिक्खुं रीयंतं ।  
 ७१ संधेमाणे समुट्ठिए ।  
 ७२ जहा से दीवे असंतीणे ।  
 आयरिय-पदेसिए ।  
 ७५ सिस्सा दिया य राओ य, अणुपुव्वेण वाइय ।  
 ७६ सिस्सा दिया य राओ य, अणुपुव्वेण वाइया ।  
 ७८ वसित्ता बंभचेरंसि ।  
 ७९ समणुण्णा जीविस्सामो ।  
 असंभवता विज्झमाण्णा, कामेहि गिद्धा अज्झोववण्णा ।  
 समाहिमाघायमभोसयंता, सत्थारमेव फरुसं वदंति ॥  
 ८० सीलमंता उवसंता, संखाए रीयमाणा ।  
 असीला अणुक्कयमाणा ।  
 ८१ बितिया मंदस्स बालया ।  
 ८४ पुट्टा वेगे णियट्टंति, जीवियस्सेव कारणा ।  
 ८६ बालक्कयणिज्जा हु ते नरा, पुणो-पुणो जाति पक्कप्येति ।  
 ८७ अहमंसी विउक्कसे,  
 ८८ उदासीणे फरुसं वदंति ।  
 ८९ पलियं पगंथे अदुवा पगंथे ।  
 ९१ घोरे धम्मे उदीरिए, उवेहइ णं अणाणाए ।  
 ९३ मातरं पितरं हिच्चा, णातओ य परिग्गहं ।  
 वीरायमाणा समुट्ठाए, अविहिंसा मुव्वया दंता ॥

- ९९ फासा फुसंति ते फासे, पुट्टो वीरोहियासए ।  
 १०० ओए समियदंसणे ।  
 १०१ दयं लोगस्स जाणित्ता ।  
 १०५ जहा से दीवे असंदीणे ।  
 भवइ सरणं महामुणी ।  
 १०६ एवं से उट्टिए ठियप्पा, अणिहे अचले चले, अबहिलेस्से परिव्वए ।  
 १०७ संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिं परिणिव्वुडे ।  
 १०८ तम्हा संगं ति पासह ।  
 १०९ गंधेहि गढिया णरा, विसण्णा कामविप्पिया ।  
 ११२ एस तुट्टे वियाहिते ।  
 ११३ कायस्स विओवाए, एस संगामसीसे वियाहिए ।  
 से हु पारंगमे मुणी, अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठि ।  
 कालोवणीते कंसेज्ज कालं ।

### अट्टमं अज्झयणं

- ११ सव्वत्थ सम्मयं पावं ।  
 १४ गामे वा अदुवा रण्णे ?  
 णेव गामे णेव रण्णे ।  
 माहणेण मईमया ।  
 १५ जामा तिण्णि उदाहिया ।  
 संबुज्जमाणा समुट्ठिया ।

- १६ जे णिव्वुया पावेहि कम्मोहि, अणियाणा ते वियाहिया ।  
 १७ उड्ढं अहं तिरियं दिसासु ।  
 १८ तं परिणाय मेहावी ।  
 २० तं परिणाय मेहावी ।  
 २५ घीरो पुट्ठो अहियासए ।  
 २६ आयार-गोयरमाइक्खे, तक्किया ण मणेलिसं ।  
 २८ बुट्ठेहि एयं पवेदितं ।  
 २९ धम्ममायाणह, पवेइयं माहणेण मतिमया ।  
 ३० मज्झमेणं वयसा एगे, संबुज्जमाणा समुट्ठिता ।  
 ३१ सोच्चा वई मेहावी, पंडियाणं निसामिया ।  
 समियाए धम्मे, आरिएहि पवेदिते ।  
 ३३ णिहाय दंडं पाणेहि ।  
 ३४ ओए जुतिमस्स खेयण्णे उववायं चवणं च णच्चा ।  
 ३५ आहारोवचया देहा, परिसह-पभंगुरा ।  
 ५८ तवस्सिणो हु तं सेयं, जमेगे विहमाइए ।  
 १०५ कसाए पयणुए किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठि ।  
 उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुड्ढच्चे ।  
 १०७ वेच्चाण भेउरं कायं ।  
 १२५ कसाए पयणुए किच्चा समाहियच्चे फलगावयट्ठि ।  
 उट्ठाय भिक्खू अभिनिव्वुड्ढच्चे ।  
 १२७ वेच्चाण भेउरं कायं ।

### (ख) ८१८ तथा ९वें अध्यायन का पदानुक्रम

अइवातियं अणाउट्टे	९।१।१७	अतिअच्च मुणी परवकममाणे	९।१।९
अंतो बहिं विउसिज्ज	८।८।५	अतिदुक्खं हिमग-संफासा	९।२।१४
अकसाई विगयगेही	९।४।१५	अदु कुचरा उवचरति	९।२।८
अचले जे समाहिए	८।८।१४	अदु गामिया उवसग्गा	९।२।८
अचले भगवं रीइत्था	९।३।१३	अदु जावइत्थ लूहेणं	९।४।४
अचित्तं तु समासज्ज	८।८।२१	अदु थावरा तसत्ताए	९।१।१४
अचिरं पडिलेहित्ता	८।८।२०	अदु पोरिसि तिरियं भित्ति	९।१।५
अचेलए ततो चाई	९।१।४	अदु बक्कसं पुलागं वा	९।४।१३
अच्छइ उक्कुडुए अभिवाते	९।४।४	अदु माहणं व समणं वा	९।४।११
अच्छिपि णो पमज्जिया	९।१।२०	अदु लेलुणा कवालेणं	९।३।१०
अज्झत्थं सुद्धमेसए	८।८।५	अदुवा अट्टमेण दसमेणं	९।४।७
अट्ट मासे य जावए भगवं	९।४।५	अदुवा आसणाओ खलइंसु	९।३।१२
अणाहारो तुअट्टेज्जा	८।८।८	अदुवा चिट्ठे अहायसे	८।८।१६
अणुपुव्वीए संखाए	८।८।२	अदुवा जे पक्खिणो उवचरंति	९।२।७
अण्णेहि वा ण कारित्था	९।४।८	अदुवा पलियट्ठाणेसु	९।२।२

अदुवा मुट्टिणा अदु कुंताइ-फलेणं	१।३।१०	अहासुयं वडिस्तामि	१।१।१
अदु वायसा दिगिच्छत्ता	१।४।१०	अहिसमाणो घासमेसित्था	१।४।१२
अदु सव्वजोणिया सत्ता	१।१।१४	अहियासए सया समिए	१।२।१०
अद्धमासं अदुवा मासं पि	१।४।५	अहियासए सया समिए	१।३।१
अन्नगिलायमेगया भुंजे	१।४।६	अहुणा पव्वइए रीयत्था	१।१।१
अपडिण्णेण वीरेण	१।१।२३	अहे वियडे अहियासए दविए	१।२।१५
अपडिण्णेण वीरेण	१।२।१६	आघाय-णट्ट-गौताइं	१।१।९
अपडिण्णेण वीरेण	१।३।१४	आणुपुव्वी-विमोहाइं	ना०।१
अपडिण्णेण वीरेण	१।४।१७	आवकहं भगवं समिआसी	१।४।१६
अपिइत्थ एगया भगवं	१।४।५	आइक्ख ताइं सयणासणाइं	१।२।१
अपुट्ठे वि भगवं रोगेहिं	१।४।१	आउक्खेमस्स अप्पणो	ना०।६
अप्पं तिरियं पेहाए	१।१।२१	आउकालस्स पारए	ना०।११
अप्पं पिट्ठो उवेहाए	१।१।२१	आउकालस्स पारए	ना०।२५
अप्पं बुइएऽपडिभाणी	१।१।२१	आगंतारे अटरामागारे	१।२।३
अप्पपाणं तु विण्णाय	ना०।७	आयतजोगमायसोहीए	१।४।१६
अप्पमत्ते समाहिए ऋाति	१।२।४	आयत्त-जोगयाए सेवित्था	१।४।९
अप्पाहारो तितिक्खए	ना०।३	आयवज्जं पडीयारं	ना०।१२
अप्पे जणे णिवारेइ	१।३।४	आयावई य गिम्हाणं	१।४।४
अभिककमे पडिक्कमे	ना०।१५	आयाणसोयमतिवायसोयं	१।१।१६
अभिणिव्वुडे असाइल्ले	१।४।१६	आरंभाओ तितट्ठति	ना०।२
अभिरुज्झ कायं विहरिसु	१।१।३	आरुसियाणं तत्थ हिंसिसु	१।१।३
अयं चायततरे सिया	ना०।१९	आवेसण-सभा-पवासु	१।२।२
अयं से अवरं धम्मं	ना०।१२	आसणगाणि चैव पंताइं	१।३।२
अयं से उत्तमं धम्मं	ना०।२०	आसणत्थे अकुक्कुए ऋाणं	१।४।१४
अयमंतरंसि को एत्थ	१।२।१२	आसवेहिं विवित्तेहिं	ना०।१०
अयमुत्तमे से धम्मं	१।२।१२	आसिसु भगवं उट्टाए	१।२।६
अरइं रइं अभिभूय	१।२।१०	आसीणे णेलिसं मरणं	ना०।१७
अलद्धपुव्वो वि एगया गामो	१।३।८	आहारस्सेव अंतियं	ना०।३
अवि ऋाति से महावीरे	१।४।१४	इंदिएहिं गिलायंते	ना०।१४
अवि साहिए दुवे मासे	१।४।६	इंदियाणि समीरए	ना०।१७
अविसाहिए दुवे वासे	१।१।११	इच्छा-लोभं ण सेवेज्जा	ना०।२३
अवि सुब्धि-दुब्धि-गंधाइं	१।२।९	इति पण्णेहियासए	ना०।२२
अवि सूइयं व सुक्कं वा	१।४।१३	इति संखाए से महावीरे	१।१।१३
अव्वाहिए कसाइत्था	१।२।११	इति से सयं पवेसिया ऋाति	१।१।६
अहं गामकंटए भगवं	१।३।७	इत्थी एगतिया पुरिसा य	१।२।८
अहं चक्खु-भीया सहिया	१।१।५	इत्थीओ तत्थ से परिणाय	१।१।६
अहं दुच्चर-लाठमचारी	१।३।२	इहलोइयाइं परलोइयाइं	१।२।९
अहं भिक्खु गिलाएज्जा	ना०।३	ईसिं साईं या सी अपडिण्णे	१।२।५
अहमंसि ति भिक्खु आहट्ठ	१।२।१२	उच्चालइय णिहंणिसु	१।३।१२
अहं लूहदेसिए भत्ते	१।३।३	उट्ठुभंति एगया कायं	१।३।११
अहवा पंसुणा अवकिरिसु	१।३।११	उड्ढमहे तिरियं च	१।४।१४
अहाकडं न से सेवे	१।१।१८	उवसंक्रमंतमपडिण्णं	१।३।९

उवसग्गा य संखाय	८१८२२	गामं पविसे णयरं वा	९१४१९
एगचरा वि एगदा राओ	९१२१११	गामपिडोलगं च अतिहि वा	९१४१११
एगतियाओ जाओ बुइयाओ	९१२११	गामरक्खा य सत्तिहत्था य	९१२१८
एगत्तगए पिहियच्चे	९१११११	गामे णगरेवि एगदा वासो	९१२१३
एताइं सो उरालाई	९११११०	गामे वा अदुवा रण्णे	८१८१७
एतेहि मुणी समयणेहि	९१२१४	गायबभंगणं सिणाणं च	९१४१२
एत्तो परं पलेहित्ति	९१३१९	वासमेसे कडं परट्टाए	९१४१९
एत्थं वावि अनेयणे	८१८११५	वाससणाए चिट्ठंते	९१४११०
एयं खलु अणुधम्मियं तस्स	९१११२	चक्खुमासज्ज अंतसो भाइ	९१११५
एयाइं संति पडिलेहे	९११११३	चत्तारि साहिए मासे	९१११३
एयाणि तिग्णि पडिसेवे	९१४१५	वरियासणाइं सेज्जाओ	९१२११
एलिकखए जणे भुज्जो	९१३१५	चाएइ भगवं समियाए	९१२११५
एवं पि तत्थ लाडेहि	९१३१८	चित्तमंताइं से अभिण्णाय	९११११३
एवं पि तत्थ विहरंता	९१३१६	छउमत्थे वि परक्कममाणे	९१४११५
एस विही अणुककंतो	९११२३	छट्ठेणं एगया भुजे	९१४१७
एस विही अणुककंतो	९१२११६	छप्पि मासे अदुवा अपिवित्ता	९१४१६
एस विही अणुककंतो	९१३११४	छायाए भाइ आसी य	९१४१३
एस विही अणुककंतो	९१४११७	छुछुकारंति आहंसु	९१३१४
एहा य समादहमाणा	९१२११४	जओ वज्जं समुप्पज्जे	८१८१८
ओयण-मंथु-कुम्मासेणं	९१४१४	जं किचि पावगं भगवं	९१११८
ओमोदरियं चाएति	९१४११	जं किचुवक्कमं जाणे	८१८१६
कम्मं च सव्वसो णच्चा	९११११५	जं ण रिक्कासि वत्थगं भगवं	९१११४
कम्मणा कप्पिया पुढो बाला	९११११४	जंसिप्येगे पवेयंति	९१२११३
कसाए पयणुए किच्चा	८१८१३	जग्गावती य अप्पाणं	९१२१५
कामेसु बहुतरेसु वि	८१८१२३	जस्सित्थियो परिण्णया	९११११७
काय-साहारणट्टाए	८१८११५	जहा से समणे भगवं उट्टाय	९११११
कासवेण महेसिणा	९११२३	जाइं धीरा समासज्ज	८१८११
कासवेण महेसिणा	९१२११६	जाइं सेवित्था से महावीरो	९१२११
कासवेण महेसिणा	९१३११४	जावज्जीवं परीसहा	८१८१२२
कासवेण महेसिणा	९१४११७	जीवित्ते मरणे तहा	८१८१४
किरियमक्खायणेत्तिसि णाणी	९११११६	जीवियं णाभिकंसेज्जा	८१८१४
कीरंतं पि णाणुजाणित्था	९१४१८	जे अण्णे रसेसिणो सत्ता	९१४११०
कुक्कुरं वावि विहं ठियं पुरतो	९१४१११	जे के इमे अगारत्था,	९१११७
कुक्कुरा तत्थ हिंसिसु पिवत्तिसु	९१३१३	जे य उड्ढमहेचरा	८१८१९
कलेलावासं समासज्ज	८१८११७	जो एवं अणुपालए	८१८११९
खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिए	८१८१६	जोगं च सव्वसो णच्चा	९११११६
गंधेहि विवित्तेहि	८१८१११	ठाणाओ ण विउब्भमे	८१८११०
गच्छइ णायपुत्त असरणाए	९११११०	ठाणातो ण विउब्भमे	८१८११९
गच्छति णाइवत्तई अंजू	९१११७	ठाणेण परिकल्लते	८१८११६
गच्छति संखंडि असरणाए	९११११९	ठावए तत्थ अप्पगं	८१८१२१
गडिए मिहो-कहासु	९११११०	णच्चाणं से महावीरे	९१४१८
गामंतियं पि अप्पत्तं	९१३१९	ण छणे ण पमज्जए	८१८१९

ण तत्थ अवलंबए	दादा१८	थंडिल मुणिआ सए	दादा१३
ण मे देहे परीसहा	दादा२१	दंडजुद्धाईं मुट्टिजुद्धाईं	१११९
णाओ संगमसीसे वा	११३८	दंत-पक्खालणं परिण्णाए	११४२
णाणुगिद्धे रसेसु अपडिण्णे	१११२०	दवियस्य वियाणतो	दादा११
णातिवेलं उवचरे	दादा८	दिव्वं मायं ण सद्दे	दादा२४
णाभिभासे अभिवायमाणे	१११८	दुक्खसहे भगवं अपडिण्णे	११३१२
णायपुत्तेण साहिए	दादा१२	दुच्चरगाणि तत्थ लाडेहिं	११३६
णिक्खम्म एगदा राओ	११२१५	दुवालसमेण एगया भुजे	११४७
णिक्खम्म एगया राओ	११२१६	दुविहं पि विदित्ताणं	दादा२
णिहं पि णो पगामाए	११२१५	दुविहं समिच्च मेहावी	११११६
णिसिएज्जा थ अंतसो	दादा१६	दुहतोवि ण सज्जेज्जा	दादा४
णो अवलंबियाण कंधंसि	१११२२	निधाय दंडं पाणेहिं	११३७
णो चेविमेण वत्थेण	१११२	पंतं सेज्जं सेविसु	११३२
णो पमायं सइं पि कुब्बित्था	११४१५	पंथपेही चरे जयमाणे	१११२१
णोवि य कंडूयये मुणी गायं	१११२०	परगहियतरगं चयं	दादा११
णो वि य पावगं सयमकासी	११४८	पडिणिक्खमित्तु लूसिसु	११३९
णो सुगरमेतमेगेसि	१११८	पडिसेवमाणे फरुसाइं	११३१३
णो सेवती य परवत्थं	११११९	पणगाइं बीय-हरियाइं	११११२
णो से सातिज्जति तेइच्छं	११४११	पणियसालासु एगदा वासो	११२२
तं अकुब्बं वियडं भुंजित्था	११११८	परक्कमे परिकिलंते	दादा१६
तं कायं वोसज्जमणगारे	११३७	परपाए वि से ण भुंजित्था	११११९
तं पडिबुज्जं माहणे	दादा२४	परिवज्जियाण ओमाणं	११११९
तं पडियाइक्खे पावगं भगवं	११११५	परिवज्जिया ण विहरित्था	११११३
तं वोसज्ज वत्थमणगारे	११११४	परीसहाइं लुंचिसु	११३११
तं वोसज्ज वत्थमणगारे	१११२२	पलालपुंजेसु एगदा वासो	११२२
तंसिप्पेगे अणगारा	११२१३	पसारित्तु बाहुं परक्कमे	१११२२
तंसि भगवं अपडिण्णे	११२१५	पाणा देहं विहिसंति	दादा१०
तं “हंता हंता” बह्वे कंदिसु ॥	१११५	पारए तत्थ से महावीरे	११३८
तणफासे सीयफासे य	११३१	पिहिया वा सक्खामो	११२१४
तणाइं संथरे मुणी	दादा७	पिहिस्सामि तंसि हेमंते	१११२
ततो उक्कसे अप्पाणं	दादा१८	पुट्टुपुवा अहेसि सुणएहिं	११३६
तसकायं च सच्चसो णच्चा	११११२	पुट्ठे वा से अपुट्ठे वा	११४१
तसजीवा य थावरत्ताए	११११४	पुट्ठो तत्थहियासए	दादा८
तस्सेव अंतरद्धाए	दादा६	पुट्ठो तत्थहियासए	दादा१३
तहावि से अगारिहे	दादा१४	पुट्ठो वि णाभिभासिसु	१११७
तितिक्खं परमं णच्चा	दादा२५	पुट्ठवि च आउकायं	११११२
तिप्पमाणेऽहियासए	दादा१०	पुव्वट्टाणस्स पग्गहे	दादा२०
तुसिणीए स कसाइए भाति	११२१२	पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे	११२११
ते अहियासए अभिसमेच्चा	११३७	पेहमाणे समाहिं अपडिण्णे	११४७
तेउकायं च वाउकायं च	११११२	पेहमाणे समाहिमपडिण्णे	११४१४
तेउफासे य दंस-मसगे य	११३१	फरुसाइं दुत्तितिक्खाइं	१११९
तेसप्पत्तियं परिहरंतो	११४१२	फासाइं विरुवरूवाइं	११२१०
थंडिलं पडिलेहिया	दादा७		

फासाइं विरुवरूवाइं	९।३।१	वोसिरे सव्वसो कायं	८।८।२१
बहवे जाणवया लूसिसु	९।३।३	संकुचए पसारए	८।८।१५
बहवे पाण-जाइया आगम्म	९।१।३	संखाए तंसि हेमंते	९।१।१
बहवे वज्जभूमि फरुसासी	९।३।५	संघाडिओ पविसिस्तामो	९।२।१४
बहिं चंकमिया मुहुत्तायं	९।२।६	संबाहणं ण से कप्पे	९।४।२
बुद्धा धम्मस्स पारगा	८।८।२	संबुज्जमाणे पुणरवि	९।२।६
भगवं च एवं मन्नेसि	९।१।१५	संलुचमाणा सुणएहि	९।३।६
भीमा आसी अणेगरूवा य	९।२।७	संवच्छरं साहियं मासं	९।१।४
भीमाइं अणेगरूवाइं	९।२।९	संवुडे तत्थ से महावीरे	९।३।१३
भुजंति मंस-सोणियं	८।८।९	संवुडे देहभेयाए	८।८।२२
भेउरेसु न रज्जेज्जा	८।८।२३	संसप्पया य जे पाणा	८।८।९
मदं परक्कमे भगवं	९।४।१२	संसप्पया य जे पाणा	९।२।७
मंसाणि छिन्नपुव्वाइं	९।३।११	संसोहणं च वमणं च	९।४।२
मज्झत्थो णिज्जरापेही	८।८।५	स जणेहि तत्थ पुच्छिसु	९।२।११
मरणं णोवि पत्थए	८।८।४	सदरूवेसुमुच्छिए भाति	९।४।१५
माणुस्सेहि वि पुट्टओ	८।८।८	सद्दाइं अणेगरूवाइं	९।२।९
मायण्णे असण-पाणस्स	९।१।२०	समणं कुक्कुरा डसतुत्ति	९।३।४
माहणेण मईमया	९।१।२३	समणा तत्थ एव विहरिसु	९।३।५
माहणेण मईमया	९।२।१६	समणे आसी पतेरस वासे	९।२।४
माहणेण मईमया	९।३।१४	समयंमि णायसुए विसोगे अदक्खू	९।१।१०
माहणेण मईमया	९।४।१७	समाहिमणुपालए	८।८।५
मीमीभावं पहाय से भाति	९।१।७	समियं साहरे मुणी	८।८।१४
राइं दिवं यि जयमाणे	९।२।४	सयणेहि तस्सुव्वसग्गा	९।२।७
रायोवरायं अपडिण्णे	९।४।६	सयणेहि वित्तिमिस्सेहि	९।१।६
रीयई माहणे अबहुवाई	९।२।१०	सयमणोसि अकरणयाए	९।१।१७
रीयति माहणे अबहुवाई	९।४।३	सयमेव अभिसमागम्म	९।४।१६
रुक्खमूले वि एगदा वासो	९।२।३	सययं णिवत्तिते य पेहाए	९।४।१०
लट्ठि गहाय णालीयं	९।३।५	सव्वं णच्चा अणेलिसं	८।८।१
लद्धे पिडे अलद्धए दविए	९।४।१३	सव्वं नूमं विघुणिया	८।८।२४
लाडेहि तस्सुव्वसग्गा	९।३।३	सव्वकम्मावहाओ से अदक्खू	९।१।१७
लूसणए सुणए दसमाणे	९।३।४	सव्वगायणिरोधेवि	८।८।१९
लूसियपुव्वो अप्पपुण्णेहि	९।१।८	सव्वट्ठेहि अमुच्छिए	८।८।२५
वज्जभूमि च मुव्वभूमि च	९।३।२	सव्वसो कम्मुणा य अदक्खू	९।१।१८
वसुमंतो मइमंतो	८।८।१	सव्वे फासेहियासए	८।८।१८
विउसिज्ज अणाहारो	८।८।१३	सागारियं ण सेवे	९।१।६
विजहिज्जा तिहा तिहा	८।८।१२	सासएहि णिमंतेज्जा	८।८।२४
वितहं पाउरेसए	८।८।१७	सिसिरंमि एगदा भगवं	९।४।३
वित्तिच्छेदं वज्जंतो	९।४।१२	सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने	९।१।२२
विमोहण्णतरं हितं	८।८।२५	सिसिरे मारुए पवायंते	९।२।१३
विरए गामधम्मैहि	९।४।३	सीतीदं अभोच्चा णिक्खंते	९।१।११
विहरे चिट्ठ माहणे	८।८।२०	सीर्यपिडं पुराणकुम्मासं	९।४।१३
वोसट्टुकाए पणयासी	९।३।१२	सुविसुद्धमेसिया भगवं	९।४।९

परिशिष्ट २ (ख) दाढ तथा ६ वें अध्यायन का पदानुक्रम

४६७

सुसाणे सुण्णनारे वा	९।२।३	सोवागं मूसियारं वा	९।४।११
सुहुमं वण्णं सपेहिया	दाढ।२३	हंता-हंता बह्वे कदिमु	९।३।१०
सूरो संगामसीसे वा	९।३।१३	हयपुव्वो तत्थ दंडेण	९।३।१०
से अहिण्णायदंसणे संते	९।१।११	हयपुव्वो तत्थ दंडेहि	९।१।८
से पारए आवकहाए	९।१।२	हरिएसु ण णिवज्जेज्जा	दाढ।१३
सेवइ भगवं उट्ठाए	९।२।५	हिमवाए णिवायमेसंति;	९।२।१३
सोवहिए हु लुप्पती बाले	९।१।१५		

विशेष शब्दार्थ

अंजु—ऋजु, कल्याणकारी	३१५	अणारिय—हिंसाधर्मी	४१२१
○ अहिंसक	५११०२	अणिदाण—बन्धन-मुक्त	४१३८
○ मध्यस्थ	९१११७	अणिह—अप्रताडित	४१३२
अंत—स्वभाव, निश्चय	३१२३	○ अस्नेह	५१४४
अंतर—अन्तरात्मा	२१११	○ राग-द्वेष से अपराजित	६११०६
○ विवर, शून्य प्रदेश, घर का गुप्त प्रदेश	९१११२	अणुग्घायण—अहिंसा	२११८१
अंतिय—मरणासन्नकाल	८१८३	○ (अण—कर्म, उग्घायण—उत्पादन, अणुग्घायण—कर्म का उत्पादन—चूर्ण)	
अकम्म—ध्यानस्थ, ज्ञानावरण तथा दर्शनावरण कर्मों से मुक्त	२१३७	अणुघम्मिय—धर्मानुगामिता	९११२
○ कर्ममुक्त, शुद्ध आत्मा	३११८	अणुवसु—सराग-संयम	६१३०
अकस्मात्—अहेतुक	८१७	अणुवीइ—विवेक या चिन्तनपूर्वक	६११०३
अकाम—अलुब्ध, इच्छाकाम से मुक्त	५१४४	अणुवेहमाण—अमध्यस्थ भाव रखने वाला	५१९७
अकुक्कय—अकुतूहल, अचपल	९१४१४	अणेलिस—अन्तःप्रज्ञागम्य	६१२
अकृतोभय—अभय	११३८	अणोमदसि—उत्तमदर्शी, आत्मदर्शी, उत्तम सम्यग्दृष्टि	३१४८
अखेयण—अनात्मज्ञ	२१७२	अतिवेल—मर्यादा का अतिक्रमण	८१८८
अग राग-द्वेष के हेतुभूत कर्म अथवा मोह के अतिरिक्त सभी कर्म	३१३४	अदिस्समाण—प्रवृत्ति न करता हुआ	२११०९
अचिर—समुचित स्थान	८१८२०	अदु (वे)—अथ	९११५
अचेयण—क्रियारहित	८१८१५	अन्नगिलाय—बासी भोजन	९१४६
अज्ज—आर्य	३१२६	अपडिण्ण—अप्रतिज्ञ—केवल अपने लिए ही नहीं किन्तु सामुदायिक शिक्षा लाने वाला	२१११०
अज्झत्थ—कषायों का उपशमन	१११४७	○ प्रतिकार के संकल्प से रहित	९१२११
अज्झोववण्ण—रसलोलुपता, सुखलोलुपता	६१७९	अपरिनिब्बान—अशांति	४१२६
अज्झंश—कलहमुक्त	५१४४	अपत्तीयमाण—अनासक्त	६१३६
अट्ट—पीडित	१११३	अपिडत्थ—बिना पानी पीए	९१४५
अट्टम—तीन दिन की तपस्या, तेला	९१४१७	अप्पत्तिट्ठाण—निरालंबन	५११२६
अणइवत्तिय—ज्ञान आदि का अनतिक्रमण, अहिंसा	६११०२	अबहिलेस्स—संयम में अथवा आत्मा में रमण करने वाला	६११०६
अणण्ण—आत्मा, चैतन्य	३१४५	अभिजुंजिय—बलात् सेवा में नियोजित कर	२१६५
अणण्णदंसि—निष्कामदर्शी, निर्मल चैतन्यदर्शी	२११७३	अभिणिठवट्ट—अंग-उपांग का निवर्तन	६१२५
अणण्णपरम—आत्मोपलब्धि, संयम, समता	३१५६	अभिसंजात—पेशी तक की अवस्था	६१२५
अणण्णाराम—चैतन्य में रमण करने वाला	२११७३	अभिसंभूत—कलल तक की अवस्था	६१२५
अणाणा—अनात्मभाव	२१२९	अभिसमेच्च—प्राप्त कर	९१३७
○ तीर्थंकर का अनुपदेश, अपनी बुद्धि से किया हुआ आचरण	५११०७	अभिसेय—शुक्र और शोणित का निषेक	६१२५
अणातीत—परिस्थिति से अप्रभावित	८११०७	अभोच्चा—पानी पीए बिना	९११११
अणादियमाण—अनादृत	२११७५	अमरायइ—अमर की भांति आचरण करता है	२१३७
अणारद्ध—अनाचीर्ण	२११८३	अमुणि—अज्ञानी	३११



अरइ—इष्ट की अप्राप्ति और इष्ट के विनाश से होने वाला मानसिक भाव	३।६१	आयततर—महत्तर	८।८।१९
अवसक्केज्जा—दूर रहे	२।१।१७	आयबल—शारीरिकबल	२।४१
अविज्जा—अज्ञान	५।१८	आयाण—कषाय	३।७३
अविमण—प्रसन्न मन वाला	४।४१	◦ वस्त्र	६।३५
असंदीण—आश्वास द्वीप	६।७२	◦ इन्द्रियां, परिग्रह	९।१।१६
असमगुण्ण—अन्यतीथिक	८।१	आयाण—जानो	६।२४
असरण—अस्मरण	९।१।१०	आयाणसोय—इन्द्रिय-विषय	४।४५
असिय—तत्त्वज्ञान रहित	५।९४	आयाणिज्ज—अपरिग्रह	२।७२
अहाकड—मुनि के लिए बनाया हुआ आधाकर्मी आदि भोजन	९।१।१८	◦ अनुकरणीय, ग्रहणीय	४।४४
अहासकच्च—यथार्थ	४।१५	◦ वस्त्र, कर्म	६।५१
अहिण्णायवंसण—क्षायिक सम्यग्दर्शन, सत्य-दर्शन	९।१।११	आयाणीय—संयम	१।२४
अहियासमाण—सहता हुआ	२।१६१	आयारगोयर—भाचार-व्यवहार	८।३
अहिरिमण—अलज्जाकारी	६।४५	आरंभ—हिंसाजनित प्रवृत्ति	३।१३
अहेसणिज्ज—अपनी-अपनी कल्प—मर्यादा के अनुसार ग्रहणीय	८।४४	◦ अज्ञान, कषाय, नो-कषाय, असंयम	५।९०
अहोववाइय—अधोलोक में होने वाले	४।१७	◦ वैयावृत्य-स्वाध्याय आदि करना, प्रवृत्ति	८।८।२
अहोविहार—संयम	२।१०	आरंभजीवि—हिंसाजीवी	३।३०
आउट्टु—निवर्तन करना	२।२७	आराम—आत्म-रमण	५।१।१७
आउट्टिकय—भविष्यपूर्वक कृत	५।७३	आरामागार—आरामगृह	९।२।३
आएस—आतिथ्य, यज्ञ	२।१०४	आरिय—आचार्य	२।४७
आगंतार—यात्रीगृह	९।२।३	◦ तीर्थंकर	२।१।१९
आगतिगति—संसार-भ्रमण	३।५८	◦ अहिंसाधर्मविद्	४।२२
आगम—आज्ञा, चिन्तन	६।९८	आलीण—इन्द्रिय-संवृत	३।६१
आगयपण्णण—लब्धप्रज्ञ	४।११	आलुंय—चोर या लुटेरा	२।३
आघाय—आख्यापिका	९।१।९	आवकह—यावज्जीवन	९।४।१६
आढायमाण—आदर प्रदर्शित करता हुआ	८।१	आवकहा—जीवनपर्यन्त	९।१।२
आणंद—इष्ट की प्राप्ति से होने वाला मानसिक भाव	३।६१	आवट्टु—संसार	१।९३
आणक्खेस्सामि (दे)—लाऊंगा	८।७७	◦ मन की चंचलता, मन का भ्रमण	३।६
आणा—सूक्ष्मतत्त्वावबोध, अतीन्द्रियबोध	१।९७	◦ आवर्त्त, चक्राकार गति	५।१८
◦ आत्मभाव, आत्मज्ञान, अर्हत् उपदेश	२।२९	आवीलए—साधना की पहली भूमिका	४।४०
◦ श्रुत	४।४५	आवेसण—शिल्पशाला	९।२।२
◦ सूत्र का आदेश	६।७८	आस—भोगाभिलाषा	२।८६
आणुगामिय—भविष्य में साथ देने वाला	८।६१	आसंसा—अभिलाषा	२।४५
आतीतट्टु—कृतार्थ	८।१०७	आसव—आश्रव, कर्मकार्षक, आत्म-परिणाम	४।१२
आमगंध—भोजन की आसक्ति	२।१०८	◦ पीडा, छिद्र	८।८।१०
आयंक—शारीरिक-मानसिक दुःख	१।१४६	आसवसक्कि—आस्रवों में आसक्त	५।१७
◦ ग्रीधघाती रोग	५।२८	आसायणा—बाधा, परिहानि	६।१०४
आयंकदंसि—हिंसा में आतंक देखने वाला	३।३३	आसुपण्ण—सर्वज्ञ	८।९
आयतचक्षु—संयतचक्षु, अनिमेषदृष्टिवाला	२।१३५	आहंसु—बुलाया	९।३।४
आयतजोग—मन, वचन और काया की संयत प्रवृत्ति	९।४।१६	इच्छाकाम—स्वर्ण आदि पदार्थ प्राप्त करने की कामना	२।१२१
आयतण—भोगसामग्री	२।९१	इच्छापणीय—इन्द्रिय और मन की विषयानुकूल प्रवृत्ति के द्वारा संचालित	४।१६
		इच्छालोभ—निदान	८।८।२३
		इत्तरिय—इंगिनीमरण अनशन	८।१०६

इहलोदय (उबसग्ग) —मनुष्यों द्वारा कृत (उपसर्ग)	९।२।९	ओमोयोरिय —अल्पीकरण	६।४०
उग्गाह—अवग्रह, स्थान	२।११२	ओय—अकेला	५।१२६
उच्चवागोय—सत्कार-सम्मानार्ह गौत्र	२।४९	○ एक, वीतराग, मध्यस्थ	६।१००
उच्चालइय —परमतत्त्व में लीन	३।६२	○ अहिंसक, अपरिग्रही	८।३७
उज्जुकड —संयमकारी	१।३५	ओववाइय—पुनर्जन्म लेने वाले	१।२
उट्टियवाय—'मैं उद्यत हुआ हूँ' ऐसी घोषणा करने वाला	५।१७	ओह—प्रवाह	२।७१
उत्तरवाह—उत्कृष्ट सिद्धान्त	६।४९	ओहंतरय—संसार-समुद्र का पारगामी	६।२७
उदरि—जलोदर रोग से ग्रस्त	६।८	कप्पति—करता है	२।१५०
उह्वित्ता—प्राणवधक, उत्त्रासक	२।१४	कम्म—प्रवृत्ति, कर्म-पुद्गल	४।५१
उह्वेस—व्यपदेश, कथन	२।७३	कम्मकोविय—प्रवृत्ति-कुशल	५।१८
उत्तयमाण—अहंकारग्रस्त	५।६४	कम्मसमारंभ—हिंसात्मक प्रवृत्ति विशेष	१।७
उम्मग्ग—उम्मज्जन—स्रोतों का निरोध और अपरिग्रह	३।५०	कम्मोवसंति—नए कर्मों को न करना और पुराने कर्मों	
○ विवर	६।६	का क्षय करना	२।१५५
उवधकम—आयुष्य-विघातक वस्तु	८।८।६	कथकिरिय—शरीर की साज-सज्जा करने वाला	५।८७
उवरय—संयत, विरत अथवा संयम में निकटता से रत	३।४१	कसाइत्था—रूष्ट होकर दुर्व्यवहार करना	९।२।११
उवराय—उपरात्र—रात्री के अंतिम दो प्रहर	९।४।६	कहंकह—संशय करना	८।१०७
उववाय—जन्म	३।४५	काम—कामना	२।१२१
उवसम—संयम	६।३०	कामंकम—कामाभिलाषी	२।१३४
उवाइयसेस—उपभोग के बाद बचा हुआ	२।१८	कामकामि—विषयों की कामना करने वाला	२।१२३
उवाहि—व्यवहार, व्यपदेश, विशेषण	३।१९	कामसमणुष्ण—कामप्रार्थी	२।७४
○ कषाय-जनित आत्म-परिणाम	३।८७	काल—समाधिमरण काल	५।९२
उवेहमाण—निकटता से देखने वाला	५।५२	कालकंखि—मृत्यु के प्रति अनुद्विग्न, तटस्थभाव से मृत्यु	
उवेहा—समझ, पर्यालोचन	३।५५	की देखने वाला	३।३५
○ मध्यस्थभाव	५।९६	कालपरियाय—मृत्यु	५।५९
एकसाड—एक शाटक वाला मुनि	८।५२	कालेणुट्टाइ—पराक्रम-काल में पराक्रम करने वाला	२।११०
एगबर—अकेला घूमने वाला पारदारिक	९।२।११	कुंताइ—भाला आदि शस्त्र	९।३।१०
एगचरिपा—एकलविहार, एकाकी चर्या	५।१७	कुचर—चोर, पारदारिक	९।२।८
एगत्तगय—एकत्व-अनुप्रेक्षा से भावित	९।१।११	कुसल—वीतराग, वीतरागता का साधक	२।९५
एगप्पमुह—लक्ष्याभिमुख	५।५४	○ सर्वपरिज्ञाचारी, केवली	२।१८२
एगायतण—देहातीत चैतन्य	५।३०	○ भगवान् महावीर	५।६७
एज—वायु	१।१४५	केयण—चलनी	३।४२
एगानुपस्सि—कर्मविपाक को देखने वाला	२।५३	खण—क्षण, मध्य	५।२१
○ वर्तमानदर्शी	३।६०	खणयण्ण—क्षण को जानने वाला	२।११०
एयावंति—इतने	१।७	खम—कालोचित	८।६१
ओघ—प्रवाह	२।१६५	खेत्त—अनाच्छादित भूमि	२।५७
ओघंतर—कर्मजनितसंस्कार अथवा संसार के प्रवाह को		खेम—सम्यक् पालन	८।८।६
तैरने वाला	२।१६५	खेयण्ण—क्षेत्र को जानने वाला	२।११०
ओमवेत्तिय—अतिसाधारण या अल्प वस्त्र धारण करने		○ क्षेत्र का अर्थ है—शरीर, काम, इन्द्रियविषय,	
वाला	८।४८	हिंसा और मन-वचन-कामा की प्रवृत्ति। जी	
ओमाण—ऐसा भोज, जहां गणना से अधिक खाने वालों		इन सबको जानता है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है	३।१६
की उपस्थिति हो जाने के कारण भोजन कम हो		गंध—परिग्रह	३।५०
जाए	९।१।१९	○ बन्धन	८।२५

गह्वि—बद्ध	२।१२६	गालीया—शरीर से चार अंगुल बड़ी लाठी	१।३।५
गति—प्रतिष्ठा, पदवी	५।९९	णिइय—अपरिवर्तनीय स्वरूप	४।२
गामकंटय—इन्द्रिय-विषय	९।३।७	णिकरण—हिंसा का परिहार	१।६१
गामधम्म—इन्द्रिय-विषय	९।४।३	० निश्चित रूप से करना	२।१५३
गामपिडोलग—भिक्षु या अतिथि	९।४।११	णिकम्मवंसि—आत्मदर्शी, मोक्षदर्शी	३।३५
गामिय—काम सम्बन्धी	९।२।८	णिविखत्तदंड—हिंसा को छोड़ने वाला	४।२७
गिलासिणी—भस्मक रोग	६।८	णिचय—संग्रह, संचय	३।३१
गुण—इन्द्रिय-विषय	१।९३	णिद्विवट्टि—कृतार्थ	५।११७
गुणट्टि—विषयार्थी	१।६९	णिब्वलासय—निर्बल भोजन	५।७९
गुणसमिय—ईयासमिति आदि गुणों में युक्त	५।७१	णियग—आत्मीय जन	२।७
गुणासाय—विषयलोलुप	५।५८	णियम—परिमित काल के लिए भोग-उपभोग की वस्तुओं का प्रत्याख्यान	२।५९
गुरु—दुस्त्यज, अनतिक्रमणीय	५।२	णियाग—मोक्ष	१।३५
गेहि—कामासक्ति	६।३७	णिग्वाण—सहज आनन्द, चित्त की स्थिरता	६।१०२
गोयावावी—जाति, कुल, बल आदि से युक्त गोत्र का अभिमान	२।५०	णिद्विवद—विरक्त हो, निश्चित जान	३।४७
घासेसणा—आहार की एषणा	९।४।१०	णीयागोय—असत्काराहं गोत्र	२।४९
घोर (धम्म)—सभी आस्रवों का निरोधक संवर धर्म	६।९१	णियाय—जानकर	५।४४
चवण—मृत्यु	३।४५	णिरुद्ध—परिमित, अल्पकालिक	४।३४
चाई (दे)—सहन करने वाला	३।७	णिद्विज्ज—उदासीन होना	५।९४
चिट्ठं (दे)—गाढ, सघन	४।१८	णिसन्न—अगुन्नत, कृत-अनादर	३।४८
चित्तणिधाति—चित्त को एकाग्र करने वाला	५।६९	णिह—स्नेहवान्	२।१८६
चिरराइ—यावज्जीवन	६।६६	णिह (दे)—संग्रह करना	२।११६
छज्जमत्थ—घनघाति कर्म से आवृत दशा	९।४।१५	० छलना करना	४।५
छंड—आसक्ति, स्वेच्छाचारिता	१।१७२	णिहेज्ज—मोपन करना	५।४१
० इन्द्रिय सुखों की पराधीनता, दूसरों के अधीन रहना	२।८६	णूम (नूम) (दे)—कर्म, माया	८।८।२४
० इच्छा, अध्यवसाय, संकल्प	५।२५	णत्त—इन्द्रिया	४।४५
छट्ट—दो दिन की तपस्या, बेला	९।४।७	तव—तप, स्वाद-विजय, आसन-विजय	२।५९
छण—हिंसा	३।२१	तन्निवेशण—तन्निष्ठ	५।६८
छणपय—हिंसात्मक कर्म	२।१८०	तस्सण्णी—स्मृति में एकाग्र	५।६८
छेय—इन्द्रियजयी, अनुपहत	५।१०	ताण—क्रिया, चिकित्सा	२।७७
जाति—जन्म, उत्पत्ति	३।२६	तिप्पति—रोता है	२।१२४
जाम—अवस्था, वयोविभाग	८।१५	तिप्पमाण—पीडित होता हुआ	८।८।१०
जायामाया—संयम-निर्वाह के योग्य आहार की मात्रा	३।५६	तिरिच्छ—मध्यगत	२।१३३
जीव—जीवत्व और आयुष्य कर्म के उपजीवी	४।१	तिविज्ज—त्रिविद्य—पूर्वजन्म, जन्म-मरण और आस्रव-क्षय—इन तीनों का ज्ञाता	३।२८
जुतिम—संयम	८।३४	तुच्छ—विपन्न, दरिद्र	२।१७४
जूद्धारिह—युद्ध के योग्य सामग्री	५।४६	तुट्ट—त्रोटक	६।११२
झंझा (दे)—व्याकुलता	३।६९	वइय—सम्मत्	६।७३
झोसिए—आराधना की	५।४१	वंड—घात, हिंसा	२।४२
झोसित—सेवित, आचीणं	५।९८	० कष्ट	५।८५
णदि—मानसिक तुष्टि, प्रमोद	२।१६२	वंत—इन्द्रिय और मन पर विजय पाने वाला	६।९३
णाअ—हाथी	९।३।८	वम—इन्द्रिय-विजय, कषाथ-विजय	२।५९
णाइ—ज्ञान	४।८		
णाय—नायक	२।१७०		

द्विय —संयम के योग्य	११४९	पया—स्त्री	५१५४
◦ राग-द्वेष से अपराजित	३१७०	पर—श्रावक, संज्ञी, यथाभद्रक	८१७५
दसम—चार दिन की तपस्या, चोला	९१४१७	◦ गृहस्थ	९१११९
दिट्ट—इन्द्रिय-विषय	४१६	परम—पारिणामिक भाव, मोक्ष	३१२८
दीहराय—आजीवन	५१३७	परमबंसि—पारिणामिकभावदर्शी, चैतन्यदर्शी	३१३८
दीहलोग—वनस्पति जगत्	११६७	परमाराम—परम सुखदायी	५१७७
दुक्ख—अज्ञान, कर्म	३१२	परतोइय (उवसण्ण)—तिर्यञ्चों द्वारा कृत (उपसर्ग)	९१२१९
दुगुंछणा—जुगुप्सा	११४५	परखागरण—आप्त-निरूपण	११३
दुगुंछमाण—प्रतिकार करता हुआ	२१३६	परिजुण्ण—अभावग्रस्त	११३३
दुच्चरग—ऐसा गांव जहां विहार करना कठिन होता है	९१३६	परिण्णा—विवेक	११९
दुग्धि (दे)—अमनोज्ञ	६१५५	◦ दुःखमुक्ति का उपाय	२११७१
दुवालसम—पांच दिन की तपस्या, पंचोला	९१४१७	परिण्णायकम्म—कर्मत्यागी	११२२
दुव्वसु—दरिद्र	२११६६	परिणिव्वुड—शान्तचित्त	६११०७
दूरालइय—कामनाओं से दूर	३१६२	परितप्पति—संतप्त होता है	२११२४
धम्मविउ—द्रव्य के स्वभाव को जानने वाला	३१५	परिघासेउं—भोजन कराने के लिए	८१२३
धुवचारि—शाश्वत की ओर गतिशील	२१६१	परिनिव्वाण—सुख	११२१
धूयवाद—साधना की विशेष पद्धति	६१२४	परिवएज्जा—तिरस्कार करता है	२१७
निकाय—स्थापित कर	४१२५	परिस्सव—कर्म-निर्जरण का हेतुभूत आत्म-परिणाम	४११२
निधाय—परिहार	९१३१७	परिहरेज्जा—परिभोग करे	२१११८
निष्पीलए—साधना की तीसरी भूमिका	४१४०	पलिउच्छन्न—कर्मों से आच्छादित	५११७
निरामगंध—भोजन के प्रति अनासक्त	२११०८	पलिच्छिन्न—छिन्न कर	३१३५
नूम—माया	८११२४	पलिच्छिन्न—विजित	४१४५
पंत (दे)—तुच्छ	९१३१२	पलिबाहरे (दे)—संकुचित करना	५१६९
पगंध (दे)—आक्रोश करना	६१४२	पलियं (दे)—कर्म	४१२७
पगप्प—मर्यादा	८१७६	◦ प्रवृत्ति	६१४२
पगम्भति—उच्छृंखल व्यवहार करना	५१५१	पलियंतकर—घात्यकर्मों का अंत करने वाला	३१७२
पच्चासी—पुनः चाहना	२११३२	पलियट्ठाना—कारखाना	९१२१२
पज्जवजायसत्थ—असंयम	३११७	पवीलए—साधना की दूसरी भूमिका	४१४०
पडिगह—पात्र	६१३१	पहेण (दे)—उपहारस्वरूप दी जाने वाली मिठाई	२११०४
पडिलेहंति—विषयों में चित्त को स्थापित करते हैं	२१३२	पाण—आन-अपान, उच्छ्वास-निःश्वास से युक्त प्राणी	४११
पडिलेहा—पर्यालोचना	२१३८	पायपुंछण—रजोहरण	६१३१
पडुच्च—अपेक्षा से	५११०५	पार—संयम	२१३४
पण्णाणमंत—निश्चय दृष्टिकोण	४१४७	पारगामि—संयम के आराधक	२१३५
◦ चौदहपूर्वी, आचारांगधर	५१९०	पावण—अशुद्ध	९१११८
पणिथसाला—दुकान	९१२१२	पावाइय—प्रवचनकार	४१३०
पंत—बासी भोजन, पर्युषित आहार	२११६४	पास—पाश—प्रेमानुबंधन	३१२९
◦ तुच्छ	९१३१२	पासय—द्रष्टा, वस्तुसत्य को देखने वाला	२१७३
◦ पंतआसण—मिट्टी से लिपे-पुते स्थान		◦ अहिंसक, भयवान् महावीर	३१७२
◦ पंतसेज्जा—शून्यगृह	९१३१२	पासणिय—वासनोद्दीपक पदार्थों को देखने वाला	५१८७
पतेरस—तेरहवां	९१२१४	पासिय—दृष्टिमान्	३१७०
पबुद्ध—अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, आगम-विशारद	५१९०	पिहियच्च—कायिक प्रवृत्ति का संवरण करने वाला	९११११
		पीढसप्पि—पंगुता	६१८

पुढो — विस्तीर्ण	२।५७	मायण्ण—मात्रज्ञ	२।११०
पुण्ण—संपन्न	२।१७४	मार—मृत्यु अथवा काम	३।६६
पुराणकुम्मास—बासी उडद	९।४।१३	◦ मदनकाम—विषयाभिलाषा	५।३
पुलाक—चने आदि का रूखा भोजन	९।४।१३	माहण—अहिंसक	३।४५
पेसल—कषायों का उपशमन	६।१०७	निहोकहा—कामकथा, भोजनकथा	९।१।१०
फरुस—कष्ट	९।३।१३	मुणि—परम ज्ञानी, भगवान् महावीर	२।७०
फरुसिय—कष्ट	३।७	◦ ज्ञानी	२।९९
फल—चपेटा	९।३।१०	मुयच्च—देह के प्रति अनासक्त	४।२८
फलगावयट्टि—फलक की भांति छिला जाता हुआ	६।१।१३	मूढ—मोह से ग्रस्त, वर्ज्य और अवर्ज्य के विवेक से शून्य	२।१५१
फावसिय—ज्ञान के अहं से गुरु की अवमानना	६।७७	मूल—राग-द्वेष, मोहनीय कर्म	३।३४
फास—आघात	२।५५	मूलद्वान्ण—आधार	२।१
◦ कष्ट	२।१६१	मूसियार—बिल्ली	९।४।११
◦ इन्द्रियसुख	५।८५	मेहावि—मर्यादावान्	१।७०
◦ शीत, उष्ण आदि परीषह	६।९९	मोण—ज्ञान, संयम	२।१०३
फुसिय—जल-कण, बूद	५।५	◦ अपरिग्रह का ज्ञान, संयम का अनुष्ठान	५।३८
बंभ—आचार, सत्य, तप	३।४	◦ काम विरति	५।८८
बंभचेर—आचार, मीथुन-विरति, गुरुकुलवास	४।४४	रायंस—राजयक्ष्मा	६।८
◦ आत्मरमण, उपस्थ संयम, गुरुकुलवास	५।३५	राय—रात्र—रात्रि के प्रथम दो प्रहर	९।४।६
◦ चारित्र, गुरुकुलवास	६।३०	रायोवराय—पूरी रात	९।४।६
बंभव—आचारनिष्ठ, सत्यनिष्ठ, तपोनिष्ठ	३।४	रिक्कासि (वे)—छोडना	९।१।४
बक्कस—सत्तू या चने का भोजन	९।४।१३	रह—जन्म-धर्मा	५।१३३
बाल—अज्ञानी	२।७४	रुब—शरीर	५।२९
◦ हिंसा में प्रवृत्त	२।१४५	◦ चक्षु इन्द्रिय का विषय, इन्द्रिय-विषय, पदार्थ	५।४९
बालभाव—अज्ञान	५।१००	लज्जमाण—हिंसा-विरत	१।१७
बालवयणिज्ज—साधारण जन के द्वारा भी निन्दनीय	६।८६	लट्टि—शरीर-प्रमाण लाठी	९।३।५
बुद्ध—विवेकसंपन्न	४।४७	लहुभूयकामि—लघुभूत—संयम, संयम की कामना करने वाला	३।४९
भंजग (वे)—वृक्ष	६।७	लहुभूयगामि—लघुभूत अर्थात् वायु। वायु की भांति गमनशील, अप्रतिबद्धविहारी	३।४९
भूत—जो थे, हैं और रहेंगे, वे प्राणी	४।१	लाघविय—लाघव, वस्त्र आदि की अल्पता	६।१०२
भेउरधम्म—अनित्य	२।९६	लाड—अनार्य देश, पश्चिम बंगाल के तमलुक, मिदनापुर, हुगली तथा बर्दवान जिल्ले का हिस्सा	९।३।२
◦ नष्ट होने के स्वभाव वाला	५।२९	लुंपिस्ता—प्रहार करने वाला	२।१४
भेरव—भयानक रूप	६।५६	लूसग—उपद्रवकारी	६।९९
भत्ता—मात्रा	२।६५	लूह—संयम	६।११०
भट्टविय—मार्दव, अहंकार-विवेक	६।१०२	लूहदेसिय—रूक्ष भोजन	९।३।३
भमाइय—ममीकार, ममत्व	२।१५६	लोग—शरीर	२।१२५
भरण—संसार, बाधासहित प्रवृत्ति	२।९६	◦ लोभ, ममत्व	२।१५९
भह—महान् अर्थात् मोक्षलक्षी	५।१।१२	◦ जीव समूह	३।३
महाजाण—महापथ, क्षपकश्रेणी	३।७८	लोगवित्त—लोक का चारित्र	५।३२
महामोह—अब्रह्मचर्य, विषयाभिलाषा	२।९४		
महावीहि—महापथ (अहिंसा, समता)	१।३७		
माइ—विषय-कषाय से संस्कारित चित्त वाला	३।१४		
माणावादि—अपने गुणों की परिकल्पना से उत्पन्न मानवाद	२।५०		

लोगसङ्गा—लोभमति, ममत्व संज्ञा	२।१५९	विष्यसाय—चित्त की प्रसन्नता, चित्त की निर्मलता	३।५५
◦ परिग्रह, पदार्थासक्ति	२।१८४	विष्यिया (दे)—बाधित	६।१०९
◦ लोकप्रवाहसम्मत, विषयाभिमुखता	३।२५	विषय—विभज्यवाद से कथन करना	६।१०१
लौय—जगत्, शरीर	५।५३	विमोह—अनशन	८।८।२५
लौयसंजोय—स्वर्ण आदि पदार्थ तथा परिवार का संयोग	२।१६९	विमोहायतण—प्राण-विमोह की साधना का आयतन अर्थात् अनशन	८।६१
लौयालोयपबंच—लोक का दृष्ट प्रपंच	३।७०	वियड (दे)—प्रासुक, निर्जीव	९।१।१८
बंसमायार—मायापूर्ण आचरण	५।५८	विराग—वैराग्य, चित्त की वितृष्णावस्था, निर्वेद	३।५७
बंकाणिकेय—माया के आधारभूत	४।१६	विलुपित्ता—ग्रामघातक	२।१४
बखायरय—सूत्रागम और अर्थागम में लीन	५।१२२	विविज्जीवि—राग-द्वेषमुक्तजीवी, एकान्तजीवी	३।३८
बज्जभूमि—अनार्य देश	९।३।२	विवेग—निर्ममत्व	५।४७
बट्टभग—वर्तुलाकार मार्ग	५।१२२	विसोत्तिया—चित्त की चंचलता	१।३६
बडभत्त—पृष्ठग्रन्थि का बाहर निकलना	५।५४	विस्सं (दे)—पृथग्	८।१०७
बण्ण—यश, रूप	५।५३	विस्सेणि—छिन्न	६।६८
◦ संयम	८।८।२३	विह (दे)—आकाश, फांसी	८।५८
बण्णाएसि—यशलिप्पु	५।५३	वीर—पराक्रमी, सहिष्णु	६।९८
बत्थु—आच्छादित भूमि, गृह आदि	२।५७	बुड्ढि—बुढापा	३।२६
बत्थग (दे)—वस्त्र का भाव	९।१।४	बेयव—शास्त्रज्ञ	३।४
बय—अवस्था	२।१२	बेयवि—शास्त्रविद्	४।५१
◦ संसार, गतिचक्र	२।१५२	संकमण—सेतु	२।६१
बवहार—व्यपदेश, विभाग	३।१८	संखडि (दे)—जीमनवार	९।१।१९
बसट्ट—इन्द्रिय-विषय तथा कषाय की अधीनता से पीडित	६।९५	संग—राग-द्वेष, बंधन	१।१७३
बसु—वीतराग-संयम	६।३०	◦ राग	३।६
बसुम - संयमी	१।१७४	◦ आसक्ति, शांति का विघ्न	६।१०८
बासग—स्थलचर प्राणी	६।१२	संगंथ—स्वजन का स्वजन	२।२
बिअंतिकारय—अन्तक्रिया करने वाला, सम्पूर्ण कर्मक्षय करने वाला	८।६०	संगामसीस—युद्ध का अग्रिम मोर्चा	६।११३
बिओवाय—व्यवपात, गिरना	६।११३	संघड (दे)—निरंतर	४।५२
बिगिचमाण—विवेक करने वाला	३।७९	संघडंबसि—प्रतिक्षण उपयुक्त, सतत जागरूक	४।५२
बिग्गह—शरीर	५।२१	संघाडि - कंबल आदि वस्त्र	९।२।१४
बिणय—आचार, अनुशासन	१।१७१	संतहत्तर—एक अन्तर वस्त्र और एक उत्तरीय वस्त्र	८।५१
बिणयण्ण—आचार तथा अनुशासन का ज्ञाता	२।११०	संति—निर्वाण, बाधारहित प्रवृत्ति	२।९६
बितट्ट—संवर धर्म के प्रतिकूल	६।९२	संथुय—सहवासी	२।२
बित्तिगिच्छसमावन्न—शंकाशील	५।९३	संधि—विवर	२।१०६
बित्तिगिच्छा—आशंका	३।५४	◦ हड्डियों की जोड़	२।१२७
बित्तिमिस्स—जन-संकुल	९।१।६	◦ अभिप्राय	३।५१
बिहायमाण—अपने-आपको विद्वान् मानने वाला	८।८७	◦ अतीन्द्रिय चेतना में हेतुभूत कर्म-विवर	} ५।२०
बिधूतकप्प—धृताचार की साधना करने वाला	३।६०	◦ शरीरवर्ती करण, चैतन्य-केन्द्र, चक्र	
◦ धृत का आचार	६।५९	◦ ज्ञान-दर्शन-चरित्र की समन्वित आराधना	
बिपरिसिट्ट—भोज के बाद बची हुई सामग्री	२।६७	संपमारय—सूच्छा	१।३०
बिप्पणोल्लए—समभाव से सहन करे	५।२६	संबाहण—मर्दन	९।४।२
बिप्परामुसइ—हिंसा करता है	२।१५०	संबाहा—बाधा, परीषह, उपसर्ग	५।६५
		संविद्धपह—स्वीकृत मार्ग से अच्युत	५।५०
		संसोहण—विरेचन	९।४।२

सगडम्भि	—अपने द्वारा कृत कर्मों को भेदन करने वाला	३।७३
सत्त्व	—सत्य, सद्भाव, सार्वभौम नियम, ऋजुता आदि	३।४०
० वस्तु का यथार्थ स्वरूप		३।६५
सङ्घि	—मोक्षाभिलाषी	३।८०
सण्ण	—निमग्न	२।३३
० सर्वतः चैतन्यमय		५।१३६
सण्णा	—संज्ञा, अवबोध	१।१
सत्त	—सत्त्व—शुभ-अशुभ कर्मों की सत्ता वाले प्राणी	४।१
सन्निचय	—अनाज, घृत आदि किञ्चित् कालस्थायी पदार्थों का संग्रह	२।१८
सन्निहि	—श्रीदन, रांधे हुए चावल आदि शीघ्रविनाशी पदार्थों का संग्रह	२।१८
सबलत्त	—सफेद कोढ़	२।५४
सभा	—ग्राम-संसद्	९।२।२
समणुण्ण	—मुनिपद की अर्हता प्राप्त	५।९६
० उद्यत विहारी		६।७८
० दार्शनिक दृष्टि तथा वेश से समान		८।१
समण्णाणय	—जागरूक	६।९७
समय	—सांकेतिक कथा	९।१।१०
समयण्ण	—स्व-पर सिद्धान्त का ज्ञाता	२।११०
समाधि	—मन की एकाग्रता, चित्त का समाधान	५।९३
समित	—लक्ष्यगामी	३।३८
समिय	—सम्यक् प्रवृत्त	४।४१
समियापरियाय	—समता का पारगामी	५।२७
समुद्दाय	—प्रव्रजित होकर	२।३१
समुस्सय	—शरीर	४।४४
सम्म	—सम्यक्त्व	५।५७
० सत्य		५।११६
सरण	—शरण अर्थात् व्याधि का उपशमन	२।७७
सल्ल	—कर्म, कर्म-विपाक	२।८७
सवकम्मावह	—सब कर्मों का आवहन करने वाला	९।१।१७
सव्वजोणिय	—प्रत्येक योनि में उत्पन्न होने के योग्य	९।१।१४
सव्वतो	—सर्वत्र, सर्वथा, सर्वकाल	६।३८
सव्वपरिणञ्चारि	—सम्पूर्ण रूप से विवेक से आचरण करने वाला	२।१७९

सव्वसमण्णाणयपण्णाण	—सर्वविषयग्राही ज्ञान, सर्वेन्द्रियज्ञान	१।७४
० पूर्ण सत्यप्रज्ञ		५।५५
सव्वार्त्ति	—सभी	१।७; ८।१७
सव्वेसणा	—सात प्रकार की पिण्डैषणाएं	६।५३
सहसवकार	—अविमृश्यकारी	२।३
सहसम्मूइ	—स्वस्मृति	१।३
सहिअ	—सहनशील	३।६७
सागारिय	—मैथुन	५।१०
सामगिय	—सामग्री, उपकरण-समूह	८।४९
सामत्त	—कोढ़ का रोग	२।५४
सामास	—सायंकालीन भोजन	२।१०४
साय	—मुख	५।५२
साला	—भीत रहित आवास	९।२।२
सासथ	—त्रिकालावस्थित	४।२
सिय	—तत्त्वज्ञान से युक्त	५।९४
सिलिषय	—हाथीपगा	६।८
सिलोय	—श्लाघा, प्रसिद्धि	६।९६
सीओसिणच्चाइ	—अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थिति को सहने वाला	३।७
सीतोइ	—सचित्त जल तथा भोजन	९।१।११
सीर्यापिड	—बासी भोजन	९।४।१३
सीयफास	—स्त्री परीषह तथा सत्कार-पुरस्कार परीषह	८।५७
सुद्धेसणा	—अलेपकृत भोजन	६।५३
सुब्भभूमि	—अनार्य देश	९।३।२
सुब्भि (वे)	—मनोज	६।५५
सुइय	—व्यंजन सहित भोजन	९।४।१३
सुणिअ	—शोच	६।८
सेय	—इन्द्रियातीत या पदार्थातीत सुख, हित, कामना	३।६७
सोत	—इन्द्रिय	५।१।१८
सोधविद्य	—शौच, अलोभ	६।१०२
सोवाग	—चांडाल	९।४।११
सुव्व	—गाहस्थ्य	२।३४
हास	—आमोद-प्रमोद	३।३२
हिरी	—लज्जाकारी	६।४५
हुरत्था (वे)	—बाह्य, बाहिर	५।१२; ८।२१

## परिशिष्ट ४

## परिभाषापद

१. अंधा		१३. पंडित	
◦ संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया ।	६।९	◦ खणं जाणाहि पंडिए ।	२।२४
२. अग्रन्थ		◦ पंडिए णो हरिसे णो कुज्जे ।	२।५१
◦ णिहायदंडं माणेहि, पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंथे वियाहिए ।	८।३३	◦ ते अणवकंखमाणा अणतिवाएमाणा वइया मेहाविणो पंडिया ।	६।७३
३. अनगर		१४. परिक्खातकर्मा	
◦ तं जे णो करए एसोवरए, एत्थोवरए एस अणगारेत्ति पवुच्चइ ।	१।९२	◦ जस्सेते छज्जीव-णिकायसत्थसमारंभा परिण्णयाया भवंति, से हु मुणी परिण्णायकम्मे ।	१।१७७
४. अनिदान		१५. महामुनि	
◦ जे णिव्बुडा पावेहि कम्महि, अणिदाणा ते वियाहिया ।	४।३८	◦ सव्वं गेहि परिण्णाय, एस पणए महामुणी ।	६।३७
५. असायी		१६. मुनि	
◦ उज्जुकडे नियागपडिवन्ने अमायं कुव्वमाणे वियाहिए ।	१।३५	◦ पण्णाणेणं परियाणइ लोयं, मुणीति वच्चे..... ।	३।५
६. कुसाल		◦ सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति ।	३।१
◦ कुसले पुण णो बद्धे णो मुक्के ।	२।१८२	१७. मेघावी	
◦ जे छेए से सागारियं ण सेवए ।	४।१०	◦ अरइं आउट्टे से मेघावी ।	२।२७
७. त्रिविद्य		◦ से मेहावी अणुघायणस्स खेयप्पे..... ।	२।१०१
◦ तम्हा त्रिविज्जो परमं ति णच्चा ।	३।२८	◦ मेहावी सव्वं पावकम्मं ऋसेति ।	३।४१
८. दंड		◦ सच्चस्स आणाए उवट्टिए से मेहावी ।	३।६६
◦ जे पमत्ते गुणट्टिए, से हु दंडे पवुच्चति ।	१।६९	◦ सड्डी आणाए मेहावी ।	३।८०
९. वृष्टपथ		१८. लूषक	
◦ से हु दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि भमाइयं ।	२।१५७	◦ वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति ।	६।९५
◦ से हु दिट्ठपहे मुणी ।	३।३७	१९. वसुमान्	
१०. धर्मविद्		◦ से वसुमं सव्वसमन्तागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरण्णज्जं पावं कम्मं ।	५।५५
◦ णरा मुयच्चा धम्मविदु त्ति..... ।	४।२८	२०. वीर	
◦ पण्णाणेहि परियाणइ लोयं.....धम्मविदु त्ति ।	३।५	◦ पणया वीरा महावीहि ।	१।३७
११. नग्न		◦ एसवीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए ।	२।१२०
◦ एते भो ! णणिणा वुत्ता, जे लोमंसि अणागमणधम्मिणो ।	६।४७	◦ णारत्ति सहते वीरे, वीरे णो सहते रत्ति ।	२।१६०
१२. निर्ग्रन्थ		◦ पतं लूहं सेवंति वीरा..... ।	२।१६४
◦ सीओसिणच्चाई से निर्ग्रन्थे..... ।	३।७	◦ ण लिप्पइ छणपएण वीरे ।	२।१८०
		◦ जागर-वेरोवरए वीरे ।	३।८



द्विप्पणों में उल्लिखित विशेष विवरण

	पृष्ठ	उपेक्षा का विशेष अर्थ	१८३
सहस्रम्मुद्—स्वस्मृति	१९	३।५९-६० की विशेष व्याख्या	१८६, १८७
सोऽहं—त्रैकालिक अस्तित्व का सूचक	२३	यथार्थ ज्ञान है निग्रह	१८८
दिशा : भेद-प्रभेद	२४	स्वपर्याय परपर्याय	१९३
महापथ	४६	शस्त्र अशस्त्र	१९८
जल के तीन प्रकार	५०	कुमारिलभट्ट का प्रश्न	२०७
मूर्च्छा : भेद-प्रभेद	६२	क्षेत्रज्ञ कौन ?	२०८
वनस्पति की ज्ञानात्मकता	६६	ज्ञाति का अर्थ	२११
प्रवृत्ति का मुख्य स्रोत—अन्तःकरण	८१	दृष्ट, श्रुत, मत और विज्ञान के अर्थ में भिन्नता	२११, २१२
इन्द्रिय-परिज्ञान की परिहानि के विषय में डा० कार्लसन का मत	९१	'णिह' की मीमांसा	२२२
वय के आधार पर शक्ति-हानि का क्रम	९२	एकत्व भावना	२२२
परिग्रह के संबंध में सुख-दुःख	१०८	कर्म-शरीर का प्रकंपन कैसे ?	२२३
भोजन : भोग भी, त्याग भी	११९	४।३४ की प्रकारांतर से व्याख्या	२२६
दोषपूर्ण भोजन से चारित्र्य की अविपक्वता	१२१	तीसरी भूमिका है शरीर-त्याग की	२२६
पुनरुक्त कब ? कैसे ?	१२३	'शारद' शब्द की मीमांसा	२२६
धर्मोपकरण के प्रति भी अनासक्त	१२६	'जस्स तत्थि पुरा पच्छा'	२२८
शरीर की ब्रह्मांड से तुलना	१२८	निष्कर्म-दर्शन	२३०
काम-मुक्ति के आलंबन	१२९	संशय : सत्य प्राप्ति का हेतु	२४२
त्राटक तथा ध्यान की तीन पद्धतियां	१२९	'रूप' शब्द की मीमांसा	२४३, २६१
सन्धि-दर्शन—विभिन्न मत	१३१	'विद्या' शब्द की मीमांसा	२४५
मूढ की मनोदशा	१३४	'संधि' विषयक आयुर्वेद की मान्यता	२४७, २४८
अर्थलोलुप और मृत्यु	१३५	मर्म-स्थान	२४८
चिकित्सा : एक अनुचितन	१३७	अन्तर्मुखता का उपाय—शरीर-दर्शन	२४९
एक जीव की हिंसा : सब जीवों की हिंसा	१३९	'अप्रमत्त' के विभिन्न अर्थ	२५५
एक अन्न का आचरण : सभी अन्नों का आचरण	१३९	'समिया' के तीन अर्थ	२५६
कर्म नहीं तो कर्म-बंध भी नहीं	१४१	'सोच्चा' और 'णिसामिया' में भेद	२५६
अरति और रति को सहने का चिबेक	१४३	उठना-गिरना—चार विकल्प	२५८
रुक्ष आहार बलप्राप्ति का साधन : महाभारत के अनुसार	१४५	'यतमान' की चूणिगत प्राचीन परम्परा	२५९
व्यावहारिक सम्यग्दर्शन	१४९	पातंजल योगदर्शन के अनुसार 'यतमान' वैराग्य की एक अवस्था	२५९
अप्रमाद के सूत्र	१४९	साधु-जीवन की स्थिरता के सात सूत्र	२५९
क्षेत्रज्ञ : गीता के संदर्भ में	१६८	आत्मयुद्ध	२६०
उपधि	१७०	गर्भ-दुःख	२६१
पारिणामिक भाव	१७२	'एकात्म-मुख' की मीमांसा	२६३
आतंकदर्शनपूर्वक पाप-वर्जन : बौद्ध दर्शन के आधार पर	१७४	ज्ञान और आचार का अविनाभाव	२६४
निष्कर्म आत्मा	१७५	'दूहज्जमाण' की अर्थ-मीमांसा	२६५

व्यक्त-अव्यक्त कौन ?	२६५	हिंसा अदत्तादान भी है	३५९
तद्दिष्टीए तम्मोत्तीए''''का व्याख्या भेद	२६७	विभिन्न दर्शनों की 'लोक' विषयक मान्यताएं	३६०
कर्म-बन्ध विषयक पर्यालोचन	२६९	एकांतवाद	३६१
प्रभूतदर्शी कौन ?	२७०	आशुप्रज्ञ की व्याख्या	३६२
सनिमित्त और अनिमित्त कामोदय की मीमांसा	२७२	गुप्त है भाषासमिति	३६२
'व्याख्यातरत' का अर्थ	२८९	धर्म ग्राम में ग्ग अरण्य में ?	३६३
चैतन्य का जघन्यतम भाग	२९३	'याम' पद के विभिन्न अर्थ	३६४
आयुर्वेद के अनुसार विभिन्न रोगों की मीमांसा	३०२, ३०३	प्रव्रज्या-ग्रहण की अवस्था के विषय में विभिन्न मत	३६४, ३६५
आचारांग चूर्ण और वृत्ति के अनुसार		कर्म-समारम्भ विभिन्न मतों में	३६५
रोग-मीमांसा	३०३, ३०४	श्मशान आदि पदों की जानकारी	३६७
उपपात और च्यवन	३०४	८/२४ चूर्ण की भिन्न परम्परा	३६८
अंधकार	३०४	मध्यमवय में प्रव्रज्या क्यों ?	३७०
अचिकित्सा धृत	३०८, ३०९	उपपात-च्यवन	३७१
परीषह-सहन की विधि	३१३	आहार क्यों ?	३७२
काम का पार पाना असम्भव	३१४	सन्निधान का यथार्थ अर्थ	३७२
अप्रमादसूत्र	३१४	तीन वस्त्र की प्राचीन परम्परा	३७३
एकत्वानुभव	३१५, ३१६	शीत स्पर्श से प्रकंपमान का काव्यशैली में वर्णन	३७३, ३७४
मुंड के प्रकार	३१७	वस्त्र धोने, न धोने की प्राचीन परंपरा	३७५
पलिय की व्याख्या	३१७	अवमचेलिक कौन ?	३७६
सम्यक् चिन्तन के प्रकार	३१७	शीत परीषह है स्त्रीपरीषह या कामभोग	३७९
आणाए मामगं धम्मं	३१९	मुनि फांसी लगाकर प्राण त्याग कर दे, कब ?	३७९
उत्तरवाद क्या ?	३२०	सदृशकल्पिक कौन ?	३८२
श्मशान प्रतिमा	३२२	भाव-संलेखना और द्रव्य-संलेखना की विधि	३८७
स्वाख्यातधर्म	३२३	समाहितार्च कौन ?	३८८
समत्त और सम्मत्त की व्याख्या	३२५, ३२६	संलेखना कब ?	३८८
विभिन्न तीर्थंकरों के काल में आयुष्य-परिमाण	३२७	तीन प्रकार का उत्थान	३८८
प्रज्ञान का विशेष विवरण	३२७, ३२८	इत्वरिक अनशन कब ? कैसे ?	३८९, ४००, ४०१
अवज्ञा करने का निषेध	३२८	वसुमान् कौन ?	३९५
संयम-स्थानों का संज्ञान	३२९	समाधि-मरण—अनशन के तीन प्रकार	३९५, ३९६
संदीन-असंदीन द्वीप	३२९	आनुपूर्वी अनशन का स्वरूप	३९६
दिन में वाचना की प्राचीन परम्परा	३३१	अनशन में आहार के समीप जाने का निषेध	३९६
उपशम के तीन प्रकार	३३१	अनशन काल में मुनि का कर्त्तव्य	३९७
ज्ञान के अहं से गुरुजनों के निरूपण की अबमानना	३३२	अध्यात्म की एषणा का पहला चरण	३९७
आरम्भार्थी की व्याख्याद्वय	३३६	उपशम की अवगति होने पर क्या करे ?	३९७
अनुवदमान	३३६	अनशन काल में प्राणी शरीर का भक्षण करते हों, तो	
लूषक	३३९	मुनि क्या सोचे ?	३९९
दान की प्रशंसा और निषेध	३४३	प्रायोपगमन या पादपोपगमन ?	४०२
प्रवचनकार की अर्हताएं	३४३	पादपोपगमन की श्रेष्ठता भावाभिव्यञ्जना से }	
बहिर्लेश्य-अबहिर्लेश्य	३४४	जब तक प्राण तब तक परीषह और उपसर्ग	४०३
आसक्ति को छोड़ने का अर्थ है आसक्ति को देखना	३४५	आशंसा के प्रकार	४०३
'विस्पिय' की व्याख्या	३४५	देव द्वारा शाश्वत काम-भोग का प्रलोभन	४०४
मृत्यु के समय मूढता न हो	३४७	अनुधर्मिता	४१२
समनुज्ञ : असमनुज्ञ	३५७, ३५८	शरीर का अनुवासन उपसर्ग का हेतु	४१२

परिशिष्ट ५ : टिप्पणों में उल्लिखित विशेष विवरण

४७६

एकशाटक की परम्परा	४१६	प्रपा—प्याऊ के प्रकार	४२४
त्राटक ध्यान	४१३	भ्रमशान-वास की चूर्णि परम्परा	४२५
तिर्यग्भक्ति ध्यान	४१३, ४१४	भगवान् की साधना के तीन अंग	४२६
डा. जेकोबी का संदेह और अर्थ-विपर्यास	४१४	ग्राम्य उपसर्ग	४२७
वीणा-वादक और भगवान् महावीर	४१६	ऐहलौकिक पारलौकिक उपसर्ग	४२८
भगवान् के अभिनिष्क्रमण पर पारिवारिक लोगों की प्रार्थना	४१६	भगवान् की अकषायित वृत्ति	४२९
सर्वयोगिक उत्पाद	४१८	अनगारपद से अन्यतीर्थिक तथा पार्श्वपत्य का ग्रहण	४३०
दो स्रोत—इन्द्रियां और हिंसा } दो स्रोत—देहासक्ति और आराम }	४१९	भगवान् का लाठ प्रदेश में उपसर्ग	४३२
भगवान् करपात्री : चूर्णि निर्दिष्ट परम्परा	४२१	लाठ प्रदेश तथा जनता का परिचय	४३२, ४३३, ४३४, ४३७
अवमान भोज	४२१	आयुर्वेद के अनुसार संशोधन के लाभ	४३८
भगवान् की अनासक्ति	४२२	पंचकर्म चिकित्सा	४३८
भगवान् अप्रतिज्ञ थे, कैसे ?	४२३	भगवान् चिकित्सा नहीं करते	४३८, ४३९
		अन्नग्लायक	४४४
		भगवान् का ध्यान	४४४

देशीशब्द

(अर्थ के लिए देखें—परिशिष्ट-३)

अहुं—१।१।५, १४; १।२।८; १।३।१०; १।४।४, १०, ११, १३  
 आणक्खेस्सामि—८।७७  
 एभावंति सव्वावंति—१।७  
 रोहिं—६।३७  
 चाई—३।७  
 चिट्ठं—४।१८  
 शंसा—३।६९  
 णिह—४।५  
 नूम (नूम)—८।८।२४  
 दुग्गि—६।५५  
 पंत—१।३।२  
 पणंय—६।४२  
 पलियं—४।२७  
 पत्तीबाहरे—५।६९

पहेण—२।१०४  
 पाएज्ज—८।१  
 पासणिअ—५।८७  
 भंजग—६।७  
 रिक्कासि—१।१।४  
 वत्थगं—१।१।४  
 विप्पिया—६।१०९  
 वियडं—१।१।१८  
 विस्सं—८।१०७  
 विह—८।५८  
 संखडि—१।१।१९  
 संघड—४।५२  
 सुग्गि—६।५५  
 हुत्था—५।१२; ८।२१

१. आचारांग चूणि, पृष्ठ ३०० : अहुत्ति सुत्तभणित्ती अह इति वुत्तं भवति ।
२. आचारांग वृत्ति, पत्र २५६ : एतत् क्रियापदं देशीपद-संबद्धमेव संभाव्यते ।
३. आचारांग वृत्ति, पत्र २५ : एती द्वी शब्दौ मागधदेशी-भाषाप्रसिद्धा एतावन्तः सर्वेऽपीत्येतत्पर्यायी ।
४. देशीशब्दोऽयम् ।
५. आचारांग चूणि, पृष्ठ १८४ : प्रतीपं आहरे जंतुं दुष्त्वा संकोचए देसीभासाए ।

६. आचारांग चूणि, पृष्ठ २४९ : पाएज्ज तथा पादिज्ज भोइज्जा, तीयगहणं देसीभासाओ असित पीतं भण्णति ।
७. आचारांग चूणि, पृष्ठ ३०० : वत्थभावो वत्थता, देसी-भासाए वा सुत्तभणित्तीए ।
८. आचारांग चूणि, पृष्ठ २८३ : देसीभासाओ विहं पिहं ।
९. (क) आचारांग चूणि, पृष्ठ १६१ : हुत्था णाम देसी-भासातो बहिद्धा ।  
 (ख) वही, पृष्ठ २६१ : हुत्थं बहिद्धा गामादीणं देसीभासा उज्जाणादिसु ।

धातु : धातुपद

अच्छ (आस्)		अब्भाइक्खेज्जा	१।३९,६६	समेति	६।२८
अच्छइ	९।४।४	आढा (आ+ढ्)		अइअच्च	६।३८
अट्ट (अट्)		आढायमाणे	८।१,२,२८,२९	समेमाणे	८।२
अणुपरियट्टमाणे	२।५६,१२६	आणव (आ+णप्)		इच्छ (इष्)	
अणुपरियट्टइ	२।७४,१८६	आणविज्जा	५।१२	इच्छसि	३।६२
अणुपरियट्टंति	५।१८	आणवेज्जा	५।८६; ८।२४,४२	ईर (ईर्)	
अत्थ (अर्थ्य्)		आव (आप्)		उदीरिए	६।९१
अभिपत्थए	५।१०३	पप्प	२।७२	समीरए	८।८।१७
पत्थए	८।८।४	आस (आस्)		ईह (ईक्ष्)	
अरिह (अर्ह्)		अहियासमाणे	२।१६१	संपेहाए	२।५,११,२३,९६; ४।३२, ३४; ५।४४; ६।८
अरिहए	३।४२	अहियासए	५।२८; ६।९९; ८।२५	पेहाए	२।१३८; ९।१।२१; ९।४।१०
अस (अस्)		अहियासए	८।८।८,१०,१३,१८, २२; ९।२।१०,१५; ९।३।१,७	उवेहाए	३।५५; ५।३२,९६,११९
अंसि	१।१,३; ६।३८,९१; ८।५७,७५,९७; ९।२।१२	अणहियासेमाणा	६।३२	उवेह	४।२७
अत्थि	१।२; २।६२,७३, १५७,१७६,१८५; ३।७५,८२,८७; ४।८,१६,२०,२२,२३, ४५,४६,५३; ५।३०, १३९; ६।३८; ८।९७	अणहियासेज्जासि	६।५८	उवेहमाणा	४।५२
संति	१।१६,५४,८५,११८,१२५, १६४; ६।९; ९।१।१३	अहियासेति	६।६२; ८।११२	उवेहमाणे	५।५०
मो	१।८,४१,७२,१००,१२७,१५१	अहियासित्तए	८।४१,५७,१११	उवेहाहि	५।९७
सिया	२।८८; ३।५४; ४।८,४६; ५।४३	आसिसु	९।२।६	उवेहइ	६।९१
संता	४।१४	आह (ह्र्)		सपेहिया	८।८।२३
अंसी	६।८७	आहु	४।२९; ५।१८	उपेहाए	९।१।२१
आसी	१।२; ९।२।४,७; ९।४।३,१६	आहंसु	९।३।४	पेहमाणे	९।२।११; ९।४।७,१४
आइक्ख (आ+क्ख्)		इ (इ)		उट्ठम (अव+ठ्ठीच्)	
आइक्खंति	४।१; ६।८२	एति	१।८; ५।७,७३	उट्ठुभंति	९।३।११
आइक्खह	४।२२	अभिसमेच्चा	१।३८; ३।८१; ४।१२; ६।६५,९८; ८।५६,७४, ८०,९६,१००,१०४,११५, १२४; ९।३।७	एस (इष्)	
आइक्खामो	४।२३	अच्चेइ	२।१२,१६९; ५।१२२	अण्णेसि	१।१७५
आइक्खमाणे	६।१०४	उवेइ	२।६०,६९; ५।६	अन्नेसि	५।५६
आइक्खे	६।१०१; ८।२६	उवेति	२।१५१	एसए	८।८।५
आइक्खेज्जा	६।१०३	एइ	३।१४	पाउरेसए	८।८।१७
अब्भाइक्खइ	१।३९,६६	एति	३।३१	एसंति	९।२।१३
		समिच्च	४।२; ९।१।१६	एसे	९।४।९
		समेमाणा	४।१०	एसिया	९।४।९
		अतिअच्च	६।१०; ९।१।९	एसिन्था	९।४।१२
				कंख (कांक्ष्)	
				अवकंखंति	१।१४९; २।६१; ३।७८
				अवकंखति	२।३८
				अणवकंखमाणा	६।७३; ८।३२

कंखेज्ज	६१११३	कर (कृ)		किट्टे	६११०१
अभिकंख	८१२०, १२१	अकरिस्सं	११६	किण (क्री)	
अभिकंखेज्जा	८१८४	कुव्वमाणे	११३५	किणे	२११०९
कंडूय (कण्डूय)		पकुव्वमाणे	२१६९, ८५; ५१६	किणावए	२११०९
कंडूयये	९११२०	कारवेसुं	११६	किर (कृ)	
कंद (कन्द)		अकासी	११७०; ९१४८	अवकिरिसु	९१३११
कंदति	२११३९	करिस्सामि	११९०; २११५, १४३;	किलेस (क्लिश्)	
कंदिसु	९१११५; ९१३१०		६१९३	किलेसति	६११३
कंप (कम्प)		कज्जइ	२११८, १०५	किलेसंति	६१५७
अविकंपमाणे	४१३४	पकरेति	१११७३	कुंच (कुञ्च)	
कत्थ (कथ)		कज्जति	२१४३	अपलिउंचमाणे	८१४७, ६६
कत्थइ	२११७४	कज्जंति	२११०४	कुच (कुच्)	
कप्प (कृप्)		करेइ	२११३४, १४४; ३१५४	संकुचेमाणे	५१७०
कप्पइ	११५९	कारेइ	२११४६	संकुचए	८१८१५
कप्पति	२११५०; ८१४१, १११	कुज्जा	२११४९; ५१८०; ८११, २,	कुज्जा (कुध्)	
पकप्पेति	४११०		२८, २९, १०६	कुज्जे	२१५१
पकप्पयंति	४११६	कारवे	२११४९	कुट्ट (कुट्ट्)	
पकप्पेति	६१८६	पकुव्वति	२११५२	विउट्टंति	११६०
कप्प	९१४१२	णिकरणाए	२११५३	आउट्टे	२१२७
कम्म (कम्)		करेति	३१२८, ३३	अणाउट्टे	९१११७
णिकखम्म	२१३७; ५११२०;	करेति	३१३१	कुप्प (कुप्)	
	६१७९; ९१२१६, १५	किच्चा	८१०५, १२५; ८१८३	कुप्पिज्जा	२११०२
परक्कमेज्जासि	२११५९; ३१२५;	अकुव्वं	९१११८	कुप्पति	५१६३
	४१११; ५१११७; ६१९८	कारित्था	९१४८	खण (खन्)	
विपरक्कमा	५१३४	कुव्वित्था	९१४१५	खणह	८१२५
अभिककममाणे	५१७०	पगडं	३१३९	खल (खल्)	
पडिक्कममाणे	५१७०	कुव्वह	३१४०	खलइंसु	९१३१२
विपरक्कमंति	६१४	कट्टु	५१११; ६१६८	खा (ख्या)	
विउक्कम्म	८१२	करिस्सति	५१७६	अक्खायं	१११
उवाइक्कम्म	८११२	अकुव्वमाणे	८१३३	संखाय	२१५०; ६११०७
परक्कमेज्ज	८१२१, २३	सहसाकारेह	८१२५	आघाइ	४११३; ६११
उवसंकमित्तु	८१२१, २३, ४१	कस (कृष्)		पडिसंखाए	५११०५
अवक्कमेज्जा	८११०६, १२६	कसेहि	४१३२	अक्खाइ	६१२
अवक्कमेत्ता	८११०६, १२६	कस (कृष्)		संखाए	६१४३; ८१८२; ९१११, १३
परक्कमे	८१८१६; ९११२२,	उक्कसिस्सामि	६१६०	पच्चक्खाएज्जा	८१२६
	९१४१२	वोक्कसिस्सामि	६१६०	पडियाइक्खे	९१११५
अभिककमे	८१८१५	उक्कसे	८१८१८	आइक्ख	९१२११
पडिक्कमे	८१८१५	विउक्कसे	६१८७	अक्खाया	६१८
णिकखंते	९११११	कह (कथ)		खिस (खिस्)	
परक्कममाणे	९१११९; ९१४१५	परिकहिज्जइ	२११३६; ४१९	खिसए	२११०२
चं कमिया	९१२१६	किट्ट (कृत्)		खिव (क्षिप्)	
पडिणिकखमित्तु	९१३१९	किट्टति	५१७४; ६१३	णिकखिवे	४१५

गठम् (गल्म्)		चइत्ता	६।३०	जम (यम्)	
पगठभति	५।५१	चिच्चा	६।४६	संजमति	५।५१
पगठभइ	६।१८	चथ (शक्)		जय (यत्)	
गम (गम्)		संचाएमि	८।४१, १११	जयमाणे	४।११; ६।३९; ९।१२१,
आगओ	१।१	चाएमि	८।१११		९।२।४
गमित्तए	२।७१	चाएइ	९।२।१५	जए	४।४१
गच्छेज्जा	३।५७; ४।६; ५।६९	चाएति	९।४।१	जर (जू)	
आगमित्ता	५।१२	चर (चर्)		जरेहि	४।३२
आगमेत्ता	५।८६; ८।२४, ४२	अणुसंचरइ	१।४, ८	जल (ज्वल्)	
अणुगच्छंति	५।९४	चरे	२।६१; ३।६१; ४।७;	पडिसंजलिज्जासि	४।३९
गच्छंति	६।१७		६।३५; ९।१।२१	उज्जालेत्तए	८।४१
आगममाणे	६।६३; ८।५४, ७२,	चर	३।४५	पज्जालेत्तए	८।४१
	७८, ९४, ९८, १०२,	चरेज्ज	३।५०	उज्जालेत्ता	८।४२
	११३, १२२	संचारेज्जा	८।१०१	पज्जालेत्ता	८।४२
आगम्म	९।१।३	उवचरे	८।८।८	जा (जन्)	
गच्छति	९।१।७, १९	उवचरंति	९।२।७, ८	जायति	२।१४७
गच्छइ	९।१।१०	चिट्ठ (स्था)		जायइ	३।१९
अभिसमागम्म	९।४।१६	चिट्ठइ	२।६६; ५।८९	जा (या)	
गह (ग्रह्)		परिचिट्ठति	४।१८	नियाइ	२।१११; ८।४०
पग्गहे	८।८।२०	परिचिट्ठिसु	४।५२	जंति	३।७८
गहाय	९।३।५	चिट्ठति	५।८९	णिज्जाइ	४।५१
गाह (गाह्)		चिट्ठेज्ज	८।२१, २३	जागर (जागु)	
अहिगाहंति	२।३१	चिट्ठे	८।८।१६	जागरंति	३।१
अभिगाहइ	२।३६	चिट्ठु	८।८।२०	जाण (जा)	
गिज्ज (ग्रह्)		चिट्ठंते	९।४।१०	जाणे	१।१६९; ३।२७
परिगिज्ज	२।५८, ६५	चु (च्यु)		परिजाणियक्वा	१।७
अभिणिगिज्ज	३।६४	चुओ	१।२	जाणइ	१।१४७; २।१२५; ३।७४
गिज्ज (गूध्)		चेअ (चित्, चेतय्)		जाणित्तु	२।२२, ७८; ४।५, ५।२४;
गिज्जे	२।५०	चेतेमि	८।२१		६।३०
अणुगिद्धे	९।१।२०	चेएसि	८।२२	जाणाहि	२।२४
गिला (ग्लै)		चेएइ	८।२३, २४	जाण	२।५२, १७६; ३।२; ४।३५
गिलाइ	२।१६७	छण (क्षण्)		जाणेज्जा	१।३; २।११३; ३।६३;
गिलामि	८।१०५, १२५	छणे	३।४६		५।११३; ८।२, ५०, ६९, ९२
गिलाएज्जा	८।८।३	छणावए	३।४६	समहिजाणमाणे	८।८१
घास (घस्)		छिद (छिद्)		समभिजाणिया	५।११६; ६।६५;
परिघासेउं	८।०३	पलिच्छिदिया	३।३२		८।५६; ८।७४, ८०, ९६,
चय (त्यज्)		छिदेज्ज	३।४९		१००, १०४, ११५, १२४
परिच्चज्ज	३।६१	छिज्जइ	३।५८	समभिजाणिज्जा	८।९७
चयंति	४।२७	पलिच्छिदिय	४।५०	अणुजाणित्था	९।४।८
चए	५।८४; ६।७	वोच्छिदेज्जा	५।८३	समणुजाणइ	१।२२, ४५, ७६,
चयाहि	६।२६	छिदह	८।२५		१०४, १३१, १५५;
विप्पजढा	६।२७	जण (जन्)			२।१०७, १०९
		जणयंति	२।६		

समणुजाणेज्जा	११३३, ६४, ८८, ११६, १४३, १६७, १७६; २१४६; ८११८	ठा (स्था)		पणवेति	४११
अभिजाणइ	२१९३	समुट्टिए	२११०	पणवेह	४१२२
अभिजाणति	३१६, १०	समुट्टिया	३१४४; ८११५	पणवेमो	४१२३
जाणित्ता	३१३, ५१, ७७	उट्टिए	५१२३	अभिण्णाय	६१४४; ९१११३
परियाणइ	३१५	ठाइज्जा	५१८१	पणवेमाणा	८१६
समणुजाणमाणा	८१३	समुट्टाए	६१९३	विण्णाय	८१८७
जाणति	२१३७; ५११२०	समुट्टिता	८१३०	परिण्णाय	९१४१२
अणुजाणइ	३१४६	परिट्टिवेज्ज	८१५०, ६९, ९२	णिह (स्निह्)	
समभिजाणाहि	३१६५	परिट्टिवेत्ता	८१५०, ६९, ९२	अणिहे	५१४४
जाणह	४१२०, २२, २३; ८१७	उट्टाय	८११०५, १२५; ९११११	णिहा! (देशी)	
अभिजाणइ	५११७	ठावए	८१८२१	णिहे	४१५
विजाणति	५११०४	उट्टाए	९१२१५, ६	णी (नी)	
आयाण	६१२४	डज्ज (वह्)		विणइत्तु	२१३७
जाणिज्जा	६१९०	डज्जइ	२१६८, ८४; ३१५८	परिणिज्जमाणे	५११३
समणुजाणमाणे	६१९१	विडज्जमाणा	६१७९	विणएत्तु	५११२०
जाय (याच्)		डस (दंश)		गोल्ल (गुद्)	
जाएज्जा	२१११२, ८१४४, ६३, ८६; ८१०६, १२६	डसंतु	९१३१४	विप्पणोल्लए	५१२६
जाइस्सामि	६१६०; ८१४३, ६२, ८५	णम (नम्)		तप्प (तप्)	
जाएत्ता	८११०६, १२६	परिणमिज्जा	२११०२	परितप्पमाणे	२१२, ४०
जाव (यापय्)		नामे	३१७६	परितप्पति	२११२४
जावए	३१५८; ९१४१५	णममाणा	६१८३	तर (त्)	
जावइत्थ	९१४१४	विप्परिणामेति	६१८३	तरित्तए	२१७१; ३१६६
जीव (जीव्)		अणममाणे	६१९७	तव (तप्)	
जीविस्सामो	६१७९	णस (नश्)		परितावेति	१११५, १२४
जुज्ज (युध्)		णस्सति	२१६८	परितावए	६११९
जुज्जाहि	५१४५	विणस्सति	२१६८	आयावेत्तए	८१४१
जूर (खिद्)		णा (जा)		पयावेत्तए	८१४१
जूरति	२११२४	णातं	११२, ४, २५	आयावेज्ज	८१४२
ज्ञा (ध्ये)		नच्चा	१११४६	पयावेज्ज	८१४२
णिज्जाइत्ता	१११२१	णायं	११४८, ७९, १०७, १३४, १५८	आयावई	९१४१४
भाइ	९१११५; ९१४३	णच्चा	३११३, २८, ३३, ४५; ४१२९; ५१३४; ६१८, १९; ८१३४; ८१८७, २५; ९१११२, १५, १६	तस (त्रस्)	
भाति	९१११६, ७; ९१२१४, १२; ९१४१४, १५	णच्चाणं	९१४१८	तसंति	१११२३
भोस (जुष्)		परिण्णाय	११३३, ६४, ७०, ८८, ११६, १४३, १६७, १७६; २१४६, ६१, १०८, १३२, १५८, १७२, १८४; ३१२४, ५०; ४१३१; ५१४३, ५१, ११७, १२१; ६१३७, ५१; ८११८, २०; ९१११६	परिवित्तसंति	६११११
भोसेति	३१४१			तिउट्ट (त्रुट्)	
णिज्जभोसइत्ता	३१६०; ६१५९			तिउट्टति	८१८२
भोसिए	५१४१			तित्तिक्ख (तित्तिक्ख्)	
दुज्जभोसिए	५१४१			तित्तिक्खए	५१३७; ८१८३
भोसमाणे	५१२०; ६१५०			तित्तिक्खमाणे	६१४४
अभोसयंता	६१७९			तिप्प (तृप्)	
भोसेमाणे	८१२			तिप्पमाणे	८१८१०
				तिप्प (तिप्)	
				तिप्पति	२११२४



<b>तुयट्ट (त्वक् + वृत्)</b>		<b>विस (विश्)</b>		<b>पय (पच्)</b>	
तुयट्टेज्ज	८१२१, २३	समुद्दिस्स	८१२१-२४	परिपञ्चमाणे	५११६
तुअट्टेज्जा	८१८८	<b>विस्स (वृश्)</b>		पचह	८१२५
<b>थण (स्तन्)</b>		दिस्सति	२१५९	<b>पय (पल्)</b>	
थणति	६१७	अदिस्समाणे	२११०९; ३१२३, ५८	संपयति	११८५
<b>वंस (वृश्)</b>		<b>दुगुंछ (जुगुप्स्)</b>		अइवाएज्ज	२११००
उवदंसेज्जा	५११००	दुगुंछमाणे	२१३६	आवातए	२११३३
<b>दक्ख (दृश्)</b>		<b>दूइज्ज (वृ)</b>		अतिवाएज्ज	६१२३
अदक्खु	२११०६; ५१२०	दूइज्जेज्जा	५१८२	अणतिवाएमाणा	६१७३; ८१३२
अदक्खू	५११७, ११११; ९१११०, १७, १८	<b>देव (देव)</b>		पडिक्कयमाणे	६१९३
<b>दय (दय्)</b>		परिदेवमाणा	६१२६	णिवतिसु	९१३३३
दयइ	८१३७	<b>धर (धृ)</b>		<b>पा (पा)</b>	
<b>दल (दा)</b>		विधारए	६१७०	पाउं	११५९
दलइस्सामि	८१११६, ११७, ११८, ११९	धारेज्जा	८१४५, ४६, ६४, ६५, ८७, ८८	अपिइत्थ	९१४१५
दलएज्जा	८१७५	धारित्तए	८११११	अपिवित्ता	९१४१६
<b>दस (दंश्)</b>		<b>धा (धा)</b>		<b>पाउण (प्रा + वृ)</b>	
दसमाणे	९१३१४	संधेइ	११८	पाउणिस्सामि	६१६०
<b>दह (दह्)</b>		संधाति	२१५५	<b>पार (पार्)</b>	
दहह	८१२५	णिहे	२१११६; ४१५	पारए	८१८११; ९११२; ९१३१८
समादहमाणा	९१२१४	णिहेज्ज	५१४१	<b>पाल (पल्)</b>	
<b>दा (दा)</b>		संधिस्सामि	६१६०	अणुपालए	८१८५, १९
उवादीयमाणा	१११६९	परिहिस्सामि	६१६०	<b>पास (वृश्)</b>	
आयाय	२१७२	सइहे	८१८२४	पास	१११७, ४०, ७१, ९९, १२४, १२६, १५०; २१९७, ९९; ३१२२, ५२; ४१११, २७, ३७; ५१३७, ९०; ६१८, १४, २०, २२, ६६
देति	२११०२	पिहिस्सामि	९११२	पासा	- ११५६
आइए	२११०७; ८१५८	पिहिया	९१२१४	पासति	११९४; २१३७, १३०; ५१५, १२०
आइआवए	२११०७	निधाय	९१३१७	पासमाणे	११९४
समादाय	२११६२	<b>धुण (धृ)</b>		पासए	२१११८
समायाय	३१२२	धुणे	२११६२; ४१३२; ५१५९	पासिय	३१११, ४५; ५१६९
आदाय	३१६७; ६१३५	धुणाइ	४१४४	पासे	३१२६, ४९
आइइत्तु	४१५	संविहणिय	८११०७, १२७	समणुपस्सति	३१६७
णियाय	५१४४	विधूणिया	८१८२४	दट्ठुं	४१५१; ५१७५
समायाए	५१५९	<b>धोअ (धाव्)</b>		पासह	५११३, २९, ९१; ६१५, ९७, १०८; ८१३६
आयाए	६१३०	धोएज्जा	८१४६, ६५, ८८	पासहा	५१५७, ११८
समादियति	६१७७	<b>नियच्छ (वृश्)</b>		समणुपासह	५१९९
आइयति	८१४	नियच्छति	३१६०	पस्स	६१९४
पाएज्जा	८११, २८, २९	<b>पगंथ (देशी)</b>		<b>पिडु (पीड्)</b>	
पाएज्ज	८१२	पगंथे	६१४२, ८९	पिडुति	२१२४
<b>दा (दा)</b>		<b>पज्ज (पच्)</b>			
उहार्याति	११८५, १६४; ५१७१	समुप्पज्जति	२११९, ७५		
		समुप्पज्जे	८१८१८		
		णिवज्जेज्जा	८१८१३		

पील (पीड्)		१।१।२३, १।२।१६, १।३।१४;	अभोच्चा	१।१।११
आवीलए	४।४०	१।४।१७	भुंजे	१।४।६, ७
पवीलए	४।४०		मंत (मन्त्र्)	
निष्पीलए	४।४०	कूया ४।२६; ५।९७; ८।२१, ४१	णिमतेज्जा	८।१, २८, २९; ८।८।२४
पीह (स्पृह्)		भम (भ्रम्)	णिमतेज्ज	८।२
पीहए	२।४९	विउब्भमे	मज्ज (मृज्)	
पुच्छ (प्रच्छ्)		मय (भज्)	पमज्जिय	८।१०६, १२६
पुच्छिस्सामो	४।२५	विभयंति	पमज्जए	८।८।९
पुच्छिसु	१।२।११	विभए	पमज्जिया	१।१।२०
पूर (पूर)		भइत्ता	संपलिमज्जमाणे	५।७०
पूरइत्तए	३।४२	भव (भ्रू)	मण (मन्)	
पोस (पुष्)		भवइ	मंता	१।९१; ३।१२
पोसेति	२।१६	१।१, ४, १३४, १५८; २।६५,	मण्णमाणे	२।१५, ४४, १४३; ५।१६
पोसेज्जा	२।१६	६७, ८१; ६।६०, ९६, १०५;	मन्नति	३।३२
फास (स्पृश)		८।८५, ९७, ९९, १०३	मन्नेसी	५।२१
फासे	४।३६; ६।४६	भविस्सामि	मन्नसि	५।१०१
फुस (स्पृश)		भवति १।७, ११, १२, ३१, ३२, ३४, ६२,	मण्णमाणा	६।७८, ९३
फुसति	५।२८; ६।८, ६१, ९९;	६३, ६५, ८६, ८७, ८९, ११४,	मन्नेसि	१।१।१५
	८।२५, ११२	११५, ११७, १४१, १४२,		
		१४४, १६५, १६६, १६८,		
		१७७; ३।४; ५।८६; ६।२,		
		६७, ९५, ९९, १११		
बुज्ज (बुध्)		भवति	मत्थ (मन्थ्)	
संबुज्जमाणे	१।२४, ४७, ७८, १०६,	१।२, २५, ४८, ७९, १०७;	पमत्थयति	४।३३
	१३३, १५७; २।१४८;	२।८३; ४।१७; ५।९, १७,		
	४।१२; १।२।६	३२, ४१, ६२; ६।६४, ८५;	मय (मद्)	
अबुज्जमाणे	२।५६	८।३, ८, ४३, ५५, ५७, ६२,	पमायए	२।११; ५।२३
अवबुज्जंति	२।८९	७३, ७५, ७९, ९५, ९९, १०५,	मज्जेज्जा	२।११४
ओबुज्जमाणे	६।१	१११, ११४, ११६, ११७,	पमाए	३।५६
संबुज्जमाणा	८।१५, ३०	११९, १२३, १२५	पमादेति	३।६८
पडिबुज्ज	८।८।२४	भविस्सामो	मिला (म्लं)	
		अभिभूय	मिलाति	१।१।३
		भास (भाष्)	मुच्च (मुच्च्)	
		भासति	पमुच्चति	३।१५
		भासह	उम्मुच्च	३।२९
		भासामो	पमुच्चइ	३।३६
		अभिभासिसु	मुच्चइ	३।७०
		अभिभासे	मुच्छ (मुच्छं)	
		मिव (मिक्)	मुच्छमाणे	१।९५
		भिज्जइ	मुच्छति	१।९५
		भुंज (भुज्)	मुज्ज (मुह्)	
		भुंजिय	मुज्जति	५।६४
		भुंजह	मुस (मृश)	
		भुंजति	विप्परामुसइ	२।१५०
		भुंजित्था	विप्परामुसंति	५।१
			विप्परामुसह	८।२५

परिशिष्ट ७ : धातु : धातुपत्र

४८७

मोक्ष (मोक्ष्)		रीयमाणा	६।८०	लुप्य (लुप्)	
पमोक्षसि	३।९, ६४	रीयत्या	९।१।१	लुप्पती	९।१।१५
मोय (मुच्)		रीयई	९।२।१०	लूस (लूष्)	
पडिमोयए	२।१२८, १७८	रीइत्या	९।३।१३	लूसिसु	९।३।३, ९
युज (युज्)		रीयति	९।४।३	लेह (लिह्)	
विउजंति	८।५	रव (रव्)		पडिलेहिता	१।१२१; ८।८।२०
रंभ (रम्)		रुवति	६।२६	पडिलेहंति	५।२।२२
समारंभमाणे	१।५०, ७३, ७६, ८१, ८८, १०१, १०४, १३१, १३६, १५२, १६०	रुह (रुह्)		पडिलेह	२।५२; ३।२७
समारंभमाणे	१।१९, २७, ४२, १०९	अभिरुह्क	९।१।३	पडिलेहाए	२।१३१, १५३; ३।२०
समारंभइ	१।२२, ४५, ७६, १०४, १३१, १५५	रुव (रूप)		पडिलेहिय	३।२२; ८।१०६, १३६
समारंभावेइ	१।२२, ४५, ७६, १०४, १३१, १५५	परुवति	४।१	सुपडिलेहिय	५।११६
समारंभेज्जा	१।३३, ६४, ८८, ११६, १४३, १६७, १७६; २।४६; ८।१८	परुवेह	४।२२	पडिलेहिया	८।८।७
समारंभावेज्जा	१।३३, ६४, ८८, ११६, १४३, १६७, १७६; २।४६; ८।१८	परुवेमो	४।२३	पडिलेहे	९।१।१३
आरंभमाणा	१।१७१	लंब (लम्ब)		पलेहि	९।३।९
आरंभे	२।१८३; ५।५३	अवलंबए	८।८।१८	वज्ज (वर्ज्)	
समारंभेज्जासि	३।५०	अवलंबियाण	९।१।२२	परिवज्जिया	९।१।१३
समारंभ	८।२१—२४	लज्ज (लज्ज्)		परिवज्जियाण	९।१।१९
समारंभति	८।१९	लज्जामो	८।१९	वज्ज (पव्)	
समारंभेज्जासि	८।२०	लभ (लभ्)		आवज्जंति	१.८५, १६४
रक्ख (रक्ष्)		लद्ध	२।१०२, ११६; ३।५०	परियावज्जंति	१।८५, १६४
सारक्खमाणे	५।८९	लद्धे	२।११३	परिवज्जाए	५।८७
रज्ज (रज्ज्)		लभति	५।९३	वट्ट (वृत्)	
रज्जति	२।१६०	लहइ	६।६	णियट्टंति	२।२९; ५।१२३; ६।८४
रज्जेज्जा	८।८।२३	लभति	६।७	अभितिवट्टेज्जा	३।८४
रम (रम्)		उवलम्भ	६।७७	णिव्वुडा	४।३८
रमंति	१।१७०	लभिय	८।२	अतिवट्टेज्जा	५।११५
रमंति	५।१६; ६।२८	लव (लप्)		णियट्टमाणा	६।८२
विरमेज्ज	५।११९	लालप्पमाणे	२।६०, १५१	परिणिव्वुडे	६।१०७
रय (रज्)		लिय (लिय्)		विणियट्टमाणे	५।७०
रण्ज्जा	८।४६, ६५, ८८	उवलिपिज्जासि	२।४८, १२०	आउट्टे	८।५७
रिक्क (देशी)		लिय्प (लिय्प)		संवट्टेज्जा	८।१०५, १२५
रिक्कासि	९।१।४	लिय्पई	२।१८०	संवट्टेत्ता	८।१०५, १२५
री (री)		ली (ली)		वड्ड (वृध्)	
रीयते	६।३९	पलेमाणा	४।१०	वड्डेति	२।१३५; ३।३२
		अपलीयमाणे	६।३६	वत्त (वत्तंय्)	
		पलेमाणे	८।२	विउत्ता	८।२
		लुंच (लुञ्च्)		अइवत्तई	९।१।७
		संलुंचमाणा	९।३।६	वद (वद्)	
		लुंचिसु	९।३।११	पवयमाणा	१।१८, ४१.७२.१००, १८७, १५१
		लुंय (लुंय्)		वयति	१।१७१; २।९१; ४।१९
		विलुंपति	२।६८, ८४	परिवयति	२।७, ७६
		आलुंपह	८।२५	परिवएज्जा	२।७, ७६
		विलुंपह	८।२५		

वदति	४।२०; ६।२६, ७९, ८८	विगिचमाणे	३।७९	वेद्य (वेप)	
वयासी	४.२२	विगिचइ	३।७९; ६।५१	पवेयति	९।२।१३
पवयमाणे	५।१७	विज्ज (विद्)		संचिक्ख (सं + स्या)	
अणवयमाणे	५।२६	विज्जइ	३।१८, ८७; ५।१२४	संचिक्खति	६।४०
अणुवयमाणा	६।८०; ८।३	विज्जए	५।१३७	संथर (सं + स्तृ)	
अणुवयमाणे	६।९१	विद (विद्)		संथरेज्जा	८।१०६, १२६
वइत्ता	६।९३	पडिसंवेदेइ	१।८; २।५५	संथरेत्ता	८।१०६, १२६
वदिस्सामि	९।१।१	पडिसंवेदयति	४।१७	संथरे	८।८।७
अभिवायमाणे	९।१।८	पडिसंवेदेति	६।१०	सक्क (खक्क)	
वम (वम्)		पवेदिता	१।४३, १०२	अवसक्केज्जा	२।११७
वंता	२।१५९; ३।२५, ७८	पवेइया	१।९, २०, ७४, १२९, १५३	सक्ख (शक्)	
वय (वज्)		पवेइए	२।४७, ११९; ४।२	सक्खामो	९।२।१४
परिव्वए	२।१०८; ३।११, ३८, ६१; ५।३७, ११७; ६।४४, ५४, १०६	पवेइयं	२।७०, ११३; ४।१२; ५।९५; ८।२९, १०४	सज्ज (सज्ज)	
परिव्वयति	५।९२	पवेदितं	२।१७१; ५।२५, ४४; ५।७८; ६।११, ६५; ८।९, १४, २८, ५६, ८०, ९६, १००, ११५, १२४	सज्जेज्जा	८।८।९
पव्वइए	९।१।१	पवेदिते	५।२२, ४०; ८।३१	सद (षद्)	
वस (वस्)		विप्पडिबेदेति	५।७५	णिसन्ने	३।४८
वसे	२।२	पवेदइस्सामि	६।२४	णिसीएज्ज	८।२१, २३
संवसति	२।७, १६, २०, ७६	पवेदए	६।१०२	णिसिएज्जा	८।८।१
आवसे	१।९८	वेदेति	३।७	आसज्ज	३।३२; ९।१।५
समणुवासिज्जासि	२।२६; ५।८८; ६।२९	विदित्ता	१।९१; २।१२७, १५९; ३।२५	विप्पसायए	३।५५
समणुवासेज्जासि	२।१०३	वेच्चाण	८।१०७, १२७	समासज्ज	८।८।१, १७, २१
वसित्ता	४।४४; ६।३०, ७८	विदित्ताणं	८।८।२	सम (शम्)	
अणुवासिज्जासि	५।३८	विस (विम्)		णिसामिया	५।४०; ८।३१
वसह	८।२१	अणुपविसित्ता	८।१०६, १२६	णिसम्म	६।७९
वह (व्यष्)		पवेसिया	९।१।६	सय (शी, स्वप्)	
पव्वहिए	१।१४; २।९०	पविसिस्सामो	९।२।१४	सए	८।८।१३
पव्वहिया	२।१५३	पविसे	९।४।९	सर (स्मृ)	
वह (वह्)		वीज (वीज्य्)		सरति	३।५९
परिवहित्तए	८।१०५, १२५	वीजित्तं	१।१४९	सर (सृ)	
वार (वारय्)		बुच्च (वच्)		पसारमाणे	५।७०
णिवारइ	९।३।४	पवुच्चति	१।६९, ११९; २।३९; ५।४९	पसारए	८।८।१५
वाह (बन्ध्)		पवुच्चइ	१।९२; २।१५४, १७०; ४।४	पसारित्तु	९।१।२२
उव्वार्हति	८।४१	वच्चे	३।५	सह (सह्)	
उव्वार्हज्जमाणे	५।७८	बुइया	५।६३	सहते	२।१६०
विद (विदि)		वुत्ता	६।४७	साइज्ज (सात्मी + क्क)	
णिविज्जति	२।१०१	वुइए	९।१।२१	सातिज्जिस्सामि	८।७६, ७७, ११६- ११९; ८।१२१
णिविज्जे	५।९४			सातिज्जति	९।४।१
णिविद	२।१६२; ३।४७			साय (स्वद्)	
विगिच (वि + विच्)				आसाएमाणे	८।१०१
विगिच	२।८६; ३।३४; ४।३४, ४३			अणासायमाणे	८।१०१

साथ (शब्)		सेवे	९।१।६, १८		६।४९
आसाएज्जा	६।१०४	सेवती	९।१।१९	उदाहरति	२।१७१; ४।३०
अणासादमाणे	६।१०५	सेवित्था	९।२।१; ९।४।९	वियाहिए	४।४४; ६।११३; ८।३३
साह (कथ)		सेवइ	९।२।५	विवाहिते	८।१३
साहिस्सामो	४।५२	पडिसेवमाणे	९।३।१३	उदाहिया	८।१५
साहिए	८।८।१२	पडिसेवे	९।४।५	आहारेमाणे	८।१०१
सिच (सिच्)		सोय (शुच्)		साहरे	८।८।१४
संसिच्चमाणे	३।३१	अणुसोयति	२।७९	विहरे	८।८।२०
सिबख (शिक्)		सोयए	२।११५	विहरिसु	९।१।३; ९।३।५
सिबखेज्ज	८।८।६	सोयति	२।१२४	विहरित्था	९।१।१३
सिर (सृज्)		हण (हर्ण्)		हरिस (हर्ण्)	
विउसिज्जा	६।३१	वहंति	१।१४०	हरिसे	२।५१
विउसिज्ज	८।८।५, १३	हणे	२।१७५	हा (हा)	
वोसिरे	८।८।२१	हणिया	३।४९	विजहित्तु	१।३६
वोसज्ज	९।१।४, २२; ९।३।७	हम्मइ	३।५८	जहाति	२।१५६
सीव (सीव्)		हंता	३।५३	जहित्ता	४।४०
सीवीस्सामि	६।६०	हणमाणे	६।९१	हिच्चा	४।४०; ६।३०, ७७, ९३
मुण (भ्र्)		हम्ममाणे	६।११३	विजहिज्जा	८।८।१२
सुयं	१।१; ५।३६	हणमाणा	८।३	पहाय	९।१।७
सोच्चा	१।३, २५, ४८, ७९, १०७, १३४, १५८; ५।४०, ११४; ६।७९; ८।३१	हणह	८।२५	हिस (हिसि)	
मुणमाणे	१।९४	णिर्हाणिसु	९।३।१२	हिसिसु	१।१४०; ९।१।३; ९।३।३
मुणेति	१।९४	विघायए	३।५३	हिसंति	१।१४०
मुणिया	५।४४	घायमाणे	६।९१	हिसिस्संति	१।१४०
मुणेह	६।८	घायमाणा	८।३	हिसति	५।५१
मुस्सूस	६।२४	हर (हृ)		विहिसंति	८।८।१०
समणुस्सिणोमि	८।२१	परिहरति	२।२०	अहिसमाणो	९।४।१२
समणुस्सिणासि	८।२२	परिहरेज्जा	२।२०, ११८	विहिसति	१।१९, ४२, ५०, ७३, ८१, १०१, १०९, १२८, १३६, १५२, १६०
समणुस्सिणाति	८।२३, २४	अवहरति	२।६८, ८४	विहिसइ	१।२७
सेव (सेव्)		वियाहिया	१।५५; ४।३८; ५।११८;	अविहिसमाणे	५।२६
सेवति	२।१६४; ५।६०	आहट्टु	२।८७; ८।११६-११९;	हो (भू)	
आसेवित्ता	३।४४		९।२।१२	होउ	५।६६, १०८
सेवए	३।४४; ५।१०; ८।८।२३	उदाहु	२।९४; ४।२५; ५।२८	होइ	५।९६
		विवाहिते	२।१६५; ५।२७, १०६;	होति	६।५२

## तुलना

## पहला अध्ययन

सुयं मे आउसं ! तेषां भगवया एवमक्खायं । (१११)  
 सुयं मे आउसं ! ते णं भगवया एवमक्खायं.... (आयारचूला ७।५७)  
 सुयं मे आउसं ! तेषां भगवया एवमक्खायं....  
 (सूयगडो २।१११; २।२।१; २।३।१; २।४।१)  
 सुयं मे आउसं ! तेषां भगवया एवमक्खायं—  
 (दसवेआलियं ४।१ सूत्र; ९।४।१)

एवमेगेसि णो णातं भवति --अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे  
 आया ओववाइए..... (१।२)

'येयं' प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके चैके । (कठोपनिषद् १।१।२०)

सेज्जं पुण जाणेज्जा —सहसम्मुइयाए..... (१।३)

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः । (पातञ्जलयोगदर्शन २।३९)

अस्य भवति । कोऽहमासम् ? कथमहमासम् ?..... (न्यासभाष्यम्)

अपरिण्णाय-कम्मे.... अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ.... (१।८)

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छति ये के चात्महसो जनाः ।  
 (ईशावास्योपनिषद् १/३)

इह चेदशकत् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।

ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ (कठोपनिषद् २।३।४)

जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढवि-कम्म-संभारंभेणं पुढवि-सत्थं संभारं-  
 भेमाणे अण्णे वणेणरूवे पाणे विहिंसति । (१।१९)

पुढविकायं विहिंसतो, हिंसई उ तयस्सिए ।  
 तसे य विविहे पाणे चक्खुसे अचक्खुसे ॥ (दसवेआलियं ६।२७)

जस्सेते पुढवि-कम्म-समारंभा परिण्णाता.... (१।३४)

पढमं नाणं तओ दया..... (दसवेआलियं ४।१०)

.....उज्जुकडे, णियागपडिवन्ने, अमायं कुव्वमाणे..... (१।३५)

.....उज्जुया णियागपडिवन्ता अमायं कुव्वमाणा.....  
 (सूयगडो २।२।७७)

जाए सद्धाए निक्खंतो, तमेव अणुपालिया । (१।३६)

जाए सद्धाए निक्खंतो....तमेव अणुपालेज्जा । (दसवेआलियं ८।६०)

विजहित्तु विसोत्तियं । (१।३६)

हिच्चा णं पुव्वसंजोगं..... (सूयगडो १।१।७६)

विजहित्तु पुव्वसंजोगं..... (उत्तरज्जयणाणि ८।२)

पणया वीरा महावीहिं । (१।३७)

.....पणए वीरे महाविहिं..... (सूयगडो १।२।२१)

एस लोए वियाहिं । (१।९६)

एस लोए वियाहिं । (उत्तरज्जयणाणि ३६।२)

.....तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया  
 संमुच्छिमा उड्ढिया ओववाइया । (१।११८)

तसा पाणा, तं जहा—अंडया, पोयया, जराउया, रसया संसेइमा,  
 सम्मुच्छिमा, उड्ढिया, उववाइया..... (दसवेआलियं ४।९)

.....अप्पेने अच्चाए...अप्पेने हिंसिस्सति मेत्ति वा वहंति । (१।१४०)

.....तं णो अच्चाए.....णो हिंसिस्सति मेत्ति.....।  
 (सूयगडो २।२।४)

## दूसरा अध्ययन

.....माया मे पिया मे.....सहि-सयण-संगंथ-संधुया मे.... (२।२)

.....माता मे पिता मे.....सयणसंगंथसंधुया मे.....  
 (सूयगडो २।१।५१)

अहो य राओ य परितप्पमाणे..... (२।३,४०)

.....अहो य राओ य परितप्पमाणा..... (सूयगडो १।५।४५)

.....अहो य राओ परितप्पमाणे..... (सूयगडो १।१०।१८)

.....अहो य राओ परितप्पमाणे..... (उत्तरज्जयणाणि १।४।१४)

नालं ते तव ताणाए..... (२।८)

णालं ते मम ताणाए..... (सूयगडो १।९।१५)

णालं ते मम ताणाए..... (उत्तरज्जयणाणि ६।३)

न सन्ति पुत्ता ताणाय न पिता नापि बन्धवा ।  
 अन्तकेमाधिपन्नस्स नत्थि भाति सुताणता ॥ (धम्मपद २८८)

न मीयमानस्स भवन्ति ताणा,  
 ओतीध मित्ता अथ वा सहाया । (मज्झिमनिकाय भाग-२ पृष्ठ २९८)

से हंता छेत्ता भेत्ता लुपित्ता विलुपित्ता उत्तासइत्ता.... (२।१४,१४२)

से हंता, छेत्ता, भेत्ता, लुपइत्ता, विलुपइत्ता, ओदवइत्ता  
 (सूयगडो २।२।४,१९,२०)

जाणिसु दुक्खं पत्तेयं सायं । (२।२२)

अण्णस्स दुक्खं .....पत्तेयं वेदना । (सूयगडो २।१।५१)

मंदा मोहेण पाउडा । (२।३०)

मंदा मोहेण पाउडा । (सूयगडो १।३।११)

एत्थ मोहे पुणो पुणो सण्णा । (२।३३)

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते । (गीता २।६२)

णो ह्व्वाए णो पाराए । (२।३४)

णो ह्व्वाए णो पाराए (सूयगडो २।१।६ से १०, २२, ३१, ३८, ४७, ४८)

भूर्एहं जाण पडिलेह सातं । (२।५२)

.....एत्तेसु जाणे पडिलेह सायं (सूयगडो १।७।२)

.....भूर्तेहं जाण पडिलेह सातं (सूयगडो १।७।१९)

सब्बेसि जीवियं पियं (२।६४)

सब्बेसं जीवितं पियं । (धम्मपद १३०)

बाले पुण णिहे .....आवट्टं अणुपरियट्टइ । (२।७४, १८६)

कामान् यः कामयते मन्यमानः, स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।

(मुण्डकोपनिषद् ३।२।२)

आसं च छंदं च विगिच धीरे । (२।८६)

कम्मं च छंदं च विगिच धीरे ..... (सूयगडो १।१३।२१)

जेण सिया तेण णो सिया (२।८८)

एत्थ वि सिया एत्थ वि णो सिया । (सूयगडो २।१।६०)

.....थोवं लद्धुं न खिसए । (२।१०२)

थोवं लद्धुं न खिसए । (दसवेआलियं ८।२९)

.....तं जहा—अप्पणो से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं णातीणं घातीणं राईणं

दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाए, पुढो पहेणाए,

सामासाए, पायरासाए ।

सन्निहि-सन्निचओ कज्जइ इहमेगेसि माणवाणं भोयणाए ।

(२।१०४, १०५)

.....तं जहा—अप्पणो पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं घातीणं णातीणं

राईणं दासाणं दासीणं कम्मकराणं कम्मकरीणं आएसाणं पुढो पहेणाए

सामासाए पातरासाए सण्णिहि-सण्णिचओ कज्जति, इह एएसि माण-

वाणं भोयणाए । (सूयगडो २।१।६६; २।२।५०)

परिग्हं अममायमाणे ..... (२।११०)

परिग्हं चैव ममायमाणा ..... (सूयगडो २।६।२१)

अविस्समाणे कय-विक्कएसु । ते ण किजे, ण किणावए, किणंतं ण समणुजाणइ । (२।१०९)

सुककीयं वा सुविककीयं, अकेज्जं केज्जमेव वा ।

इमं गिण्ह इमं मुंच, पणियं नो वियागरे ॥

अपरघे वा महग्घे वा, कए वा विक्कए वि वा ।

पणियट्टे समुप्पन्ने, अणवज्जं वियागरे ॥ (दसवेआलियं ७।४५, ४६)

से भिक्खु कालण्णे ..... कालेणुट्ठाई ..... । (२।११०)

अकाले चरसि भिक्खु ..... च गरिहसि ॥ (दसवेआलियं ५।२।५)

अलाभो त्ति ण सोयए । (२।११५)

अलाभो त्ति न सोएज्जा ..... (दसवेआलियं ५।२।६)

स सोयति जूरति तिप्पति पिड्ढति परितप्पति । (२।१२४)

सोयइ वा जूरइ वा तिप्पइ वा पीडइ वा परितप्पइ वा

(सूयगडो २।१।४२, ४३, ५०, ५१; २।२।३४, ३५; २।४।१७)

.....वेरं वड्ढइ अप्पणो । (२।१३५)

.....वेरं वड्ढइ अप्पणो । (सूयगडो १.१।३)

पंतं लूहं सेवति बीरा समसंबंसिणो । (२।१६४)

त्तित्तणं व कडुयं व कसायं, अबिलं व महुरं लवणं वा ।

एय लद्धमन्नट्टपउत्तं, महुघयं व भुजेज्ज संजए । (दसवेआलियं ५।१।९७)

जहा पुण्णस्स कत्थइ, तथा तुच्छस्स कत्थइ ।

जहा तुच्छस्स कत्थइ, तथा पुण्णस्स कत्थइ ॥ (२।१७४)

से भिक्खू धम्मं किट्टेमाणे—णो अण्णस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । णो

पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा ।

णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा ।

णो अण्णेसि विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा । अगिलाए

धम्ममाइक्खेज्जा । णण्णत्थ कम्मणिज्जरट्टयाए धम्ममाइक्खेज्जा । (सूयगडो २।२।५३)

ण लिप्पई छणवएण बीरे । (२।१८०)

अभोगी नोवलिप्पइ । (उत्तरज्जयणाणि २।५।३९)

तस्यैव स्यात् पदवित्, तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन ।

(बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२३)

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ (गीता ५।७)

स तत्रैव वर्तमानोपि लोकसंग्रहाय कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते ..... ।

(शांकरभाष्य पृष्ठ २१७)

कुसले पुण णो बडे, णो मुक्के । (२।१८२)

क्लेशकर्मनिवृत्तौ जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति । (पातञ्जलयोगदर्शन ४।३० भाष्य )

## तीसरा अध्ययन

सुप्ता अमुष्णी सया, मुष्णिणो सया जागरंति । (३११)

या निशा सर्वभूतानां तस्यो जागर्ति संयमी ।  
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ (गीता २।६९)

....अप्पमत्तो परिव्वए । (३११)

....अप्पमत्तो परिव्वए । (उत्तरज्ज्भयणाणि ६।१२)

अप्पमत्तो कामेहि, उवरतो पावकम्मोहि, वीरे आययुत्ते जे सेयणो । (३११)

इदं शरीरं कौन्तेय ? क्षेत्रमित्यभिधीयते ।  
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ (गीता १३।१)

विशेष तुलना के लिए देखें—  
(गीता १३।१-११; आचारांगभाष्य पृष्ठ १६८)

ववहारो न विज्जइ । (३१८)

ववहारो न विज्जइ । (सूयगडो २।५।३,५,७,९,११,२९)

दोहि अंतेहि अदिस्समाणे । (३।२३,५८)

दोहि वि अंतेहि अदिस्समाणो । (सूयगडो २।१।५४; २।२।३८)

उभे उ हैवैष एते तरति ॥ (वृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।२२)

जाति च वुड्ढि च इहज्ज पासे । (३।२६)

जाइं च वुड्ढि च विणासयंति । (सूयगडो १।७।९)

तम्हा तिविज्जो परमं ति..... । (३।२८)

तिस्सो विज्जा—पुब्बे निवासानुस्सरति.....  
.....आसवाणं खये वाणं विज्जा । (दीघनिकाय भाम ३, पृष्ठ १६२)

उम्मं च पासं इह मच्चिएहि । (३।२९)

णेहपासा भयंकर । (उत्तरज्ज्भयणाणि, २३।४३)

तम्हा तिविज्जो परमं ति णरुचा, आयं कवंसी ण करेति पावं । (३।३३)

कतमं च भिक्खवे, साम्परायिकं वज्जं ? इध, भिक्खवे, एकच्चो इति  
.....साम्परायिकं वज्जं । (अंगुत्तरनिकाय २।१, भाग १, पृष्ठ ४७)

अमं च मूलं च विगिच घीरे । (३।३४)

रागो य दोसो वि य कम्मबीयं । (उत्तरज्ज्भयणाणि ३२।५)

जहा मत्थए सूईए, हताए हम्मती तले ।

एवं कम्माणि हम्मति, मोहणिज्जे खयं गते ॥

सुक्कभूले जधा रुक्खे, सिच्चमाणे ण रोहति ।

एवं कम्मा ण रोहति, मोहणिज्जे खयं गते ॥ (दसाओ, ५।११,१४)

परिच्छिदिया णं णिक्कम्मदंसी । एस मरणा पमुच्चइ (३।३५,३६)

जात्वा देवं सर्वपाशापहानिः, क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।  
(श्वेताश्वतरोपनिषद् १।११)

पराभिधानात् तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययो ॥  
(ब्रह्मसूत्र ३।२।५)

....कालकंखी परिव्वए । (३।३८)

कालकंखी परिव्वए..... (उत्तरज्ज्भयणाणि ६।१४)

समिते सहिए सया जए..... (३।३८; ४।४१,५२; ५।७५)

समिए सहिए सया जए..... (सूयगडो १।१६।३; २।१।७२; २।३।१०२)

बहुं च खलु पाव-कम्मं पगडं । (३।३९)

बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं । (दसवेआलियं, च० १।१७)

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पुरइत्तए । (३।४२)

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ । (उत्तरज्ज्भयणाणि ८।१७)

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया । (उत्तरज्ज्भयणाणि ९।४९)

आयओ बहिया पास । (३।५२,५३)

तम्हा ण हंता ण विघायए । (३।५२,५३)

आयतुलं पाणेहि संजए । (सूयगडो १।२।६६)

आयतुले पयासु । (सूयगडो १।१०।३)

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ । (दसवेआलियं ४।९ गाथा)

अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए । (दसवेआलियं १०।५)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ (ईशावास्योपनिषद् ६)

सर्वभूतस्थमात्मानं, सर्वभूतानि चात्मनि ।

ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (गीता ६।२९)

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।

सुखं वा यदि वा दुःखं, स योगी परमो मतः ॥ (गीता ६।३२)

समयं तत्युवेहाए, अप्पाणं विप्पसायए । (३।५५)

निविचारवंशारखे अठ्यात्मप्रसादः । (पातञ्जलयोगदर्शन १।४७)

विराणं रुवेहि मच्छेज्जा, महया खुहुएहि वा । (३।५७)

वीरारागयाए णं भंते ! जीवे कि जणयइ ? वीरारागयाए णं नेहाणु-

बंधणाणि तण्हाणुबंधणाणि.....विरज्जइ । (उत्तरज्ज्भयणाणि २९।४६)

से न छिज्जइ ण पिज्जइ ण डज्जइ, ण हम्मइ कंचणं सव्वलोए ॥ (३।५८)

ण हिसए कंचणं सव्वलोए । (सूयगडो १।५।५१)



नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।  
न चैनं क्लेदयन्त्याग्नि न शोषयति मारुतः ॥  
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।  
नित्यः सर्वगतः स्यात्पुरचलोऽयं सनातनः ॥ (गीता २।२३, २४)

का अरई ? के आन्दो ? (३।६९)

को नु हासो किमानन्दो..... (धम्मपद १४६)

सहिए धम्ममादाय, सेयं समणुपस्सति । (३।६७)

सोच्चा जाणइ कल्लानं, सोच्चा जाणइ पावगं ।  
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं छेयं तं समायरे ॥  
(दसवेधालियं ४, गाथा ११)

जे एगं जाणइ, से सब्बं जाणइ, जे सब्बं जाणइ, से एगं जाणइ । (३।७४)

एगं जाणं सब्बं जाणइ, सब्बं च जाणमेगं ति ।  
इय सब्बमजाणंतो, नागारं सब्बहा मुणइ ॥  
(विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ४८४)

आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेन, इदं सर्वविदितं ।  
(बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५)

सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अपमत्तस्स णत्थि भयं । (३।७५)

अप्पमादो अमतपदं पमादो मच्चुनो पदं..... (धम्मपद २१)  
न विभेति कुतश्चनेति..... (तैत्तिरीय उपनिषद् २।९।१)

दुक्खं सोयस्स जाणित्ता । (३।७७)

हेयं दुक्खमनागरम् । द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।.....तत् संयोग-  
हेतुवर्जनात् स्वादयमत्यन्तिको दुःखप्रतीकारः ।  
(पातञ्जलयोगदर्शन २।१७ व्यासभाष्य)

वंता लोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं ।  
परेण परं जंति, नावकंखंति जीवियं ॥ (३।७८)

जे इमे भंते ! अज्जत्ताए समणा निर्गन्था विहरंति.....परिनिव्वार्यंति  
सव्वदुक्खानं अंतं करंति । (भगवई १४।१३६)

देखें —आचारांगभाष्यं, पृष्ठ १९५, १९६ ।

.....नावकंखंति जीवियं । (३।७८)

णावकंखंति जीवियं । (सूयगडो १।३।७५; १।९।३४; १।१५।९)

सङ्घो आणाए मेहावी । (३।८०)

नादंसणित्तस नाणं..... (उत्तरज्जयणाणि २८।३०)

श्रद्धा चेतसः संप्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योभितं पाति ।  
(पातञ्जलयोगदर्शन १।२० भाष्य)

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् । (गीता ४।३९)

### चौथा अध्यायन

जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो  
ते सब्बे.....ण परितावेयव्वा ण उद्देयव्वा । (४।९)

जे य अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंता  
सब्बे ते.....ण परितावेयव्वा ण उद्देयव्वा ।  
(सूयगडो २।१।५७; २।२।४१)

.....सब्बे पाणा सब्बे भूता सब्बे जीवा सब्बे सत्ता.....  
(४।९.२०, २२, २३, २६; ६।९०३ से ९०५; ८।२९ से २६)

.....सब्बे पाणा, सब्बे भूया, सब्बे जीवा, सब्बे सत्ता.....  
(सूयगडो २।१।५६, ५७; २।२।४०, ४१, ७८ आदि)

एस धम्मो सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयणोहि पवेइए । (४।२)

एस धम्मो धुवे णितिए सासए समेच्च लोयं खेयणोहि पवेइए ।  
(सूयगडो २।१।५८)

णो लोगस्सेसणं चरे । (४।७)

जणेण सिद्धि होक्खामि, इइ वाले पगम्भई । (उत्तरज्जयणाणि ५।७)

अट्टा वि संता अबुवा पमत्ता । (४।९४)

चतुर्विधा भजन्ते मां, जनाः सुकृतिनोऽर्जुन !  
आर्तो जिज्ञासुरथार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥ (गीता ७।१६)

.....समणा य माहणा य पुढो विवावं वदंति.....सब्बे पाणा सब्बे भूया  
सब्बे जीवा सब्बे सत्ता हंतव्वा, अज्जावेयव्वा, परिघेतव्वा,  
परियावेयव्वा, उद्देयव्वा । (४।२०)

.....जे ते समणमाहणा.....एवं परुवेंति —सब्बे पाणा सब्बे भूया सब्बे  
जीवा सब्बे सत्ता हंतव्वा अज्जावेयव्वा परिघेतव्वा परियावेयव्वा  
उद्देयव्वा..... (सूयगडो २।२।७८)

उद्धं अहं तिरियं दिसासु..... (४।२०, २२)

.....उद्धं अहं यं तिरियं दिसासु.....  
(सूयगडो १।५।११; १।६।४; १।९।०२; १।१४।१४; २।६।१४, ३१)

एत्थ वि जाणह णत्थित्थ दोसो । (४।२२)

.....'एत्थं पि जाणाहि' णत्थित्थ दोसो । (सूयगडो २।१।२८)

लोयं च पास विष्कंदमाणं । (४।३६)

परिफन्दति द चित्तं मारधेय्यं पहातवे । (धम्मपद ३४)

जस्स नत्थि पुरा पच्छा, मज्जे तस्स कसो सिया ? (४।४६)

आदावन्ते च यन्नास्ति, वर्तमानेऽपि तत्तथा । (माण्डुक्यकारिका २।६)

नैवायं नावरं यस्व, तस्य मध्यं कुतो भवेत् । (माध्यमकारिका १।१२)

जेण बंधं बहं घोरं, परितावं च दाहणं । (४१४९)

जेण बंधं बहं घोरं परियावं च दाहणं ..... । (दसवेआलियं ९।२।१४)

पलिद्धिवियं ब्राह्मिणं च सोयं, णिक्कम्मदंसी इह मच्चिएहि । (४१५०)

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।

परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥

.....निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

.....निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

(समयसार, अमृतचन्द्राचार्यकृत आत्मकथाति टीका, श्लोक २२५-

२२७ ।—देखें—आचारांगभाष्यं पृ० २३०)

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।

न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ (गीता ३।४)

असक्तबुद्धिः सर्वत्र, जितात्मा विगतस्पृहः ।

नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां, संन्यासेनाधिगच्छति ॥ (गीता १८।४९)

कम्मणा सफलं दट्ठुं, तओ णिज्जाइ बेयवी । (४१५१)

कहाण कम्माण न मोक्ख अत्थि । (उत्तरज्झयणाणि ४।३)

वासनामात्रसारत्वात्, अज्ञस्य सफलाः क्रिया ।

सर्वा एवाफला ज्ञस्य, वासनामात्रसंक्षयात् ॥

(योगवाशिष्ठ, ६-१-८७, १८)

### पांचवा अध्यायन

.....से अप्पं वा, बहं वा, अणुं वा, थूलं वा, अचित्तमंतं वा..... ।

(५।३१)

अप्पं वा, बहं वा .....अचित्तमंतं वा.....

(आयारचूला १५।५७, ७१)

अप्पं वा बहं वा .....अचित्तमंतं वा.....

(दसवेआलियं ४।१३, १५)

सोच्चा बई मेहावी, पंडियाणं णिसामिया ।

समियाए धम्मे, आरिएहि पवेदित्ते ॥ (५।४०)

सव्वभूयपभूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ । (दसवेआलियं ४, गाथा ९)

अत्तसमे मन्नेज्ज छप्पिकाए । (दसवेआलियं १०।५)

समया सव्वभूएसु सत्तुमित्तिसु वा जगे । (उत्तरज्झयणाणि १९।२५)

लाभालाभे सुहे दुक्खे .....माणावमाणओ ॥

(उत्तरज्झयणाणि १९।९०)

एवं ससंकल्पविकल्पनासो, संजायई समयमुवट्टियस्स ।

(उत्तरज्झयणाणि ३२।१०७)

किं ते जुज्जेण बज्जओ ? (५।४५)

.....किं ते जुज्जेण बज्जओ । ..... (उत्तरज्झयणाणि ९।३५)

वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा । (५।६३)

बुइया बुइया कुप्पंति माणवा । (आयारचूला ४।१९)

तम्मोत्तीए तप्पुरक्कारे..... । (५।६८)

तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे..... । (उत्तरज्झयणाणि २४।८)

से अभिक्कममाणे पडिक्कममाणे संकुचेमाणे पसारमाणे..... । (५।७०)

.....अभिक्कंतं पडिक्कंतं संकुचियं पसारियं..... (दसवेआलियं ४।९)

इहलोग-वेयण-वेज्जावडियं । (५।७२)

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।

(पातञ्जलयोगदर्शन २।१२)

जाओ लोगम्मि इत्थीओ । (५।७७)

जाओ लोगम्मि इत्थीओ..... (उत्तरज्झयणाणि २।१६)

पुष्वं बंडा पच्छा फासा, पुष्वं फासा पच्छा बंडा । (५।८५)

आरम्भे तापकान् प्राप्ती, अतृप्तिप्रतिपादकान् ।

अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान्, कामं कः सेवते सुधीः ॥

(इष्टोपदेश, श्लोक १७)

वइगुत्ते अज्झप्प-संवुडे..... । (५।८७)

वइगुत्ते अज्झत्थसंवुडे..... (सूयगडो १।२।३४)

से णो काहिए णो पासणिए णो संपसारए णो ममाए णो कयकिरिए.....

परिवज्जए सदा पावं । (५।८७)

णो काहिए संजए, पासणिए ण य संपसारए ।

णच्चा धम्मं अणुत्तरं, कयकिरिए य ण यावि मामए ॥

(सूयगडो १।२।५०)

वित्तिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभति समाधिं । (५।९३)

अत्थि णं भंते ! समणा वि निग्गंथा कंखामोहणिज्जं कम्मं वेएत्ति ?

.....कम्मं वेदेत्ति । (भगवई १।१६९, १७०)

.....संशयात्मा विनश्यति ।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ (गीता ४।४०)

तमेव सच्चं णीसकं, जं जिणेहि पवेइयं । (५।९५)

तमेव सच्चं णीसकं, जं जिणेहि पवेइयं । (भगवई १।१३१)

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया । जेण विजाणति से

आया । (५।१०४)

जीवे णं भंते ! जीवे ? जीवे जीवे ?

गोयमा ! जीवे ताव नियमा जीवे, जीवे वि नियमा जीवे ।

(भगवई ६।१७४)

यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा..... । (छान्दोग्योपनिषद् ८।१२।४)

अभिभूय अदक्खू, अणभिभूते पभू निरालंबणयाए । (५।१११)

संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ । .....विहरइ ।

(उत्तरज्झयणाणि २९।३४)

उड्डं सोता अहे सोता, तिरियं सोता वियाहिया ।

एते सोया वियक्खाया जेहि संगति पासहा । (५।११८)

श्रवण-नयन-वदन-प्राण-गुद-मेढ्राणि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि,  
एतान्येव स्त्रीणामपराणि च श्रीणि - द्वे स्तनयोरधस्ताद् रक्तवहं च ।

(सुश्रुतसंहिता, शारीरस्थानं ५।१०)

सव्वे सरा नियदटंति । (५।१२३)

यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह । (तैत्तरीय उपनिषद् २।२)

नेव वाचा न मनसा प्राप्नुं शक्यो ..... (कठोपनिषद् २।३।१२)

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनः । (केनोपनिषद् १।३)

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा ..... । (मुण्डकोपनिषद् ३।३।२)

तक्का जत्थ ण विज्जइ । (५।१२४)

तैषा तर्केन मतिरापनेया ..... । (कठोपनिषद् १।२।९)

मई तत्थ ण गाहिया । (५।१२५)

नो इंदियगोज्ज अमुत्तभावा ..... । (उत्तरज्जयणाणि १४।१९)

से ण दीहे, ण हस्से, ण वट्टे ..... ण परिमंडले । (५।१२७)

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः । (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।८, ९)

एष मे आत्मान्तर्हृदये अणीयान् श्रीहेर्वा यवाद वा सर्षपाद् वा  
श्यामाकाद् वा श्यामाकतण्डुलाद् वा, एष मे आत्मा अन्तर्हृदये  
ज्यायान् पृथिव्या ज्यायान् अन्तरिक्षाद् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो  
लोकेभ्यः । (छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४।३)

से ण दीहे ण हस्से ..... ण णिट्ठे, ण लुक्खे । (५।१२७ से १३१)

कण्ठे त्ति णीलेत्ति वा ..... रुक्खाणि वा । (आयारचूला ४।३७)

दीहेत्ति वा हस्से त्ति वा ..... लुक्खे त्ति वा । (सूयगडो २।१।१६)

ण इत्थी, ण पुरिसे, ण अण्णाहा । (५।१३५)

तैष स्त्री न पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः । (श्वेताश्वतरोपनिषद् ५।१०)

परिण्णे सण्णे । ५।१३६)

प्रज्ञानघन एव ..... । (बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।१३)

ज्ञोऽत एव । (ब्रह्मसूत्र २।३।१८)

आह च तन्मात्रम् । (ब्रह्मसूत्र ३।२।१६)

से ण सद्दे, ण रूवे, ण गंधे, ण रसे, ण फासे इच्चेताव । (५।१४०)

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्यय तथारसं नित्यमगन्धवच्चयत् ।

(ईशावास्योपनिषद् १।३।५)

### छुठा अध्ययन

पासह एगेवसीयमाणे अणत्तपण्णे । (६।५)

पण्णा समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छयं ।

(उत्तरज्जयणाणि २३।२५)

गंडी अबुवा कौडी ..... महुमेहणि । (६।८)

गंडी गंडी ति वा ..... मेहणि महुमेहणि त्ति वा (आयारचूला ४।१९)

बहुदुक्खा हु जंतवो । (६।१५)

जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।

अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो ॥

(उत्तरज्जयणाणि १९।१५)

सत्ता कामेहि माणवा । (६।१६)

....सत्ता कामेहि माणवा (सूयगडो १।१।६)

इति बाले पगम्भइ । (६।१८)

इति बाले पगम्भइ । (उत्तरज्जयणाणि ५।७)

अहेमे धम्ममादाय आयाणप्पभिइ सुपणिहिए चरे । (६।३५)

चउव्विहे सुप्पणिहाणे ..... उवगरणसुप्पणिहाणे । (ठाणं ४।१०५)

अइअच्च सध्वतो संगं 'ण महं अत्यित्ति इति एगोहमंसि ।' (६।३८)

एगत्तमेवं अभिपत्थएज्जा, एतं पमोक्खे ण मुसंति पास ।

एसप्पमोक्खे अमुसेऽवरे वी अकोहणे सच्चरणे तवस्सी ॥

(सूयगडो १।१०।१२)

से अक्कुट्ठे व हए व लूसिए । (६।४१)

.....अक्कुट्ठे व हए व लूसिए वा । (दसवेआलियं १०।१३)

अक्कोसेज्ज परो ..... एवं पेहेज्ज संजए ।

(उत्तरज्जयणाणि २।२४-२७)

जे य हिरी, जे य अहिरीमणा । (६।४५)

पंच पुरिसजाया पण्णत्ता, तं जहा - हिरिसत्ते, हिरिमणसत्ते, ..... ।

(ठाणं ५।१९८)

अबुवा तत्थ भेरवा । (६।५६)

नो भायए भयभेरवाइ दिस्स । (दसवेआलियं १०।१२)

समाहिमाघायमसोसयंता सत्थारमेव फरुसं वयंति । (६।७९)

समाहिमाघातमजोसयंता सत्थारमेवं फरुसं वयंति ।

(सूयगडो १।१३।२)

णातओ य परिग्गहं । (६।९६)

....णाइओ य परिग्गहं । (सूयगडो १।९।७)

आइक्खे विभाए किट्ठे वेयवी । (६।१०१)

आइक्खामि विभयामि किट्ठेमि पवेदेमि ..... (सूयगडो २।१।११)

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिणिब्बुडे । (६।१०७)

संखाय पेसलं धम्मं, दिट्ठिमं परिणिब्बुडे । (सूयगडो १।३।६०, ८२)

अवि हम्ममाणे फलगावयट्ठि ..... (६१११३)  
 अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठि ..... (सूयगडो १।७।३०)  
 कंखेज्ज कालं जाव सरीरभेउ । (६१११३)  
 ....कंखेज्ज कालं धुयमायरत्ते । (सूयगडो १।५।५२)  
 कासोवणीते.....जाव सरीरभेउ । (६१११३)  
 कासोवणीए सरीरस्स भेए । (उत्तरज्झयणाणि ४।९)  
**आठवां अध्यायन**

असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा  
 (दा१,२,२१ से २६,२८,२९,७५,१०१,११६ से १२१)  
 असणं वा पाणं वा खाइयं वा साइयं वा ।  
 (आयारचूला १।१; २।२८; ४।२ आदि)  
 असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा ।  
 (सूयगडो २।१।२१; २।२।३१; २।७।४ आदि)

लभिय णो लभिय, भुंजिय णो भुंजिय..... (दा२)  
 लभिय णो लभिय, भुंजिय णो भुंजिय..... (आयारचूला ४।२)  
 आयारगोयरे णो सुणिसंते भवति..... (दा३)  
 आयारगोयरे णो सुणिसंते भवइ.....  
 (आयारचूला २।३६,३७,३९ से ४२)

अदुवा वायाओ विडंजति, तं जहा.....सुकडेत्ति वा दुक्कडेत्ति वा,  
 कल्लाणेत्ति वा पावेत्ति वा, साहुत्ति वा असाहुत्ति वा, सिद्धीत्ति वा  
 असिद्धीत्ति वा, णिरएत्ति वा अणिरएत्ति वा । (दा५)

ते णो एवं विप्पडिवेदेत्ति, तं जहा.....सुकडे इ वा दुक्कडे इ वा,  
 कल्लाणे इ वा पावए इ वा, साहू इ वा असाहू इ वा, सिद्धी इ वा  
 असिद्धी इ वा, णिरए इ वा अणिरए इ वा..... ।  
 (सूयगडो २।१।२०, २९, ३६, ४५)

गामे वा अदुवा रण्णे ?..... (दा१४)  
 गामे वा नगरे वा रण्णे वा..... (दसवेआलियं ४ सूत्र १३.१५)  
 गामे वा यदि वारज्जे..... (धम्मपद ९८)  
 गामे वा यदि वारज्जे..... (धेरगाथा ९९१)  
 गामे वा यदि वारज्जे..... (अंगुत्तरनिकाय १।२८१; ३।३५४)  
 गामे वा यदि वारज्जे..... (संयुतनिकाय १।६९, २३३)

णेव गामे णेव रण्णे धम्ममायाणह..... (दा१४)  
 ग्रामोऽरण्यामिति द्वेषा. निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।  
 दृष्टात्मनां निवासस्तु, त्रिविक्तात्मेव निश्चलः ॥  
 (समाधिप्रतक, श्लोक ७३)

.....णेव सयं एतेहिं काएहिं वंडं समारंभेज्जा, णेवण्णेहिं एतेहिं  
 काएहिं वंडं समारंभावेज्जा, नेवण्णे एतेहिं काएहिं वंडं समारंभंते वि  
 समणुजाणेज्जा ।] (दा१८)

इच्चेसिं छण्हं जीविकायाणं नेव सयं वंडं समारंभेज्जा नेवन्नेहिं वंडं  
 समारंभावेज्जा वंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा.....  
 (दसवेआलियं ४।सूत्र १०)

....से हंता ! हणह, खणह, छिबह, बहह, पचह, आलुंणह, विलुंणह,  
 सहसाकारेह, विप्परासुसह..... । (दा२५)

से हंता हणह खणह छणह उहह पयह आलुंणह विलुंणह सहसकारेह  
 विप्परासुसह..... (सूयगडो २।१।१९)

णिहाय वंडं पाणेहिं, पावं कम्मं अकुब्बमाणे..... । (दा३३)

निहाय वंडं भूतेसु तसेसु थावरेसु च..... । (धम्मपद ४०५)

से अहेसणिज्जाइं वत्थाइं जाएज्जा.....सामगियं । (दा४४ से ४९)

अहेसणिज्जाइं.....सामगियं । (आयारचूला ५।४१)

अणुपविसित्ता गामं वा, णगरं वा, खेडं वा, कब्बडं वा, मडंबं वा,  
 पट्टणं वा, दोणमुहं वा, आगरं वा, आसमं वा, सण्णिवेसं वा, णिगमं  
 वा, रायहाणि वा..... । (दा१०६)

..... तं जहा—गामंसि वा, णगरंसि वा, खेडंसि वा, कब्बडंसि  
 वा.....रायहाणिसि वा..... (आयारचूला १।२८ आदि)

गामे नगरे तह रायहाणि निगमे य आगरे पल्ली ।

खेडे कब्बडदोणमुहपट्टणमडंबसंवाहे ॥

.....संवट्टकोट्टे य ॥ (उत्तरज्झयणाणि ३०।१६, १७)

जं किचुक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।

तस्सेव अंतरद्वाए, खिप्पं सिक्खेज्ज पंडिए ॥ (दा८।६)

जं किचुक्कमं जाणे, आउक्खेमस्स अप्पणो ।

तस्सेव अंतरा खिप्पं, सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥ (सूयगडो १।८।१५)

....पुट्टो तत्थ हियासए ।..... (दा८।८)

....पुट्टो तत्थ हियासए ।..... (सूयगडो १।९।३०)

पुट्टो तत्थ हियासए । (उत्तरज्झयणाणि २।३२)

संतप्पणा य जे पाणा, जे य उड्हमहेचरा ।

भुंजति मंस-सोणियं, ण छणे ण पमज्जए ॥ (दा८।९)

न संतसे न वारेज्जा, मणं पि न पओसए ।

उवेहे न हणे पाणे, भुंजंते मंससोणियं ॥ (उत्तरज्झयणाणि २।११)

सव्वं नूभं विधूणिया (दा८।२४)

सव्वं णूमं विधूणिया । (सूयगडो १।१।३९)

तित्तिक्खं परमं णच्चा । (दा८।२४)

तित्तिक्खं परमं णच्चा ॥ (सूयगडो १।८।२७)

तित्तिक्खं परमं नच्चा ॥ (उत्तरज्झयणाणि २।२६)

नौवां अध्यायन

- .....एयं खु अणुधम्मियं तस्स । (९।१।२)  
 .....अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ ॥ (सूयगडो १।२।१४)  
 अरइं रइं अभिभूय..... (९।२।१०)  
 अरति रति च अभिभूय ..... (सूयगडो १।१०।१४; १३।१८)  
 ह्यपुग्गो तत्थ वंडेण, अदुवा मुट्ठिणा अदुकुंताइ-फलेण । (९।३।१०)  
 तत्थ वंडेण संवीते, मुट्ठिणा अदु फलेण वा । (सूयगडो १।३।१६)

- अधि सूइयं च सुवकं वा, सीर्यपिंडं पुराणकुम्भासं ।  
 अदु बवकसं पुलागं वा, लद्धे पिंडे अलद्धए दविए ॥ (९।४।१३)  
 पंताणि चेव सेवेज्जा, सीर्यपिंडं पुराणकुम्भासं ।  
 अदु बुवकसं पुलागं वा, जवणट्ठाए निसेवए मंथुं ॥  
 (उत्तरज्जयणाणि ८।१२)

आचारांग सूत्र में उद्धृत श्लोक

	चू० पृष्ठ		चू० पृष्ठ
<b>चरणकरणानुयोग के व्याख्या-द्वार</b>		<b>ज्ञाति-संबंधों की अस्थिरता</b>	
१. णिकखेवेगट्ट णिहत्त विही पवत्ती अ केण वा कस्स । तद्दारभेदलक्खणतदरिहपरिसा य सुत्तत्थो ॥	२	९. जह सउणगणा बहवे समागया एगपादवे रत्ति । वसिऊण जंति विविहा दिसा तह सव्वणाइजणो ॥ (१।३६)	२५
<b>ग्रीष्मकाल की उपयोगी वस्तुएं</b>		<b>धृत और संवेग का साहचर्य</b>	
२. सरसो चंदणपंको अग्घति उल्ला य गंधकासाई । पाडल-सिरीस-मल्लिय-पियंगु काले निदाहंमि ॥	३	१०. जह-जह सुतमोगाहति अइसयरसपसरसंजुयमपुव्वं । तह-तह पल्लाइ मुणी नवनवसवेगसद्धाए ॥ (१।३६)	२५
<b>आचारांग के अध्ययनों के विवरण की प्रतिज्ञा</b>		<b>जीवों का सदृश संबेदन</b>	
३. एत्तो उ बंभवेरे पिडत्थो वण्णिओ समासेणं । एत्ताहे एक्केवकं अज्जमयणं वण्णइस्सामि ॥	७	११. कट्ठेण कंटएण व पाए विद्धस्स वेयणट्टस्स । जा होति अणिव्वाणी णायव्वा सव्वजीवाणं ॥ (१।१४८)	४०
<b>अर्थ और सूत्र के कर्त्त</b>		<b>पचासवें वर्ष से इन्द्रिय-परिहानी</b>	
४. अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गंथंति गणहरा निउणा । सासणस्स हियट्टाए, ततो सुत्तं पवत्तइ ॥ (१।१)	८	१२. पंचासगस्स चक्खुं, हायती मज्झिमं वयं । अभिककंतं संपेहाए, ततो से एति मूढतं ॥ (२।५)	५१
<b>'भग' शब्द के छह अर्थ</b>		<b>जुगुप्सनीय है बृद्धावस्था</b>	
५. माहात्म्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः । धर्मस्यथाय प्रयत्नस्य, वण्णां भग इतीं गणा ॥ (१।१)	९	१३. वलिसंततमस्वियशेषितं, शिथिलस्नायुधुत्तं कडेवरम् । स्वयमेव पुमान् जुगुप्सते, किमु कांता कमनीयविग्रहा ? ॥ (२।७)	५२
<b>आत्मा के आठ प्रकार</b>		<b>बृद्धवस्था में हास्य, भूषा आदि हास्यास्पद</b>	
६. दविए कसाय जोगे उवजोगे नाण दंसणे चरणे । विरिये आता (य) तथा अट्टविहो होइ नायव्वो ॥ (१।२)	१३	१४. ण तु भूषणमस्य युज्यते, न च हास्यं कुत एव विभ्रमः । अथ तेषु प्रवर्त्तते जतो, धुवमायाति परां प्रपञ्चनाम् ॥	
<b>मल्लिकुमारी का छह राजाओं को कथन</b>		<b>तीन पुरुषार्थ : योग्य-अयोग्य-वय</b>	
७. ऋथ तयं पम्हुट्ठं ? जत्थ गयाओ विमाणपवरेसु । वुच्छा समयणिबद्धं देवा ! तं संभरह जाति ॥ (१।३)	१३, १४	१५. अत्थो धम्मो कामो तिग्णि य एयाइं तरुणजोगाइं । गतजुव्वणस्स पुरिसस्स होंति कंतारभूताइं ॥ (२।९)	५३
<b>आज्ञा से अतीन्द्रिय पदार्थों का ग्रहण</b>		<b>धन है प्रियतर</b>	
८. जिनेन्द्रवचनं सूक्ष्महेतुभिर्यदि गृह्यते । आज्ञया तद्ग्रहीतव्यं, नान्यथावादिनो जिनाः ॥ (१।१६)	२०	१६. प्राणैः प्रियतराः पुत्राः, पुत्रैः प्रियतरं धनम् । स तस्य हरते प्राणान्, यो यस्स हरते धनम् ॥ (२।१७)	५५

धर्म किसको ?

१७. तस्मै धर्मभृते देयं, यस्य नास्ति परिग्रहः ।  
परिग्रहे तु ये सक्ता, न ते तारयितुं क्षमाः ॥  
(२।३५)

५९

साध-अलाभ में चिन्तन

२६. लभ्यते लभ्यते साधु, साधु एव न लभ्यते ।  
अलब्धे तपसो वृद्धिर्लब्धे देहस्य धारणा ॥  
(२।११४, ११५)

पृ. ८१

लोभ का त्याग : असंतोष की औषधि

१८. यथाहारपरित्यागो, ज्वरितस्यौषधं तथा ।  
लोभस्यैवं परित्यागः, असंतोषस्य भेषजम् ॥

५९

बीता समय नहीं लौटता

२७. जहीहि विषयान् सौम्य ! त्वरितं यान्ति रात्रयः ।  
गताश्वो (श्च) न निवर्तते, वल्लिज्वाला इवाम्बरम् ॥  
(२।१२१, १२२)

८२, ८३

भौतिक उच्चता अनन्त बार

१९. सर्वसुखाप्यपि बहुशः प्राप्ताभ्यटता मया तु संसारे ।  
उच्चस्थानानि तथा तेन न मे विस्मयस्तेषु ॥  
(२।५०)

६३

यह करूंगा, वह करूंगा

२८. इमं तावत्करोम्यद्य, श्वः करिष्यामि वा परम् ।  
चितयन् कार्यकार्याणि, प्रेत्यार्थं नावबुद्धयते ॥  
(२।१३४)

८५

नाथ अनाथ हो जाता है

२०. होऊण चककवट्टी पुह्विपती विमलमंडलच्छन्तो ।  
सो चेव णामं तुच्छो अणाहसालोवगो होति ॥  
(२।५०)

६३

लोभी व्यक्ति का चिन्तन

२९. किं मे कियं किं च मे किञ्चसेसं, किं मे विणट्ठं व हरं व दब्धं ।  
दातव्वलद्धं च विचित्तणेण, तेसि ण संदेहमुवेति मदे ॥  
(२।१३४)

८५, ८६

सर्व-क्षेत्रप्राप्ती जन्म-मरण

२१. बालगकोडिमित्तोवि पदेसो पत्थि कोयि लोमंमि ।  
संसारसंसंरंतो जत्थ ण जातं मतं वावि ॥  
(२।५६)

६६

काम-सेवन का निषेध

३०. दुःखार्तः सेवते कामान्, सेवितास्ते च दुःखदाः ।  
यदि ते न प्रियं दुःखं, प्रसंगस्तेषु न क्षमः ॥  
(२।१३५)

८६

भोग तृप्ति देने में असमर्थ

२२. नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां, नापगानां महोदधिः ।  
नान्तकृत्सर्वभूतानां, न पुंसां वामलोचना ॥  
(२।९६)

७५

कामजित् विश्वजित्

३१. शिश्नोदरकृते पार्थ !, पृथिवीं जेतुमिच्छसि ।  
जय शिश्नोदरं पार्थ !, ततस्ते पृथिवी जिता ॥  
(२।१३६)

८६

काम-व्याधि की बाहकता

२३. एत्तो य उण्हतरीया अण्णा का वेयणा गणिज्जंती ? ।  
जं कामवाहिगहितो ड्ज्जति किर चंदकिरणेहि ॥  
(२।९९)

७५

काम : किपाक फल के समान

३२. किपाकफलसमाना विषया हि निसेव्यमाणरमणीयाः ।  
पश्चाद् भवन्ति कटुका त्रपुषिफलनिबन्धनैस्तुल्याः ॥  
(२।१५९)

९२

अवान से मुनि कुपित न हो

२४. बहुं परधरे अत्थि, विविहं खाइमसाइमं ।  
ण तत्थ पंडितो कुप्पे, इच्छा दिज्ज परी व णो ॥  
(२।१०२)

७५

वीर का निरुक्त

३३. विदारयति तत्कर्म, तपसा च विराजते ।  
तपोवीर्येण युक्तश्च, वीरो वीरेण दशितः ॥  
(२।१६०)

९३

अवान से धिक्कता का निषेध

२५. दिट्ठा हि कसेरमती अणुभूयासि कसेरमती ।  
पीतं च ते पाणियत्तं वरि तव णाम न दंसणयं ॥  
(२।१०२)

७६

दशवेद्यासमो नृपः

३४. दशसूना समं चक्रं, दशचक्रसमो ध्वजः ।  
दशध्वजसमा वेद्या, दशवेद्यासमो नृपः ॥  
(२।१७४)

९७

प्रवचन के अन्वेषक का परिणाम	चू० पृष्ठ	आगमों की आप्तता	चू० पृष्ठ
३५. तत्थेव य निद्रवणं बंधण निच्छुभण कडगमहो य । पिण्विसयं व नरिदो करिज्ज संघपि सो खुदो ॥ (३१७५)		४४. वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न भ्रुवते भवचित् । आगमो ह्यप्यन्तवचनं, आप्तं दोषक्षयाद्धिदुः ॥ वीतरागोऽनृतं वाक्यं, न ऋयाद् हेत्वसंभवात् ॥ (३१४०)	११४
अज्ञान की वृत्तयता		कामना का जाल	
३६. न ते कष्टतरं मग्ये, जगतो दुःखकारणम् । यथाऽज्ञानं महारोगं, दुरन्तमतिदुर्जयम् ॥ (३११)	१०३	४५. न शयानो जयेन्निद्रां, न भुंजानो जयेत् क्षुधाम् । न काममानः कामानां, लोभेनेह प्रशाम्यति ॥ (३१४२)	११५
प्रमाद से भव-भ्रमण		विषय किंपाकफल सदृश	
३७. रागद्वेषवशाविद्धे, मिथ्यादर्शनदुस्तरम् । जन्मावर्त्ते जगत् सर्वं, प्रमादात् भ्राम्यते भृशम् ॥ (३१६)	१०६	४६. किंपाकफलसमाना विषया हि निषेव्यमानरमणीयाः । पश्चाद्भवन्ति कटुकास्त्रपुषिफलनिबन्धनैस्तुल्याः ॥ (३१४५)	११५, ११६
कर्म से कर्म और भव से भव		प्रवृत्ति क्यों ?	
३८. कर्मणो जायते कर्म, ततः संजायते भवः । भवाच्छरीरदुःखं च, ततश्चान्यतरो भवः ॥ (३११९)	१०९, ११०	४७. आहाराद्यर्थं कर्मं कुर्यादनिच्छं, कुर्यादाहारं तु प्राणसंधारणार्थम् । प्राणाः संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं, तत्त्वं जिज्ञास्यं येन दुःखाद्धिमुच्ये ॥ (३१५६)	१२०
जातिस्मृति न होने का कारण		आत्मगुप्त की अजेयता	
३९. जातमाणस्स जं दुक्खं, भरमाणस्स जंतुणो । तेण दुक्खेण संमूढो, जाति ण सरति अप्पणो ॥ (३१२६)	१११	४८. यस्य हस्तौ च पादौ च, जिह्वाग्रं च सुसंयतम् । इंद्रियाणि च गुप्तानि, राजा तस्य करोति किम् ॥ (३१५८)	१२१
आत्मनः प्रतिकूलानि....		वैराग्य की श्रेष्ठता	
४०. यथेऽद्विषयात्सातमनिष्ठादितरत् तव । अन्यतरो (अपरे) ऽपि विदित्वैवं, न कुर्यादप्रियं परे ॥ (३१२६)	१११	४९. न तृप्तोऽसि यदा कामैः, सेवितैरप्यनेकशः । स नाम तेषु वृत्तेऽन्तो, यतो वैराग्यमाप्नुहि ॥ (३१६१)	१२३
मोक्ष कब ?		कर्म का अन्त : भव का अन्त	
४१. सुयणाणम्मि वि जीवो वट्ठंतो सो ण पाउणइ मुक्खं । जह्छेतलद्धणिज्जामओवि ण पाउणइ मुक्खं ॥ (३१२८)	१११	५०. दग्धे बीजे यथाऽयन्तं, प्रादुर्भवति नाड्कुरः । कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाड्कुरः ॥ (३१८७)	१२९
दशान की प्रधानता		जो आत्मन वे ही परित्यज	
४२. भट्ठेण चरित्तओ सुट्ठुयंरं दंसणं गहेयव्वं । सिज्झंति चरणरहिया दंसणरहिया ण सिज्झंति ॥ (३१२८)	१११	५१. यथा प्रकारा थावन्तः, संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासा, निर्वाणसुखहेतवः ॥ (४११२)	१३८
हंसने से हानि		कर्त्ता ही भोक्ता	
४३. हसता किल शंवेन, दुर्वासा कोपितो ऋषिः । तेन विष्णुकुलं दग्धं, हंसतं पितृघातकम् ॥ (३१३२)	११२	५२. एकः प्रकुरुते कर्म, भुंक्ते एकश्च तत्फलम् । जायत्येको म्रियत्येको, एको याति भवान्तरम् । (४१३२)	१४५, १४६



	चू० पृष्ठ		चू० पृष्ठ
<b>कर्म या भव है मृत्यु</b>		<b>वीर कौन?</b>	
५३. मां मारयते यस्मान्ममारिभूतश्च मारयति । वास्तो अनुसमयं मरणादपि कर्म भवो वा भवेन्मारः ॥ (५।३)	१५८	६२. विदारयति यत्कर्म, तपसा च विराजति । तपोवीर्येण युक्तश्च, वीरो वीरेण कीर्त्यते ॥ (५।६०)	१८०
<b>संसार के प्रकार और हेतु</b>		<b>एकाकी विहरण के अपाय</b>	
५४. दब्बे खित्ते काले भावे य भवे होति संसारो । तस्स पुण हेतुभूतं संसारे कम्ममट्टविहं ॥ (५।९)	१६०	६३. साहम्मिएहि संबुद्धतेहि एमाणियो तु जो विहरे । आयं कपउरताए छक्कायवहो तु भइयव्वो ॥ (५।६२)	१८१
<b>कर्म हैं प्रलीन</b>		<b>संघ-निर्गत का विनाश</b>	
५५. प्रलीयते भयं येन, अच्छ भूत्वा प्रलीयते । प्रतीनमुच्यते कम्मं, भृशं लीनं यदात्मनि ॥ (५।१७)	१६४	६४. गच्छंमि केइ पुरिसा सारणवीयीहि चोदति संता । णिति ततो सुहकामी णिग्गयमेत्ता विणस्संति ॥ (५।६२)	१८२
<b>पराक्रम की विशेषता</b>		<b>काम और संकल्प का साहचर्य</b>	
५६. णालस्सेण समं सोखं, ण विज्जा सब्बणिदया । ण वेरगं ममत्तेणं, णालंभेसु दयालुया ॥ (५।४१)	१७३	६५. काम ! जानामि ते मूलं, संकल्पात् किल जायसे । संकल्पं न करिष्यामि, तेन मे न भविष्यसि ॥ (५।८४)	१८६
<b>प्रतिद्वन्द्विता</b>		<b>सत्य है वीतराग बचन</b>	
५७. आविः परिषदि घर्मं काञ्चनसिहासने वाणस्य (मुनेः) । योजननिर्हारिरवो योऽभून्नोच्चैः कथं स सिहनिनादः ? (५।४१)	१७३	६६. वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते वचः । यस्मात् तस्माद्वचस्तेषां, सत्यं भूतार्थदर्शनम् ॥ (५।९५)	१९१
<b>शील के लक्षण</b>		<b>कामभोग की अतृप्ति</b>	
५८. महाव्रतसमाधानं, तथैवेन्द्रियसंवरः । त्रिदंडविरतित्वं च, कषायानां च निग्रहः ॥ (५।४४)	१७५	६७. तणकट्ठेण व अग्गी लवणजलो वा णदीसहस्सेसु । ण तिसा जीवस्स सक्का, तिप्पेउं कामभोगेहि ॥ (६।२१)	२०६
<b>रूप की प्रधानता</b>		<b>सुत्रार्थी का सिंहावलोकन</b>	
५९. चाक्षुषा चक्षुषा येन, विषया रूपिणिस्सिता । रूपप्रेषठाश्च सर्वेऽपि, रूपस्य ग्रहणं ततः ॥ (५।४९)	१७६	६८. गंतुं गंतुं सीहो पुणो पुणो मग्गओ पलोएइ । सुत्तथीवि हु एवं सतंपि सुत्तं पलोएति ॥ (६।२२)	२०७
<b>प्रवचन के उद्भावक</b>		<b>कुटुम्ब के पंक में निमग्न</b>	
६०. प्रावचनी घर्मकथी वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च । विज्जासिद्धः ख्यातः कविरपि चोद्भावकास्त्वष्टी ॥ (५।५३)	१७८	६९. पुत्रदारकुटुंबेषु, सक्ता मोदति जन्तवः । सरःपङ्कार्णवे मग्ग, जीर्णा वनगजा इव ॥ (६।२८)	२०९
<b>त्रियाचरित्रं</b>		<b>मनुष्यों के आयतन</b>	
६१. एता हसंति च रुदंति च अर्थहेतोः विश्वासयंति च नरं च न विश्वसंति । तस्मान्नरेण कुलशीलसमन्वितेन, नार्यः श्रमज्ञानसुमना इव वर्जनीयाः ॥ (५।५४)	१७९	७०. गिहाणि धनधान्यं च, कषाया विषयास्तथा । अत्थो वाऽसंयमो ह्येते, सर्वमायतनं नृणां ॥ (६।३०)	२०९

	चू० पृष्ठ	सत्कार्यवाद	चू० पृष्ठ
वसु : अनुवसु			
७१. वीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिनो वा संयतोऽथवा । सरागोऽनुवसुः प्रोक्तः, स्थविरः श्रावकोऽथवा ॥ (६।३०)	२१०	७७. असदकरणात् उपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् । शक्यस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ (८।५)	२५२
७२. यस्त्वप्रमादेन तिर्रो प्रमादः, स्याद्वापि यत्तेन पुनः प्रमादः । विपर्ययेणापि पठति यत्र, सूत्राण्यधीकारवशाद् विधिज्ञाः ॥ (६।३४)	२१२	श्रुत का प्रवर्तन ७८. अत्यं भासद् अरहा सुत्तं गंथंति गणहारा निउणं । सासणस्स हियट्टाए, ततो सुत्तं पवत्तति ॥ (८।३१)	२६७
क्रोध क्यों ?		वसुमान् कौन ?	
७३. आश्रुष्टेन मतिमता तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः ? स्यादनृतं किं नु कोपेन ? (६।४३)	२१४	७९. संजमे वसता तु वसुर्वसी वा, येनेन्द्रियाणि तस्य वशे । वसु च धनं ज्ञानाद्यं, तस्यास्तित्वान् मुनिर्वसुमां ॥	२८७
सम्यक्त्व		वस्त्र धारण का प्रयोजन	
७४. प्रशस्तः शोभनश्चैव, एकः संमत एव वा । इत्येतेरूपसृष्टस्तु, भावः सम्यक्त्वमुच्यते ॥ (६।६५)	२१९	८०. गरीयस्स्वात् सचेलस्स, धर्मस्यान्यैः तथागतैः । शिष्यसंप्रत्ययाच्चैव, वस्त्रं दध्ने न लज्जया ॥ (९।१।२)	२९९
धर्म की परिभाषा		उपाधि की उपाधि	
७५. दुर्गतिप्रवृत्तं जीवं, यस्माद् धारयते ततः । घत्ते चनान् शुभे स्थाने, तस्मात् धर्म इति स्मृतः ॥ (६।९१)	२३०	८१. कतिया वच्चति सत्थो ? किं भंडं ? कत्थ ? कित्तिया भूमी ? को कयविककयकालो ? णिव्विसति को ? कर्हि ? केण ? ॥ (९।१।१५)	३०६
आत्मनः प्रतिकूलानि		अहंत् गोचरी क्यों नहीं जाते ?	
७६. न तत्परस्य संदध्यात्, प्रतिकूलं यदात्मनः । एषः संग्राहिको धर्मः, कामादन्यत्प्रवर्तते ॥ (६।१०१)	२३६	८२. देविदच्चक्कवट्टी मंडलिया ईसरा तलवरा य । अभिगच्छति जिण्णिदं गोयरचरितं ण सो अडत्ति ॥ (९।१।१९)	३०९

आचारांग वृत्ति में उद्धृत श्लोक

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>पहला अध्ययन</b>		<b>प्रावचनी की योग्यता (८ से ११)</b>	
<b>तीर्थ की महिमा</b>		८. देसकुलजाडरूवी संघयणी धिइजुओ अणासंसी । अविकत्थणो अमाई थिरपरिवाडी महियवक्को ॥	२
१. जयति समस्तवस्तुपर्यायविचारापास्ततीथिकं, विहितैकैकतीर्थनयवादसमूहवशात्प्रतिष्ठितम् । बहुविधभङ्गिसिद्धसिद्धागतविधूनितमलमलीमसं, तीर्थमनादिनिघनगतमनुपममादिनतं जिनेश्वरैः ॥	१	९. जियपरिसो जियनिहो मज्झत्थो देसकालभावन्नु । आसन्नलद्धपइभो णाणाविहूदेसभासण्णू ॥	२
<b>आचारशास्त्र का निरूपण</b>		१०. पंचविहे आयारे जुत्तो सुत्तत्थतदुभयविहिन्नु । आहरणहेउकारणणयणिउणो गाहणाकुसलो ॥	२
२. आचारशास्त्रं सुविनिश्चितं यथा, जगाद वीरो जगते हिताय यः । तथैव किञ्चिद् गदतः स एव मे, पुनातु धीमान् विनयापिता गिरः ॥	१	११. ससमयपरसमयविऊ गंभीरो वित्तिमं सिवो सोमो । गुणसयकल्लिओ जुत्तो पवयणसारं परिकहेउं ॥	२
<b>गंधहस्ति की बहुभ्रतता</b>		<b>व्याख्या-द्वार</b>	
३. शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम् । तस्मात् सुखबोधार्थं गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् ॥	१	१२. उहेसे णिहेसे य णिग्गमे खेत्तकालपुरिसे य । कारणपच्चयलक्खण णए समोयारणाऽणुमए ॥	३
<b>दर्शन की विशुद्धि से चरण-विशुद्धि</b>		१३. किं कतिविहं कस्स कीहं केसु कइं केच्चिरं हवइकालं । कइ संतरभविरहियं भवागरिस फासणिरुत्ती ॥ (विशे० भा० ९७३, ९७४)	३
४. चरणपडिवत्तिहेउं धम्मकहाकालदिक्खमादीया । दविए दंसणसोही दंसणसुद्धस्स चरणं तु ॥	१	<b>द्वय-आचार</b>	
<b>श्रेयस् निर्विघ्न नहीं</b>		१४. णामणधोयणवासणसिक्खावणसुकरणाविरोहीणि । दव्वाणि जाणि लोए दव्वायारं वियाणाहि ॥	४
५. श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि । अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वापि यान्ति विनायकाः ॥	१	<b>ज्ञान-आचार</b>	
<b>अज्ञानी और ज्ञानी</b>		१५. काले विणए बहुमाणे उवहाणे तहा अणिश्हवणे । वज्जणअत्थतदुभाए अट्टविहो णाणमायरो ॥	४
६. जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहि वासकोडीहि । तं नाणी तिहि गुत्तो खवेइ उस्तासमित्तेणं ॥	२	<b>दर्शन-आचार</b>	
<b>व्याख्या-द्वार</b>		१६. निस्संकिम निक्कंखिय निव्वित्तिगिच्छा अमूढदिट्ठी य । उबवूहथिरीकरणे वच्छल्लपभावणे अट्ट ॥	५
७. निक्खेवेगट्टनिश्रुतिविहिपवित्ती य केण वा कस्स । तदारभेयलक्खण तदरिहपरिसा य सुत्तथो ॥	२	<b>आठ प्रवचन माताएं</b>	
		१७. तिन्नेव य गुत्तीओ पंच समिइओ अट्ट मिलियाओ । पवयणमाईउ इमा तासु ठिओ चरणसंपन्नो ॥	५

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>बाह्य तप</b>		<b>पुरुषार्थ सबके लिए</b>	
१८. अणसणमूणोयरिया वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ । कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ ॥		२९. किं पुण अवसेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं । होति न उज्जमियव्वं सपच्चवायंमि माणुस्से ॥	९
	५		
<b>आभ्यन्तर तप</b>		<b>सूत्र के आठ गुण</b>	
१९. पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झओ । भाणं उस्सग्गोऽवि य अन्भितरओ तवो होइ ॥		३०. अप्पगंथमहत्थं वत्तीसादोसविरहियं जं च । लक्खणजुत्तं सुत्तं अट्टहि य गुणेहि उववेयं ॥	१०
	५		
<b>वीर्य-आचार</b>		<b>'नो' शब्द की अर्थवत्ता</b>	
२०. अणिगूहियबलविरिओ परक्कमइ जो जहुत्तमाउत्तो । जुंजइ य जहाथामं नायव्वो वीरियायारो ॥		३१. प्रतिषेधयति समस्तं प्रसक्तमर्थं च जगति नोशब्दः । स पुनस्तदवयवो वा तस्मादर्थान्तरं वा स्याद् ॥ (१११)	११
	५		
<b>श्रीष्म ऋतु में</b>		<b>अन्यतीर्थिकों के ३६३ भेद</b>	
२१. सरसो चंदणपंको अरघइ सरसा य गंधकासाई । पाडलि सिरीस मल्लिय पिपाई काले निदाहंमि ॥		३२. असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई । अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च वत्तीसा ॥ (११२)	१५
	५		
<b>एकार्थक क्यों ?</b>		<b>कालवादी</b>	
२२. बंधाणुलोमया खलु सत्थंमि य लाघवं असम्मोहो । मंतगुणदीवणावि य एगट्टगुणा हवंतेए ।		३३. कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ (११२)	१६
	५		
<b>षट्स्यानपतित</b>		<b>नियतिवादी</b>	
२३. णणु सव्वणभपएसाणंतगुणं पढमसंजमट्टाणं । छव्विहपरिवुड्डीए छट्टाणासंखया सेढी ॥		३४. प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥ (११२)	१६
	६		
<b>समवतार-द्वार</b>		<b>स्वभाववादी</b>	
२४. अन्ने के पज्जाया ? जे णुवउत्ता चरित्तविसयम्मि । जे तत्तोऽणंतगुणा जेसि तमणंतभागम्मि ॥		३५. कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च । स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः ? ॥ (११२)	१६
	६		
२५. अन्ने केवन्नगम्मत्ति ते मई, ते य के तदब्भहिया ? । एवंपि होज्ज तुल्ला णाणंतगुणत्तणं जुत्तं ॥		३६. स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः । नाहं कर्त्तंति भूतानां, यः पश्यति स पश्यति ॥ (११२)	१६
	६		
२६. सेढीसु णाणदंसणपज्जाया तेण तत्पमाणेहा । इह पुण चरित्तमेत्तोवओगिणो तेण ते योवा ॥		३७. केनाञ्चित्तानि नयन्तानि मृगाञ्जनानां ?, कोऽलङ्करोति हचिराङ्गच्छान् मयूरान् ? । कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति ?, को वा दधाति विनयं कुलजेषु पुंसु ? ॥ (११२)	१६
	६		
<b>ब्रह्मचर्य के अठारह विकल्प</b>			
२७. दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम् । औदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माण्डादशविकल्पम् ।			
	८		
<b>तीर्थंकर का पुरुषार्थ</b>			
२८. तित्थयरो चउणाणी सुरमहिओ सिज्झियव्वय धुवंमि । अणिगूहियबलविरिओ सव्वत्थामेसु उज्जमइ ॥			९
	९		

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>ईश्वरवादी</b>		४८. विगलिदिएसु दो दो चउरो चउरो य णारयसुरेसुं । तिरिएसु हुंति चउरो चोइस लक्खा य मणुएसु । (११८)	२२
३८. अजो अन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेच्छ्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥ (११२)	१६	<b>शुभ-अशुभ योनियां</b>	
<b>आत्माहंतवादी</b>		४९. सीयादी जोणीओ चउरासीती य सयसहस्साइं । असुभाओ य सुभाओ तत्थ सुभाओ इमा जाण ॥ (११८)	२२
३९. एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ (११२)	१६	५०. अस्संखाउमणुस्सा राईसर संखमादिआऊणं । तित्थगरनामगोत्तं सब्बसुहं होइ नायव्वं ॥ (११८)	२२
<b>यदृच्छावादी</b>		५१. तत्थवि य जाइसंपन्नतादि सेसा उ हुंति असुभाओ । देवेसु किव्विसादी सेसाओ हुंति उ सुभाओ ॥ (११८)	२२
४०. अतक्रिकतोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् । काकस्य तालेन यथाऽभिघातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥ (११२)	१७	५२. पंचिदियतिरिएसुं ह्यमयरयणं ह्वंति उ सुभाओ । सेसाओ असुभाओ सुभवण्णेगिदियादीया ॥ (११८)	२२
४१. सत्यं पिशाचाः स्म वने वसामो, भेरिं कराग्रैरपि न स्पृशामः । यदृच्छया सिद्धयति लोकयात्रा, भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति ॥ (११२)	१७	५३. देविदचक्कवट्टित्तिणाइं मोत्तुं च तित्थगरभावं । अणगारभावित्तविय सेसा उ अणंतसो पत्ता ॥ (११८)	२२
<b>विनयवादी</b>		५४. कर्म से संसार-चक्र	
४२. विणया णाणं णाणाओ दंसणं दंसणाहि चरणं च । चरणाहितो मोक्खो मोक्खे सोक्खं अणाबाहं ॥ (११२)	१७	५४. तं कर्मभिः स जीवो विवशः संसारचक्रमुपयाति । द्रव्यक्षेत्राद्भावभिन्नभाववर्तते बहुशः ॥ (११८)	२३
<b>आत्मा की अस्वीकृति के बोध</b>		५५. चतुर्गति में भ्रमण	
४३. शास्ता शास्त्रं शिष्यः प्रयोजनं वचनहेतुदृष्टान्ताः । सन्ति न शून्यं श्रुवत्सस्तदभावाच्चाप्रमाणं स्यात् ॥ (११२)	१८	५५. नरकेषु देवयोनिषु तिर्यग्योनिषु च मनुजयोनिषु च । पर्यटति घटीयन्त्रवदात्मा बिभ्रच्छरीराणि ॥ (११८)	२३
४४. प्रतिषेद्धप्रतिषेधौ स्तश्चेच्छून्यं कथं भवेत्सर्वम् ? । तदभावेन तु सिद्धा अप्रतिषिद्धा जगत्पर्याः ॥ (११२)	१८	<b>नारक-तिर्यङ्चों के दुःख</b>	
<b>परव्याकरण से जातिस्मृति</b>		५६. सततानुबद्धमुक्तं दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम् । तिर्यक्षु भयक्षुत्तुड्वघादिदुःखं सुखं चाल्पम् ॥ (११२)	२०
४५. किं थ तयं पम्हुट्ठं जं च तया भो ! जयंतपवरंमि । वुच्छा समयनिबद्धं देवा ! तं संभरहं जाति ॥ (११३)	२०	<b>मनुष्य और देवों के सुख-दुःख का विमर्श</b>	
<b>अहंकार से कृत कार्यों का शत्य</b>		५७. सुखदुःखे मनुजानां मनः अरीराश्रये बहुविकल्पे । सुखमेव हि देवानां दुःखं स्वल्पं च मनसि भवम् ॥ (११६)	२३
४६. विहवावलेवनडिर्एहि जाइं कीरंति जोव्वणमएणं । वयपरिणामे सरियाइं ताइं हियए खुडुक्कंति ॥ (११६)	२१	<b>कर्म का प्रभाव</b>	
<b>चौरासी लाख जीव-योनियां</b>		५८. कर्मानुभावदुःखित एवं मोहान्धकारगहनवति । अन्ध इव दुर्गमार्गे भ्रमति हि संसारकान्तारे ॥ (११८)	२३
४७. पुढवीजलजलणमाइय एक्केक्के सत्त सत्त लक्खाओ । वण पत्तेय अणंते दस चोइस जोणिलक्खाओ ॥ (११८)	२२		

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>मोह से दुःख की परम्परा</b>		<b>उत्सरोत्तर पापकर्म का आसेवन</b>	
५९. दुःखप्रतिक्रियार्थं सुखाभिलाषाच्च पुनरपि तु जीवः । प्राणिवघ्नादीन् दोषानघ्नितिष्ठति मोहसंछन्नः ॥ (११८)	२३	६९. आदौ प्रतिष्ठाऽधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद् गृह्णिणः सुतेषु । कतुं पुनस्तेषु गुणप्रकर्षं, चेष्टा तदुच्चैःपदलघनाय ॥ (१११०)	२४
६०. बध्नाति ततो बहुविधमन्यत्पुनरपि नवं सुबहु कर्म । तेनाथ पच्यते पुनरग्नेरग्निं प्रविश्येव ॥ (११८)	२३	<b>पर्याप्ति की परिभाषा</b>	
६१. एवं कर्माणि पुनः पुनः स बध्नन् तथैव मुञ्चंश्च । सुखकामो बहुदुःखं संसारमनादिकं भ्रमति ॥ (११८)	२३	७०. आहारसरीरिन्द्रियऊसासवओमणोऽहिनिव्वत्ती । होति जतो बलिधाओ करणं पइ सा उ पज्जत्ती ॥ (१११२)	२७
<b>मनुष्यत्व आदि की दुर्लभता</b>		<b>आर्त्त बनने के कारण</b>	
६२. एवं भ्रमतः संसारसागरे दुर्लभं मनुष्यत्वम् । संसारमहत्त्वाधामिकत्वदुष्कर्मबाहुल्यैः ॥ (११८)	२३	७१. रागद्वेषकसाएहिं, इंदिएहि य पञ्चहिं । दुहा वा मोहणिज्जेण, अट्टा संसारिणो जिआ ॥ (१११३)	३२
६३. आर्यो देशः कुलरूपसम्पदायुश्च दीर्घमारोग्यम् । यतिसंसर्गः श्रद्धा धर्मश्रवणं च मतिरैक्यम् ॥ (११८)	२३	<b>जघन्यतम ज्ञान के धनी</b>	
६४. एतानि दुर्लभानि प्राप्तवतोऽपि दृढमोहनीयस्य । कुपयाकुलेऽर्हदुक्तोऽतिदुर्लभो जगति सन्मार्गः ॥ (११८)	२३	७२. सर्वनिकृष्टो जीवस्य दृष्ट उपयोग एष वीरेण । सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकानां स च भवति विजेयः ॥ (१११३)	३२
<b>अल्प सुख के लिए अनल्प हिंसा और परिग्रह</b>		<b>ज्ञान की क्रमशः वृद्धि</b>	
६५. द्वे वाससी प्रवरयोषिदपायशुद्धा, शय्याऽऽसनं करिवरस्तुरगो रथो वा । काले भिषग्नियमिताशनपानमात्रा, रात्रः पराक्यमिव (पराको रोगः) सर्वमवेहि शेषम् ॥ (१११०)	२४	७३. तस्मात्प्रभूति ज्ञानविवृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवानाम् । लब्धिनिमित्तैः करणीः कायेन्द्रियवाङ्मनोद्गभिः ॥ (१११३)	३२
६६. पुष्ट्यर्थंमन्नमिह यत् प्रणिधिप्रयोगैः, संत्रासदोषकलुषो नृपतिस्तु भुंक्ते । यद् निर्भयः प्रशमसौख्यरतिश्च भैक्षं, तत् स्वादुतां भृशमुपैति न पार्थिवाभम् ॥ (१११०)	२४	<b>निर्जीव और सजीव</b>	
६७. भृत्येषु मन्त्रिषु सुतेषु मनोरमेषु, कान्तासु वा मधुमदांकुरितैक्षणसु । विश्रम्भमेति न कदाचिदपि क्षितीशः, सर्वाभिशङ्कितमतेः कतरन्तु सौख्यम् ॥ (१११०)	२४	७४. तणवोऽणभ्भातिविगार मुत्तजाइत्तओऽणिलंताउ । सत्यासत्यहयाओ निज्जीवसजीवरूवाओ ॥ (११३५)	३७
<b>जो देता है वही पाता है</b>		<b>अन्धा कौन ?</b>	
६८. वारिदस्तृप्तिमाप्नोति, सुखमक्षयमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टामायुष्कमभयप्रदः ॥ (१११०) (मनुस्मृति)	२४	७५. एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकः, तद्वद्भिरेव सह संवसतिद्वितीयम् । एतद्द्वयं भूवि न यस्य स तत्त्वतोन्धः, तस्यापमार्गंचलने खलु कोऽपराधः ? ॥ (११३५)	३८
		<b>परिणामों के उतार-चढ़ाव का कालमान</b>	
		७६. नान्तर्मुहूर्त्तकालमतिवृत्त्य शक्यं हि जगति संक्लेष्टुम् । नापि विशोद्धुं शक्यं प्रत्यक्षो ह्यात्मनः सोऽर्थः ॥ (११३६)	३९
		७७. उपयोगद्वयपरिवृत्तिः सा निर्हेतुका स्वभाक्त्वात् । आत्मप्रत्यक्षो हि स्वभावो व्यर्थाऽत्र हेतुक्तिः ॥ (११३६)	३९

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>श्रुत और संवेग का साहचर्य</b>		<b>वर्जनीय : इन्द्रियविषय या रागद्वेष ?</b>	
७८. जह जह सुयमवगाहइ अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं । तह तह पल्हाइ मुणी नवनवसंवेगसद्धाए ॥ (१।३६)	३९	८७. न शक्यं रूपमद्रष्टुं, चक्षुर्गोचरमागतम् । रागद्वेषौ तु यौ तत्र, तौ बुधः परिवर्जयेत् ॥ (१।९३)	५७
<b>देव क्या ?</b>		<b>चौरासी लाख जीवयोनि</b>	
७९. यत् स्वयमदुःखितं स्यान्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि । केवलमुपग्रहकरं धर्मकृते तद् भवेद्देयम् ॥ (१।५८)	४२	८८. पुढविदगअगणिमाह्यपत्तेयनिओयजीवजोणीणं । सत्तम सत्तण सत्तग सत्तग दस चोइस य लक्खा ॥ (१।११८)	६१
<b>स्नान है कामांग</b>		८९. विगलिदिएसु दो दो चउरो चउरो य नारयसुरेसु । तिरियाण होन्ति चउरो चोइस मणुआण लक्खाइं ॥ (१।११८)	६१
८०. स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम् । तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः ॥ (१।६१)	४३	<b>जीवों की कुलकोटियां (उन्नीस नील पचहत्तर खरब)</b>	
<b>अग्निशस्त्र की तीक्ष्णता</b>		९०. कुलकोटिसयसहस्सा बत्तीसद्वद्वनव य पणवीसा । एग्गिदिय ब्बितिइदियचउरिदियहरियकायाणं ॥ (१।११८)	६१
८१. जायतेयं न इच्छन्ति, पावगं जलइत्तए । तिक्खमन्नयरं सत्थं, सव्वओऽवि दुरासयं ॥ (१।६७)	४७	९१. अद्धतेरस बारस दस दस नव चेव कोडिलक्खाइं । जलयरपक्खिचउप्पयउरभुयपरिसप्पजीवाणं ॥ (१।११८)	६१
८२. पाईणं पडिणं वावि, उह्ढं अणुदिसामवि । अहे दाहिणओ वावि, दहे उत्तरओऽवि य ॥ (१।६७)	४७	९२. पणवीसं छव्वीसं च सयसहस्साइं नारयसुराणं । बारस य सयसहस्सा कुलकोडीणं मणुस्साणं ॥ (१।११८)	६१
८३. भूयाणमेसमाघाओ, हव्ववाहो न संसओ । तं पईवपयावट्ठा, संजओ किञ्चि नारभे ॥ (१।६७) (दसवेआलियं ६।३२-३४)	४७	९३. एया कोडाकोडी सत्ताणउत्ति च सयसहस्साइं । पन्नासं च सहस्सा कुलकोडीणं मुणेयव्वा ॥ (१।११८)	६१
<b>वनस्पतिकाय की सचेतनता</b>		<b>प्राण-सत्त्व आदि की परिभाषा</b>	
८४. वृक्षादयोऽक्षाद्युपलब्धिभावात्, पाण्यादिसञ्जातवदेव देहाः । तद्वत् सजीवा अपि देहतायाः, सुप्तादिवत् ज्ञानसुखादिमन्तः ॥ (१।९०)	५३	९४. प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पञ्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ॥ (१।१२१)	६४
<b>निगोब : अनन्त जीवों का संघात</b>		<b>द्रव्य-आतंक का उदाहरण (९५ से १०९)</b>	
८५. गोला य असखेज्जा हुंति णिओआ असह्जया गोले । एक्केक्को य निओओ अणंतजीवो मुणेयव्वो ॥ (१।९०)	५४	९५. जंबुदीवे दीवे भरहे वासंमि अत्थि सुपसिद्धं । बहुणयरगुणसमिद्धं रायगिहं णाम णयरंति ॥ (१।१४६)	६८
<b>ऐकान्तिक ज्ञान-क्रिया निष्फल</b>		९६. तत्थासि गहयदरिधारिमइणो भुयणनिग्गयपयावो । अभिगयजीवाजीवो राया णामेण जियसत्तू ॥ (१।१४६)	६८, ६९
८६. नाणं किरियारहियं किरियामेत्तं च दोऽवि एगन्ता । न समत्था दाउं जे जम्ममरणदुक्खदाहाइं ॥ (१।९०)	५६	९७. अणवरयगहयसंवेगभाविओ धम्मघोसपायमूले । सो अन्नया कयाईं पमाइणं पासए सेहं ॥ (१।१४६)	६९

वृत्ति पत्र

वृत्ति पत्र

१८. चोदज्जंतमभिकखं अकराहं तं पुणोऽवि कुणमाणं ।  
तस्स हियट्ठं राया सेसाण य रक्खणट्ठाए ॥  
(१।१४६)
१९. आयरियाणुण्णाए आणावइ सो उ गिययपुरिसेहि ।  
तिव्वुक्कडदव्वेहिं संघियपुव्वं तहिं खारं ॥  
(१।१४६)
१००. पक्खित्तो जत्थ परो णवरं गोदोहमेत्तकालेणं ।  
णिज्जिण्णमंससोणिय अट्टियसेत्तणमुवेइ ॥  
(१।१४६)
१०१. दो ताहे पुव्वमए पुरिसे आणावए तहिं राया ।  
एणं गिहत्थवेसं बीयं पासंडिणेवत्थं ॥  
(१।१४६)
१०२. पुव्वं चिय सिक्खविए ते पुरिसे पुच्छए तहिं राया ।  
को अकराहो एसि ? भणंति आणं अइक्कमइ ॥  
(१।१४६)
१०३. पासंडिओ जहुत्ते ण वट्टइ अत्तणो य आयारे ।  
पक्खिवह खारमज्जे खित्ता गोदोहमेत्तस्स ।।  
(१।१४६)
१०४. दट्ठणऽट्टिवसेसे ते पुरिसे अलियरोसरत्तच्छो ।  
सेसं आलोयंतो राया तो भणइ आयरियं ॥  
(१।१४६)
१०५. तुम्हवि कोऽवि पमादी ? सासेमि य तंपि णत्थि भणइ गुरु ।  
जइ होही तो साहे तुम्हे च्चिय तस्स जाणिहिह ॥  
(१।१४६)
१०६. सेहो गए णिवंमी भणई ते साहुणो उ ण पुणत्ति ।  
होहं पमायसीलो तुम्हं सरणागओ घणियं ॥  
(१।१४६)
१०७. जइ पुण होज्ज पमाओ पुणो ममं सडुभावरहियस्स ।  
तुम्हं गुणोहिं सुविहिय ! तो सावगरक्खसा मुच्चे ॥  
(१।१४६)
१०८. आयंकरभओविगगो ताहे सो णिच्चउज्जुओ जाओ ।  
कोवियमती य समए रण्णा मरिसाविओ पच्छा ॥  
(१।१३६)
१०९. दव्वायंकादंसी अत्ताणं सब्बहा णियत्तेइ ।  
अहियारंभाउ सया जह सीसो घम्मपोसस्स ॥  
(१।१४६)

## कष्टानुभूति की समानता

११९. कट्ठेण कटएण व पाए विद्धस्स वेयणट्ठस्स ।  
जह होइ अनिव्वाणी सब्बत्थ जिएसु तं जाण ॥  
(१।१४८)

## आयतुले पयासु

१११. मरिष्यामीति यद् दुःखं, पुरुषस्योपजायते ।  
शक्यस्तेनानुमानेन, परोऽपि परिरक्षितुम् ॥  
(१।१४६)

७०

## ज्ञान और क्रिया : पंगु और अन्धे का दृष्टान्त

११२. हयं ताणं कियामीणं, हया अन्नाणओ किय ।  
पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥  
(१।१७७)

७३

## नय : सम्यक् या मिथ्या ?

११३. एवं सब्बेऽवि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा ।  
अण्णोण्णणिसिसया पुण हवंति ते चेव सम्मत्तं ॥  
(१।१७७)

७३

## सर्वनय की सार्थकता

११४. सब्बेसिपि णयाणं बहुविधवत्तव्वयं णिसामेत्ता ।  
तं सब्बणयविसुद्धं जं चरणगुणट्ठिओ साह ॥  
(१।१७७)

७३

## दूसरा अध्ययन

## मंगलाचरण

११५. नमः श्री वर्धमानाय, वर्धमानाय पर्ययैः ।  
उक्ताचारप्रपञ्चाय, निष्प्रपञ्चाय तायिने ॥

७४

## लोकविचय के विवरण की प्रतिज्ञा

११६. शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिगहनमितीव किल वृतं पूज्यैः ।  
श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम् ॥

७४

## द्रव्य का लक्षण

११७. दव्वं पज्जवविजुयं दव्वविउत्ता य पज्जवा णत्थि ।  
उप्पायट्ठिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ॥

७७

## नय का स्वरूप और माहात्म्य

११८. नयास्तव स्यात्पदलाञ्छिता इमे, रसोपविद्धा इव लोहधातवः ।  
भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥

७७

## ६९ गुण का अगुण में रूपान्तरण ?

११९. शाठ्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कृतं,  
शूरे निर्घृणता ऋजी विमतिता दैन्यं प्रियाभाषिणि ।  
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तयंशक्तिः स्थिरे,  
तत् को नाम गुणो भवेत् स विदुषा यो दुर्जनैर्नाङ्कितः ? ॥

७०

७८



	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>अगुणी कुष्ठ बंस</b>		१३०. पक्खचउमासवच्छरजावज्जीवाणुभाभिणो कमसो । देवणरतिरियणारयगइसाहणहेयवो भणिया ॥	८३
१२०. गुणानामेव दोर्जन्यादुरि धुर्यो नियुज्यते । असञ्जातकिणस्कन्धः, सुखं जीवति गौर्गलिः ॥			
<b>विनय से मोक्ष</b>	७८	<b>विविध कर्मबन्ध के कारण (१३१ से १४०)</b>	
१२१. विणया णाणं णाणाउ दंसणं दंसणाहि चरणं तु । चरणाहिंतो मोक्खो भुक्खे सुक्खं अणावाहं ॥		१३१. पडिणीयमंतराइय उवघाए तप्पओसणिण्हवणे । आवरणदुगं बन्धइ भूओ अच्चासणाए य ॥	
<b>विनय की परिणति और माहात्म्य</b>	७९	१३२. भूयाणुकंपवयजोगउज्जुओ खंतिदाण गुरु भत्तो । बन्धइ भूओ सायं विवरीए बंधई इयरं ॥	
१२२. विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् । ज्ञानस्य फलं विरतिविरतिफलं चाश्रवनिरोधः ॥		१३३. अरहंतसिद्धचेइयतवसुअगुरुसाधुसंधपडिणीओ । बंधइ दंसणमोहं अणंतसंसारिओ जेणं ॥	
१२३. संवरफलं तपोबलमथ तपसो निज्जरा फलं दूष्टम् । तस्मात्क्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥	७९	१३४. तिक्कसाओ बहुमोहपरिणतो रागदोससंजुत्तो । बंधइ चरित्तमोहं दुविहंपि चरित्तगुणघाई ॥	
१२४. योगनिरोधाद् भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः । तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥	८०	१३५. भिच्छदिट्ठी महारंभपरिग्गहो तिक्कलोभ णिस्सीलो । निरआउयं निबंधइ पावमती रोहपरिणामो ॥	
<b>रागान्ध व्यक्ति की मनोदशा</b>	८०	१३६. उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ गूढहियय माइल्लो । सढसीलो अ ससल्लो तिरिआउं बंधई जीवो ॥	
१२५. दृश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्पन्धः पुरोऽवस्थितं, रामांधस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यन्नास्ति तत् पश्यति । कुन्देन्दीवरपूर्णचंद्रकलशश्रीमल्लतापल्लवा- नारोप्याशुचिराशिषु प्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥	८०	१३७. अणुव्वयमहव्वएहि थ बालतवोऽकामनिज्जराए य । देवाउयं णिबंधइ सम्महिट्ठी उ जो जीवो ॥	
<b>मोहक्षय से कर्ममुक्ति</b>	८१	१३८. मणवयणकायवंको माइल्लो गारवेहि पडिबढो । असुभं बंधइ नामं तप्पडिपक्खेहि सुभनामं ॥	
१२६. जह मत्थयसूईए, हयाए हम्मए तलो । तहा कम्माणि हम्मंति, मोहणिज्जे खयं गए ॥		१३९. अरिहंतादिसु भत्तो सुत्तरुई पयणुमाण गुणपेही । बंधइ उच्चागोयं विवरीए बंधई इयरं ॥	
<b>भूढ की भूढता</b>	८२	१४०. पाणवहादीसु रतो जिणपूयामोक्खमग्गविग्घयो । अज्जेइ अंतरायं ण लहइ जेणिच्छियं लाभं ॥	
१२७. कि एत्तो कट्टयरं जं मूढो धाणुअम्मि आवडिओ । धाणुस्स तस्स रूसइ न अप्पणो दुप्पओगस्स ॥		<b>ईर्यापथिकी कर्म का स्वरूप</b>	८६
<b>कषायों का स्वरूप और अनुबन्ध-फल</b>	८२	१४१. अप्पं बायरमउयं बहुं च लुक्खं च सुक्किलं चेव । मंदं महव्वतंतिय साताबहुलं च तं कम्मं ॥	
१२८. जलरेणुपुढविपव्वयरईसरिसो चउव्विहो कोहो । तिणिस्सलयाकट्टुद्वियसेलत्थंभोवमो माणो ॥		<b>असुख में सुख का आरोपण</b>	८८
१२९. मायावलेहिगोमुत्तिमेंडसिगघणवंसमूलसमा । लोभो हलिदकह्मखंजणकिमिरायसामाणो ॥	८३	१४२. दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपक्तिरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतप्रयोगात् ॥	
	८३	<b>'मे' (समत्व) की परिणति</b>	८९
	८३	१४३. पुत्रा मे भ्राता मे स्वजना मे गृहकलत्रवर्गो मे । इति कृतमेमेशब्दं पशुमिव मृत्युर्जनं हरति ॥ (२।२)	९१

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>परिग्रह से दुःख</b>			
१४४. पुत्रकलत्रपरिग्रहममत्वदोषैर्नरो व्रजति नाशम् । कृमिक इव कोशकारः, परिग्रहाद् दुःखमाप्नोति ॥ (२।२)	९१	१५३. उच्छ्वासावधयः प्राणाः, स चोच्छ्वासः समीरणः । समीरणाच्चलं नान्यत्, क्षणमप्यायुरद्भुतम् ॥ (२।३)	९३
<b>अर्थाज्जन की परितप्ति</b>		<b>आत्मा और मन की सहगामिता</b>	
१४५. कइया वच्चइ सत्थो ? किं भण्डं ? कत्थं कित्तिया भूमी ? । को कयविककयकालो ? निव्विसइ किं कहिं केण ? ॥ (२।२)	९१	१५४. आत्मा सहैति मनसा मन इन्द्रियेण, स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रः । योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति ?, यस्मिन् मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा ॥ (२।४)	९४
<b>कालोचित क्रिया</b>		<b>चार प्रकार की अवस्थाएं</b>	
१४६. मासैरष्टभिरह्ना च, पूर्वैण वयसाऽऽयुषा । तत् कर्त्तव्यं मनुष्येण, येनान्ते सुखमेधते ॥ (२।३)	९२	१५५. प्रथमे वयसि नाधीतं, द्वितीये नाजितं धनम् । तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यति ? ॥ (२।४)	९५
<b>अर्थलोचुप की प्रवृत्ति</b>		<b>स्त्री स्वतंत्रता के योग्य नहीं</b>	
१४७. उक्खणइ खणइ निहणइ रत्ति ण सुअति दियावि य ससंको । लिपइ ठएइ समयं लंछियपडिलंछियं कुणइ ॥ (२।३)	९२	१५६. पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने । पुत्राश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ (२।५)	९५
१४८. भुजसु न ताव रिक्को जेमेउं नवि य अज्ज मज्जीहं । नवि य वसीहामि घरे कायवमिणं बहुं अज्ज ॥ (२।३)	९२	<b>बच्चों के आधार पर तीन अवस्थाएं</b>	
<b>आयुष्य का अपवर्तन</b>		१५७. आषोडशाद् भवेद् बालो, यावत् क्षीरान्नवर्तकः । मध्यमः सप्ततिं यावत् परतो वृद्ध उच्यते ॥ (२।५)	९५
१४९. अद्धा जोगुक्कोसे वंधिता भोगभूमिएसु लहुं । सव्वप्पजीवियं वज्जइत्तु उव्वट्टिया दोण्हं ॥ (२।३)	९३	<b>वृद्धत्व की जुगुप्सा</b>	
<b>आयुष्य-उपक्रम के कारण</b>		१५८. बलिसन्ततमस्थिशेषितं, शिथिलस्नायुधृतं कडेवरम् । स्वयमेव पुमान् जुगुप्सते, किमु कान्ता कमनीयविग्रहा ? ॥ (२।७)	९५
१५०. दंडकससत्थरज्जू अग्गी उदगपडणं विसं वाला । सीउण्हं अरइ भयं खुहा पिवासा य वाही य ॥ (२।३)	९३	<b>बुढ़ापे की अवमानना</b>	
१५१. मुत्तपुरीसनिरोहे जिण्णाजिण्णे य भोयणे बहुसो । धंसणघोलणपीलण आउस्स उव्वकमा एते ॥ (२।३)	९३	१५९. गात्रं सङ्कुचितं गतिविगलिता दन्ताश्च नाश गता, दृष्टिर्भ्रंशयति रूपमेव हसते वक्त्रं च लालायते । वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते, धिवकण्ठं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते ॥ (२।७)	९६
<b>आयुष्य की क्षणमंगुरता</b>		<b>शरण कौन ?</b>	
१५२. स्वतोऽन्यत इतस्ततोऽभिमुखधाममानापदा- महो निपुणता नृणां क्षणमपीह यज्जीव्यते । मुखे फलमतिक्षुधा सरसमल्पमायोजितं, कियच्चिरमचबितं दशनसङ्कटे स्थास्यति ॥ (२।३)	९१	१६०. जन्मजरामरणभयैरभिद्रुते व्याधिवेदनाग्रस्ते । जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं क्वचित्ल्लोके । (२।८)	९९

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>बुद्ध का उपहास</b>		<b>कहाँ संघनी ? कहाँ चक्रवर्ती ?</b>	
१६१. न विभूषणमस्य युज्यते, न च हास्यं कुत एव विभ्रमः ? । अयं तेषु च वर्तते जनो, ध्रुवमायाति परां विडम्बनाम् ॥ (२।१९)	९६	१७०. तणसंयारनिसण्णोऽपि मुणिवरो भट्टरागमयमोहो । जं पावइ भुत्तिसुहं तं कत्तो चक्कवट्टीवि ? ॥ (२।२७)	१०३
<b>बुढापे की शोभा है धर्म</b>		<b>वह ज्ञान ज्ञान नहीं</b>	
१६२. जं जं करेइ तं तं न सोहए जोव्वणे अतिककत्ते । पुरिसस्स महिलियाइ व एकं धम्मं पमुत्तूणं ॥ (२।१९)	९६	१७१. तज्ज्ञानमेव न भवति यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः । तमसः कुतोऽस्ति शक्तिदिनकरकिरणाप्रतः स्थातुम् ? ॥ (२।२७)	१०१
<b>समयं मा पमायए</b>		<b>महान् लब्धः महान् साधन</b>	
१६३. सम्प्राप्य मानुषत्वं संसारासारतां च विज्ञाय । हे जीव ! किं प्रमादान्न चेष्टसे शान्तये सततम् ? ॥ (२।११)	९७	१७२. अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते, कामे सक्तिं दधति विभवाभोगतुङ्गार्जने वा । विद्वच्चित्तं भवति हि महन्मोक्षमार्गकतानं, नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंसभित्तिं गजेन्द्रः ॥ (२।२७)	१०१
<b>अप्रमाद का हेतु</b>		<b>अपने-अपने विषय की इयत्ता</b>	
१६४. ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिभिभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥ (२।११)	९७	१७३. ज्ञानं भूरि यथार्थवस्तुविषयं स्वस्य द्विषो बाधकं, रागारातिशमाय हेतुमपरं युंक्ते न कर्तुं स्वयम् । दीपो यत्तमसि व्यनक्ति किमु नो रूपं स एवेक्षतां, सर्वं स्वं विषयं प्रसाधयति हि प्रासङ्गिकोऽन्यो विधिः ॥ (२।२७)	१०१
<b>तीनों चपल हैं</b>		<b>अज्ञान की विकटता</b>	
१६५. नइवेगसमं चवलं च जीवियं जोव्वणं च कुसुमसमं । सोक्खं च जं अणिच्चं तिण्णिवि तुरमाणभोज्जाइं ॥ (२।१२)	९७	१७४. अज्ञानं खलु कण्ठं क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा न वेत्ति येनावृतो लोकः ॥ (२।३०)	१०२
<b>स्ववशता की दुर्लभता</b>		<b>पाषंडियों की चर्या</b>	
१६६. सह कलेवर ! दुःखमचिन्तयन्, स्ववशता हि पुनस्तव दुर्लभा । बहुतरं च सहिष्यसि जीव हे !, परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते ॥ (२।२२)	९८	१७५. स्वेच्छाविरचितशास्त्रैः प्रब्रज्यावेषधारिभिः क्षुद्रैः । नानाविधैरुपायैरनाथवन्मुष्यते लोकः । (२।३१)	१०२
<b>भ्रूति-दुर्लभता के हेतु</b>		<b>जो हठवाए जो पाराए</b>	
१६७. आलससमोहऽवन्ना थंभा कोहा पमाय किविणत्ता । भयसोगा अन्नाणा विक्खेव कुऊहला रमणा ॥ (२।२४)	९९-१००	१७६. इन्द्रियाणि न गुप्तानि, लालितानि न चेच्छया । मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य, न भुक्तं नापि शोषितम् ॥ (२।३४)	१०२
१६८. एएहि कारणेहि लद्धूण सुदुल्लहंपि माणुस्सं । न लहइ सुइं हिअकर्कि संसारहारणि जीवो ॥ (२।२४)	१००	<b>धनलुब्ध क्या-क्या नहीं करता ?</b>	
<b>संयम में रति : दुःख-निवृत्ति</b>		१७७. घावेइ रोहणं तरइ सायरं भमइ गिरिणिगुजेसुं । मारैइ बंधवंपि हु पुरिसो जो होइ धणलुद्धो ॥ (२।३६)	१०३
१६९. क्षितितलशयनं वा प्रान्तभैक्षाननं वा, सहजपरिभवो वा नीचदुर्भाषितं वा । महति फलविशेषे नित्यमभ्युद्यतानां, न मनसि न शरीरे दुःखमुत्पादयन्ति ॥ (२।२७)	१०१		

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>सोमार्थी की वशा</b>		<b>अन्धा कौन ?</b>	
१७८. अडइ बहुं वहइ भरं सहइ छुहं पावमायरइ धिदुो । कुलसीलजाइपच्चयधिइं च लोभदुओ चयइ ॥ (२।३६)	१०३	१८७. एकं हि चक्षुरमलं सह जो विवेकः तद्विद्विरेव सह संवसतिद्वितीयम् । एतद्द्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्ध- स्तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराधः ? ॥ (२।५४)	१०८
<b>अतिथि और अभ्यागत</b>		<b>जीता हुआ भी मृत</b>	
१७९. तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना । अतिथि तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः ॥ (२।४१)	१०४	१८८. जीवन्नेव मृतोऽन्धो यस्मात्सर्वक्रियासु परतन्त्रः । नित्यास्तमितदिवाकरस्तमोऽन्धकारार्णवनिभग्नः ॥ (२।५४)	१०८
<b>धन की आगंसा</b>		<b>अन्धत्व : दुःख का हेतु</b>	
१८०. आराध्य भूपतिमवाप्य ततो धनानि, भोक्ष्यामहे किल वयं सततं सुखानि । इत्याशया धनविमोहितमानसानां, कालः प्रयाति मरणावधिरेव पंसाम् ॥ (२।४५)	१०४	१८९. लोकद्वयव्यसनवह्निविदीपिताङ्ग- मन्धं समीक्ष्य कृपणं परयष्टितेयम् । को नोद्विजेत भयकृञ्जननादिवोप्रात्, कृष्णाहिनेकनिश्चितादिव चान्धगत्तात् ? ॥ (२।५४)	१०८
<b>घनिक और याचक</b>		<b>बधिर का जीवन निष्फल</b>	
१८१. एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ, वद मौनं समाचर । इत्याद्याशाग्रहृत्स्तैः, क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥ (२।४५)	१०४	१९०. धर्मश्रुतिश्रवणमङ्गलवर्जितो हि, लोकश्रुतिश्रवणसंभवहारबाह्यः । किं जीवतीह बधिरो ? भुवि यस्य शब्दाः, स्वप्नोपलब्धधननिष्फलतां प्रयान्ति ? ॥ (२।५४)	१०८
<b>भौतिक उच्चता अनन्त वार</b>		<b>बधिर जीता हुआ भी मृत</b>	
१८२. सर्वसुखान्यपि बहुशः, प्राप्तान्यटता मयाऽत्र संसारे । उच्चैःस्थानानि तथा, तेन न मे विस्मयस्तेषु ॥ (२।५०)	१०७	१९१. स्वकलत्रबालपुत्रकमधुरवचःश्रवणबाह्यकरणस्य । बधिरस्य जीवितं किं जीवन्मृतकाकृतिधरस्य ? ॥ (२।५४)	१०८
<b>मवस्थानों का परिहार</b>		<b>मूकत्व दुःखकर</b>	
१८३. जइ सोऽवि णिज्जरमओ पडिसिद्धो अट्टमाणमहणेहि । अवसेस भयट्टाणा परिहरिअव्वा पयत्तेणं ॥ (२।५१)	१०७	१९२. दुःखकरमकीर्तिकरं मूकत्वं सर्वलोकपरिभूतम् । प्रत्यादेशं मूढाः कर्मकृतं किं न पश्यन्ति ? ॥ (२।५४)	१०८
<b>जन्म-जन्म में रोग-शोक</b>		<b>वैराग्य का हेतु काणत्व</b>	
१८४. अवमानात्परिभ्रं शाद्वधबन्धधनक्षयात् । प्राप्ता रोगाश्च शोकाश्च, जात्यन्तरशतेष्वपि ॥ (२।५१)	१०७	१९३. काणो निमग्नविषमोन्नतदृष्टिरेकः, शक्तो विरागजनने जवनातुराणाम् । यो नैव कस्यचिदुपैति मनःप्रियत्व- मालेख्यकर्मलिखितोऽपि किमु स्वरूपः ॥ (२।५४)	१०८
<b>सत्-वसत्</b>			
१८५. संते य अविम्हइउं असोइउं पंडिण य असंते । सक्का हु दुमोवमिअं हिअएण हिअं धरंतेण ॥ (२।५१)	१०७		
<b>नाथ अनाथ हो जाता है</b>			
१८६. होऊण चक्कवट्टी पुहइवई विमलपंडरच्छत्तो । सो चेव नाम भुज्जो अणाहसालालओ होइ ॥ (२।५१)	१०७		

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>विषयार्थ</b>		<b>कर्मभोग अवश्यंभावी</b>	
१९४. दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः । कोऽयं जनस्य मोहो ? ये रिपवस्तेषु सुहृदाशाः ॥ (२।६०)	१०९	२०१. पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्त्वयाऽयं, न खलु भवति नाशः कर्मणां संचितानाम् । इति सह गणयित्वा यद्यदायाति सम्यग्, सदसदिति विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्तयः ? (२।८०)	११४
<b>अशुभ का परिहार</b>		<b>तृप्ति संभव नहीं</b>	
१९५. संदिग्धेऽपि परे लोके, त्याज्यमेवाशुभं बुधैः । यदि नास्ति ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः ॥ (२।६१)	११०	२०२. यत्लोके व्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं कुरु ॥ (२।९७,९९)	११६
<b>मृत्यु का मुख सर्वत्र</b>		<b>उपभोग से उपशांति नहीं</b>	
१९६. शिशुमशिशुं कठोरमकठोरमपण्डितमपि च पण्डितं, धीरमधीरं मानितममानिनमपगुणमपि च बहुगुणम् । यत्रिमर्याति प्रकाशमवलीनमचेतनमथ सचेतनं, निशि दिवसेऽपि सान्ध्यसमयेऽपि विनश्यति कोऽपि कथमपि ॥ (२।६२)	११०	२०३. उपभोगोपायपरो वाञ्छति यः शमयितुं विषयतृष्णाम् । घावत्याक्रमितुमसौ, पुरोऽपराह्णे निजच्छायाम् ॥ (२।९७,९८)	११६
<b>जिजीविषा</b>		<b>अदान से आक्रोश नहीं</b>	
१९७. रमइ विहवी विसेसे ठितिमित्तं येववित्थरो महई । मग्गइ सरीरमहणो रोगी जीए च्चिय कयत्थो ॥ (२।६३)	१११	२०४. दिट्ठाऽसि कसेरुमई ! अणुभूयासि कसेरुमई ! । पीर्यं चिय ते पाणिययं वरि तुह नाम न दंसणं ॥ (२।१०२)	११६-११७
<b>लोभी की मनोवशा</b>		<b>पांच निश्चापद</b>	
१९८. कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं, निरुपमरसप्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् । सुरपतिमपि श्वा पाश्वस्थं सशङ्कितमीक्षते, न हि गणयति क्षुद्रो लोकः परिग्रहफल्गुताम् ॥ (२।६६)	१११	२०५. धर्मं चरतः साधोलोके निश्चापदानि पञ्चापि । राजा गृहपतिरपरः षट्काया गणशरीरे च ॥	११७
<b>मूढ कौन ?</b>		<b>संसार-पर्यटन का खेद</b>	
१९९. रागद्वेषाभिभूतत्वात्कार्याकार्यपराङ्मुखः । एष मूढ इति ज्ञेयो, विपरीतविधायकः ॥ (२।६९)	१११	२०६. जरामरणदौर्गत्यव्याधयस्तावदासताम् । मन्ये जन्मैव धीरस्य, भूयो भूयस्त्रपाकरम् ॥ (२।११०)	११९
<b>कर्म स्वकृत है</b>		<b>स्नान है कामांग</b>	
२००. उप्तो यः स्वत एव मोहसलिलो जन्मालवालोऽशुभो, रागद्वेषकषायसन्ततिमहान्निर्विघ्नबीजस्त्वया । रोगैरङ्कुरितो विपत्कुसुमितः कर्मद्रुमः साम्प्रतं, सोढा नो यदि सम्यगेष फलितो दुःखैरघोगामिभिः ॥ (२।८०)	११४	२०७. स्नानं मददर्पकरं, कामांगं प्रथमं स्मृतम् । तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः ॥ (२।११०)	१२०
		<b>मेथुनभाव की प्रधानता</b>	
		२०८. न य किञ्चि अणुण्णायं पडिसिद्धं वावि जिणवरिदेहि । मोत्तुं मेहुणभावं न तं विणा रागदोसेहि ॥ (२।११०)	१२०
		<b>मोक्ष का उपाय</b>	
		२०९. दोसा जेण निरुज्झंति जेण जिज्झंति पुव्वकम्माइं । सो सो मुखोवाओ, रोगावत्थामु समणं व ॥ (२।११०)	१२०

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
जे आसवा ते परिस्सवा		पालि: कथं बध्यते ?	
२१०. जे जत्तिया उ हेऊ भवस्स ते चेव तत्तिया मुक्खे । गणणाईया लीया दुण्हवि पुण्णा भवे तुला ॥ (२।११०)	१२०	२१८. प्रथमतः प्रथमं चिन्तनीयं तवासीद्, बहुजनदयितेन प्रेम कृत्वा जनेन । हृत्तुहृदय ! निराश ! क्लीब ! संतप्यसे किं ?, न हि जड ! गततोये सेतुबन्धाः क्रियन्ते ॥ (२।१२४)	१२३
लाभ-अलाभ में मध्यस्थता		कामकामी का सोचना	
२११. लभ्यते लभ्यते साधु, साधु एव न लभ्यते । अलब्धे तपसो वृद्धिलब्धे तु प्राणधारणम् ॥ (२।११४,११५)	१२१	२१९. भवित्री भूतानां परिणतिमनालोच्य नियतां, पुरा यद् यत्किञ्चिच्चिद्विहितमशुभं योवनमदात् । पुनः प्रत्यासन्ने महति परलोकैकगमने, तदेवैकं पुंसां व्यथयति जराजीर्णवपुषाम् ॥ (२।१२४)	१२३
धर्मोपकरण परिग्रह नहीं		विचारणीय है कार्य-परिणति	
२१२. ममाहमिति चैव यावदभिमानवाहज्वरः, कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः । यशःसुखपिपासितैरयमसावनथोत्तरैः, परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ॥ (२।११७)	१२२	२२०. समुपमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन । अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते- र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ (२।१२४)	१२३
धर्मोपकरण पारगमन में सहयोगी		यदि बाहर होता तो ?	
२१३. साध्यं यथा कथञ्चित् स्वल्पं कार्यं महच्च न तथेति । प्लवनमृते न हि शक्यं पारं गन्तुं समुद्रस्य ॥ (२।११८)	१२२	२२१. यदि नामास्य कायस्य, यदन्तस्तद्बहिर्भवेत् । दण्डामादाय लोकोऽयं, शुनः काकोश्च वारयेत् ॥ (२।१२९)	१२४
प्रतिज्ञा से अचिद्वलन		शरीर की बीभत्सता	
२१४. लज्जां गुणोधजननीं जननीभिवाया- मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्त्तमानाः । तेजस्विनः सुखममूनपि सन्त्यजन्ति, सत्यस्त्रितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥ (२।१२०)	१२२	२२२. मंसट्टिरुहिरण्णहृवणद्धकललमयमेयमज्जासु । पुण्णमि चम्मकोसे दुग्गंघे असुइबीभच्छे ॥ (२।१३१)	१२४
काम की दुर्लभ्यता		शरीर की अशुचितता	
२१५. आगासे गंगसोउव्व, परिसोउव्व दुत्तरो । बाहाहिं चेव गंभीरो, तरिअव्वो महोअही ॥ (२।१२२)	१२३	२२३. संचारिमजंतगलंतवच्चमुत्तंतसेअपुण्णमि । देहे हज्जा किं रागकारणं असुइहेउम्मि ? ॥ (२।१३१)	१२४
२१६. वालुगाकवलो चेव, निरासाए ह्नु संजमो । जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्करं ॥ (२।१२२)	१२३	चिन्तन का अस्वास्थ्य	
कामकामी का शोक		२२४. इदं तावत् करोम्यद्य. इवः कर्त्ताऽस्मीति चापरम् । चिन्तयन्निह कार्याणि, प्रेत्यार्थं नावबुध्यते ॥ (२।१३४)	१२५
२१७. गते प्रेमबन्धे प्रणयबहुमाने च गलिते, निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः । तमुत्प्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि ! गतांस्तांश्च दिवसान्, न जाने को हेतुर्दलति शतघा यन्न हृदयम् ? ॥ (२।१२४)	१२३		

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>कामकामी का विपर्यास</b>		<b>पूर्ण (पुण्य) और तुच्छ</b>	
२२५. सोऽं सोऽवणकाले मज्जणकाले य मज्जिउं लोलो । जेमेउं च वराओ जेमणकाले न चाएइ ॥ (२।१३४)	१२५	२३३. ज्ञानेश्वर्यधनोपेतो, जात्यन्वयबलान्वितः । तेजस्वी मतिमान् ख्यातः, पूर्णस्तुच्छो विपर्ययात् ॥ (२।१७४)	१३२
<b>दुःख से दुःख</b>		<b>प्रवचन-विवेक</b>	
२२६. दुःखार्तः सेवते कामान्, सेवितास्ते च दुःखदा । यदि ते न प्रियं दुःखं, प्रसङ्गस्तेषु न क्षमः ॥ (२।१३५)	१२५	२३४. दशसूनासमश्चक्री, दशचक्रिसमो ध्वजः । दशध्वजसमा वैश्या, दशवैश्यासमो नृपः ॥ (२।१७३)	१३२
<b>धनी की दशा</b>		<b>क्रुद्ध नृपति का आक्रोश</b>	
२२७. चिन्ता गते भवति साध्वसमन्तिकस्थे, मुक्ते तु तप्तिरधिका रमितेऽप्यतृप्तिः । द्वेषोऽन्यभाजि वशवत्तिनि दग्धमानः, प्राप्तिः सुखस्य दयिते न कथञ्चिदस्ति । (२।१३९)	१२६	२३५. तत्थेव य निद्रवणं बंधण निच्छुभण कडगमहो वा । निध्विसयं व नरिदो करेज्ज संघपि सो कुद्धो ॥ (२।१७५)	१३२
<b>विपर्यास</b>		<b>अच्छे-बुरे का ज्ञान</b>	
२२८. दुःखद्विट् सुखलिप्पुमोहान्धत्वाददृष्टगुणदोषः । यां यां करोति चेष्टां तथा तथा दुःखमादत्ते ॥ (२।१५१)	१२८	२३६. सावज्जणवज्जाणं वयणाणं जो न याणइ विसेसं । वृत्तुंपि तस्स न खमं किमंग पुण देसणं काउं ? ॥ (२।१७६)	१३३
<b>शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों को सहना</b>		<b>धर्मकथा का विवेक</b>	
२२९. सद्देषु अ भद्दयपावएसु सोयविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया न होअब्बं ॥ २३०. रुवेसु अ भद्दयपावएसु चक्खुविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया न होअब्बं ॥ गंधेषु अ भद्दयपावएसु घाणविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया न होअब्बं ॥ रसेसु अ भद्दयपावएसु जीहाविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया न होअब्बं ॥ फासेसु अ भद्दयपावएसु फासविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया न होअब्बं ॥ (२।१६१)	१३०	२३७. जो हेउवायपकळंमि हेउओ आगममि आगमिओ । सो ससमयपणवओ सिद्धंतविराहओ अण्णो ॥ (२।१७७)	१३३
<b>विभव का सब क्यों ?</b>		<b>तीसरा अध्ययन</b>	
२३१. विभव इति किं मदस्ते ?, च्युतविभवः किं विषादमुपयासि ? करनिहितकन्दुकसमाः, पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥ (२।१६२)	१३०	<b>अज्ञान महारोग</b>	
		२३८. नातः परमहं मन्ये, जगतो दुःखकारणम् । यथाऽज्ञानमहारोगो, दुरन्तः सर्वदेहिनाम् ॥ (३।१)	१३७
<b>अनन्याराम</b>		<b>धन्य है जागना</b>	
२३२. शिवमस्तु कुशास्त्राणां वैशेषिकषष्टितन्त्रबौद्धानाम् । येषां दुर्विहितत्वाद् भगवत्यनुरज्यते चेतः ॥ (२।१७३)	१३२	२३९. जागरह णरा णिच्चं जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी । जो सुअइ न सो धण्णो जो जग्गइ सो सया धन्नो ॥ (३।१)	१३८
		<b>जागृति का लाभ</b>	
		२४०. सुअइ सुअंतस्स सुअं सकियखलियं भवे पमत्तस्स । जागरमाणस्स सुअं थिरपरिचिअमप्पमत्तस्स ॥ (३।१)	१३८
		<b>नेति नेति</b>	
		२४१. नालस्सेण समं सुखं, न विज्जा सह निद्दया । न वेरगं पमाणं, नारंभेण दयालुया ॥ (३।१)	१३८

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>जागना अच्छा या सोना ?</b>		<b>अप्रिय न करे</b>	
२४२. जागरिआ धम्मीणं आहम्मीणं तु सुत्तया सेआ । वच्छाहिवभगिणीए अर्हिंसु जिणो जयंतीए ॥ (३११)	१३८	२५१. यथेष्टविषयाः सातमनिष्ठा इतरत्तव । अन्यत्रापि विदित्वैवं, न कुर्यादप्रियं जने । (३१२७)	१४४
<b>सोने के अलाभ</b>		<b>प्रकृतिबंध : अनाविभव का हेतु</b>	
२४३. सुयइ य अयगरभूओ सुअंप्पि से नासई अमयभूअं । होहिइ गोणभूओ नट्ठमि सुए अमयभूए ॥ (३११)	१३८	२५२. न मोहमतिवृत्त्य बन्ध उदितस्त्वया कर्मणां, न चैकविधबन्धनं प्रकृतिबंधविभवो महान् । अनादिभवहेतुरेष न च बध्यते नासकृत्- त्वयाऽतिकुटिलागतः कुशल ! कर्मणां दक्षिता ॥ (३१३४)	१४५
<b>इन्द्रिय-विषयों से विनाश</b>		<b>कर्मनायक है मोहनीय</b>	
२४४. रक्तः शब्दे हरिणः स्पर्शो नागो रसे च वारिचरः । कृपणपतङ्गो रूपे भुजगो गन्धे ननु विनष्टः ॥ (३१४)	१३९	२५३. नायगंमि हते सते, जहा सेणा विणस्सई । एवं कम्मणि णस्सति, मोहणिज्जे खयं गए ॥ (३१३४)	१४५
<b>आसक्ति का परिणाम</b>		<b>आहार क्यों ?</b>	
२४५. पञ्चसु रक्ताः पञ्च विनष्टा यत्रागृहीतपरमार्याः । एकः पञ्चसु रक्तः प्रयाति भस्मान्ततामबुधः ॥ (३१४)	१३९	२५४. आहारार्थं कर्म कुर्यादिनिन्द्यं, स्यादाहारः प्राणसंघारणार्थम् । प्राणा धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनाय, तत्त्वं ज्ञेयं येन भूयो न भूयात् ॥ (३१५६)	१५०
<b>भाव आवर्त</b>		<b>इन्द्रिय-विषयों में अलिप्तता</b>	
२४६. रागद्वेषवशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरम् । जन्मावर्त्तो जगत् क्षिप्तं, प्रमादाद् भ्राम्यते भृशम् ॥ (३१६)	१४०	२५५. विसयंमि पंचगंमीवि, दुविहंमि तियं तियं । भावाओ सुट्ठु जाणित्ता, से न लिप्पइ दोसुवि ॥ (३१५७)	१५०
<b>वेदता के छयन के चिह्न</b>		<b>क्या सोचे ?</b>	
२४७. माह्यम्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीह्रीनाशो वाससां चोपरागः । दैन्यं तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गौ, दृष्टिभ्रान्तिर्वैपथ्यश्चारतिश्च ॥ (३११०)	१४०	२५६. केण ममेत्थुप्पत्ती ? कहं इओ तह पुणोऽवि गंतव्वं ? । जो एत्तियंमि चितइ इत्थं सो को न निव्विण्णो ? ॥ (३१५९)	१५१
<b>जाति-स्मरण क्यों नहीं ?</b>		<b>जंसा अतीत वैसा भविष्य ?</b>	
२४८. जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स जंतुणो । तेण दुक्खेण संतत्तो, न सरइ जाइमप्पणो ॥ (३१२६)	१४४	२५७. अवरेण पुव्वं किह से अतीतं, किह आगमिस्सं न सरति एगे । भासन्ति एगे इह माणवाओ, जह स अईअं तह आगमिस्सं ॥ (३१५९)	१५१
<b>जन्मकाल का दुःख</b>		<b>आत्मा ही मित्र और अमित्र</b>	
२४९. विरसरसियं रसतो तो सो जोणीमुहाउ निप्फिडइ । माऊए अप्पणोऽविअ वेअणमउलं जणेमाणो ॥ (३१२६)	१४४	२५८. दुप्पत्थिओ अमित्तं अप्पा सुप्पत्थिओ अ ते मित्तं । सुहदुक्खकारणाओ अप्पा मित्तं अमित्तं च ॥ (३१६२)	१५२
<b>वृद्धावस्था के दुःख</b>			
२५०. हीणभिण्णसरो दीणो, विवरीओ विचित्तओ । दुब्बलो दुक्खिओ वसइ, संपत्तो चरिमं दसं ॥ (३१२६)	१४४		



	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>अमित्र आत्मा का परिणाम</b>		<b>मृत्यु से बचाव नहीं</b>	
२५९. अप्येकं मरणं कुर्यात्, संक्रुद्धो बलवानरिः । मरणानि त्वनन्तानि, जन्मनि च करोत्ययम् ॥ (३।६२)	१५२	२६०. नश्यति नौति याति वितनोति करोति रसायनक्रियां, चरति गुरुव्रतानि विवराण्यपि विशति विशेषकातरः । तपति तपांसि खादति मितानि करोति च मन्त्रसाधनं, तदपि कृतान्तदन्तयन्त्रक्रकचक्रमणौविदार्यते ॥ (४।१६)	१६६
<b>शामप्य की निस्सारता</b>		<b>नास्तिक का कथन</b>	
२६०. सामण्यमणुचरंतरस कसाया जस्स उक्कडा हुंति । मन्नामि उच्छुपुष्कं व निष्फलं तस्स सामण्यं ॥ (३।७१)	१५४	२६३. पिब खाद च चारुलोचने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते । न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥ (४।१७)	१६७
<b>कषाय की उत्कटता</b>		<b>हिंसा विषयक बौद्ध मत</b>	
२६१. जं अङ्गिअं चरित्तं देसूणाएवि पुव्वकोडीए । तं पि कसाइयमेत्तो हारेइ नरो मुहुत्तेण ॥ (३।७१)	१५४	२७०. प्राणि प्राणिज्ञानं घातकाचित्तं च तद्गता चेष्टा प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥ (४।२०)	१६८
<b>द्रव्य क्या ?</b>		<b>संसार का स्वभाव</b>	
२६२. एगदवियस्स जे अत्थपज्जवा वयणपज्जवा वावि । तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दब्बं ॥ (३।७४)	१५५	२७१. संसार एवायमनर्थसारः, कः कस्य कोऽत्र स्वजनः परो वा ? । सर्वे भ्रमन्तः स्वजनाः परे च, भवन्ति भूत्वा न भवन्ति श्रूयः ॥ (४।३२)	१७३
<b>चौथा अध्ययन</b>		<b>एकत्व भावना</b>	
<b>उपशम सम्यक्त्व</b>		२७२. विचिन्त्यमेतद्भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित्पुरतो न पश्चात् । स्वकर्मभिर्भ्रान्तिरियं ममैव, अहं पुरस्तादहमेव पश्चात् ॥ (४।३२)	१७३
२६३. ऊसरदेसं दड्ढेल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छत्ताणुदए उवसमसम्मं लहइ जीवो ॥	१५९	<b>मैं अकेला हूँ</b>	
<b>समयक्षेत्रवर्ती तीर्थंकर</b>		२७३. सदैकोऽहं न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित् । न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम ॥ (४।३२)	१७३
२६४. सत्तरिसयमुक्कोसं इअरे दस समयखेत्तजिणमाणं । चोत्तीस पढमदीवे अणंतरऽद्धे य ते दुगुणा ॥ (४।१)	१६२	<b>अकेला ही आता-जाता है</b>	
<b>आत्मव ही हूँ परिलख</b>		२७४. एकः प्रकुरुते कर्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम् । जायते म्रियते चैक, एको याति भवान्तरम् ॥ (४।३२)	१७३
२६५. यथाप्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासान्तिर्बाणसुखहेतवः ॥ (४।१२)	१६४	<b>पाँचवाँ अध्ययन</b>	
<b>मृत्यु की सर्वगामिता</b>		<b>स्थापना लोक का स्वरूप</b>	
२६६. वदत यदीह कश्चिदनुसंततसुखपरिभोगलालितः । प्रयत्नशतपरोऽपि विगतव्यथमाधुरवाप्तवान्नरः ॥ (४।१६)	१६६	२७५. तिरिअं चउरो दोसुं छइसुं अट्ट दस य एक्केक्के । बारसं दोसुं सोलस दोसुं वीसा य चउसुं तु ॥	१७८
२६७. न खलु नरः सुरीषसिद्धासुरकिन्नरनायकोऽपि यः । सोऽपि कृतान्तदन्तकुलिशाक्रमेण कृशितो न नश्यति ॥ (४।१६)	१६६		

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
२७६. पुणरवि सोलस दोसुं बारस दोसुं तु हुंति नायव्वा । तिसु दस तिसु अटुच्छ य दोसुं दोसुं तु चत्तारि ॥	१७८	गण-निर्गत की दशा	
२७७. ओयरिय लोअमज्झा चउरो चउरो य सर्वाहि णेया । तिअ तिग दुग दुग एक्केक्कमं च जा सत्तमीए उ ॥	१७८	१८६. जह सायरंमि मीणा संखोहं साअरस्स असहंता । णिंति तओ सुहकामी णिग्गयमित्ता विणस्संति ॥ (५।६२)	१९४
<b>गृहस्थाश्रम की कीर्तना</b>		२८७. एवं गच्छसमुद्दे सारणवीईहि चोइया संता । णिंति तओ सुहकामी मीणा व जहा विणस्संति ॥ (५।६२)	१९५
२७८. गृहाश्रमसमो धम्मो, न भूतो न भविष्यति । पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाषण्डमाश्रिताः ॥		२८८. गच्छंमि केइ पुरिसा सउणी जह पंजरंतरणिइदा । सारणवारणचोइय पासत्थगया परिहरंति ॥ (५।६२)	१९५
<b>कृतकर्म का भोग</b>		२८९. जहा दियापोयमपक्खाजायं, सवासया पविउमणं मणार्गं । तमचाइया तरुणमपत्तजायं, ठंकादि अब्वत्तगमं हरेज्जा ॥ (५।६२)	१९५
२७९. स्वकृतपरिणतानां दुर्नयनां विपाकः, पुनरपि सहनीयोऽन्यत्र ते निर्गुणस्य । स्वयमनुभवतोऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो, भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते ॥ (५।२९)	१८६, १८७	<b>तत्त्वार्थ चिन्तन</b>	
<b>समताभाव</b>		२९०. आकुण्ठेन मतिमता, तत्त्वार्थान्वेषणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः ? स्यादनृतं किं तु कोपेन ? ॥ (५।६३)	१९५
२८०. जो चंदनेग बाहुं आलिपइ यासिणा व तच्छेति । मंथुणइ जो अ णिदति महेसिणो तत्थ समभावा ॥ (५।४०)	१८९	<b>क्रोध है मोक्ष का शत्रु</b>	
<b>शरीर की प्राप्ति कुलंभ</b>		२९१. अपकारिणि कोपश्चेत्, कोपे कोपः कथं न ते ? धर्मार्थकाममोक्षाणां, प्रसह्य परिपन्थिनि ॥ (५।६३)	१९५
२८१. ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविघ्नष्टम् । मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ॥ (५।४६)	१९१	<b>अनुकंपा के योग्य</b>	
<b>प्रवचन-प्रभावक</b>		२९२. आत्मद्रोहममर्यादं, मूढमुज्झितसत्पथम् । सुतरामनुकम्पेत, नरकाच्चिष्मदिन्धनम् ॥ (५।६५)	१९६
२८२. प्रावचनी धर्मकथी वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च । विद्यासिद्धः ख्यातः कविरपि चोद्भावाकास्त्वष्टौ ॥ (५।५३)	१९२	<b>काम और संकल्प</b>	
<b>धीर व्यक्ति का चिन्तन</b>		२९३. काम ! जानामि ते रूपं, संकल्पात्किल जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥ (५।८४)	१९८
२८३. अक्कोसहणणमारणधम्मभंसाण बालसुलभाणं । लाभं मण्णइ धीरो जहुत्तराणं अभावमि ॥ (५।६२)	१९४	<b>स्त्री के दृष्टिबाण</b>	
<b>एकलविहार के दोष</b>		२९४. सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्जां तावद्विघ्नते विनयमपि समालम्बते तावदेव । अुचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्षमाण एते, यावल्लीलावतीनां न हृदि घृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ॥ (५।८७)	१९९
२८४. साहंमिएहि संमुज्जएहि एगागिओ अ जो विहरे । आयंकपउरयाए छक्कायवहंमि आवडइ ॥ (५।६२)	१९४		
२८५. एमागिअस्स दोसा इत्थी साणे तहेव पडिणीए । भिक्खअविसोहि महव्वय तम्हा सबिइज्जए गमणं ॥ (५।६२)	१९४		

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>स्त्री के साथ बँडने का निषेध</b>		<b>सांख्याभिमत पुरुष निष्क्रिय</b>	
२९५. मात्रा स्वस्वा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ॥ (५।८७)	१९९	३०३. न विरक्तो न निविण्णो, न भीतो भवबन्धनात् । न मोक्षसुखकाङ्क्षी वा, पुरुषो निष्क्रियात्मकः ॥ (५।११३)	२०६
<b>आचार्य की आठ संपदाएं</b>		<b>सांख्यदर्शन</b>	
२९६. आचार सुख सरीरे वयणे वायण मई पओगमई । एए सुसंपया खलु अट्टमिजा संगहपरिन्ना ॥ (५।८९)	२००	३०४. कः प्रव्रजति साङ्ख्यानां, निष्क्रिये क्षेत्रभोक्तरि । निष्क्रियत्वात्कथं वाऽस्य, क्षेत्रभोक्तृत्वमिष्यते ? ॥ (५।११३)	२०६
<b>यथार्थ है वीतराग दर्शन</b>		<b>बौद्धमत का निरसन</b>	
२९७. वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते क्वचित् । यस्मात्तस्माद्ब्रह्मस्तेषां, तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥ (५।९५)	२०२	३०५. यज्जातमात्रमेव प्रकवस्तं तस्य का क्रिया कुम्भे ? । नोत्पन्नमात्रभग्ने क्षिप्तं सन्तिष्ठते वारि ॥ (५।११३)	२०७
<b>हेतुगम्य और श्रद्धागम्य</b>			
२९८. सर्वेनैयमित्यतनैगमसंग्रहाद्यै- रेकैकशो विहिततीर्थकशासनैयंत् । निष्ठां गतं बहुविधैर्गमपर्ययैस्ते, श्रद्धेयमेव वचनं न तु हेतुगम्यम् ॥ (५।९६)	२०२	३०६. कर्त्तरि जातविनष्टे धर्माधर्मक्रिया न सम्भवति । तदभावे बन्धः को ? बन्धाभावे च को मोक्षः ? ॥ (५।११३)	२०७
<b>आत्मा का स्वरूप</b>		<b>भूतवादियों का मत</b>	
२९९. नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः । न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः ॥ (५।१००)	२०४	३०७. अश्रद्धाचर्यरक्तेर्मूढैः, परदारघर्षणाभिरतैः । मायेन्द्रजालविषवत्, प्रवर्त्तितमसत्किमप्येतत् ॥ (५।११३)	२०७
३००. अच्छेष्टोऽयमभेष्टोऽयमविकारी स उच्यते । नित्यः सततगः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ (५।१००)	२०४	३०८. मिथ्या च दृष्टिर्भवदुःखघात्री, मिथ्या मतिश्चापि विवेकशून्या । धर्माय येषां पुरुषाधमानां, तेषामधर्मो भुवि कीदृशोऽन्यः ? ॥ (५।११३)	२०७
<b>बस प्राणों का वियोजन : हिंसा</b>		<b>बौद्धमत : मुक्तात्मा का पुनर्जन्म</b>	
३०१. पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च, उच्छ्वासनिःश्वासमथान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्ता- स्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ॥ (५।१०१)	२०४	३०९. दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमथ्य, निर्वाणमप्यनवधारितभीरुनिष्ठम् । मुक्तः स्वयंकृतभवश्च परार्थेशुर- स्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥ (५।१३३)	२०९
<b>ईश्वर प्रेरित</b>		<b>छठा अध्यायन</b>	
३०२. अन्यो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्, स्वर्गं वा श्वभ्रमेव च ॥ (५।११३)	२०६	<b>कष्ट में करुण क्लबन</b>	
		३१०. किमिदमचिन्तितमसद्दृशमनिष्टमतिकष्टमनुपमं दुःखम् । सहसैवोपनतं मे नैरयिकस्येव सत्त्वस्य ॥ (६।७)	२१२
		<b>राजयक्ष्मा की उत्पत्ति</b>	
		३११. त्रिदोषो जायते यक्ष्मा, गदो हेतुचतुष्टयात् । वेगरोधात् क्षयाच्चैव, साहसाद्विषमाशानात् ॥ (६।८)	२१३

वृत्ति पत्र

वृत्ति पत्र

## अपस्मार रोग

३१२. भ्रमावेशः संसंरम्भो, द्वेषोद्रेको हतस्मृतिः ।  
अपस्मार इति ज्ञेयो, गदो घोरश्चतुर्विधः ॥  
(६।८)

२१३

## नेत्र रोग के कारण

३१३. वातात्पित्तात्कफाद्रक्तादभिव्यन्दश्चतुर्विधः ।  
प्रायेण जायते घोरः, सर्वनेत्रामयाकरः ॥  
(६।८)

२१३

## शरीर-विकलता के कारण

३१४. गर्भे वातप्रकोपेन, दीर्हदे वाऽपमानिते ।  
भवेत् कुब्जः कुणिः पंगुर्मुको मन्मन एव वा ॥  
(६।८)

२१३

## जलोदर की उत्पत्ति

३१५. पृथक् ममस्तैरपि चानिलाद्यैः, प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव ।  
आगन्तुकं सप्तममष्टमं तु, जलोदरं चेति भवन्ति तानि ॥  
(६।८)

२१३

## सूजन रोग की उत्पत्ति

३१६. शोकः स्यात् षड्विधो घोरो, दोषैस्तुसंघलक्षणः ।  
व्यस्तैः समस्तैश्चापीह, तथा रक्ताभिघातजः ॥  
(६।८)

२१३

## कम्पन रोग

३१७. प्रकामं वेपते यस्तु, कम्पमानश्च गच्छति ।  
कलापखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिनिबन्धनम् ॥  
(६।८)

२१३

## श्लीपद रोग किस देश में ?

३१८. पुराणोदकभूमिष्ठाः, सर्वर्तुषु च शीतलाः ।  
ये देशास्तेषु जायन्ते, श्लीपदानि विशेषतः ॥  
(६।८)

२१३

## श्लीपद : शरीर के किस भाग में ?

३१९. पादयोर्हस्तयोश्चापि, श्लीपदं जायते नृणाम् ।  
कर्णोष्ठनाशास्वपि च, केचिदिच्छन्ति तद्विदः ॥  
(६।८)

२१३

## मधुमेह रोग की असाध्यता

३२०. सर्व एव प्रमेहास्तु, कालेनाप्रतिकारिणः ।  
मधुमेहत्वमायान्ति, तदाऽसाध्या भवन्ति ते ॥  
(६।८)

२१३

## नारकीय वेदना का विवर्शन (३२१ से ३२६)

३२१. श्रवणलवनं नेत्रोद्धारं करक्रमपाटनं,  
हृदयदहनं नासाच्छेदं प्रतिक्षणदारुणम् ।  
कटविदहनं तीक्ष्णापातत्रिशूलविभेदनं,  
दहनवदनैः कङ्कैर्घोरैः समन्तविभक्षणम् ॥  
(६।८)

३२२. तीक्ष्णैरसिभिर्दोषैः कुन्तैर्विषमैः परश्वर्धैश्चक्रैः ।  
परशुत्रिशूलमुद्गरतोमरवासीशुषण्डीभिः ॥  
(६।८)

३२३. सम्भिन्नतालुशिरसश्छिन्नभुजाश्छिन्नकर्णनासोष्ठाः ।  
भिन्नहृदयोदरान्ना भिन्नाक्षिपुटाः सुदुःखार्ताः ॥  
(६।८)

३२४. निपतन्त उत्पतन्तो विचेष्टमाना महीतले दीनाः ।  
नेक्षन्ते त्रातारं नैरयिकाः कर्मपटलान्धाः ॥  
(६।८)

३२५. छिद्यन्ते कृपणाः कृतान्तपरशोस्तीक्ष्णेन धारासिना,  
ऋन्दन्तो विषवीचिभिः परिवृताः संभक्षणव्यापृतैः ।  
पाटयन्ते क्रकचेन दासवदसिना प्रच्छिन्नबाहुद्वयाः,  
कुम्भीषु त्रपुपानदग्धतनवो मूषासु चान्तर्गताः ॥  
(६।८)

३२६. भृज्यन्ते ज्वलदम्बरीषद्भुतभुज्ज्वालाभिराराविणो,  
दीप्ताङ्गारनिभेषु वज्रभवनेष्वङ्गारकेशूत्थिताः ।  
दह्यन्ते विकृतोर्ध्वबाहुवदनाः ऋन्दन्त आर्त्तस्वनाः,  
पश्यन्तः कृपणा दिशो विशरणास्त्राणाम को नो भवेत् ? ॥  
(६।८)

२१४

## तिर्यञ्चगति में वेदना

३२७. क्षुत्तृड्हिमात्पुष्णभयादितानां, पराभियोगव्यसनातुराणाम् ।  
अहो ! तिरश्चामतिदुःखितानां, सुखानुषङ्गः किल वार्त्तमेतद् ॥  
(६।८)

२१५

## मनुष्यगति में वेदना

३२८. दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां,  
बालत्वे चापि दुःखं मललुलिततनुः स्त्रीपयःपानमिश्रम् ।  
तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः,  
संसारे रे मनुष्या ! वदत यदि मुखं स्वल्पमप्यस्ति किञ्चित् ॥  
(६।८)

२१५

३२९. बास्यात्प्रभृति च रोगैर्दंष्टोऽभिभवश्च यावदिह मृत्युः ।  
शोकवियोगायोर्मेर्दुर्गतदोषैश्च नैकविधैः ॥  
(६।८)

२१५

३३०. क्षुत्तृड्हिमोष्णानिलशीतदाहदारिद्र्यशोकप्रियविप्रयोगैः ।  
दौर्भाग्यमोक्ष्यान्निजात्यदास्यवैरूप्यरोगादिभिरस्वतन्त्रः ॥  
(६।८)

२१५

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>वेदगति में वेदना</b>		<b>अचेल सचेत : सभी जिनाना में</b>	
३३१. देवेषु च्यवनविशोगदुःखितेषु, क्रोधेष्वर्षामदमदनातितापितेषु । आर्या ! नस्तदिह विचार्य संगिरन्तु, यत्सौख्यं किमपि निवेदनीयमस्ति ॥ (६।६)	२१५	३४०. जोवि दुवत्यतिवत्यो एगेण अचेलगो व संथरइ । न हु ते हीलेंति परं सव्वेवि हु ते जिणाणाए ॥ (६।६८)	२२३
<b>गर्भ-कर्म</b>		<b>विचित्र कर्मपरिणति</b>	
३३२. सप्ताहं कललं विद्यास्ततः सप्ताहमर्बुदम् । अर्बुदाज्जायते पेशी, पेशीतोऽपि धनं भवेत् ॥ (६।२५)	२१६	३४१. कम्माणि पूर्णं वणचिक्कणाइं गसयाइं वडरसाराइं । णाणट्ठिअपि पुरिसं पंधाओ उप्पहं णिति ॥ (६।७०)	२२४
<b>वसु-अनुवसु</b>		<b>ज्ञान का भद्र</b>	
३३३. वीतरागो वसुर्ज्यो, जिना वा संयतोऽथवा । सरागो ह्यऽनुवसुः प्रोक्तः, स्थविरः श्रावकोऽपि वा ॥ (६।३०)	२१७	३४२. पृष्ठा गुरवः स्वयमपि परीक्षितं निश्चितं पुनरिदं नः । वादिनि च मल्लमुख्ये च भादृगेवान्तरं गच्छेत् ॥ (६।७७)	२२६
<b>प्रमाद : अप्रमाद</b>		<b>ज्ञान की उद्धतता</b>	
३३४. यत्र प्रमादेन तिरोऽप्रमादः, स्याद्वाऽपि यत्नेन पुनः प्रमादः । विपर्ययेणापि पठन्ति तत्र, सूत्राण्यघोकारवशाद्विघ्नज्ञाः ॥ (६।३५)	२१९	३४३. अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय । कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण ॥ (६।७७)	२२६
<b>सम्यक्त्व</b>		<b>अल्पज्ञ से शास्त्रज्ञानि</b>	
३३५. प्रशस्तः शोभनश्चैव, एकः सङ्गत एव च । इत्येतेऽपमृष्टस्तु, भावः सम्यक्त्वमुच्यते ॥ (६।६५)	२२२	३४४. क्रीडनकमीश्वराणां कुक्कुटलावकसमानवात्सल्यः । शास्त्राण्यपि हास्यकथां लघुतां वा क्षुल्लको नयति ॥ (६।७७)	२२६
<b>अचेल सचेत की हीलना न करे</b>		<b>योग : सर्वत्र पूजित</b>	
३३६. जोऽपि दुवत्यतिवत्यो एगेण अचेलगो व संथरइ । ण हु ते हीलेंति परं सव्वेऽपि य ते जिणाणाए ॥ (६।६५)	२२२	३४५. नात्यायतं न शिथिलं, यथा युञ्जीत सारथिः । तथा भद्रं वहन्त्यशवा, योगः सर्वत्र पूजितः ॥ (६।८२)	२२७
<b>जो हीणे जो अइरित्ते</b>		<b>अज्ञानी का कार्य</b>	
३३७. जे खलु विसरिसकप्पा सधयणधिइयादिकारणं पप्प । णऽवमन्नइ ण य हीणं अप्पाणं मन्नइं तेहि ॥ (६।६५)	२२२	३४६. जो जत्य होइ भग्गो, ओवासं सो परं अविदंतो । गंतुं तत्थऽचयंतो, इमं पहाणंति धोसेति ॥ (६।८२)	२२७
<b>जिनाना की प्रधानता</b>		<b>शरीर है धर्म का साधन</b>	
३३८. सव्वेऽपि जिणाणाए जहाविहि कम्मखवणअट्टाए । विहरंति उज्जया खलु सम्मं अभिजाणई एवं ॥ (६।६५)	२२३	३४७. शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीराज्जायते धर्मो, यथा बीजात् सदङ्कुरः ॥ (६।९१)	२२८
<b>दुःख शरीर को, आत्मा को नहीं</b>		<b>आत्मा का अनुसंधान</b>	
३३९. णिम्माणेइ परो च्चिय अप्पा ण उ वेयणं सरीराणं । अप्पाणो च्चिअ हिअयस्स ण उण दुक्खं परो देइ ॥ (६।६७)	२२३	३४८. परलोकविरुद्धानि, कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् । आत्मानं यो न संघत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कथं हितः ? ॥ (६।९६)	२३०

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
<b>आत्मनः प्रतिकूलानि</b>		३५९. कद्रूः सरीसृपाणां सुलसा माता तु नगजातीनाम् । सुरभिश्चतुष्पदानामिला पुनः सर्वबीजानाम् ॥ (८।५)	२४१
३५९. न तत्परस्य संख्यात्, प्रतिकूलं यदात्मनः । एष संग्रहिको घर्मः, कामादन्यः प्रवर्तते ॥ (६।१०१)	२३२	<b>सावि : अनावि</b>	
<b>ज्ञान की न प्रशंसा न निषेध</b>		३६०. द्वावेव पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि, कृटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ (८।५)	२४२
३५०. जे उ दाणं पसंसति, वहमिच्छति पाणिणं । जे उ णं पडिसेहिति, वित्तिच्छेअं करिति ते ॥ (६।१०५)	२३३	<b>लोकसृष्टि की विभिन्न मान्यताएं</b>	
<b>माठवां अध्ययन</b>		३६१. इच्छति कृत्रिमं सृष्टिवादिनः सर्वमेवमितिलिङ्गम् । कृत्स्नं लोकं माहेश्वरादयः सादिपर्यन्तम् ॥ (८।५)	२४२
<b>कर्मबंध कैसे ?</b>		३६२. नारीश्वरजं केचित् केचित्सोमाग्निसम्भवं लोकम् । द्रव्यादिषड्विकल्पं जगदेतत्केचिदिच्छन्ति ॥ (८।५)	२४२
३५१. णेहदुप्पिअगतस्स रेणुओ लग्गाई जहा अंणे । तह रागदोसणेहालियस्स कम्मपि जीवस्स ॥	२३६	३६३. ईश्वरप्रेरितं केचित्, केचिद् बहुकृतं जगत् । अव्यक्तप्रभवं सर्वं, विश्वमिच्छन्ति कापिलाः ॥ (८।५)	२४२
<b>भौतिकवाद का चिंतन</b>		३६४. यादृच्छिकमिदं सर्वं, केचिद् भूतविकारजम् । केचिच्चानेकरूपं तु, बहुधा संग्रहाविताः । (८।५)	२४२
३५२. यथा यथाऽर्थास्त्विन्त्यन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा । यद्येतत्स्वयमर्थेभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ॥ (८।५)	२४१	<b>स्याद्वाद में अविवाद</b>	
३५३. भौतिकानि शरीराणि, विषयाः करणानि च । तथापि मन्दैरन्यस्य, तत्त्वं समुपदिश्यते ॥ (८।५)	२४१	३६५. लोकक्रियाऽऽत्मतत्त्वे विवदन्ते वादिनो विभिन्नार्थम् । अविदितपूर्वं येषां स्याद्वादविनिश्चितं तत्त्वम् ॥ (८।५)	२४२
<b>लोक सावि है (३५४ से ३५९)</b>		<b>अस्ति नास्ति</b>	
३५४. आसीद्विदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥ (८।५)		३६६. सदेव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात् ? । असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ (८।५)	२४३
३५५. तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टस्थावरजङ्गमे । नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टोरगराक्षसे । (८।५)		<b>अविशुद्धकोटि आहार</b>	
३५६. केवलं गह्वरीभूते, महाभूतविवर्जिते । अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥ (८।५)		३३७. आहाकम्मुद्देसिअ मीसज्जा बायरा य पाहुडिआ । पूइअ अज्जोयरागो उरगमकोडी अ छ्भेआ । (८।२१)	२४५
३५७. तस्य तत्र शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम् । तरुणरविमण्डलनिभं, हृद्यं काञ्चनकर्णिकम् ॥ (८।५)		<b>ज्ञान का माहात्म्य</b>	
३५८. तस्मिन् पद्मे तु भगवान् दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः । ऋहा तत्रोत्पन्नस्तेन जग्न्मातरः सृष्टाः ॥ (८।५)		३६८. काले देशे कल्प्यं श्रद्धाशुक्तेन शुद्धमनसा च । सत्कृत्य च दातव्यं दानं प्रयतात्मना सद्भ्यः ॥ (८।२४)	२४६
३५८. अदितिः सुरसङ्घानां दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् । विनता विहङ्गभानां माता विश्वप्रकाराणाम् ॥ (८।५)		३६९. दानं सत्पुरुषेषु स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन । वटकणिकेव महान्तं न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते ॥ (८।२४)	२४६

	वृत्ति पत्र		वृत्ति पत्र
३७०. दुःखसमुद्रं प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन । लघुनेव मकरनिलयं वणिजः सघानपात्रेण ॥ (८।२४)	२४६	<b>तीर्थ-प्रवर्तन</b>	
<b>वेद्य क्या ?</b>		३७८. आदित्यादिबिबुधविसरः सारमस्यां त्रिलोक्या- मास्कन्दन्तं पदमनुपमं यच्छिवं त्वामुवाच । तीर्थं नाथो लघुभवभयच्छेदि तूर्णं विघ्नत्स्वेत्ये- तद्वाक्यं त्वदधिगतये नो किमु स्यान्नियोगः ? ॥ (९।४।१६)	२८६
३७१. यत्स्वयमदुःखितं स्यान्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि । केवलमुपग्रहकरं धर्मकृते तद्भवेद्देयम् ॥ (८।२५)	२४७	<b>सर्वज्ञान की सफलता</b>	
<b>पात्र-नियोग</b>		३७९. विज्ञप्तिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता । मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनाद् ॥ (९।४।१७)	२८७
३७२. पत्तं पत्ताबंधो पायदुवणं च पायकेसरिखा । पडलाइ रयत्ताणं च गोच्छब्दो पायणिज्जोगो ॥ (८।४३)	२५१	<b>क्रिया की प्रधानता</b>	
<b>इंगिनीभरण अनशन</b>		३८०. शास्त्राप्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् । संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, किं ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ? ॥ (९।४।१७)	२८७
३७३. पञ्चकखइ आहारं चउज्विहं णियमओ गुरुसभीवे । इंगियदेसंमि तथा चिदंठपि हु नियमओ कुणइ ॥ (८।१०६)	२५९	३८१. क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् ॥ (९।४।१७)	२८७
३७४. उव्वत्तइ परिउत्तइ काइगमाईउवि अप्पणा कुणइ । सव्वमिह अप्पणच्चिअ अन्नजोणेण धितिबलियो ॥ (८।१०६)	२५९	३८२. चेइयकुलगणसङ्घे आयरियाणं च पवयण सुए य । सव्वेसुउवि तेण कयं तवसंजममुज्जमन्तेणं ॥ (९।४।१७)	२८७
<b>नौवां अधययन</b>		<b>क्रियारहित ज्ञान की विफलता</b>	
<b>वस्त्र धारण का प्रयोजन</b>		६८३. सुबहुंपि सुअमहीयं किं काही चरणविप्पहणस्स ? ॥ अंधस्स जह पलित्ता दीवसतसहस्सकोडीवि ॥ (९।४।१७)	२८७
३७५. गरीयस्त्वात्सचेलस्य, धर्मस्यान्यैस्तथागतैः । शिष्यस्य प्रत्ययाच्चैव, वस्त्रं दध्ने न लज्जया ॥ (९।१।२)	२७४	<b>सर्वनयविशुद्ध का ग्रहण</b>	
<b>सर्वत्र जन्म-मृत्यु</b>		३८४. सव्वेसिपि णयाणं बहुविहवत्तव्वयं णिसामेत्ता । तं सव्वणयविशुद्धं जं चरणगुणद्विओ साहु ॥ (९।४।१७)	२८८
३७६. णत्थि किर सो पएसो लोए वालग्गकोडिमिस्सोउवि । जम्मणमरणावाहा अप्पेगसो जत्थ णवि पत्ता ॥ (९।१।१४)	२७६		
<b>संसार है रंगभूमि</b>			
३७७. रंगभूमिर्न सा काचिच्छुद्धा जगति विद्यते । विचित्रैः कर्मनेपध्वैर्यत्र सत्त्वेर्न नाटितम् ॥ (९।१।१४)	२७६		

सूक्त और सुभाषित

अदृष्टे लोए परिजुण्णे, दुस्संबोहे अविजाणत । १।१३  
मनुष्य आर्त्त और अभावग्रस्त है । वह सत्य को सरलता  
से समझ नहीं पाता, अतः अज्ञानी बना रहता है ।

अस्सि लोए पव्वहिए । १।१४  
अज्ञानी व्यथा का अनुभव करता है ।

पणया वीरा महावीहि । १।३७  
वीर पुरुष महापथ के प्रति प्रणत होते हैं ।

जे लोयं अम्भाइक्खइ, से अत्ताणं अम्भाइक्खइ ।  
जे अत्ताणं अम्भाइक्खइ, से लोयं अम्भाइक्खइ । १।३९  
जो जीवों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह अपनी  
आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है ।  
जो अपनी आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करता है,  
वह जीवों के अस्तित्व को अस्वीकार करता है ।

तं से अहियाए, तं से अबोहीए । १।४६  
हिंसा अहित और अबोधि के लिए होती है ।

एस खलु गंधे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु नरए ।  
१।४८

हिंसा ग्रन्थि है, मोह है, मृत्यु है, नरक है ।

जे पमत्ते गुणट्ठिए, से ह्व बंडे पव्वुच्चति । १।६९  
जो प्रमत्त है, विषयार्थी है, वह दंड है ।

इयाणि णो जमहं पुब्बमकासी पमाएणं । १।७०  
वह अब नहीं करूंगा जो मैंने प्रमादवश पहले किया था ।

इच्चत्थं गढिए लोए । १।८०  
सुख-सुविधा में मूर्च्छित मनुष्य हिंसा करता है ।

जे गुणे से आवट्टे, जे आवट्टे से गुणे । १।९३  
जो विषय है वह आवर्त्त है । जो आवर्त्त है वह विषय  
है ।

एत्थ अगुत्ते अणाणाए । १।९७  
जो अगुप्त है—असंयत है, वह आज्ञा में नहीं है ।

आयंकदंसी अहियं ति नच्चा । १।१४६  
जो हिंसा में आतंक और अहित देखता है, वही उससे निवृत्त  
होता है ।

जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।

जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ । १।१४७

जो अध्यात्म को जानता है, वह बाह्य को जानता है ।

जो बाह्य को जानता है, वह अध्यात्म को जानता है ।

संतिगया बविया । १।१४९  
मुनि शांत और संयमी होते हैं ।

आरंभमाणा विणयं वयंति । १।१७१

आश्चर्य है, स्वयं हिंसा करते हैं और दूसरों को अहिंसा का  
उपदेश देते हैं ।

जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे । २।१  
जो इन्द्रिय-विषय है वह लोभ है । जो लोभ है, वह  
इन्द्रिय-विषय है ।

अभिवक्तं च खलु वयं संपेहाए । २।५  
अवस्था बुढ़ापे की ओर जा रही है, यह देखकर पुरुष  
चिन्ताग्रस्त हो जाता है ।

नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा ।

तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा, सरणाए वा । २।८

हे पुरुष ! संसार में कोई तुम्हें त्राण या शरण देने में  
समर्थ नहीं है । तुम भी किसी को त्राण या शरण देने में  
समर्थ नहीं हो ।

धीरे मुहुत्तमवि णो पमायए । २।११  
धीर पुरुष क्षणभर भी प्रमाद न करे ।

वयो अच्चेइ जोव्वणं च । २।१२  
अवस्था और यौवन बीत रहे हैं ।

अकडं करिस्तामिसि ..... । २।१५  
मैं वह करूंगा, जो आज तक किसी ने नहीं किया—यह  
अहंमन्यता है ।

दुक्खं पस्सेयं सायं । २।२२  
दुःख और सुख अपना-अपना होता है ।

खणं जाणाहि पंडिए । २।२४  
तू क्षण को पहिचान ।

पण्णाणेहि अपरिहीणेहि आयट्ठं सम्मं समणुवासिज्जासि ।  
२।२६  
इन्द्रिय-प्रज्ञानों के पूर्ण रहते हुए तू आत्महित का सम्यक्  
अनुशीलन कर ।



अरईं आजट्टे से मेधावी । २।२७

मेधावी वह है जो अरति का निर्वर्तन करता है ।

खणंसि मुक्के । २।२८

मेधावी क्षणभर में मुक्त हो जाता है ।

मंदा मोहेण पाउडा । २।३०

अज्ञानी मोह से आवृत होते हैं ।

एत्य मोहे पुणो-पुणो सण्णा । २।३३

मोह से मूढ व्यक्ति विषयों के दलदल में फंस जाते हैं ।

णो हव्वाए णो पाराए । २।३४

विषयासक्त व्यक्ति न इधर के रहते हैं और न उधर के ।

विमुक्का हु ते जणा, जे जणा पारगामिणो । २।३५

जो पारगामी (संयमी) होते हैं, वे कामभोगों से विमुक्त होते हैं ।

लोभं अलोभेण दुग्गुहमाणो, लद्धे कामे नाभिगाहइ । २।३६

जो अलोभ से लोभ को पराजित कर देता है, वह प्राप्त-कामों में नहीं डूबता ।

सपेहाए भया कज्जति । पावमोक्खोत्ति मण्णमाणे ।

अबुवा आसंसाए । २।४३-४५

हिंसा में प्रवृत्त होने के चार कारण हैं—(१) अपने चित्तन से, (२) भय से, (३) पाप की मुक्ति के लिए, (४) अप्राप्त को पाने की अभिलाषा से ।

समिते एयाणुपस्सी । २।५३

सम्यग्दर्शी पुरुष कर्म-विपाक को देखता है ।

ण एत्थ तवो वा, दमो वा, णियमो वा दिस्सति । २।५९

परिग्रही पुरुष में न तप होता है, न दम और न नियम । उसमें न स्वादविजय, न इन्द्रियविजय और न प्रत्याख्यान होता है ।

इणमेव णावकंखंति जे जणा धुवचारिणो । २।६१

जो शाश्वत की ओर गतिशील हैं, वे अशाश्वत की आकांक्षा नहीं करते ।

णत्थि कालस्स णागमो । २।६२

मृत्यु के लिए कोई भी क्षण अनवसर नहीं है ।

सव्वेसि जीविथं पियं । २।६४

सभी प्राणियों को जीवन प्रिय है ।

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिक्कूला अप्पियवहा पिय-

जीविणो जीविउकामा । २।६३

सब प्राणियों को आयुष्य प्रिय है । वे सुख का आस्वाद करना चाहते हैं । उन्हें दुःख प्रतिकूल लगता है । उन्हें वध अप्रिय है । उन्हें जीवन प्रिय है । वे जीवित रहना चाहते हैं ।

अणोहंतरा एते, नो य ओहं तरित्तए ।

अतीरंगमा एते, नो य तीरं गमित्तए ।

अपारंगमा एते, नो य पारं गमित्तए । २।७१

हिंसक मनुष्य दुःख के प्रवाह को तैरने में समर्थ नहीं हैं ।

वे तीर तक पहुंचने में समर्थ नहीं हैं ।

वे पार तक पहुंचने में समर्थ नहीं हैं ।

उद्देसो पासगस्स णत्थि । २।७३

द्रष्टा के लिए कोई व्यपदेश नहीं होता ।

आसं च छंदं च विगिच्च धीरे । २।८६

हे धीर पुरुष ! तू आशा और इन्द्रिय-पराधीनता को छोड़ ।

जेण सिया तेण णो सिया । २।८८

जिससे होता है, उससे नहीं भी होता ।

थीभि लोए पव्वहिए । २।९०

पुरुष स्त्रियों के द्वारा वशीकृत है ।

सततं मूढे धम्मं णामिजाणइ । २।९३

सतत मूढ व्यक्ति धर्म को नहीं जानता ।

अप्यमावो महामोहे । २।९४

साधक विषय-विकारों में प्रमत्त न हो ।

असं कुसलस्स पमाएणं । २।९५

कुशल व्यक्ति प्रमाद न करे ।

णाइवाएज्ज कंचणं । २।१००

किसी भी जीव का अतिपात न करे ।

एयं पास मुणी ! मह्भयं । २।९९

ज्ञानिन् ! तू देख, विषयाभिलाषा महाभयंकर है ।

लामोत्ति ण मज्जेज्जा । अलामोत्ति ण सोयए । २।११४, ११५

लाभ होने पर मद मत करो । लाभ न होने पर शोक मत करो ।

बहुं पि लद्धुं ण गिहे । २।११६

प्रचुर लाभ होने पर भी संग्रह मत करो ।

परिगहाओ अप्पाणं अवसक्केज्जा । २।११७

परिग्रह से अपने-आपको दूर रखो ।

अण्णहा णं पासए परिहरेज्जा । २।११८

तत्त्वदर्शी वस्तुओं का परिभोग अन्यथा करो ।

कामा दुरतिकफमा । २।१२१

काम दुर्लभ्य है ।

जीवियं दुप्पडिबूहणं । २।१२२

जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता ।

कामकामी खलु अयं पुरिसे । २।१२३  
यह पुरुष कामकामी—काम का अभिलाषी है ।

आयतचक्षु लोगविपस्ती । २।१२४  
संयतचक्षु पुरुष लोकदर्शी होता है ।

गदिए अणुपरियट्टमाणे । २।१२६  
कामासक्त व्यक्ति भव-भ्रमण कर रहा है ।

एस वीरे पसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए । २।१२८  
जो बंधे हुए को मुक्त करता है, वह वीर प्रशंसित होता है ।

जहा अंतो तथा बाहिं, जहा बाहिं तथा अंतो । २।१२९  
यह शरीर जैसा भीतर है, वैसा बाहर है और जैसा बाहर है, वैसा भीतर है ।

मा य हु लालं पच्चासी । २।१३२  
तुम लार को मत चाटो ।

कामकमे खलु अयं पुरिसे । २।१३४  
पुरुष कामकाम है—काम की अभिलाषा करता है ।

वेरं बद्धेति अप्पणो । २।१३५  
कामार्त्तं पुरुष अपने वीर को बढ़ाता है ।

अमरायइ महासड्डी । २।१३७  
काम और अर्थ में जिसकी महान् श्रद्धा होती है, वह अमर की भांति आचरण करता है ।

तम्हा पावं कम्मं णेव कुज्जा न कारवे । २।१४९  
पापकर्म स्वयं न करे और न दूसरों से करवाए ।

जे ममाइयमति जहाति, से जहाति ममाइयं । २।१५६  
जो परिग्रह-बुद्धि का त्याग करता है, वह परिग्रह का त्याग कर सकता है ।

से ह् दिट्ठपहे मुणी, जस्स णत्थि ममाइयं । २।१५७  
जिसके पास परिग्रह नहीं है, उसी ज्ञानी ने पथ को देखा है ।

णारति सहते वीरे, वीरे णो सहते रतिं । २।१६०  
साधक संयम में अरति को और असंयम में रति को सहन नहीं करता ।

णिच्चिवद णंवि इह जीवियस्स । २।१६२  
तू आमोद-प्रमोद से अपने आकर्षण को हटा ।

बुद्धमु मुणी अणाणाए । २।१६६  
आज्ञा का पालन नहीं करने वाला दरिद्र होता है ।

तुच्छए गिलाइ वत्तए । २।१६७  
साधना-शून्य पुरुष साधना-पथ का निरूपण करने में ग्लानि का अनुभव करता है ।

एस णाए पवुच्चइ । २।१७०  
नेता वह होता है जो लोक-संयोग का अतिक्रमण करता है ।

जे अणणदंसी, से अणणारामे ।  
जे अणणारामे, से अणणदंसी । २।१७३  
जो चैतन्य को देखता है, वह चैतन्य में रमण करता है ।  
जो चैतन्य में रमण करता है, वह चैतन्य को देखता है ।

जहा पुणस्स कत्थइ, तथा तुच्छस्स कत्थइ ।  
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तथा पुणस्स कत्थइ ॥ २।१७४  
धर्मकथी जैसे संपन्न को उपदेश दे, वैसे ही विपन्न को दे और जैसे विपन्न को दे, वैसे ही सम्पन्न को दे ।

ण लिप्पई छणपएण वीरे । २।१८०  
वीर पुरुष हिंसा-कर्म से लिप्त नहीं होता ।

कुसले पुण णो बद्धे, णो मुक्के । २।१८२  
कुशल—जीवनमुक्त व्यक्ति न बद्ध होता है और न मुक्त होता है ।

सुत्ता अमुणी सया, मुणिणो सया जागरंति । ३।१  
अज्ञानी सदा सोते हैं । ज्ञानी सदा जागते हैं ।

लोयंसि जाण अहियाय बुक्खं । ३।२  
तुम जानो, दुःख—अज्ञान अहित के लिए होता है ।

समयं सोगस्स जाणित्ता, एत्थ सत्थोवरए । ३।३  
सब आत्माएं समान हैं—यह जानकर जीवलोक की हिंसा से उपरत हो जाओ ।

आवट्टसोए संगमभिजाणति । ३।६  
संग—राग आवर्त्त है, स्रोत है ।

जागर-वेरोवरए वीरे । ३।८  
वीर वह है जो जागृत है, वीर से उपरत है ।

आरंभजं दुक्खमिणं ति णच्चा । ३।१३  
दुःख हिंसा से उत्पन्न होता है ।

माई पमाई पुणरेइ गग्गं । ३।१४  
मायावी और प्रमादी पुरुष बार-बार जन्म लेता है ।

माराभिसंकी मरणा पमुच्चति । ३।१५  
मृत्यु से आशंकित रहने वाला मृत्यु से मुक्त हो जाता है ।

अकम्मस्स धवहारो न बिज्जइ । ३।१८  
कर्ममुक्त आत्मा के लिए कोई व्यवहार—नाम और गोत्र का व्यपदेश नहीं होता ।

कम्मु णा उवाही जायइ । ३।१९  
उपाधि—व्यपदेश कर्म से होता है ।

कम्ममुलं च जं द्धणं । ३।२१

हिंसा का मूल कर्म है ।

समत्तदंसी ण करेति पावं । ३।२८

सम्यक्त्वदर्शी पाप नहीं करता ।

आरंभजीवी उ भयाणुपत्ती । ३।३०

हिंसाजीवी मनुष्य सर्वत्र भय देखता है

कामेसु गिद्धा णिच्चयं करेति । ३।३१

कामासक्त व्यक्ति संचय करता है ।

आर्यकदंसी ण करेति पावं । ३।३३

हिंसा में आतंक देखने वाला पाप नहीं करता ।

अग्गं च मूलं च विंगिच्च धीरे । ३।३४

हे धीर ! तू अग्र और मूल का विवेक कर । कर्म अग्र है और राग-द्वेष मूल है ।

एस मरणा पमुच्चइ । ३।३६

आत्मदर्शी मृत्यु से मुक्त हो जाता है ।

कालकंखी परिब्बए । ३।३८

जीवन पर्यन्त अनुकूल और प्रतिकूल स्थितियों को सहन करता हुआ परिव्रजत कर ।

सच्चंसि धिंति कुव्वह । ३।४०

तू सत्य में धृति कर ।

अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे । ३।४२

यह पुरुष अनेक चित्तवाला है ।

से केयणं अरिहइ पुरइत्तए । ३।४२

वह चलनी को पानी से भरना चाहता है ।

णिंदिवइ णंदि । ३।४७

तू कामभोग के आनन्द से उदासीन बन ।

अणोमदंसी णिसन्ने पावेहि कम्मोहि । ३।४८

आत्मा को देखने वाला पापकर्म का आदर नहीं करता ।

आयओ बहिया पास । ३।५२

स्वयं से भिन्न प्राणियों को अपनी आत्मा के समान देख ।

समयं तत्पुबेहाए, अप्पाणं विप्पसायए । ३।५५

समता का आचरण चित्त की प्रसन्नता का हेतु है ।

अणणपरमं नाणी, णो पमाए कयाइ वि । ३।५६

ज्ञानी पुरुष आत्मोपलब्धि के प्रति अणभर भी प्रमाद न करे ।

विरागं रुवेहि गच्छेज्जा । ३।५७

सभी प्रकार के रूपों—पदार्थों के प्रति वैराग्य धारण कर ।

का अरई ? के आणवे ? ३।६१

साधक के लिए क्या अरति और क्या आनन्द ?

पुरिसा ! तुम मेव तुमं मित्तं, कि बहिया मित्तमिच्छसि ? ३।६२

पुरुष ! तू ही तेरा मित्र है । फिर बाहर मित्र क्यों खोजता है ?

अं जाणेज्जा उच्चालइयं, तं जाणेज्जा दूरालइयं ।

अं जाणेज्जा दूरालइयं, तं जाणेज्जा उच्चालइयं । ३।६३

जिसे तुम परमतत्त्व के प्रति लगा हुआ जानते हो, उसे कामनाओं से दूर हुआ जानो । जिसे तुम कामनाओं से दूर हुआ जानते हो, उसे परम तत्त्व के प्रति लगा हुआ जानो ।

पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्जम, एवं दुक्खा पमोवखसि ।

३।६४

पुरुष ! आत्मा का ही निग्रह कर । इस प्रकार तू दुःख से मुक्त हो जाएगा ।

पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि । ३।६५

पुरुष ! तू सत्य का ही अनुशीलन कर ।

सच्चस्स आणाए उवट्टिए से मेहघी भारं तरति । ३।६६

जो सत्य की आज्ञा में उपस्थित है, वह मेघावी मृत्यु को तर जाता है ।

सहिए धम्ममादाय, सेयं समणुपस्सति । ३।६७

सहिष्णु साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय को साक्षात् कर लेता है ।

सहिए दुक्खमत्ताए पुट्ठो णो भंझाए । ३।६९

सहिष्णु साधक कष्टों से स्पृष्ट होने पर व्याकुल न हो ।

आयाणं (णिसिद्धा) सगडब्धि । ३।७३

जो कर्म को रोकता है वही कर्म का भेदन कर पाता है ।

जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।

जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ । ३।७४

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है । जो सबको जानता है, वह एक को जानता है ।

सव्वतो पमत्तस्स भयं, सव्वतो अप्पमत्तस्स पत्थि भयं । ३।७५

प्रमत्त को सब ओर से भय होता है । अप्रमत्त को कहीं से भी भय नहीं होता ।

जे एगं नामे, से बहं नामे । जे बहं नामे, से एगं नामे । ३।७६

जो एक को भुकाता है, वह बहुतों को भुकाता है । जो बहुतों को भुकाता है, वह एक को भुकाता है ।

वंता सोगस्स संजोगं, जंति वीरा महाजाणं । ३।७८

वीर साधक लोक-संयोग को छोड़कर महायान—महापथ पर चल पड़ते हैं ।

एगं विंगिच्चमाणे पुट्ठो विंगिच्चइ । पुट्ठो विंगिच्चमाणे एगं विंगिच्चइ ।

३।७९

एक का विवेक करने वाला अनेक का विवेक करता है । अनेक का विवेक करने वाला एक का विवेक करता है ।

सङ्घी आणाए मेहावी । ३।८०

श्रद्धावान् आगम के उपदेश के अनुसार मेधावी होता है ।

अत्थि सत्थं परेण परं, णत्थि असत्थं परेण परं । ३।८२

शस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण होता है । अशस्त्र उत्तरोत्तर तीक्ष्ण नहीं होता, वह एकरूप रहता है ।

किमत्थि उवाही पासगस्स ण विज्जई ! णत्थि । ३।८७

द्रष्टा के कोई (कर्मजन्य) उपाधि नहीं होती ।

दिट्ठोहि णिक्खेयं गच्छेज्जा । ४।६

विषयों से विरक्त रहो ।

णे लोगस्सेसणं चरे । ४।७

लोकैषणा में मत फंसी ।

जस्स णत्थि इमा णाई, अण्णा तस्स कओ सिया ?

जिसे अहिंसा-धर्म का ज्ञान नहीं है, उसे अन्य तत्त्वों का ज्ञान कहां से होगा ?

पमत्ते बहिया पास । ४।११

जो प्रमत्त हैं, वे धर्म से बाहर हैं ।

जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा । ४।१२

जो आस्रव हैं, वे ही परिस्सव हैं । जो परिस्सव हैं, वे ही आस्रव हैं ।

नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि । ४।१६

मौत किसी भी मार्ग से आ सकती है ।

नरा भुयञ्चा धम्मविदु त्ति अंजू । ४।२८

शरीर के प्रति अनासक्त मनुष्य ही धर्म को जान पाते हैं । धर्म को जानने वाला ही ऋजु होता है ।

आरंभजं दुक्खमिणंति णच्चा । ४।२९

दुःख हिंसा से उत्पन्न होता है ।

पुढो फासाई च फासे । ४।३६

क्रोधी मनुष्य नाना प्रकार के दुःखों और रोगों को भोगता है ।

लोकं च पास विप्फंदमाणं । ४।३७

तू देख ! यह लोक क्रोध से चारों ओर प्रकंपित हो रहा है ।

जे णिक्खुडा पावोहि कम्मोहि, अणिदाणा ते जियाहिया । ४।३८

जो पाप-कर्मों को शांत कर देते हैं, वे अनिदान कहलाते हैं ।

विगिच मंस-सोणियं । ४।४३

मांस और रक्त का अपचय कर, अधिक उपचय मत कर ।

जस्स णत्थि पुरा पच्छा, मज्जे तस्स कओ सिया ? ४।४६

जिसका आदि-अंत नहीं है, उसका मध्य कहां से होगा ?

गुरु से कामा । ५।२

मनुष्य की कामनाएं विशाल होती हैं ।

णेश से अंतो, णेश से दूरे । ५।४

जिसने विषयों को छोड़ दिया वह उनके बीच नहीं है । उसने विषयों की कामनाओं को नहीं छोड़ा, अतः वह उनसे दूर भी नहीं है ।

मोहेण गन्मं मरणाति एति । ५।७

मोह के कारण बार-बार जन्म-मरण प्राप्त होता है ।

संसयं परिजाणतो संसारे परिण्णाते भवति ।

जो संशय को जानता है, वह संसार को जान लेता है ।

संसयं अपरिजाणतो संसारे अपरिण्णाते भवति । ५।९

जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को नहीं जान पाता ।

उट्ठिए णो पमायए । ५।२३

उत्थित होकर प्रमाद मत करो ।

जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं । ५।२४

सुख-दुःख अपना-अपना होता है ।

पुढो फासे विप्पणोल्लए । ५।२६

जो कष्ट प्राप्त प्राप्त हों, उन्हें समभाव से सहन करो ।

एए संघे अविजाणतो । ५।३३

अज्ञानी के लिए पदार्थ आसक्ति के कारण होते हैं ।

पुरिसा ! परमचक्खू ! विपरक्कमा । ५।३४

परमचक्षुष्मान् पुरुष ! तू परिग्रह-संयम के लिए पराक्रम कर ।

से सुयं च मे अज्झत्थियं च मे, बंध-पमोक्खो तुज्ज अज्झत्थेव ।

५।३६

मैंने सुना है, अनुभव किया है—बंध और मोक्ष तुम्हारी आत्मा में ही है ।

समियाए धम्मे आरिएहि पवेइए । ५।४०

तीर्थकरों ने समता में धर्म कहा है ।

णे णिहेज्ज वीरियं । ५।४१

शक्ति का गोपन मत करो ।

इमेणं चैव जुज्जाहि, किं ते जुज्जेण वज्जओ ? ५।४५

इस कर्म-शरीर के साथ युद्ध करो, दूसरों के साथ युद्ध करने से क्या लाभ ?

जुद्धारिहं खलु दुल्लहं । ५।४६

युद्ध के लिए योग्य सामग्री (औदारिक शरीर आदि) निश्चित ही दुर्लभ है ।

उदेहमाणो पत्तयं सायं । ५।५२

सुख अपना-अपना होता है—साधक इसको निकटता से देखे ।

वष्णाएसी णारभे कंचणं सव्वलोए । ५।५३

पश की इच्छा से किसी भी क्षेत्र में कुछ भी मत करो ।

जं सम्मं ति पासहा, तं भोणं ति पासहा ।

जं भोणं ति पासहा, तं सम्मं ति पासहा । ५।५७

जो सम्यक् है, वह ज्ञान है । जो ज्ञान है, वह सम्यक् है ।

वयसा वि एगे बुइया कुप्पंति माणवा । ५।६३

अज्ञानी मनुष्य थोड़े-से प्रतिकूल वचन से भी क्रुपित हो जाते हैं ।

उल्लयमाणे थ णरे, महता भोहेण मुज्जति । ५।६४

अहंकारग्रस्त मनुष्य महान् मोह से मूढ हो जाता है ।

इच्चेते कलहासंगकरा भवंति । ५।६६

ये काम कलह और आसक्ति उत्पन्न करने वाले होते हैं ।

वित्तिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभति समाधिं । ५।९३

शंकाशील आत्मा समाधि को प्राप्त नहीं होता ।

तमेव सच्चं णीसकं, जं जिणेहिं पवेइयं । ५।९५

वही सत्य और निःशंक है, जो तीर्थंकरों ने कहा है ।

अंजू चेय पडिबुद्धजीवी । ५।९०२

ज्ञानी पुरुष ऋजु तथा समरु कर जीने वाला होता है ।

जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया । ५।९०४

जो आत्मा है, वह ज्ञाता है और जो ज्ञाता है, वह आत्मा है ।

अणाणाए एगे सोवट्टाणा, आणाए एगे निरुवट्टाणा । ५।९०७

कुछ पुरुष अनाज्ञा (अनुपदेश) में उद्यमी और आज्ञा (उपदेश) में अनुद्यमी होते हैं ।

अणभिभूते पभू निरालंबणयाए । ५।९११

जो बाधाओं से अभिभूत नहीं होता, वही निरालंबी हो सकता है ।

जे महं अबहिमणे । ५।९१२

जो मोक्षलक्षी है, वह मन को असंयम में न ले जाए ।

णिहेसं णातिवट्टेज्जा मेहावी । ५।९१५

मेधावी व्यक्ति निर्देश का अतिक्रमण न करे ।

सच्चमेव सममिजाणिया । ५।९१६

सत्य का ही अनुशीलन कर ।

अच्चेइ जाइमरणस्स बट्टमणं सखायरए । ५।९२२

वही ध्यक्ति जन्म और मृत्यु के वृत्तमार्ग का अतिक्रमण कर देता है जो वीतराग के उपदेश में रत है ।

अपयस्स पयं णत्थि । ५।९३९

आत्मा अपद है । उसका बोध कराने वाला कोई पद नहीं है ।

पासह एगेवसीयमाणे अणत्तपण्णे । ६।५

आत्मप्रज्ञा से शून्य व्यक्ति अवसाद को प्राप्त हो रहे हैं ।

पाणा पाणे किलेसंति । ६।१३

प्राणी प्राणियों को कष्ट देते हैं ।

बहुदुक्खा हु जंतवो । ६।१५

जीवों के नाना प्रकार के दुःख हैं ।

सत्ता कामेहिं माणवा । ६।१६

मनुष्य कामनाओं में आसक्त हैं ।

ण महं अत्थित्ति इति एगेहमंसि । ६।३८

मेरा कोई नहीं है, इसलिए मैं अकेला हूँ ।

विस्सेणं कट्ट परिण्णाए । ६।६८

समत्व की प्रज्ञा से मूर्च्छा को छिन्न कर डालो ।

वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति । ६।९५

वशात् और कायर मनुष्य व्रतों का विध्वंस करने वाले होते हैं ।

तम्हा लूहाओ णो परिविस्सेज्जा । ६।११०

संयम से उद्विग्न मत बनो ।

कसाए पयणुए चिच्चा । ८।१२५

कषायों को कृश करो ।

जीवियं णामिकंसेज्जा, मरणं णोवि पत्थाए ।

बुहतोवि ण सज्जेज्जा, जीविते मरणे तथा ॥ ८।८।४

न जीने की आकांक्षा करो और न मरने की इच्छा करो । जीवन और मरण—दोनों में आसक्त मत बनो ।

भेउरेसु न रज्जेज्जा, कामेसु बहुतरेसु वि ।]

इच्छा-लोभं ण सेवेज्जा, सुहमं वण्णं सपेहिया ॥ ८।८।२३

क्षणभंगुर कामभोगों में अनुरक्त मत बनो ।

इच्छा-लोभ का सेवन मत करो ।

संयम बहुत सूक्ष्म होता है ।

सोवहिण्णं हु लुप्पती बाले । ९।१।१३

अज्ञानी मनुष्य परिग्रह का संचय कर छिन्न-भिन्न होता है ।

अदु सव्वजोगिया सत्ता । ९।१।१४

जीव सर्वयोनिक हैं—प्रत्येक जीव प्रत्येक योनि में उत्पन्न हो सकता है ।

कम्मुणा कप्पिया पुढो बाला । ९।१।१५

अज्ञानी जीव अपने ही कर्मों के द्वारा विविध रूपों की रचना करते रहते हैं ।

इत्थिओ ...सव्वकम्मावहाओ । ९।१।१७

स्त्रियां सब कर्मों का आह्वान करने वाली हैं ।

## सन्धान पद

### पहला अध्ययन

६६. जे लोगं अब्भाइक्खइ, से अत्ताणं अब्भाइक्खइ ।  
जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ, से लोगं अब्भाइक्खइ ।
६७. जे दीह्लोगसत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे ।  
जे असत्थस्स खेयण्णे, से दीह्लोगसत्थस्स खेयण्णे ।
९३. जे गुणे से आवट्ठे, जे आवट्ठे से गुणे ।
१४७. जे अज्झत्थं जाणइ, से बहिया जाणइ ।  
जे बहिया जाणइ, से अज्झत्थं जाणइ ।

### दूसरा अध्ययन

१. जे गुणे स मूलट्टाणे, जे मूलट्टाणे से गुणे ।
७१. अणोहंतारा एते, नो य ओहं तरित्तए ।  
अतीरंगमा एते, नो य तीरं गमित्तए ।  
अपारंगमा एते, नो य पारं गमित्तए ।
८८. जेण सिया तेण नो सिया ।
१२९. जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो ।
१७३. जे अणण्णदंसी, से अणण्णारामे ।  
जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी ।
१७४. जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ ।  
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ ।

### तीसरा अध्ययन

१७. जे पज्जवजात-सत्थस्स खेयण्णे, से असत्थस्स खेयण्णे ।  
जे असत्थस्स खेयण्णे, से पज्जवजात-सत्थस्स खेयण्णे ।
६३. जं जाणेज्जा उच्चालइयं, तं जाणेज्जा दूरालइयं ।  
जं जाणेज्जा दूरालइयं, तं जाणेज्जा उच्चालइयं ।

७४. जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ ।  
जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ ।

७६. जे एगं नामे, से बहुं नामे ।  
जे बहुं नामे, से एगं नामे ।

७९. एगं विगिचमाणे पुढो विगिचइ ।  
पुढो विगिचमाणे एगं विगिचइ ।

### चौथा अध्ययन

१८. चिट्ठं कूरेहिं कम्मोहिं, चिट्ठं परिचिट्ठति ।  
अचिट्ठं कूरेहिं कम्मोहिं, णो चिट्ठं परिचिट्ठति ।
१९. एगे वयंति अदुवा वि णाणी,  
णाणी वयंति अदुवा वि एगे ।

### पांचवां अध्ययन

९. संसयं परिजाणतो, संसारे परिण्णाते भवति ।  
संसयं अपरिजाणतो, संसारे अपरिण्णाते भवति ।
४२. जे पुव्वुट्टाई, णो पच्छा-णिवाई,  
जे पुव्वुट्टाई, पच्छा-णिवाई,  
जे णो पुव्वुट्टाई, णो पच्छा-णिवाई ।
५७. जं सम्मं ति पासहा, तं मोणं ति पासहा ।  
जं मोणं ति पासहा, तं सम्मं ति पासहा ।
८५. पुव्वं दंडा पच्छा फासा, पुव्वं फासा पच्छा दंडा ।
१०४. जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया ।  
जेण विजाणति से आया ।

## प्रयुक्त ग्रन्थ-सूचि

ग्रन्थ-नाम	लेखक, संपादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
अंगसुत्ताणि (भाग-१,२,३)	वा० प्र० आचार्य तुलसी सं० मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ)	प्रथम सं० २०३१	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज०)
अंगुत्तरनिकाय (भाग १) अथर्ववेद अभिधम्मकोश, भाष्यम्	सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो सं० श्रीराम शर्मा आचार्य वसुवन्धु	सन् १९६० पंचम सं० १९६९ सन् १९६७	पालि प्रकाशन मण्डल, (बिहार राज्य) संस्कृति संस्थान, बरेली काशीप्रसाद जायसवाल अनुशीलन संस्थान, पटना
अभिधान चिन्तामणि आचारांग की जोड़ आचारांग चूर्णि	हेमचन्द्राचार्य आचार्य जीतमलजी जिनदासगणि	सं० २०१३ सं० १९०५ सं० १९९८	जैन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद अप्रकाशित ऋषभदेवजी केसरीमलजी श्वेतांबर संस्था रत्नपुर (मालवा)
आचारांग निर्युक्ति आचारांग वृत्ति	भद्रबाहु श्रीलांकाचार्य	सन् १९२८ सं० १९९१	आगमोदय समिति, बम्बई सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई
आयारो	वा० प्र० : आचार्य तुलसी सं० मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ)	सं० २०३१	जैन विश्व भारती, लाडनू
Introduction to Social Psychology इष्टोपदेश	Mc Dougaly आचार्य पूज्यपाद	सन् १९७३	London, Methuen & Co. परमश्रुत प्रभावक मंडल श्रीमद् राजचंद्र आश्रम, अगास
उत्तरजम्भयणाणि (भाग १,२) उत्तराध्ययन चूर्णि	वा० प्र० आचार्य तुलसी संपा०-विवे० युवाचार्य महाप्रज्ञ श्री गोपालगणि महत्तर शिष्य	द्वितीय सं० १९९३ सं० १९८९	जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनू, राज० ऋषभदेवजी केशरीमलजी श्वेतांबर संस्था, रत्नपुर (मालवा)
उद्वंगसुत्ताणि (खंड २)पन्नवणा ऐतरेयब्राह्मण ऐतरेयोपनिषद् ओषनिर्युक्ति कर्मग्रन्थ (पंचम)	वा० प्र० : आचार्य तुलसी संपा० युवाचार्य महाप्रज्ञ श्री प० गंगाप्रसाद उपाध्याय आचार्य भद्रबाहु अनु० प० सुखलालजी	प्रथम सं० २०४५ प्रथम सं० २००६ सं० १९७५	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज०) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग गीता प्रेस, गोरखपुर आगमोदय समिति, मेहसाणा भरतेश जैन धार्मिक पारमार्थिक संस्था, रतलाम (म० प्र०)
कौटिलीयार्थशास्त्र गीता, शांकरभाष्य गोरक्ष पद्धति Great Books of the western world-Vol-54	संपा०-आर० पी० कांगले अनु०-प० महीधरशर्मा	सन् १९६०	बम्बई विश्वविद्यालय, बम्बई गीता प्रेस, गोरखपुर श्री वैकटेश्वर प्रेस प्रकाशन, बम्बई

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
घेरण्ड संहिता	भाष्य०-सद्गुरु स्वामीजी महाराज		पीताम्बर पीठ संस्कृत परिषद बनखण्डेश्वर—दतिया (म० प्र०)
चरक संहिता छान्दोग्योपनिषद् (शाङ्करभाष्य)	महर्षि अग्निवेश एवं चरक	सन् १९५४ सं० २०१३	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली गीता प्रेस, गोरखपुर
ठाणं	वा० प्र० आचार्य तुलसी संपा०-मुनि नथमल	प्रथमसं० २०३३	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज०)
तंत्रसंग्रह (भाग २)	संपा०-महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज	प्रथमसं० २०२६	वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
तंदुलवेयालियं	आचार्य विजयविमल	सन् १९७८	आगमोदय समिति, बम्बई
तत्त्वार्थ सूत्र	उमास्वाति	सं० १९८९	सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जोहरी बम्बई-२
तत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्	"	"	सेठ मणिलाल रेवाशंकर जगजीवन जोहरी, बम्बई-२
तैत्तरीय उपनिषद् (सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित)		पन्द्रहवां सं० २०५०	गीता प्रेस, गोरखपुर
दशवैकालिक चूर्णि	अगस्त्यसिंह स्थविर	सन् १९७३	ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद
दशवैकालिक चूर्णि	जिनदास महत्तर	सं० १९८४	श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी पेढी, रतलाम
दशवैकालिक वृत्ति	आचार्य हरिभद्रसूरि	सं० १९१८	देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डागार संस्था, बम्बई
दसवेयालियं	वा० प्र०-आचार्य तुलसी संपा०-मुनि नथमल	दूसरा सन् १९७४	जैन विश्व भारती, लाडनू
दीर्घनिकाय (भाग ३) धवला	अनु०-राहुल सांकृत्यायन ले०-वीरसेन आचार्य	सन् १९३६ सन् १९३९-१९५९	महानोधि सभा, सारनाथ, बनारस जैन साहित्योद्धारक-फंड कार्यालय, अमरावती (बारा)
धवला	संपा०-डा० हीरालाल जैन	संशोधित सन् १९८५	जैन संस्कृति संरक्षक संघ, संतोष भवन, फ्लटन गली, सोलापुर-२
नंदी चूर्णि	संपा०-पं० फूलचन्द सिद्धांत शास्त्री	सन् १९६६	प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद
नंदी वृत्ति	जिनदासगणि महत्तर संपा०-मुनि पुण्यविजयजी	सन् १९६६	
नमस्कार स्वाध्याय	आचार्य मलयगिरि श्री जंबूविजयजी श्री तत्त्वानंद विजयजी	सं० १९८० प्रथम सन् १९६२	आगमोदय समिति, मेहसाणा जैन साहित्य विकास मंडल, बम्बई
नयचक्र	देवसेन विरचित		
नयचक्र	मायल्लधवलविरचित	प्रथम सन् १९७१	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
नवसुत्ताणि, (दसाओ)	अनु०-पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री वा० प्र०-आचार्य तुलसी संपा०-युवाचार्य महाप्रज्ञ	प्रथम सं० २०४४	जैन विश्व भारती, लाडनू (राज०)
निशीथभाष्यचूर्णि पंचास्तिकाय	जिनदास महत्तर आचार्य कुन्दकुन्द संपा०-पंडित मनोहरलाल	सन् १९५७ तृतीय सन् १९६९	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास



ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
पातंजल योगदर्शन	संपा०-व्या० यशोविजय	सन् १९१२	श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मण्डल, आगरा
प्रमाणमीमांसा	हेमचन्द्राचार्य संपा०-पं० शोभाचन्द्र भारिल्ल	सन् १९५८	श्री तिलोक रत्न संस्थान, जैन धार्मिक परीक्षा बोर्ड, पापडी
प्रवचनसार	आचार्य कुन्दकुन्द	सं० २०४०	श्रीपरमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास
प्राकृत व्याकरण (संस्कृत-हिन्दी-टीका-युक्त) बृहत्कल्पभाष्य	हेमचन्द्राचार्य आचार्य भद्रबाहु संपा०- मुनि पुण्यविजयजी	सं० २०३१ सन् १९३३ से १९३८	आचार्यश्री आत्माराम जैन मॉडल स्कूल श्री जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
बृहदारण्यकोपनिषद् भगवद्गीता		सं० २०१४ सं० २०१६	गीता प्रेस, गोरखपुर गीता प्रेस, गोरखपुर
भगवती वृत्ति भामिनीविलास महाभारत शान्तिपर्व माण्डूक्यकारिका (माण्डूक्योपनिषद्) माधवनिदान Motivation and Personality योगरसायन योगवाशिष्ठ रत्नकरण्ड श्रावकाचार	अभयदेवसूरि लेखक—जगन्नाथ संपा०-हनुमान प्रसाद पोद्दार संपा०-उधवजी Maslow, A. H.	१९५८ दशम सं० २०२६ 1954	आयमोदय समिति मेहसाणा कलकत्ता, जीवानंद विद्यासागर गीता प्रेस, गोरखपुर गीता प्रेस, गोरखपुर जामनगर Newyork, Harper
विनयपिटक विशुद्धिमग्न (भाग १) विष्णुपुराण शतपथब्राह्मण (सायणभाष्य) शिवसंहिता	ले०-श्री कृष्णपन्त शास्त्री स्वामी समन्तभद्र राहुल सांकृत्यायन आचार्य बुद्धघोष अनु०-त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित पं० श्रीराम शर्मा सं०-डा० चमनलाल गीतम	सं० १९८२ सन् १९३५ प्रथम सन् १९५६ सन् १९८२	अच्युत ग्रन्थमाला काशी माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी महाबोधि सभा, सारनाथ, वाराणसी संस्कृति संस्थान, बरेली (उ० प्र०) चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी संस्कृत संस्थान, क्वाजा कुतुब, बरेली (उ० प्र०)
शिव स्वरोदय श्री भिक्षुन्यायकर्णिका श्वेताश्वतरोपनिषद् (सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित) षट्खण्डागम Sanskrit-English Dictionary सन्मतितर्क	विष्णु सहाय ले०-आचार्य तुलसी, मुनि नथमल V. S. APTE आचार्य सिद्धसेन दिवाकर संपा०-पं० मुखलाल संघवी एवं बिचरदास दोशी	सन् १८९२ प्रथम सन् १९७० बारहवां सं० २०५० 1958 सन् १९६३	श्रीधर शिवलाल, बम्बई आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राज०) गीता प्रेस, गोरखपुर जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर Prasad Prakashan, Poona अहमदाबाद

ग्रन्थ-नाम	लेखक, सम्पादक, अनुवादक	संस्करण	प्रकाशक
समयप्राभृत (जयसेनटीका) समयसार	संपा०-पं० पन्नालाल जैन कुन्दकुन्दाचार्य संपा०-ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद	सन् १९७४ वी० सं० २४४४	परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास मूलचन्द किसनदास कापड़िया, सूरत
समयसार (अमृतचन्द्राचार्य कृत आत्मख्याति टीका) समवाओ	वा० प्र०-आचार्य तुलसी संपा० विवे०-युवाचार्य महाप्रज्ञ	आठवां सन् १९८६ सन् १९८४	श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर जैन विश्व भारती, लाडनूं
समाधिशतक	आचार्य पूज्यपाद अनु०-फतेहचन्द कर्पूरचन्द		भोगीलाल नगीनदास ऊंभा फार्मोसी, अहमदाबाद
सुखबोध (उत्तरा० दृष्टि)	नेमिचन्द्राचार्य संपा०-विजयोमंगसूरि	सन् १९३७	पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र, वलाद
सुश्रुत संहिता सूत्रकृतान्ग चूर्णि	अनु०-अत्रिदेव जिनदास गणि	पंचम सन् १९७५ सं० १९९८	मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ऋषभदेवजी, केशरीमलजी श्वेतांबर संस्था, रत्नपुर (मालवा)
सूयगडो	वा० प्र०-आचार्य तुलसी संपा० विवे०-युवाचार्य महाप्रज्ञ	सन् १९८४	जैन विश्व भारती, लाडनूं
सेनप्रश्न स्याद्वादमंजरी	भक्तिसेणसूरि अनु०-जगदीशचन्द्र एम० ए०	वी० सं० २४५३	मोतीलाल लाक्षाजी, पूना
पत्र-पत्रिकाएं			
कादम्बिनी		सितम्बर, १९८५	
धर्मयुग		१३ दिसम्बर, १९८१	
नवभारत टाइम्स संदेश (गुजराती पत्र)	वार्षिक अंक—पराविद्या के रहस्य	१९७६ पृ० ४३ २४ जुलाई, १९८३ पृ० ८	

## वर्गीकृत विषय-सूची

### अग्निकायिक जीव

का वेदना-बोध १।८२-८४

समारम्भ १।८६

के शस्त्र १।७३

दीर्घलोक का शस्त्र १।६७

अग्निकायिक जीव का अस्तित्व १।६६

तीर्थंकरों द्वारा साक्षात्कार १।६८

निर्युक्तिकार का मत १।६६

वृत्तिकार का मत १।६६

वैज्ञानिक मत १।६६

अग्निकायिक जीव की हिंसा १।६९, ७२, ७३, ७६, ८०, ८१

का कारण १।६९, ७४, ७६

निषेध १।८८-८९

न करने का संकल्प १।७०

अग्नि में अन्य प्राणियों की मृत्यु १।८५

अग्नि-सेवन का निषेध १।४१-४२

### अचेल

का तात्पर्य ८।५३

की आराधना ६।५०-५१

चर्या ६।४०

शक्यता ६।६६

के गुण ६।६०

लाभ ६।६५

नग्न का तात्पर्य ६।४७

साधना का स्वीकार ६।७४

हे उत्तरवाद ६।४९

### अचेल मुनि

और लज्जा परीषह ६।४५

का तप ६।६४; ८।११४

लाभ ६।६३; ८।११३

की मर्यादा ८।१११-११२

के परीषह ६।४१-४४, ६१-६२

द्वारा चैतसिक चंचलता का परिहार ६।४६

द्वारा समत्व का सेवन ६।६५; ८।११५

अतीत और अनागत का सम्बन्ध ३।५९-६०; ४।४६

### अध्यात्म

का अर्थ १।१४७

आधारभूत तत्त्व ४।८

चिन्तन में सार पृ. २३६

शास्त्र का महत्त्व पृ. २३७

साधक का व्यवहार २।११८

### अनगर

का गृहवासी जैसा आचरण १।१८

तात्पर्य १।९२; २।३९

स्वरूप १।३५

की चिकित्सा पद्धति २।१४७

के खाद्य का परिमाण २।११३

दर्शन में जल स्वयं जीव १।५५

द्वारा अनियतवास ६।३९

ऋय-विक्रय का निषेध २।१०९

परीषह सहन ५।३७

वस्त्र का विसर्जन ९।१४, २२

शरीर-विसर्जन ९।३।७

### अनशन, देखें—मृत्यु

इंमिनीमरण ८।१०६-११०; ८।८।२-६

प्रायोपगमन ८।१२६-१३०

भक्त प्रत्याख्यान ८।८।७-१८

संलेखना विधि ८।१०५

### अनात्म-प्रज्ञ, देखें—आत्मा

का अवसाद ६।५

गृहवास से मुक्त नहीं ६।७

द्वारा बार-बार कष्टों का अनुभव ६।१०

विषयों में आसक्त ६।११

साधुत्व दुर्लभ २।७२; ६।६

### अनारम्भजीवी, देखें—अहिंसा

अहिंसाजीवी ५।१९

आरम्भ का अर्थ ५।९०

द्वारा संधि का साक्षात्कार ५।२०

सूक्ष्मजीवी लोक ५।२६

### अनुप्रेक्षा

अनित्य ५।२९

अनुपरिवर्तन २।१२६

अन्यत्व ४।३२

अशरण २।७-८, १६-१७, २०-२१, ७६-७७

अशुचितानुप्रेक्षा २।१३०

एकत्व ४।३२; ६।३८-३९; ८।९७-१००

ममत्व विसर्जन २।५

### अपरिग्रह

और अमूर्च्छा का तादात्म्य ५।३९

का उपदेश २।१७४

मर्मवेत्ता ८।३२

की आराधना के हेतु ८।३४

के मार्ग का स्वरूप २।११९-१२०

जनित परीषह-सहन ५।३७

सिद्धि के लिए पराक्रम ५।३४

सिद्धि के लिए प्रयोग २।१५९

### अपकाय, देखें—जलकायिक जीव

### अप्रमत्त

आत्मा ही मित्र ३।६२

और अभय ३।७५

का अर्थ १।६८; ५।३७

के कर्म-बन्ध ५।७१

मृत्यु के प्रति जागरूक २।६२

### अप्रमाद

और अहिंसा ४।११

का मार्ग ५।२१-२२

के आलम्बन सूत्र २।११-१२, ९६-९७

के निर्देश २।९४-९५

में उदीरणा एवं संक्रमण ५।२३

साधना का रहस्य २।१६०

### अरति

और रति के रेचन के उपाय ३।६१

निवारण का फल २।२८

पर विजय पाने का उपाय ६।७०-७१

से निवर्तन २।२७-३५

## अवमोदयं

और आहार ५।८०; ९।४।१  
और ब्रह्मचर्य ५।८०  
और वस्त्र ८।६७, ९०  
के प्रकार ६।४०

## अव्यक्त भुनि, देखें—एकाकी विहार

अवस्था में एकल विहार ५।६६  
का अर्थ ५।६२  
की असमर्थता ५।६५  
प्रशांसा से पराजित ५।६४

## असमनुज

का अर्थ ८।१  
के प्रति आदर का व्यवहार ८।२८  
भिक्षु का निमन्त्रण ८।२  
से आदान-प्रदान का निषेध ८।२  
आदान प्रदान के निषेध का कारण  
८।३-४

## अहिंसक

अहिंसाजीवी ५।१९,  
देखें—अनारंभजीवी  
ग्रन्थि-मुक्त ८।३३  
व्रती का संकल्प १।९०

## अहिंसा

का आचारण १।३५  
आधारभूत तत्त्व ४।८  
प्रवर्तक वचन ४।२४  
मर्मज्ञ २।१८१  
मूल ५।५१  
सिद्धांत एवं अन्य दार्शनिक ४।२०,  
२१  
सूत्र ४।४  
स्वीकार ४।१४  
हृदय २।१८०  
की साधना ८।१७-१८  
के आचरण का हेतु ८।२०  
पांच आदेश ४।१  
प्रतिपादक-अर्हत् ४।१  
में आत्मा का स्वरूपगत अद्वैत ५।१००-  
१०३  
सिद्धांत की स्थापना ४।२५-२६  
से विमुख जगत् की उपेक्षा ४।२७

## अहिंसा धर्म ४।९

का ज्ञाता—आर्य ४।२२  
प्रतिपादन सबके लिए ४।३  
शुद्ध, नित्य, शाश्वत ४।२

## अहिंसा सत

का आजीवन पालन ४।५  
की अनुपालना में बाधाएं ४।६-७

## अहोविहार, देखें—प्रव्रज्या

## आचार्य

का अनुशासन ६।९१  
की सरोवर से तुलना ५।८९  
साधना एवं गुण ५।९०-९२  
द्वारा प्रशिक्षण ६।७४-७६

## आत्मज्ञ

का स्वरूप ६।७३  
ही सर्वज्ञ ४।२

## आत्म-तुला

का अवबोध—हिंसा विरति का हेतु  
१।१४८; ३।५२

## आत्म-दर्शन का परिणाम २।१७४; ३।४८

आत्मदर्शी का स्वरूप एवं परिणाम २।१७४;  
३।३५-३७

## आत्म-निग्रह

के साधन ३।६५  
दुःख-मुक्ति का उपाय ३।६४

## आत्म-प्रज्ञा—धृत-साधना का कारण ५।२९७

## आत्म-रमण

की परिज्ञा ५।११७  
के लक्षण ३।४६-४७  
हेतु ३।४५

## आत्म-युद्ध

का निर्देश ५।४५  
की सामग्री ५।४६  
के शस्त्र ५।४७  
में अप्रवृत्ति का परिणाम ५।४८

## आत्मवादी १।५

सम्यक् पर्याय, सत्य का पारगामी  
५।१०६

## आत्मवान् ३।४

## आत्म-समाधि

और महावीर ९।४।१४  
देखें—महावीर और ध्यान  
से वंचित ५।९३

## आत्मा

अनन्यदर्शी और अनन्य-रमण २।१७३  
एक आत्माभिमुखता ५।५४  
और चैतन्य ५।३  
ज्ञान का अभेद ५।१०५  
का अस्तित्व-बोध १।१-४  
त्रैकालिक अस्तित्व १।१-४, ५।१९,  
१।५

का परम स्वरूप ५।१२३-१४०

का लक्षण १।४, ५।२३

प्रसाद ३।५५

स्वतंत्र अस्तित्व ५।२-२

ज्ञाता और ज्ञान दोनों ५।१०४-१०६

धर्म का मूल स्रोत ४।२

पुनर्जन्म-धर्मा है या नहीं १।१-४

बन्ध और प्रमोक्ष की कर्त्ता ५।३६

## आत्मानुभूति ५।३७-३८

आत्मानुसंधान ६।२९

आत्मोपलब्धि ३।५६

## आध्यात्मिक

आलम्बन ३।६२

ज्ञान ३।५४

## आर्त्तपुरुष

का अर्थ १।१३

परिणाम १।१४; ५।१८; ६।१८  
के प्रकार ४।१४

आश्रय १।६, देखें—क्रिया, प्रवृत्ति

और परिश्रव का तात्पर्य ४।१२

का अर्थ ४।१२

परिणाम १।८

संसार का हेतु ५।१०

## आहार

अनास्वाद-वृत्ति एवं परिणाम  
८।१०१-१०४

अन्वेषक भिक्षु की विशेषताएं २।११०,  
८।३९-४०

और इन्द्रिय-शक्ति ८।३६

ब्रह्मचर्य ५।७९-८०

शरीर का उपचय ८।३५

का परिहार ग्लान द्वारा ८।७५

प्रयोजन ८।३७

की गवेषणा न करने के हेतु ५।८३

मात्रा का परिज्ञान २।११३

सन्निधि-सन्निचय २।१०५

के क्रय-विक्रय का निषेध २।१०९  
पचन-पाचन का प्रयोजन २।१०४  
लाभ-अलाभ में समता २।१०१-  
१०३, ११४-११५  
संग्रह और ममत्व का निषेध  
२।११६-११७

ग्रहण का निषेध २।१०७-१०८  
ग्रहण की व्यवस्था २।१०६  
दूषित का वर्जन ८।३८, ७५

आहार-संयम २।१६४  
से जीवन यात्रा ३।५६

**इंद्रिय**

और अतीन्द्रिय चेतना ५।२  
इन्द्रियातीत का साक्षात्कार ३।६७  
की सूक्ष्मता २।६  
ग्रहण शक्ति की क्षीणता २।४  
चक्षु और श्रोत्र की प्रधानता १।९५  
चेतना ५।२  
जयी, मैथुन से विरत ५।१०  
विषय की आसक्ति से जन्म-मरण  
५।१२१  
में आसक्ति का परिणाम ४।४५  
विषयों का आसेवन २।१८६  
की मूर्च्छा १।९५  
सुख और दण्ड की व्याप्ति ५।८५  
सुखों की पराधीनता २।८६

**ईर्ष्या**

पथ और महावीर ९।१।२१  
की विधि ५।६९-७०  
समिति से द्युक्त के कर्मबन्ध ५।७१

उपकरण, देखें—वस्त्र-पात्र

**उपघानश्रुत**

अध्ययन के अर्थाधिकार पृ. ४०७-४०८  
का अर्थ पृ. ४०७

**शृङ्ख**

और अमरत्व ३।१५  
का अर्थ ३।५

**एकाकी/एकलविहार**

अप्रतिबद्धविहारी ६।५४  
एकचारी भी धर्म से अनजान ५।१७  
की चर्या ६।५२-५८  
चर्या का स्वीकार ६।५२

गच्छनिर्गत मुनि की एषणा-विधि  
६।५३

निरालम्बी होने में समर्थ मुनि ५।१११  
प्रतिमा व अचेलत्व की योग्यता  
६।७४-७५

में अव्यक्त के होने वाले दोष ५।६२-६५  
देखें—अव्यक्त मुनि  
धमशान प्रतिमा और परीषह  
६।५५-५८

**कर्म**

का अर्थ १।१२; ३।३५; ४।५१  
निरीक्षण ३।२०, २२  
पीड़न ४।४०  
बन्ध और विवेक ५।७१-७४;  
९।१।१८  
भेदन ३।७३, ८६  
की अवन्ध्यता ४।५१  
उपशांति २।१५५  
गवेषणा ३।२७  
परिज्ञा पृ. ६  
परिज्ञा के उपाय २।१७३  
के प्रत्याख्यान से तात्पर्य १।८; ४।५१  
दुःख का हेतु २।१७२  
विषयक धारणाएं ४।५१  
से उपाधि ३।१९  
हिंसा का मूल ३।२१

**कर्मक्षय**

का उपाय ४।३२  
के लिए धृति ३।४०

**कर्मबन्ध, देखें—कर्म**

ऐहिकभवानुबन्धी ५।७२  
की विचित्रता ५।७१  
निलोपतावाद २।१८०

**कर्मवाद**

के रहस्य ४।१२  
कर्मवादी १।५ पृ. २५

**कर्मविपाक**

का निदर्शन २।५४  
की गवेषणा २।५५  
के अज्ञान से भव-भ्रमण २।५६

**कर्मशरीर**

के धुनने के उपाय २।१६३, १६४;  
५।५९

को कृश करना ४।४४  
क्षीण करने के उपाय पृ. ८-१०

**कर्म-समारम्भ**

की परिज्ञा १।७, ११  
के हेतु १।१०

**कषाय**

का क्षपण वमन ३।७७  
निरोध ३।७३  
वमन ६।१११  
के प्रकार एवं अर्थ ३।७१  
वमन के प्रकार ३।७६  
क्षय की प्रक्रिया ३।७९  
मुक्ति, साधक का उद्देश्य ३।७१  
विरति ३।७१-८७  
विरचन ३।७२  
क्रोध  
का क्रमिक दर्शन और छेदन  
३।८३-८४

विवेक ४।३४

से कष्ट एवं रोग ४।३६-३७  
मानसिक दुःख ४।३५

**लोभ**

अलोभ से पराजित २।३६  
में प्रवृत्ति का हेतु २।१३४  
से अभिभूत पुरुष ३।४२

**काम**

इच्छाकाम और मदनकाम के  
निमित्त ६।१०९  
का परिहार २।१३२  
स्वरूप ६।३४  
की अनासक्ति २।१२१  
दुस्त्यजता २।१२१  
के दुरतिक्रमण के दो हेतु २।१२२-१२३  
दुष्परिणाम ५।८५-८६  
प्रकार २।१२१  
चिन्ता का परिणाम २।१३८  
मार—मदनकाम ५।३  
में आसक्ति—हिंसा में प्रवृत्ति २।१००  
निमग्न न होने का समाधान २।३६  
महाश्रद्धा वाले का आचरण २।१३७  
वासना का उदय ५।८४  
काम-आसेवन  
के लिए आश्रवों में प्रवृत्ति ५।१०

- से तृप्ति या अतृप्ति २।१३६  
रोग २।७५
- कामकामी**  
की मनःस्थिति का चित्रण २।१२४  
वैर-वृद्धि २।१३५  
के क्रिया-कलाप २।१३४
- कामचिकित्सा**  
के उपाय ५।७८-८४  
ध्यान एवं तपस्या द्वारा २।१४७  
में हिंसा का निषेध २।१४०-१४४, १४७
- कामभोग**  
का परिणाम २।७५-७९  
के अतिक्रमण का उपाय—विषयना २।१२५  
तृप्ति देने में असमर्थ २।९७-९९  
धर्म के बाहर ५।१२  
में चित्त की स्थापना और परिणाम २।३२-३४  
से विमुक्त—पारगामी २।३४
- काममुक्ति का उपाय**  
अनुपरिवर्तनानुप्रेक्षा २।१२६  
अशुचि अनुप्रेक्षा २।१२९-१३०  
पराक्रम २।१२८  
विचार विचयात्मक आलम्बन २।१३२  
विपाक दर्शन २।१३१  
शरीर के प्रति विरक्ति २।१२९  
संघि को देखना २।१२७
- कामासक्त**  
के शरीर की निर्बलता एवं व्यथा ६।१७  
जीवन की अनिदयता से अनजान ५।५
- कामासक्ति**  
की ओर मानसिक दौड़ २।१३३  
के प्रतिकार का उपाय ४।४३  
रोग का मूल ६।१६
- क्रिया, देखें—**आश्रव, प्रवृत्ति  
का दूसरा नाम आश्रव १।६  
परिणाम १।६  
के प्रकार १।६  
क्रियावाद ९।१।१६  
क्रियावादी १।५ पृ. २५
- क्रूर-कर्ष**  
का अर्थ २।६९
- परिणाम २।६९, ८५; ४।१८; ५।६  
**क्रोध, देखें—**कषाय  
**क्षेत्रज्ञ** ३।१६-१७  
**गृहस्थागी**  
एवं गृहवासी के लक्षण ५।४३  
का गृहस्थ जैसा आचरण १।९८; ५।४३; ६।८६  
पुनः गृहवासी बनने के कारण २।३०  
चारित्र्य धर्म पालने में असमर्थ ६।३०  
मुनिधर्म से च्युत ६।३३  
में न गार्हस्थ्य न अनगारता २।३४  
पुनः गृहवासी २।२९; ४।४५; ६।३१, ८४-८५
- चिकित्सा**  
काम की, देखें—काम-चिकित्सा  
निरवद्य उपाय से २।१४७  
हिंसानुबंधी, देखें—हिंसानुबंधी चिकित्सा  
**जन्म**  
और जरा को देखने का निर्देश ३।२६  
कर्म-समारम्भ का हेतु १।१०  
काल की विभिन्न अवस्थाएं ६।२५  
-मरण का अतिक्रमण ५।१२२
- जलसायिक जीव**  
और अन्य दार्शनिक १।५५  
का अस्तित्व १।३८, ५५  
की हिंसा १।४१, ४२, ४५, ५०  
हिंसा-विवेक १।६२-६५  
हिंसा के परिणाम १।४६, ४८  
हिंसा के हेतु १।४४, ४९  
के प्रति व्यवहार १।३८  
शस्त्र १।५६-५७  
जलारम्भ और अन्य दार्शनिक १।५८-६१
- जीवत्व संसिद्धि १।३९  
वेदना-बोध १।५१-५३  
वैज्ञानिक मत १।५५
- जातिस्मृति**  
और प्रत्यक्षवादी पृ. १८  
का मुख्य फल १।५  
के कारण पृ. २१  
विचय सूत्र १।१-४  
शक्यता के तीन हेतु १।३, पृ. १९-२०
- सबको न होने का कारण पृ. २२-२३, ३।२६  
से अनुसंचरण के हेतु का ज्ञान १।६  
चिन्तन क्रम में परिवर्तन १।७  
परिज्ञातकर्मा बनने का प्रयत्न १।८  
**ज्ञानयोग की फलश्रुति** ३।१  
**ज्ञानवान्** ३।४  
**ज्ञानी की जीवन-चर्या के सात सूत्र** ३।३८  
**तप**  
उपकरण अवमीदर्य तथा कायक्लेश ८।५५, ७३, ७९, ९५  
एकत्व अनुप्रेक्षा ८।९९  
और अचेल मुनि ६।६४  
परिग्रही पुष्य २।५९  
स्वाद अवमीदर्य तथा कायक्लेश ८।१०३  
**तैजसकायिक जीव, देखें—**अग्निकायिक जीव  
**त्रसकायिक जीव**  
और कुछ अनगार १।१२७  
संसार १।११९  
का ज्ञान १।१२०  
की वेदना का बोध १।१३७-१३९  
के प्रकार १।११८  
लक्षण १।१२३  
पृथक्-पृथक् शरीर में १।१२५  
**त्रसकायिक जीव की हिंसा** १।१२४, १२८, १३१, १३६, १४१  
का परिणाम १।१३२, १३४  
प्रयोजन १।१३०, १३५, १४०  
विवेक १।१४२-१४४  
से विरक्ति १।१२१, १२२
- त्रिविद्य**  
का स्वरूप ३।२८  
पुरुष का कर्तव्य ४।३९  
**बंड, देखें—**हिंसा  
का प्रयोग २।४२  
के प्रयोजन २।४२-४५  
समारम्भ का निषेध २।४६  
**दर्शन की परीक्षा**  
और अन्य दर्शन ५।११३  
एकांगीवादों का निरूपण ८।५-८  
तीर्थंकर के सिद्धांत ५।११६

के तीन साधन ५।११४

बु:ख

आरम्भ से उत्पन्न ३।१३; ४।२९  
कष्ट-वेदन की तरतमता ४।१८  
का चक्र पृ. ५  
परिहार ३।८४  
हेतु ३।८१; ४।३१  
की कारण शृंखला ३।८३  
परिज्ञा २।१७१; ४।३०  
मीमांसा ३।२  
के आवर्त्त में अनुपरिवर्त्तन २।७४, १८६  
नाना रूप वाला ५।२५  
प्रतिकार के लिए कर्म-समारम्भ  
१।९-१०

मुक्ति से उपाय ३।९, ६४

द्रष्टा

उपाधि मुक्त ३।८७; ४।५३  
का दर्शन ३।७२, ८५  
स्वरूप २।११८, १८५  
के व्यपदेश नहीं २।७३, १८५  
द्वारा पदार्थों का परिभोग २।११८

घन

काम का साधन २।७५  
की तीन अवस्थाएँ २।६८  
बहुलता के हेतु २।६५  
के प्रति मूर्च्छा २।६६-६७  
देखें—परिग्रह

घन-अर्जन

और लोभ ३।४२  
विनाश की मीमांसा २।८०-८५  
का मानसिक हेतु २।१५  
के पीछे चिंतन २।८०  
लिए क्रूर कर्म २।६९

धर्म

आशवासन स्थान ६।७२  
का ज्ञाता ४।२८  
पालन ६।४८  
गांव में या अरण्य में ८।१४  
से अनजान २।९३  
च्युत का जन्म-मरण ५।४८-४९

धर्मज्ञान ३।४

धर्मोपदेश

अहिंसा धर्म का ४।३  
करने में श्रेष्ठ २।१७८  
किसका ६।१०२  
किसको ४।३, १३; ६।१०२  
की विधि २।१७६; ६।१०१; ८।९-१०  
प्रतिपादक की अर्हता ६।१००  
मुक्तिमार्ग के आख्यान का ६।३  
में अभेद भाव २।१७४  
पराक्रम ६।४  
पुरुष और नय का विवेक २।१७७  
सावधानी २।१७५  
विवेक पूर्वक ६।१०३-१०४

धर्मोपदेशक

असन्दीन द्वीप ६।१०५  
आख्याता का स्वरूप ६।१-२

धृत

अचिकित्सा धृत ६।२३,  
आचार की साधना ३।६०  
आचार सेवी मुनि ६।५९  
का अर्थ ६।२४  
काम्य परित्याग धृत ६।३०  
वाद का प्रतिज्ञा सूत्र ६।२४  
साधना का प्रथम कारण—आत्म-प्रज्ञा  
पृ. २९७

ध्यान

अकर्मा की साधना २।३७; ५।१२०  
अनन्य दर्शन २।१७३  
अन्तरात्मा की संप्रेक्षा २।११  
अनिमेष प्रेक्षा या त्राटक २।१२५  
अपाय विचय २।१६१  
अत्यायुष्य का विचय सूत्र २।४  
आत्म-संप्रेक्षा ४।३२  
आत्म-समाधि ४।३३  
और चैतन्य केन्द्र ५।२०, २१, ४१  
निरुद्धायुष्क संप्रेक्षा ४।३४  
निष्कर्म दर्शन ३।३५  
परम दर्शन पृ. ९; ३।३३, ३८  
प्रकम्पन दर्शन ४।३७  
प्रतिपक्ष भावना २।३६  
प्रेक्षा करना २।१६०  
भेद विज्ञान ३।४; ८।१०७, १२७

महावीर का, देखें—महावीर  
मार्ग की अपेक्षा ? ५।३०  
विचयात्मक २।१६०  
विषयना का २।१२५  
शरीर संप्रेक्षा ५।२१  
संधि को देखना ५।३०

पंडित

आत्मज्ञ ६।७३  
विपाक दर्शन २।१३१  
विरतिमान ४।३२; ५।४४  
समत्वदर्शी २।५१; ५।४०; ८।३१

पथ

का द्रष्टा २।१५७; ३।३७  
कुमार्ग का निषेध ५।१०८  
पर आरोहण ५।५०

परम

का अर्थ ३।२८  
तत्त्व में लीन—उच्चालयिक ३।६३  
मोक्षलक्षी, अवहिर्मना ५।११२

परम आत्मा ५।१२३-१४०

परिग्रह

और काम की एकसूत्रता २।३१  
क्रूरता का परिणाम २।७१  
हिंसा का कार्य-कारण भाव  
२।१८४

का असंग्रह २।१५५

त्याग २।१५६  
मूल २।१२१  
स्वरूप ५।३१  
के परिणाम २।५६-६१  
परिहार में असमर्थ २।७२  
प्रकार ५।३२  
लिए हिंसा और निग्रह २।६५  
संयम-हेतु पराक्रम ५।३४  
सूत्र पृ. ८५-८६

घन के प्रति मूर्च्छा २।६६-६७

देखें—घन

पदार्थ और अज्ञानी ५।३३  
पदार्थगत एवं बुद्धिगत २।१५६  
महान भय का हेतु ५।३२  
में प्रमत्त की आत्मानुभूति ५।३७-३८  
विचार का आग्रह या ममत्व २।१७६

विमुक्ति का विचय सूत्र २।४९  
संचय का प्रकार ३।३१  
सम्मान की वांछा भी २।४९  
से इच्छा की अपूर्ति ३।४२

## परिज्ञा

और सर्वपरिज्ञाचारिता २।१७९  
सर्वपरिज्ञाचारी २।१८२  
का अर्थ १।७; २।१४५, १७१  
के चार चरण २।१७१  
प्रकार ५।९  
से कर्मोपशान्ति २।१५५

## परिज्ञातकर्म

और गीता १।१२  
महावीर १।१२  
का अर्थ १।१२  
मुनि का स्वरूप १।३४

## परीषह

और उपसर्गों का मंथन ८।१०७, १२७  
दृष्टिमान् ३।७०  
महावीर, देखें—महावीर  
सहन का क्रमिक अभ्यास ६।३२  
मुनि का परम धर्म ६।९९  
में अक्षम का दुर्निष्क्रमण ६।८५  
से देह की भग्नता ८।३५

## पापकर्म

अकरणीय १।१७४; ५।५५-५६  
का आचरण न करने के हेतु ३।५४  
निषेध २।१४९  
क्षय दीर्घकाल सापेक्ष ३।३९  
के क्षय का उपाय ३।४१  
को दूर करने का प्रयोग १।१७५  
न करने वाला महान् अग्रन्थ ८।३३  
में आसक्त नहीं, उन्हें भी रोग ५।२८  
से उपरत ३।१६  
निवृत्त—अनिदान ४।३८

## पुनर्जन्म, देखें—जातिस्मृति

## पुरुष

अनेक चित्तवाला ३।४२  
का अर्थ १।७  
परिताप २।४०  
कामकामी २।१२३, १३४  
के प्रकार २।२३; ५।१५; ६।४५

जातिस्मृति सम्पन्न १।८  
परमचक्षुष्मान् ५।३४  
स्वयं अपना मित्र ३।६२

पूर्वजन्म, देखें—जातिस्मृति  
पृथ्वी के आश्रित जीव १।८५

## पृथ्वीकायिक जीव

का भोगित्व १।२८  
की इन्द्रियज्ञान से अज्ञेयता १।२८ पृ. ४१  
दृश्यता १।२८ पृ. ३८  
विवक्षा १।१६  
के पृथक्-पृथक् शरीर १।१६  
शरीर की अवगाहना १।२८ पृ. ३८  
में आभामण्डल का अस्तित्व  
१।२८ पृ. ४१

आश्रय १।२८ पृ. ३९  
आहाराश्रिता १।२८ पृ. ४०  
उन्माद १।२८ पृ. ३९  
कारण १।२८ पृ. ३७  
कषाय १।२८ पृ. ४१  
जरा और शोक १।२८ पृ. ३९  
ज्ञान १।२८ पृ. ४०  
पर्यव १।२८ पृ. ४१  
लेश्या १।२८ पृ. ४१  
वेदना १।२८ पृ. ३७  
श्वासोच्छ्वास १।२८ पृ. ३७  
संज्ञा १।२८ पृ. ४०

## पृथ्वीकायिक जीव का अस्तित्व

अतीन्द्रिय ज्ञान प्रमाण १।२८  
आचार्य कुन्दकुन्द का मन्तव्य १।२८  
भूवैज्ञानिकों का मन्तव्य १।२८

पृथ्वीकायिक जीव की हिंसा १।१९, २२,  
२७, ३१

का विवेक १।३१-३४  
के कारण १।१५, २१, २६  
परिणाम १।२३, २५  
से अन्य जीवों की हिंसा १।२७  
अविरत १।१८  
विरत १।१७  
विरति का कारण १।३२

## प्रज्ञान

और प्रज्ञानवान् ४।४७

का अर्थ; १।१७४, २।२५-२६; ४।४७;  
६।६७

कर्तव्य ६।६८

के शरीर का लाघव ६।६७, ७७  
तीर्ण, मुक्त, विरत २।६०  
सर्व-समन्वागत-प्रज्ञा ५।५५

## प्रमत्त

का अर्थ ४।१४  
चित्त ३।४२  
भावपरिवर्तन ४।१५  
दशा में उदीरणा और संक्रमण ५।२३  
मुनि के कर्म-बन्ध ५।७२  
व्यक्ति धर्म से बाहर ४।११

## प्रमाद

और हिंसा की अनुस्यूति ४।११  
के कारण २।५५, १५२  
हेतु ३।६८

न करने का कारण ५।२३

प्रवृत्ति, देखें—कर्म; कर्म-समारम्भ; आश्रय  
अकरणीय या करणीय १।८  
और अनुवृत्ति का सिद्धान्त २।१३४  
के तीन विकल्प १।३३  
निष्कर्मदर्शी बनने का उपाय ४।५०  
देखें—आत्मदर्शी

## प्रव्रज्या

अभिनिष्क्रमण के समय की स्थिति  
६।२६-२८

अहोविहार का क्षण २।२४

के लिए प्रस्थान २।१०, २३-२६

लिए अवस्था २।२३

ग्रहण की अवस्था ८।१५

के पश्चात् कर्तव्य ४।४०

मध्यम अवस्था में ८।३०-३१

निष्क्रमण का उद्देश्य ६।८५

में असम्यक् प्रवर्तन ५।१०७

विहरण के हेतु ६।९८

श्रद्धा को बनाए रखना १।३६

## प्राणी

का तात्पर्य ४।१

के प्रकार ६।१२

प्राणों का अपहरण ६।१४

लिए अशांति महाभयंकर १।१२२

को दुःख से भय ६।१५



द्वारा प्राणियों को क्लेश ६।१३  
**बन्धन-मुक्ति**  
 की खोज २।१८१-१८२  
 के विधि-निषेध का ज्ञान २।१८३  
 पाश का विमोचन ३।२९  
**ब्रह्मचर्य**  
 इन्द्रिय जय की साधना ५।७५  
 और अपरिग्रह की अनुस्यूति ५।३५  
 का अर्थ पृ. १५; ४।४४; ५।३५  
 काम चिकित्सा के उपाय ५।७८-८४  
 मुक्ति के आलम्बन सूत्र ५।८५-८६  
 की रक्षा के लिए प्राण विसर्जन  
 ८।५७-६१  
 के आलम्बन सूत्र ५।७६-७७  
 गुरुकुलवास के लाभ ५।९९  
 मैथुनसेवी की मूर्खता ५।११  
**ब्रह्मचारी**  
 के कर्तव्य और अकर्तव्य ५।८७  
**ब्रह्मवान** ३।४  
**मन**  
 का त्याग ५।८४  
 की दो विशिष्ट अवस्थाएँ २।१६०  
**मनोवृत्ति** १।९-१०  
 का परिष्कार २।८७  
 युद्ध की पृ. २३६  
**महावीर**  
 और अचिकित्सा ९।४।१,२  
 आसन ९।४।४,१४  
 आहार ९।१।१८-२०; ९।४।१,  
 ४-१३  
 तपस्या ९।४।४-७,१६, पृ. ४०९  
 निद्रा ९।२।५,६; ९।४।६, पृ. ४०९  
 वस्त्र ९।१।२,४,१९,२२  
 का आचरण पृ. ४०८  
 दर्शन ५।६७,१०८-१०९  
 मार्ग दुरनुचर ४।४२  
 विहार ९।१।१,१२,१३; ९।३।२,५;  
 ९।४।३  
 की गमन विधि ९।१।२१  
 गृहवासी साधना ९।१।११  
 मौन साधना ९।२।१०,११;  
 ९।४।३; पृ. ४०९

साधना पद्धति के मूल तत्व पृ. १६२  
 के परीषह और उपसर्ग ९।१।३,  
 ९।२।७-१५; ९।३।१-११  
 द्वारा सेवित निवास ९।२।१-३  
 ध्यान और समाधि ९।१।५,६,७;  
 ९।२।४,११,१२; ९।३।१२,१३;  
 ९।४।३,१४-१६, पृ. ४०८, पृ. ४०९  
**मुनि**  
 और पंडित १।११,१२  
 का अर्थ ३।१  
 अहंकार एवं हेतु ६।८७  
 की निन्दनीय प्रसिद्धि ६।९६  
 प्रशंसात्मक प्रसिद्धि ६।९७  
 के लिए करणीय ५।४४  
 आस्रव-पंक में निमग्न ६।९२  
 जागृत, अमुनि सुप्त ३।१  
 जीवन का परम धर्म ६।९९  
 तीर्ण, मुक्त एवं विरत २।१६५; ५।६१;  
 ६।६९  
**दृढधर्मा** ६।३६  
 द्वारा परीषह-सहन ३।६९  
 परुष आचरण ६।७७-७८, ८०,  
 ८८, ८९  
 परुष आचरण के हेतु ६।७९  
 पुनः शृगाल वृत्ति का आचरण  
 ६।९४  
 यश की कामना का निषेध ५।५३  
 धर्म का पालन ६।४८  
 धर्मविद् और ऋजु ३।५  
 मन्दमति की मूर्खता ६।८१  
 वीरवृत्ति से प्रव्रजित ६।९३  
 संयम से अनुद्विग्न ६।११०  
**मुनि के पर्याय**  
 अनिदान ८।१६  
 ऋजु ३।५  
 त्रोटक ६।११२  
 दृष्टिमान ३।७०; ६।१०७  
 नायक २।१७०  
 निग्रन्थ ३।७  
 पण्डित ६।७३; ८।३१  
 परिजातकर्मा १।१२  
 पारगामी ६।११३  
 महामुनि ६।३७  
 मेधावी १।७०  
 वीर २।१६०

**मृत्यु**  
 कर्म समारम्भ का हेतु १।१०  
 ग्लान द्वारा प्राण विसर्जन ८।८२-४४  
 जीवन की कसौटी ६।११३  
 ब्रह्मचारी द्वारा प्राण विसर्जन  
 ८।५७-६१  
 पर वैज्ञानिक मत २।४  
 सूत्रकार का मत २।४  
 शाश्वत की ओर गति २।६२  
 संबोधि का आलम्बन ४।१६  
 समाधि मरण ८।१२५-१२८; ८।८।१  
 देखें—अम्रशान  
**मेधावी**  
 अरति का निवर्तक २।२७  
 आगम में श्रद्धा ३।८०  
 का अर्थ १।७०  
**मोह**  
 अप्रमाद और महामोह २।९४  
 और विषयासक्ति २।३३  
 विसर्जन का आलम्बन २।८  
**मोहावृत्त मनुष्य का अज्ञान** २।८९  
**मोहासक्ति से भवचक्र** ५।६-८  
**मौन**  
 और उसका सम्यक् अनुपालन ५।८८  
 सम्यक्त्व का अविनाभाव ५।५७  
 का अर्थ एवं अनुपालन २।१०३; ५।३८  
 की साधना की योग्यता ५।५८  
**रोग**  
 का मूल ६।१६  
 की उत्पत्ति, उपभोग में बाधक २।१९  
 के उन्मूलन में चिकित्सा ६।१९-२०  
 कारण तिरस्कार २।७६  
 सोलह रोग ६।८  
**लोक**  
 का ज्ञान २।१५९; ३।२५  
 तात्पर्य १।९६  
 के वृत्त को देखना ५।३२  
 को भिन्न दृष्टि से देखना ५।५०  
 विचय का अर्थ पृ. ८५  
**लोकवादी** १।५  
**लोकसंज्ञा**  
 और लोक २।१५९; ३।२५

का परित्याग २।१५९, १८४; ३।२५  
 लोकसंयोग  
 का अतिक्रमण २।१६९  
 त्याग एवं परिणाम ३।७८  
 लोकसार ५।४४  
 पर विमर्श पृ. २३५  
 लोकंघना का परिहार ४।७  
 लोभ, देखें-कषाय  
 वनस्पतिकायिक जीव  
 और अणुगार १।९२  
 की मनुष्य से तुलना १।११३  
 वेदना का बोध १।११०-११२  
 के क्रम का विचार पृ. ५९  
 शास्त्र १।१०१  
 वनस्पतिकायिक जीव की हिंसा १।१००,  
 १०१, १०९, ११४  
 अनाज्ञा में १।९७  
 और गृहवासी १।९३, ९८  
 का विवेक १।१०६, ११५, ११७  
 के परिणाम १।१०५, १०७  
 परित्याग के हेतु १।९१  
 हेतु १।१०३, १०८  
 न करने का संकल्प १।९०  
 वस्त्र  
 एक वस्त्र और एक पात्र ८।८५  
 एक शाटक ८।५२  
 का क्रमिक विसर्जन ७।७८-८०;  
 ८।६९-७४, ९२-९६  
 की अपेक्षा मुनियों के प्रकार ८।४३  
 क्रमिक अल्पता एवं परिणाम  
 ८।५४-५६  
 याचना ८।४४  
 याचना एवं धारण ८।६३-६८,  
 ८६-९१  
 के प्रति अनासक्ति ६।३६  
 तीन वस्त्र और एक पात्र ८।४३  
 दो वस्त्र और एक पात्र ८।६२  
 धारण ८।४५-४९  
 धारण के तीन प्रयोजन ८।५३  
 विषयक प्राचीन परम्परा ८।५०-५१  
 सामाचारी एवं परिणाम ८।८१

वायुकायिक जीव  
 अचित्त वायु के प्रकार १।१५२  
 और अणुगार १।१५१  
 की वेदना का बोध १।१६१-१६३  
 के शास्त्र १।१५२  
 वायुकायिक जीव की हिंसा १।१५२, १५५,  
 १५९, १६०  
 का विवेक १।१५७, १६५, १६८  
 की विरति १।१४९-१५०  
 विरति का आलम्बन १।१४६-१४८  
 के निवारण की शक्यता १।१४५  
 परिणाम १।१५६, १५८  
 हेतु १।१५४, १६९, १७०  
 वायु से अन्य प्राणियों की मृत्यु १।१६४  
 विमोक्ष पृ. ३५५  
 विषय  
 और आवर्त १।९३  
 की अभिलाषा महाभयंकर २।९८-९९  
 आकांक्षा से पाप कर्म १।१६  
 आसक्ति का परिणाम १।१४-१५  
 और उन्मुख ५।१३  
 के लिए परिताप और परिणाम २।२-३  
 गुण और मूल-स्थान २।१३, १४  
 में प्रवृत्त पुरुष २।१३, १४  
 रूप और शब्द १।९४  
 लोभ के हेतु २।१  
 से प्रेरित मनुष्य की दशा ४।४९  
 वीर  
 का कर्तव्य ३।५०  
 स्वरूप २।९०  
 के लक्षण ३।८  
 महापथ के प्रति समर्पित १।३७  
 वेदविद्  
 और महावीर का दृष्टिकोण पृ. २९८  
 और वेदवान् ३।४  
 का अर्थ ६।१०१  
 शास्त्रज्ञ पुरुष ५।७४, ११९; ६।१०१  
 वैराग्य  
 का आलम्बन एवं फल ३।५८  
 धारण रूपों के प्रति ३।५७; ४।६  
 व्यक्त मुनि ५।६२

शक्ति का नानात्व ५।४२  
 के गोपन का निषेध ५।४१, ४५  
 शास्त्र  
 के प्रकार १।१९; ३।७२  
 उत्तरोत्तर तीक्ष्ण ३।८२  
 शिष्य ५।९३  
 की उदासीनता का निरसन ५।९५  
 के प्रकार एवं मनोवृत्ति ५।९४  
 द्वारा पुरुष आचरण ६।७७-७९  
 विहगपोत के समान ६।७४  
 संग  
 आवर्त और स्रोत ३।६; ५।११८  
 का अर्थ १।१७३; ३।६; ६।१०८  
 परित्याग ६।३८  
 तात्पर्य ५।३३  
 को देखने का निर्देश ५।११८; ६।१०८  
 संग्रह  
 अनेक बलों का २।४५  
 और संचय के परिणाम ३।३१  
 एक मूल मनोवृत्ति २।१०५  
 बल प्राप्ति के हेतु २।४५  
 भोजन के लिए २।१८  
 संधि  
 और अतीन्द्रिय ज्ञान ५।२०  
 चैतन्य केन्द्र वा चक्र ५।२०, ४१  
 सन्निधि-संचय २।१०६  
 सम्यग्दर्शन का संधान ५।९८  
 के अर्थ २।१२७  
 को शरीर में देखना ५।३०  
 में महान् पराक्रम ५।४१  
 संयम  
 और असंयम का ज्ञान ३।१७  
 गौरवत्रयी ६।८३  
 वसुमान ५।५५  
 शीघ्रघाती रोग ५।२८  
 की तीन भूमिकाएं ४।४०  
 साधना ३।४४  
 पूर्वक कर्म-अकर्म १।८  
 से तेजोलेश्या का संवर्धन ३।७८  
 अष्ट होने के कारण ६।९५  
 विपन्न २।१६६, १६७

संसार १।११८-१२२

का अर्थ ५।९

ज्ञान ५।९

सत्य

का अनुशीलन ३।६५; ५।११६

के अर्थ ३।४०

के लिए मध्यस्थ भाव ५।९७

सूत्र पृ. १६१

से मृत्यु का अन्त ३।६६

समता

और गोत्रवाद २।४९-५२

का अर्थ ३।३, ५।५; ५।४०

अनुपालन ५।४०

की सिद्धि के उपाय पृ. १०-११

के प्रकार पृ. ६

चित्त की प्रसन्नता का हेतु ३।५५

सामायिक के तीन प्रकार ५।४०

समत्वदर्शी का आहार ५।६०

समनुज्ञ के साथ व्यवहार ८।२९

सम्यक्त्व

अहिंसा सिद्धान्त की परीक्षा ४।१६-२६

और मीन का अविनाभाव ५।५७

सम्यग् दर्शन ४।४

का फल ४।५२-५३

की विदिशा ५।५४

के अर्थाधिकार पृ. २०३

पर विमर्श पृ. २०३-२०५

सम्यक् का हेतु मध्यस्थता ५।९६

के निक्षेप पृ. २०३-२०४

सर्वज्ञवाद की खर्चा पृ. १६१

मुख

और अक्षरगता २।२२

आसक्ति २।७८-७९

दुःख अपना-अपना ५।५२

दुःख का विवेक पृ. ७

पदार्थ २।८८

और प्रमाद ५।२४

की कल्पना भिन्न-भिन्न ५।२५

के आस्वादी प्राणी २।६३-६४

एकार्थक शब्द १।१२१

प्राणी का इष्ट १।१२१, १२२

सुप्त

और जागृत ३।११-१३

के अज्ञान में वृद्धि ३।२

प्रकार ३।१

परतन्त्र ३।१०

में विशिष्ट पुह्वार्थ नहीं ३।८

सेवा

की प्राचीन परम्परा ८।७६

के विभिन्न प्रकल्प ८।११६-१२४

निमित्त भिक्षु की प्रतिज्ञाएं ८।७७

स्त्री

की वशवर्तिता का परिणाम २।९०-९४

परीषह में मुनि का कर्तव्य ८।५७-६१

स्रोत

का छेदन ३।४९

निरोध ३।५०

साक्षात्कार ५।१२०

के अर्थ ३।६

प्रकार ५।११८

विस्रोतसिका का परिहार १।३६

स्त्री एवं पुरुष के २।१३०

हिंसा

अग्निकायिक की, देखें—अग्निकायिक जीव

आमोद प्रमोद के लिए ३।३२

एक का अतिपात सबका अतिपात

२।१५०

करने वाले के प्रति दया ८।१९

कर्म से अलिप्त २।१८०

का परिणाम १।२३, २।५, ४६, ४८, १०५,

१०७, १३२, १३४, १५६, १५८

प्रवर्तक वचन—अनार्थ वचन ४।२१

प्रयोजन १।३०, १३५, १४०;

२।४३-४५, १४३, १५१; ५।२

मूल ३।२१

विवेक १।३१-३४, ६२-६५, १०६,

११५, ११७, १४२-१४४, १५७,

१६५, १६८; २।४६-४८; ३।५३

के प्रयोग का निषेध २।४६

विषय में अन्य मत ४।२०;

५।१००; ८।११-१३

संकल्प का निषेध १।७०; २।१५३

जलकायिक की, देखें—जलकायिक जीव

त्रसकाय की, देखें—त्रसकाय जीव

पृथ्वीकायिक की, देखें—पृथ्वीकायिक

जीव

प्रयोजनवशा या निष्प्रयोजन ५।१

फल का प्रतिपादन ४।१९

में आतंक का दर्शन ३।३३

लीनता से गतिचक्र ४।१०

वनस्पतिकाय की, देखें—वनस्पति-

कायिक जीव

वायुकायिक की, देखें—वायुकायिक

जीव

समर्थक दार्शनिकों से प्रश्नोत्तर ४।२५-२६

से उपरत ४।४७, ४८

विरति १।१७, ३२, १२१, १२२,

१४९-१५०; ३।३, ५१-५२

हिंसानुबंधी चिकित्सा

और विकित्सक २।१४२, १४३

संयम में सावधानी २।१४८;

६।२१, २३

करानेवाला 'बाल' २।१४५-१४६

का निषेध २।१४७; ६।२१-२३

से कर्मोपशम नहीं ६।१९-२०

महान भय ६।२२

## शुद्धाशुद्धि पत्र

पृष्ठ	सूत्र	साइन	अशुद्ध	शुद्ध
१	×	१६	कश्चिद्	कस्यचिद्
२७	८	६	संघते	संघत्ते
२९	१०	३०	कृष्यादि कर्मषु	कृष्यादि कर्मसु
३०	११	२	एयावन्तः	एतावन्तः
३६	२७	५	१७ सूत्रम्	१९ सूत्रम्
८९	२	५	इत्यर्थ	इत्यत्र
१०४	५०	२	वाए कः	वा एकः
१०७	६०	२	संपूर्णा	संपूर्ण
१२६	११८	७	परिग्रहबुद्ध्या	परिग्रहबुद्ध्या
१४०	१५३	२	प्रतिलिख्यः	प्रतिलिख्य
१४८	१७१	८	धर्मं....	धर्मं ...
१६५	६	१०	स्रोतशब्देन	स्रोतःशब्देन
१६७	१३	१	दुःखं....	दुःखं....
१९७	८०	११	जो	सो
२०७	१	५	परिगृहीतव्याः	परिग्रहीतव्याः
२११	८	५	अध्यात्मस्य	अध्यात्मं
२१७	२०	६	परिगृहीतव्याः	परिग्रहीतव्याः
२१८	२२	७	परिगृहीतव्याः	परिग्रहीतव्याः
२१८	२३	५	परिगृहीतव्याः	परिग्रहीतव्याः
३३८	९८	२	पराक्रमेत्	पराक्रमेत
३३९	९८	२	पराक्रमेत्	पराक्रमेत
४३९	४ गा०	२	....मंकुथु....	....मंथुकु....

गणाधिपति तुलसी के वाचनाप्रमुखत्व में  
आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा  
संपादित/विवेचित

### आगम ग्रन्थ

मूल पाठ, अनुवाद तथा तुलनात्मक टिप्पणों से युक्त

१. आयारो (आचारांग)
२. सूयगडो (सूत्रकृतांग) भाग १,२
३. ठाणं (स्थानांग)
४. समवाओ (समवायांग)
५. भगवई (भगवती)
६. भगवती भाष्य, भाग १
७. उत्तरञ्जयणाणि (उत्तराध्ययन) भाग १,२
८. दसवेआलियं (दशवैकालिक)
९. अणुओगद्वाराइं (अणुयोगद्वार) } प्रेस में
१०. नंदी (नंदी) }

मूल पाठ, पाठान्तर तथा शब्द-सूची से युक्त

१. अंगसुत्ताणि, भाग १,२,३
२. आगम शब्दकोश (अंगसुत्ताणि की शब्द सूची)
३. उवंगसुत्ताणि, भाग १,२
४. नवसुत्ताणि

आचार्यभाष्यम्



विश्वं विद्यालयं, अराधनालयम्।  
विश्वं विद्यालयं, अराधनालयम्।

अथर्व वेद  
अथर्व वेद

अथर्व वेद  
अथर्व वेद

अथातो भाष्यकारः प्रारभते भाष्यम्

सुधर्मा गणधरः जम्बूस्वामिनं एवमाह-आयुष्मन्!  
मया साक्षाद् भगवतः सकाशात् श्रुतम्। यदहं ब्रवीमि  
तन्न स्वमनीषिकाप्रकल्पितं, किन्तु तत् तेन भगवता  
महावीरेण स्वयमेवमाख्यातम्।

‘पणया वीरा महावीहिं’

(आयारो १/३७)

भाष्यम्-अहिंसा महती वीथिर्विद्यते। तां महावीथिं  
प्रति ये केऽपि प्रणता न भवन्ति, किन्तु ये  
पराक्रमशालिनो वीराः सन्ति त एव तं महापथं प्रति  
समर्पिता भवन्ति। तात्पर्यमिदम्-अहिंसा न तु  
कातराणां मार्गः, किन्तु पन्था अयं पराक्रमशालिनाम्।

आचार्यमहाप्रज्ञः